सप्तम संस्करण की भूमिका

तक का सप्तम संस्करण पाठकों के सामने है। हमारे लिए यह बड़ा ही हर्ष का षय है कि हम इस पुस्तक द्वारा विद्यार्थी वर्ग की कुछ सेवा कर पाये हैं। मुद्रा और कग के क्षेत्र में नित्य नये-नये परिवर्तन होते रहते हैं। बहुत सी दिशाओं में पूर्णतया योग भी किये जा रहे हैं। अर्थशास्त्र तथा वाणिज्य के किसी भी विद्यार्थी के न परिवर्तनों और प्रयोगों का समझना बहुत ही जरूरी है, मुख्यतया वर्तमान शील युग में, जबकि संसार के आर्थिक और राजनीतिक कले... बराबर र्तन हो रहे हैं। भारत में आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत देश की ... और ीय संस्थाओं का योजना के लक्ष्यों को पूरा करने के लिए उपयोग किया जा रहा परिणाम यह है कि वित्तीय समायोजन के इस काल में मौद्रिक इतिहास की नई भूमि तैयार हो रही है। सभी बातों को ध्यान में रखकर पुस्तक में जगह-जगह संशोधन आवश्यक हो गये हैं। इसी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत स्करण में 'व्यापार एवं भुगतान संतुलन' तथा 'भारतीय तटकर नीति' नामक दो ध्याय प्रविष्ट कर दिये गए हैं तथा सभी आवश्यक संशोधनों को भी दर्शाने का पूर्ण यत्न किया गया है।

पुस्तक के सुधार के सम्बन्ध में अनेक सुझाव प्राप्त हुए हैं। प्रस्तुत संस्करण में । उपयोगी एवं आवश्यक सुझावों को भी यथास्थान सम्मिलित कर दिया गया है। सभी महानुभावों के हम बहुत आभारी हैं जिन्होंने हमें सुझाव दिये हैं।

पुस्तक के विषय-क्रम में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं और यथास्थान नये कड़े जोड़ दिये गये हैं और भाषा सम्बन्धी अनेक सुधार भी किये गये हैं। हमें पूरा श्वास है कि यह पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी और रुचिकर सिद्ध होगी।

प्रथम संस्करण की भूमिका

अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के सम्मुख यह छोटी सी पुस्तक प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष का अनुभव होता है। पाठ्यक्रम के अनुसार पुस्तकें लिखने की हमारे देश में एक परम्परा सी बन गई है। यह कहना तो कठिन है कि इस प्रकार की पुस्तकें लिखना कहाँ तक उचित है, परन्तु वर्तमान शिक्षा प्रणाली तथा विद्यार्थी वर्ग की सामान्य प्रवृत्ति को देखते हुए किंचित ऐसा करना ही पड़ता है। प्रस्तुत पुस्तक भी प्रधानतया आगरा, बिहार तथा राजस्थान विश्वविद्यालयों के बी० ए० और बी० कॉम० पाठ्यक्रम के अनुसार लिखी गई है, परन्तु इसमें अन्य भारतीय विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम तथा उपयुक्त सम्बन्धित समस्याओं को भी ध्यान में रखा गया है।

मुद्रा, चलन एवं अधिकोषण पर पाठ्य-पुस्तकों की कमी नहीं है और इस दिशा में हिन्दी में भी कई सफल प्रयत्न किये गये हैं, परन्तु फिर भी इस पुस्तक की आवश्यकता इस कारण अनुभव की गई है कि विद्यार्थियों के सम्मुख एक समबद्ध, वैज्ञानिक तथा रुचिकर विवेचना प्रस्तुत की जाय। यह विषय साधारणतया कठिन होता है, जिसके कारण इसे समझाने की समस्या विशेष रूप में महत्त्वपूर्ण हो जाती है। लेखकों को इस सम्बन्ध में कहाँ तक सफलता मिली है, इसका निर्णय तो केवल पाठकगण ही दे सकते हैं। पुस्तक में मौलिकता तो नहीं है, परन्तु विवेचना की एक नई रीति अवश्य ग्रहण की गई है।

आशा है कि यह पुस्तक अध्यापक बन्धुओं को पसन्द आयगी। यदि पुस्तक विद्यार्थियों की कुछ भी सेवा कर सकी तो लेखक अपने परिश्रम को सफल ही समझेंगे।

अपने प्रकाशकों के प्रति लेखकगण आभारी हैं कि उन्होंने दो महीनों के अल्पकालीन समय में ही पुस्तक को इतने सुन्दर ढङ्ग से छाप कर पाठकों के सम्मुख रखा है।

[चतुर्थ भाग]

भारतीय चलन का इतिहास

[पंचम भाग]

भारतीय बैंकिंग

[षष्ठम भाग]

विविध

कमलेश कुमार त्यागी

अध्याय १

मुद्रा का आविष्कार

(The Invention of Money)

विनिमय का विकास—

प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य का जीवन बड़ा सरल था। उसकी आवश्यकतायें सीमित थीं, जिन्हें वह साधारणतया अपने ही प्रयत्न द्वारा अथवा अपने परिवार के अन्य सदस्यों की सहायता से पूरा कर लेता था। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के लिए आर्थिक स्वावलम्बता थी और उसे दूसरों के परिश्रम पर निर्भर रहने की आवश्यकता न थी, परन्तु आर्थिक जीवन की यह प्रारम्भिक अवस्था बहुत दिनों बनी न रह सकी। आर्थिक परिस्थितियों के परिवर्तन ने इसे भङ्ग कर दिया। आज के युग मे बहुत कम व्यक्ति ऐसे मिलेंगे जो कि पूर्ण रूप से आत्म-निर्भर हों। लगभग सभी मनुष्यों को अपनी-अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है, क्योंकि आज कोई भी व्यक्ति अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुयें स्वयं निर्माण नहीं कर पाता है। वह किसी एक धन्धे का ही विशेषज्ञ बनकर कार्य करता है तथा इस कार्य से उसे जो आय होती है उसका 'विनिमय' करके वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। जब तक किसी मनुष्य को विनिमय द्वारा दूसरे मनुष्यों की बनाई हुई वस्तुयें प्राप्त नहीं होतीं, तब तक उसकी आवश्यकताएँ असन्तुष्ट ही रहती हैं। *इस प्रकार विनिमय की धुरी पर सम्पूर्ण समाज की आर्थिक व्यवस्था घूमती है और विनिमय द्वारा ही उत्पादन और उपभोग एक डोरी में बंधे हुए हैं।* जैसे-जैसे सामाजिक जीवन उन्नति करता गया, वैसे-वैसे विनिमय का कार्य अधिक लाभदायक होता गया और धीरे-धीरे विनिमय ने मानव-जीवन तथा मानव समाज में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया।

विनिमय का अर्थ एवं इसके स्वरूप—

विनिमय एक आर्थिक क्रिया है और इस रूप मे इसके निम्न लक्षण पाये जाते हैं :—

(१) इसमें धन का हस्तान्तरण होता है।
(२) धन का यह हस्तान्तरण ऐच्छिक होता है। तथा
(३) विनिमय की यह क्रिया वैधानिक और पारस्परिक होती है।

अतः उपरोक्त लक्षणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि *विनिमय*

(Exchange) दो पक्षों के बीच में होने वाला धन का ऐच्छिक, वैधानिक और पारस्परिक हस्तान्तरण है।

विनिमय दो प्रकार का होता है:—(१) 'प्रत्यक्ष विनिमय' या 'वस्तु-विनिमय (Direct Exchange or Barter) तथा (२) 'परोक्ष विनिमय' या 'मुद्रा-विनिमय' (Indirect Exchange or Money Exchange)।

वस्तु-विनिमय में विनिमय का कार्य सरल होता है। एक वस्तु अथवा एक सेवा के बदले में दूसरी वस्तु प्राप्त कर ली जाती है। यदि एक व्यक्ति के पास गेहूँ है और उसे कपड़े की आवश्यकता है तो वह दूसरे व्यक्ति से, जिसके पास कपड़ा फालतू है और जिसे गेहूँ की जरूरत है, गेहूँ के बदले में कपड़ा ले सकता है। विनिमय का यह कार्य इस कारण सरल तथा प्रत्यक्ष होता है कि दो व्यक्ति अपनी फालतू वस्तुओं की आपस में ही अदला-बदली करके विनिमय के कार्य को सम्पन्न कर लेते हैं। शुरू-शुरू में इसी प्रकार का विनिमय प्रचलित था, परन्तु कालान्तर में जैसे-जैसे विनिमय का महत्त्व बढ़ता गया और मनुष्य की आर्थिक स्वावलम्बता घटती गई, वैसे-वैसे वस्तु-विनिमय में कुछ कठिनाइयाँ अनुभव होने लगीं। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए ही 'मुद्रा' का आविष्कार हुआ और धीरे-धीरे 'वस्तु-विनिमय' का स्थान 'मुद्रा-विनिमय' ने ले लिया।

मुद्रा-विनिमय में एक माध्यम (Medium) की आवश्यकता पड़ती है और विनिमय का कार्य परोक्ष होता है। यदि गेहूँ के बदले में कपड़ा प्राप्त करना है तो पहले गेहूँ को मुद्रा में बदला जायगा और फिर इस मुद्रा के बदले में कपड़ा लिया जायगा। इस प्रकार विनिमय का कार्य दो भागों में बंट जाता है:—प्रथम, वस्तु अथवा सेवा के बदले मुद्रा प्राप्त करना, और दूसरे, मुद्रा के बदले में कोई अन्य वस्तु अथवा सेवा प्राप्त करना। विशेषता यह है कि इन दोनों विनिमय कार्यों में से प्रत्येक में मुद्रा का उपयोग किया जाता है और इस प्रकार पहले एक वस्तु के बदले में मुद्रा और फिर इस मुद्रा के बदले में दूसरी वस्तु प्राप्त करके एक वस्तु का दूसरी वस्तु में परोक्ष रीति से विनिमय किया जाता है। वस्तु-विनिमय तथा मुद्रा-विनिमय दोनों के उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं होता, अन्तर केवल विनिमय करने की रीति का है। मुद्रा-विनिमय वस्तु-विनिमय की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक होता है और यही कारण है कि धीरे-धीरे इसका चलन बराबर बढ़ता गया है।

वस्तु-विनिमय की असुविधाएं—

यह तो हम पहिले ही देख चुके हैं कि वस्तु-विनिमय के बदले मुद्रा-विनिमय अधिक सुविधाजनक होता है। अब हमें यह देखना है कि वस्तु-विनिमय की कठिनाइयाँ कौन-कौन सी हैं। प्रमुख असुविधायें निम्न प्रकार हैं:—

(१) आवश्यकताओं के दोहरे पारस्परिक संयोग का अभाव (Lack of Double Conicidence of Wants)—वस्तु-विनिमय की सफलता सबसे

पहिले इस बात पर निर्भर है कि ऐसे दो व्यक्ति मिल जाएँ जिनमें से प्रत्येक के पास ठीक वही वस्तु फालतू हो जिसकी दूसरे को आवश्यकता है। यदि एक व्यक्ति गेहूँ को कपड़े में बदलना चाहता है तो वह विनिमय तभी कर सकेगा जबकि उसे कोई दूसरा व्यक्ति ऐसा मिल जाय जिसके पास बदलने के लिए केवल कपड़ा ही फालतू न हो बल्कि जिसे साथ ही साथ गेहूँ की भी आवश्यकता हो। वास्तविक जीवन में ऐसा केवल संयोग से ही हो सकता है, क्योंकि यह अवश्यक नहीं है कि जिस व्यक्ति को गेहूँ की जरूरत है उसी के पास कपड़ा भी फालतू हो। यह भी हो सकता है कि जिस व्यक्ति के पास कपड़ा फालतू है उसे वास्तव में गेहूँ के स्थान पर किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता हो। शुरू-शुरू में, जबकि मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी सी थीं और केवल कुछ ही वस्तुओं का उत्पादन करके पूरी हो सकती थीं, ऐसा बहुधा सम्भव हो जाता होगा, परन्तु जैसे-जैसे आवश्यकताओं और उसके पूरा करने वाली वस्तुओं की संख्या बढ़ती गई, वैसे-वैसे इसमें निरन्तर अधिक कठिनाई अनुभव होने लगी। जिस व्यक्ति के पास गेहूँ है उसके लिए यदि यह सम्भव भी हो जाता है कि वह किसी ऐसे व्यक्ति को खोज निकाले जिसके पास बदलने के लिए कपड़ा है तो यह आवश्यक नहीं है कि उस दूसरे व्यक्ति को गेहूँ की भी आवश्यकता हो। ऐसी दशा में विनिमय में भारी कठिनाई होगी। (मुद्रा के उपयोग द्वारा यह कठिनाई दूर हो जाती है, क्योंकि मुद्रा एक ऐसी वस्तु है जिसकी आवश्यकता सभी को होती है और इसलिए उसे दूसरी किसी भी वस्तु में आसानी से बदला जा सकता है।)

(२) मूल्य के एक सामूहिक सूचक का अभाव (Lack of a Common Denominator of Value)—वस्तु विनिमय की दूसरी कठिनाई वस्तुओं की अदल-बदल का पारस्परिक अनुपात निश्चित करने के सम्बन्ध में है। एक मन गेहूँ के बदले में कितने गज कपड़ा दिया जाय अथवा कितने सेर चीनी ली जाय, यह जान लेना वस्तु-विनिमय की सफलता के लिए बहुत जरूरी है। गेहूँ बेचने वाले तथा कपड़ा बेचने वाले दोनों ही व्यक्तियों को गेहूँ और कपड़े की विनिमय दर का पता होना चाहिए, नहीं तो वे विनिमय करने में संकोच करेंगे। आवश्यकता केवल इतनी ही नहीं है कि दोनों व्यक्ति गेहूँ और कपड़े की विनिमय दर को जान लें। एक व्यक्ति विनिमय द्वारा एक वस्तु प्राप्त करके ही अपनी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। उसे अनेक वस्तुओं के लिए विनिमय पर निर्भर रहना पड़ता है और इसलिए अनेक वस्तुओं की विनिमय दर जानने और याद रखने की आवश्यकता पड़ती है। विकसित समाज में तो यह कठिनाई और भी अधिक हो जाती है। (यह कठिनाई मुद्रा के उपयोग से दूर हो जाती है। मुद्रा एक ऐसी वस्तु है जिसमे सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमत आँकी जा सकती है। एक रुपये में कितना गेहूँ मिलेगा अथवा कितने गज कपड़ा मिलेगा, यह आसानी के साथ याद रखा जा सकता है और इतना जानने के पश्चात् गेहूँ और कपड़े के पारस्परिक विनिमय अनुपात को ज्ञात करना

कठिन नहीं होता। इस प्रकार मुद्रा वस्तुओं और सेवाओं के सामूहिक मूल्य सूचक का कार्य करती है।)

(३) वस्तुओं की विभाजकता का अभाव (Lack of Divisibility of Commodities)—कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं कि जिनको टुकड़ों में बाँट देने से उनके मूल्य का काफी बड़ा भाग नष्ट हो जाता है। उदाहरणस्वरूप, एक घोड़े और एक मोटर कार को लीजिए। घोड़े को काट कर उसके मांस, हड्डी आदि के रूप में जो मूल्य प्राप्त होता है वह घोड़े के मूल्य से बहुत कम होता है। इसी प्रकार कार को तोड़ कर बेचने पर बहुत ही कम कीमत वसूल होती है। यदि किसी व्यक्ति के पास इस प्रकार की कोई वस्तु है और उसे विनिमय द्वारा अन्य कई वस्तुएँ प्राप्त करने की आवश्यकता है तो उसे वस्तु-विनिमय में भारी कठिनाई होगी, क्योंकि किसी एक ऐसे व्यक्ति का मिल जाना बहुत ही कठिन होगा जिसे घोड़े अथवा कार की आवश्यकता हो और साथ ही उसके पास विनिमय हेतु वे सभी वस्तुएँ मौजूद हों जिनकी घोड़े अथवा कार के स्वामी को आवश्यकता है। यही नहीं, घोड़े अथवा कार के टुकड़े करके वस्तुएँ प्राप्त करने में हानि होती है, इसलिए विनिमय बहुत असुविधाजनक हो जाता है। (यह कठिनाई भी मुद्रा के उपयोग से दूर हो जाती है। घोड़े अथवा कार की कीमत मुद्रा में आंकी जा सकती है, और, क्योंकि मुद्रा में विभाजकता का गुण होता है इसलिए घोड़े के बदले में प्राप्त होने वाली मुद्रा की अलग-अलग वस्तुएँ खरीदी जा सकती है।)

(४) क्रयः शक्ति के संचय का अभाव (Lack of Store of Purchasing Power)—वस्तु विनिमय की प्रथा के समय क्रयःशक्ति का संचय वस्तुओं में होता था, और, क्योंकि वस्तुएँ शीघ्र नष्ट होने वाली होती हैं, इसलिये क्रयःशक्ति का संचय बहुत समय के लिये नहीं किया जा सकता था और बिना क्रयःशक्ति के संचय के देश की उन्नति नहीं हो सकती। यही कारण है कि वस्तु विनिमय के समय में देश इतने उन्नतिशील न थे जितने आजकल हैं, जबकि मुद्रा का उपयोग होता है।

(५) मूल्य के हस्तान्तरण का अभाव (Lack of Transfer of Value)—प्राचीन काल में, जबकि वस्तु-विनिमय की प्रथा प्रचलित थी, मूल्य अथवा क्रयःशक्ति को एक स्थान से दूसरे स्थान को हस्तान्तरित करना असम्भव सा ही था, जैसे—यदि एक मनुष्य का मकान आगरे में था और वह उसे छोड़कर जयपुर जाना चाहता था, तो वह अपने आगरे वाले मकान को जयपुर नहीं ले जा सकता था। मूल्य के हस्तान्तरण के अभाव के कारण सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति में काफी बाधा पड़ी। (आजकल आगरे के मकान को बेचकर मुद्रा प्राप्त की जा सकती है और इस मुद्रा को जयपुर ले जाकर आसानी से दूसरा मकान बनवाया या खरीदा जा सकता है।)

(६) स्थगित देय मान का अभाव (Lack of a Standard of Deferred Payment)—बहुत से ऐसे लेन-देन होते हैं जिनका भुगतान तुरन्त

नहीं किया जाता है । बल्कि भविष्य के लिए स्थगित क ...ओं का पता पहले लगा लिया
के समय में वस्तुयें स्थगित भुगतानों का भुगतान करने के ... था । अन्य रूपों में तो
क्योंकि वस्तुओं की कीमत में स्थिरता नहीं होती है और उन
टिकाऊपन के गुण भी अधिक नहीं होते ।

वर्तमान समाज में वस्तु मुद्रा का स्थान— *कछ विद्वानों*

उपरोक्त कठिनाइयों को देखने से पता चलता है कि वस्तु-विनिमय की *स्वयं ही* अधिक से अधिक अविकसित समाज में ही सम्भव है, जहाँ आवश्यकता पूर्ति की वस्तुएँ गिनी-चुनी हों । प्रारम्भिक अवस्था में ऐसा ही था । परन्तु आज का संसार बहुत आगे बढ़ चुका है । श्रम विभाजन अपनी उच्चतम् सीमा पर पहुँच चुका है । मनुष्य की आवश्यकताओं की संख्या बहुत बढ़ गई है । यही कारण है कि कालान्तर में धीरे-धीरे वस्तु-विनिमय प्रणाली समाप्त होती गई है और आधुनिक युग पूर्ण रूप में मुद्रा उपयोगी युग बन गया है ।

वस्तु-विनिमय की सफलता की दशायें (Conditions for the Success of Barter)—

फिर भी वस्तु-विनिमय प्रणाली संसार से लुप्त नहीं हुई है । प्रत्येक वस्तु में दोषों के साथ-साथ गुण भी होते हैं । पिछड़े हुए देशों और जातियों के अतिरिक्त सभ्य समाजों तथा अत्यधिक विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में भी वस्तु-विनिमय प्रणाली एक अंश तक अभी तक भी मौजूद है । वस्तु-विनिमय प्रणाली के इस प्रकार जीवित रहने का मुख्य कारण इस प्रणाली की सरलता है । यदि अनुकूल दशायें उपलब्ध हों तो व्यावहारिक जीवन में इससे विशेष सुविधा रहती है, क्योंकि एक व्यक्ति को आवश्यक वस्तु प्रत्यक्ष रीति से प्राप्त हो जाती है । कृषि उद्योग में मजदूरी चुकाने के लिए अभी भी इस प्रणाली का काफी चलन है । विदेशी व्यापार में भी इसका उपयोग किया जाता है । मुद्रा के मूल्य की अनिश्चितता भी इस प्रणाली को बनाये रखने में सहायक रही है । आधुनिक युग में तो इस प्रकार की अनिश्चितता बहुत काफी बढ़ गई है ।

वस्तु-विनिमय की सफलता निम्न दशाओं में सम्भव है :—

(१) सीमित आवश्यकतायें—जिस समाज की आवश्यकतायें सीमित होंगी वहाँ वस्तु विनिमय पर्याप्त अंश तक सफल हो सकता है, क्योंकि वस्तु-विनिमय की कठिनाइयाँ बहुत अधिक नहीं होंगी । पिछड़े हुए समाजों में क्रय: शक्ति के अभाव के कारण तथा अज्ञानता के कारण किसी समाज की आवश्यकतायें इतनी सीमित हो सकती हैं कि वस्तु-विनिमय बहुत असुविधाजनक न हो ।

(२) सीमित क्षेत्रों में—वस्तु-विनिमय किसी ऐसे छोटे क्षेत्र में भी सफल हो सकता है जहां थोड़े से ही ऐसे लोग रहते हों जिनके बीच पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ट हो ।

(३) यातयात सुविधाओं का अभाव—यदि यातायात सुविधाओं के अभाव के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान को माल भेजना कठिन है तो स्थानीय आर्थिक जीवन में स्वावलम्बन आ जायेगा, आवश्यकतायें सीमित हो जायेंगी और विभिन्न व्यक्तियों के बीच का सम्पर्क बढ़ जायेगा। ऐसी दशा में वस्तु विनिमय की सफलता का अंश बढ़ जायेगा।

(४) मुद्रा के मूल्य की अनिश्चितता की दशा में—बहुत बार ऐसा देखने में आता है कि कुछ कारणों से मुद्रा के मूल्य में तेजी के साथ परिवर्तन होने लगते हैं। अत्यधिक मुद्रा-प्रसार (Inflation) के काल में कुछ देशों में ऐसी परिस्थितियाँ आ गई थीं कि समाज ने मुद्रा-विनिमय के स्थान पर वस्तु-विनिमय प्रणाली को ग्रहण किया था, क्योंकि ऐसी दशा में यह प्रणाली अधिक न्यायपूर्ण, निश्चित और सुविधाजनक हो जाती है।

(५) मुद्रा की मात्रा कम होने की दशा में—यदि किसी देश में मुद्रा की कुल मात्रा इतनी कम रहती है कि विनिमय सम्बन्धी सामान्य आवश्यकतायें उसके द्वारा पूरी नहीं की जा सकती हैं तो वस्तु-विनिमय प्रणाली का चलन बढ़ जायेगा।

मुद्रा का प्रारम्भ—

मुद्रा का आविष्कार कब और कैसे हुआ, इस बात का निर्णय करना कठिन है। अस्मरणीय काल से ही संसार में इसका उपयोग होता चला आया है। ऐसा ज्ञात होता है कि विभिन्न देशों तथा विभिन्न जातियों ने एक दूसरे से पूर्णतया स्वतन्त्र रूप में मुद्रा का आविष्कार कर लिया था, क्योंकि ऐसे विभिन्न क्षेत्रों में जिनका एक दूसरे से किसी भी प्रकार का सम्पर्क सम्भव नहीं हो सकता था, मुद्रा का उपयोग पाया जाता है। इससे यही सिद्ध होता है कि जैसे-जैसे विनिमय की आवश्यकता और कठिनाई बढ़ती गई वैसे-वैसे मुद्रा की खोज आरम्भ हो गई। अति प्राचीन भारत में ऋगु-वेद के युग में गाय को मुद्रा के रूप में उपयोग किया जाता था। अफ्रीका की जङ्गली जातियाँ अभी तक बकरी को मुद्रा के रूप में उपयोग करती हैं। इसी प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग समय पर विभिन्न वस्तुओं को इस रूप में उपयोग किया गया था। कौड़ियाँ मूँगे, मोती, कुछ वृक्षों के सूखे हुए फल, भूमि के टुकड़े आदि अनेक वस्तुओं से मुद्रा का काम लिया गया है। धीरे-धीरे जैसे-जैसे मनुष्य का ज्ञान तथा उसकी आवश्यकतायें बढ़ती गईं वैसे-वैसे अधिक अच्छी वस्तुओं को मुद्रा के रूप में उपयोग किया गया। गाय, बकरी और कौड़ियों का स्थान धातु के सिक्कों ने ले लिया और ज्यों-ज्यों सभ्यता का और अधिक विकास होता गया, त्यों-त्यों सिक्कों के स्थान पर पत्र-मुद्रा का चलन बढ़ता गया। आधुनिक संसार में सबसे अधिक चलन पत्र-मुद्रा का ही है।

धातु के सिक्कों का आविष्कार सबसे पहले किस देश में हुआ, इस सम्बन्ध में खोज की गई है। ऐसा पता चलता है कि सबसे पहिले मिस्र तथा लीडिया (Lydia) में सिक्कों का उपयोग हुआ था। विद्वानों का मत है कि लीडिया में इनका उपयोग

सबसे अधिक पुराना है। निश्चय ही जिन देशों ने धातुओं का पता पहले लगा लिया था, उन्होंने सिक्कों का उपयोग भी पहले आरम्भ कर दिया था। अन्य रूपों में तो मुद्रा का उपयोग और भी बहुत पहले से होता आ रहा था।

मुद्रा के आविष्कार से सम्बन्धित विचारधारायें—

मुद्रा के आविष्कार के सम्बन्ध में दो प्रकार की विचारधारायें हैं। *कुछ विद्वानों का कहना है कि मुद्रा की किसी ने खोज नहीं की है, वह मनुष्य को स्वयं ही मिल गई। मुद्रा-उत्पत्ति के इस सिद्धान्त को हम मुद्रा का आकस्मिक जन्म सिद्धान्त (Theory of Spontaneous Growth) कह सकते हैं।* स्पालडिंग (Spalding) इसी सिद्धान्त के पक्षपाती हैं और उनके विचार में यह सिद्धान्त ऐतिहासिक अनुभव से भी सिद्ध होता है। जैसे-जैसे विनिमय का चलन बढ़ता गया, वैसे-वैसे सभी जातियों ने किसी न किसी विनिमय माध्यम का उपयोग करना शुरू कर दिया। जो भी वस्तु उपयुक्त प्रतीत हुई, धीरे-धीरे वही विनिमय का माध्यम बनती गई और जैसे-जैसे एक वस्तु दूसरी की अपेक्षा अधिक उपयुक्त जान पड़ी, उसने पुरानी मुद्रा का स्थान प्राप्त कर लिया। इससे सिद्ध होता है कि मुद्रा स्वयं मनुष्य के सम्मुख उपस्थित हुई, मनुष्य को उसे खोज करने की आवश्यकता नहीं हुई।

दूसरी विचारधारा इस प्रकार है कि मुद्रा का आविष्कार वस्तु-विनिमय की कठिनाइयों को दूर करने के लिए किया गया था। आरम्भ में सबसे बड़ी कठिनाई विनिमय के लिए विभिन्न वस्तुओं का मूल्य आँकने की थी, विनिमय के माध्यम की आवश्यकता इसके पश्चात् अनुभव हुई। यही कारण है कि आरम्भ में ही मूल्य के एक सामूहिक मापक की खोज की गई और इसके लिए मुद्रा का आविष्कार किया गया। गाय अथवा बकरी का उपयोग मूल्य के मापक के रूप में ही किया गया। प्रत्येक वस्तु की कीमत गाय अथवा बकरी की एक निश्चित संख्या में आँकी जाती थी। शुरू में इसी उद्देश्य से मुद्रा का उपयोग किया गया, यद्यपि धीरे-धीरे मुद्रा के अन्य कार्यों का महत्त्व भी बढ़ता गया।

उपरोक्त दोनों सिद्धान्तों के पक्ष और विपक्ष में काफी कहा जा सकता है, परन्तु इस सम्बन्ध में वाद-विवाद से कोई व्यावहारिक लाभ नहीं निकलता। हमारे लिये तो इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि किसी न किसी भाँति मुद्रा का उपयोग आरम्भ हुआ और कालान्तर में यह मानव समाज तथा अर्थ-व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गई। गाय और बकरी मुद्रा के रूप में अच्छी वस्तुएँ न थीं, क्योंकि उनमें मूल्य स्थिरता तथा टिकाऊपन के गुण न थे। मवेशियों की बीमारी के काल में एक व्यक्ति का मुद्रा संचय अकस्मात् ही बहुत घट सकता था और प्रजनन के काल में वह काफी बढ़ सकता था। इसके अतिरिक्त सभी गायें अथवा सभी बकरियां स्वास्थ्य और आयु के दृष्टिकोण से समान नहीं होती हैं, इसलिये मान (Standard) के निर्धारण में कठिनाई होती है कि किस गाय अथवा बकरी को मूल्य आँकने की इकाई माना जाय। संचय करने से भी गाय तथा बकरी की कीमत घटने लगती है। यही

कारण है कि इन वस्तुओं को मुद्रा के रूप में उपयोग करने का चलन धीरे-धीरे कम होता गया और इनके स्थान पर कौड़ियाँ आदि वस्तुयें, जिनमें इस प्रकार के दोष नहीं हैं, मुद्रा के रूप में उपयोग होने लगीं। तत्पश्चात् ये वस्तुएँ भी सन्तोषजनक सिद्ध न हो सकीं, क्योंकि इनमें एक ओर तो दुर्लभता (Scarcity) का गुण न था और दूसरी ओर बोझ के अनुपात में इनका मूल्य बहुत ही कम था। धातुओं की खोज के पश्चात् इन वस्तुओं का चलन मिटता गया और धातु के टुकड़ों तथा धातु से बने हुए सिक्कों को मुद्रा के रूप में उपयोग किया जाने लगा।

धातु-मुद्रा का उपयोग काफी लम्बे समय से होता आया है और अभी तक भी इसका चलन बहुत है, परन्तु कुछ कारणों से धीरे-धीरे धातु-मुद्रा का भी महत्त्व घटता गया। जैसे-जैसे व्यापार तथा वाणिज्य का विकास हुआ, मुद्रा की अधिक मात्रा में आवश्यकता हुई, परन्तु बहुमूल्य धातुओं की मात्रा सीमित ही थी, इसलिए ऐसी वस्तुओं की खोज आरम्भ हुई जो मुद्रा-कार्य में धातुओं का स्थान ले सकें। इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया है कि धातु के सिक्के चलते-चलते घिसते रहते हैं और इस घिसावट के कारण धातु की मात्रा नष्ट हो जाने के कारण पर्याप्त हानि होती है। इस प्रकार धीरे-धीरे पत्र-मुद्रा का आविष्कार हुआ। पत्र-मुद्रा में यद्यपि बहुमूल्य होने का गुण तो नहीं होता है, परन्तु बोझ में हल्की होने तथा घिसावट द्वारा हानि न होने के कारण वह काफी अच्छी होती है। शक्तिशाली तथा विश्वसनीय राज्यों की स्थापना और बैंकों के विकास ने तो पत्र-मुद्रा का चलन और भी बढ़ा दिया है। बहुमूल्य धातुओं की कमी के कारण संसार के सभी देशों ने इसे अपना लिया है। आज के संसार में पत्र-मुद्रा ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मुद्रा है। अब तो देशों ने मुद्रा के उपयोग में इतनी अधिक प्रगति की है कि पत्र-मुद्रा के स्थान पर चैक, विनिमय बिल आदि के रूप में साख मुद्रा का भी उपयोग होने लगा है। इन सबका विस्तृत वर्णन अगले अध्यायों में किया जायगा।

QUESTIONS

1. Discuss the advantages and disadvantages of 'Barter economy' and 'Exchange economy.' Is the world coming back to 'Barter economy'. (Raj., B. A., 1948)
2. How did money originate? What are the different kinds of money? What functions does money perform? (Agra, B. A., 1956 Supp.)
3. Discuss ths significance of the evolution of money in modern economy. What are its economic and social effects? (Patna, 1955 Supp.)
4. Explain how and to what extent, the use of money in exchange transactions removed the inconveniences of Barter. (Raj., B. Com., 1958)
5. What have been the economic effects of money (द्रव्य)? Disuss. (Raj., B. A., 1958)

अध्याय २

मुद्रा की परिभाषा, कार्य और महत्त्व

The Definition, Functions & Importance of Money)

परिभाषा की कठिनाई—

यद्यपि किसी भी बात को परिभाषा की निश्चित सीमा में बाँधना एक कठिन कार्य है तथापि परिभाषा की आवश्यकता तो होती ही है। सबसे पहला प्रश्न यह पैदा होता है कि 'परिभाषा' से क्या अभिप्राय है तथा उसकी क्यों आवश्यकता होती है? 'परिभाषा' किसी वस्तु का वह वर्णन है जिसे समझकर प्रत्येक व्यक्ति उस वस्तु को सरलतापूर्वक पहिचान सकता है। अर्थात्, जिस वर्णन द्वारा कोई वस्तु बिना किसी कठिनाई के पहिचानी जा सके, वही उस वस्तु की परिभाषा है। साधारणतया किसी वस्तु का जो सामान्य वर्णन किया जाता है वह एकसी ही कई वस्तुओं पर लागू हो सकता है, परन्तु परिभाषा का मुख्य गुण यह है कि वह केवल वस्तु विशेष के ही सम्बन्ध में सही होती है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार एक सुन्दर एवं सफल परिभाषा में दो गुणों का होना परमावश्यक है :—(१) इसके द्वारा यह स्पष्ट विदित हो जाना चाहिए कि परिभाषित वस्तु किस वर्ग (Genus) के अन्तर्गत आती है तथा (२) वह कौन सा विशेष लक्षण (Differentia) है जिसके आधार पर उस वस्तु को उसी वर्ग की अन्य सजातीय वस्तुओं में से अलग करके आसानी से पहिचाना जा सकता है।

स्मरण रहे कि एक वर्ग में बहुत सी वस्तुएँ सम्मिलित हो सकती हैं। इन वस्तुओं में एक वर्ग के सदस्य होने के नाते बहुत सी समानतायें होंगी, परन्तु एक वर्ग की प्रत्येक वस्तु में कुछ ऐसी भिन्नताएँ भी अवश्य होती हैं जो वस्तु को उस वर्ग की दूसरी वस्तुओं से पृथक कर देती हैं। परिभाषा में इस प्रकार की भिन्नताओं का उल्लेख कर देना आवश्यक होता है। एक छोटे से उदाहरण से स्थिति स्पष्ट हो जायगी। तर्क-शास्त्र में मनुष्य की परिभाषा इस प्रकार की गई है:—'मनुष्य एक विवेकशील जानवर है।' ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि इस परिभाषा में जानवर मनुष्य का वर्ग है, क्योंकि मनुष्य भी एक प्रकार का जानवर ही है, परन्तु विवेकशील होना मनुष्य का विशेष गुण है। अन्य कोई भी जानवर इस गुण से परिपूर्ण नहीं है। मनुष्य के अतिरिक्त अन्य जानवरों में समझने तथा याद रखने की शक्ति तो होती है, परन्तु उनमें विवेकशीलता (Rationality) नहीं होती है। इस प्रकार सभी मनुष्य उक्त परि-

भाषा के क्षेत्र में आ जाते हैं, परन्तु मनुष्य के अतिरिक्त अन्य कोई जानवर अथवा वस्तु इसके क्षेत्र में नहीं आ सकती।

अधिकांश परिभाषाओं में यह कठिनाई अनुभव होती है कि वे सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही दृष्टिकोण से समान रूप में सही नहीं होती हैं। उदाहरण के लिए, रेखागणित शास्त्र में एक सरल रेखा की परिभाषा इस प्रकार की जाती है :—"सरल रेखा दो दिए हुये बिन्दुओं के बीच का न्यूनतम् अन्तर होती है।" सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से इस परिभाषा के विरुद्ध कुछ भी कहना सम्भव नहीं है, परन्तु व्यावहारिक जीवन में जिस रेखा को हम सरल रेखा कहते हैं वह सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से पूर्णतया ऐसी नहीं होती है। वह अधिक से अधिक 'लगभग' सरल रेखा होती है। व्यवहार में इससे काम तो चल जायगा, परन्तु वह तर्कशास्त्री को सन्तुष्ट करने के लिए पर्याप्त नहीं है। साधारण उपयोग की लगभग सभी वस्तुओं की परिभाषा के सम्बन्ध में यही कठिनाई है। इसके अतिरिक्त जब भी हम किसी शब्द की परिभाषा करते हैं तो हमें परिभाषा में उपयोग किये हुये लगभग प्रत्येक शब्द की भी परिभाषा करनी होती है, क्योंकि साधारण बोल-चाल में इन शब्दों का उपयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में किया जाता है। यहीं बस नहीं, विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने एक ही शब्द की अलग-अलग परिभाषाएँ की हैं। परिणाम यह होता है कि किसी एक शब्द की परिभाषा करने के लिए शब्दों का चुनना भी कठिन हो जाता है। अतः यह सम्भव है कि मुद्रा की एक साधारण सी परिभाषा देकर एक व्यापारी, उद्योगपति अथवा साहूकार को सन्तुष्ट किया जा सके, परन्तु एक तर्कशास्त्री अथवा एक सैद्धान्तिक पाठक उसे स्वीकार नहीं करेगा। इसलिए मुद्रा की परिभाषा के सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि जो भी परिभाषा दी जाय वह सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही दृष्टिकोणों को सन्तुष्ट कर सके।

मुद्रा की विभिन्न परिभाषायें

प्रारम्भिक—

शब्दव्युत्पत्ति के अनुसार (Etymologically) अंग्रेजी भाषा का शब्द 'मनी' (Money), जिसके लिए हिन्दी में 'मुद्रा' शब्द है, लैटिन भाषा के शब्द मोनिटा (Moneta) से बना है। मोनिटा, देवी जूनो (Goddess Juno) का प्रारम्भिक नाम है, जिसके मन्दिर में रोम (Rome) की मुद्रा का निर्माण किया जाता था। इटली की प्राचीन कथाओं में जूनो स्वर्ग की रानी का नाम है। यही कारण है कि मुद्रा को कुछ लोगों ने स्वर्गीय आनन्द का प्रतीक माना है और इसीलिए शायद इस देवी के मन्दिर में मुद्रा बनाने का काम किया जाता था। लैटिन भाषा में इस समय मुद्रा के लिए जो शब्द पाया जाता है वह 'पेक्यूनिया' (Pecunia) है। यह शब्द 'पेकस' (Pecus) से बना है, जिसका अर्थ पशु-सम्पत्ति से होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि रोम में भी किसी काल में, भारत की भांति, पशुओं को मुद्रा के रूप में उपयोग

किया जाता रहा होगा और इस कारण मुद्रा तथा पशु-सम्पत्ति दोनों का एक ही अर्थ लगाया गया है।

'मुद्रा' की परिभाषाओं का बाहुल्य और उनका वर्गीकरण —

अर्थशास्त्र के विषय में कीन्ज (Keynes) का कहना है कि इस विज्ञान ने परिभाषाओं से अपना गला घोंट डाला है।[1] इतनी परिभाषाएँ जमा हो गई हैं कि उनको पढ़ कर अर्थशास्त्र तथा उसकी प्रकृति के सम्बन्ध में किसी प्रकार का निश्चय कर लेना कठिन है, क्योंकि इन परिभाषाओं में भारी भिन्नताएँ हैं। कीन्ज का यह कथन मुद्रा पर भी पूर्णतया लागू होता है। इस शब्द की भी अनेक परिभाषाएँ हुई हैं, जिनमें इतना अधिक अन्तर पाया जाता है कि एक साधारण व्यक्ति उलझन में पड़ सकता है। बारबेरा ऊटन (Barbara Wootten) ने ठीक ही कहा है कि "जब कभी छः अर्थशास्त्री एकत्रित होते हैं तो उनके सात अलग-अलग मत होते हैं।"[2] सौभाग्य से *मुद्रा की परिभाषाओं में जो अन्तर हैं उनके आधार पर कुछ विशेष दृष्टिकोण बनाये जा सकते हैं और विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा की गई परिभाषाओं का इन दृष्टिकोणों के अनुसार निम्न प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है :—*
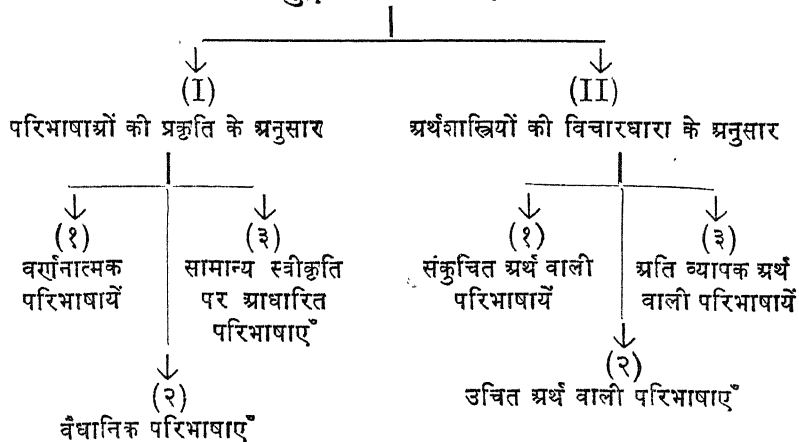
(I) परिभाषाओं की प्रकृति के अनुसार वर्गीकरण

परिभाषाओं की प्रकृति के आधार पर उनके तीन वर्ग सम्भव हैं :—

1. "Political Economy is said to have strangled itself with definitions." J. N. Keynes : *Scope and Methods of Political Economy*, p. 153.

2. "Whenever six economists are gathered there are seven opinions." Barbara Wootten : *Lament for Economics*, p. 14

(१) वर्णनात्मक परिभाषाएँ—

इस वर्ग में मुद्रा की उन सब परिभाषाओं को सम्मिलित किया जाता है जो कि परिभाषा के स्थान पर वर्णन को अधिक महत्त्व देती हैं। ये परिभाषाएँ यह बताने के स्थान पर कि मुद्रा क्या है, मुद्रा की विशेषताओं का वर्णन करती हैं। इससे ये परिभाषाएँ व्यावहारिकता के दृष्टिकोण से अधिक उपयुक्त प्रतीत होती हैं। ऐसी सभी परिभाषाओं को हम वर्णनात्मक परिभाषाएँ (Descriptive Definitions) कह सकते हैं। इस वर्ग के महत्त्वपूर्ण लेखक विदरस् (Hartley Withers), टामस (Thomas) तथा सिजविक (Sidgwick) हैं। उपरोक्त सभी लेखकों के अनुसार मुद्रा को समझने से पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि मुद्रा की आवश्यकता किस लिए पड़ती है और मुद्रा का उपयोग किन-किन कठिनाइयों को दूर करने तथा किन-किन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए किया जाता है। इससे हमें यह पता चल जायगा कि मुद्रा के कार्य क्या हैं। तत्पश्चात् जो भी वस्तु अथवा पदार्थ इन कार्यों को सम्पन्न करेगा वह मुद्रा कहलाने का अधिकारी होगा। विदरस् के अनुसार 'मुद्रा वही है जो मुद्रा का काम करे।''[1] इसी प्रकार का दृष्टिकोण सिजविक का भी है। टामस के अनुसार—*''मुद्रा समुदाय के अन्य सभी सदस्यों के ऊपर एक प्रकार का अधिकार, कुछ देने का एक प्रकार का आदेश अथवा वचन है, जिसे उसका स्वामी अपनी इच्छा से कभी भी प्रवृत्त करा सकता है।* यह स्वयं 'साध्य' नहीं है, वरन् अन्य व्यक्तियों की सेवाओं और वस्तुओं पर अधिकार जमाने का एक साधन मात्र है।''[2]

विदरस के अनुसार, मुद्रा के चार प्रमुख कार्य हैं :—विनिमय के माध्यम का कार्य करना, सभी वस्तुओं की कीमत को आँकना, मूल्य का संचय करना तथा उधार की लेन-देन में सुविधा प्रदान करना। जो कोई भी वस्तु इन चारों कार्यों को सम्पन्न करेगी वही मुद्रा कहलायेगी, चाहे उसके रूप और गुण कुछ भी क्यों न हों।

दोष—

परन्तु यह दृष्टिकोण तर्क की कसौटी पर सही नहीं उतरता, क्योंकि वर्णन तथा परिभाषा में भारी अन्तर है। किसी वस्तु के गुणों तथा कार्यों की व्याख्या केवल

---

1. "Money is what money does". Hartley Withers : *The Meaning of Money.*

2. "Money is a kind of claim upon all other members of the community, a sort of order or promise to deliver which can be enforced whenever the owner pleases. It is a means to an end not for its own sake but as a means of obtaining other articles or of commanding the services of others." Thomas : *Elements of Economics*, p. 400.

उसका वर्णन हो सकती है, परिभाषा नहीं। परिभाषा में तो वर्ग (Genus) तथा विशेषक अन्तर (Differentia) का उल्लेख करना आवश्यक होता है। यदि मनुष्य के विषय में हम यह कहें कि यह चलता है, सोचता है तथा बात करता है तो निस्संदेह यह मनुष्य का 'वर्णन' तो हो जायगा, परन्तु उसकी परिभाषा नहीं हो सकती। अतः तर्क के दृष्टिकोण से विदरस् तथा सिजविक की परिभाषाएँ उपयुक्त नहीं हैं, यद्यपि ये परिभाषाएँ सरल हैं और व्यावहारिक जीवन में इनसे काम चल सकता है।

(२) वैधानिक परिभाषायें—

दूसरे वर्ग में मुद्रा की उन सब परिभाषाओं को शामिल किया जाता है जो 'मुद्रा के राज्य सिद्धान्त' (State Theory of Money) पर आधारित हैं। इस वर्ग की परिभाषाओं को हम 'वैधानिक परिभाषाएँ' (Legal Definitions) कह सकते हैं। मुद्रा के राज्य सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक सम्बन्धों में सबसे आवश्यक चीज ऋण है, अतएव मुद्रा वही वस्तु हो सकती है जो राज्य की ओर से ऋण चुकाने का साधन घोषित कर दी जाय और यही कारण है कि विधान में मुद्रा का उल्लेख केवल ऋण के ही सम्बन्ध में किया जाता है। जर्मन अर्थशास्त्री नैप *(Knapp)* तथा ब्रिटिश अर्थशास्त्री *हॉटरे (Hawtrey)* मुद्रा की परिभाषा इसी दृष्टिकोण से करते हैं। *नैप के अनुसार कोई भी वस्तु जो राज्य द्वारा मुद्रा घोषित कर दी जाती है, मुद्रा हो जाती है।*[1] नैप ने मुद्रा के सम्बन्ध में वैधानिक दृष्टिकोण अपनाया है और मुद्रा के चालू रूप पर अधिक ध्यान दिया है। सभी जानते हैं कि आधुनिक जगत में मुद्रा का उत्पादन सरकार के हाथ में होता है और कुछ वस्तुएँ सरकार की ओर से मुद्रा घोषित कर दी जाती हैं। ये सभी वस्तुएँ मुद्रा के रूप में चालू रहती हैं। इनका स्वीकार करना कानून द्वारा अनिवार्य कर दिया जाता है। जो व्यक्ति इनके रूप में भुगतान लेने से इन्कार करता है उसे राज्य दण्ड देता है। यही कारण है कि बहुत सी ऐसी वस्तुएँ भी मुद्रा के रूप में चालू हो जाती हैं जिन्हें यदि सरकार मुद्रा घोषित न करती तो कोई भी स्वीकार न करता। उदाहरण के लिए, एक सौ रुपये के नोट की वैसे तो कुछ भी कीमत नहीं हो सकती है, परन्तु सरकार द्वारा मुद्रा घोषित हो जाने के कारण उसकी कीमत इतनी अधिक हो जाती है। अतः जब सरकार कागज के नोटों का विमुद्रीकरण कर देती है, अर्थात् जब उनके पीछे से वैधानिक दबाव हटा लिया जाता है तो उन्हें कोई भी मुद्रा के रूप में स्वीकार नहीं करता। इन बातों से पता चलता है कि मुद्रा के भीतर सामान्य स्वीकृति का जो गुण है वह राज्य द्वारा ही उत्पन्न किया गया है।

दोष—

वैधानिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त व्यवहार में भी यह परिभाषा सही प्रतीत

---

[1] See the English Translation of Knapp by Lucas and Bonar: *The State Theory of Money*, 1924.

होती है, परन्तु वास्तव में परिभाषा इतनी सही नहीं है। हॉटरे इसी परिभाषा के पक्षपाती थे, परन्तु बाद को कुछ कमियाँ देख कर उन्होंने परिभाषा में आवश्यक परिवर्तन करने की कोशिश की है। ऊपर से देखने में तो यही पता चलता है कि वास्तविक संसार में नैप का दृष्टिकोण ही सही है, परन्तु स्वयं नैप के देश जर्मनी में असाधारण परिस्थितियों के काल में इस परिभाषा की कमजोरी प्रकट हो गई थी। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी में भीषण मुद्रा-प्रसार हुआ था। कारण यह था कि युद्ध काल में जर्मन सरकार ने पत्र-मुद्रा की अत्यधिक निकासी द्वारा आय प्राप्त की थी। पत्र-मुद्रा इतनी अधिक हो गई थी और कीमतें इतनी तेजी से बढ़ रही थीं कि मुद्रा पर से जनता का विश्वास उठ गया था। परिणाम यह हुआ कि लोगों ने कागज के नोटों को स्वीकार करना बन्द कर दिया। हजारों नोटों के बदले में भी एक समय का भोजन प्राप्त करना कठिन हो गया था और सभी विनिमय-कार्य वस्तु-विनिमय द्वारा होने लगे थे। जर्मन सरकार ने कड़े नियमों द्वारा मुद्रा की स्वीकृति को बनाये रखने का प्रयत्न किया। उसे स्वीकार न करने वाले के लिए मृत्यु दण्ड रखा गया, परन्तु फिर भी मुद्रा पर विश्वास न जम सका। अन्त में, जर्मन सरकार को यह घोषणा करने पर बाध्य होना पड़ा कि सरकार पत्र-मुद्रा को भूमि के टुकड़ों में बदलने की गारन्टी देती है। इसके पश्चात् ही धीरे-धीरे मुद्रा में विश्वास पुनः स्थापित हुआ। इस उदाहरण से पता चलता है कि राज्य की सारी शक्ति मुद्रा के पीछे होते हुए भी राज्य द्वारा घोषित मुद्रा चालू न रह सकी। इससे स्पष्ट है कि मुद्रा की स्वीकृति यथार्थ में राज्य की घोषणा अथवा उसकी शक्ति पर निर्भर नहीं होती, वरन् जनता के विश्वास पर निर्भर होती है। सरकार द्वारा घोषित वस्तु मुद्रा के रूप में तभी तक चल सकती है जब तक कि उस पर जनता का विश्वास है। इस विश्वास के उठते ही उसका चलन रुक जाता है। इसी विश्वास को बनाये रखने के लिए ही पत्र-मुद्रा के पीछे अक्सर किसी न किसी प्रकार की बहुमूल्य धातु की आड़ रखी जाती है।

नैप की परिभाषा का एक दोष और भी है। अर्थशास्त्र में केवल ऐसे हस्तान्तरण के कार्य को विनिमय कहा जाता है जोकि ऐच्छिक तथा स्वतन्त्र हो, परन्तु यदि मुद्रा की स्वीकृति राज्य द्वारा अनिवार्य कर दी जाय तो फिर इससे विनिमय कार्य की स्वतन्त्रता ही समाप्त हो जाती है और ऐसा हस्तांतरण कार्य सच्चे अर्थ में विनिमय नहीं रहता। नैप ने अपनी परिभाषा इतिहास के आधार पर बनाई है और उसकी नियमितता पर अधिक जोर दिया है, परन्तु उसकी परिभाषा तर्क की कसौटी पर सही नहीं उतरती है। इन दोषों को ध्यान में रखते हुए हॉटरे ने अपनी परिभाषा में इस प्रकार परिवर्तन किया है कि "मुद्रा के दो पहलू हैं :—प्रथम, यह लेखे की इकाई है और दूसरे यह विधि ग्राह्य (Legal Tender) है।" इस प्रकार उन्होंने नैप के दृष्टिकोण के साथ-साथ मुद्रा द्वारा क्रयः शक्ति के रूप में किये जाने वाले कार्य को भी सम्मिलित कर लिया है।

सामान्य स्वीकृति पर आधारित परिभाषायें

तीसरे वर्ग में वे परिभाषाएँ सम्मिलित हैं जो मुद्रा की सामान्य स्वीकृति अथवा सर्वग्रहणीयता (General Acceptability) पर आधारित हैं। (इस वर्ग की परिभाषाओं में भी परस्पर काफी अन्तर है और दो प्रकार की परिभाषाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। कुछ विद्वानों ने तो मुद्रा को संकुचित अर्थ में उपयोग किया है और कुछ ने उसके विस्तृत अर्थ लगाये हैं।) इस वर्ग की प्रमुख परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं—

(१) वाकर के अनुसार :—"मुद्रा वह है जो वस्तुएँ खरीदने के शोधन में तथा ऋणों का अन्तिम भुगतान करने में स्वतन्त्रतापूर्वक हस्तान्तरित होती रहती है और इसे चुकाने वाले व्यक्ति के चरित्र अथवा उसकी साख का ध्यान नहीं रखा जाता और साथ ही जो व्यक्ति इसे प्राप्त करता है उसका ऐसा विचार नहीं होता कि वह स्वयं इसका उपयोग करे, बल्कि वह किसी न किसी समय उसे विनिमय द्वारा हस्तान्तरित कर देता है।"[१]

(२) मार्शल के अनुसार :—"मुद्रा में वे सब वस्तुयें शामिल होती हैं जो (किसी समय विशेष अथवा स्थान विशेष में) बिना सन्देह अथवा विशेष जाँच के वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने तथा खर्चों को चुकाने के साधन के रूप में साधारणतया चालू होती हैं।"[२]

(३) राबर्टसन ने मुद्रा की परिभाषा इस प्रकार की है :—"मुद्रा वह वस्तु है जिसे वस्तुओं की कीमत चुकाने तथा अन्य प्रकार के व्यावसायिक दायित्वों को निपटाने के लिए विस्तृत रूप में स्वीकार किया जाता है।"[३]

(४) सैलिगमैन के अनुसार :—"मुद्रा वह वस्तु है जिसे सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो।"[४]

(५) कोल के विचार में :—"मुद्रा केवल क्रयःशक्ति है अर्थात् एक ऐसी वस्तु जिससे अन्य वस्तुयें खरीदी जा सकती हैं। यह ऐसी वस्तु है जो साधारणतया

1. Money is that which passes freely from hand to hand in full payment of goods, in final discharge of indebtedness, being accepted equally without reference to the character or credit of the person tendering it, and without any intention on the part of the person receiving it himself to consume or otherwise use it than by passing it on, sooner or later, in exchange.

2. "Money includes all those things which are (at any given time or place) generally current without doubt or special enquiry as a means of purchasing commodities or services and of defraying expenses."—*See*, Marshall : *Money, Credit and Commerce*, p. 13.

3. "A commodity which is used to denote anything which is widely accepted in payment of goods, or in discharge of other business obligations." *See* Robertson : *Money*, p. 2.

4. "Money is one thing that possesses general acceptability."

तथा विस्तृत रूप में शोधन के साधन के रूप में उपयोग की जाती है और साधारणतया ऋणों के भुगतान में स्वीकार की जाती है।"[1]

(६) प्रो० ऐली का मत है कि:—"मुद्रा ऐसी कोई भी वस्तु है जिसका विनिमय के माध्यम के रूप में स्वतन्त्रतापूर्वक हस्तान्तरण होता है और जो ऋणों के अन्तिम भुगतान में सामान्य रूप में स्वीकार की जाती है।"[2]

(७) क्राउथर का कथन है कि:—"यह (मुद्रा) वह चीज है जिसे साधारणतः विनिमय माध्यम मान लिया गया हो, अर्थात देना-पावना चुकाने का जो साधन हो और साथ ही जो मूल्य की माप और उसके कोष का काम करती हो।"[3]

(८) लार्ड कीन्ज के अनुसार:—"मुद्रा वह है जिसे देकर ऋण के प्रसंविदों (*Contracts*) तथा मूल्य के प्रसंविदों का भुगतान किया जा सकता है और जिसके रूप में सामान्य क्रयः शक्ति का संचय किया जाता है।"[4]

(९) कैन्ट का कथन है कि:—"मुद्रा एक वस्तु है जिसे साधारणतया विनिमय के माध्यम अथवा मूल्य के मान के रूप में स्वीकार किया जाता है।"[5]

(१०) वाघ के विचार में :—"मुद्रा में वे वस्तुयें सम्मिलित होती हैं जो किसी एक समाज में सामान्य रूप में स्वीकार की जाती हैं और जिनका विनिमय के माध्यम के रूप में स्वतन्त्रतापूर्वक हस्तान्तरण होता है..........किन्तु कोई वस्तु ऐसी नहीं होती है जाकि सभी स्थानों पर स्वीकार की जाती हो। अतः इस अर्थ में मुद्रा सदैव स्थानीय होती है और अन्य स्थानों में इसे स्वीकार नहीं किया जाता।"[6]

1. "Money is simply purchasing power—something which buys things—it is anything which is habitually and widely used as a means of payment and is generally acceptable in the settlement of debts."—*See* G. D. H. Cole : *What Everybody Wants to Know About Money*, p. 21.

2. "Anything that passes freely from hand to hand as a medium of exchange and is generally received in final discharge of debts."—*See* Ely : *Elementary Principles of Economics*.

3. *See* Geoffry Crowther मुद्रा की रूप रेखा, पृष्ठ २६।

4. "Money is that by the delivery of which debt contracts and price contracts are discharged and in the shape of which a store of general purchasing power is held." *See* J. M. Keynes : *A Treatise on Money, vol. I*.

5. "Money is anything which is commonly used and generally accepted as a medium of exchange or as a standard of value." *See* Kent : *Money and Banking*. p. 3.

6. "Money consists of those things which, within a society, are of general acceptability passing from hand to hand as a medium of exchange.........No commodity is however, acceptable and in this sense money is always local, it is money in some places and in other places it is not acceptable.

*(११) हॉम के अनुसार :—"मुद्रा शब्द का उपयोग विनिमय माध्यम तथा मूल्य मान दोनों ही के लिए किया गया है।"**

उपरोक्त सभी परिभाषाओं में भिन्नता होते हुए भी एक प्रकार की समानता है। सभी लेखकों ने सामान्य स्वीकृति को मुद्रा का एक आवश्यक गुण माना है, परन्तु इस सम्बन्ध में कीन्ज, क्राउथर तथा वाघ की परिभाषायें अधिक उपयुक्त हैं। इन परिभाषाओं से मुद्रा के निम्न गुणों का पता चलता है :—

(१) मुद्रा की स्वीकृति स्वतन्त्र तथा ऐच्छिक होनी चाहिये। यदि किसी वस्तु को मुद्रा के रूप में दबाव अथवा भय के कारण स्वीकार करना पड़ता है तो उसे हम मुद्रा नहीं कह सकते हैं। अर्थशास्त्र में तो विनिमय स्वभाव से ही ऐच्छिक तथा स्वतन्त्र होता है। इस कारण मुद्रा का विनिमय के माध्यम के रूप में जो उपयोग होता है वह भी स्वेच्छा से ही होना चाहिए।

(२) मुद्रा की स्वीकृति सामान्य होनी चाहिए। अर्थात् सभी लोग उसे मूल्य तथा ऋणों के चुकाने में स्वीकार करते हों। इस सम्बन्ध में जैसा कि वाघ (Waugh) ने कहा है कोई कि भी वस्तु संसार में ऐसी नहीं है जिसे प्रत्येक स्थान में सर्व स्वीकृति प्राप्त हो। लगभग सभी वस्तुओं की स्वीकृति स्थानीय हुआ करती है। मुख्यतया एक देश की मुद्रा दूसरे देश में स्वीकृत नहीं होती। इस कारण सामान्य स्वीकृति का संकुचित अर्थ लगाना ही अधिक अच्छा है। मुद्रा के लिए यह आवश्यक है कि क्षेत्र विशेष में उसे सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो, परन्तु क्षेत्र विशेष का काफी बड़ा होना आवश्यक है। यदि दस मित्र मिल कर यह निश्चित कर लें कि अमुक वस्तु मुद्रा के रूप में उपयोग की जायेगी तो इससे यह वस्तु मुद्रा नहीं हो सकती। स्वीकृति का क्षेत्र आर्थिक दशाओं को देखते हुए समुचित रूप से विस्तृत होना चाहिए। यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने मुद्रा के साथ सामान्य स्वीकृति के अतिरिक्त 'विस्तृत' स्वीकृति का भी गुण जोड़ दिया है।

(३) आधुनिक अर्थशास्त्र में मुद्रा-विनिमय का माध्यम तथा कीमतों का मान दोनों ही एक साथ मानी जाती है, मुद्रा को केवल विनिमय का माध्यम या केवल कीमतों का मान कहना ठीक नहीं है। हॉटरे (Hawtrey) भी यह मानते हैं कि वैधानिक महत्त्व के अतिरिक्त लेखे की इकाई के रूप में भी मुद्रा का महत्त्व होता है।

(४) उपरोक्त सभी परिभाषाओं में मुद्रा के कार्यों की ओर भी संकेत किया गया है। मुख्यतया मुद्रा के निम्न चार कार्यों को विशेष महत्त्व दिया गया है·

* "The word money has been used to designate the medium of exchange as well as the standard of value." *See* Halm : *Monetary Theory*, p. 3.

विनिमय का माध्यम, कीमतों का मान, ऋणों के भुगतान का मान और कीमत का संचय।

(५) तर्कशास्त्र के दृष्टिकोण से भी ये परिभाषायें उपयुक्त हैं, क्योंकि इनमें मुद्रा का वर्ग अर्थात् वस्तु तथा मुद्रा के विशेष गुण अर्थात् सामान्य स्वीकृति का उल्लेख कर दिया है। प्रत्येक वस्तु मुद्रा नहीं होती है। केवल वही वस्तुएँ मुद्रा हैं जिनमें पूर्व वर्णित कार्य करने के गुण पाये जाते हैं।

उपरोक्त गुणों को देखते हुए हम मुद्रा की एक सरल परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं—"मुद्रा वह वस्तु है जिसे एक विस्तृत क्षेत्र में विनिमय के माध्यम, कीमत के मान, ऋणों के भुगतान तथा कीमतों के संचय के रूप में स्वतंत्र, विस्तृत तथा सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो।" ऐसी वस्तु की प्रकृति तथा उसका रूप कुछ भी हो सकता है और वास्तविकता यह है कि विभिन्न स्थानों तथा विभिन्न कालों में अलग-अलग वस्तुओं का मुद्रा के रूप में उपयोग हुआ भी है।

(II) अर्थशास्त्रियों की विचारधारा के अनुसार वर्गीकरण

अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की जो परिभाषाएँ दी हैं उनके अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि वे दो सीमाओं—संकुचित भाव और अति विस्तृत भाव के बीच घड़ी के पेन्डुलम की तरह डोल रहे हैं। इस तरह मुद्रा की परिभाषा के सम्बन्ध में निम्न तीन विचारधारायें मिलती हैं:—

(१) संकुचित अर्थ वाली परिभाषायें—

संकुचित अर्थ में केवल धातु-मुद्रा को ही मुद्रा में सम्मिलित किया गया है। मुद्रा का सम्पूर्ण उद्देश्य सिक्कों द्वारा ही पूरा होता है और इसलिए कुछ विद्वानों (जैसे राबर्टसन आदि) ने विनिमय-माध्यम के रूप में उन्हीं को मुद्रा स्वीकार किया है।

(२) विस्तृत अर्थ वाली परिभाषायें—

विस्तृत अर्थ में उन सभी वस्तुओं को मुद्रा में सम्मिलित किया जाता है जोकि विनिमय-माध्यम के रूप में चालू होते हैं, चाहे उनमें किसी प्रकार का निहित मूल्य (Intrinsic Value) हो या नहीं। इसी प्रकार यह भी आवश्यक नहीं है कि वस्तु विशेष का मुद्रा के रूप में स्वीकार करना वैधानिक दृष्टिकोण से अनिवार्य हो। इस विचार के अनुसार सोना, चाँदी, तांबे आदि के सिक्के, कागज के नोट, चैक, हुण्डियाँ, विनिमय बिल (Bills of Exchange), बैंक नोट (Bank Note), पुस्तकीय साख (Book Credit) आदि सभी मुद्रा होते हैं।

(३) उचित अर्थ वाली परिभाषायें —

आधुनिक अर्थशास्त्री साधारणतया इन दोनों विचारधाराओं के बीच का मार्ग अपनाते हैं। उनके अनुसार यह तो आवश्यक नहीं है कि मुद्रा धातु की बनी हुई हो। मुद्रा केवल ऐसी होनी चाहिए कि उसे समाज या समुदाय में सामान्य स्वीकृति प्राप्त

शायद इसी कारण
हो और सभी मनुष्य उसे वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य के रूप में स्वे... कम नहीं
करें। इस दृष्टिकोण से केवल धातु-मुद्रा तथा कागजी नोट ही मुद्रा हैं। चैक, का मुख्य
बिल आदि को मुद्रा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उन्हें सामान्य स्वीकृति प्राप्त
है। उनका स्वीकार करना या न करना व्यक्ति विशेष की स्वेच्छा पर निर्भर होता है
और स्वीकार करते समय बहुधा देने वाले की साख देख ली जाती है।

निष्कर्ष—

साराँश यह है कि केवल विधि-ग्राह्य मुद्रा (Legal-tender money) को ही मुद्रा में शामिल किया जाता है। यह तो निश्चय है कि किसी वस्तु के मुद्रा बनने के लिये उसकी वैधानिक स्वीकृति की आवश्यकता नहीं है, लेकिन अधिकाँश लेखक इस प्रकार की स्वीकृति का अनुरोध करते हैं। इस प्रकार का अनुरोध उचित नहीं है। मुद्रा के लिए सामान्य स्वीकृति का होना ही काफी है। वे बैंक नोट, साख-पत्र तथा प्रतिभूतियाँ (Securities), जिन्हें इस प्रकार की स्वीकृति प्राप्त है, मुद्रा ही हैं।

मुद्रा के कार्य

(The Functions of Money)

मुद्रा के कार्यों को तीन भागों में विभाजित किया जाता है—

(१) मुख्य कार्य (Primary Functions)—इन्हीं को कभी-कभी आधारभूत कार्य (Fundamental Functions), मौलिक कार्य (Original Functions) अथवा आवश्यक कार्य (Essential Functions) भी कहा जाता है। मुख्य कार्यों की विशेषता यह है कि ये कार्य मुद्रा द्वारा आर्थिक विकास की प्रत्येक अवस्था में सम्पन्न किये जाते हैं। समय-समय पर विभिन्न वस्तुएँ मुद्रा के रूप में उपयोग की गई हैं, परन्तु उन सभी वस्तुओं ने कम से कम इन कार्यों को अवश्य सम्पन्न किया है।

(२) सहायक कार्य (Secondary Functions)—इन्हें कभी-कभी मुद्रा के व्युत्पादित कार्य (Derived Functions) भी कहा जाता है। इन सब कार्यों की विशेषता यह है कि ये गौण होते हैं और मुख्य कार्यों पर निर्भर होते हैं। मुद्रा द्वारा ये कार्य उसी अवस्था में सम्पन्न किये जाते हैं जबकि आर्थिक जीवन का एक अंश तक विकास हो चुकता है। दूसरे शब्दों में, मुद्रा के इन कार्यों का विकास आर्थिक विकास की उन्नति के पश्चात् होता है।

(३) आकस्मिक कार्य (Contingent Functions)—इन कार्यों का वर्णन प्रो० किनले (Kinley) ने किया है। उनका विचार है कि उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त उन्नत देशों में, जहाँ आर्थिक जीवन का विकास बहुत अधिक हो जाता है, मुद्रा कुछ और भी कार्य करती है, जिन्हें मुद्रा के आकस्मिक कार्य कहा जाता है। जैसे-

विनिमय का म जीवन की उन्नति होती है, वैसे-वैसे इन कार्यों का महत्त्व बराबर बढ़ता
संचय
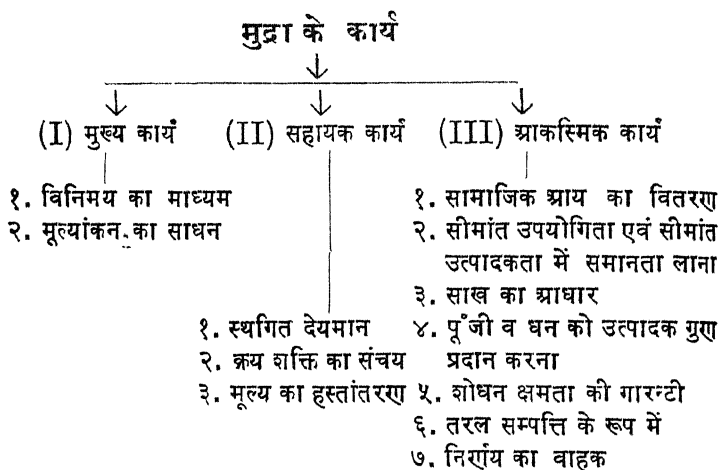
(I) मुख्य कार्य
(Primary Functions)

(१) मुद्रा विनिमय का एक माध्यम है (Money is a Medium of Exchange)—

मुद्रा का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि वह विनिमय के कार्य को सरल बनाती है। इसकी सहायता से एक वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु सरलता से प्राप्त की जा सकती है। वस्तु-विनिमय में अनेक कठिनाइयाँ होती हैं। जब तक दो व्यक्तियों की आवश्यकताओं में पारस्परिक मिलान नहीं होता है, विनिमय सम्भव नहीं हो पाता। परन्तु मुद्रा का उपयोग इस कठिनाई को दूर कर देता है। मुद्रा की सहायता से विनिमय कार्य प्रत्यक्ष न हो कर परोक्ष हो जाता है। पहले एक वस्तु मुद्रा में परिवर्तित की जाती है और फिर इस प्रकार प्राप्त होने वाली मुद्रा से दूसरी वस्तु खरीदी जाती है। इस प्रकार विनिमय का प्रत्येक कार्य दो भागों में विभाजित हो जाता है :—(१) वस्तु अथवा सेवा को मुद्रा में बदला जाता है और (२) फिर मुद्रा के बदले में वस्तुयें और सेवायें प्राप्त की जाती हैं। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि मुद्रा को सभी विनिमयों में स्वीकार कर लेते हैं, इसलिए वह स्वयं भी वस्तुओं और सेवाओं के बदले में मुद्रा को निःसंकोच स्वीकार करता है। अतः वही मुद्रा सर्व स्वीकृत हो सकती है जो विनिमय सम्बन्धी इस आवश्यक कार्य को पूरा करे। जैसा कि कोल ने भी कहा है कि मुद्रा ही हमारी क्रयः शक्ति है।

विनिमय-माध्यम का यह कार्य मुद्रा को आर्थिक जीवन के विकास की प्रत्येक

अवस्था में करना पड़ता है। शुरू-शुरू में मुद्रा का आविष्कार ही शायद इसी कारण किया गया था और आर्थिक जीवन के विकास से भी इस कार्य का महत्त्व कम नहीं हुआ है, बल्कि बढ़ता ही गया है। यही कारण है कि मुद्रा का यह कार्य उसका मुख्य कार्य कहा जाता है।

(२) मूल्यमान अथवा मूल्याङ्कन का साधन (Standard of Values)—

मुद्रा का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि वह सब वस्तुओं के मूल्य को आँकने का कार्य करती है। सभी वस्तुओं की कीमत को मुद्रा में ही नापा जाता है, इसलिए मुद्रा कीमतों का सामूहिक सूचक होती है। कीमतों को नाप कर मुद्रा इन वस्तुओं और सेवाओं के बीच विनिमय-अनुपात निर्धारित करती है। प्रत्येक विनिमय-अनुपात की सही-सही माप के लिए मुद्रा ही माप-दण्ड का कार्य करती है। वस्तु-विनिमय की दूसरी कठिनाई यह थी कि विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं के बीच विनिमय अनुपात निश्चित करना कठिन था, परन्तु जब प्रत्येक वस्तु अथवा सेवा की कीमत मुद्रा में नापी जाती है तो यह कठिनाई आप ही आप दूर हो जाती है। इस सम्बन्ध में एक कठिनाई अवश्य है। एक गज अथवा एक मन की भाँति मुद्रा मूल्य नापने का पूर्णतया निश्चित मान नहीं है। कारण यह है कि समय-समय पर स्वयं मुद्रा की कीमत में भी परिवर्तन होते रहते हैं और कीमतें बराबर घटती-बढ़ती रहती हैं, किन्तु कीमतों को नापने और विनिमय अनुपातों को निर्धारित करने के लिये मुद्रा से अच्छा कोई दूसरा साधन नहीं है।

मुद्रा के विनिमय माध्यम और मूल्यमान के कार्यों में मेल—

इस सम्बन्ध में यह याद रखना आवश्यक है कि विनिमय के माध्यम तथा मूल्य के मान के रूप में मुद्रा के कार्यों का इतना घनिष्ट मेल है कि बहुधा यह निर्णय करना कठिन होता है कि एक कार्य कहाँ पर समाप्त होता है और दूसरा कहाँ से आरम्भ होता है। जब तक विनिमय किये जाने वाली वस्तुओं की कीमत मुद्रा में नहीं आँक ली जाती है, तब तक मुद्रा को विनिमय के माध्यम के रूप में उपयोग नहीं किया जा सकता। विनिमय-माध्यम तथा मूल्य-मान का कार्य मुद्रा द्वारा लगभग साथ ही साथ सम्पन्न किया जाता है, परन्तु कई बार ऐसा भी होता है कि मुद्रा को मूल्य-मान के रूप में तो उपयोग किया जाता है, परन्तु वस्तुओं को मुद्रा में बदला नहीं जाता। उदाहरण-स्वरूप, यदि एक किसान सहकारी भण्डार के पास जाता है और अपने पास से कुछ गेहूँ को देकर चीनी लेना चाहता है तो निस्सन्देह गेहूँ और चीनी दोनों ही की कीमत मुद्रा में आँकी जाती है और विनिमय भी किया जाता है, परन्तु इस कार्य में मुद्रा का हस्तान्तरण नहीं होता। इसी प्रकार लोग कई बार अपनी वस्तुओं की कीमत मुद्रा में आँकते हैं, परन्तु उनका इन वस्तुओं को विनिमय करने का कोई विचार नहीं होता। उदाहरण के लिये, एक मकान मालिक कह सकता है कि उसका मकान २०,००० रुपये का है, परन्तु साथ ही यह सम्भव है कि उसका अपने मकान को इस कीमत पर

बेचने का कोई भी विचार न हो। वर्तमान व्यावसायिक संगठन में प्रत्येक फर्म (Firm) की लेन-देन का हिसाब मुद्रा में किया जाता है। भूमि, मकान मशीन आदि सभी चीजों की कीमत मुद्रा में सूचित की जाती है, यद्यपि इन सब चीजों को बेचने का तनिक भी विचार नहीं होता है। ऐसी दशा में मुद्रा केवल लेखे की इकाई (Unit of Account) के रूप में उपयोग की जाती है, विनिमय माध्यम के रूप में उसका उपयोग नहीं होता।

क्या विनिमय-माध्यम तथा मूल्यमान का अलग-अलग होना सम्भव है

विनिमय माध्यम तथा मूल्य-मान का सम्बन्ध इतना घनिष्ट है कि एक को दूसरे से अलग करना कठिन है, परन्तु कुछ अंश तक दोनों को अलग-अलग कर देना सम्भव होता है। आधुनिक जगत में ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं जिनमें किसी एक वस्तु को विनिमय के माध्यम के रूप में उपयोग किया जाता है और किसी दूसरी वस्तु को मूल्य के मान के रूप में। इस विषय से सम्बन्धित कई उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। सन् १९२३ में जर्मनी में दो अलग-अलग मुद्रायें विनिमय माध्यम तथा मूल्यमान का काम कर रही थीं। इस काल में जर्मनी में भीषण मुद्रा प्रसार फैला हुआ था। कीमतें निरन्तर ऊपर जा रही थीं और जर्मन मार्क (Mark) की कीमत में किसी भी प्रकार की स्थिरता न थी। इस काल में जर्मनी में साधारणतया प्रसंविदे (Contracts) सुइस फ्रैंक (Swiss Franc) अथवा अमरीकन डालर में किए जाते थे (क्योंकि इन मुद्राओं के मूल्य में स्थिरता थी), परन्तु भुगतान जर्मन मार्क में ही किया जाता था। भुगतान के समय मार्क और फ्रैंक अथवा डालर की विनिमय-दर के आधार पर मार्क की मात्रा निश्चित कर ली जाती थी। इस प्रकार चलन की इकाई तो मार्क ही था, परन्तु लेखे की इकाई डालर या फ्रैंक होता था।

संयुक्त राज्य अमरीका में भी सन् १९३३ तक इसी प्रकार की स्थिति थी। उस देश में मूल्य का मान तो स्वर्ण डालर था, परन्तु वास्तव में देश में प्रचलन पत्र-मुद्रा और चाँदी, गिलट तथा ताँबे के सिक्कों का था। यही सब वस्तुएं प्रत्यक्ष रूप में विनिमय माध्यम के रूप में प्रचलित थीं, परन्तु स्वर्ण डालर का इस रूप में उपयोग लगभग नहीं के बराबर था। इस प्रकार दो अलग-अलग मुद्रायें विनिमय के माध्यम तथा मूल्य के मान के रूप में उपयोग की जा रही थीं, परन्तु सरकार द्वारा यह गारन्टी दी गई थी कि प्रत्येक दशा में अन्य सभी मुद्राओं की विनिमय-दर सरकार द्वारा बनाये गये नियमों के अनुसार रखी जाती थी। *अतः दो भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्रायें विनिमय माध्यम तथा मूल्यमान के रूप में उपयोग में लाई जा सकती हैं। परन्तु यह तभी सम्भव होता है जबकि सरकार द्वारा दोनों मुद्राओं की विनिमय-दर कायम रखी जाती है।* इस सम्बन्ध में प्रो० बेनहाम* (Benham) का कहना है कि यद्यपि साधारणतया चलन की इकाई (Unit of Currency) अर्थात् विनिमय-

माध्यम तथा लेखे की इकाई (Unit of Account) में कोई अन्तर नहीं होता (क्योंकि मूल्य की माप ही विनिमय के लिए की जाती है) तथापि यह सम्भव है कि विनिमय का माध्यम तथा मूल्य का मान अलग-अलग हों, यदि दोनों के बीच के अनुपात को बनाए रखना सम्भव है।

(II) गौण कार्य
(Secondary Functions)

(१) स्थगित देयमान (Standard for Deferred Payments)—

बहुत से लेन-देन ऐसे होते हैं जिनका भुगतान तुरन्त नहीं किया जाता है, बल्कि भविष्य के लिए स्थगित कर दिया जाता है। आधुनिक जगत में तो अधिकाँश व्यावसायिक कार्य उधार अथवा साख प्रणाली पर ही आधारित होते हैं। कहा जाता है कि दूसरों के रुपयों से व्यवसाय करना ही आधुनिक व्यावसायिक संगठन की प्रमुख विशेषता है। *मुद्रा का गुण यह है कि वह तुरन्त के व्यावसायिक कार्यों के लिए ही मूल्य के मान का कार्य नहीं करती है, बल्कि स्थगित भुगतानों का भी मान होती है। इसका कारण यह है कि मुद्रा में तीन ऐसी विशेषताएं होती हैं जो उसे इस कार्य के लिए उपयुक्त बना देती हैं। प्रथम* तो अन्य वस्तुओं की अपेक्षा मुद्रा की *कीमत में स्थिरता* अधिक होती है। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन तो अवश्य होते रहते हैं, परन्तु साधारणतया बहुत शीघ्रता से तथा बड़े अंश तक परिवर्तन कम होते हैं। यही कारण है कि स्थगित भुगतानों का हिसाब मुद्रा में रखने से लेने वाले और देने वाले दोनों को ही हानि का भय कम रहता है। *दूसरे*, मुद्रा में *सामान्य स्वीकृति* का गुण होता है, जिसके कारण उसकी आवश्यकता हर समय रहती है। *तीसरे*, अन्य वस्तुओं की अपेक्षा मुद्रा में *टिकाऊपन भी अधिक* होता है। मुद्रा का स्थगित भुगतानों के मान के रूप में भारी महत्त्व है, क्योंकि इससे उधार लेने और देने में सुभीता हो जाता है और अधिक उत्थान का मार्ग सरल हो जाता है। बैंकों की जमा, फर्मों के खातों और सरकार, रेल्वे, लोक उपयोगी सेवा कम्पनियों आदि द्वारा निकाले हुए बाँड (Bonds) इन सभी प्रकार के ऋणों का हिसाब मुद्रा में ही रखा जाता है।

स्थगित भुगतानों के मान के रूप में मुद्रा दोषों से खाली नहीं है। मुद्रा के इन दोषों के कारण बहुधा ऋण-दाताओं तथा ऋण-लेताओं को भारी कठिनाइयाँ होती हैं। कारण यह है कि *स्वयं मुद्रा के मूल्य में भारी परिवर्तन होते रहते हैं*, जो कभी ऋण-दाताओं को हानि पहुँचाते हैं और कभी ऋण-लेताओं को। इस कारण कुछ अर्थशास्त्रियों ने यह सुझाव दिया है कि मुद्रा को स्थगित भुगतानों का *अधिक लोचदार मान बनाने की आवश्यकता है।* यदि इन अर्थशास्त्रियों के सुझाव को मान लिया जाय तो परिणाम यह होगा कि ऋणी वर्ग को उधार ली हुई क्रयः शक्ति के बराबर मूल्य लौटाना पड़ेगा और इस प्रकार चुकाई जाने वाली मुद्रा की मात्रा में मुद्रा की क्रयः शक्ति के परिवर्तनों के अनुसार अन्तर होगा।

(२) क्रयः शक्ति का संचय (The Store of Purchasing Power)

जब मुद्रा का उपयोग विनिमय माध्यम के रूप में किया जाता है तो विनिमय का कार्य वास्तव में दो अलग-अलग कार्यों का एक सामूहिक परिणाम होता है। सर्वप्रथम किसी वस्तु अथवा सेवा को मुद्रा में बेचा जाता है और फिर प्राप्त मुद्रा द्वारा अन्य वस्तु अथवा सेवा खरीदी जाती है। सभी प्रकार का विनिमय स्वभाव में वस्तु के बदले में वस्तुयें अथवा सेवायें प्राप्त करने की एक रीति होती है। मुद्रा को प्राप्त करने का उद्देश्य ही यह होता है कि उसके बदले में दूसरी वस्तुयें खरीदी जा सकें, परन्तु *यह सम्भव है कि एक वस्तु को बेच कर जो मुद्रा प्राप्त की गई है उसे तुरन्त व्यय न किया जाय, बल्कि कुछ समय के लिए उसका व्यय स्थगित कर दिया जाय। ऐसी दशा में मुद्रा एक और कार्य, अर्थात् क्रयः शक्ति का संचय करने का कार्य सम्पन्न करती है।*

एक किसान को बैलों की आवश्यकता हो सकती है। रबी की फसल बेचकर वह मुद्रा प्राप्त करता है, परन्तु यदि बैलों की आवश्यकता जाड़ों में होगी तो इस मुद्रा को वह जाड़ों तक संचित रखेगा, ताकि समय आने पर उसे बैल खरीदने में कठिनाई न हो। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति भावी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुछ न कुछ बचाकर रखना चाहता है। अब प्रश्न यह है कि बचत किस रूप में रखी जाय ? सेवायें तो अति शीघ्र ही नाश हो जाने वाली वस्तुयें होती हैं, इसलिए उन्हें बचाकर रखने का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। अधिकांश वस्तुओं में भी काफी समय तक टिकाऊ रहने का गुण नहीं होता है और कुछ वस्तुओं, जैसे मवेशियों, में संचय करने से मूल्य का ह्रास होता है। मुद्रा में टिकाऊपन होता है और उसके मूल्य में भी अपेक्षितन् पतन कम होता है, इसलिए क्रयः शक्ति के संचय के लिए मुद्रा ही अधिक उपयुक्त होती है।

मुद्रा के इस कार्य का आरम्भ भी आर्थिक जीवन के विकास के पश्चात् ही हुआ है, परन्तु आधुनिक युग में इसका महत्त्व बहुत बढ़ गया है। बिना बचत के पूँजी का संचय सम्भव नहीं है और पूँजी के संचय के बिना आर्थिक उन्नति की आशा निर्मूल ही होगी। इस सम्बन्ध में यह भी बिना संकोच कहा जा सकता है कि मूल्य अथवा क्रयः शक्ति को संचित करने का सबसे सुरक्षित तथा सुविधाजनक साधन मुद्रा ही है।

(३) मूल्य का हस्तान्तरण (Transfer of Value)—

मुद्रा के इस कार्य का महत्त्व भी आर्थिक जीवन के विकास के साथ-साथ ही बढ़ा है। जैसे-जैसे आर्थिक जीवन सुसंगठित होता गया, वैसे-वैसे विनिमय का क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। वस्तुओं का क्रय-विक्रय दूर-दूर तक होने लगा और इस प्रकार मूल्य अथवा क्रयः शक्ति को एक स्थान से दूसरे स्थान को हस्तान्तरण करने की आवश्यकता अनुभव हुई। यह कार्य भी मुद्रा की सहायता से आसानी के साथ होने लगा। *अपनी सामान्य स्वीकृति के कारण मुद्रा एक व्यक्ति को इस योग्य बना देती है कि वह एक स्थान पर अपनी सम्पत्ति को बेचकर दूसरे स्थान पर नई सम्पत्ति खरीद सके।*

इसके अतिरिक्त मुद्रा के ही रूप में रुपये का लेन-देन होता है और इस प्रकार क्रयः शक्ति का एक व्यक्ति से दूसरे को हस्तान्तरण सम्भव हो जाता है।

इस कार्य का भी मनुष्य के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में भारी महत्त्व है। इस हस्तान्तरण के कारण कुछ व्यक्तियों के पास पड़ी हुई बेकार तथा फालतू क्रयः शक्ति का उत्पादक कार्यों में उपयोग सम्भव हो जाता है और आर्थिक विकास की सम्भावना बढ़ जाती है ।

(III) आकस्मिक कार्य
(Contingent Functions)

प्रो० किनले ने मुद्रा के चार आकस्मिक कार्यों का वर्णन किया है :—

(१) सामाजिक आय का वितरण—

वर्तमान संसार में उत्पादन का कार्य साधारणतया प्रत्यक्ष उपभोग के लिये नहीं किया जाता है, बल्कि उत्पादित वस्तुओं को बाजार में बेचने के उद्देश्य से किया जाता है। इसके अतिरिक्त आधुनिक उत्पादन सामूहिक रूप में अथवा सम्मिलित रूप से किया जाता है। जो कुछ भी उत्पत्ति होती है वह किसी व्यक्ति विशेष द्वारा न हो कर सारे समाज अथवा बहुत से व्यक्तियों द्वारा मिलकर की जाती है और इसलिए इस उत्पादन के वितरण की आवश्यकता पड़ती है। *मुद्रा का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह भी है कि वह इस सम्मिलित उपज अथवा राष्ट्रीय लाभांश (National Dividend) को बाँटने में सहायता देती है।* पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली में वितरण की समस्या का भारी महत्त्व है, परन्तु यह निश्चय है कि मुद्रा के बिना वितरण कार्य लगभग असम्भव ही रहेगा। मुद्रा की सहायता से बिना किसी कठिनाई के उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को उनके हिस्से प्रदान किये जा सकते हैं और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार वस्तुएँ और सेवाएँ दी जा सकती हैं। *कारण यह है कि मुद्रा सभी वस्तुओं की कीमत की माप का एक सामूहिक मान होती है और उत्पत्ति के प्रत्येक साधन को ऐसे रूप में हिस्सा प्रदान करती है कि उसका आसानी से उपयोग हो सके।*

(२) सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त उत्पादकता में समानता लाना—

मुद्रा के आविष्कार से उपभोक्ताओं और उत्पादकों दोनों ही को बड़ा लाभ हुआ है। *मुद्रा के उपयोग के कारण उपभोक्ता को यह अवसर मिला है कि वह अपने व्यय को इस प्रकार नियन्त्रित कर सके कि व्यय की प्रत्येक मद से समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करके अपने सन्तोष को अधिकतम् कर सके।* इसका कारण यह है कि मुद्रा सामान्य क्रयः शक्ति है और उसका उपयोग किसी भी वस्तु को खरीदने के लिए किया जा सकता है। इसी प्रकार एक उत्पादक के लिए भी मुद्रा बड़ी लाभदायक है। उत्पादन को लाभदायक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का इस प्रकार उपयोग किया जाय कि प्रत्येक की सीमान्त उत्पादकता

समान ही रहे अर्थात् प्रत्येक की अन्तिम इकाई से समान उपज प्राप्त हो। यह कार्य भी मुद्रा द्वारा सरलतापूर्वक हो जाता है, क्योंकि सभी उद्योगों में प्रत्येक साधन की सीमान्त उपज मुद्रा में नापी जा सकती है।

(३) साख का आधार—

आधुनिक युग में साख के महत्त्व से सभी परिचित हैं और विनिमय बिलों, बैंक नोटों तथा अन्य साख पत्रों का चलन बहुत है। सभी प्रकार की आर्थिक उन्नति साख की समुचित व्यवस्था पर निर्भर होती है, *परन्तु बैंकों तथा अन्य संस्थाओं द्वारा जिस साख का निर्माण किया जाता है वह मुद्रा पर आधारित होती है।* नकद कोषों (Cash Reserves) के आधार पर ही एक बैंक अपनी साख का विस्तार कर सकती है और बैंक नोटों को निकाल सकती है। प्रत्येक बैंक अपने ग्राहकों की माँग को नकदी में पूरा करने का वचन देती है और इस वचन को पूरा करने में असमर्थ रहना उसके लिए घातक होता है। ऐसी दशा में जनता का बैंक पर से विश्वास उठ जाता है और साख का आधार ही समाप्त हो जाता है। पत्र-मुद्रा के प्रति विश्वास बनाये रखने में भी वह महत्त्वपूर्ण कार्य करती है।

(४) सभी प्रकार की पूँजी तथा सभी प्रकार के धन को उत्पादक गुण प्रदान करना—

जब पूँजी को मुद्रा के रूप में रखा जाता है तो उसमें द्रवता (Liquidity) और गतिशीलता (Mobility) बहुत रहती है। परिणाम यह होता है कि पूँजी के नये तथा लाभपूर्ण उपयोग प्राप्त कर लेने में आसानी होती है। इस प्रकार मुद्रा के कारण उत्पादन बढ़ता है। *पूँजी को मुद्रा के कारण जो उत्पादक गुण प्राप्त हो गया है वही वास्तव में वर्तमान आर्थिक उन्नति का सबसे बड़ा कारण है।*

अन्य कार्य—

मुद्रा के उपरोक्त नौ कार्य महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु कुछ विद्वानों ने मुद्रा के कुछ और भी आकस्मिक कार्यों का वर्णन किया है, जो निम्न प्रकार हैं :—

(१) शोधन क्षमता की गारन्टी—

मुद्रा का यह कार्य भी आधुनिक युग में ही महत्त्वपूर्ण हुआ है। एक फर्म उसी समय दिवालिया हो जाती है जब वह अपने उत्तरदायित्व को मुद्रा में चुकाने में असमर्थ हो जाती है, यद्यपि यह सम्भव है कि उस समय भी फर्म की लेन उसकी देन से बहुत अधिक हो। *भविष्य में भुगतान करने का प्रत्येक वचन मुद्रा में भुगतान करने से सम्बन्धित होता है। अतः अपनी शोधन-क्षमता (Solvency) को बनाये रखने के लिए प्रत्येक व्यावसायिक फर्म तरल मुद्रा के रूप में कुछ न कुछ जमा अवश्य रखती है।* ठीक इसी प्रकार देशों की सरकारों, बैंकों तथा व्यक्तियों को भी मुद्रा जमा करके शोधन-क्षमता बनाये रखने की आवश्यकता पड़ती है

(६) तरल सम्पत्ति के रूप में—

इस मुद्रा के कार्य को कीन्ज ने अधिक महत्त्व दिया है। यह कहा जाता है कि मुद्रा व्यवसायों की सबसे तरल सम्पत्ति (Liquid asset) है। मुद्रा एक ऐसी वस्तु है जिसे सामान्य स्वीकृति प्राप्त है, क्योंकि समाज के सभी सदस्य इसे पाने का प्रयत्न करते हैं। साधारणतया किसी व्यावसायिक फर्म के आय प्राप्त करने का समय निश्चित होता है, परन्तु खर्च की आवश्यकता हर समय पड़ती रहती है। एक किसान को साधारणतया वर्ष में केवल दो बार अर्थात् फसलों के तैयार होने पर आय प्राप्त होती है, परन्तु व्यय साल भर बराबर होता रहता है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति तथा फर्म प्राप्त क्रयः शक्ति के एक भाग को जमा करके अपने पास रखता है, जिससे कि उसे आवश्यकता के समय व्यय करने में कठिनाई न हो। इस काम के लिए मुद्रा सबसे उपयुक्त है क्योंकि एक ओर तो इसमें टिकाऊपन तथा मूल्य की स्थिरता रहती है और दूसरी ओर इसमें तरलता का भी गुण है। *सम्पत्तियों की तरलता बनाये रखने के लिए क्रयः शक्ति को मुद्रा के ही रूप में संचित किया जाता है और यह तरलता विश्वास उत्पन्न करती है।*

(७) निर्णय का वाहक (Bearer of Option)—

प्रो० ग्राहम (Graham) ने मुद्रा के इस कार्य पर विशेष जोर दिया है। उनका कहना है कि *मुद्रा द्वारा क्रयः शक्ति का जो संचय सम्भव हो जाता है उससे एक लाभ यह भी होता है कि जमा करने वाले के लिए भविष्य में यह अवसर रहता है कि भावी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए संचित क्रयः शक्ति का सबसे उत्तम उपयोग कर सके।* भविष्य साधारणतया अनिश्चित होता है, इसलिए आरम्भ में किसी निश्चित उद्देश्य को पूरा करने के लिए क्रयः शक्ति जमा करना उपयुक्त नहीं होता। यह सम्भव है कि भविष्य में उद्देश्य ही बदल जाय, परन्तु यदि संचय मुद्रा में किया जाता है तो इस सम्बन्ध में कोई कठिनाई नहीं होती है, क्योंकि मुद्रा को भविष्य में कोई भी वस्तु खरीदने के लिए काम में लाया जा सकता है।

सारांश—

इस प्रकार मनुष्य के आर्थिक जीवन में मुद्रा द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किये जाते हैं और आर्थिक विकास के साथ-साथ इन कार्यों की संख्या और इनका महत्त्व भी बढ़ता जाता है। आधुनिक संसार को देख कर तो यही पता चलता है कि शायद बिना मुद्रा के मनुष्य का आर्थिक और सामाजिक जीवन ही सम्भव न हो पायगा। वैसे तो मुद्रा के कार्य अनेक हैं, परन्तु अर्थशास्त्र में साधारणतया मुद्रा के चार कार्यों को ही अधिक महत्त्व दिया गया है, अर्थात् विनिमय का माध्यम, मूल्य का मापक, स्थगित भुगतानों का मान और मूल्य का संचय। अँग्रेजी भाषा का निम्न छन्द भी इसी ओर संकेत करता है :—

"Money is a matter of functions four :
A medium, a measure, a standard, a store."

मुद्रा का महत्त्व

वर्तमान युग को 'मुद्रा का युग' कहा जाता है। इस संसार का जीवन-रक्त मुद्रा ही है। यदि संसार की तुलना एक विशाल मशीन से दी जाये तो यह कहना अनुचित न होगा कि जिस तेल से यह मशीन चालू है वह मुद्रा ही है। मुद्रा के बिना हमारा सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनैतिक जीवन समुचित रूप में नहीं चल सकता है। आधुनिक संसार ने अनेक बार यह अनुभव किया है कि *जब कभी किसी देश की मुद्रा प्रणाली बिगड़ जाती है तो उस देश का आर्थिक तथा सामाजिक जीवन ही नहीं, वरन् राजनैतिक जीवन भी चौपट हो जाता है और देश अवनति की ओर जाने लगता है।* प्रत्येक देश यथासम्भव यही प्रयत्न करता है कि अपनी मुद्रा-प्रणाली को नियन्त्रित तथा व्यवस्थित रखे, क्योंकि इससे देश में सन्तोष और उन्नति के लिए अनुकूल दशायें उत्पन्न होती हैं। इसी उद्देश्य से लगभग सभी देश अपनी-अपनी मुद्रा व्यवस्था में उचित फेर-बदल करते रहते हैं।

वैसे भी यदि हम अपने चारों ओर दृष्टि डालें तो हमें प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ कार्य करता हुआ दिखाई देता है। कोई सड़क बनाता है, तो कोई कॉलिज में पढ़ता है, तो कोई दफ्तर में काम करता है, तो कोई दिन भर हथौड़ा चलाता है। यदि इन सब व्यक्तियों से पूछा जाय कि वे इस प्रकार दिन भर किस लिए जी तोड़ परिश्रम करते हैं तो उत्तर केवल यही होगा कि वे इस प्रकार काम करके रुपया कमाते हैं। दूसरे शब्दों में, उनका उद्देश्य मुद्रा प्राप्त करना है। मुद्रा का इतना अधिक महत्त्व इस कारण है कि *प्रत्येक व्यक्ति की कुछ आवश्यकतायें हुआ करती हैं, जिनका पूरा करना या तो उसके लिए आवश्यक होता है या उनको पूरा करने से उसे सुख मिलता है। मुद्रा आवश्यकता पूर्ति का सबसे उपयुक्त साधन है,* क्योंकि मुद्रा द्वारा विनिमय का कार्य बड़ी आसानी से किया जा सकता है। संसार की प्रत्येक वस्तु मुद्रा के बदले में प्राप्त की जा सकती है। *वर्तमान समाज में मुद्रा ही सम्मान तथा प्रतिष्ठा प्रदान करती है।* जिसके पास मुद्रा है उसे संसार के सभी सुख प्राप्त हो जाते हैं। ऐसी दशा में संसार का मुद्रा के पीछे दीवाना होना उचित ही दिखाई पड़ता है।

मुद्रा के गुण—

वर्तमान संसार में मुद्रा का महत्त्व अथवा उसके लाभ निम्न प्रकार हैं:—

(१) मुद्रा वह धुरी है जिसके चारों ओर अर्थ-विज्ञान चक्कर लगाता है—

पीगू (Pigou) के अनुसार अर्थशास्त्र में प्रत्येक काम, घटना अथवा वस्तु को नापने का एकमात्र माप-दंड मुद्रा ही है। स्मरण रहे कि पीगू का दृष्टिकोण व्यावहारिक है। यदि इस प्रकार के माप-दण्ड का उपयोग न किया जाय तो अर्थ-विज्ञान में न तो किसी प्रकार की निश्चितता ही आ सकती है और न किसी भी बात का ठीक-ठीक पता ही लगाया जा सकता है। विनिमय को सरल बना देने के कारण मुद्रा कला-कौशल, साहित्य, विज्ञान तथा उद्योग सभी के विकास में सहायक होती है। हम अपनी

उत्पादित वस्तुओं को मुद्रा में ही बेचते हैं और अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ भी मुद्रा द्वारा ही खरीदते हैं। इसी प्रकार दूसरों की सेवाओं का मूल्य हम मुद्रा में चुकाते हैं और अपनी सेवाओं को भी मुद्रा में बेचते हैं। उधार का कार्य, व्यापार, वाणिज्य तथा श्रम-विभाजन सभी मुद्रा के कारण सम्भव होते हैं। बिना मुद्रा के न तो सम्मिलित पूँजी कम्पनियाँ बन सकती हैं और न सरकार ही अपने कार्य को चला सकती है। सारांश यह है कि मनुष्य की सभी क्रियाओं का केन्द्र-बिन्दु मुद्रा ही है।

(२) मुद्रा समाज की उन्नति का सूचक होती है—

जिस प्रकार किसी भी पुस्तक को पढ़ने और यह समझने के लिये कि उस पुस्तक में क्या चीज कहाँ पाई जायगी, उस पुस्तक की सन्दर्भ सूची (Index) हमारे लिये बहुत उपयोगी होती है, उसी प्रकार मुद्रा हमें किसी देश की आर्थिक प्रगति समझने में भारी सहायता देती है। मानव विकास के इतिहास की प्रगति मुद्रा के साथ ही सम्बन्धित है। इस संसार की जटिल आर्थिक व्यवस्था को बनाए रखने और उसकी स्थिरता को कायम रखने के लिये मुद्रा एक महत्त्वपूर्ण साधन है। यह समाज की उन्नति की सूचक होती है और सभ्यता के विकास का सबसे बड़ा लक्षण है। प्रचलित मुद्रा के रूप तथा मुद्रा की प्रगति की स्थिति को देखकर हम सरलतापूर्वक देश की आर्थिक उन्नति का पता लगा सकते हैं, क्योंकि जैसे-जैसे मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं, वैसे-वैसे मुद्रा-प्रणाली में भी उसके अनुसार परिवर्तन होते जाते हैं।

(३) पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था का आधार—

प्रत्येक समाज में विशिष्टीकरण (Specialisation) तथा विनिमय सुविधा की सहायता से धन का उत्पादन बढ़ाया जा सकता है, परन्तु इस विशिष्टीकरण के लिए श्रम-विभाजन आवश्यक होता है, जो विनिमय-विकास के बिना उन्नति नहीं कर सकता है, इसलिए मुद्रा का उपयोग बहुत आवश्यक होता है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मुद्रा पर ही आधारित है। अत्यधिक विशिष्टीकरण, व्यापार की उन्नति, वाणिज्य और उद्योग तथा समस्त विनिमय प्रणाली मुद्रा पर ही निर्भर है।

(४) मुद्रा वस्तु-विनिमय प्रणाली के सभी दोषों को दूर कर देती है—

इसमें दो व्यक्तियों की आवश्यकताओं के पारस्परिक मिलान की आवश्यकता नहीं पड़ती, मूल्य की एक सामान्य तथा सामूहिक माप आसानी से हो जाती है, अविभाजीय वस्तुओं के विनिमय में कोई असुविधा नहीं होती है, किसी भी वस्तु के बदले में अन्य कोई वस्तु खरीदने में कठिनाई नहीं होती है और बिना किसी कठिनाई के मूल्य का संचय किया जा सकता है।

(५) मुद्रा पूँजी को गतिशीलता (Mobility) प्रदान करती है—

इस गतिशीलता के अनेक लाभ हैं। गतिशीलता से आर्थिक विकास की नींव दृढ़ होती है और सभी स्थानों तथा सभी प्रकार के उद्योगों के विकास की सम्भावना पैदा होती है। इसके अतिरिक्त मुद्रा-प्रणाली का विकास धन को थोडे से व्यक्तियों के पास

केन्द्रित करने की प्रवृत्ति रखता है। इससे बचत को प्रोत्साहन मिलता है और बचत के एक बड़े अंश को पूँजी के रूप में उपयोग होने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है, जिससे आर्थिक जीवन उन्नत होता है। आधुनिक युग में रेलों, जल-मार्गों, गोदामों तथा विशालकाय उद्योगों का विकास मुद्रा का ही चमत्कार है।

(६) मुद्रा सामाजिक स्वतन्त्रता प्रदान करती है—

जिस काल में मुद्रा का विकास नहीं हुआ था और सभी प्रकार के भुगतान वस्तुओं और सेवाओं मे किये जाते थे तो श्रमिकों को पूरी तरह से धनी वर्गों पर निर्भर रहना पड़ता था। वे अपनी इच्छानुसार स्थान तथा व्यवसाय का परिवर्तन नहीं कर सकते थे। मुद्रा के उपयोग ने इस वर्ग को गतिशीलता तथा सामाजिक स्वतन्त्रता प्रदान की है और दासता की बेड़ियों को तोड़ दिया है।

(७) मुद्रा ने राजनैतिक स्वतन्त्रता को भी बढ़ावा दिया है—

जब कर मुद्रा में चुकाये जाते हैं तो करदाता यह अनुभव करता है कि उसकी जेब से रुपया निकल रहा है। इससे करदाताओं में राजनैतिक जाग्रति आती है। वे राज्य के संचालन-कार्य में अधिक दिलचस्पी लेते हैं। इस प्रकार राजनैतिक स्वतन्त्रता की उन्नति होती है।

(८) मुद्रा पृथकत्व को भङ्ग करती है—

विनिमय की सुविधा होने के कारण व्यापार की उन्नति होती है और मनुष्यों का पारस्परिक सम्पर्क बढ़ता है। पारस्परिक निर्भरता भी बढ़ जाती है, जिसके कारण आर्थिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मेल-मिलाप बढ़ता है।

(९) वर्तमान भौतिक सभ्यता का आधार—

यह स्पष्ट है कि हमारी वर्तमान भौतिक उन्नति का सबसे बड़ा कारण मुद्रा का विकास ही है। भौतिक सभ्यता के विकास में मुद्रा का महत्त्व बहुत अधिक है।

निष्कर्ष—

सारांश यह है कि आधुनिक संसार में मुद्रा का महत्त्व बहुत अधिक है। सामान्य रूप में मुद्रा ने आवश्यकताओं के प्रत्यक्ष और परोक्ष सन्तोष, श्रम-विभाजन, पूँजी तथा श्रम की गतिशीलता तथा उत्पत्ति के साधनों के संग्रह करने में सहायता दी है। मुद्रा का महत्त्व इससे भी स्पष्ट होता है कि मुद्रा प्रणाली की प्रत्येक गड़-बड़ का देश की अर्थ-व्यवस्था पर भारी प्रभाव पड़ता है। मुद्रा-प्रसार (Inflation) तथा अवसाद (Depression) के गम्भीर परिणामों से आज का संसार भली-भाँति परिचित है। पूँजीवादी प्रणाली की तो जान ही मुद्रा है और समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में भी कम से कम लेखे की इकाई (Unit of Account) के रूप में मुद्रा का उपयोग आवश्यक है। एक सुसंगठित समाज के लिए मुद्रा आवश्यक है। उपभोक्ताओं के दृष्टिकोण से मुद्रा का महत्त्व इसलिए है कि मुद्रा का उपयोग उन्हें अपना निर्णय सूचित करने

और उसी के अनुसार वस्तुयें और सेवायें खरीदने में सहायता देता है। उत्पादक के दृष्टिकोण से भी यह लाभदायक है, क्योंकि इससे उसे उत्पत्ति के साधनों को जुटाने, कच्चा माल खरीदने और पूँजी प्राप्त करने में सहायता मिलती है।

मुद्रा के दोष—

(I) मुद्रा के नैतिक दोष—साधारण बोलचाल में बहुधा ऐसा कहा जाता है कि 'संसार की सभी बुराइयों की जड़ मुद्रा है।' *यह मनुष्य में लालच तथा मोह उत्पन्न करके शोषण की प्रवृत्ति को जन्म देती है और मनुष्य को धोखेबाजी, बेईमानी तथा पाप के मार्ग पर ले जाती है।* मुद्रा के पीछे चोरी, डकैती और हत्या का होना एक साधारण सी घटना है। मानव समाज के पारस्परिक प्रेम को यह गहरी चोट पहुँचाती है। यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने कहा है कि मुद्रा मनुष्य के लिए एक अभिशाप बन गई है। इस सम्बन्ध में हमें याद रखना चाहिए कि *ये दोष यथार्थ में मुद्रा के दोष नहीं हैं, बल्कि मनुष्य के स्वभाव के दोष हैं।* मुद्रा का आविष्कार विनिमय की सुविधा के लिए हुआ था, अतएव मुद्रा प्राप्त करने का उद्देश्य वास्तव में वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त करना होना चाहिए, जो मुद्रा की सहायता से आसानी से प्राप्त की जा सकती हैं, परन्तु मनुष्य इस उद्देश्य को भूल जाता है और मुद्रा-प्राप्ति स्वयं अपना उद्देश्य बन जाती है। सारी बुराइयों की जड़ यही है, परन्तु मानव स्वभाव को देखते हुए इस बुराई को रोकना भी मुश्किल है।

(II) मुद्रा के आर्थिक दोष—*आर्थिक दृष्टिकोण से भी मुद्रा के अनेक दोष हैं :—*

मुद्रा उधार लेने तथा उधार देने की क्रियाओं को सरल बना देती है, जिसका परिणाम यह होता है कि *उधार लेने की आदत को प्रोत्साहन मिलता है और समाज में अपव्यय बढ़ता है।* इसके अतिरिक्त उद्योग तथा व्यवसाय में यह प्रवृत्ति *अति-पूँजियन (Over-capitalisation) तथा अति-उत्पादन (Over-production) को बढ़ाती है,* जिनके कारण समाज और अर्थ-व्यवस्था को भारी हानि पहुँचती है।

(२) *मुद्रा के मूल्य में स्थिरता नहीं रहती है।* बीसवीं शताब्दी का अनुभव बराबर यही रहा है कि मुद्रा के मूल्य और कीमतों में बराबर परिवर्तन होते रहते हैं। मुद्रा के मूल्य के इन परिवर्तनों का समाज के विभिन्न वर्गों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ता है और कभी-कभी तो यह समाज के लिए घातक होता है। इन परिवर्तनों के कारण आर्थिक जीवन में अनिश्चितता पैदा हो जाती है। जो व्यापार, व्यवसाय तथा उद्योग की उन्नति के लिए अनुपयुक्त होती है।

(३) *मुद्रा के उपयोग ने ही पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली को जन्म दिया है।* इस प्रणाली के अन्तर्गत, उत्पत्ति के साधन केवल थोड़े से व्यक्तियों के पास इकट्ठे हो जाते हैं और जैसे-जैसे उत्पादन बढ़ता है, वैसे-वैसे धनी वर्ग और अधिक धनी

होता जाता है तथा निर्धन वर्ग की निर्धनता बढ़ती जाती है। इस प्रकार समाज में *आय के वितरण की घोर असमानताएँ* उत्पन्न होती जाती हैं, जिनके कारण सामाजिक तथा राजनैतिक असन्तोष बढ़ता है और *क्रान्ति तथा आन्तरिक उपद्रव* प्रोत्साहित होते हैं। श्रमिकों को तो विशेष हानि होती है। वर्तमान मजदूरी प्रणाली के सभी दोष एक प्रकार मुद्रा की ही देन हैं। *बेरोजगारी तथा व्यापार चक्र (Business Cycles)*, जिन्होंने पूँजीवादी संसार में आतंक मचा रखा है, इसी के परिणाम हैं।

(४) *मुद्रा मानव त्याग तथा सन्तोष की वास्तविक माप नहीं होती है। मुद्रा और क्रयः शक्ति एक ही चीज के दो नाम नहीं हैं।* मुद्रा के पास में होते हुए भी यह आवश्यक नहीं है कि एक मनुष्य उसके बदले वस्तुएँ और सेवाएँ खरीद सके। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् मुद्रा-प्रसार के कारण जर्मनी में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि मुद्रा के बदले में कुछ भी नहीं खरीदा जा सकता था।

(५) *मुद्रा स्वयं सर्व शक्तिमान बन जाती है।* मुद्रा के मनुष्य का दास बनने के स्थान पर स्वयं मनुष्य मुद्रा का दास बनकर रह जाता है, जिससे मनुष्य का भारी पतन हो जाता है।

क्या इन दोषों के होते हुए भी मुद्रा का उपयोग करना चाहिए ?—

उपरोक्त दोषों को देखने के पश्चात् इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि इतने दोषों के रहते हुए भी क्या हमें मुद्रा का उपयोग करना ही चाहिए ? क्या हम बिना मुद्रा के काम नहीं चला सकते हैं। याद रहे कि मुद्रा का परित्याग करने का अर्थ केवल यही होता है कि हम फिर से वस्तु-विनिमय प्रणाली पर उतर आएँ। आधुनिक युग में यह सफल हो सकेगी या नहीं, इसके सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है। *जहाँ तक पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का सम्बन्ध है, शायद बिना मुद्रा के काम न चल सके, क्योंकि वस्तु-विनिमय की कठिनाइयाँ काफी गम्भीर हैं, परन्तु नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था में वस्तु-विनिमय प्रणाली एक बड़े अंश तक सफल हो सकती है। समाजवादी रूस में और मुख्यतया चीन में इस समय भी इसका काफी महत्त्व है, परन्तु उपरोक्त देशों में भी वस्तु-विनिमय प्रणाली का उपयोग एक सीमित अंश तक ही किया गया है।* चीन में वस्तु-विनिमय तथा मुद्रा-विनिमय एक दूसरे के विकल्प (Alternative) के रूप में प्रचलित हैं। समाजवादी देश भी मुद्रा के उपयोग के लाभों को भली भाँति समझते हैं और मुद्रा का पूर्णतया परित्याग नहीं करते हैं। कम से कम लेखे की इकाई के रूप में तो इनके लिए भी मुद्रा का उपयोग आवश्यक है। *मुद्रा के गुणों तथा दोषों की तुलना करने से भी यही पता चलता है कि दोषों की अपेक्षा लाभ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।*

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा का महत्त्व—

उपरोक्त विवेचन में हमने एक स्वतन्त्र अर्थ व्यवस्था के दृष्टिकोण से मुद्रा के महत्त्व पर प्रकाश डाला है। कुछ विद्वानों का कहना है कि एक समाजवादी अर्थ-

tender Money) भी सम्मिलित होती है। उपरोक्त स्पष्टीकरण से यह सिद्ध हो जाता है, यद्यपि सभी चलन मुद्रा होता है, परन्तु सभी मुद्रा को चलन नहीं कहा जा सकता।

प्रो० रीड (*Reed*) के अनुसार—"मुद्रा एक दायित्व (देन) की द्रव्यिक कीमत को सूचित करती है, परन्तु चलन इस दायित्व को चुकाने का केवल एक साधन है। वास्तविकता यह है कि किसी देश की मुद्रा का केवल एक निश्चित भाग ही चलन होता है। मुद्रा की उन सब इकाइयों को चलन का नाम दिया जाता है जो विधानानुसार देश में मुद्रा के रूप में चालू होती हैं। कोई भी व्यक्ति इनमें भुगतान स्वीकार करने से इन्कार नहीं कर सकता। बहुधा सरकार की ओर से चलन में भुगतान न करने वालों के लिये दण्ड रखा जाता है।"

QUESTIONS

1. "Money is what money does." Explain this statement and briefly define money.
   (Patna, 1953 ; Agra, B. Com., 1956 and 1949)
2. द्रव्य की परिभाषा कीजिए और समझाइये कि द्रव्य तथा अन्य वस्तुओं में क्या अन्तर है। द्रव्य का मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है, स्पष्ट कीजिए।
   (Agra, B.A., 1956 and 1958 ; Raj., B.A., 1954 ; Alld., B.A., 1956)
3. What do you understand by the term 'Money'? Explain the nature of the various forms of money circulating in India.
   (Agra, B. Com., 1957 Supp. and 1956 Supp.)
4. 'Money is what money does.' Explain fully the meaning of this statement. What will happen if money suddenly disappears from the country? (Agra, B. Com., 1956)
5. Define money critically. Discuss the importance of money as a liquid asset. (Agra, B. Com., 1951 ; Raj., B. Com., 1948)
6. "Money is a matter of functions four.
   A medium, A measure, A standard, A store.
   Explain fully the meaning of this statement.
   (Agra, B. Com., 1958)
7. Explain the difference between—medium of exchange and a measure of value. (Agra, B. Com., 1955)
8. 'Money which is a source of many blessings to mankind

becomes also, unless we control it, a source of confusion and peril.' Comment. (Raj., B. Com., 1957)

9. What have been the economic effects of money? Discuss. (Raj., B. A., 1958)

10. "मुद्रा एक अच्छा सेवक है, किन्तु बुरा स्वामी है।" व्याख्या कीजिए। (Sagar, B. A., 1957)

11. मुद्रा का मानव जाति के आर्थिक विकास में क्या स्थान रहा है। इस पर प्रकाश डालिए और बतलाइये कि क्या अब मुद्रा की आवश्यकता समाप्त हो गई है? (Sagar, B. Com., 1954)

12. In what ways does money affect the economic system? Do you hold that money should have intrinsic value? (Patna, B. A., 1957)

13. Define 'money' critically and explain its nature carefully.
मुद्रा की आलोचनात्मक परिभाषा करिये तथा उसकी प्रकृति समझाइये। (Agra, B. Com., 1959)

14. Discuss the role of money in the modern economic system. (Aligarh, 1956)

15. Critically discuss the functions said to be performed by money. Does money really perform all of them and can money alone perform them? (Raj., B. Com., 1956)

16. What have been the economic effects of money? Discuss. (Raj., B. A., 1958)

अध्याय ३

मुद्रा का वर्गीकरण

(The Classification of Money)

विभिन्न लेखकों ने मुद्रा के वर्गीकरण की अलग-अलग रीतियाँ अपनाई हैं। प्रमुख वर्गीकरण निम्न प्रकार हैं :—

(I) वास्तविक मुद्रा तथा हिसाब की मुद्रा (Actual Money and Money of Account)—

वास्तविक मुद्रा से हमारा अभिप्राय उस मुद्रा है होता है जिसका यथार्थ में देश के भीतर प्रचलन (Circulation) होता है। हिसाब की मुद्रा का प्रचलन नहीं होता है, परन्तु ऋणों, आदेयों तथा लेन-देन का हिसाब उसी में रखा जाता है। *कीन्ज ने इन दो प्रकार की मुद्राओं को मुख्य मुद्रा (Money Proper) तथा लेखे की मुद्रा (Money of Account) का नाम दिया है। प्रो० सैलिगमैन (Seligman) ने इन्हें वास्तविक मुद्रा तथा आदर्श मुद्रा (Ideal Money) में विभाजित किया है और इसी प्रकार बेनहाम (Benham) ने इन्हें चलन की इकाई (Unit of Currency) तथा लेखे की इकाई (Unit of Account) बताया है।*

वस्तुओं तथा सेवाओं के विनिमय में वास्तविक मुद्रा ही विनिमय माध्यम का कार्य करती है। सभी प्रकार के भुगतान इसी मुद्रा में किये जाते हैं और इसी के रूप में क्रयः शक्ति का संचय किया जाता है। वास्तविक मुद्रा और प्रचलित चलन (Currency) में कोई अन्तर नहीं होता। *जितने भी प्रकार की मुद्रा प्रचलन में होती है वह सब की सब वास्तविक मुद्रा होती है।* भारत में १ पैसे से लेकर १ रुपये तक के जितने सिक्के हैं और १ रु० के नोट से लेकर १,००० रु० तक के जितने नोट हैं, वे सभी वास्तविक मुद्रा हैं। *हिसाब की मुद्रा से हमारा अभिप्राय उस मुद्रा से होता है जिसमें ऋणों की मात्रा, कीमतें तथा क्रयः शक्ति को सूचित किया जाता है* और जिसमें सभी प्रकार का हिसाब-किताब रखा जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि ऐसी मुद्रा का वास्तव में प्रचलन हो ही। पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि सन् १९२३ में जर्मनी में मार्क चलन के रूप में प्रचलित था, परन्तु हिसाब की मुद्रा फ्रैंक अथवा डालर होती थी। इसी प्रकार अमरीका में सन् १९३३ तक हिसाब की मुद्रा स्वर्ण डालर था, यद्यपि प्रचलन केवल कागज के नोटों तथा गिलट और तांबे के सिक्कों का ही था। भारत में सभी प्रकार का हिसाब रुपये, आने और पाई में रखा

जाता रहा है यद्यपि पाई नाम के सिक्के का प्रचलन कभी का समाप्त हो चुका है। ठीक इसी प्रकार इङ्गलैण्ड में सोने का पौंड लेखे की इकाई है, यद्यपि काफी लम्बे काल से इस सिक्के का चलन मिट चुका है।

वास्तविकता यह है कि हिसाब की मुद्रा प्रचलित मुद्रा का सैद्धान्तिक रूप है और वास्तविक मुद्रा उसका व्यावहारिक रूप है। यह सम्भव है कि व्यावहारिक जीवन में मुद्रा का रूप बदल जाय, परन्तु हिसाब-किताब के लिए उसका पुराना ही रूप बना रहे और इस प्रकार प्रचलित तथा हिसाबी रूप में अन्तर हो जाय, जिसके कारण वास्तविक और हिसाब की मुद्राएँ अलग-अलग हो जाती हैं।

कुछ लेखकों ने वास्तविक मुद्रा को भी दो और भागों में विभाजित किया है—(अ) पदार्थ-मुद्रा (Commodity Money) तथा (ब) प्रतिनिधि मुद्रा (Representative Money)* । पदार्थ मुद्रा को ही कभी-कभी पूर्णकाय मुद्रा (Full-bodied Money) भी कहा जाता है। *पदार्थ मुद्रा किसी न किसी धातु की बनी होती है और सिक्के पर लिखी हुई कीमत सिक्के की निहित कीमत अथवा उसके धातु-मूल्य के बराबर होती है।* ऐसी मुद्रा में यह गुण होता है कि इसे विनिमय-माध्यम के रूप में तो उपयोग किया जाता ही है, परन्तु साथ ही साथ मूल्य का संचय भी इसी में किया जाता है। इस मुद्रा का धातु के रूप में उतना ही मूल्य होता है जितना कि मुद्रा के रूप में।

कीन्ज के अनुसार मुद्रा का वर्गीकरण

- मुख्य-मुद्रा
  - पदार्थ मुद्रा
  - प्रतिनिधि पत्र मुद्रा
- हिसाब की मुद्रा
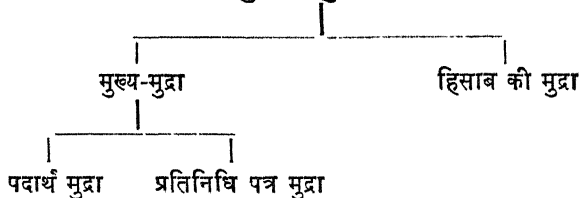
प्रतिनिधि मुद्रा वह है जिसका प्रचलन तो होता है और विनियय माध्यम के रूप में भी उपयोग किया जाता है, परन्तु उसमें मूल्य का संचय नहीं किया जाता। ऐसी मुद्रा को पदार्थ-मुद्रा में बदलने की सुविधा दी जाती है। इस कारण यद्यपि यह मुद्रा स्वयं मूल्य के संचय का कार्य नहीं करती है, परन्तु मूल्य का सूचक अथवा प्रतिनिधि होती है, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर इसे पदार्थ मुद्रा में बदला जा सकता है। सभी प्रकार की पत्र-मुद्रा प्रतिनिधि मुद्रा ही होती है। मूल्य के संचय के लिए उसे अक्सर धातु-मुद्रा में बदल लिया जाता है।

(II) विधि-ग्राह्य मुद्रा तथा ऐच्छिक मुद्रा (Legal tender money and Optional Money)—

विधि-ग्राह्य मुद्रा वह मुद्रा होती है जिसे भुगतान के साधन के रूप में

* Keynes—A Treatise on Money, Vol. 1, p. 3.

सरकार तथा विधान द्वारा स्वीकार किया जाता है। इस मुद्रा में सभी प्रकार का भुगतान किया जा सकता है, चाहे वह वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य चुकाने से सम्बन्धित हो अथवा ऋणों का भुगतान करने से। विधान के अनुसार कोई भी व्यक्ति इस मुद्रा में भुगतान लेने में इन्कार नहीं कर सकता है। इन्कार करने वालों को बहुधा सरकार द्वारा दण्ड दिया जाता है, क्योंकि यह मुद्रा सरकार द्वारा घोषित मुद्रा होती है। ऐसी मुद्रा की स्वीकृति वैधानिक दृष्टि से अनिवार्य होती है। इसके विपरीत *ऐच्छिक मुद्रा वह मुद्रा होती है जिसे वैसे तो सामान्य स्वीकृति प्राप्त होती है परन्तु कानूनन उसको स्वीकार करना अनिवार्य नहीं होता।* प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण अधिकार होता है कि वह इसमें भुगतान स्वीकार कर ले अथवा इन्कार कर दे। साधारणतया जब ऐसी मुद्रा को स्वीकार किया जाता है तो देने वाले की साख देख ली जाती है, इसलिए ऐसी मुद्रा की स्वीकृति चुकाने वाले के विश्वास पर निर्भर होती है। यदि लेने वाले को देने वाले की साख में विश्वास नहीं है तो वह इसमें भुगतान स्वीकार नहीं करेगा। एक देश में लगभग सभी प्रकार का चलन विधिग्राह्य होता है, परन्तु चैक, बैंक-नोट, विनिमय बिल, प्रतिज्ञा-पत्र (Promissory Notes), हुण्डी आदि ऐच्छिक मुद्राएं हैं। इन्हें विश्वास के कारण स्वीकार किया जाता है। विश्वास का अभाव होते ही इनमें लेने से इनकार कर दिया जाता है।
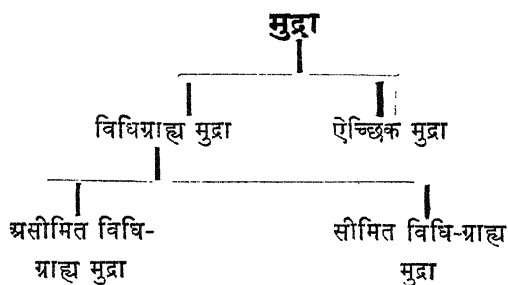
विधि-ग्राह्य मुद्रा भी दो प्रकार की होती है—(१) असीमित विधि-ग्राह्य मुद्रा (Unlimited Legal-Tender Money) तथा (२) सीमित विधि-ग्राह्य मुद्रा (Limited Legal-Tender Money)। *यदि किसी मुद्रा के विषय में सरकार द्वारा यह नियम बना दिया जाता है कि उसमें भुगतान लेना अनिवार्य है, चाहे भुगतान की मात्रा कितनी हो क्यों न हो तो ऐसी मुद्रा को असीमित विधि-ग्राह्य मुद्रा कहा जाता है।* भारत में एक रुपये और अठन्नी के सिक्के तथा सभी कीमतों के कागजी नोट असीमित विधि-ग्राह्य हैं। *सीमित विधि-ग्राह्य मुद्रा वह मुद्रा होती है जिसकी अनिवार्य स्वीकृति की सरकार द्वारा सीमा निश्चित कर दी जाती है।* एक निश्चित कीमत की मात्रा तक इस मुद्रा में भुगतान स्वीकार करना अनिवार्य होता है, परन्तु इस सीमा के ऊपर भुगतान स्वीकार करने के लिए किसी को बाध्य नहीं किया जा सकता है। स्वीकार करना या न करना भुगतान पाने वाले की

इच्छा पर निर्भर होता है। भारत में चवन्नी तथा दुअन्नी के सिक्के १० रुपये तक विधि-ग्राह्य हैं। दो पैसे तथा एक पैसे के सिक्के केवल १ रुपये तक ही विधि-ग्राह्य हैं। इससे ऊपर की रकम का भुगतान स्वीकार करने के लिए कोई भी बाध्य नहीं है, यद्यपि व्यावहारिक जीवन मे ऐसा बहुधा देखने में आता है कि लोग इन सिक्कों में भी अधिक मात्रा में भुगतान स्वीकार कर लेते हैं।

धातु-मुद्रा तथा पत्र-मुद्रा (Metallic Money and Paper Money)—

मुद्रा का वर्गीकरण उस पदार्थ के आधार पर भी किया जाता है जिसकी वह बनी हुई होती है। इस दृष्टिकोण से मुद्रा दो प्रकार की होती है: धातु मुद्रा तथा पत्र-मुद्रा। यद्यपि धातु तथा कागज के अतिरिक्त अन्य पदार्थ भी मुद्रा के रूप में उपयोग किये जाते हैं और भूतकाल में किये गये हैं, परन्तु आधुनिक युग में अधिकांश चलन इन दोनों का ही है। *धातु-मुद्रा से अभिप्राय उस मुद्रा का है जो किसी धातु की बनी हुई हो। इसे टंक या सिक्का (Coin) भी कहते हैं। पत्र-मुद्रा से अभिप्राय उस मुद्रा का है जो किसी सरकार या अधिकृत संस्था के विशेष चिन्हों द्वारा (माँगने पर निश्चित संख्या में धातु-मुद्रा देने के लिखित वायदे सहित या इसके बिना) कागज पर छापी गई हो।*
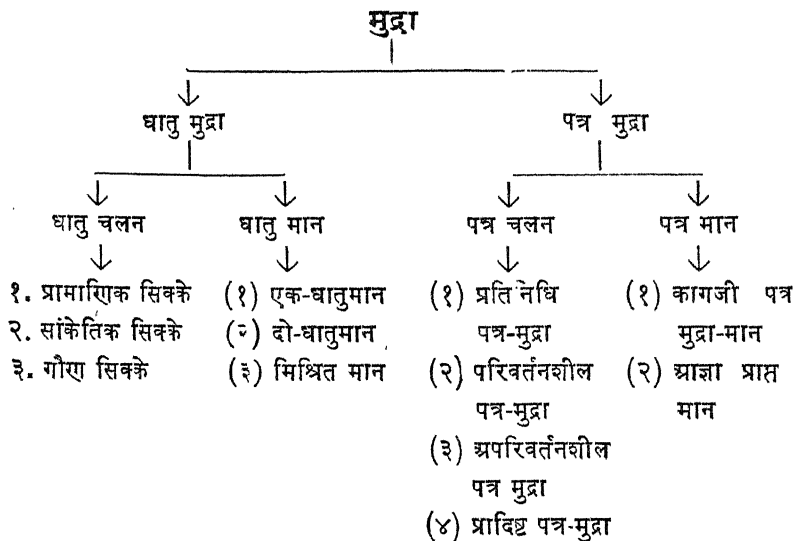
भारत में दोनों ही प्रकार की मुद्रा प्रचलित हैं। धातु-मुद्रा एक रुपये, अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी, इकन्नी, दो पैसा तथा पैसे के रूप में पाई जाती है और पत्र मुद्रा एक-रुपया, दो-रुपया, पाँच-रुपया, दस-रुपया तथा सौ-रुपया के नोटों के रूप में प्रचलित है। प्रथम अप्रैल सन् १९५७ से १, २, ५ और १० पैसे और १ रुपये की धातु-मुद्रा भी पुरानी धातु-मुद्रा के साथ चालू है। भूतकाल में देश में प्रचलित मुद्रा साधारणतया

सोने और चांदी के सिक्कों की होती थी। तुच्छ धातुओं, जैसे—गिलट, तांबा आदि के सिक्के केवल खेरीज की आवश्यकता को पूरा करते थे, परन्तु आधुनिक संसार में अधिकांश मुद्रा पत्र-मुद्रा और छोटी कीमत के तुच्छ धातुओं के सिक्कों के रूप में होती है।

धातु-मुद्रा को भी दो बड़े-बड़े भागों में बाँटा जाता है:—(१) धातु-चलन (Metallic Currency) तथा (२) धातुमान (Metallic Standard)। *धातु-चलन से हमारा अभिप्राय धातु के उन सिक्कों से होता है जिनका वस्तुओं और सेवाओं के क्रय-विक्रय में एक व्यक्ति से दूसरे के पास हस्तान्तरण होता रहता है।* ये सिक्के विनिमय-माध्यम के रूप में देश मे चालू रहते हैं। *धातु-मान से हमारा अभिप्राय उस धातु से होता है जो देश में मूल्य को नापने के लिए उपयोग की जाती है*, अर्थात् जिस वस्तु में अन्य सभी धातुओं और सेवाओं की कीमत आंकी जाती है।

इसी प्रकार पत्र-मुद्रा को भी दो भागों में बाँटा जाता है:—(१) कागजी नोट तथा (२) कागजी मान। *जो कागजी मुद्रा विनिमय-माध्यम के रूप में चालू होती है उसे कागजी नोट कहते हैं। कागजी मान से हमारा अभिप्राय एक ऐसे मुद्रा-मान (Monetary Standard) से होता है जिसमें किसी धातु को कीमतों के सामूहिक मापक के रूप में उपयोग नहीं किया जाता, बल्कि कागजी मुद्रा में ही वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें नापी जाती हैं।* आधुनिक अर्थशास्त्र में पत्र मुद्रा का एक और भी रूप प्रचलित है, जिसे हम *साख-मुद्रा (Credit Money)* अथवा बेंक-मुद्रा का नाम देते हैं। इस प्रकार की मुद्रा साधारणतया बैंकों द्वारा उत्पन्न की जाती है और ऐच्छिक मुद्रा होती है। चैक, हुण्डियां, विनिमय बिल, प्रतिज्ञा-पत्र आदि इसके अच्छे उदाहरण हैं। आधुनिक संसार में इनका भी चलन बहुत है।

धातु चलन के रूप (The Forms of Metallic Currency)—

सभी प्रकार का धातु-चलन विधि-ग्राह्य होता है। अन्तर केवल इतना होता है कि कुछ सिक्के असीमित विधि-ग्राह्य होते हैं और कुछ सीमित विधि-ग्राह्य। एक दूसरे दृष्टिकोण से धातु के सिक्के तीन प्रकार के होते हैं:—

(१) प्रामाणिक अथवा पूर्णकाय सिक्के (Standard or Full-Bodied Coins)—इन सिक्कों की प्रमुख विशेषता यह होती है कि इन पर अंकित कीमत सिक्के में लगी हुई धातु की कीमत के बराबर होती है। दूसरे शब्दों में, *इन सिक्कों की अंकित कीमत निहित कीमत के बराबर होती है।* यदि सिक्के को गला कर धातु के रूप में बेचा जाय तो कोई हानि नहीं होती है। ऐसे सिक्कों में *चार मुख्य गुण* होते हैं:—

(अ) *अङ्कित मूल्य (Face Value) निहित मूल्य अथवा धातु-मूल्य के बराबर होता है।*

(ब) यह सिक्का *असीमित विधि-ग्राह्य* होता है ।

(स) इसी सिक्के में देश के भीतर सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमत नापी जाती है । कीमतों की *सामूहिक माप का सूचक* यही सिक्का होता है ।

(द) इसका टङ्कन अथवा इसकी *ढलाई स्वतन्त्र* होती है ।

जब तक इङ्गलैंड में स्वर्णमान प्रणाली प्रचलित थी, ब्रिटिश सावरेन इङ्गलैंड का प्रामाणिक सिक्का था, परन्तु सितम्बर सन् १९३१ में इङ्गलैंड ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया और तब से उस देश में कोई प्रामाणिक सिक्का नहीं है ।

क्या भारतीय रुपया प्रामाणिक सिक्का है ?—

भारत में इस प्रकार का सिक्का लगभग कोई भी नहीं रहा है । महारानी विक्टोरिया के काल में रुपये में एक रुपये की कीमत की चाँदी रहती थी, इसलिए यह सिक्का पूर्णकाय सिक्का था । इस समय भी देश का प्रधान सिक्का रुपया ही है । इसमें असीमित विधि ग्राह्य होने का गुण है और पूरे देश में इसी में वस्तुओं और सेवाओं की कीमत नापी जाती है, अतएव यह देश की प्रामाणिक मुद्रा है, परन्तु भारतीय रुपया पूर्णकाय सिक्का नहीं है । धातु के रूप में इसकी कीमत अङ्कित कीमत से बहुत कम होती है और इसकी ढलाई भी स्वतन्त्र नहीं है । इस प्रकार *एक ओर तो भारतीय रुपया प्रामाणिक सिक्का है और दूसरी ओर यह केवल एक सांकेतिक सिक्का है,* क्योंकि धातु के रूप में रुपये की कीमत एक रुपये से बहुत कम है । *यही कारण है कि कुछ लेखकों ने भारतीय रुपये को सांकेतिक मान (Token Standard) कहा है ।*

(२) सांकेतिक सिक्के (Token Coins)—*सांकेतिक सिक्के वे सिक्के होते हैं जिनका अङ्कित मूल्य उनके निहित मूल्य से अधिक होता है ।* ऐसे सिक्कों में प्रामाणिक मुद्रा के विपरीत गुण पाये जाते हैं :—(१) इनका धातु-मूल्य उनके मुद्रा-मूल्य से बहुत कम होता है । यही कारण है कि ऐसे सिक्कों को गलाया नहीं जाता, क्योंकि ऐसा करने से हानि होती है । (२) खेरीज (Small Change) के लिए जिन सिक्कों को रखा जाता है वे साधारणतया सांकेतिक ही होते हैं । (३) ऐसे सिक्के बहुधा सीमित विधि-ग्राह्य मुद्रा होते हैं, परन्तु भारतीय रुपये की स्थिति भिन्न है । वह सांकेतिक सिक्का होते हुए भी असीमित विधि-ग्राह्य है । इन सिक्कों की ढलाई कभी भी स्वतन्त्र नहीं होती है । (४) ऐसे सिक्कों की कीमत उनके भीतर रहने वाली धातु-पर निर्भर नहीं होती है, बल्कि सरकारी आदेश द्वारा निर्धारित होती है । यही कारण है कि कुछ लेखकों ने इन्हें प्रादिष्ट सिक्के अथवा प्रादिष्ट मुद्रा (Fiat Coins or Money) भी कहा है ।

ऐसे सिक्कों की ढलाई साधारणतया दो कारणों से की जाती है—(*१*) *यदि सरकार के पास बहुमूल्य धातु की कमी है और मुद्रा को बढ़ाने की आवश्यकता है*

तो वह सांकेतिक सिक्के तैयार करती है। इस प्रकार बहुमूल्य धातु के उपयोग में बचत हो जाती है और धातु की थोड़ी सी मात्रा से ही अधिक मुद्रा तैयार कर ली जाती है। (२) *कभी-कभी जनता द्वारा सिक्कों के गलाने को रोकने के लिए भी उन्हें सांकेतिक बना दिया जाता है।* सन् १९४० में भारतीय रुपये के सम्बन्ध मे एक अजीब स्थिति पैदा हो गई थी। यद्यपि पहले से ही भारतीय रुपया एक सांकेतिक सिक्का था और उसमे चाँदी की मात्रा केवल ११/१२ थी, परन्तु युद्ध-काल में चाँदी के दाम इतने चढ़ गये थे कि सन् १९४० में भारतीय रुपया एक पूर्णकाय सिक्का बन गया; जिसका परिणाम यह हुआ कि यह आसंचित कोषों (Hoards) में गायब होने लगा। तुरन्त ही भारत सरकार ने इस रुपये का विमुद्रीकरण कर दिया और इसके स्थान पर नये रुपये के सिक्के चालू किए, जिनमें चाँदी की मात्रा केवल १/२ रखी गई। रुपया फिर सांकेतिक सिक्का बन गया। इस समय भी हमारा गिलट का रुपया एक सांकेतिक सिक्का ही है

निष्कर्ष—

इसमें तो सन्देह नहीं है कि *पूर्णकाय सिक्कों की तुलना में सांकेतिक सिक्के खराब मुद्रा होते हैं, क्योंकि इनके प्रति जनता का विश्वास उतना अधिक नहीं होता है जितना कि पूर्णकाय प्रामाणिक सिक्कों के प्रति, परन्तु वर्तमान संसार में ऐसे ही सिक्कों का चलन है और व्यावहारिक जीवन में इनसे कोई कठिनाई भी उत्पन्न नहीं होती है।* कागजी मुद्रा से तो सांकेतिक सिक्के हर दशा में अच्छे होते हैं, क्योंकि कागजी मुद्रा का तो लगभग कुछ भी निहित मूल्य नहीं होता है। यदि सरकार समझदारी से काम लेती है तो इन सिक्कों पर से विश्वास उठ जाने का प्रश्न बहुत कम ही पैदा होता है।

(३) गौण सिक्के (Subsidiary Coins)— *ऐसे सिक्कों की निकासी छोटी खेरीज की सुविधा के लिए की जाती है।* इनकी *प्रमुख विशेषतायें* निम्न प्रकार हैं :—

(अ) ये साधारणतया *थोड़ी कीमत के सिक्के* होते हैं।

(आ) इनका *मुख्य कार्य कम कीमत की वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय को सरल* बनाना होता है।

(इ) ये सभी सिक्के *सांकेतिक* होते हैं।

(ई) इन सिक्कों का *प्रामाणिक सिक्के से एक निश्चित सम्बन्ध* रहता है।

(उ) इनकी *ढलाई स्वतन्त्र नहीं होती है* और इनकी निकासी सरकार द्वारा एक निश्चित मात्रा में ही की जाती है।

(ऊ) ये सिक्के सदा ही *सीमित विधि-ग्राह्य* होते हैं।

भारत में चवन्नी, दुअन्नी, इकन्नी, दो पैसा तथा पैसा इसी प्रकार के सिक्के हैं।

पत्र-मुद्रा के भेद

आधुनिक युग में लगभग सभी देशों में मुद्रा का अधिकांश भाग पत्र-मुद्रा के ही रूप में पाया जाता है। कुछ विशेष कारणों से पत्र-मुद्रा का उपयोग अधिक सुविधा-जनक होता है, क्योंकि एक तो, इसे एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने में सुविधा रहती है और दूसरे, इसमें चलन के अन्तर्गत घिसावट द्वारा मूल्य के ह्रास का भय नहीं रहता है। *वर्तमान संसार की प्रधान मुद्रा पत्र-मुद्रा ही है और इसलिए हमारा युग आर्थिक भाषा में पत्र-मुद्रा का युग कहलाता है।* पत्र-मुद्रा के दो प्रधान रूप होते हैं :—पत्र मुद्रा चलन (Paper Currency) तथा पत्र-मुद्रा मान (Paper Standard)। प्रस्तुत अध्याय में हम केवल पत्र मुद्रा चलन का ही अध्ययन करेंगे। पत्र-मुद्रा चार प्रकार की होती है :—

पत्र-मुद्रा चलन के भेद—

(१) प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा (Representative Paper Money)—

पत्र-मुद्रा में जनता का विश्वास बनाये रखने के लिए सरकार ऐसी मुद्रा के पीछे किसी बहुमूल्य धातु की आड़ अथवा निधि (Reserve) रखती है। यह आड़ साधारणतया सोने और चाँदी के रूप में रखी जाती है। *यदि पत्र-मुद्रा के पीछे उसके मूल्य का १००% सोना और चाँदी निधि के रूप में रखा जाता है तो ऐसी पत्र-मुद्रा प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा कहलाती है।* ऐसी मुद्रा का यह नाम इसलिए पड़ा है कि वास्तव में यह पत्र-मुद्रा उस सोने अथवा चाँदी के प्रतिनिधि के रूप में प्रचलन में रहती है जो सुरक्षित कोष में रख दिया गया है। ऐसी पत्र-मुद्रा प्रणाली में प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार होता है कि वह किसी भी समय कागज के नोट को सरकार से सोने अथवा चाँदी में बदल ले। *ऐसी मुद्रा के उपयोग का प्रमुख उद्देश्य सिक्कों की घिसावट की हानि को बचाना होता है।*

गुण—

प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा सबसे अच्छी पत्र-मुद्रा समझी जाती है, क्योंकि:—(१) *इस मुद्रा पर जनता को अटल विश्वास* होता है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि वह किसी भी समय अपने पास के कागज के नोट को सोना या चाँदी में बदल सकता है और सरकार के पास नोटों को बदलने के लिये काफी सुरक्षित कोष है। (२) *ऐसी मुद्रा को अत्यधिक मात्रा में निकालने का तनिक भी भय नहीं रहता है,* क्योंकि इस मुद्रा को बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि ठीक उतनी ही कीमत का सोना और चाँदी कोषागार में जमा किया जाय और क्योंकि चाँदी या सोना अत्यधिक मात्रा में मिलना कठिन होता है, इसीलिये मुद्रा की निकासी सीमित ही रहती है। (३) जब सिक्कों के स्थान में नोटों का प्रचलन होता है, *बहुमूल्य धातुओं की बचत होती है।*

दोष—

परन्तु इन सब गुणों के होते हुए भी इस प्रकार की मुद्रा का चलन बहुत ही

कम रहा है, क्योंकि *(१) यह मुद्रा चलन प्रणाली को बेलोच बना देती है।* बिना सोना चाँदी प्राप्त किये मुद्रा की मात्रा को बढ़ाना सम्भव नहीं होता है। (२) राष्ट्रीय संकट के समय तो ऐसी पत्र-मुद्रा प्रणाली को भंग करना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि ऐसे काल में बहुमूल्य धातुओं का प्राप्त करना कठिन होता है, जबकि मुद्रा की मात्रा का बढ़ाना आवश्यक होता है। (३) चूँकि इस प्रणाली का आधार मुख्यतः सोना है इसलिए *एक गरीब राष्ट्र इस प्रणाली को नहीं अपना पाता।* कुछ देशों ने इस सम्बन्ध में *एक नई रीति* अपनाई थी। इङ्गलैण्ड में एक निश्चित मात्रा तक कागज के नोट बिना किसी प्रकार की धातु आड़ के निकाल दिए जाते थे और तत्पश्चात् प्रत्येक नोट के पीछे १००% स्वर्ण निधि रखी जाती थी। *बिना आड़ की ऐसी निकासी को अर्थशास्त्र में विश्वासाश्रित निकासी (Fiduciary Issues) कहा जाता है।*

व्यावहारिक जीवन में इस प्रकार की मुद्रा का उपयोग बहुत ही कम हुआ है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण संयुक्त राज्य अमरीका के स्वर्ण तथा चाँदी प्रमाण-पत्रों (Gold and Silver Certificates) में मिलता है, जिनकी गारन्टी सरकार द्वारा उतनी कीमत का सोना और चाँदी सरकारी कोषागार में जमा करके दी जाती थी। भारत में ऐसी पत्र-मुद्रा का चलन नहीं रहा है, परन्तु सन् १९२७ के भारतीय चलन तथा वित्त के शाही आयोग ने स्वर्णपाट प्रमाण-पत्रों (Gold Bullion Certificates) के रूप में ऐसी पत्र-मुद्रा की निकासी का सुझाव दिया था।

(२) परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा (Convertible Paper Money)—

प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा में एक भारी दोष यह होता है कि मुद्रा-प्रणाली बेलोच हो जाती है। *प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा के सभी लाभों को प्राप्त करने और इस दोष को दूर करने के लिए परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का आविष्कार किया गया।*

विशेषतायें—

इसकी विशेषतायें निम्न प्रकार हैं :—

(अ) कागजी मुद्रा के पीछे सोने अथवा चाँदी की आड़ रखी जाती है, परन्तु *नोटों की कीमत से कम कीमत की निधि रखी जाती है।*

(ब) सरकार द्वारा यह *गारन्टी* दी जाती है कि कोई भी व्यक्ति नोटों को सरकारी खज़ाने से सोना अथवा चाँदी में बदल सकता है।

(स) सरकार *विदेशी भुगतानों* को चुकाने के लिए सोने या चाँदी का एक कोष रखती है।

(द) *सुरक्षित निधि का एक भाग पूर्णकाय सिक्कों, सांकेतिक सिक्कों तथा प्रतिभूतियों के रूप में* रखा जाता है।

(इ) *सोने और चाँदी की कीमतें निर्धारित कर दी जाती हैं* और सरकार इन कीमतों पर सोना और चाँदी खरीदने तथा बेचने को तैयार रहती है।

गुण—

इस प्रकार की पत्र-मुद्रा से कुछ विशेष लाभ प्राप्त होते हैं:—(१) धातु की आड़ रहने के कारण इस पर *जनता का विश्वास* बना रहता है। (२) क्योंकि सरकार कागजी नोटों को सोने अथवा चाँदी में बदलने का वचन देती है, इसलिए देशवासियों को घरेलू तथा विदेशी व्यापार के लिए सोना-चाँदी मिल जाती है। (३) पत्र-मुद्रा द्वारा *सोने और चाँदी के उपयोग में बचत* होती है। (४) थोड़े से सुरक्षित कोष के आधार पर प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा की तुलना में कई गुनी अधिक मुद्रा की निकासी की जाती है और *मुद्रा-प्रणाली लोचदार हो जाती है।*

दोष—

परन्तु ऐसी पत्र-मुद्रा के कुछ गम्भीर दोष भी हैं:—(१) इस पत्र-मुद्रा के प्रति *जनता का विश्वास इतना अधिक नहीं हो सकता है जितना कि प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा के प्रति।* विश्वास की इस कमी के बहुधा घातक परिणाम होते हैं और संकट काल में मुद्रा के प्रचलन को बनाये रखना कठिन हो जाता है। (२) इस प्रकार की *मुद्रा-प्रणाली का सरकार द्वारा दुरुपयोग* किया जा सकता है। बहुत बार आसानी से अधिक आय प्राप्त करने के लिए सरकार बिना सोचे-समझे पत्र-मुद्रा की निकासी करती जाती है। (३) परिवर्तनशील कागजी मुद्रा में इस प्रकार की निकासी की सम्भावना काफी अधिक रहती है। इससे एक ओर तो मुद्रा पर से जनता का विश्वास उठ जाता है और दूसरी ओर भीषण मुद्रा-प्रसार के कारण देश का सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन चौपट हो जाता है।

आश्रित निकासी और विश्वासाश्रित निकासी—

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् संसार के बहुत से देशों में ऐसी मुद्रा का प्रचलन रहा है। ऐसी मुद्रा प्रणाली में दो प्रकार की पत्र-मुद्रा होती है। *कुछ पत्र-मुद्रा के पीछे तो १००% सोने और चाँदी की आड़ होती है। मुद्रा की ऐसी निकासी को आश्रित निकासी (Covered Issue) कहते हैं। शेष पत्र-मुद्रा के पीछे केवल कागजी प्रतिभूतियों की आड़ रहती है और इसे विश्वासाश्रित निकासी (Fiduciary Issue) कहा जाता है।* सन् १९२५ में इङ्गलैंड तथा फ्रांस दोनों ही देशों ने यह पत्र-मुद्रा प्रणाली अपनाई थी। सन् १९२७ में शाही आयोग की सिफारिशों के आधार पर भारतीय पत्र-मुद्रा को परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा बना दिया गया था। सरकार द्वारा सोने की कीमत २१ रुपये ७ आने १० पाई फी तोला निर्धारित की गई थी और सरकार ने इस दर पर प्रत्येक कागजी नोट के बदले सोना देने की गारन्टी दी थी, यद्यपि अपनी सुविधा के लिए सरकार ने यह शर्त लगा दी थी कि कोई भी व्यक्ति ४०० औंस से कम सोना एक बार में सरकारी कोषागार से नहीं खरीद सकता था। यह प्रणाली सन् १९३१ तक चालू रही। स्वर्णमान पद्धति के अन्त के साथ-साथ इसका भी अन्त हो गया।

(३) अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा (Inconvertible Paper Money)-

प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा तथा परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का आज के संसार में केवल सैद्धान्तिक महत्त्व ही शेष रह गया है। वास्तविक जीवन में चलन केवल अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का पाया जाता है। *अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा को किसी धातु में बदला नहीं जा सकता है। यह पत्र-मुद्रा शासन की साख पर चालू रहती है।* जितनी ही शासन की आर्थिक दृढ़ता अधिक होती है उतना ही इस मुद्रा पर जनता का विश्वास भी अधिक होता है। किसी प्रकार का संचित कोष इस पत्र-मुद्रा के पीछे नही रखा जाता है। सरकार अथवा मुद्रा अधिकारी की आज्ञानुसार इसका चलन होता है। शुरू में इस प्रकार की मुद्रा की निकासी साधारणतया युद्ध-काल अथवा अन्य राष्ट्रीय संकट के समय में की जाती थी, परन्तु वर्तमान संसार में ऐसी मुद्रा का चलन एक बड़ी स्वाभाविक तथा साधारण घटना समझी जाती है।

प्रमुख विशेषताएँ—

ऐसी पत्र-मुद्रा की प्रमुख विशेषतायें निम्न प्रकार हैं :—

(क) पत्र-मुद्रा के पीछे किसी प्रकार की *धातु की आड़ नहीं होती है।* केवल सरकारी प्रतिभूतियों, बॉन्डस (Bonds) तथा कोषागार विपत्रों (Treasury Bills) की आड़ रहती है। इस प्रकार सुरक्षित कोष कागजी होता है।

(ख) सरकार द्वारा कागजी नोटों को *सोने या चाँदी में बदलने की गारन्टी नहीं दी जाती है।* भारत सरकार अपनी पत्र-मुद्रा को छोटी कीमत के कागजी नोटों तथा सांकेतिक रुपये के सिक्कों में ही बदलने का विश्वास दिलाती है।

(ग) *विदेशी व्यापार की सुविधा* के लिए सरकार देश की मुद्रा की विदेशी विनिमय दर निश्चित कर देती है। इस समय भारतीय रुपये की विदेशी विनिमय दर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा निर्धारित की जाती है।

(घ) *कागज के नोट प्रमाणित तथा असीमित विधि-ग्राह्य मुद्रा होते हैं।*

(४) प्रादिष्ट पत्र-मुद्रा (Fiat Money)—

यह पत्र-मुद्रा अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का ही एक रूप है। इसको कभी-कभी संकटकालीन मुद्रा (Emergency Money) भी कहा जाता है। अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा की भाँति इसके पीछे भी किसी प्रकार की सुरक्षित निधि धातु के रूप में नहीं रखी जाती है और इसे सोने अथवा चाँदी में बदलने की किसी प्रकार की गारन्टी भी नहीं दी जाती है, परन्तु *इस पत्र-मुद्रा की निम्न विशेषताएँ इसे साधारण अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा से अलग करती हैं :—*

(अ) यह पत्र-मुद्रा *संकट काल में* निकाली जाती है।

(ब) इसकी *निकासी सीमित मात्रा में* की जाती है ।

(स) इसके पीछे *कागजी आड़ भी नहीं होती* है । जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा के पीछे कागजी आड़ अवश्य रहती है, परन्तु प्रादिष्ट मुद्रा के पीछे किसी भी प्रकार की आड़ नहीं होती है ।

इस मुद्रा को असाधारण पत्र-मुद्रा कहना अनुपयुक्त न होगा । किसी विशेष आर्थिक परिस्थिति का सामना करने के लिए सरकार इसे निकालती है । यह मुद्रा भी *असीमित विधि ग्राह्य* होती है । इस मुद्रा के प्रति जनता का विश्वास सबसे कम होता है । यही कारण है कि इसे थोड़ी मात्रा में निकाला जाता है और संकट-काल का अन्त होते ही सरकार इसे साधारण अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा में बदल देती है

*कैन्ट के अनुसार प्रादिष्ट मुद्रा की तीन प्रमुख विशेषतायें होती हैं** *प्रथम*, पदार्थ के रूप में इसका लगभग कुछ भी मूल्य नहीं होता है । *दूसरे*, इस मुद्रा को किसी ऐसी वस्तु में बदलने की गारन्टी नहीं दी जाती है जिसका वर्णित मूल्य प्रादिष्ट मुद्रा के बराबर हो । *तीसरे*, इसकी क्रय: शक्ति को किसी अन्य वस्तु के समान नहीं रखा जाता है, इस कारण इस मुद्रा की कीमत स्वतन्त्र रूप में निर्धारित होती है ।

गुण-दोष—

अधिकांश सरकारें अपनी मुद्रा की प्रादिष्ट प्रकृति को स्वीकार करने में संकोच करती हैं, परन्तु आधुनिक-युग के बहुत से अर्थशास्त्री प्रादिष्ट मान के पक्ष में हैं । कहा जाता है कि ठीक नियन्त्रण द्वारा ऐसा मान आर्थिक तथा वित्तीय सुविधायें प्रदान कर सकता है । इसके विपरीत प्रादिष्ट मुद्रा के आलोचकों का कहना है कि इस मुद्रा के प्रचार से दो *गम्भीर दोष* उत्पन्न होंगे :—प्रथम, यदि संसार के सभी देश ऐसी मुद्रा-प्रणाली को ग्रहण कर लें तो अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य में भारी उलझन पैदा हो जायगी । दूसरे, इस मुद्रा में अत्यधिक निकासी का भय सदा ही बहुत रहता है । बड़ी कठिनाई यह है कि ऐसी मुद्रा की निकासी को नियन्त्रित रखने का कोई भी व्यवहारिक उपाय नहीं है । इसे राष्ट्रीय नीति का आधार बनाना संकट से खाली नहीं है ।

प्रादिष्ट मुद्रा के प्रमुख उदाहरण फ्रांस के एसाइनेट (Assignats), जो सन् १७८९ और सन् १७९६ के बीच चालू रहे, अमरीका के क्रान्तिकालीन कॉन्टीनैं टलस् (Continentals) तथा गृह-युद्ध के काल में ग्रीनबैक्स (Greenbacks) और प्रथम युद्ध के उपरान्त जर्मनी के कागजी मार्क (Paper Marks) द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं । इन सभी मुद्राओं में अत्यधिक निकासी की आम प्रवृत्ति थी । भारत में एक रुपये का नोट इसका अच्छा उदाहरण है, यद्यपि अब रिजर्व बैंक इसकी अपरिवर्तनशील मुद्रा के रूप में फिर से निकासी कर रही है ।

* See Raymond P. Kent : *Money & Banking*, pp. 55-56.

टंकन, मुद्रण अथवा ढलाई (Coinage)—

मुद्रा के विभिन्न रूपों का अध्ययन करने के बाद यह आवश्यक मालूम होता है कि सिक्कों के मुद्रण के विषय में भी थोड़ा सा बता दिया जाय। सिक्कों के उपयोग के साथ ही साथ उनकी ढलाई की समस्या उत्पन्न हुई और विभिन्न देशों ने उनके मुद्रण की कला का आविष्कार किया। ऐतिहासिक खोज से पता चलता है कि सबसे पहिले लीडिया (Lydia) के देश में सिक्कों की ढलाई का काम आरम्भ हुआ। मिस्र के निवासी भी इस कला से बहुत प्राचीन काल से परिचित थे। *सिक्कों की ढलाई की कला को ही मुद्रण अथवा टंकन (Coinage) का नाम दिया जाता है।*

धातु के टुकड़ों को मुद्रा के रूप में उपयोग करते समय सबसे पहिली कठिनाई यह पैदा हुई थी कि धातु के सभी टुकड़ों को एक ही वजन तथा एक ही शुद्धता का बनाना कठिन था। परिणाम यह होता था कि उनको स्वीकार करते समय प्रत्येक बार व्यापारियों तथा जन-साधारण को उनकी शुद्धता की जाँच करनी पड़ती थी और उनको तोलना पड़ता था। इसमें भारी असुविधा थी और ठगे जाने का भी भय रहता था। इन्हीं कठिनाइयों के कारण राज्य ने सिक्कों के निर्माण का काम शुरू किया। शुरू-शुरू में टंकन-कला में काफी शिल्प सुधार नहीं हो पाया था, परन्तु धीरे-धीरे सुधार होते गए और १८ वीं शताब्दी में ऐसे सिक्कों का निर्माण होने लगा, जो सभी दृष्टिकोणों से सन्तोषजनक कहे जा सकते थे। *आरम्भ में सिक्कों के निर्माण का कार्य अनेक व्यक्तिगत टकसालों तथा कारखानों द्वारा किया जाता था, परन्तु धीरे-धीरे टंकन राजकीय एकाधिकार बन गया और उसमें एकरूपता तथा समान शुद्धता उत्पन्न हो गई।*

मुद्रण के उद्देश्य—

मुद्रण का उद्देश्य साधारणतया यही होता है कि समान वजन तथा समान शुद्धता के सिक्के तैयार किये जायें, जिससे धोखेबाजी और नकली सिक्कों का बनाना कम हो जाय। मुद्रण के बहुत से उद्देश्य होते हैं:—(१) सिक्कों में से धातु को काट-कर अथवा *गलाकर निकालने की प्रवृत्ति को रोकना।* (२) सिक्कों में इतनी सख्ती अथवा *इतना कड़ापन उत्पन्न करना कि प्रचलन के अन्तर्गत घिसावट द्वारा धातु नष्ट न होने पाये।* इसके लिए बहुमूल्य धातुओं के सिक्कों को कड़ा करने के लिए उनमें थोड़ा टाँका मिला दिया जाता है। (३) नकली तथा *जाली सिक्कों को बनने से रोकना।* इसके लिए सिक्कों पर सरकारी मुहर लगाई जाती है और उसकी ढलाई विधि ऐसी रखी जाती है कि अन्य व्यक्ति उन्हें बना न सकें। (४) सिक्कों को *कलापूर्ण तथा सुन्दर रूप प्रदान करना,* जिससे कि भविष्य में वे अपने काल के स्मरण चिह्न बन सकें। (५) आधुनिक युग में इन उद्देश्यों के अतिरिक्त सरकार टङ्कन द्वारा *आय प्राप्त करने* का भी प्रयत्न करती है।

मुद्रण प्रणालियाँ

संसार में मुद्रण की दो प्रमुख प्रणालियाँ दिखाई पड़ती हैं :—(१) स्वतन्त्र मुद्रण (Free Coinage) और (२) सीमित मुद्रण (Limited Coinage)।
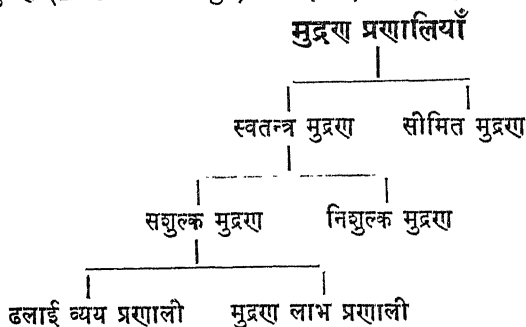
(१) स्वतन्त्र मुद्रण—

स्वतन्त्र मुद्रण को कभी-कभी असीमित मुद्रण भी कहा जाता है। स्वतन्त्र मुद्रण प्रणाली में जनता को यह अधिकार होता है कि वह धातु पाट (Bullion) को सरकारी टकसाल पर ले जाकर सिक्कों में ढलवा सकती है। कभी-कभी तो यह कार्य सरकार द्वारा निःशुल्क किया जाता है, परन्तु बहुत बार सरकार इसके लिए शुल्क लेती है। दोनों ही दशाओं में जनता को धातुपाट को सिक्कों में ढलवाने की स्वतन्त्रता होती है। संसार के बहुत से देशों में भूतकाल में यही प्रणाली प्रचलित थी, मुख्यतया इङ्गलैंड, फ्रांस, संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान और भारत में।

(२) सीमित मुद्रण—*सीमित मुद्रण प्रणाली में सिक्के सरकारी लेखे पर ही तैयार किये जाते हैं।* सरकार का मुद्रा उत्पादन का एकाधिकार होता है। वह स्वयं धातु खरीद कर मुद्रा बनाने का कार्य करती है। *जनता को यह अधिकार नहीं होता कि वह सोने-चाँदी की सिलों को सिक्कों में ढलवा सके।* इस समय संसार के सभी देशों में टङ्कन की यही प्रणाली प्रचलित है। भारत में सन् १८९३ तक स्वतन्त्र मुद्रण प्रणाली प्रचलित थी, परन्तु हरशैल (Herschell) समिति की सिफारिशों पर सन् १८९३ में भारत सरकार ने चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण बन्द कर दिया था। तब से भारत में सीमित मुद्रण प्रणाली चालू है।

स्वतन्त्र मुद्रण के रूप—

स्वतन्त्र मुद्रण के दो रूप होते हैं—(अ) निःशुल्क मुद्रण (Gratuitous Coinage) तथा (ब) सःशुल्क मुद्रण (Non-gratuitous Coinage)। *निशुल्क मुद्रण में सरकार ढलाई के लिए किसी प्रकार का शुल्क नहीं लेती।* ढलाई का काम मुफ्त किया जाता है। ढलाई में जो व्यय होता है उसे सरकार अपनी साधारण आय में से चुकाती है। इङ्गलैंड तथा अमरीका में भूतकाल में यही मुद्रण प्रणाली

प्रचलित थी। यह प्रणाली पूर्णकाय सिक्कों की ढलाई के लिए अच्छी होती है। *सःशुल्क मुद्रण प्रणाली में सरकार सिक्कों की ढलाई के लिए शुल्क लेती है।* प्रत्येक व्यक्ति को धातु के अतिरिक्त कुछ अधिक सरकार को देना होता है। इस प्रणाली के दो रूप देखने में आते हैं :—

(क) मुद्रण व्यय अथवा ढलाई व्यय प्रणाली (Mintage or Brassage)—इस प्रणाली में सरकार मुद्रण के व्यय को शुल्क के रूप में लेती है। मुद्रण का व्यय सरकार उसी व्यक्ति से वसूल कर लेती है जो धातु को सिक्कों में ढलवाना चाहता है, परन्तु *सरकार किसी प्रकार का लाभ नहीं कमाती। वह केवल ढलाई का वास्तविक व्यय वसूल करती है।*

(ख) मुद्रण लाभ प्रणाली (Seigniorage)—*इस प्रणाली में सरकार सिक्कों की ढलाई के लिए मुद्रण व्यय से अधिक दाम वसूल करती हैं।* व्यय से अधिक सरकार जो कुछ लेती है उसे 'मुद्रण लाभ' कहते हैं। इस लाभ को प्राप्त कर ने की दो रीतियाँ हैं, या तो सरकार धातु में टाँका (Alloy) मिला देती है या वह प्रत्यक्ष रूप में शुल्क लेती है।

कौनसी मुद्रा प्रणाली श्रेष्ठ है?—

यह कहना कठिन है कि मुद्रण की कौनसी प्रणाली सबसे अधिक अच्छी है। *स्वतन्त्र मुद्रण प्रणाली* के पक्षपाती इस बात पर जोर देते हैं कि इसके द्वारा मुद्रा की अत्यधिक निकासी का भय मिट जाता है और मुद्रा-प्रसार की सम्भावना कम हो जाती है। *सीमित मुद्रण प्रणाली* में यह गुण बताया जाता है कि उसमें सरकार सांकेतिक सिक्के निकाल कर सोने और चाँदी के उपयोग में बचत कर सकती है। निःशुल्क मुद्रण के समर्थकों का विचार है कि मुद्रण सरकार का ही कार्य है और उससे सम्बन्धित व्यय भी उसी पर पड़ना चाहिए। मुद्रण-लाभ प्रणाली के समर्थक इस प्रणाली को इस कारण उपयुक्त बताते हैं कि इसके कारण सिक्के की अङ्कित कीमत निहित कीमत से अधिक हो जाती है और इस प्रकार उसके गलाने का भय नहीं रहता है।

QUESTIONS

1. 'Metallic money has lost its importance in modern economic life.' Explain and amplify this statement.
   (Agra, B. Com.. 1957)
2. Distinguish between Convertible and Inconvertible paper currency.
   (Raj., B. A., 1956)
3. Define money and indicate its functions. Give a classifica-

tion of money which you consider the best, giving reasons for your choice. (Raj., B. A. 1955)

4. Write a note on Classification of money.
(Agra, B. A., 1954)

5. "The Indian rupee is a curious mixture of a standard and token coin." Explain. (Agra, B. Com., 1956)

6. Differentiate between :—
   (a) Actual Money and Money of Account.
   (b) Commodity Money and Representative Money.
   (e) Legal tender money and Optional money.
(Raj., B. Com., 1960)

7. Explain the difference between the two—Standard Money and Token Money. (Agra, B. Com., 1958 and 1955)

8. Write short note on—Fiat paper money.
(Raj., B. Com., 1960)

अध्याय ४

उत्तम और हीन मुद्रा

(Good and Bad Money)

निकृष्ट सिक्के (Debased Coins)—

जब किसी सिक्के के भीतर की धातु का वास्तविक मूल्य उस सिक्के की नियम द्वारा निर्धारित धातु की प्रामाणिक कीमत से कम रह जाता है तो उस सिक्के को 'निकृष्ट सिक्का' कहा जाता है। भूतकाल में बहुत से राजा आवश्यकता के समय प्रचलित सिक्कों को निकृष्ट बनाकर अपनी आय बढ़ाने का प्रयत्न किया करते थे, परन्तु *कुछ लोग धोखेबाजी करके लाभ कमाने के लिए भी सिक्कों को निकृष्ट बना देते हैं।* इस कार्य के लिए कई तरीके अपनाये जाते हैं :—

(१) किनारा काटना (Clipping)—सिक्के के सिरों में से सावधानी-पूर्वक थोड़ी-थोड़ी धातु काट ली जाती है और यह काम इतनी चतुराई से किया जाता है कि देखने वाले को आसानी से पता न चले। इस व्यवहार को रोकने के लिए आधुनिक सरकारें सिक्कों के किनारों में छोटे छोटे दाँते बना देती हैं, जिससे कि थोड़ी सी छिलाई का भी आसानी से पता चल जाय।

(२) सिक्के जलाई (Sweating)—तेजाब अथवा किसी दूसरे रसायनिक पदार्थ में डालकर सिक्के पर से थोड़ी सी धातु उतार ली जाती है।

(३) सिक्के घिसना (Abrasing)—सिक्कों को आपस में घिस कर अथवा रगड़ कर भी उनमें से थोड़ी सी धातु उतारी जा सकती है।

(४) जाली सिक्के बनाना (Counterfeiting)—जाली अथवा नकली सिक्के बनाये जाते हैं, जिनमें बहुमूल्य धातु की मात्रा सरकारी सिक्कों की अपेक्षा कम रखी जाती है। बहुत से सुनार तथा कारीगर ऐसे सिक्कों के बनाने में दक्षता प्राप्त कर लेते हैं और बहुत बार ऐसे सिक्कों के बनाने के औजार और यन्त्र पुलिस द्वारा बरामद किये गये हैं। सरकार जाली सिक्के बनाने वालों के लिए भारी दण्ड रखती है और इस बात का भरसक प्रयत्न करती है कि सिक्कों के ऐसे नमूने बनाये जायें जिनकी नकल न हो सके, परन्तु फिर भी जाली सिक्के बनाने का काम बराबर चलता ही रहता है।

बहुत सी दशाओं में सरकार स्वयं देश के सिक्कों को निकृष्ट बना देती है। यह काम सिक्के में *बहुमूल्य धातु की मात्रा कम करके* किया जाता है। भूतकाल में सरकारें आय प्राप्त करने तथा सिक्कों के निर्यात को रोकने के लिए ऐसा किया करती

थीं। आज कल की सरकारें *मुद्रण नियमों में संशोधन* करके ऐसा किया करती हैं। साधारणतया निकृष्टिकरण (Debasement) से सरकार का आर्थिक मान कम हो जाता है, परन्तु विशेष परिस्थितियों में ऐसा करने की प्रथा अब लगभग सभी देशों में पाई जाती है। स्वयं भारत सरकार ने सन् १९४० में ऐसा किया था। भारतीय मुद्रण नियम सन् १९६० के अनुसार भारतीय रुपये में $\frac{११}{१२}$ भाग चाँदी होनी चाहिए, परन्तु सन् १९४० में भारत सरकार ने उसे घटा कर $\frac{१}{२}$ कर दिया था।

अवमूल्यत-मुद्रा (Depreciated Money)—

कागजी मुद्रा तथा अन्य मुद्रा की अत्यधिक निकासी के कारण यदि मुद्रा का मूल्य घट जाता है (अर्थात् यदि वस्तुओं और सेवाओं की सामान्य कीमत बढ़ जाती है) तो ऐसी दशा में मुद्रा का 'अवमूल्यन' हो जाता है। आधुनिक युग में ऐसा करने की प्रथा भी सभी देशों में पाई जाती है। युद्ध-काल में अथवा राष्ट्रीय संकट के काल में सभी सरकारें कागज के नोट छाप कर अपनी आय बढ़ाने का प्रयत्न करती हैं। इससे मुद्रा का अवमूल्यन (Depreciation) हो जाता है और देश में मुद्रा-प्रसार फैलता है। ऐसी दशा में वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें तेजी के साथ बढ़ने लगती हैं। महायुद्ध के काल में भारत सरकार ने यही नीति अपनाई थी, जिसके फलस्वरूप पत्र-मुद्रा की मात्रा सन् १९३९ तथा सन् १९४५ के बीच लगभग २०० करोड़ रुपये से बढ़कर लगभग १,३०० करोड़ रुपया हो गई थी।

मुद्रा का अवमूल्यन सदा ही बुरा नहीं होता है। संकट काल में सरकार के पास आय प्राप्त करने का बहुधा दूसरा कोई उपाय नहीं होता है और मुद्रा-अवमूल्यन देश को पराजय अथवा कष्ट से बचा सकता है। कुछ सरकारें आयातों को हतोत्साहित करने और निर्यातों को बढ़ाने के लिए भी इस नीति को प्रशुल्क-नीति (Fiscal Policy) का एक आवश्यक अङ्ग बनाती हैं।

अच्छे मुद्रा पदार्थ के गुण (Qualities of a Good Money Material)-

हम देख चुके हैं कि मुद्रा द्वारा देश के आर्थिक जीवन में बहुत से महत्त्वपूर्ण कार्य किये जाते हैं। जो पदार्थ मुद्रा के रूप में इन कार्यों को भली-भाँति सम्पन्न कर सकता है उसे ही 'अच्छा मुद्रा-पदार्थ' कहा जाता है। एक अच्छा मुद्रा-पदार्थ बनने के लिए किसी वस्तु में निम्न गुणों का होना आवश्यक है :—

(१) उपयोगिता अथवा सामान्य स्वीकृति (Utility or General Acceptability)—जिस वस्तु में सर्वमान्यता का गुण नहीं है वह एक अच्छी मुद्रा पदार्थ नहीं हो सकती है। यदि कोई वस्तु ऐसी है कि मुद्रा के अतिरिक्त दूसरे कामों के लिए भी उसकी उपयोगिता बहुत है, तो निश्चय ही उसको सभी व्यक्ति सहर्ष स्वीकार कर लेंगे। लोग किसी वस्तु को उसी दशा में स्वीकार करते हैं जबकि या तो वे यह जानते हैं कि अन्य व्यक्ति भी उसे बिना संकोच स्वीकार कर लेंगे अथवा जब उन्हें यह ज्ञात होता है कि वस्तु विशेष के अन्य लाभदायक उपयोग हो सकते हैं। इन

दृष्टिकोणों से सोना और चाँदी अच्छे मुद्रा पदार्थ हैं, क्योंकि उन्हें हर कोई लेने को तैयार रहता है। कपड़ा एक अच्छा पदार्थ नहीं है, क्योंकि एक निश्चित मात्रा के परे उसे कोई भी स्वीकार नहीं करेगा। कागज भी इस दृष्टिकोण से अच्छा मुद्रा पदार्थ नहीं है, परन्तु कागज के नोटों को लोग इस कारण खुशी से स्वीकार कर लेते हैं कि उनमें सभी लोग भुगतान ले लेते हैं। वैसे मुद्रा के अतिरिक्त कागज के नोट की कीमत लगभग कुछ भी नहीं होती है, परन्तु सोने और चाँदी का उपयोग और भी बहुत से कार्यों में किया जा सकता है।

(२) वहनीयता (Portability)—एक अच्छे मुद्रा पदार्थ में वहनीयता का भी गुण होना चाहिए। इसके लिए किसी वस्तु में दो गुणों का होना आवश्यक है—प्रथम, थोड़े बोझ में अधिक मूल्य का होना, और दूसरे, टिकाऊपन होना। इस दृष्टिकोण से कोयला, दूध तथा गाय अच्छे मुद्रा-पदार्थ नहीं हैं। पत्र-मुद्रा का सबसे बड़ा गुण उसकी वहनीयता है। सोने और चाँदी में भी यह गुण भली भाँति पाया जाता है।

(३) विभाज्यता (Divisibility)—वस्तु-विनिमय की एक बड़ी कठिनाई यह है कि कुछ वस्तुओं को टुकड़ों में बाँटने से उनकी कीमत में भारी कमी आ जाती है। अच्छा मुद्रा-पदार्थ वही होगा जिसे मूल्य में किसी प्रकार की कमी किये बिना कितने ही टुकड़ों में बाँटा जा सके। इस दृष्टिकोण में हीरे को एक अच्छा मुद्रा-पदार्थ नहीं कहा जा सकता है, यद्यपि वह एक बहुमूल्य वस्तु है, क्योंकि टुकड़े कर देने से उसकी कीमत बहुत घट जाती है। यह गुण सोने और चाँदी में ही होता है कि उनके समान कीमत और समान वजन के टुकड़े किये जा सकते हैं और सभी टुकड़ों की सामूहिक कीमत पूरी धातु की कीमत के बराबर होती है।

(४) टिकाऊपन (Durability)—एक अच्छे मुद्रा-पदार्थ में टिकाऊपन का भी गुण होना चाहिए। मुद्रा का उपयोग क्रयः शक्ति के संचय के लिए भी किया जाता है। यह संचय तभी सफल तथा लाभदायक होता है, जबकि मुद्रा में टिकाऊपन हो। गेहूँ अथवा मवेशी इस दृष्टिकोण से भी अच्छे पदार्थ नहीं हैं, परन्तु सोने और चांदी में अन्य गुणों के अतिरिक्त यह गुण भी मौजूद है।

(५) परिचयता (Cognisability)—इस गुण का आशय यह होता है कि मुद्रा की इकाई को सरलतापूर्वक पहिचाना जा सके। विनिमय के माध्यम के रूप में मुद्रा का प्रचलन होता है और वह एक व्यक्ति से दूसरे के पास आती-जाती है, इसलिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति उसे देखकर ही पहिचान सके, अन्यथा मुद्रा विशेष को सामान्य स्वीकृति प्राप्त न होगी और धोखेबाजी की सम्भावना काफी रहेगी। वर्तमान युग में सभी सिक्कों और सभी प्रकार की पत्र-मुद्रा में इस गुण को बनाये रखने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। सोने और चाँदी के सिक्के इस गुण से भी परिपूर्ण होते हैं।

(६) अनुरूपता (Homogeneity)—एक अच्छा मुद्रा पदार्थ वही होगा, जिसके सभी टुकड़ों में एक-रूपता हो। यदि ऐसा नहीं है तो समान वजन के टुकड़ों में समान कीमत नहीं रहेगी। मुद्रा की सभी इकाइयाँ सभी प्रकार एक जैसी ही होनी चाहिए, जिससे कि किसी भी इकाई के ले लेने से किसी भी प्रकार का लाभ या किसी भी प्रकार की हानि न हो सके। इस दृष्टिकोण से भी मवेशी तथा गेहूँ अच्छी मुद्रा नहीं बन सकते हैं, परन्तु सोने और चाँदी के टुकड़े सभी प्रकार एक जैसे हो सकते हैं।

(७) मूल्य की स्थिरता (Stability of Value)—यह भी मुद्रा का अत्यावश्यक गुण है। मुद्रा का उपयोग मूल्य के मापक, स्थगित शोधनों के मान तथा क्रयः शक्ति के संचय के लिए किया जाता है। यदि स्वयं मुद्रा के मूल्य में स्थिरता नहीं है तो वह स्थगित शोधनों का अच्छा मान नहीं हो सकती है। इसके अतिरिक्त संचित क्रयः शक्ति का भी मूल्य अनिश्चित रहेगा। इसी प्रकार यदि स्वयं स्थगित साधनों के मान के मूल्य में परिवर्तन होते हैं तो ऋणदाता और ऋणी में से किसी एक को हानि होगी।

आधुनिक संसार का यह अनुभव है कि मुद्रा की कीमत में भी स्थिरता नहीं रहती है, परन्तु इतना अवश्य है कि दूसरे पदार्थों की तुलना में सोने और चाँदी की कीमतों में परिवर्तन कम होते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि संसार में इन दोनों धातुओं की एक सीमित मात्रा है, जिसमें वृद्धि अथवा कमी कठिनाई से होती है। यदि ठीक-ठीक नियन्त्रण रखा जाय, तो पत्र-मुद्रा के मूल्य को भी बड़े अंश तक स्थिर किया जा सकता है और उसकी अत्यधिक निकासी रोकी जा सकती है।

(८) ढलन योग्यता (Malleability)—एक अच्छे मुद्रा-पदार्थ में यह भी गुण होना चाहिए कि उसे गलाकर किसी भी रूप और वजन के सिक्के बनाये जा सकें। इसके अतिरिक्त सिक्कों पर ऐसी मुहरों का लगाना तथा चिन्ह बनाना भी आवश्यक है कि लोग जाली सिक्के तैयार न कर सकें।

निष्कर्ष—

इन सभी गुणों को देखने से पता चलता है कि सोने और चाँदी में ये गुण सब के सब मौजूद हैं। यही कारण है कि बहुत लम्बे समय से सोने और चाँदी के सिक्के ढाले जा रहे हैं और उन्हें मुद्रा के रूप में उपयोग किया जा रहा है। गिलट और ताँबे के सिक्कों का भी प्रचार काफी रहा है, परन्तु ये दोनों धातुएँ अच्छे मुद्रा पदार्थ के सभी गुणों से सम्पन्न नहीं हैं। इनसे बने हुए सिक्के साधारणतया गौण सिक्कों के रूप में उपयोग किये गए हैं। सोने और चाँदी के सिक्कों में टाँका लगाने के लिए भी इन धातुओं का उपयोग किया गया है। पत्र-मुद्रा में परिचयता, वहनीयता आदि के गुण तो होते हैं, परन्तु उसमें न तो टिकाऊपन होता है और न निहित मूल्य।

ग्रेशम का नियम
(Greshams' Law)

एक ही समय में किसी देश में कई प्रकार की मुद्राएँ चालू हो सकती हैं। साधारणतया सोने, चाँदी और तुच्छ धातुओं के सिक्के तथा कागज के नोट एक ही साथ चालू रहते हैं। सिक्के प्रामाणिक तथा सांकेतिक हो सकते हैं और स्वयं पत्र-मुद्रा भी प्रतिनिधि, परिवर्तनशील अथवा प्रादिष्ट हो सकती है। धातु के सिक्के भी नये व पुराने हो सकते हैं। सभी सिक्के गुणों के दृष्टिकोण से एक जैसे नहीं होते, इसलिए उनकी ग्राह्यता भी समान नहीं होती। कुछ मुद्राएँ तुलना में अच्छी होती हैं और कुछ बुरी।

'अच्छी मुद्रा' (Good money) से तात्पर्य नये व पूरे मूल्य के उन सिक्कों से है जिनकी तोल और शुद्धता प्रमाणित होती है। पत्र मुद्रा के सम्बन्ध में 'अच्छी मुद्रा' का अभिप्राय उन नोटों से है जोकि परिवर्तनशील हैं, तथा नये व ठीक-ठीक हैं। इसके विपरीत 'बुरी मुद्रा' (Bad money) से तात्पर्य खोटे, जाली, मूल्य में कम और खराब सिक्कों तथा अपरिवर्तनशील व फटे पुराने नोटों से है।

ग्रेशम का नियम इङ्गलैंड के व्यावहारिक अर्थशास्त्री सर टामस् ग्रेशम (Sir Thomas Gresham) के नाम से सम्बन्धित है। ग्रेशम महारानी एलिजाबेथ प्रथम (Elizabeth I) के आर्थिक सलाहकार थे। महारानी एलिजाबेथ प्रथम से पहले इङ्गलैंड के शासकों ने बहुत से निकृष्ट सिक्के चालू किये थे। एलिजाबेथ चाहती थीं कि देश की मुद्रा में सुधार हो। इसके लिए उन्होंने नये पूर्णकाय सिक्के चालू किये। उनका विचार था कि धीरे-धीरे लोग पुराने और निकृष्ट सिक्कों का परित्याग कर देंगे तथा नये सिक्कों को ग्रहण कर लेंगे, परन्तु अनुभव आशा के विपरीत रहा। यह देखने में आया कि नए सिक्के चालू होते ही बाजार से गायब हो जाते थे और पुराने तथा निकृष्ट सिक्के बराबर चालू रहते थे। महारानी को बड़ा विस्मय हुआ और उन्होंने सर टामस ग्रेशम से इस घटना का कारण पूछा। *ग्रेशम ने इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया :—"हीन मुद्रा में उत्तम मुद्रा को प्रचलन से निकाल देने की प्रवृत्ति होती है।"* (Bad money drives good money out of circulation)। तब से यह प्रवृत्ति अर्थशास्त्र में ग्रेशम के नियम के नाम से प्रसिद्ध है। स्मरण रहे कि ग्रेशम से पूर्व भी लोगों को इसका ज्ञान था, परन्तु ग्रेशम ने इसे बड़ी सरल तथा स्पष्ट भाषा में व्यक्त किया है।

प्रो० मार्शल ने इस नियम की परिभाषा बड़ी सावधानी से की है। *उनका कथन है कि :—"यदि हीन मुद्राएँ परिमाण में सीमित नहीं हैं तो अच्छी मुद्राओं को प्रचलन से निकाल देती हैं।"** मार्शल ने "यदि परिमाण में

*"An inferior currency, if not limited in quantity, will drive out the superior currency." *See* Marshall : *Money, Currency and Credit.*

सीमित नहीं है" वाक्य को जोड़ कर नियम की सीमा का भी उल्लेख कर दिया है। इस नियम का आशय यही है कि यदि किसी देश में समान मूल्य की दो मुद्राएँ, जिनकी उत्तमता में अन्तर है, एक ही साथ प्रचलन में हों तो हीन मुद्राएँ उत्तम मुद्राओं को प्रचलन से बाहर निकाल देती हैं।

अर्थशास्त्र के अन्य नियमों की भाँति यह नियम भी केवल एक प्रवृत्ति को ही दिखाता है, इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक दशा में नियम लागू हो ही, परन्तु साधारणतया ऐसा ही होने की सम्भावना रहती है। *यह नियम मनुष्य की प्रकृति पर आधारित है।* मनुष्य का यह स्वभाव है कि जब उसे कोई चीज लेनी होती है तो वह सबसे अच्छी चीज छाँट कर लेता है और जब उसे कोई वस्तु देनी होती है तो वह सर्वप्रथम सबसे खराब चीज को देने का प्रयत्न करता है। यदि सम्भव है तो वह अच्छे सिक्कों को प्राप्त करने और अपने पास रखने की चेष्टा करेगा और अपने पास के बुरे सिक्के दूसरों को देने की कोशिश करेगा। वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदने के लिए तो हम बुरे सिक्के भी स्वीकार कर लेते हैं, यदि वे इतने बुरे नहीं हैं कि दूसरे लोग उन्हें लेने से इन्कार कर दें, परन्तु संग्रह के लिए सबसे अच्छे सिक्कों को ही चुना जाता है। परिणाम यह होता है कि अच्छे सिक्के अथवा अच्छी पत्र-मुद्रा लोग अपने पास रख लेते हैं।

नियम के लागू होने के कारण—

ग्रेशम के नियम में 'अच्छी' तथा 'बुरी' ये दोनों शब्द साधारण तथा तुलनात्मक अर्थ में उपयोग किये गये हैं। एक मुद्रा दूसरी की अपेक्षा अच्छी या बुरी हो सकती है और यदि ऐसी दोनों ही प्रकार की मुद्राएँ एक ही साथ प्रचलित हैं तो अच्छी मुद्रा का चलन साधारणतया बन्द हो जाता है। नियम के लागू होने के तीन प्रमुख कारण हैं:—

(१) मुद्रा का संग्रह (Hoarding)—बहुत बार हम मुद्रा को जमा करते हैं, ताकि या तो उसे गाड़ कर रख सकें या अपने पास जमा करके रख सकें। इस कार्य के लिए हम सबसे उत्तम मुद्रा की खोज करते हैं। नये तथा पूर्णकाय सिक्के तथा अच्छे कागजी नोट अथवा अच्छी किस्म की पत्र-मुद्रा जोड़ कर रखी जाती है। हीन मुद्रा हम शीघ्र से शीघ्र अपने पास से निकालने का प्रयत्न करते हैं।

(२) सिक्कों को गलाना—इस कार्य के लिए नये तथा पूर्णकाय सिक्के चुने जाते हैं। घिसे हुए सिक्कों अथवा सांकेतिक सिक्कों को गलाने से तो लाभ के स्थान पर हानि ही होती है, इसलिए ऐसे सिक्कों को विनिमय माध्यम के रूप में उपयोग करना ही अधिक लाभदायक होता है।

(३) विदेशी भुगतान तथा निर्यात—विदेशों में हमारे देश की मुद्रा का प्रचलन नहीं होता, अतएव वे हमारे देश के चलन को मुद्रा के रूप में स्वीकार नहीं करते, बल्कि धातु के रूप में ही ग्रहण करते हैं। सिक्के साधारणतया तोल के हिसाब से लिये जाते हैं। यही कारण है कि विदेशी भुगतान अथवा निर्यात के लिए सबसे अच्छे सिक्के चुन लिए जाते हैं।

निष्कर्ष—

जब संग्रह करने, गलाने और विदेशी भुगतान के लिये निर्यात करने में अच्छी मुद्रा का प्रयोग किया जाता है तो अच्छी मुद्रा तो धीरे-धीरे चलन से लोप हो जाती है और हीन मुद्रा ही चलन में रह जाती है।

नियम का क्षेत्र

अब हमें यह देखना है कि ग्रेशम का नियम विभिन्न परिस्थितियों में किस प्रकार लागू होता है ? इसके लिए चार परिस्थितियों का अध्ययन किया जाता है :—

(१) एक-धातुमान प्रणाली में—

इस प्रणाली के अन्तर्गत देश में केवल एक ही धातु के सिक्के प्रचलित होते हैं, परन्तु इन सिक्कों में वजन, शुद्धता अथवा अन्य प्रकार के अन्तर होते हैं। एक-धातुमान की निम्न दशाएँ विचारणीय हैं :—

(अ) *जबकि केवल प्रामाणिक सिक्के अथवा पूर्णकाय सिक्के प्रचलित हैं, तो इन पूर्णकाय सिक्कों में से कुछ तो नये हो सकते हैं तथा कुछ पुराने और घिसे हुए।* घिसे हुए सिक्के नये सिक्कों की तुलना में 'हीन मुद्रा' होते हैं, इसलिए उनका प्रचलन बना रहता है, परन्तु नये सिक्के प्रचलन से निकल जाते हैं।

(ब) *जबकि पूर्णकाय तथा सांकेतिक सिक्के एक ही साथ प्रचलित हैं,* तो इस दशा में सांकेतिक सिक्के बुरी मुद्रा होंगे और पूर्णकाय सिक्कों को प्रचलन से निकाल देंगे। सभी लोग संग्रह करने, गलाने तथा निर्यात के लिए केवल पूर्णकाय सिक्कों का ही उपयोग करेंगे।

इसका *उदाहरण* भारत में उस समय मिला था जबकि रानी विक्टोरिया तथा सम्राट जार्ज षष्टम (George VI) के रुपये के सिक्के एक ही साथ चालू थे। विक्टोरिया के रुपयों में चाँदी की मात्रा अधिक थी, इसलिए लोगों ने उनका संग्रह करना तथा गलाना आरम्भ कर दिया था।

(२) द्वि-धातुमान पद्धति में—

इस प्रणाली में दो धातुओं के सिक्के प्रामाणिक मुद्रा तथा मूल्य-मान के रूप में एक ही साथ प्रचलित होते हैं। साधारणतया सोने और चाँदी के सिक्कों का इस प्रकार उपयोग किया जाता है। दोनों ही धातुओं के सिक्के असीमित विधि ग्राह्य होते हैं और दोनों धातुओं के बीच विनिमय दर नियम द्वारा निश्चित कर दी जाती है। आगे चल कर ऐसा सम्भव है कि एक धातु की कीमत में दूसरी की अपेक्षा अधिक परिवर्तन हो जाय। ऐसी दशा में दोनों धातुओं की वास्तविक बाजारी विनिमय दर वैधानिक विनिमय दर से भिन्न हो जाती है, जिससे कि एक धातु के सिक्कों का अति-मूल्यन (Over-valuation) और दूसरी धातु के सिक्कों का अवमूल्यन (Under-valuation)

हो जाता है। *अवमूल्यत मुद्रा अति-मूल्यत मुद्रा की अपेक्षा अधिक अच्छी होती है, अतएव अतिमूल्यत सिक्के अवमूल्यत सिक्कों को प्रचलन से बाहर निकाल देते हैं।*

एक उदाहरण द्वारा इस सत्य को स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि एक देश में सोने और चाँदी के एक-एक तोले के पूर्णकाय सिक्के विधि-ग्राह्य सिक्कों के रूप में चालू हैं और सोने तथा चाँदी की इस समय की कीमतों के आधार पर सरकार उसमें १:२० का अनुपात निर्धारित करती है। यह सम्भव है कि आगे चलकर चाँदी की कीमत बाजार में कम हो जाय और सोने की कीमत वही बनी रहे। मान लीजिए कि ऐसी दशा में बाजार में सोने और चाँदी की वास्तविक विनिमय दर १:२१ हो जाती है, जबकि नियमानुसार विनिमय दर अभी भी १:२० ही रहती है। ऐसी परिस्थिति में नियम द्वारा चाँदी को अनुपात से अधिक मूल्य प्रदान किया जायगा अथवा आर्थिक भाषा में चाँदी के सिक्के का अतिमूल्यन हो जायगा। इसके विपरीत सोने के सिक्कों को अनुपात से कम मूल्य मिलेगा और उनका अवमूल्यन हो जायगा। अतएव चाँदी का सिक्का हीन मुद्रा हो जायगा और सोने का सिक्का अच्छी मुद्रा। लोग सोने के सिक्के को गलाना आरम्भ कर देंगे, क्योंकि एक सिक्के को गला कर एक तोला सोना मिल जायगा और बाजार में एक तोले सोने के बदले में २१ तोला चाँदी मिल जायगी, जबकि नियमानुसार एक तोले सोने के सिक्के के बदले में केवल २० चाँदी के सिक्के, अर्थात् २० तोला चाँदी मिलती है। जिस व्यक्ति को सोने का सिक्का मिल जायगा वह उसे छिपा लेगा, परन्तु चाँदी के सिक्कों का प्रचलन बराबर जारी रहेगा।

(३) सिक्कों और पत्र-मुद्रा के एक साथ चलन में—

यदि देश में धातु के सिक्के और कागज के नोट एक साथ ही प्रचलित हैं तो धातु के सिक्के अच्छी मुद्रा होंगे, संग्रह करने तथा गलाने के लिए उन्हीं का उपयोग किया जायगा और वे धीरे-धीरे प्रचलन से बाहर जाने लगेंगे। धातु के सांकेतिक सिक्के भी कागज के नोटों की तुलना में अच्छी मुद्रा होते हैं। उदाहरण के लिए, प्रथम महायुद्ध काल में जब इङ्गलैंड में पत्र-मुद्रा का अत्यधिक प्रसार हुआ, सोने की मुद्रायें प्रचलन से बाहर निकाल दी गई और प्रचलन में अधिकांश पत्र-मुद्रा ही रह गई।

४) पत्र-मुद्रा में—

पत्र-मुद्रा के चलन पर भी यह नियम लागू होता है। यदि देश में केवल कागज के नोट ही प्रचलित हैं, तो ग्रेशम का नियम निम्न प्रकार लागू होगा :—

(अ) *यदि एक ही प्रकार की पत्र-मुद्रा प्रचलित है, तो फटे-पुराने तथा सड़े और गन्दे नोट हीन मुद्रा होंगे।* अच्छे नोटों का संग्रह किया जायगा और बुरे नोटों में उन्हें प्रचलन से निकाल देने की प्रवृत्ति बनी रहेगी।

(ब) *जबकि प्रतिनिधि तथा परिवर्तनशील पत्र मुद्रायें एक ही साथ चालू*

होती हैं, तो प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा अच्छी मुद्रा होती है और परि-वर्तनशील पत्र-मुद्रा उसे प्रचलन से बाहर निकाल सकती है।

(स) *यदि परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा तथा अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रायें एक ही साथ चालू हैं*, तो हीन होने के कारण अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा को प्रचलन से बाहर निकाल देगी।

(द) *यदि देश में केवल अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का चलन है, परन्तु उनमें से एक प्रादिष्ट मुद्रा है*, तो प्रादिष्ट मुद्रा पर विश्वास सबसे कम होने के कारण वह बुरी मुद्रा होगी और साधारण अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा को प्रचलन से बाहर निकालने की प्रवृत्ति रखेगी।

नियम के अपवाद अथवा सीमाएँ (Limitations of the Law)—

अब हमें यह देखना है कि क्या ग्रेशम का नियम सभी दशाओं में लागू होता है? मार्शल ने नियम की परिभाषा करने में सावधानी से काम लिया है। उनका विचार है कि यह नियम साधारणतया लागू होता है। यदि बुरी मुद्रा का प्रचलन सीमित रखा जाता है तो नियम के लागू होने की संभावना बहुत ही कम रहती है, परन्तु यदि ऐसी मुद्रा बिना किसी प्रतिबन्ध के अच्छी मुद्रा के साथ साथ चलन में रहती है तो नियम अवश्य लागू होता है। *निम्न दशाओं में यह नियम लागू नहीं होता है :—*

(१) मुद्रा की कुल मात्रा कम होना—यदि देश में अच्छी और बुरी दोनों ही प्रकार की मुद्रा कुल मिलाकर देश की व्यापार, वाणिज्य तथा व्यावसायिक आवश्यकता से भी कम है तो ग्रेशम का नियम लागू न होगा। बात यह है कि देश में विनिमय सम्बन्धी कार्यों को चलाने के लिए मुद्रा की एक न्यूनतम् मात्रा आवश्यक होती है। यदि मुद्रा की मात्रा इससे भी कम रह जाती है तो विनिमय में भारी असुविधा होने लगती है। विनिमय की यह असुविधा मुद्रा-संग्रह के लाभ की अपेक्षा अधिक हो सकती है, इसलिए अच्छी मुद्रा को प्रचलन से नहीं निकाला जाता है। यदि मुद्रा की मात्रा कम है, तो बाजार में उसकी माँग बढ़ जाने के कारण उसकी उपयोगिता भी बढ़ जायगी। मुद्रा के रूप में उपयोगिता बढ़ जाने के कारण उसे अन्य रूप में उपयोग करने का प्रलोभन ही नहीं रहेगा। मुद्रा की कमी के काल में ब्याज की दर भी ऊपर चढ़ जाती है, जो मुद्रा के अकारण संग्रह को रोक देगी।

(२) अत्यधिक हीन मुद्रा—यदि बुरी मुद्रा इतनी खराब हो चुकी है कि लोग उसे अस्वीकार करने लगते हैं तो स्वयं उसी का चलन बन्द हो जाएगा। बहुत घिसे हुए सिक्के तथा बहुत खराब नोट खजाने को लौटा दिए जाते हैं और स्वयं प्रचलन से निकल जाते हैं।

(३) हीन मुद्रा का बहिष्कार—यदि सारा समाज बुरी मुद्रा के उपयोग के विरुद्ध है और उसका बहिष्कार करता है तो वह अच्छी मुद्रा को प्रचलन से नहीं हटा सकेगी। यदि कोई भी व्यक्ति हीन मुद्रा के लेने को तैयार नहीं है तो उसके प्रचलन (Circulation) का प्रश्न ही नहीं उठता है।

(४) सांकेतिक सिक्के—यदि बुरी मुद्रा सांकेतिक सिक्कों के रूप में है और उसकी मात्रा सीमित है तो ग्रेशम का नियम लागू न होगा। कारण यह है कि एक ओर तो मात्रा की कमी के कारण लोग सभी भुगतान हीन मुद्रा में नहीं कर पायेंगे और उन्हें अच्छी मुद्रा में शोधन करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। दूसरी ओर, सरकार बुरी मुद्रा की निकासी पर नियन्त्रण रखती है और उसे आवश्यकता से अधिक प्रचलन में नहीं आने देती है।

(५) बैंकिंग प्रथा की उन्नति—यदि देश में बैंकिंग प्रथा की इतनी उन्नति हो चुकी है कि सभी भुगतान चैकों द्वारा होते हैं तो इस नियम के लागू होने का प्रश्न ही नहीं होगा।

(६) भिन्न भिन्न उद्देश्य वाली मुद्रायें—प्रमाणित और सांकेतिक सिक्के चलार्थ सम्बन्धी भिन्न-भिन्न प्रकार की माँग पूरी करते हों, तो सांकेतिक सिक्के निकृष्ट मुद्रा होने पर भी प्रमाणित सिक्कों को चलन से नहीं हटा पाते हैं।

(७) अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान—कुछ विद्वानों का कहना है कि यदि विश्व के सभी देश द्विधातुमान को अपना लें तो क्षतिपूरक प्रभाव (Compensatory action) के कारण द्विधातुमान के अन्तर्गत ग्रेशम का नियम लागू नहीं होगा, क्योंकि एक मुद्रा के अभाव की पूर्ति दूसरी मुद्रा के आधिक्य से हो जाती है।

निष्कर्ष—

भूतकाल में ग्रेशम के नियम लागू होने के अनेक अवसर आते थे। धातुमान और विशेषकर द्वि-धातुमान के अन्तर्गत यह नियम बहुधा कार्यशील दिखाई पड़ता था। धातुमान का अन्त हो जाने के पश्चात् नियम की कार्यशीलता बहुत ही कम रही है। प्रथम महायुद्ध के काल में लगभग सभी देशों ने अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा के रूप में हीन मुद्रा चालू की थी और ग्रेशम के नियम के अनुसार धातु मुद्राओं का चलन समाप्त होने लगा था। दूसरे महायुद्ध के काल में भी ऐसी ही परिस्थिति आई थी। सन् १९४० में भारत में चाँदी के रुपयों का प्रचलन इसी नियम के अन्तर्गत समाप्त होने लगा था।

QUESTIONS

1. मुद्रा के विनिमय में मन्दी (Depreciation of Currency) पर नोट लिखिए।
(Agra, B. A., 1958)
2. "Bad money drives good money out of circulation." Explain fully this statement. Is it always true ?
(Raj., B. Com., 1949)
3. Give a critical estimate of Gresham's Law of money. Take necessary illustrations from the Indian Currency System.
(Raj, B. Com., 1956)
4. Write short notes on—Gresham's Law.
(Agra, B. Com., 1956 and 1959)
5 Explain Gresham's Law giving its limitations and the occasions on which it will operate. (Patna, 1951)

अध्याय ५

मुद्रा-मान

(Monetary Standards)

मुद्रा-मान का अर्थ और मूल्यमान से उसका भेद-

ऊपर से देखने पर मुद्रा-मान (Monetary Standard) तथा मूल्य-मान (Standard of Value) में कुछ भी अन्तर दिखाई नहीं देता है। बहुत से अर्थशास्त्री भी कभी-कभी दोनों शब्दों के लगभग एक ही अर्थ लगाते हैं। परन्तु वास्तव में दोनों में काफी अन्तर होता है। *मूल्य-मान से हमारा अभिप्रायः उस मुद्रा-इकाई से होता है जिसमें किसी देश में सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमत नापी जाती है।* पौंड, डालर, रुपया, रूबेल (Rouble), मार्क (Mark) आदि इसके उदाहरण हैं।

किन्तु मुद्रा-मान एक अधिक विस्तृत शब्द है, जिसमें मूल्य-मान के अतिरिक्त और भी बहुत सी वस्तुएँ सम्मिलित होती हैं। मुद्रा सम्बन्धी सभी प्रकार के नियम, सभी प्रकार की व्यवस्थाएँ तथा सभी प्रकार के व्यवहार इसके क्षेत्र में आ जाते हैं। सरकार को देश में प्रामाणिक मुद्रा के अतिरिक्त छोटी-छोटी कीमत के सिक्के निकालने पड़ते हैं, कागज के नोट छापने पड़ते हैं, साख-मुद्रा के विकास और उसके नियन्त्रण के सम्बन्ध में नियम बनाने पड़ते हैं, बहुमूल्य धातुओं के खरीदने-बेचने और उनके आयात-निर्यात की व्यवस्था करनी पड़ती है और देश की मुद्रा के मूल्य की स्थिरता बनाये रखने के लिए अनेक प्रयत्न करने पड़ते हैं। ये सभी कार्य और व्यवस्थाएँ मुद्रा-मान के क्षेत्र में आ जाते हैं। *स्वयं मूल्य-मान भी मुद्रा-मान का ही एक अंग होता है।* सारांश यह है कि मुद्रा-मान में मुद्रा की नीति और व्यवहार सम्बन्धी सभी बातों को सम्मिलित किया जाता है, परन्तु प्रत्येक देश का मुद्रा-मान देश के मूल्य-मान पर आधारित होता है। मुद्रा-मान यदि शरीर है तो उसका प्राण मूल्य-मान ही होता है।

मुद्रामान के अध्ययन का महत्त्व

मुद्रा-मान के अध्ययन का अर्थशास्त्र में भारी महत्त्व है। किसी देश की आर्थिक और सामाजिक उन्नति वहाँ के मुद्रा-मान पर ही निर्भर होती है। एक अच्छा मुद्रा-मान कीमतों में स्थिरता लाकर आर्थिक अनिश्चितता को दूर करता है और व्यापार, व्यवसाय तथा वाणिज्य के विकास के लिए अनुकूल दशाएँ उत्पन्न करता है। मुद्रा-मान की त्रुटियाँ अनेक आर्थिक बुराइयों को जन्म देती हैं

मुद्रामान के भेद

मुद्रा-मान दो प्रकार के होते हैं :—धातुमान (Metallic Standard) तथा पत्र-मान (Paper Standard) । प्रथम प्रकार के मुद्रा-मान में धातु का मूल्य-मान के रूप में प्रयोग किया जाता है, परन्तु दूसरे प्रकार के मान में पत्र,मुद्रा ही मूल्य के मान के रूप में प्रयोग की जाती है ।
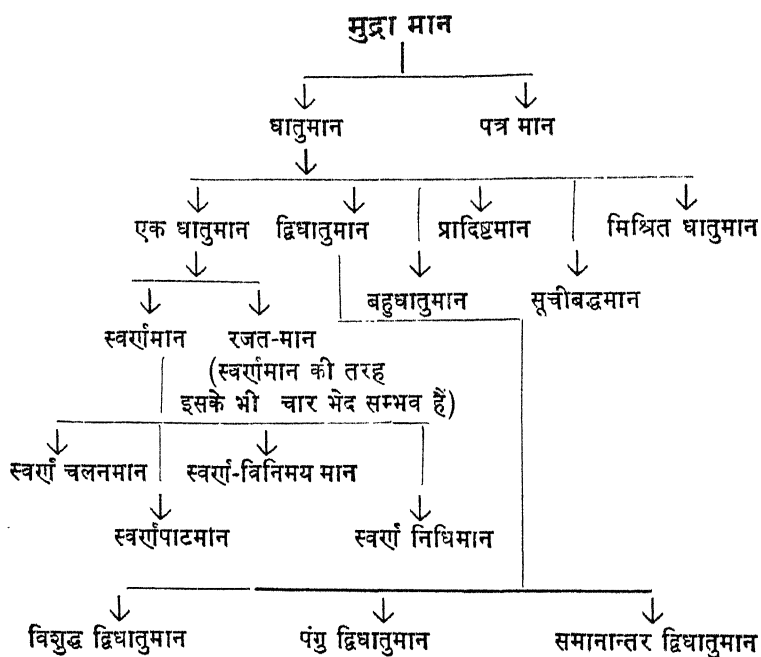
धातुमान के रूप—

धातुमान के कई रूप सम्भव हैं। प्रमुख रूप निम्न प्रकार हैं :—

(१) एक-धातुमान (Monometallism)—

इस मुद्रा-मान में केवल एक ही धातु को मूल्य के मान के रूप में उपयोग किया जाता है । सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो किसी भी धातु को इस रूप में उपयोग किया जा सकता है, परन्तु व्यावहारिक जीवन में केवल सोने और चाँदी का ही उपयोग किया गया है। इङ्गलैंड ने सन् १९३१ तक और फ्रांस ने सन् १९३६ तक सोने का मूल्य-मान के रूप में उपयोग किया है और चाँदी का उपयोग चीन के देश में हुआ है। सन् १८९३ तक भारत में भी रजत-मान (Silver Standard) था। सन् १९२७ और सन् १९३१ के बीच भारत में स्वर्णमान प्रचलित रहा है।

एक-धातुमान के गुण—

एक-धातुमान में सोने अथवा चाँदी को मूल्य के मान के रूप में उपयोग किया गया है। सोने का उपयोग अधिक सर्वव्यापी हुआ है। चीन, दक्षिणी अमरीका के कुछ देशों और भारत को छोड़ कर चाँदी का उपयोग बहुत ही कम हुआ है। बात यह थी कि सोने की अपेक्षा चाँदी की पूर्ति अधिक रही है और इस कारण चाँदी का मूल्य अपेक्षतन कम रहा है। *एक-धातुमान संसार में विभिन्न रूपों में काफी लम्बे काल तक प्रचलित रहा है और इस मान ने स्वर्णमान के अन्तर्गत तो अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया था। इस मान के कई लाभ हैं,* जिनमें से अधिक महत्त्वपूर्ण निम्न प्रकार हैं :—

(१) एक-धातुमान में *सरलता* होती है, क्योंकि केवल एक ही धातु को मूल्य के मान के रूप में उपयोग किया जाता है। अतः लोगों की समझ में इसका चलन आसानी से आ जाता है। साथ ही, सोने और चाँदी जैसी बहुमूल्य धातुओं का मुद्रा के रूप में उपयोग करने के कारण *जनता का विश्वास* भी अधिक रहता है।

(२) इस प्रणाली में एक ही धातु के सिक्के प्रामाणिक मुद्रा होते हैं। यही कारण है कि *ग्रेशम का नियम बहुत ही कम लागू होता है।* द्वि-धातुमान में इस नियम के लागू होने का भय अधिक रहता है।

(३) इस प्रणाली का सभी देशों द्वारा उपयोग होने के कारण *अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा व्यवसाय में सुविधा* रहती है। बड़े लम्बे समय तक स्वर्णमान ने संसार में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग को बनाये रखा है।

एक-धातुमान के दोष—

इन गुणों के साथ-साथ *इस प्रणाली में कुछ महत्त्वपूर्ण दोष भी हैं।* अनेक कारणों से एक-धातुमान असन्तोषजनक है। प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) संसार के *सभी देश एक साथ इसका उपयोग नहीं कर सकते,* क्योंकि संसार में सोने अथवा चाँदी की कुल मात्रा सभी देशों का मुद्रा-मान बनने के लिए काफी नहीं है। कुछ विद्वानों ने तो यहाँ तक कहा है कि स्वर्ण-पाट-मान भी संसार के सभी देश ग्रहण नहीं कर सकते हैं।

(२) किसी भी मुद्रा-प्रणाली में लोच, अर्थात् आवश्यकता के समय मुद्रा-विस्तार अथवा मुद्रा-संकुचन कर लेने का गुण बहुत महत्त्वपूर्ण होता है, परन्तु यदि सोने अथवा चाँदी को मूल्य-मान के रूप में उपयोग किया जाता है, तो इसकी मात्रा में वृद्धि के बिना मुद्रा की पूर्ति को

बढ़ाना सम्भव नहीं हो सकता। *संकट-काल में सोने अथवा चाँदी को प्राप्त कर लेना कठिन होता है।* यही कारण है कि प्रथम महायुद्ध के काल में अधिकांश देशों को स्वर्णमान स्थगित करना पड़ा था।

(३) इस प्रणाली में *कीमतों की स्थिरता को बनाये रखना कठिन होता है।* किसी भी एक धातु की कीमत सदैव पूर्णतया स्थिर नहीं होती और जब मुद्रा-मान के ही मूल्य में स्थिरता न हो, तो फिर कीमतों की स्थिरता की आशा करना निर्मूल है। संसार के आर्थिक इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न कालों में सोने और चाँदी की कीमतों में भारी परिवर्तन होते रहे हैं। सन् १८७० के आस-पास और प्रथम महायुद्ध के पश्चात् चाँदी की कीमतें काफी गिरी हैं। दूसरे कालों में चाँदी की कीमतें ऊपर चढ़ी हैं। कीमतों में स्थिरता बहुत ही कम रही है। सोने की कीमतों का इतिहास भी लगभग इसी प्रकार रहा है। प्रत्येक सोने की नई खान के पता लगने अथवा खानों से सोना निकालने की नई विधि के आविष्कार के साथ सोने की कीमतें गिरी हैं। इसी प्रकार सोने की किसी खान के समाप्त हो जाने अथवा सोने के जहाजों के डूबने के साथ सोने की कीमतें ऊपर चढ़ी हैं।

(२) द्वि-धातुमान (Bi-metallism)—

इस पद्धति में दो धातुओं को एक ही साथ प्रामाणिक धातुओं के रूप में उपयोग किया जाता है। वास्तव में संसार में सोने और चाँदी का ही इस प्रकार उपयोग किया गया है। दोनों धातुओं के सिक्के प्रामाणिक मुद्रा तथा असीमित विधि-ग्राह्य होते हैं और दोनों के बीच की विनिमय दर नियम द्वारा निर्धारित कर दी जाती है। ऋण-दाता को यह अधिकार होता है कि वह ऋण का भुगतान सोने अथवा चाँदी किसी में भी कर सकता है।

सन् १८०३ में फ्रांस ने द्वि-धातुमान ग्रहण किया था तथा सोने और चाँदी के बीच १:१५½ का विनिमय अनुपात रखा था। सन् १८४८ तक तो यह पद्धति बिना किसी कठिनाई के चालू रही, परन्तु सन् १८४९ और सन् १८५० के बीच सोने की बहुत सी नई खानों का पता चल गया था, जिसके कारण सोने की कीमतें गिर गई थीं। ग्रेशम के नियम की कार्यशीलता को रोकने के लिए फ्रांस को सोने और चाँदी के अनुपात में परिवर्तन करना पड़ा था, परन्तु यह प्रयत्न बहुत सफल नहीं हो सका। सन् १८६५ में फ्रांस, इटली, बेल्जियम तथा स्विटजरलैंड ने सामूहिक रूप से द्वि-धातुमान स्थापित करने का प्रयत्न किया था, परन्तु सन् १८७४ में चाँदी की कीमतों के तेजी से गिरने के कारण यह व्यवस्था भी टूट गई।

(३) बहु-धातुमान (Multimetallism)—

बहु-धातुमान प्रणाली में कई धातुओं को एक ही साथ मूल्य-मान के रूप में उपयोग किया जाता है। प्रत्येक धातु के सिक्कों की ढलाई स्वतन्त्र होती है और प्रत्येक धातु के सिक्के प्रामाणिक मुद्रा तथा असीमित विधि-ग्राह्य होते हैं। सभी धातुओं के बीच की विनिमय दर नियमानुसार निश्चित कर दी जाती है और ऋणदाता को किसी भी धातु में ऋण चुकाने का पूर्ण अधिकार होता है। व्यवहार में यह मुद्रा प्रणाली बहुत ही कठिन है, क्योंकि विभिन्न धातुओं की कीमतों में तुलनात्मक परिवर्तन होते रहने के कारण उनके बीच की विनिमय दरों को बनाये रखना कठिन होता है। यही कारण है कि ऐसा धातुमान किसी भी देश ने ग्रहण नहीं किया है, यद्यपि इस मान में कीमतों की स्थिरता स्थापित करने तथा बनाये रखने की सम्भावना बहुत अधिक होती है।

(४) प्रादिष्ट मान (Fiat Standard)—

प्रत्येक प्रकार के धातुमान की यह विशेषता होती है कि प्रामाणिक सिक्के की कीमत धातु की एक निश्चित मात्रा के बराबर रखी जाती है। उदाहरण के लिये, इङ्गलैण्ड में स्वर्णमान के अन्तर्गत ३ पौंड १७ शिलिंग और १० पैंस का मूल्य एक औंस सोने के बराबर था। भारत में २१ रु० ७ आना १० पाई १ तोला सोने के बराबर होते थे। किन्तु, *प्रादिष्ट मान में मुद्रा की इकाई की कीमत इस प्रकार स्वर्ण अथवा किसी अन्य धातु या धातुओं की एक निश्चित मात्रा के बराबर नहीं रखी जाती।*

प्रादिष्टमान की विशेषतायें—

श्री कैन्ट के अनुसार प्रादिष्ट मुद्रा की तीन विशेषतायें होती हैं—(१) वस्तु के रूप में इसका मूल्य लगभग न होने के बराबर होता है। (२) इसको ऐसी किसी वस्तु में नहीं बदला जा सकता है जिसकी कीमत उस मुद्रा की अंकित कीमत के बराबर हो और (३) इसकी क्रयः शक्ति को स्वर्ण अथवा अन्य किसी वस्तु की कीमत के बराबर नहीं रखा जाता है। *किसी भी मुद्रा मान को प्रादिष्ट मान उस समय तक कहना कठिन होगा जब तक कि उसमें चलन की मुद्रा की कीमत स्वर्ण अथवा अन्य किसी धातु की एक निश्चित मात्रा के बराबर रखी जाती है*, यद्यपि वह स्वर्ण में परिवर्तनशील नहीं है। *उदाहरण* के लिये, सन् १८६२ तथा सन् १८७९ के बीच संयुक्त राज्य अमरीका में प्रादिष्ट मान चालू रहा। अमरीकन गृह-युद्ध के काल में जो ग्रीन-बैक्स (Greenbacks) निकाले गये थे वे स्वर्ण में परिवर्तनीय नहीं थे और न ही उनकी कीमत सोने की किसी निश्चित मात्रा के बराबर थी।

प्रादिष्ट मान की स्थापना की रीतियां—

प्रादिष्ट मान की स्थापना दो प्रकार हो सकती है—(१) सरकार जानबूझ कर ऐसी मुद्रा की निकासी कर दे जिसका धातु-मूल्य बिल्कुल न हो या बहुत ही कम हो।

ऐसी मुद्रा को निश्चित विनिमय दरों पर अन्य किसी वस्तु में नहीं बदला जा सकता है और इस प्रकार मुद्रा की इकाई का मूल्य दूसरी किसी भी वस्तु की कीमत से स्वतन्त्र रूप में निर्धारित होता है (२) साधारणतया ऐसा मान उस दशा में भी स्थापित हो जाता है जबकि एक-धातुमान वाला देश अपनी मुद्रा की धातु में परिवर्तनशीलता समाप्त कर दे ।

प्रादिष्ट मान के लाभ—

साधारणतः प्रादिष्ट मान असाधारण परिस्थितियों में स्थापित किया जाता है, परन्तु आजकल के बहुत से अर्थशास्त्रियों का विचार है कि इस मान को स्थायी रूप में प्रयोग किया जा सकता है । इस मत के पक्ष में प्रादिष्ट मान के निम्न लाभों का संकेत किया जाता है:—(१) धातुमान को अपनाने में सरकारें कठिनाइयाँ अनुभव करती हैं । साथ ही, *धातुमान में मुद्रा की धातु में परिवर्तनशीलता केवल भ्रम है*, क्योंकि जब देश में असाधारण परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं, तो मुद्रा की परिवर्तनशीलता समाप्त हो जाती है । जनता का विश्वास भी धातु-कोष समाप्त हो जाने पर इस मुद्रा में से हट जाता है । अतः ऐसी अवस्था में यदि प्रादिष्ट मान को ही, जो कि असाधारण परिस्थितियों में अपनाना पड़ता है, साधारण परिस्थितियों में भी अपना लिया जाय तो कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा । (२) प्रादिष्ट मान को ग्रहण करके मुद्रा और साख को इतनी मात्रा में उत्पन्न किया जा सकता है कि देश के मानव-साधनों को पूर्ण रोजगार प्रदान किया जा सके । अच्छे नियन्त्रण द्वारा प्रादिष्ट मुद्रा प्रणाली में *धातु-मान की अपेक्षा अधिक* लोच प्राप्त की जा सकती है । अतः देश की आर्थिक व्यवस्था को अस्त-व्यस्त होने से बचाया जा सकता है । (३) *इस मान में प्रबन्ध की पूर्ण स्वतंत्रता होती है*, क्योंकि एक देश की मौद्रिक और आर्थिक नीति किसी अन्य देश पर निर्भर नहीं होती ।

प्रादिष्ट मान के दोष—

इस मान के विरुद्ध निम्न दो महत्त्वपूर्ण तर्क दिये गये हैं :—*(१) यदि सभी देश इसे ग्रहण कर लें, तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बड़ी उलझनें पैदा हो जायेंगी*, क्योंकि विभिन्न देशों की मुद्राओं का आपस में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होने से उनके बीच विनिमय-दरों के परिवर्तन की कोई सीमा नहीं होती । *(२) यह भय सदा ही रहता है कि प्रादिष्ट मुद्रा की अत्यधिक निकासी न हो जाय* । यदि ऐसा हो गया, तो देश की आर्थिक प्रणाली अस्त-व्यस्त हो जाती है, अशान्ति फैलती है और जनता का विश्वास मुद्रा में से हट जाता है ।

(५) सूचीबद्ध अथवा सूचक अंक मान (Tabular or Index Number Standard)—

इस प्रकार के मान का सुझाव फिशर (Fisher) ने दिया है । फिशर क विचार है कि एक अच्छे मुद्रा-मान में देश के भीतर वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें

की स्थिरता बनाये रखने का गुण होना चाहिए। इस पद्धति के अनुसार एक आधार वर्ष चुन लिया जाता है और इस वर्ष की कीमतों के आधार पर देश में सामान्य कीमतों के निर्देशांक बनाए जाते हैं। इन निर्देशांकों के अनुसार भविष्य में मुद्रा का मूल्य नियत किया जाता है। इस प्रकार मुद्रा का एक बार निश्चित किया हुआ मूल्य सदा के लिए स्थिर नहीं रहता। कीमतों के परिवर्तनों के साथ-साथ उसमें भी परिवर्तन होते रहते हैं। परिणाम यह होता है कि स्थगित शोधनों अथवा लेन-देन में समता बनी रहती है। ऋण-दाता अथवा ऋणी दोनों में से किसी को भी हानि नहीं होती है।

उदाहरणस्वरूप, यदि कीमतों का निर्देशांक १०% ऊपर चढ़ जाता है तो इसका अर्थ यह होगा कि मुद्रा अथवा स्वर्ण की कीमतें १०% घट गई हैं। ऐसी दशा में सरकार सोने की नियम द्वारा निर्धारित कीमतों में १०% कमी कर देगी। फलस्वरूप चलन की मात्रा घटेगी और साख-मुद्रा में भी कमी आ जायगी, जिसके कारण मुद्रा की कीमत नीचे नहीं गिर सकेगी। इसी प्रकार कीमतों के घटने की दशा में मुद्रा की कीमत को आवश्यक अनुपात में बढ़ा देने से मुद्रा की कीमतों को और आगे घटने से रोका जा सकता है।

इस प्रणाली का *महत्त्वपूर्ण गुण* यही है कि मुद्रा के मूल्य तथा सामान्य कीमतों में स्थिरता लाई जा सकती है, परन्तु सब कुछ होते हुए भी यह व्यावहारिक नहीं है, क्योंकि (१) सामान्य कीमतों के निर्देशांक (Index Numbers of General Prices) केवल भूतकालीन हो सकते हैं। वर्तमान अथवा भविष्य के लिए उनका उपयोग केवल अनुमानजनक फल ही दे सकता है, निश्चित फल नहीं दे सकता है; (२) इस मान में निर्देशांक मूल्य स्तर के परिवर्तनों को सूचित करते हैं, लेकिन यह सूचना गलत भी हो सकती है, क्योंकि निर्देशांक स्वयं ठीक नहीं बनाये जा सकते; और (३) सरकार को निर्देशांक बार-बार बनाना पड़ता है, जिससे इस मान के प्रचलन में बहुत कठिनाई पड़ती है।

(६) मिश्रित धातुमान (Symmetallism)—

इस धातुमान प्रणाली का *सुझाव मार्शल* की ओर से सन् १८८१ में रखा गया था। द्वि-धातुमान बहुधा ग्रेशम के नियम के लागू होने के कारण असफल रहता था, यद्यपि उस मान में अनेक गुण थे। मार्शल का यह सुझाव था कि *(१) ऐसे धातुमान का निर्माण किया जाय जिसमें दो धातुओं को एक ही साथ मूल्यमान के रूप में उपयोग करके द्वि-धातुमान के सभी गुण प्राप्त किये जा सकें, परन्तु जिसमें ग्रेशम का नियम लागू न हो सके, (२) देश की मुद्रा को सोने और चाँदी में बदल लेने की सुविधा नहीं रहनी चाहिए, और (३) ऐसी छड़ अथवा ऐसा पाँसा तैयार होना चाहिए कि जिसमें सोने और चाँदी को एक निश्चित अनुपात में मिलाया गया हो। देश की मुद्रा इसी छड़ या पाँसे में परिवर्तनीय होनी चाहिए*

इस प्रणाली के दो गुण हैं :—(१) सोने और चाँदी की कीमतों के तुलनात्मक परिवर्तनों का मान पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता, और (२) क्योंकि एक ही सिक्का पाँसे के रूप में प्रामाणिक मुद्रा रहता है, इसलिए ग्रेशम का नियम लागू नहीं हो पाता।

इसमें तो सन्देह नहीं है कि इस प्रणाली में द्वि-धातुमान के सभी गुण होंगे और उसके दोष भी बड़े अंश तक दूर हो जायेंगे, परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या यह व्यावहारिक है ? अनुभव यह बताता है कि मार्शल का सुझाव केवल सैद्धान्तिक महत्त्व का है। किसी भी देश ने इस मान को उपयुक्त समझकर ग्रहण नहीं किया है।

(क) विशुद्ध द्वि-धातुमान (Bi-metallism)—द्वि-धातुमान भी संसार में काफी समय तक चालू रहा है, यद्यपि २० वीं शताब्दी के आरम्भ से किसी भी देश में इसका चलन दिखाई नहीं पड़ता। सन् १८७३ तक अमरीका में द्वि-धातुमान ही प्रचलित रहा है। फ्रान्स ने सन् १८०३ तथा सन् १८७४ के बीच इसे ग्रहण किया था। इस समय इस मान के पक्ष में बहुत ही कम लोग रह गये हैं। केवल संयुक्त राज्य अमरीका ने अपने चाँदी हितों की रक्षा के लिए सन् १९३४ तक द्वि-धातुमान को बनाये रखने का प्रयत्न किया था, परन्तु यह प्रयत्न सफल नहीं हो पाया था। अमरीका में भी सन् १९०० के पश्चात् द्वि-धातुमान को ग्रहण करना सम्भव नहीं हुआ।

द्वि-धातुमान की विशेषताएँ—

द्वि-धातुमान की सफलता के लिए चार बातों की भारी आवश्यकता होती है—प्रथम, प्रत्येक द्वि-धातुमान देश को अपनी मुद्रा इकाई की कीमत सोने की निश्चित मात्रा के बराबर घोषित करनी पड़ती है और इसके साथ ही मुद्रा इकाई को चाँदी की एक निश्चित मात्रा के बराबर रखना पड़ता है। उदाहरणस्वरूप, सन् १७९२ के अमरीकन मुद्रण नियम में एक डालर को २४·७५ ग्रेन सोने तथा ३७१·२५ ग्रेन चाँदी के बराबर घोषित किया गया था और इस प्रकार सोने और चाँदी की सरकारी विनिमय दर १:१५ रखी गई थी। *दूसरे,* सरकार को सोना और चाँदी दोनों के स्वतन्त्र मुद्रण तथा स्वतन्त्र बाजार (Free market) की व्यवस्था करनी पड़ती है। ऐसा करने से देश के भीतर और देश के बाहर सोने और चांदी के सिक्कों की कीमत उनके निहित मूल्य के बराबर रहेगी। *तीसरे,* सोना और चाँदी दोनों ही के सिक्कों को अपरिमित विधि-ग्राह्य मुद्रा घोषित करना पड़ता है। *चौथे,* प्रत्येक प्रकार की पत्र-मुद्रा तथा साख-मुद्रा को सोने तथा चाँदी के सिक्कों में बदलने की गारन्टी देनी पड़ती है।

द्वि-धातुमान के पक्ष में एवं विपक्ष में

द्वि-धातुमान के पक्ष में—

द्वि-धातुमान के समर्थकों ने तीन कारणों से इस मान को एक-धातुमान की तुलना में अधिक उपयुक्त बताया है :—

(१) मुद्रा के सुरक्षित कोषों का विस्तार—जितना ही किसी मुद्रा के

पीछे धातु-कोष अधिक होगा उतनी ही इसकी सुरक्षा भी अधिक होगी। अनुभव बताता है कि बहुत बार सोने के सुरक्षित कोषों की कमी के कारण एक-धातुमान वाले देशों को अपनी मुद्रा की स्वर्ण परिवर्तनशीलता को स्थगित करना पड़ा है। यह निश्चय है कि यदि धातुमान तथा मुद्रा को धातु में बदलने के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाता है, तो धातु-कोष काफी बड़े होने चाहिए। सोने और चाँदी दोनों में से किसी भी एक धातु की मात्रा इस उद्देश्य के लिए काफी नहीं है, परन्तु दोनों धातुओं को सुरक्षित निधि बनाकर समस्या बड़े अंश तक सुलझाई जा सकती है।

(२) कीमतों में अधिक स्थिरता—सोने के उत्पादन, आसंचित कोषों और उपयोगों के प्रत्येक परिवर्तन का सोने की माँग और पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है, जिसके कारण उसकी कीमतों में भी परिवर्तन होते हैं। ठीक इसी प्रकार चाँदी की कीमतों पर भी उपरोक्त सभी कारणों का प्रभाव पड़ता है, परन्तु यह सम्भव है कि जिस समय सोने की कीमतें ऊपर चढ़ रही हैं, उस समय चाँदी की कीमतें नीचे गिर रही हों, और इसके विपरीत, जिस समय चाँदी की कीमतें ऊपर जा रही हैं, उस समय सोने की कीमतें नीचे गिर रही हों। ऐसी दशा में सोने और चाँदी के सामूहिक कोष की कीमत में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा। यदि एक ही धातु का कोष है तो सुरक्षित कोष की कीमत में भारी परिवर्तन होने का भय रहता है। *जेवन्स (Jevons) ने इस सम्बन्ध में बड़ा अच्छा उदाहरण दिया है।* उनका कहना है कि यदि दो शराब के नशे में चूर व्यक्तियों को, जिनमें से एक दाईं ओर को गिरता है और दूसरा बाईं ओर, आपस में बाँध दिया जाय तो कम से कम कुछ समय तक दोनों के लिए सीधे खड़े होकर चलना सम्भव होगा, यद्यपि यह निश्चय है कि यदि दोनों व्यक्तियों में एक ही ओर गिरने की प्रवृत्ति है तो गिरना काफी भयंकर हो सकता है। इसी प्रकार द्वि-धातु कोषों की मात्रा में उच्चावचनों (Fluctuations) की सम्भावना एक धातु के सुरक्षित कोषों की अपेक्षा कम रहेगी, और, क्योंकि मुद्रा के मूल्य निर्धारण में धातु-मुद्रा बड़ा महत्त्वपूर्ण काम करती है, पूर्ति की ओर से मुद्रा के मूल्य में होने वाले परिवर्तनों का जोर कम रहेगा। इस दृष्टिकोण से द्वि-धातुमान एक-धातुमान से अच्छा है। द्वि-धातुमान के इस कार्य को हम उसका क्षयपूरक कार्य (Compensatory Action of the Double Standard) कहते हैं।

(३) विदेशी व्यापार की सुविधा—एक द्वि-धातुमान देश अपनी मुद्रा की कीमत सोने और चांदी में एक ही साथ निर्धारित करता है। इस कारण स्वर्णमान तथा रजत-मान दोनों ही प्रकार के देशों से देश की विदेशी विनिमय दर निश्चित करने और बनाये रखने में सुविधा होती है। यदि बहुमूल्य धातुओं के आयात और निर्यात पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध न लगाये जायें, तो एक बड़े अंश तक विदेशी विनिमय दरों की स्थिरता प्राप्त की जा सकती है। साधारण दशाओं में एक-धातुमान के अन्तर्गत स्वर्णमान तथा रजतमान देशों के बीच विदेशी विनिमय दरों में भारी उच्चावचन होते रहते हैं। जब संसार में रजतमान देशों की संख्या काफी थी तो

उपरोक्त तर्क का महत्त्व काफी था, परन्तु रजतमान के संसार से विदा हो जाने के पश्चात् भी यह कहा जा सकता है कि द्वि-धातुमान के कारण सोना उत्पन्न करने वाले तथा चाँदी उत्पन्न करने वाले देशों के बीच विनिमय दरों की स्थिरता प्राप्त की जा सकती है।

(४) बैंकों को अपने कोषों के संचालन में सुविधा—द्वि-धातुमान के अन्तर्गत बैंकों को अपने कोषों (Reserves) के संचालन में बड़ी सरलता और किफायत हो जाती है, क्योंकि वे सोने या चाँदी किसी भी सिक्के में अपना कोष रख सकते हैं। साथ ही, मुद्रा की मात्रा अधिक होने के कारण वे कम ब्याज पर व्यापारियों को रुपया उधार दे सकते हैं, जिससे उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है।

द्वि-धातुमान के विपक्ष में—

द्वि-धातुमान के विपक्ष में तीन महत्त्वपूर्ण तर्क रखे जाते हैं :—

(१) ग्रेशम के नियम की कार्यशीलता—जब तक सारा संसार द्वि-धातुमान को ग्रहण नहीं कर लेगा, तब तक किसी भी एक देश के लिए सोने और चाँदी के विनिमय अनुपात को बनाये रखना सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि विदेशी बाजारों में दोनों धातुओं की कीमतों में विपरीत दिशाओं अथवा अलग-अलग अनुपात में परिवर्तन होते रहेंगे। परिणाम यह होगा कि सोने और चांदी के सरकारी विनिमय अनुपात तथा वास्तविक बाजारी अनुपात में अन्तर हो जायगा। एक धातु का दूसरी में अतिमूल्यन हो जाता है और ग्रेशम का नियम अपनी पूरी शक्ति के साथ लागू होने लगता है। किसी भी एक धातु का आयात अथवा निर्यात् लाभदायक हो जाता है, जिसके कारण देश में भी दोनों धातुओं की कीमतों में तुलनात्मक परिवर्तन होने लगते हैं। विभिन्न कालों में द्वि-धातुमान देशों को इस प्रकार का अनुभव हुआ है। ग्रेशम के नियम के कारण एक धातु के सिक्के बाजार से पूर्णतया गायब हो सकते हैं और इस प्रकार द्वि-धातुमान व्यवहार में एक-धातुमान ही रह जाता है।

(२) क्षतिपूरक कार्य में त्रुटि (Defect in the Compensatory Action of the Double Standard)—जब दो धातुओं को एक ही साथ मूल्य-मान के रूप में उपयोग किया जाता है तो इसके द्वारा कीमतों में जो स्थिरता आती है वह द्वि-धातुमान के क्षयपूरक कार्य का परिणाम होती है। एक धातु की कीमतों के गिरने के कारण वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों में जो वृद्धि होने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है वह इस कारण रुक जाती है कि दूसरी धातु की कीमत उसी समय बढ़ कर वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों को विपरीत दिशा में खींचती है। यही द्वि-धातुमान का क्षतिपूरक कार्य है। इसका महत्त्व हम द्वि-धातुमान के लाभों के सम्बन्ध में देख चुके हैं, परन्तु यह कार्य सदा ही सम्पन्न नहीं हो पाता। संसार के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जबकि सोने और चाँदी दोनों ही की कीमतों में एक साथ एक ही दिशा में परिवर्तन हुए। ऐसी दशा में द्वि-धातुमान स्वयं

कीमतों में भारी उच्चावचन पैदा कर देता है। यह क्षतिपूरक कार्य तभी सफल हो सकता है जबकि एक द्वि-धातुमान देश के पास दोनों धातुओं के इतने बड़े कोष हों कि भारी मात्रा में सोने अथवा चाँदी का निर्यात हो जाने पर भी किसी धातु की कमी अनुभव न हो। व्यवहारिक जीवन में किसी भी देश के पास दोनों धातुओं के इतने बड़े सुरक्षित कोषों का होना लगभग असम्भव ही होता है। यही कारण है कि यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर द्वि-धातुमान को स्थापित करने की ओर अनेक प्रयत्न हुए हैं, परन्तु सफलता कम ही रही है।

(३) व्यापारिक सौदों में गड़बड़—द्वि-धातुमान में जब टकसाली अनुपात और बाजारी अनुपात में अन्तर हो जाता है, तो ऋणदाता उस धातु में भुगतान लेना चाहते हैं, जिसका मूल्य चढ़ा हुआ है, जबकि ऋणी उस धातु की मुद्रा में भुगतान देना चाहते हैं, जिसका मूल्य गिरा हुआ है। इस प्रकार लेन-देन के व्यवहारों में कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

द्वि-धातुमान के दोषों को दूर करने के उपाय—

द्वि-धातुमान का सबसे बड़ा दोष है ग्रेशम के नियम का लागू होना। इस दोष को दूर करने के लिये द्वि-धातुमान के समर्थकों ने निम्न उपाय सुझाये थे और इन्हीं के आधार पर उन्होंने सन् १८७८ व सन् १८९२ के अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सम्मेलनों में इस मान को अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर अपनाने का आग्रह किया :—

(१) जब कभी बाजार और टकसाली अनुपात में अन्तर हो तो टकसाली अनुपात में बाजार भाव के अनुसार परिवर्तन कर दिया जाय। इससे ग्रेशम का नियम लागू होने का अवसर नहीं मिलेगा। वस्तुतः सन् १८४७—४८ में इसी उपाय का अवलम्बन करके फ्रान्स ने अपने यहाँ द्वि-धातुमान को स्थिर किया था।

(२) यदि संसार के सभी मुख्य देशों में द्विधातुमान की स्थापना हो जाय तो ग्रेशम के नियम की कार्यशीलता को रोका जा सकता है, क्योंकि इस दशा में द्विधातुमान की क्षतिपूरक क्रिया अधिक प्रभावशाली ढंग से कार्य करेगी, जिसके फलस्वरूप सभी द्विधातुमान वाले देशों में बाजारी-अनुपात अन्त में टकसाली अनुपात के बराबर हो जायगा और द्वि-धातुमान सफलतापूर्वक चलता रहेगा। निम्न उदाहरण से यह बात अधिक स्पष्ट हो जायगी :—

मान लीजिये कि भारत में द्वि-धातुमान का चलन है तथा सोने और चांदी का टकसाली अनुपात व बाजारी अनुपात दोनों एक समान है और १:१५ हैं। यकायक चाँदी की पूर्ति किसी कारण बढ़ जाती है। इसका परिणाम यह होगा कि सोने व चाँदी के बाजारी अनुपात में परिवर्तन हो जायगा। मान लीजिये कि यह बदल कर १:१६ हो गया। इस दशा में सोने का टकसाली मूल्य कम है, अतः लोग सोने के सिक्कों को पिघलाने लगेंगे और बाजार में इस सोने के बदले चाँदी खरीद कर सिक्का ढलाई के लिये टकसाल भेजेंगे। इस प्रकार बाजार में चाँदी की कमी और सोने की बहुतायत

हो जायगी, जिससे दोनों धातुओं का बाजार-अनुपात धीरे-धीरे कम होने लगता है अर्थात् १ इकाई सोने के बदले में बाजार में चाँदी धीरे-धीरे १६ इकाइयों से कम मिलने लगती है और अन्त में इसका अनुपात टकसाली अनुपात के बराबर हो जाता है। *बाज़ार से चाँदी का टकसाल को जाना और सोने का टकसाल से बाजार में लौटना द्विधातुमान का क्षतिपूरक प्रभाव है। यदि कोई अन्य शक्ति उसके मार्ग में बाधा न डाले तो यह प्रभाव तब तक कार्य करेगा जब तक बाजारी अनुपात अन्त में टकसाली अनुपात के बराबर न हो जाय।*

किन्तु क्षतिपूरक प्रभाव की कार्यशीलता के लिये यह आवश्यक है कि संसार के सभी देशों में सोने और चांदी का बाजारी अनुपात एक समान हो। जब द्विधातुमान अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर अपना लिया जायगा और सोने व चांदी का आयात-निर्यात स्वतंत्र होगा, तो किसी एक देश में सोने व चाँदी के बाजारी अनुपात में परिवर्तन हो जाने पर विदेशों में इन धातुओं का आयात या निर्यात होने लगेगा और उक्त देश में फिर से बाजारी अनुपात टकसाली अनुपात के बराबर हो जायगा। जैसे मान लीजिये कि भारत में सोने का मूल्य अधिक हो गया, तो इस दशा में सारे संसार के बाजारों से सोना भारत को आने लगेगा और चांदी के सिक्के (चांदी के बदले प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विनिमय होकर) विदेशों को जाने लगेंगे, जिससे भारत में सोने का मूल्य कम हो जायगा। इस प्रकार सब देशों के सहयोग से द्विधातुमान को सफलतापूर्वक कार्यशील रखा जा सकता है। *परन्तु संसार के देश अपने व्यक्तिगत हितों की ओर ही अधिक देखते हैं, इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की संभावना कम रहती है।*

निष्कर्ष—

आज के संसार में द्वि-धातुमान के समर्थक बहुत ही कम हैं। वास्तविकता यह है कि स्वयं धातुमान ही संसार से उठ चुका है। संसार के लगभग सभी देशों में इस समय पत्र-मान ही प्रचलित है। धातुमान की स्थापना की ओर किए गए सभी प्रकार के प्रयत्न असफल ही रहे हैं। सन् १९४४ के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन में भी इस सत्य को स्वीकार कर लिया गया था। संसार धातुमान को ग्रहण करने में असमर्थ है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा व्यवस्था के अन्तर्गत सोने को परोक्ष रूप में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय में मूल्य का मापक तो स्वीकार कर लिया गया है, परन्तु प्रत्येक देश को पत्र-मुद्रा मान स्थापित करने तथा बनाए रखने की पूरी स्वतन्त्रता दी गई है। इस समय इस सम्बन्ध में यह विवाद कि एक धातु-मान तथा द्वि-धातुमान में से कौन सा अधिक उपयुक्त है, सारहीन है।

(ख) पंगु द्वि-धातुमान (Limping Bi-metallism) अथवा लंगड़ा-मान (Limping Standard)—यह द्वि-धातुमान की एक विशेष दशा होती है। *यदि किसी देश में सोने और चाँदी दोनों के ही सिक्के अपरिमित विधि-ग्राह्य रखे*

जाते हैं और दोनों के बीच की विनिमय दर निश्चित कर दी जाती है, परन्तु एक सिक्के की ढलाई स्वतन्त्र होती है और दूसरे की स्वतन्त्र नहीं होती है तो ऐसा मान 'लंगड़ा-मान' अथवा 'पंगु-मान' कहलाता है। इस प्रकार के मान का उदाहरण फ्रांस से मिलता है। वहाँ सोने और चाँदी दोनों के ही सिक्के अपरिमित विधि-ग्राह्य थे, परन्तु चाँदी के सिक्कों की ढलाई स्वतन्त्र न थी। इस प्रकार को लंगड़ा मान इसलिए कहा जाता है कि जिस सिक्के की स्वतन्त्र ढलाई नहीं होती है वह कठिनाई के साथ चालू रहता है और केवल घिसटता है। इस प्रकार मुद्रा-मान की एक टाँग बेकार रहती है।

(ग) व्यकल्पित या समानान्तर द्वि-धातुमान (Parallel Bi-metallic Standard)—इस मान को समानुपाती मान पद्धति भी कहते हैं। यह पद्धति द्वि धातुमान का ही एक रूप है। इसमें भी धातुओं के सिक्के प्रचलन में रहते हैं और दोनों ही प्रामाणिक मुद्रा तथा अपरिमित विधि-ग्राह्य होते हैं। दोनों धातुओं के सिक्कों की ढलाई भी स्वतन्त्र रहती है, परन्तु द्वि-धातुमान तथा व्यकल्पित मान में यह अन्तर होता है कि पहिले में तो दोनों धातुओं के बीच का विनिमय अनुपात नियमानुसार निश्चित कर दिया जाता है, जबकि दूसरे में ऐसा नहीं किया जाता। बाजारी कीमतों के आधार पर विनिमय अनुपात स्वयं निश्चित होने के लिए छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार निर्धारित होने वाले अनुपात के आधार पर टकसाली विनिमय अनुपात निश्चित किया जाता है। यह टकसाली अनुपात स्थिर नहीं होता, बल्कि दोनों धातुओं की कीमतों के परिवर्तनों के साथ-साथ बदलता रहता है। इस प्रणाली में सबसे बड़ा दोष यही होता है कि दोनों धातुओं की टकसाली कीमत नियत नहीं की जाती, जिससे उसमें भारी परिवर्तन होते रहते हैं।

QUESTIONS

1. Write a note on—Bimetallism.
   (Agra, B. Com., 1957 ; Raj., B. A., 1955)
2. Describe the essential features of bi-metallism and discuss whether prices are steadier under bi-metallism or under monometallism. (Agra, B. Com., 1955)
3. Discuss the essential features of bi-metallism and examine whether bi-metallic standards keep prices steadier than monometallic standards. (Raj., B. Com., 1955)
4. What is meant by managed currency ? Examine the advantages and disadvantages of the same. (Agra, B. A., 1956)

5. Write a note on the Compensatory Action of the Double Standard. (Agra, B. Com., 1956 Supp.)

6. Distinguish between Monometallism and Bimetallism. (Raj., B. A., 1956)

7. नोट लिखिए—प्रतिबन्धित चलार्थ (Sagar, B. A., 1957)

8. Write short note on—Parallel Standard. (Raj., B. Com., 1940)

अध्याय ६

स्वर्णमान

(Gold Standard)

परिभाषा

एक-धातुमान का सबसे सुविख्यात तथा सबसे अधिक प्रचलित रूप स्वर्णमान रहा है। इस मान में सोने को मूल्यमान के रूप में उपयोग किया जाता है। अर्थशास्त्र के अन्य शब्दों की भांति स्वर्णमान की भी अर्थशास्त्र में कई परिभाषाएं की गई हैं। साधारण भाषा में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि *यदि किसी देश में देश की मुद्रा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से स्वर्ण में परिवर्तनशील घोषित की गई है तो देश का मुद्रामान स्वर्णमान है।* नीचे कुछ प्रमुख लेखकों द्वारा दी गई परिभाषाओं का उल्लेख किया जाता है :—

(१) राबर्टसन—"स्वर्णमान वह अवस्था है जिसमें कोई देश अपनी मुद्रा की इकाई का मूल्य और सोने की एक निश्चित मात्रा का मूल्य ऐक दूसरे के बराबर रखता है।"*

(२) कालबोरन—"स्वर्णमान एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत किसी

---

*"Gold Standard is a state of affairs in which a country keeps the value of its monetary unit and value of a defined weight of gold at an equality with one another." *See* : Robertson : *Money*, p. 97.

चलन की मुद्रा की प्रमुख इकाई निश्चित किस्म के सोने की एक निश्चित मात्रा में बदली जा सकती है।"[1]

(३) कैमरर—"स्वर्णमान वह मौद्रिक व्यवस्था है जिसमें मूल्य की वह इकाई जिसमें कीमतों, मजदूरियों तथा ऋणों को व्यक्त किया जाता है तथा चुकाया जाता है, स्वतन्त्र स्वर्ण बाजार में सोने की एक निश्चित मात्रा के बराबर होती है।"[2]

वास्तविकता यह है कि *स्वर्णमान भी देश की धारा सभा द्वारा पास किये गये अन्य नियमों की भाँति एक नियम है, जिसके अनुसार किसी मुद्रा अधिकारी का, चाहे वह केन्द्रीय बैंक हो अथवा कोषागार, यह उत्तरदायित्व रखा जाता है कि निश्चित दरों पर सोने को देश की मुद्रा में तथा देश की मुद्रा को सोने में बराबर बदलता रहे।* उदाहरणस्वरूप, स्वर्णमान के अन्तर्गत प्रथम महायुद्ध से पहिले नियमानुसार बैंक ऑफ इङ्गलेंड का यह उत्तरदायित्व था कि वह ४·२४०९ पौंड प्रति औंस की दर पर प्रत्येक बेचने वाले से सोना खरीदे और ४·२४७७ पौंड प्रति औंस की दर पर प्रत्येक खरीदने वाले को सोना बेचे। *कभी-कभी देश की मुद्रा को स्वर्ण में परोक्ष रीति से भी बदला जाता है।* मुद्रा अधिकारी द्वारा देश की मुद्रा के बदले में एक निश्चित दर पर कोई ऐसी विदेशी मुद्रा दे दी जाती है कि जिसे निश्चित दरों पर सोने में बदला जा सकता है। सारांश यह है कि देश की मुद्रा की स्वर्ण में परिवर्तन-शीलता प्रत्यक्ष हो अथवा परोक्ष, परन्तु प्रत्येक दशा में स्वर्णमान के अन्तर्गत मुद्रा स्वर्ण में और स्वर्ण मुद्रा में परिवर्तनशील होते हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि स्वर्णमान वह मौद्रिक व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत देश की प्रचलित मुद्रा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है।[3]

स्वर्णमान की विशेषतायें—

पूर्ण स्वर्णमान को स्थापित करने और बनाये रखने के लिए एक देश के लिए निम्न कार्य करना आवश्यक होता है :—

(१) *उसे अपने मुद्रामान अथवा आधारभूत मुद्रा इकाई की कीमत सोने में परिभाषित करनी पड़ती है।* इसके दो उपाय होते हैं:—(१) या तो मुद्रा इकाई में शुद्ध सोने की मात्रा का उल्लेख कर दिया जाता है,

1. "The Gold Standard is an arrangement whereby the chief price of money of a country is exchangeable with a fixed quantity of gold of a specific quality." *See* W. A. L. Coulborn : *An Introduction to Money*, p. 117.

2. Gold standard is a money system where the unit of value, in which prices & wages & debts are customarily expressed and paid, consists of the value of a fixed quantity of gold in a free gold market." Kemerrer : *Gold and the Gold Standard*, pp. 135–36.

3. Gold Standard is a monetary system in which the currency of a country is directly or indirectly convertible into gold.

जैसा कि इङ्गलैंड ने किया था, और (२) या सोने की टकसाली कीमत तय कर दी जाती है। अमरीका तथा भारत में दूसरी रीति अपनाई गई थी। अमरीका में १ औंस सोने की टकसाली कीमत ३५ डालर रखी गई थी और भारत में एक तोला सोने की सरकारी दर २१ रुपया ७ आने १० पाई।

(२) *मुद्रा अधिकारी को इस प्रकार निर्धारित कीमत पर वह सब सोना खरीदना चाहिए* जो बेचने के लिए लाया जाता है।

(३) *मुद्रा अधिकारी को इसी निश्चित कीमत पर अपरिमित मात्रा में सोना बेचने की व्यवस्था करनी चाहिए।*

(४) देश में *चालू मुद्रायें मुख्य मुद्रा में परिवर्तनशील होनी चाहिए।* इसके लिए साधारणतया सभी मुद्राओं की आपस में परिवर्तनशीलता रखी जाती है।

(५) *सोने के आयात और निर्यात की स्वतन्त्रता* होनी चाहिए और उस पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए।

स्वर्णमान के रूप (Forms of Gold Standard)—

स्वर्णमान की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य यह होता है कि देश की मुद्रा की कीमत सोने की एक निश्चित मात्रा के बराबर रखी जाय। मुद्रा की प्रत्येक इकाई की कीमत का, चाहे वह सोने के सिक्कों के रूप में हो अथवा अन्य धातुओं के सिक्कों के रूप में अथवा पत्र-मुद्रा या साख-मुद्रा के रूप में, स्वर्ण इकाई से समुचित अनुपात होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार द्वारा स्वर्णमान सम्बन्धी कुछ विशेष नियमों का बनाना आवश्यक होता है। साथ ही, सरकार को यह भी निश्चित करना होता है कि स्वर्णमान को किस रूप में ग्रहण किया जायगा।

स्वर्णमान के निम्न पाँच रूप सम्भव हैं। इन पाँचों में से प्रथम तीन रूपों में तो स्वर्णमान काफी लम्बे समय तक वास्तविक जीवन में प्रचलित रहा है, परन्तु चौथे रूप का अधिक महत्त्व भविष्य के लिए एक सम्भावना के रूप में ही अधिक समझा जा सकता है। पाँचवाँ रूप सन् १९४६ से आरम्भ हुआ है, जबसे कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने अपना कार्य आरम्भ किया।

(I) स्वर्ण-चलन मान

(Gold Currency Standard)

स्वर्णमान के इस रूप के कई नाम हैं, जैसे—स्वर्ण प्रचलन मान (Gold Circulation Standard), स्वर्ण टंक मान (Gold Coin Standard) तथा स्वर्णमान मुख्य (Gold Standard Proper)। प्रथम महायुद्ध से पहले यह मान इङ्गलैण्ड, संयुक्त राज्य अमरीका, फ्रांस, जर्मनी तथा यूरोप के अन्य देशों में प्रचलित था। अमरीका में सन् १९३३ तक इसका चलन रहा, यद्यपि सभी योरोपियन

ने प्रथम महायुद्ध के काल में इसका चलन बन्द कर दिया था और युद्ध के बाद मान को एक संशोधित रूप में ग्रहण किया था। इस मान की विशेषताएँ निम्न ार हैं :—

र्ण चलन मान की विशेषतायें—

(१) *मुद्रा इकाई की कीमत सोने की एक निश्चित मात्रा के बराबर* घोषित की जाती है।

(२) सोने की *ढलाई स्वतन्त्र* होती है।

(३) भुगतान के लिए स्वर्ण मुद्रा *अपरिमित विधि-ग्राह्य* होती है।

(४) देश में *सोने के सिक्कों का प्रचलन* होता है और सभी गौण सिक्के तथा कागजी नोट जो देश के भीतर चालू होते हैं, स्वर्ण में परिवर्तनशील होते हैं।

(५) *सभी प्रकार की साख-मुद्रा कीमत के अनुसार स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है।* देश में *प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा का चलन* होता है, जिसका अर्थ यह होता है कि प्रत्येक कागज के नोट के पीछे उसकी कीमत का सोना आड़ से रखा जाता है।

(६) सोने के *आयात और निर्यात पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं* होते हैं।

(७) देश में *चलन की मात्रा स्वर्ण निधि पर आधारित* होती है। इसके घटने-बढ़ने के अनुसार चलन की मात्रा में भी कमी या वृद्धि की जाती है।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, सन् १९१४ से पहिले इङ्गलैण्ड में यही न प्रचलित था। सावरेन (Sovereign) के रूप में सोने के सिक्कों का प्रचलन था। ; सावरेन का वजन १२३·१७४४७ ग्रेन होता था और उसकी शुद्धता ११/१२ होती थी। का अर्थ यह होता है कि सावरेन में ११३ १/६२३ ग्रेन शुद्ध सोना होता था और शेष का। इस प्रकार ब्रिटिश मुद्रा मे सावरेन की कीमत ३ पौंड १७ शिलिंग १० १/२ पैंस ती थी, परन्तु व्यवहार में एक औंस सोने के बदले में बैंक ऑफ इङ्गलैंड केवल ३ ड १७ शिलिंग ६ पैंस ही देती थी, परन्तु यदि कोई व्यक्ति बैंक ऑफ इङ्गलैण्ड से ना खरीदना चाहता था तो उसे एक औंस सोने के लिए ३ पौंड १७ शिलिंग १० १/२ प्त देने पड़ते थे। इस व्यवस्था का परिणाम यह होता था कि ब्रिटिश सावरेन की मत ११३ १/६२३ ग्रेन सोने की कीमत के आसपास ही बनी रहती थी।

स्वर्णमान की ऊपर दी गई विशेषताओं से स्वर्ण-चलन मान के कुछ महत्त्वपूर्ण णों का पता चलता है। प्रथम, क्योंकि मुद्रा की मात्रा सोने की मात्रा पर निर्भर ी, इस कारण इस स्वर्णमान में मुद्रा तथा साख की उत्पत्ति पर एक प्रभावशाली तिबन्ध रहता था और विनिमय माध्यम की अत्यधिक निकासी कठिन थी। ऐसी दशा

में पत्र-मुद्रा का उत्पादन निश्चित सीमा के भीतर ही रहता था। किसी भी केन्द्रीय सत्ता द्वारा व्यावसायिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए मुद्रा की पूर्ति पर जानकर नियन्त्रण नहीं रखा जाता था। मुद्रा की पूर्ति को प्राकृतिक शक्तियों के स्वचालित नियन्त्रण पर छोड़ दिया जाता है और इन प्राकृतिक शक्तियों में सबसे अधिक महत्व स्वर्ण के उत्पादन व्यय का था।

दूसरे, अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में भी ऐसा स्वर्णमान नियन्त्रण का कार्य करता था। जब तक संसार के विभिन्न देशों की मुद्राएँ स्वर्ण पर आधारित थीं, विदेशी विनिमय दरों के परिवर्तन स्वर्ण निर्यात तथा आयात व्यय की संकुचित सीमाओं के भीतर ही रहते थे। ऋणी देशों को विदेशी भुगतानों के लिए असीमित मात्रा में सोना मिल सकता था और सोना देकर वे अपने ऋणों को चुका भी सकते थे। महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि सोने के आयात और निर्यात के कारण सोने के कोषों में परिवर्तन होता रहता था। इसके द्वारा कीमतों में जो परिवर्तन हो जाते थे वे आगे चलकर व्यापाराशेष में परिवर्तन कर देते थे, जिससे सोने के आयात और निर्यात अपने आप ही रुक जाते थे।

प्रथम महायुद्ध के काल में स्वर्ण-चलन-मान को बनाये रखना सम्भव न हो सका। प्रत्येक देश की सरकार को युद्ध-संचालन के लिए धन की आवश्यकता थी। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए कागज के नोटों का छापना आवश्यक प्रतीत हुआ। यदि स्वर्ण-चलन-मान के नियमों का पालन किया जाता तो स्वर्ण-कोषों की वृद्धि के बिना कागज के नोटों का छापना सम्भव न था, परन्तु युद्ध काल में स्वर्ण-कोष कहाँ से आते? अतएव अधिकांश स्वर्ण देशों ने युद्ध-काल के लिए स्वर्णमान को स्थगित कर दिया। युद्ध के पश्चात् यूरोप के जिन देशों ने स्वर्णमान को फिर से ग्रहण किया उनकी पत्र-मुद्रा युद्ध-काल में इतनी बढ़ाई जा चुकी थी कि उनके लिए पुराने ही रूप में स्वर्ण-मान को ग्रहण कर लेना असम्भव था। कठिनाई यह थी कि पत्र-मुद्रा की मात्रा के बढ़ जाने तथा सोने के स्टॉकों के घट जाने के कारण यह सम्भव न था कि कागज के नोटों के पीछे उनकी कीमत के बराबर सोने की आड़ रखी जा सके। इस कारण अधिकाँश देशों को यह मान छोड़ना पड़ा था।

स्वर्ण-चलन-मान के लाभ—

स्वर्ण-चलन-मान के समर्थकों ने इस मान के पक्ष में बहुत महत्त्वपूर्ण तर्क रखे हैं। इस मान के कुछ लाभ तो इस प्रकार के हैं कि कोई भी देश इस मान को स्थापित करके उन्हें प्राप्त कर सकता है, चाहे अन्य देश स्वर्णमान को ग्रहण करें अथवा नहीं। इनके अतिरिक्त अन्य कुछ लाभ ऐसे हैं जो केवल उसी दशा में प्राप्त हो सकते हैं जबकि स्वर्णमान को अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर ग्रहण किया जाय। प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं:—

(१) जनता का विश्वास—स्वर्णमान के ग्रहण करने से देश की मुद्रा में जनता का विश्वास बना रहता है। इस विश्वास के कई कारण हैं—(१) स्वर्ण मुद्रा का निहित मूल्य (Intrinsic Value) भी अंकित मूल्य के बराबर होता है और यही कारण है कि सभी व्यक्ति इसे सदा ही स्वीकार करने को तैयार रहते हैं। (२) यदि मुद्रा के रूप में स्वर्ण मुद्रा की कीमत समाप्त हो जाय तो भी सिक्के की धातु का उपयोग किया जा सकता है। पत्र-मुद्रा में यह गुण नहीं होता। अतः इसका विमुद्रीकरण हो जाय तो इसका कुछ भी मूल्य शेष नहीं रहता। (३) स्वर्ण चलन मान के अन्तर्गत जनता का यह विश्वास केवल सोने के सिक्कों के ही प्रति नहीं होता वरन् पत्र-मुद्रा, तुच्छ धातु के सिक्कों तथा साख-मुद्रा पर भी होता है, क्योंकि इन्हें सोने में बदला जा सकता है, इसलिए वे भी विश्वासप्रद होती हैं। (४) विश्वास के बने रहने का एक कारण यह भी है कि मुद्रा की मात्रा स्वर्ण-कोषों की मात्रा पर निर्भर होती है। बिना अधिक सोना प्राप्त किए मुद्रा की मात्रा को बढ़ाया नहीं जा सकता। इस कारण पत्र-मुद्रा की अत्यधिक निकासी का प्रश्न ही नहीं उठता है।

(२) मुद्रा-प्रणाली की स्वचालकता (The Automatic Working of the Monetary System)—स्वर्ण-चलन-मान को स्वचालक मान कहा जाता है। प्रो० कैनन (Cannan) के शब्दों में *यह मान 'मूर्ख सिद्ध तथा मक्कार सिद्ध' (Fool-proof and Knave-proof) है।* इसका अर्थ यह होता है कि स्वर्णमान-देश की मूर्खता अथवा बेईमानी का भी इस मान के संचालन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इस मान को चालू रखने के लिए किसी प्रकार के सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होती है। यह स्वयं अपना संचालन करता है। यदि किसी स्वर्णमान देश की सरकार गलती करती है या अन्य स्वर्णमान देशों को धोखा देना चाहती है तो भी स्वर्णमान के संचालन में गड़बड़ी नहीं पड़ती, क्योंकि यह मान गलती से उत्पन्न होने वाली स्थिति को स्वयं सुधार लेता है और धोखेबाजी को फलीभूत नहीं होने देता। जो लोग इस सिद्धान्त में विश्वास करते हैं कि सरकारी हस्तक्षेप सदा ही अनुचित होता है उनके दृष्टिकोण से तो यह मान बड़ा ही उपयुक्त है, क्योंकि इसमें मुद्रा की पूर्ति स्वर्णकोषों पर निर्भर होती है, न कि स्वर्णमान देश की सरकार की इच्छा पर। स्वर्ण कोषों को बढ़ाए बिना मुद्रा की मात्रा नहीं बढ़ाई जा सकती है।

स्वर्ण-चलन-मान में स्वचालकता लाने के लिए भी किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती है। सरकार को विधान के अनुसार स्वर्ण-कोषों के सम्बन्ध में केवल कुछ नियम बना देने आवश्यक होते हैं और तत्पश्चात् इन नियमों का पालन करते रहने मात्र से ही स्वर्णमान अपने आप चलता रहता है। देखना केवल इतना ही पड़ता है कि देश की मुद्रा में स्वर्ण-कोषों की मात्रा के अनुसार परिवर्तन किए जायें और सोने के आयात-निर्यात पर से सभी प्रकार के प्रतिबन्ध हटा लिए जायें। इन दोनों नियमों का पालन करते रहने से स्वर्णमान में स्वचालकता आ जाती है।

(३) देश में कीमत-स्तर की स्थिरता—स्वर्ण-चलन-मान के पक्ष में सबसे अधिक बलशाली तर्क यह रखा जाता है कि इस मान द्वारा देश के भीतर कीमत-स्तर की स्थिरता प्राप्त की जा सकती है अर्थात् वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों के घटने-बढ़ने की प्रवृत्ति को रोका जा सकता है। इसका कारण यह बताया जाता है कि आर्थिक प्रणाली के अधिकाँश दोष मुद्रा की क्रय: शक्ति के परिवर्तनों के ही परिणाम होते हैं। इन परिवर्तनों से देश का आर्थिक साम्य भङ्ग हो जाता है और आर्थिक जीवन को गहरी चोट पहुँचती है; परन्तु जब सोने का मूल्यमान के रूप में उपयोग किया जाता है, तो कीमतों के घटने-बढ़ने का भय कम रहता है, क्योंकि कीमतें देश में सोने की मात्रा पर निर्भर होती हैं और सोने की मात्रा में बहुत ही कम परिवर्तन होते हैं और अन्य वस्तुओं की तुलना में उसकी कीमत में काफी स्थिरता रहती है। संसार की वार्षिक स्वर्ण उत्पत्ति संसार में सोने की कुल मात्रा की तुलना में इतनी कम है कि सोने की कीमतों में सामयिक (Seasonal) तथा अल्पकालीन परिवर्तन तो बहुत ही कम होते हैं।

(४) विदेशी विनिमय दर की स्थिरता—स्वर्णमान का यह गुण विदेशी व्यापार से सम्बन्धित है। विदेशी व्यापार विदेशी विनिमय दरों पर आधारित होता है। यदि इन विनिमय दरों में अस्थिरता रहती है, तो विदेशी व्यापार का विस्तार नहीं हो पाता और अन्तर्राष्ट्रीय ऋण संसार के देशों को सीमित मात्रा में ही मिल पाते हैं। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् और मुख्यतया स्वर्णमान के परित्याग के पश्चात् विदेशी व्यापार में जो भारी कमी हुई है, वह विनिमय दरों की अस्थिरता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। जब सभी देशों में स्वर्णमान का चलन होता है और उनकी मुद्राओं की कीमतें सोने की कीमतों पर आधारित होती हैं तो उनके बीच की पारस्परिक विनिमय दरों में स्वयं ही स्थिरता आ जाती है। यह स्वर्णमान का एक ऐसा गुण है जिसे सभी स्वीकार करते हैं। विदेशी विनिमय दरों में स्थिरता स्थापित करने के अन्य सभी प्रयत्न पूर्णतया सफल नहीं हो पाए हैं। अन्य कोई भी उपाय विनिमय दरों के घटने-बढ़ने को नहीं रोक पाया है।

स्वर्ण-चलन-मान के दोष—

प्रथम महायुद्ध के काल में तथा उसके बाद भी इस स्वर्णमान प्रणाली की काफी आलोचना हुई है। ऐसा कहा जाता है कि इस प्रकार के स्वर्णमान के लाभ काल्पनिक हैं। व्यवहार में इस मान के बहुत से दोष दृष्टिगोचर हुए हैं। अमेरिका को छोड़कर सभी पाश्चात्य देशों को प्रथम महायुद्ध काल में इसे स्थगित करना पड़ा था। वैसे भी इस मान की सफलता एक बड़े अंश तक संसार के विभिन्न देशों के पारस्परिक सहयोग पर निर्भर होती है, जो सरल नहीं है। प्रमुख दोषों की गणना निम्न प्रकार की जा सकती है:—

(१) स्वर्ण-चलन-मान देश की मुद्रा प्रणाली को बेलोच बना देता है—बिना स्वर्ण-कोषों में वृद्धि किए चलन की मात्रा को बढ़ाना सम्भव नहीं होता, जबकि

युद्ध अथवा अन्य राष्ट्रीय संकट के समय यह आवश्यक हो सकता है कि चलन की मात्रा को बढ़ाया जाय। ऐसी दशा में किसी देश के सम्मुख तीन ही मार्ग होते हैं :—प्रथम, देश को संकटों से निकालने का प्रयत्न ही न किया जाय, जिसे कोई भी देश पसन्द नहीं करेगा। दूसरे, स्वर्णमान के नियमों का उलंघन किया जाय, जिससे स्वर्णमान की स्वचालकता समाप्त हो जायगी और तीसरे, स्वर्णमान के संचालन को स्थगित कर दिया जाय, जिससे कि आवश्यकतानुसार मुद्रा की मात्रा बढ़ाई जा सके। यही कारण है कि स्वर्णमान के आलोचकों ने इसे 'अनुकूल परिस्थिति का मित्र' (Fair Weather Friend) कहा है। साधारण परिस्थितियों में तो यह मान ठीक रहेगा, परन्तु कठिनाई के समय यह साथ छोड़ देगा। आर्थिक संकट के काल में बहुधा इसे स्थगित कर देना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि ऐसे काल में मुद्रा की मात्रा में बिना स्वर्ण-कोषों पर ध्यान दिए ही वृद्धि या कमी करना आवश्यक हो जाता है।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का अभाव—स्वर्ण-चलन-मान का एक भारी गुण उसकी स्वचालन प्रकृति बताया जाता है। प्रथम महायुद्ध से पूर्व निस्सन्देह स्वर्णमान स्वचालक ही था, परन्तु स्वर्णमान के समर्थक यह भूल जाते हैं कि यह गुण तभी सम्भव हो सकता है, जबकि संसार के देशों के बीच सहयोग हो और सभी देश स्वर्णमान के नियमों का पालन करें। यदि कोई देश सोने के निर्यातों पर प्रतिबन्ध लगाता है अथवा देश में चलन की मात्रा को स्वर्ण-कोषों की मात्रा के अनुपात में नहीं बदलता, तो यह स्वचालकता समाप्त हो जाती है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सभी का यह अनुभव रहा है कि कोई भी देश स्वर्णमान के नियमों का पालन करने में अपना किसी भी प्रकार का उत्तरदायित्व नहीं समझता। कुछ कारणों से प्रथम महायुद्ध के पश्चात् कुछ देशों के लिए स्वर्णमान के नियमों का पालन करना सम्भव भी न था। कुछ देशों ने सोने के इतने बड़े कोष जमा कर लिये थे कि उनके अनुपात में मुद्रा की मात्रा बढ़ाने से भीषण मुद्राप्रसार फैल सकता था, जिससे कीमतें काफी ऊँची चढ़ जातीं। इसके विपरीत कुछ देशों के पास सोना इतना कम रह गया था कि अनुपात में चलन को घटाने से भयङ्कर मुद्रा-संकुचन होने का भय था, जिससे कि कीमतें काफी नीचे गिरतीं और बेरोजगारी बढ़ती। दोनों ही दशाओं में स्वर्णमान की स्वचालकता पर देश की नौका को छोड़ देना घातक हो सकता था और इसीलिए प्रबन्धित (Controlled) मुद्रा-प्रणाली को ग्रहण करना आवश्यक था।

(३) कीमतों की स्थिरता काल्पनिक है—कुछ आलोचकों का कहना है कि देश की मुद्रा के मूल्य को सोने की एक निश्चित मात्रा के मूल्य के बराबर रखने की नीति स्वयं कीमतों की स्थिरता को भंग कर देती है। ऐसी नीति का अपनाना अंधेरे में छलाँग लगाना है, क्योंकि यह निश्चय है कि सोने की कीमतों के प्रत्येक परिवर्तन के साथ-साथ अन्य वस्तुओं के कीमत-स्तर में भी अवश्य ही परिवर्तन होंगे और सोने की कीमतें अनेक कारणों से बदल सकती हैं। जैसे कि नई खान की खोज तथा पुरानी खान की समाप्ति, सोने के निकालने की विधि में सुधार और सोने के

उपयोगों में परिवर्तन। इस प्रकार जब स्वयं सोने की कीमतें स्थिर नहीं रह पाती हैं तो फिर अन्य कीमतें कैसे स्थिर रहेंगी ?

(४) **स्वर्ण-कोषों का असमान वितरण**—यद्यपि यह तो सभी जानते हैं कि सोने का वार्षिक उत्पादन संसार में सोने की कुल मात्रा की तुलना में बहुत ही कम है और सोने की कीमतों में साधारणतया अन्य वस्तुओं की कीमतों की विपरीत दिशा में परिवर्तन होते हैं, परन्तु सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि स्वर्ण-कोषों का संसार के विभिन्न देशों के बीच बड़ा ही असमान वितरण है। इसके अतिरिक्त स्वर्ण के वार्षिक उत्पादन का संसार के विभिन्न देशों के बीच उनकी जन-संख्या, वाणिज्य अथवा मुद्रा आवश्यकताओं के अनुसार वितरण नहीं होता। इस समय संसार की सम्पूर्ण स्वर्ण मात्रा का दो-तिहाई से भी अधिक भाग अकेले अमरीका के पास है। वितरण की यह असमानता कीमत-स्तर में स्थिरता उत्पन्न नहीं होने देती।

(५) **कीमतों तथा विदेशी विनिमय दरों की स्थिरता के लिए स्वर्ण-मान आवश्यक नहीं है**—बहुत से आलोचक इस बात पर भी जोर देते हैं कि यदि उद्देश्य यही है कि कीमत-स्तर में स्थिरता रहे और विदेशी विनिमय दरों में भारी परिवर्तन न होने पायें, तो इसके लिए प्रबन्धित मुद्रा-प्रणाली स्वर्णमान की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है, क्योंकि ऐसी प्रणाली में संसार के विभिन्न देशों के बीच मौद्रिक सहयोग स्वर्णमान की अपेक्षा अधिक सफल हो सकता है। इस समय अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष बिना स्वर्णमान की स्थापना के ही आवश्यक काम कर रहा है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि कीमतों की स्थिरता सभी दशाओं में लाभदायक नहीं होती है। एक अंश तक कीमत-स्तर में भी लोच का रहना आवश्यक होता है, ताकि आवश्यकता पड़ने पर कीमतों को घटाया बढ़ाया जा सके। इस प्रकार स्वयं विदेशी विनिमय दरों की स्थिरता भी दोषों से खाली नहीं है।

(II) स्वर्ण-पाट-मान-अथवा स्वर्णधातुमान
(Gold Bullion Standard)

स्वर्ण-पाट-मान को जन्म देने वाली परिस्थितियाँ—

यह मान स्वर्ण-चलन-मान का ही एक परिवर्तित रूप है। इसका आविष्कार प्रथम महायुद्ध के पश्चात् हुआ था और अमरीका के अतिरिक्त अन्य सभी स्वर्णमान देशों ने इसे स्वीकार किया था। युद्ध के काल में यूरोप के देशों को चलन के विस्तार की आवश्यकता पड़ी थी, ताकि मुद्रा की मात्रा को बढ़ाया जा सके, परन्तु स्वर्णमान के नियमों का पालन करने के लिए उतनी ही कीमत का सोना सरकारी कोष में जमा करना आवश्यक था जितनी कीमत के कागज के नोट निकाले जाते थे और इसके लिए अधिकाँश देशों के पास स्वर्ण-कोष काफी न थे, इसलिए स्वर्णमान को युद्धकाल के लिए स्थगित कर दिया गया था। युद्ध के उपरान्त स्वर्णमान को पुनः स्थापित करने का प्रश्न उठा, परन्तु इङ्गलैंड तथा अन्य यूरोपीय देशों के पास युद्धकाल में निकाली

गई समस्त चलन को १००% आड़ प्रदान करने के लिए काफी मात्रा में सोना न था। यह भी भय था कि यदि स्वर्ण-कोषों की प्राप्त मात्रा के अनुसार मुद्रा में कमी की गई तो भारी मुद्रा-संकुचन होगा, जिससे कीमतें घटतीं और उद्योग, व्यापार तथा मजदूरियों में भारी मन्दी आ जाती। अधिकाँश देश यही चाहते थे कि मुद्रा की प्रस्तुत मात्रा में कमी किये बिना ही स्वर्णमान को पुनः ग्रहण कर लिया जाय। इस दशा में स्वर्ण-चलन-मान की स्थापना का तो प्रश्न ही नहीं उठता था, अतएव स्वर्णमान का एक नया रूप निकाला गया, जिसमें अपेक्षतन थोड़े से स्वर्ण-कोषों की आवश्यकता पड़ती थी और कीमतों में भारी उथल-पुथल किये बिना ही स्वर्णमान स्थापित हो जाता था। यही स्वर्ण पाट-मान था। इस मान की प्रमुख विशेषतायें निम्न प्रकार हैं—

स्वर्ण पाट मान की विशेषतायें—

(१) इस स्वर्णमान में *सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता है*, देश के भीतर तुच्छ धातुओं के सिक्के और कागजी नोट चलते हैं, परन्तु इन सिक्कों तथा नोटों की कीमत स्वर्ण में सूचित की जाती है।

(२) सोने की *ढलाई स्वतन्त्र नहीं होती* है।

(३) *कागजी नोटों के पीछे १००% स्वर्ण निधि अथवा आड़ नहीं होती*। कुल पत्र-मुद्रा का एक निश्चित प्रतिशत, जैसे—३०% अथवा ४०% ही सोने में रखा जाता है, *परन्तु सरकार सभी कागजों के नोटों को निश्चित कीमत पर सोने में बदलने का वचन देती है*। किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार होता है कि वह केन्द्रीय बैंक अथवा कोषागार से नोटों के बदले में सोना खरीद ले। शत-प्रतिशत स्वर्ण आड़ न होते हुए भी नोटों की परिवर्तनशीलता इस कारण सम्भव हो जाती है कि किसी समय विशेष में कुल पत्र-मुद्रा का एक छोटा सा भाग ही स्वर्ण में बदलने के लिये लाया जाता है। मुद्रा अधिकारी पर जनता का विश्वास होने के कारण कागज के सभी नोट सोने में बदलने के लिए नहीं लाये जाते और वे अपने आप ही चालू रहते हैं।

(४) *सोने की कीमतें सरकार द्वारा निश्चित कर दी जाती हैं और इन नियत कीमतों पर सरकार असीमित मात्रा में सोना खरीदने और बेचने की व्यवस्था करती है*। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो एक व्यक्ति सरकार से किसी भी मात्रा में सोना खरीद सकता है, परन्तु व्यवहार में सरकारी अधिकारियों की सुविधा, मितव्ययिता तथा बार-बार सोना खरीदने की प्रवृत्ति को हतोत्साहित करने के लिए *एक न्यूनतम् मात्रा निश्चित कर दी जाती है*, जिससे कम मात्रा में एक बार सोना नहीं बेचा जाता। इङ्गलैंड में यह न्यूनतम् मात्रा ४०० औंस रखी गई थी और भारत में १,०५६ तोले अथवा ४०० औंस। उपरोक्त मात्रा में सोने की छड़ें अथवा सिलें बेची जाती थीं।

(५) सरकार यह प्रयत्न करती है कि विदेशी भुगतानों के लिए सोना प्राप्त करने में किसी को भी कठिनाई न हो। इस उद्देश्य से सरकार सोने के कोषों को जमा करती है। इन कोषों का उपयोग विशेषकर विदेशी भुगतान के लिए ही किया जाता है परन्तु आवश्यकता पड़ने पर इनका उपयोग अन्य प्रकार भी किया जा सकता है।

इस प्रकार स्वर्ण-पाट-मान में सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता है। देश में सांकेतिक सिक्के तथा कागज के नोट चालू होते हैं, परन्तु सभी प्रकार की मुद्रा को सरकार द्वारा निश्चित दरों पर सोने की सिलों अथवा सोने की छड़ों में बदलने की गारन्टी दी जाती है। इङ्गलैंड ने इस मान को सन् १९२५ में स्वीकार किया। उस देश में नोटों को ३ पौंड १७ शिलिङ्ग १०½ पैंस प्रति औंस की दर पर चार-चार सौ औंस की सोने की सिलों में बदलने की व्यवस्था की गई थी। भारत ने यह मान सन् १९२७ में ग्रहण किया और भारत सरकार ने भी मुद्रा को २१ रुपये ७ आने १० पाई फी तोला की दर पर ४००-४०० औंस की सोने की सिलों में बदलने की गारन्टी दी थी। सन् १९३१ तक यह मान दोनों देशों में प्रचलित रहा, परन्तु इस वर्ष इङ्गलैंड ने इसका परित्याग किया। भारत ने इङ्गलैंड का अनुकरण किया और धीरे-धीरे संसार के सभी देशों ने स्वर्णमान प्रणाली तोड़ दी। संयुक्त राज्य अमरीका ने सन् १९३३ तक स्वर्णमान चलाया। फ्रांस ने सबसे अन्त में इसका परित्याग किया और सन् १९३६ तक इसे निभाया, परन्तु सन् १९३६ के पश्चात् यह मान संसार से उठ खड़ा हुआ।

स्वर्ण-पाट-मान के लाभ—

स्वर्ण-पाट-मान को कुछ लेखकों ने कुछ दिशाओं में स्वर्ण-चलन मान से भी अच्छा बताया है। कहा जाता है कि इस मान में स्वर्ण-चलन-मान के सभी गुणों के अतिरिक्त कुछ और भी लाभ होते हैं।

(१) स्वर्ण के उपयोग में मितव्ययिता—इसके अन्तर्गत सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता, जिसके तीन प्रत्यक्ष लाभ होते हैं :—प्रथम, सिक्कों के मुद्रण का व्यय बच जाता है। दूसरे, प्रचलन के अन्तर्गत घिसावट द्वारा सोने का नाश नहीं होता है। तीसरे, सोने के उपयोग में बचत होती है और देश का सारा सोना सोने के राष्ट्रीय सुरक्षित कोषों के काम आ जाता है।

(२) स्वर्ण का उपयोग सार्वजनिक हित के लिए—स्वर्ण-पाट-मान के समर्थक इस मान को इस कारण भी अधिक उपयुक्त बताते हैं कि इसमें सोना छोटे-छोटे व्यक्तिगत कोषों में जमा होने के स्थान पर सरकारी कोषागार अथवा देश की केन्द्रीय बैंक में एक साथ जमा हो जाता है। इन लोगों का विचार है कि सोने के सिक्कों के प्रचलन और उनकी व्यक्तिगत जोड़ से कोई विशेष लाभ नहीं होता है। साधारण परिस्थितियों में सभी लोग पत्र-मुद्रा तथा सांकेतिक सिक्कों के ही उपयोग

को अधिक पसन्द करते हैं। केवल असाधारण परिस्थितियों में सोने के सिक्कों का उपयोग किया जाता है, परन्तु ऐसे काल में सरकारी कोष में ही सोने का जमा रहना अधिक अच्छा होता है। इससे एक ओर तो मुद्रा पर विश्वास बना रहता है और दूसरी ओर सोने के कोषों का व्यक्तिगत हितों के लिए उपयोग न होकर सामान्य तथा सार्वजनिक कल्याण के लिए उपयोग होता है।

(३) मुद्रा पद्धति में लोच—यह मान मुद्रा-पद्धति में लोच उत्पन्न करता है, क्योंकि चलन और सुरक्षित कोषों के बीच के अनुपात में परिवर्तन कर देने से बिना सोना प्राप्त किये अथवा खोये भी चलन की मात्रा में परिवर्तन किये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त थोड़े स्वर्ण-कोषों वाले देश भी बिना कठिनाई के स्वर्णमान के लाभ प्राप्त कर सकते हैं। संसार के विभिन्न देशों के बीच स्वर्ण-कोषों के असमान वितरण के होते हुए भी इस पद्धति द्वारा स्वर्ण-मान को भली-भाँति चालू रखा जा सकता है। निश्चय ही इस प्रणाली में स्वर्ण चलन मान की तुलना में बहुत कम स्वर्ण कोषों से काम चल सकता है।

(४) विनिमय दर की स्थिरता—विनिमय दरों की स्थिरता के लिए सोना प्रचलन में रहने की अपेक्षा मुद्रा-संचालक के पास निधि के रूप में होना अधिक उपयोगी होता है। इस दृष्टिकोण से भी स्वर्ण-पाट मान अधिक उपयुक्त है।

(५) स्वचालकता—स्वर्ण चलन मान पद्धति की भाँति स्वर्ण-पाट-मान में भी स्वचालकता का गुण होता है। स्वर्णमान के नियमों का पालन करने से इस मान पर भी बाहरी हस्तक्षेप का प्रभाव नहीं पड़ सकता, क्योंकि जिस समय मुद्रा की माँग कम होती है, उस समय लोग सोना खरीदते हैं, जिसके कारण स्वर्ण-कोषों में कमी आ जाती है और चलन की मात्रा के घट जाने के कारण चलन की पूर्ति फिर उसकी मांग के बराबर हो जाती है। जिस काल में मुद्रा की माँग अधिक होती है, उस काल में लोग सोना बेचते हैं, जिससे स्वर्ण-कोषों में वृद्धि होती है और चलन की मात्रा बढ़ जाने के कारण मुद्रा की पूर्ति भी बढ़ जाती है। इस प्रकार मांग और पूर्ति का समा-योजन हो जाने के कारण कीमत स्तर तथा विनिमय दरों की स्थिरता बनी रहती है और कोई भी त्रुटि स्वयं ही दूर हो जाती है।

स्वर्ण-पाट-मान के दोष—

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इसी मान को आदर्श मान समझा गया था, क्योंकि संसार में सोने की मात्रा इतनी नहीं थी कि युद्ध-कालीन मुद्रा विस्तार को बनाये रखते हुए भी स्वर्णमान को उसके पुराने रूप में ग्रहण किया जा सके। परन्तु इस मान में कुछ गम्भीर दोष भी हैं और शायद इन्हीं दोषों के कारण पुनः स्थापना के ६ वर्ष के भीतर ही स्वर्णमान पद्धति भङ्ग हो गई। प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) केवल अनुकूल परिस्थितियों का मान—स्वर्ण-चलन मान की भाँति

यह मान भी साधारण परिस्थितियों के ही लिए उपयुक्त है। विशेष परिस्थितियों अथवा संकटकाल में इसे बनाये रखने में भी कठिनाई होती है।

(२) जनता का कम विश्वास—इस मुद्रा-मान पर जनता का विश्वास स्वर्ण-चलन-मान की अपेक्षा कम होता है। देश की मुद्रा सोने से परोक्ष रूप में ही सम्बन्धित होती है। स्वर्ण-चलन मान की भांति सोना सामने उपस्थित नहीं होता। सामने तो कागज के नोट और सांकेतिक सिक्के होते हैं। केवल इन सिक्कों को बदल कर सोना प्राप्त किया जा सकता है।

(३) सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता—स्वर्ण-चलन-मान की अपेक्षा इस पद्धति में सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता अधिक पड़ती है, जिसके कारण भूत तथा धोखे के लिए अधिक अवकाश रहता है और उनका प्रभाव भी पूर्ण रूप में दूर नहीं किया जा सकता है।

(४) अधिक व्ययपूर्ण—यह प्रणाली अधिक व्ययपूर्ण होती है। एक ओर तो इसमें भी सोना सुरक्षित कोषों में बेकार पड़ा रहता है और दूसरी ओर साख-मुद्रा पर नियन्त्रण रखने तथा मुद्रा का प्रबन्ध करने के लिए काफी निरीक्षण तथा व्यय की आवश्यकता पड़ती है।

स्वर्णमान के कुछ और भी रूप हो सकते हैं, जो इस प्रणाली की अपेक्षा अधिक मितव्ययी होते हैं और इससे भी कम स्वर्ण-कोषों की सहायता से चलाये जा सकते हैं, मुख्यतया स्वर्ण-विनिमय-मान (Gold Exchange Standard) एक ऐसा ही मान है।

स्वर्ण-चलन-मान तथा स्वर्ण-पाटमान की तुलना—

दोनों के प्रमुख भेद निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायेंगे :—

स्वर्ण चलन-मान	स्वर्ण-पाट-मान
(१) सोने का उपयोग विनिमय माध्यम तथा मूल्यमान दोनों ही के रूप में किया जाता है।	(१) सोने का उपयोग केवल मूल्य-मान के रूप में किया जाता है, वह विनिमय का माध्यम नहीं होता।
(२) सोने के सिक्के प्रचलित होते हैं और सोने का मुद्रण स्वतन्त्र होता है।	(२) सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता है और उनकी स्वतन्त्र ढलाई का तो प्रश्न ही नहीं उठता है।
(३) देश में प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा का प्रचलन होता है और सरकार पत्र मुद्रा को असीमित मात्रा में स्वर्ण में बदल देने की गारन्टी देती है। कोई	(३) देश में परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का चलन होता है, जिसे सरकार नियत कीमतों पर सोने में बदलने का वचन देती है, परन्तु व्यवहार में

भी व्यक्ति किसी भी मात्रा में सरकार से सोना खरीद सकता है।	सोने की एक न्यूनतम मात्रा निश्चित कर दी जाती है और उससे कम मात्रा में सरकार किसी भी व्यक्ति को सोना नहीं बेचती है।
(४) सोना घरेलू आवश्यकता तथा विदेशी भुगतान दोनों ही के लिए मिल सकता है।	(४) सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से किसी भी उद्देश्य के लिए सोना खरीदा जा सकता है, परन्तु व्यवहार में वह विदेशी भुगतानों के लिए ही दिया जाता हैं।
(५) यह प्रणाली लगभग स्वचालक होती है और बिना सरकारी हस्पक्षेप के चालू रह सकती है।	(५) स्वचालकता का गुण एक अंश तक इस प्रणाली में भी होता है, परन्तु सरकारी हस्तक्षेप बहुधा आवश्यक होता है।
(६) इस पद्धति में देश के भीतर कीमतों की स्थिरता पर अधिक जोर दिया जाता है।	(६) इस प्रणाली में विनिमय दरों की स्थिरता पर अधिक जोर दिया जाता है।

(III) स्वर्ण-विनिमय-मान
(Gold Exchange Standard)

इस मुद्रा मान का प्रचलन भी प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ही अधिक रहा है, यद्यपि भारत तथा कुछ अन्य देशों में इस प्रकार का स्वर्णमान २० वीं शताब्दी के आरम्भ में ही स्थापित हो गया था। इस स्वर्णमान में केन्द्रीय बैंक अथवा मुद्रा अधिकारी का यह उत्तरदायित्त्व नहीं होता कि वह देश के चलन को स्वर्ण में बदले। उसका उत्तरदायित्त्व केवल इतना होता है कि देश के चलन को किसी दूसरे ऐसे चलन में परिवर्तन करने का विश्वास दिलाया जाय जो कि स्वयं स्वर्ण में परिवर्तनशील हो। इस प्रकार *स्वर्ण-विनिमय-मान से देश के चलन का सोने से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता, परन्तु देश के चलन को एक निश्चित विनिमय दर पर किसी ऐसी विदेशी मुद्रा से जोड़ दिया जाता है जो स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है। सरकार का कर्त्तव्य केवल यह होता है कि निश्चित विनिमय दर पर ऐसी विदेशी मुद्रा की सम्पूर्ण मांग को पूरा करती रहे। देश की सरकार देशी मुद्रा के बदले में सोना नहीं बेचती है, परन्तु देश की मुद्रा को विदेशी मुद्रा में बदल कर उस मुद्रा के बदले में विदेश की केन्द्रीय बैंक से सोना खरीदा जा सकता है। इस प्रकार देश की मुद्रा परोक्ष रीति से सोने में बदली जा सकती है।* यह मान साधारणतया निर्धन देशों द्वारा ग्रहण किया जाता है, जिनके पास सोना बहुत ही कम होता है।

स्वर्ण विनिमय मान के रूप—

स्वर्ण-विनिमय-मान के दो रूप संसार में दृष्टिगोचर हुए हैं—(१) कुछ देशों ने देश के भीतर स्वर्ण-कोष बिल्कुल नहीं रखे थे और वे अपनी स्वर्ण सम्बन्धी सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विदेशी स्वर्ण-कोषों पर निर्भर रहते थे। (२) इसके विपरीत कुछ देश अपने सुरक्षित कोषों को विदेशी विनिमय अथवा विदेशी रोकों के रूप में विदेशों में रखते थे। दूसरे प्रकार के स्वर्णमान को कुछ अर्थ-शास्त्री स्वर्ण-विनिमय-मान स्वीकार करने से इन्कार करते हैं, परन्तु व्यवहार में दोनों को ही स्वर्ण-विनिमय-मान का नाम दिया जाता है। इस पद्धति की विशेषताएं निम्न प्रकार हैं:—

स्वर्ण-विनिमय-मान की विशेषतायें—

(१) देश में न तो सोने के सिक्कों का प्रचलन होता है और न प्रतिनिधि तथा परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का। अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा, सांकेतिक सिक्के तथा तुच्छ धातुओं के सिक्के चलन में रहते हैं।

(२) देश की प्रामाणिक मुद्रा को एक निश्चित दर पर किसी ऐसे देश की मुद्रा से जोड़ दिया जाता है जो स्वर्ण-चलन-मान अथवा स्वर्ण-पाट-मान को ग्रहण करता है। इस प्रकार परोक्ष रूप में देशी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण द्वारा निर्धारित होता है।

(३) सिद्धान्त में तो मुद्रा-नियन्त्रक देश की पत्र-मुद्रा को एक निश्चित दर पर सोने अथवा विदेशी विनिमय में परिवर्तित करने का उत्तरदायी होता है, परन्तु व्यवहार में सोना केवल विदेशी भुगतानों के लिए ही दिया जाता है और वह भी विदेशी विनिमय के ही रूप में।

(४) विदेशों से सोने में अथवा किसी स्वीकृत विदेशी मुद्रा में भुगतान लिए जाते हैं।

(५) सोने का उपयोग न तो विनिमय माध्यम के रूप में किया जाता है और न मूल्यमान के रूप में, परन्तु परोक्ष रूप में सभी प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें सोने की कीमतों द्वारा ही निश्चित होती हैं।

भारत ने सन् १९०० में इस मान को ग्रहण किया था। भारतीय रुपए को ब्रिटिश पौंड से जोड़ दिया गया था और भारतीय रुपए की विनिमय दर १ शिलिंग ४ पैंस प्रति रुपया रखी गई थी। सन् १९१७ तक यह मान सफलतापूर्वक चालू रहा था, यद्यपि सन् १९१४ के पश्चात् भारत सरकार ने बड़ी कठिनाई के साथ इसे निभाया था। सन् १९१७ से सन् १९२० तक स्वर्ण-विनिमय-मान को स्थगित कर दिया गया था। सन् १९२० में २ शिलिंग प्रति रुपए की विनिमय दर पर भारत सरकार ने इस मान को फिर स्थापित करने का प्रयत्न किया, परन्तु यह प्रयत्न असफल रहा। भारत में स्वर्ण-विनिमय-मान की असफलता का प्रमुख कारण चाँदी की कीमतों का भारी उतार-चढ़ाव था। स्वर्ण-विनिमय-मान वाले अन्य देशों में डेनमार्क का नाम विशेषतया

उल्लेखनीय है। इस देश ने भी अपने चलन को एक निश्चित विनिमय दर पर ब्रिटिश पौंड के साथ जोड़ रखा था।

स्वर्ण विनिमय मान तथा स्वर्ण-पाट-मान की तुलना—

निम्न तालिका दोनों प्रकार के मानों के भेद को स्पष्ट करती है:—

स्वर्ण-पाट-मान	स्वर्ण विनिमय मान
(१) इस मान में सोने के सिक्के तो प्रचलन में नहीं होते हैं और सोना विनिमय के माध्यम का भी काम नहीं करता, परन्तु मूल्यमान के रूप में सोने का उपयोग अवश्य होता है।	(१) सोने का उपयोग न तो विनिमय के माध्यम के रूप में होता है और न मूल्य-मान के रूप में। सोने के सिक्कों के प्रचलन का तो प्रश्न ही नहीं उठता है।
(२) देश की मुद्रा निर्धारित दरों पर सोने में परिवर्तनशील होती है अर्थात् देश में परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का प्रचलन होता है।	(२) देश की मुद्रा को सोने में बदलने की किसी भी प्रकार की गारन्टी सरकार नहीं देती है। देश में अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का प्रचलन होता है।
(३) मुद्रा की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता बनाये रखने के लिऐ सरकार सोने के संचित कोष रखती है, यद्यपि ऐसे स्वर्ण कोषों की कीमत कुल पत्र-मुद्रा की कीमत से कम होती है। ।	(३) क्योंकि पत्र-मुद्रा को सोने में बदलने का कोई उत्तरदायित्व नहीं होता, इसलिए सरकार के लिए स्वर्ण कोषों का रखना आवश्यक नहीं है। सरकार केवल इतनी गारन्टी देती है कि निश्चित विनिमय दर पर देश की मुद्रा एक ऐसे देश की मुद्रा से बदल दी जायगी जोकि स्वयं स्वर्ण में परिवर्तनशील हो।
(४) सरकार निश्चित कीमत पर असीमित मात्रा में सोना खरीदने और बेचने की गारन्टी देती है।	(४) इस प्रकार की गारन्टी का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि सरकार का सोना खरीदने और बेचने का कोई भी उत्तरदायित्व नहीं है।
(५) प्रत्यक्ष रूप में देशी चलन स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है।	(५) देशी चलन केवल परोक्ष रूप में अर्थात् किसी अन्य चलन के माध्यम से ही स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है।

स्वर्ण विनिमय मान तथा स्वर्ण चलन मान—

स्वर्ण विनिमय मान का उपयोग स्वर्ण चलन मान के उपयोग से बहुत पीछे आरम्भ हुआ था। वास्तविकता यह है कि उन देशों ने, जिनके सोने के कोष इतने कम थे कि वे स्वर्ण चलन मान तो क्या स्वर्ण-पाट मान भी स्थापित नहीं कर सकते थे, उन्होंने स्वर्ण विनिमय मान को अपनाया। स्वर्ण चलन मान की तुलना में स्वर्ण विनिमय मान एक सस्ता परन्तु निम्न श्रेणी का स्वर्णमान है। दोनों के अन्तर निम्न प्रकार हैं:—

स्वर्ण चलन मान	स्वर्ण विनिमय मान
(१) सोने का उपयोग विनिमय माध्यम तथा मूल्य-मान दोनों ही रूपों में होता है।	(१) सोने का उपयोग दोनों में से किसी भी रूप में नहीं होता।
(२) सोने के सिक्के प्रचलन में होते हैं और इनका मुद्रण स्वतन्त्र होता है।	(२) सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता।
(३) देश की पत्र-मुद्रा प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा होती है, जिसे असीमित मात्रा में सोने में बदलने की गारन्टी दी जाती है।	(३) देश में अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का प्रचलन होता है। सरकार न तो सोने के कोष जमा करती है और देश की मुद्रा को स्वर्ण के स्थान पर केवल किसी विदेशी मुद्रा में बदलने की गारन्टी देती है।
(४) यह प्रणाली बिना सरकारी हस्तक्षेप के चालू रहती है। इसमें स्वचालकता का महान् गुण होता है और त्रुटियों को स्वयं दूर कर लेने की क्षमता होती है।	(४) इस प्रणाली के चालू रखने के लिए सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक होता है। यह अपनी त्रुटियों को स्वयं दूर नहीं कर पाती।
(५) इस प्रणाली में देश के भीतर कीमतों की स्थिरता पर अधिक जोर दिया जाता है।	(५) इस प्रणाली में केवल विनिमय दर की स्थिरता बनाये रखने का प्रयत्न किया जाता है।
(६) मुद्रा प्रणाली पूर्णतया स्वतन्त्र होती है।	(६) मुद्रा प्रणाली आधार-देश (Planet Country) अर्थात् वह देश जिसकी चलन से देश की चलन जोड़ी गई है, की मुद्रा प्रणाली पर आश्रित होती है।

स्वर्ण-विनिमय-मान के लाभ—

स्वर्ण-विनिमय-मान को सबसे मितव्ययी स्वर्णमान कहा जाता है। इस मान के तीन प्रमुख लाभ हैं :

(१) एक निर्धन देश के लिए भी उपयुक्त—एक निर्धन देश, जिसके पास सोना बहुत ही कम है, इसके द्वारा स्वर्णमान के सभी लाभ प्राप्त कर सकता है। किसी शक्तिशाली स्वर्ण-मुद्रा के साथ देश की मुद्रा को जोड़कर तथा विदेशी विनिमय दर पर नियन्त्रण रखकर विदेशी विनिमय दर की स्थिरता प्राप्त की जा सकती है। साथ ही, यदि विदेशी मुद्रा को सावधानीपूर्वक चुना जाय, तो विदेशी भुगतानों के सम्बन्ध में किसी प्रकार की कठिनाई का भय नहीं रहता।

(२) मितव्ययितापूर्ण—यह मान इस दृष्टिकोण से मितव्ययितापूर्ण है कि इसमें सोने के आयात और निर्यात का खर्च बच जाता है। सोना न तो बाहर भेजा जाता है और न बाहर से मँगाया जाता है, इसलिए सोने को पैक करने, उसके याता-यात तथा उसके बीमे का व्यय बच जाता है। इसी प्रकार क्योंकि देश में सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता है, इसलिए सिक्कों की घिसावट द्वारा भी हानि का भय नहीं रहता। साथ ही, सोना सुरक्षित कोषों में व्यर्थ नहीं पड़ा रहता है, क्योंकि उसका उपयोग मुद्रा के अतिरिक्त अन्य कार्यों के लिए किया जा सकता है।

(३) सरकार को लाभ—देश की सरकार बहुधा इसके द्वारा लाभ भी कमाती है। विदेशों में जो निक्षेप रखे जाते हैं तथा जो विनिमय किये जाते हैं उनसे ब्याज प्राप्त होती है। देश की सरकार विदेशी विनिमय खरीदने तथा बेचने की दरों में अन्तर रखकर भी लाभ कमाती है। इसके अतिरिक्त स्वर्णमान संचालन सम्बन्धी सारी की सारी जिम्मेदारी विदेशी सरकार के ऊपर रहती है। देशी सरकार तो केवल विदेशी विनिमय दर की स्थिरता पर ही ध्यान देती है।

स्वर्ण विनिमय की कार्य विधि—

स्वर्ण-विनिमय-मान के संचालन की कार्य-विधि का संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है—

इस मान में संकुचित सीमाओं के भीतर विदेशी विनिमय दरों में परिवर्तन होने दिए जाते हैं। स्वर्ण-निर्यात बिन्दु (Gold Export Point) पर मुद्रा-नियन्त्रक विदेशी विनिमय खरीदता है और स्वर्ण-आयात बिन्दु पर उसे बेचता है, यद्यपि दोनों ही दशाओं में स्वर्ण की बिक्री तथा खरीद असीमित होती है। जब विदेशी विनिमय खरीदा जाता है तो देशी चलन की मात्रा बढ़ती है और जब विदेशी विनिमय बेचा जाता है तो देशी चलन का संकुचन होता है, क्योंकि देशी मुद्रा के पीछे सबसे बड़ी आड़ विदेशी विनिमय कोषों की होती है। इस प्रकार देशी मुद्रा की पूर्ति में विदेशी व्यापार तथा विदेशी विनियोगों के परिवर्तनों के अनुसार कमी या वृद्धि होती

रहती है। सोने को भेजने और मंगाने का व्यय नहीं होता और विदेशी रोकों से आय प्राप्त होती है, अतः इस सम्बन्ध में भी व्यय कम होता है।

स्वर्ण-विनिमय-मान के दोष—

स्वर्ण-विनिमय-मान की सबसे बड़ी कमी यह होती है कि इसमें सोने के एक ही सुरक्षित कोष पर कई देशों की मुद्राएँ आधारित होती हैं। इस कारण यह मान मितव्ययितापूर्ण तो अवश्य होता है, परन्तु भय यह रहता है कि कहीं सोने की यह सीमित मात्रा स्वर्णमान सम्बन्धी सभी कार्यों को सम्पन्न करने के लिए अपर्याप्त न हो। इसके अतिरिक्त इस मान के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) देश के चलन की विदेशी चलन पर निर्भरता—स्वर्ण-विनिमय-मान के सफल संचालन के लिए विदेशों में लम्बी-चौड़ी रोकों की आवश्यकता होती है। यह व्यवस्था वैसे तो सस्ती और सुविधाजनक होती है, परन्तु यह संकट से खाली नहीं होती। यदि आधार देश (Planet Country) ही स्वर्णमान का परित्याग करता है तो उसके पीछे लगे हुए सभी देश कुछ भी नहीं कर सकते और उनकी मुद्राओं की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता स्वयं ही समाप्त हो जाती है। सन् १९३१ में इङ्गलैण्ड द्वारा स्वर्णमान के परित्याग के पश्चात् ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो गई थी। इस प्रकार यह मान देश के व्यापार, विनियोग आदि को विदेशी सरकार की नीति का दास बना देता है।

(२) आधार देश की मुद्रा प्रणाली को खतरा—अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से यह मान आधार देश (Planet Country) की मुद्रा-प्रणाली को असुरक्षित बना देता है। आधार देश के पास सोने का कोष तो सीमित ही होता है, परन्तु उस कोष पर आधार देश के अतिरिक्त उन सभी गौण देशों का भी अधिकार रहता है, जिन्होंने अपनी मुद्रा आधार देश की मुद्रा से जोड़ रखी है। ऐसी दशा में यह सम्भव है कि विभिन्न सूत्रों से सोने की माँग इतनी अधिक आ जाय कि आधार देश की मुद्रा-प्रणाली ही संकट में पड़ जाय।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों के सन्तुलन में कठिनाई—इस मान के अन्तर्गत तरल आदेयों (Liquid Assets) का एक देश से दूसरे को उतनी सुगमता तथा उतनी मात्रा में हस्तान्तरण नहीं होता है जितना कि स्वर्णमान के अन्तर्गत सोने का होता है, जो सबसे तरल आदेय है। इस कारण अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों के सन्तुलन की स्थापना में कठिनाई होती है। यदि यह हस्तान्तरण ठीक-ठीक होता रहता है तो तरल साधनों का विभिन्न देशों के बीच ऐसा समुचित वितरण हो जाता है कि विभिन्न देशों की आन्तरिक कीमतों में साम्य स्थापित हो जाता है और वे एक दूसरे की लय में लय मिला कर बढ़ती-घटती हैं।

हिल्टन यंग आयोग ने भारत में स्वर्ण-विनिमय-मान के व्यावहारिक कार्य-

वाहन की जाँच की थी, जिसके पश्चात् आयोग ने भारत में इस मान के निम्न दोष बताये थे :—

(१) यह प्रणाली *कठिन तथा अत्याधिक सैद्धान्तिक है* और जन-साधारण की समझ से बहुधा बाहर होती है। ऐसी प्रणाली के प्रति जनता का विश्वास प्राप्त करना कठिन होता है। जनता मुद्रा-नियन्त्रक को सदा शंका की दृष्टि से देखती है और उसके साथ सहयोग नहीं करती है।

(२) भारत में इस प्रणाली के अन्तर्गत *कोषों की अधिकता* थी। तीन प्रकार के सुरक्षित-कोष अर्थात् स्वर्णमान-कोष, पत्र-मुद्रा-कोष तथा भारत सरकार की रोकें, जो भारत और इङ्गलैण्ड दोनों में रखी जाती थीं।

(३) यह प्रणाली *स्वचालक नहीं* होती है। इसका कार्यवाहन बड़े अंश तक मुद्रा-नियन्त्रक की इच्छा पर निर्भर रहता है।

(४) इसमें *लोच नहीं* होती है। देश में चलन का विस्तार करने में तो विशेष कठिनाई नहीं होती है, परन्तु चलन का संकुचन लगभग असम्भव ही होता है।

(५) एक गम्भीर दोष यह भी होता है *कि देश का चलन विदेशी चलन पर आश्रित* हो जाता है और विदेशी सरकार की इच्छा, भूल तथा उसके दुर्भाग्य का देश को भी शिकार बनना पड़ता है।

(IV) स्वर्ण-निधि-मान
(Gold Reserve Standard)

यह मान स्वर्णमान का ही एक परिवर्तित रूप है, जो सन् १९३६ से लेकर सितम्बर सन् १९३९ तक कुछ देशों में प्रचलित रहा। सन् १९३६ में फ्रान्स ने भी स्वर्णमान का परित्याग कर दिया था। उस समय विनिमय दरों की स्थिरता को बनाये रखने के लिए बेल्जियम, फ्रान्स, इङ्गलैंड, हॉलैण्ड, स्विटरलैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमरीका के बीच एक समझौता हुआ, जिसके आधार पर जो मुद्रा प्रणाली स्थापित हुई उसे 'स्वर्ण निधिमान' की संज्ञा दी जा सकती है। *इस समझौते की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित थीं :—*

(१) सोने का आयात-निर्यात केवल सरकार द्वारा—एक देश से दूसरे देश को सोने का आवागमन हो सकता था। इन देशों में किसी भी प्रकार का स्वर्ण-मान चालू न था, अतः यह आवागमन केवल मुद्रा सम्बन्धी कार्यों में उपयोग होने वाले सोने का ही हो सकता था। व्यापारियों को सोना मँगाने अथवा भेजने का अधिकार न था। दूसरे शब्दों में, सोने के आयात और निर्यात का एकाधिकार केवल सरकारों के हाथ में था।

(२) विनिमय समानीकरण कोषों की स्थापना—सभी देशों ने विनि-

मय समानीकरण कोषों (Exchange Equalisation Funds) का निर्माण कर रखा था। इन कोषों को कभी-कभी विनिमय समातुलन लेखे (Exchange Equalisation Account), विनिमय कोष (Exchange Funds) तथा 'नियन्त्रण' (Control) भी कहा जाता था। विनिमय पर सरकारी एकाधिकार था। कुल विदेशी विनिमय को एक कोष में रखा जाता था और इस कोष का संचालन प्रत्येक देश की केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता था। प्रत्येक कोष के पास देश की मुद्रा का एक भारी संचय होता था और इनमें से कुछ के पास सोना भी काफी मात्रा में रहता था। उद्देश्य यह था कि यदि किसी चलन की विदेशी विनिमय बाजार में असाधारण रूप में अधिक माँग होती थी तो कोष विशेष उसे आवश्यक मात्रा में देकर विनिमय दरों के परिवर्तन को रोक सकता था, परन्तु यदि कोष विशेष विदेशी मुद्राओं का अत्यधिक संचय नहीं करना चाहता था तो व्यवस्था यह थी कि प्रत्येक कोष अपने देश की मुद्रा के बदले में दूसरे कोष को सोना दे देता था।

इस प्रकार के कार्य की आवश्यकता निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी :— मान लीजिए कि ब्रिटिश कोष ऐसा अनुभव करता है कि उसका डालर संचय बहुत अधिक हो गया है तो ऐसी दशा में वह अमरीकन 'नियन्त्रण' को सूचना दे देगा कि वह और अधिक डालर का संचय नहीं करेगा। अब क्योंकि विभिन्न समानीकरण कोषों के प्रबन्धकों के बीच यह समझौता होता है कि प्रत्येक अपने चलन के बदले में दूसरे कोष को सोना दे देता है तो अमरीकन कोष डालर लेकर उसके बदले में ब्रिटिश कोष को उनकी कीमत का सोना दे देगा।

[विनिमय समानीकरण कोषों में वह सोना जमा रहता है जो वे दूसरे कोषों से खरीदते थे। एक देश के कोष से दूसरे देश के कोष में सोने का हस्तान्तरण होता रहता था, इसलिए इस प्रणाली का नाम स्वर्ण-निधि पद्धति पड़ा।]

(३) इस प्रणाली की प्रमुख विशेषता यह थी कि इसके द्वारा ब्याज की दर में परिवर्तन किये बिना तथा देश की आन्तरिक अर्थव्यवस्था में किसी प्रकार के हस्तक्षेप के बिना ही विदेशी विनिमय-दर की स्थिरता प्राप्त की जा सकती थी। जब तक यह प्रणाली चालू रही, विदेशी मुद्राओं में सोने का मूल्य स्थायी बना रहा। इस प्रणाली में गुण यह होता है कि देश के चलन में सोने की कीमतों को नियत करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

(४) जनता को यह पता नहीं चलता था कि कोई कोष क्या खरीद रहा है, अथवा क्या बेच रहा है? यह भी एक रहस्य होता था कि समय विशेष में किसी कोष के पास विभिन्न मुद्राओं की कितनी-कितनी मात्रा रहती थी।

दूसरे महायुद्ध के आरम्भ तक तो यह प्रणाली सफलतापूर्वक चलती रही, परन्तु यह युद्ध की भीषण परिस्थितियों की चोट न सह सकी और टूट गई। युद्ध काल में विनिमय दरों की स्थिरता के लिए विनिमय-नियन्त्रण (Exchange

Control) की नीति को सफल बनाने के लिए नये-नये उपायों का अपनाना आवश्यक हो गया।

(५) स्वर्ण समता प्रणाली (Gold Parity Standard)—

इस प्रकार का स्वर्णमान सन् १९४६ से, जिस समय से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) ने अपना कार्य आरम्भ किया है, आरम्भ हुआ है। इस दृष्टिकोण से हम इसे स्वर्णमान का नवीनतम् रूप कह सकते हैं। *इस मान के अन्तर्गत देश की मुद्रा प्रणाली में स्वर्ण का स्थान इतना कम महत्त्वपूर्ण होता है कि रूढ़िवादी अर्थशास्त्री इस मान को स्वर्णमान स्वीकार करने में भी संकोच करते हैं*, परन्तु शायद यह कहना अनुचित न होगा कि यह स्वर्णमान का आधुनिकतम रूप है और चाहे इसमें स्वर्ण का स्थान कितना ही कम महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, विभिन्न देशों की मुद्राओं की एक दूसरे में विनिमय दर स्वर्ण के माध्यम से ही स्थापित होती है। *अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सभी सदस्य देशों को अपने चलन की कीमत स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा के बराबर घोषित करनी पड़ती है और इस आधार पर इन चलनों की पारस्परिक विनिमय दर निश्चित हो जाती है। इसके पश्चात् प्रत्येक देश का यह उत्तरदायित्व होता है कि स्वर्ण में देश के चलन की जो कीमत घोषित की गई है उसे बनाये रखे। इससे विनिमय दरों की स्थिरता बनी रहती है।*

विशेषतायें—

(१) यह मान उन सभी देशों में प्रचलित समझा जाता है जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य हैं। (२) ऐसे मान में सोने के सिक्कों के प्रचलन का प्रश्न तो दूर रहा, स्वर्ण न तो मूल्य-मान के रूप में रहता है और न विनिमय-माध्यम के रूप में। (३) इस मान को अपनाने वाले प्रत्येक देश को देश के अन्दर मौद्रिक मामलों में पूरी स्वतन्त्रता होती है। (४) एक देश की मौद्रिक नीति का दूसरे देश की मौद्रिक नीति से कोई भी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सम्बन्ध नहीं होता है। मौद्रिक क्षेत्र सम्बन्धी सहयोग केवल विनिमय दरों की स्थिरता को बनाये रखने के लिए होता है। (५) यह मान वास्तव में एक बड़ा लोचदार मान है, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के नियमानुसार सदस्य देशों को विशेष परिस्थितियों में विनिमय दरों में परिवर्तन करने का भी अधिकार प्राप्त है। (६) इसके अतिरिक्त स्वयं मुद्रा कोष भी विनिमय दरों की स्थिरता को बनाये रखने के लिए सदस्य देशों को ऋण देता है। [विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय २२ देखिए]।

स्वर्णमान के नियम (The Rules of the Gold Standard)—

स्वर्णमान में स्वचालकता का गुण बताया जाता है, परन्तु यह गुण तभी प्राप्त होता है जबकि स्वर्णमान के कुछ नियमों का पालन किया जाय। इन नियमों को

कभी-कभी खेल के नियम (Rules of the Game) भी कहा जाता है। ये नियम इस प्रकार हैं :—

(१) स्वतन्त्र व्यापार नीति का अपनाना—स्वर्णमान के सफल संचालन के लिए यह आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध न लगाये जायें। संरक्षण, आर्थिक राष्ट्रीयवाद, कोटा (Quota) तथा अन्य व्यापारिक नियन्त्रण इस मान के लिए अहितकर हैं। वस्तुओं के आयात और निर्यात् पर प्रतिबन्ध लगाने का परिणाम यह होता है कि व्यापाराशेष में ठीक दिशाओं में परिवर्तन नहीं होने पाते हैं, जिसके कारण आयात और निर्यात के सन्तुलन में बाधा पड़ती है। स्वतंत्र व्यापार का अर्थ यह भी होता है कि प्रत्येक स्वर्णमान देश में सोने का आयात और निर्यात भी स्वतन्त्र होना चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि संसार के विभिन्न स्वर्णमान देशों के बीच सोने का वितरण इस प्रकार हो जाता है कि प्रत्येक को आवश्यकतानुसार सोना मिल जाता है। इसके अतिरिक्त व्यापाराशेष की त्रुटियाँ भी स्वर्ण के आयात और निर्यात द्वारा ठीक हो जाती हैं। मुद्रा का विस्तार अथवा संकुचन स्वर्ण-कोषों की मात्रा पर निर्भर होता है और आयात-निर्यात द्वारा स्वर्ण कोषों में परिवर्तन हो जाने के कारण कीमत-स्तर इस प्रकार परिवर्तित हो जाता है कि विदेशी व्यापार का सन्तुलन बना रहे। इस प्रकार स्वर्णमान के इस नियम का पालन करने से विदेशी व्यापार का असन्तुलन तथा सोने के वितरण की असमानता स्वयं ही ठीक हो जाते हैं।

(२) स्वर्ण कोषों के अनुपात में मुद्रा को घटाना-बढ़ाना - स्वर्णमान का दूसरा नियम यह है कि स्वर्ण के आवागमन के कारण देश के मूल्य-स्तर पर जो प्रभाव पड़ता है उसमें मुद्रा-नियन्त्रक को किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। यदि सोना देश से बाहर जाता है तो स्वर्ण कोष की कमी के अनुपात में मुद्रा की मात्रा को घटाकर कीमतों को गिरने देना चाहिये। यदि मुद्रा-संकुचन के भय से मुद्रा-संचालक कीमतों को गिरने से रोक देता है तो देश के निर्यातों को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा और आयातों के निर्यातों से अधिक रहने के कारण सोना देश से बराबर बाहर जाता रहेगा। ठीक इसी प्रकार यदि सोना बाहर से आ रहा है तो कीमतों को उसी के अनुपात में बढ़ने देना चाहिये, अन्यथा आयात-निर्यात सन्तुलन स्थापित नहीं हो पायेगा। साथ ही, यह भी आवश्यक है कि मुद्रा-संचालक जनता को उसकी माँग के अनुसार सोना देने को तैयार रहे। इसी प्रकार जितना भी सोना देश के भीतर आता है उसे लेने के लिए और उसे चलन का आधार बनाने के लिए भी मुद्रा-संचालक को तैयार रहना चाहिये। स्वर्ण को मुद्रा में और मुद्रा को स्वर्ण में निर्बान्ध परिवर्तन-शील होना चाहिये।

(३) राजनैतिक स्थिरता—देश में पूर्ण शान्ति रहनी चाहिए। देश के अन्दर के झगड़े लोगों में अशान्ति का वातावरण पैदा कर देते हैं। इस कारण बैंकों के काम में बाधा पड़ती है। लोग वहाँ से मुद्रा निकालने के लिए जाते हैं और

फिर मुद्रा को गाढ़ कर रखने की प्रवृत्ति हो जाती है। इससे स्वर्णमान को धक्का लगता है। इसलिए यह आवश्यक है कि स्वर्ण-मान देश की सरकार शान्ति और सुरक्षा बनाये रखे।

स्वर्णमान पर एक ऐतिहासिक दृष्टि

१९ वीं शताब्दी में द्वि-धातुमान स्थापित करने के अनेक प्रयत्न किये गये, परन्तु इस सम्बन्ध में कठिनाइयाँ इतनी हुईं कि ये प्रयत्न फलीभूत न हो सके। चांदी की कीमतों में परिवर्तन इतने अधिक हुए कि रजत-मान ग्रहण करना असम्भव हो गया। इस काल में स्वर्णमान का ही जोर अधिक रहा। इस शताब्दी में सोने की कीमतों की स्थिरता के कारण, सोने के अधिक मूल्यवान धातु होने के कारण, सोने की पूर्ति काफी होने के कारण और सोने के वार्षिक उत्पादन की कमी के कारण सोना ही मूल्यमान के रूप में अधिक उपयुक्त समझा गया था। संसार के सभी देशों की रुचि स्वर्णमान ग्रहण करने की ओर ही थी।

सन् १९१४ से पूर्व का स्वर्णमान—

प्रथम महायुद्ध के पूर्व सभी स्वर्णमान देशों में स्वर्ण-चलन मान ग्रहण किया गया था। इसके अन्तर्गत सोना विनिमय-माध्यम तथा मूल्य-मान दोनों ही का काम करता था। *सोने के सिक्के प्रचलन में रहते थे। विदेशी विनिमय का आधार भी सोना ही था।* विदेशी विनिमय दर दो चलनों की स्वर्ण खरीदने की शक्ति की समानता द्वारा निर्धारित होती थी और यद्यपि इस विनिमय दर में परिवर्तन हो सकते थे, परन्तु इन परिवर्तनों की सीमायें छोटी सी थीं। विदेशी विनिमय दर स्वर्ण आयात तथा स्वर्ण निर्यात बिन्दुओं (Gold Import and Export Points) के भीतर ही रहती थी। *स्वर्णमान के अन्तर्गत दो नियमों का पालन किया जाता था*:—(१) सोने के आयात-निर्यात स्वतन्त्र रखे जाते थे और (२) स्वर्ण-कोषों की मात्रा में परिवर्तन होने पर उन्हीं के अनुपात में चलन की मात्रा में भी परिवर्तन कर दिये जाते थे। ऐसा कहा जाता है कि इन नियमों का पालन करने के पश्चात् यह मान स्वचालक हो जाता था। बिना किसी प्रकार के हस्तक्षेप के यह स्वयं ही चलता रहता था। यदि देश के स्वर्ण-कोषों में कमी आ जाती थी तो इसी कमी के अनुपात में देश में मुद्रा भी कम हो जाती थी, जिसके कारण देश में वस्तुओं और सेवाओं की आन्तरिक कीमतें गिर जाती थीं। इसके द्वारा आयात हतोत्साहित होते थे तथा निर्यात बढ़ते थे और आगे चलकर व्यापाराशेष में इस प्रकार के परिवर्तन हो जाते थे कि आयात-निर्यात के सन्तुलन के अतिरिक्त गया हुआ सोना फिर लौट आता था। इसी प्रकार निर्यातों के बढ़ने की दशा में देश में सोने का आयात होता था, मुद्रा-विस्तार होता था, सामान्य कीमतें बढ़ती थीं और आयात प्रोत्साहित होते थे, जिसके फलस्वरूप पुराना साम्य पुनः स्थापित हो जाता था। विदेशों से आया हुआ सोना उन देशों को पुनः लौट जाता था।

इसी काल में कुछ देशों में स्वर्ण-मान का एक दूसरा रूप भी प्रचलित था, जिसे हम स्वर्ण-विनिमय-मान कहते हैं। इस पद्धति का उद्देश्य सोने के उपयोग में बचत करना होता था और यह साधारणतया ऐसे देशों द्वारा अपनाई जाती थी जिनके पास स्वर्ण-कोषों का अभाव था। इस प्रणाली में सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता था। देश की मुद्रा को एक नियत दर पर किसी शक्तिशाली विदेशी मुद्रा से, जो स्वर्ण पर आधारित होती थी, जोड़ दिया जाता था। सरकार को देशी चलन, विदेशी चलन तथा सोने का एक कोष बनाना पड़ता था और विदेशी व्यापार की सुविधा के लिए नियत दरों पर विदेशी विनिमय खरीदना और बेचना पड़ता था। यह प्रणाली भारत, जावा, हॉलैंड, डेनमार्क, आस्ट्रिया, हंगरी आदि देशों में प्रचलित थी। भारत में स्वर्ण-विनिमय-मान पद्धति सन् १९०७-८ में स्थापित की गई थी और यह सन् १९१७ तक चालू रही। उस समय भारत सरकार का यह वैधानिक उत्तरदायित्व था कि ऋणों का भुगतान सोने में करे। इस प्रणाली के अन्तर्गत आन्तरिक उपयोग के लिए चाँदी का रुपया प्रामाणिक मुद्रा थी, परन्तु विदेशी व्यापार ब्रिटिश स्टर्लिङ्ग द्वारा किया जाता था और सरकार एक निश्चित दर पर, अर्थात १ शिलिंग ४ पैंस प्रति रुपये के हिसाब से, रुपयों को स्टर्लिङ्ग में बदल देती थी।

प्रथम महायुद्ध के आरम्भ काल तक स्वर्णमान बिना किसी कठिनाई के चालू रहा। आन्तरिक कीमत-स्तर तथा विदेशी विनिमय दरें स्थिर बनी रहीं और विभिन्न देशों के बीच आर्थिक परिस्थितियों की भिन्नता होते हुए भी पारस्परिक मौद्रिक सहयोग बना रहा, परन्तु *युद्ध का आरम्भ होते ही इसमें कठिनाइयाँ उत्पन्न होने लगीं* और अधिकांश स्वर्णमान देशों ने सोने के सिक्के का मुद्रण बन्द कर दिया तथा सोने के निर्यात् पर प्रतिबन्ध लगाने आरम्भ कर दिये। प्रत्येक देश सोने का संचय करने लगा। सभी देशों ने स्वर्णमान को स्थगित करके वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति के लिये बिना स्वर्ण-कोषों पर ध्यान दिये कागज के नोट छापने आरम्भ कर दिये। अमरीका जैसे शक्तिशाली देश ने भी सोने के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिये। *परिणाम यह हुआ कि स्वर्णमान व्यवस्था टूट गई।*

युद्धोत्तर-कालीन स्वर्णमान (The Post-War Gold Standard)—

युद्ध का अन्त होते ही अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर स्वर्णमान को स्थापित करने का प्रयत्न फिर आरम्भ हुआ। इसके लिये सन् १९२० में ब्रूसेल्स (Brussles) में एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसने यह आदेश दिया कि जिन देशों ने स्वर्णमान को तोड़ दिया था वे उसे फिर से स्थापित कर दें। सन् १९२२ में एक अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ सम्मेलन हुआ, जिसने यह आदेश दिया कि आर्थिक पुर्ननिर्माण के लिए सभी देशों की मुद्राओं के मूल्य में स्थिरता का बनाये रखना आवश्यक था। स्वर्णमान की स्थापना में सबसे पहला कार्य संयुक्त राज्य अमरीका ने किया और सन् १९१९ में ही सोने के आयात-निर्यात सम्बन्धी प्रतिबन्ध हटा दिये। इसके पश्चात् सन् १९२५ में इङ्गलैण्ड तथा फ्रांस ने स्वर्णमान को पुनः

ग्रहण किया। सन् १९२७ में भारत में भी यह मान स्थापित हुआ। *स्वर्णमान को फिर से स्थापित करने का उद्देश्य यह था कि युद्ध से पहले जैसी सामान्य परि-स्थितियाँ उत्पन्न की जायँ।* इसके अतिरिक्त युद्धोत्तर काल में जर्मनी तथा अन्य यूरोपीय देशों ने भीषण मुद्रा-स्फीति के दुखद परिणाम देखे थे। उन्होंने भविष्य में इन परिणामों से बचने के लिए स्वर्णमान को पुनः स्थापित किया।

युद्ध के उपरान्त स्वर्णमान को पुनः स्थापित करने की समस्या विभिन्न देशों के सम्मुख विभिन्न रूपों में थी। अमरीका में सामान्य कीमतों में बहुत ही कम वृद्धि हुई थी, इसलिए उसने तो केवल स्वर्ण निर्यात सम्बन्धी प्रतिबन्धों को हटा कर स्वर्ण-मान को उसके प्राचीन आधार पर स्थापित कर दिया। इसी प्रकार उन देशों को भी स्वर्णमान स्थापित करने में कठिनाई नहीं हुई जिन पर युद्ध का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा था। स्विटजरलैण्ड, हॉलैण्ड, नार्वे तथा स्वीडन ऐसे ही देशों में से थे, परन्तु इङ्गलैण्ड तथा फ्रांस की स्थिति भिन्न थी। वहाँ पत्र-मुद्रा का विस्तार बहुत हो गया था और इस कारण बिना भारी मुद्रा-संकुचन किये स्वर्ण-चलन-मान को स्थापित करना असम्भव था। इन देशों ने स्वर्ण-चलन-मान के स्थान पर स्वर्ण-पाट-मान को ग्रहण किया। इस प्रकार स्पेन को छोड़ कर सभी स्वर्णमान देशों ने युद्ध के पश्चात् स्वर्णमान को फिर ग्रहण कर लिया।

परन्तु पुनः स्थापित होने के पश्चात् स्वर्णमान की कठिनाइयों ने भीषण रूप धारण कर लिया। देशों के बीच पुराना मौद्रिक सहयोग समाप्त हो चुका था। प्रत्येक देश सोने का संग्रह करने का प्रयत्न कर रहा था और उचित अथवा अनुचित रीति से विदेशी व्यापार को स्वर्ण प्राप्ति तथा आर्थिक विकास का साधन बनाना चाहता था। इस काल में विदेशी व्यापार पर भी अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये गये। *परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही स्वर्णमान फिर टूट गया।* सितम्बर सन् १९३१ में इङ्गलैण्ड ने स्वर्णमान को छोड़ दिया। सन् १९३३ में अमरीका ने भी इसे छोड़ दिया और अन्त में सन् १९३६ में फ्रांस ने स्वर्णमान को तोड़ कर इस मान को संसार से ही बिदा कर दिया।

स्वर्णमान का पतन और उसके कारण—

यह ऊपर ही बताया जा चुका है कि पुनः स्थापित होने के थोड़े ही समय पश्चात् स्वर्णमान समाप्त हो गया। युद्धोत्तर काल में ऐसे अनेक कारण उत्पन्न हो गये थे कि उन्होंने स्वर्णमान के चलन को असम्भव बना दिया। स्वर्णमान के टूट जाने के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं:—

(१) स्वर्णमान के नियमों का उलंघन (Violation of the Rules of Gold Standard)—सबसे पहला कारण यह था कि सभी स्वर्णमान देशों ने नियमों का उलंघन किया। *स्वर्णमान के पहिले नियम को फ्रांस तथा अमरीका ने विशेषतया तोड़ा।* इन देशों ने विदेशी आयातों तथा सोने के निर्यात पर

प्रतिबन्ध लगाने आरम्भ कर दिए। *स्वर्णमान के दूसरे नियम का भी फ्रांस तथा ब्रिटेन दोनों ने उलंघन किया।* जब इङ्गलैंड ने स्वर्णमान को पुनः स्थापित किया तो अपनी मुद्रा का स्वर्ण में अति-मूल्यन (Over-valuation) कर दिया अर्थात् अपनी चलन को स्वर्ण में वास्तविक से अधिक कीमत प्रदान की थी, जिसके फलस्वरूप उसका व्यापाराशेष प्रतिकूल हो गया और इङ्गलैण्ड से सोना बाहर जाने लगा। ऐसी दशा में स्वर्णमान के नियमानुसार इङ्गलैण्ड को मुद्रा की मात्रा और कीमतें घटानी चाहिए थीं, परन्तु मुद्रा संकुचन के भय के कारण इङ्गलैंड ने ऐसा नहीं किया, बल्कि प्रतिभूतियाँ (Securities) खरीद कर कीमतों को गिरने से बचाये रखा। परिणाम यह हुआ कि इङ्गलैंड से सोना बराबर बाहर जाता रहा। फ्रांस ने अपनी मुद्रा को वास्तविक कीमत से कम कीमत पर स्वर्ण में परिवर्तनशील बनाया था। इसके कारण व्यापाराशेष फ्रांस के पक्ष में रहा और विदेशों से फ्रांस में सोना आने लगा, परन्तु फ्रांस ने इस प्रकार आने वाले सोने को सुरक्षित कोषों में इस प्रकार बन्द करना आरम्भ कर दिया कि उसके कारण मुद्रा की मात्रा बढ़कर कीमतें न बढ़ने पायें। *परिणाम यह हुआ कि व्यापाराशेष बराबर अनुकूल बना रहा और सोना बराबर फ्रान्स में आता रहा। इसी प्रकार अमरीका ने भी विदेशों से आने वाले सोने को आसंचित कोषों (Hoards) में जमा करना आरम्भ कर दिया। अतएव सोने का संसार के देशों में समान वितरण न हो सका* तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सन्तुलन में भारी बाधा उत्पन्न हो गई। इससे स्वर्णमान की स्व-संचालक प्रवृत्ति समाप्त हो गई।

(२) आर्थिक राष्ट्रीयवाद का विकास (The Development of Economic Nationalism)—संसार के लगभग सभी देशों का युद्ध-कालीन अनुभव बड़ा दुखदायी था। युद्ध-काल में विदेशी व्यापार के स्थगित होने अथवा उसकी मात्रा में भारी कमी हो जाने के कारण सभी देशों में उन वस्तुओं की गम्भीर कमी अनुभव हुई थी जिनके लिए वे विदेशी व्यापार पर निर्भर रहते थे। जो देश खाद्यान्न तथा औद्योगिक कच्चे मालों के लिए भी विदेशों पर आश्रित थे उनके कष्ट की तो कोई सीमा ही नहीं रही थी। यह भी निश्चय था कि दूसरा महायुद्ध कभी न कभी अवश्य छिड़ेगा। ऐसी परिस्थितियों में *कष्टों से बचने के लिए बहुत से देशों ने उद्योग-संरक्षण तथा अन्य कृत्रिम रीतियों से देश में उद्योगों के विकास की योजनाएँ बनाईं। आयातों का नियन्त्रण, अभ्यंश (Quota) प्रणाली, निर्यात सहायता आदि प्रशुल्क नीति (Fiscal Policy)* के *प्रमुख आधार बन गये। ये सभी स्वर्णमान नियमों के विरुद्ध थे और इन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा स्वर्णमान के संचालन में भारी उलझन पैदा कर दी।*

(३) स्वर्ण-कोषों का अस्वस्थ वितरण—युद्धकाल तथा युद्धोत्तर काल में संसार के स्वर्ण-कोषों का विभिन्न देशों के बीच असमान वितरण हो गया। कुछ बड़े *देशों के पास सोने की भारी कमी हो गई।* जर्मनी तथा पूर्वी यूरोप के अधिकांश देशों के पास सोने की इतनी कमी थी कि उन्होंने सोने के प्रत्येक निर्यात को रोकने

का प्रयत्न किया, ताकि देश की मुद्रा-व्यवस्था टूटने न पाये। *सोने की कमी ने इन देशों को स्वर्णमान की स्वचालकता को भंग करने पर बाध्य किया।* इसके विपरीत अमरीका तथा फ्रांस ने काफी सोना जमा करके कठिनाइयां उत्पन्न कर दीं।

(४) स्वर्ण-चलन-मान का परित्याग—*युद्धोत्तर काल में लगभग सभी देशों ने स्वर्ण-पाट-मान तथा स्वर्ण-विनिमय-मान को ग्रहण किया।* स्वर्णमान की भाँति इन दोनों मानों में स्वचालकता का गुण नहीं होता है। *स्वर्णमान के ये रूप मूर्ख-सिद्ध तथा धोखा-सिद्ध नहीं हैं। परिणाम यह हुआ कि विभिन्न राष्ट्रों ने गलती और मक्कारी दोनों की और स्वर्णमान के संचालन को संकट में डाल दिया।* स्वर्णमान का संचालन स्वाभाविक रूप में न हो सका। सरकारी हस्तक्षेप की भारी आवश्यकता पड़ी और विभिन्न सरकारों ने समझदारी और ईमानदारी से काम नहीं लिया।

(५) बैंकिंग तथा साख-मुद्रा के नियन्त्रण की कठिनाई—२० वीं शताब्दी में बैंकिंग प्रणाली तथा साख-मुद्रा का अत्यधिक विकास हुआ था। कीमतों पर नियन्त्रण रखने के लिए चलन तथा साख-मुद्रा दोनों ही की मात्रा पर नियन्त्रण आवश्यक होता है, परन्तु अनुभव बताता है कि साख-मुद्रा पर नियन्त्रण रखने के लिए उपाय बहुत सफल न रह सके। यह नियन्त्रण ढीला ही रहा। बैंक दर, खुले बाजार व्यवसाय तथा वैधानिक नियन्त्रण द्वारा साख-मुद्रा का नियन्त्रण सफल न हो सका।

(६) शरणार्थी पूँजी का आतंक (The Havoc Caused by the Refuguee Capital)—प्रथम महायुद्ध के पूर्व से ही यह प्रथा चली आ रही थी कि बहुत से देश विदेशों में अल्पकालीन कोषों का विनियोग करते थे, परन्तु दोनों महा-युद्धों के मध्य-काल में सभी देशों ने विदेशी पूँजी पर प्रतिबन्ध लगाने आरम्भ कर दिये। ब्याजों का भुगतान रोक दिया और कुछ दशाओं में तो मूलधन भी लौटाना बन्द कर दिया गया। *देश के चलन को विदेशी विनिमय दरों में परिवर्तन करके भी विदेशियों को हानि पहुंचाने का प्रयत्न किया गया। परिणाम यह हुआ कि ये अल्पकालीन विदेशी-कोष सुरक्षा की खोज में एक देश से दूसरे देश में मारे-मारे फिरने लगे। जिस देश में अधिक सुरक्षा दिखाई पड़ती थी, उसी को कोषों का हस्तान्तरण कर दिया जाता था।* इस प्रकार सुरक्षा की खोज में भटकने के कारण यह पूँजी शरणार्थी पूँजी के नाम से प्रसिद्ध हुई। *इस पूँजी का एक देश से दूसरे देश को आवागमन इतना शीघ्र तथा आकस्मिक होता था कि इसने आतङ्क मचा दिया* और बहुत से देश इसके आवागमन के अनुसार कीमतों में परिवर्तन करने में असमर्थ रहे। अन्त में तंग आकर उन्होंने स्वर्णमान ही छोड़ दिया।

(७) युद्धोत्तर-काल की राजनैतिक चालें—प्रथम महायुद्ध के उपरान्त विजयी तथा शक्तिशाली देशों ने जो नीतियाँ अपनाईं उन्होंने भी स्वर्णमान के तोड़ने में सहायता दी। अमरीका ने परास्त देशों से *युद्ध का हर्जाना (Reparations)*

वसूल करने की सन्धियाँ कीं और कुछ देशों को युद्धकालीन ऋणों का भुगतान करने को बाध्य किया। इससे विदेशों में डालर की माँग चारों ओर से बढ़ने लगी और सोना तथा पूँजी खिच-खिच कर अमेरिका को जाने लगे। बहुत से देश जैसे जर्मनी इन ऋणों के भार को सहन न कर सके और उन्हें विनिमय दर को बनाये रखने में कठिनाई अनुभव होने लगी। बाध्य होकर उन्होंने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया।

(८) आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों का परिवर्तन—युद्ध के पश्चात् संसार की आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थितियाँ इस प्रकार बदल गई थीं कि *स्वर्णमान के निर्बान्ध उपयोग में बाधा होने लगी।* यातायात और बीमे के व्यय में कमी हो जाने के कारण *सोने का आयात-निर्यात् अधिक सुगम हो गया और विदेशी विनिमय दर के साधारण परिवर्तनों के कारण भी सोना एक देश से दूसरे देश को जाने लगा।* ऐसी दशा में अनिश्चित परिस्थितियों तथा सोने की कमी को देखते हुए *धनहीन देशों ने सोने के आवागमन पर प्रतिबन्ध लगाना आरम्भ कर दिया,* जो स्वर्णमान पद्धति के लिए घातक था।

(९) स्वर्णमान केवल अनुकूल परिस्थिति मित्र है—स्वर्णमान पद्धति को एक अनुकूल परिस्थिति मित्र कहा गया है। संकट के काल में यह साथ नहीं देती है। बहुत से देशों ने आर्थिक कठिनाइयों का निवारण न होते देखकर इस मान का परित्याग कर दिया।

(१०) स्वर्णमान देशों की पारस्परिक दासता—*स्वर्णमान की यह विशेषता है कि वह एक स्वर्णमान देश को अन्य सभी स्वर्णमान देशों की आर्थिक परिस्थितियों का दास बना देता है।* यदि सरकारी नीति, गृह-युद्ध, उपद्रव अथवा प्राकृतिक कारणों से एक स्वर्णमान देश की आर्थिक स्थिति बिगड़ती है तो कोई भी स्वर्णमान देश इसके प्रभाव से बच नहीं सकता है। *प्रत्येक आँधी, चाहे वह किसी भी देश में क्यों न आई हो, सभी स्वर्णमान देशों के आर्थिक वृक्षों को हिला कर ही जाती है।* उदाहरणस्वरूप, यदि अत्यधिक बाढ़ के कारण अमेरिका में कीमतें बढ़ती हैं तो अमेरिका में आयात प्रोत्साहित होंगे। अन्य स्वर्णमान देशों में भी वस्तुओं और सेवाओं की माँग के बढ़ने के कारण कीमतें बढ़ेंगी। इसी प्रकार यदि कोई देश जान-बूझकर मुद्रा-प्रसार करता है तो इसी नीति का प्रभाव अन्य देशों पर भी पड़े बिना नहीं रह सकता है। बहुत से देशों ने यह तर्क रखा कि ऐसे मुद्रामान को ग्रहण करने से क्या लाभ है जो सारे संसार की आपत्तियों और मक्कारियों का दण्ड उन्हीं को देता हो।

(११) संसार के देशों के बीच असहयोग—स्वर्णमान की सफलता एक बड़े अंश तक इस बात पर भी निर्भर रहती है कि संसार के स्वर्णमान देशों के बीच किस सीमा तक आर्थिक, वित्तीय तथा राजनीतिक सहयोग रहता है। यह बहुत ही आवश्यक है कि विभिन्न देश मिल-जुल कर काम करें और एक दूसरे की कठिनाइयों

को समझने का प्रयत्न करें। किन्तु दोनों महायुद्धों के बीच के काल में तो स्थिति बिलकुल बदल गई थी। *प्रत्येक देश दूसरों को धोखा देकर अपना उल्लू सीधा करना चाहता था।* सहयोग के स्थान पर शत्रुता की ओर प्रवृत्ति अधिक तीव्र थी। ऐसी दशा में स्वर्णमान के सफल संचालन का प्रश्न ही नहीं उठता था।

(१२) महान् अवसाद का प्रभाव—स्वर्णमान पर अन्तिम, परन्तु सबसे कड़ा, आघात महान् अवसाद (Great Depression) ने किया। *यह आर्थिक संकट सन १९२९ में अमरीका के वाल स्ट्रीट सङ्कट (Wall Street Crash) से आरम्भ हुआ और स्वर्णमान के चलन के कारण एक दम इसका प्रभाव संसार भर में फैल गया।* सभी देशों में बैंक फेल होने लगीं, कीमतें तथा मजदूरियाँ गिरने लगीं और अति-उत्पादन (Over-production) के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। सन् १९३१ में इङ्गलैंड ने स्वर्णमान का त्याग कर दिया और शीघ्र ही परित्याग की प्रवृत्ति ने विश्व-व्यापी रूप धारण कर लिया।

स्वर्णमान के लाभ अथवा स्वर्णमान की आवश्यकता

स्वर्णमान के उपयोग का प्रधान महत्त्व देशी चलन के आधार के रूप में नहीं रहा है, बल्कि इसने एक अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यमान तथा विनिमय माध्यम के रूप में संसार की सेवा की है। कोई भी एक देश बिना स्वर्ण अथवा अन्य किसी धातु को अपने चलन का आधार बनाये केवल पत्र-मान द्वारा भी अपना काम चला सकता है, परन्तु अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा-मान को अपनाने से एक देश को विदेशों से वाणिज्यिक सम्बन्ध बनाये रखने में भारी कठिनाई हो सकती है। यद्यपि पत्र-मुद्रा को देश में स्वतन्त्र स्वीकृति प्राप्त होती है, परन्तु विदेशी लोग उसे अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। यही कारण है कि कठिनाइयों के रहते हुए भी संसार के देशों ने स्वर्णमान को बनाये रखने का बराबर प्रयत्न किया है। इस प्रकार स्वर्णमान का प्रमुख महत्त्व उसके अन्तर्राष्ट्रीय रूप से ही उत्पन्न होता है। इस रूप में स्वर्णमान के प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के लाभ—

(१) स्वर्ण अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय माध्यम तथा मूल्यमान का काम करता है—स्वर्ण को उपरोक्त दोनों रूपों में संसार के सभी देशों में सर्व-ग्राह्यता प्राप्त होती है। इससे विनिमय में विशेष सुविधा होती है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार के लिए उपयुक्त दशायें उत्पन्न हो जाती हैं। यदि किसी देश के पास सोने का संग्रह है तो उसके पास सभी देशों से वस्तुयें तथा सेवायें खरीदने के लिए क्रयःशक्ति होती है। इस प्रकार उसके लिए विदेशी व्यापार सरल हो जाता है।

(२) विदेशी विनिमय दरों की स्थिरता--दूसरा प्रमुख लाभ विनिमय दरों की स्थिरता होती है। इन दरों के उच्चावचन की सीमाएँ बहुत ही संकुचित होती हैं और विनिमय दर स्वर्ण आयात तथा स्वर्ण निर्यात बिन्दुओं के भीतर ही रहती है। कारण यह है कि विनिमय दरों में थोड़ा सा भी अधिक परिवर्तन होने से सोने के रूप

में भुगतान होने लगता है। आयात-निर्यात व्यापारियों, विनियोगियों तथा बैंकों को एक प्रकार का संरक्षण प्राप्त हो जाता है, क्योंकि विनिमय दरों के परिवर्तनों के कारण उन्हें हानि नहीं होने पाती है।

(३) कीमत स्तरों की समानता—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान एक ऐसा साधन उपलब्ध करता है जिसके द्वारा सभी स्वर्णमान देशों में मूल्य-स्तरों में समानता रहती है। इसके कारण प्रत्येक देश को समान आधार पर तथा समान लाभ प्राप्त करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य में भाग लेने का अवसर मिलता है। स्वर्ण-कोषों का आवागमन कीमतों में इस प्रकार के परिवर्तन करता है कि व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों में सन्तुलन स्थापित हो जाता है। कोई भी देश स्थायी रूप से न तो लाभ में रह सकता है और न हानि में।

(४) मुद्रा प्रसार की प्रवृत्ति पर रोक—चूँकि मुद्रा स्वर्ण या स्वर्ण पर आधारित मुद्रा में परिवर्तनीय होती है, इसलिए मुद्रा की मात्रा बहुत कुछ सोने की मात्रा से सीमित होती है। जनता का विश्वास भी इस मान में प्रमुखतः इसी कारण होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के दोष

अन्तर्राष्ट्रीय रूप में स्वर्णमान के निम्न दोष उल्लेखनीय हैं

(१) आन्तरिक आर्थिक स्वतन्त्रता की समाप्ति—स्वर्णमान के आलोचकों का कहना है कि स्वर्णमान देश की आन्तरिक आर्थिक स्वतन्त्रता को समाप्त कर देता है। विदेशी विनिमय दर की स्थिरता को बनाए रखने के लिए देश को आन्तरिक कीमत-स्तर का अन्तर्राष्ट्रीय कीमत-स्तर के साथ समायोजन (Adjustment) करना पड़ता है। स्वर्णमान के अन्तर्गत विदेशी विनिमय दरों में तो भारी परिवर्तन हो ही नहीं सकते हैं, अतः असन्तुलन की दशा में किसी भी देश को अपने आन्तरिक कीमत-स्तर में परिवर्तन करके विनिमय दर की स्थिरता कायम रखनी पड़ती है। यदि किसी एक स्वर्णमान देश में कीमतें गिरती हैं तो विनिमय दर की स्थिरता के लिए अन्य स्वर्णमान देशों को भी कीमतें घटानी पड़ेंगी। इस प्रकार विदेशी व्यापार के हितों की रक्षा के लिए आन्तरिक अर्थव्यवस्था के हितों की बलि देनी पड़ती है।

(२) स्वर्ण के आवागमन का प्रतिकूल प्रभाव -- स्वर्णमान के इस अवगुण के भी गम्भीर परिणाम होते हैं। स्वर्ण के आवागमन के कारण सभी प्रकार के आर्थिक संकटों का प्रभाव तथा सभी प्रकार की आर्थिक अव्यवस्था एक देश से दूसरे देश को हस्तान्तरित हो जाती है। यदि एक देश मुद्रा प्रसार का मार्ग अपनाता है तो उस देश में आयात बढ़ते हैं और वहाँ से विदेशों को स्वर्ण का निर्यात होता है। विदेशों के स्वर्ण-कोषों में वृद्धि होने लगती है, जिसके कारण उन देशों में भी कीमतें बढ़ जाती हैं। ठीक इसी प्रकार अवसाद अथवा आर्थिक संकट के कारण कीमतों में जो कमी होती है वह एक देश से दूसरे देशों में फैल जाती है।

स्वर्णमान का भविष्य

क्या स्वर्णमान पुनः स्थापित किया जा सकता है ?—

इससे पहले कि इस प्रश्न का उत्तर दिया जाय कि क्या स्वर्णमान को फिर से स्थापित करना सम्भव है, संक्षेप में उन सब आवश्यकताओं का अध्ययन कर लेना अच्छा होगा, जिन पर स्वर्णमान की सफलता निर्भर होती है। वे इस प्रकार हैं :—(१) स्वर्णमान की सफलता के लिए इसका एक ही साथ बहुत से देशों द्वारा ग्रहण कर लेना आवश्यक है। (२) संसार में स्वर्ण-कोष पर्याप्त होने चाहिए और उनका विभिन्न देशों में न्यायपूर्ण अथवा समान वितरण होना चाहिए। (३) व्यापार की स्वतन्त्रता होनी चाहिए और उस पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं होने चाहिए। (४) सभी देशों द्वारा विधिपूर्वक स्वर्णमान के नियमों का पालन होना चाहिए। (५) आन्तरिक मुद्रा-प्रणाली में लोच होनी चाहिए। (६) अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों की मात्रा कम होनी चाहिए। (७) सभी देशों में राजनैतिक स्थिरता रहनी चाहिये और (८) विभिन्न देशों के बीच मौद्रिक सहयोग होना चाहिए।

उपरोक्त सभी बातों का उपलब्ध होना आधुनिक संसार में असम्भव ही प्रतीत होता है, इसलिये स्वर्णमान की स्थापना की सम्भावना बहुत ही कम है। आधुनिक संसार में राष्ट्रीयवाद तथा निजी स्वार्थों का जोर इतना अधिक है कि स्वर्ण-मान की स्थापना बहुत ही कठिन मालूम होती है। "स्वार्थी व्यापारिक प्रणाली के सहारे चल कर किसी भी प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली, चाहे वह राष्ट्र के हित में ही क्यों न हो, सफल नहीं हो सकती है।"* *कीन्ज तथा कैसल (Cassel) का विचार है कि भविष्य में स्वर्णमान की स्थापना लगभग असम्भव है, क्योंकि मूल्य की अस्थिरता के कारण स्वर्ण ने मौद्रिक क्षेत्रों में अपना महत्त्व नष्ट कर दिया है।* इस कारण भविष्य में नियन्त्रित पत्र-मुद्रा-मान ही सम्भव है। इस प्रकार स्वर्णमान का भविष्य उज्जवल नहीं है। स्वर्णमान पर विचार इस समय इस कारण ही किया जाता है कि पत्र-मुद्रा प्रणाली में मुद्रा की अत्यधिक निकासी के कारण जनता के विश्वास को खो देने का भय रहता है और साथ ही, इसमें अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में भी कठिनाई होती है। *जब तक स्वर्ण-कोषों का पुनर्वितरण नहीं होगा, मुद्रा-स्फीति की नीति नहीं छोड़ी जायगी और जब तक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग स्थापित नहीं होगा, स्वर्णमान की स्थापना की कोई भी आशा नहीं हो सकती है। साथ ही, सोना उत्पन्न करने वाले देशों को भी अपनी स्वर्ण-नीति में परिवर्तन करना आवश्यक होगा।*

* "It is impossible to have an international financial system alongside a commercial system that is fiercely and jealously national." *See* G. Crowther : *Outline of Money*, p. 319.

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और स्वर्णमान (International Monetary Fund and Gold Standard)—

स्वर्णमान के टूट जाने के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा लेन-देन में जो भारी गड़बड़ उत्पन्न हो गई थी उसी को दूर करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन का आयोजन किया गया था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिषद् की बैठक जुलाई सन् १९४४ में ब्रेटन वुड्स (Bretton Woods) में हुई थी और *इस परिषद् ने अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की एक योजना स्वीकार की थी।* परिषद् ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक (International Bank for Reconstruction and Development) की स्थापना की योजना बनाई थी। *इस योजना को कार्य रूप दे दिया गया है। इस योजना में स्वर्णमान की स्थापना नहीं की गई है, परन्तु सोने को कीमतों के अन्तिम मान के रूप में रख कर एक अंश तक सोने को अन्तर्राष्ट्रीय कीमत-स्तर तथा विनिमय दरों का आधार बनाया गया है।* नई व्यवस्था में स्वर्ण का स्थान निम्न प्रकार है :—

(१) प्रत्येक सदस्य देश को अपने अभ्यंश का एक निश्चित प्रतिशत सोने में जमा करना होता है।

(२) प्रत्येक देश को अपने चलन की कीमत सोने में परिभाषित करनी पड़ती है और इसी के आधार पर विदेशी विनिमय दरें निर्धारित की जाती हैं।

(३) मुद्रा-कोष के पास किसी विशेष चलन की सामान्य कमी हो जाने की दशा में कोष ऐसे चलन को सोना देकर खरीद सकता है।

उपरोक्त व्यवस्थाओं के अतिरिक्त सोने को और कुछ भी महत्व नहीं दिया गया। प्रत्येक देश को सांकेतिक सिक्कों के चलाने तथा पत्र-मुद्रा चलन प्रणाली स्थापित करने का पूर्ण अधिकार दिया गया है। आरम्भ में तो प्रत्येक सदस्य देश विदेशी व्यापार सम्बन्धी प्रतिबन्ध भी बनाये रख सकता है।

रजत-मान (Silver Standard)—

रजत-मान में मुद्रा इकाई का मूल्य चाँदी में नियत किया जाता है और निभाया जाता है। ऐसा करने के लिए चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण रखा जाता है और उसके एक निश्चित वजन तथा शुद्धता के सिक्के तैयार किये जाते हैं। चीन लम्बे समय तक रजत-मान का ही अनुयायी रहा है। भारत में सन् १८३५ से सन् १८९३ तक रजत-मान का चलन रहा है। रुपये का स्वतन्त्र मुद्रण होता था, उसका वजन १८० ग्रेन रखा गया था और उसकी शुद्धता ११/१२ थी। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार था कि वह सरकारी टकसाल से चाँदी की सिलों को रुपयों में ढलवा सकता था। इसी प्रकार जनता को रुपयों को गला कर धातु के रूप में बेचने का भी पूर्ण अधिकार था।

यह मुद्रा प्रणाली सन् १८७४ तक ठीक-ठीक चलती रही और इसमें मुद्रा का विस्तार तथा संकुचन स्वयं ही होता रहता था, *परन्तु सन् १८७४ से सोने में चाँदी की कीमतें तेजी के साथ गिरने के कारण कठिनाइयाँ आरम्भ हो गईं।* चाँदी की कीमतों के गिरने के कई कारण थे :—चाँदी की पूर्ति बढ़ गई थी और उसकी माँग अपेक्षतन कम हो गई थी। इसके विपरीत मुद्रा उद्देश्यों के लिए यूरोप के देशों में सोने की माँग अधिक बढ़ गई थी, जबकि सोने के उत्पादन में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई थी। भारत में तो चाँदी की कीमतों के इस पतन के गम्भीर परिणाम दृष्टिगोचर हुए। जनता के लिए यह लाभदायक हो गया कि वे सस्ते दामों पर बाजार से चाँदी खरीद कर उसे सरकारी टकसाल में रुपयों में ढलवा ले। इसके कारण मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि हुई और वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें बढ़ने लगीं। कीमतों की इस वृद्धि के कारण देश के आयात व्यापार में कठिनाई उत्पन्न होने लगी। इसी प्रकार गृह खर्चों (Home Charges) के भार में वृद्धि हो गई और भारत सरकार के लिए अपने बजट का सन्तुलन कठिन हो गया। अन्त में, हरशैल समिति (Herschell Committee) की सिफारिश पर सन् १८९३ में भारत ने चाँदी के स्वतन्त्र मुद्रण को समाप्त कर दिया।

व्यवहार में रजत-मान के नियम और उसका कार्यवाहन स्वर्णमान की ही भाँति होता है, परन्तु रजत-मान के स्थान पर स्वर्णमान को इस कारण अधिक अच्छा समझा जाता है कि चाँदी की कीमतों की तुलना में सोने की कीमतों में साधारणतया कम परिवर्तन होते हैं।

QUESTIONS

1. Explain what you mean by 'Gold Standard' and state under what conditions it works smoothly. (Raj., B. A., 1958)
3. Examine critically the working of the Gold Exchange Standard. Discuss the position of gold under it. What are the objections against it ? (Raj., B. Com., 1957)
3. Point out the characteristics of the various forms of Gold Standard. (Agra, B. A., 1956 Supp.)
4. "The case for the Gold Standard is a case for a strict *de jure* Gold Standard with each country following the rules so that no gold currency becomes distrusted." Explain and comment. (Agra, B. A., 1956)
5. स्वर्णमान पर नोट लिखिए (Agra, B. A., 1958)

स्वर्णमान के नियमों पर नोट लिखिए (Agra, B. A., 1957 Supp.)
स्वर्णमान पद्धति का पूर्ण रूप से वर्णन कीजिए। (Agra, B. A., 1957)

6. Discuss the essential conditions which you think necessary for successful working of 'Gold Standard.' What led to the abondonment of Gold Standard by countries ?
(Raj., B. A., 1957 and B. Com., 1958)

7. Write a note on—Gold Bullion Standard.
(Agra, B. Com., 1957 Supp.)
Gold Exchange Standard.
(Agra, B. Com., 1956 Supp. and B. A., 1959)
Sterling Exchange Standard. (Agra, B. Com., 1956)

8. Discuss the limitations of Gold Standard in the context of an expansionist economy. What led to its breakdown in the inter-war period ? Explain. (Raj., B. Com., 1955)

9. Is it possible to have Gold Standard without Gold Currency ? Give reasons for your answer and explain the merits and demerits of such a standard. (Sagar, B. A., 1958)

10. अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण प्रमाप बिना किसी रुकावट के सरलतापूर्वक कार्य कर सके, इसके लिए कौनसी अनिवार्य शर्तों का होना आवश्यक है, उनकी विवेचना कीजिए। उन कारणों की परीक्षा कीजिए जिनके फलस्वरूप सन् १६३१ में अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण प्रमाप समाप्त हो गया। (Sagar, B. Com , 1954)

11. स्वर्ण प्रमाप की प्रमुख विशेषताएँ बताइये। (Jabalpur, B. A., 1958)

12. Describe the different kinds of Gold Standard. Can Gold Standard secure stability of prices ? (Bihar, B. A., 1958)

13. 'Gold Standard failed primarily because it could not reconcile exchange stability with price stability.' Discuss.
(Patna, B. A., 1957)

14. Write a note on—Gold Standard. (Raj., B. Com., 1954)

15. Examine critically the working of the Gold Standard. What were the reasons for its failure.
स्वर्णमान के प्रयोग का आलोचनात्मक परीक्षण करिए। उसकी विफलता के क्या कारण थे ? (Agra, B. Com , 1959)

16. Distinguish between the gold exchange standard and the gold bullion standard proposed by the Hilton-Young Commission. State your views on the latter as a scheme of currency arrangement for the country. (Raj., B. Com , 1960)

अध्याय ७

पत्र-चलन-मान

(Paper Currency Standard)

पत्र-मुद्रा का प्रारम्भ (The Origin of Paper Money)—पत्र-मुद्रा का इतिहास बहुत पुराना है। ऐसा अनुमान है कि कागज का आविष्कार सबसे पहिले चीन में हुआ था। कागज को मुद्रा के रूप में भी सबसे पहिले चीन में ही उपयोग किया गया था। ऐतिहासिक खोज से पता चलता है कि ९ वीं शताब्दी के आरम्भ में चीन में सम्राट हेसेनटुङ्ग (Hsientung) के राज्य-काल में पत्र-मुद्रा चालू की गई थी। उस समय इस मुद्रा के चालू करने का प्रमुख उद्देश्य लोहे और ताँबे के भारी सिक्कों के ढोने की कठिनाई को दूर करना था। चीन के पश्चात् जापान और ईरान (Persia) में भी कागज के नोटों का चलन आरम्भ हुआ। चीन में १७ वीं शताब्दी के मध्य काल तक पत्र-मुद्रा का उपयोग बराबर होता रहा, यद्यपि बीच-बीच में कभी-कभी इसका उपयोग बन्द भी कर दिया जाता था। चीनी सम्राटों की भांति मंगोल सम्राटों ने भी पत्र-मुद्रा को चालू रखा। एशिया के पश्चात् यूरोप के देशों में भी कागज के नोट चलने लगे, यद्यपि आरम्भ में योरोपीय देशों में चमड़े के नोट चलाये गये थे। ऐसे नोटों का एक उदाहरण भारत में सम्राट हुमायूँ के काल में भी मिलता है, जबकि बच्चा सक्का ने चमड़े की मुद्रा चालू की थी। संसार के लगभग सभी उन्नतिशील देशों ने १७ वीं शताब्दी के अन्तिम काल में परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का चलन आरम्भ हो गया था और १८ वीं शताब्दी में तो सरकारी आदेश पर अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा भी चालू हो गई थी।

प्राचीन काल में नोटों का रूप वर्तमान नोटों जैसा नहीं था। अलग-अलग देशों में अलग-अलग रूप, रङ्ग और नमूने के कागजी नोट चलते थे। कागजी नोटों के चलन को अत्यधिक प्रोत्साहन प्रथम महायुद्ध काल में मिला। इस काल में यूरोप की सरकारों को धन की अधिक आवश्यकता थी। लगभग सभी देशों ने कागज के नोट छापकर आय प्राप्त की। इङ्गलैन्ड, फ्रान्स, जर्मनी आदि देशों के अतिरिक्त, जिनका युद्ध से प्रत्यक्ष सम्बन्ध था, तटस्थ देशों ने भी स्वर्णमान को स्थगित कर दिया। इस काल में भारत में भी अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा चालू की गई थी। धीरे-धीरे पत्र-मुद्रा के प्रति जनता का विश्वास तथा परिचय बढ़ता गया और युद्ध के समाप्त हो जाने के पश्चात् भी पत्र-मुद्रा का चलन युद्ध-काल की भांति ही बना रहा। सन् १९३१ में स्वर्णमान फिर टूट गया और संसार के अधिकांश देशों ने पत्र-मुद्रा को ही अपनी मुख्य-मुद्रा के रूप में स्वीकार कर लिया। लगभग सभी देशों में पत्र-चलन-मान स्थापित हो गया। दूसरे महायुद्ध के

काल में पत्र-मुद्रा का और भी विस्तृत उपयोग हुआ है तथा उसकी मात्रा में आश्चर्य-जनक वृद्धि हुई है। निस्सन्देह आज का संसार पत्र-मुद्रा से परिचित ही नहीं है, बल्कि वह इसे बड़ी महत्त्वपूर्ण मुद्रा समझता है। यह कहना तो कठिन है कि पत्र-मुद्रा के उपयोग का प्रारम्भिक कारण क्या था, परन्तु यह निश्चय है कि कागजी नोटों के लाभों ने उनके प्रचलन को बढ़ाया है। यहाँ तक कि आज का संसार धातु-मुद्रा को धीरे-धीरे भूल सा रहा है।

पत्र-मुद्रा के लाभ—

जैसा कि ऊपर सकेत किया जा चुका है कि अपने विशेष गुणों के कारण ही पत्र-मुद्रा सर्व-ग्राह्य हुई। इस मुद्रा के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—

(१) धातु-मुद्रा की बचत—पत्र-मुद्रा धातु के सिक्कों का स्थान ग्रहण कर लेती है, जिसके कारण उसके उपयोग से धातु-मुद्रा की आवश्यकता कम हो जाती है। इस प्रकार बचा हुआ सोना और चाँदी औद्योगिक तथा कलात्मक कामों के लिए उपयोग किया जा सकता है। एडम स्मिथ ने कहा है : "*कागज के नोट आकाश मार्ग की भाँति हैं—उनके नीचे की भूमि भी काम में लाई जा सकती है और उस पर अन्न आदि उत्पन्न करके मनुष्य की अन्य आवश्यकताएँ पूरी की जा सकती हैं।*"*

(२) वहनीयता—पत्र मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में अधिक सुविधा रहती है, क्योंकि मूल्य के अनुपात में कागज के नोट का बोझ बहुत ही कम होता है। पत्र-मुद्रा में वहनीयता का विशाल गुण है। सौ रुपये के सिक्कों की अपेक्षा सौ रुपये के एक नोट को ले जाने में कठिनाई तथा व्यय बहुत ही कम होता है और सुरक्षा भी अधिक रहती है।

(३) धातुओं के सिक्कों की घिसावट में बचत—कागज के नोट बहुमूल्य धातुओं के सिक्कों की घिसावट द्वारा होने वाली हानि से भी बचत करते हैं।। प्रचलन के अन्तर्गत सिक्के घिस-घिस कर पुराने होते जाते हैं और उनमें से धातु की मात्रा धीरे-धीरे घटती जाती है। यदि सिक्कों के स्थान पर कागज के नोट चलाये जाते हैं तो यह हानि बच जाती है।

(४) सस्ती एवं मितव्ययी—पत्र-मुद्रा सरकार के दृष्टिकोण से बहुत सस्ती एवं मितव्ययी होती है। इसके उत्पादन का व्यय बहुत ही कम होता है। इसके विपरीत धातु मुद्रा के सम्बन्ध में खानों से धातु को निकालने, गलाने, साफ करने तथा उसे सिक्कों में ढलाने पर भी अधिक व्यय होता है। इस प्रकार कागज के नोटों का उपयोग करके श्रम और पूँजी की बचत की जा सकती है और उन्हें अन्य उपयोगी कार्यों में लगाकर अधिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

(५) मुद्रा प्रणाली में लोच—पत्र-मुद्रा, देश की मुद्रा प्रणाली में, लोच

उत्पन्न कर देती है, जो एक महत्त्वपूर्ण गुण होता है। पत्र-मुद्रा की मात्रा शीघ्रतापूर्वक बिना भारी व्यय के घटाई-बढ़ाई जा सकती है और इस प्रकार मुद्रा की माँग और पूर्ति में समन्वय स्थापित किया जा सकता है। सोने और चाँदी के सिक्कों की मात्र को बढ़ाना बहुत ही कठिन होता है, क्योंकि इन धातुओं के स्टॉक कठिनाई से प्राप्त होते हैं।

(६) सरकार को सुविधा—संकट काल के लिए पत्र-मुद्रा ही देश की डूबती हुई नौका का एक मात्र सहारा होती है। संकट काल में सरकार कागज के नोट छाप कर आय प्राप्त कर सकती है। युद्ध-काल में लगभग सभी सरकारों ने ऐसा ही किया था। यदि सरकार ऋणों द्वारा आय प्राप्त करने का प्रयत्न करती है तो प्रथम तो, सदा ही ऋणों का मिलना कठिन होता है और दूसरे, ऐसे ऋणों के ब्याज चुकाने और उनके प्रबन्ध पर सरकार को काफी व्यय करना पड़ता है।

(७) प्रयोग करने में सुविधा—पत्र-मुद्रा को गिनने और उसका हिसाब करने में सुविधा होती है।

(८) समानता एवं एकरूपता—पत्र-मुद्रा में समानता और एकरूपता पाई जाती है। यह इस मुद्रा का विशेष गुण है।

(९) बैंकिंग प्रवृत्ति का विकास—इस मुद्रा का उपयोग लोगों में बैंकिंग प्रवृत्ति उत्पन्न करता है, जो कि देश के लिए बहुत आवश्यक है, क्योंकि इससे बचत प्रोत्साहित होती है और वाणिज्य और व्यापार की उन्नति होती है।

(१०) धोखा-धड़ी की शीघ्र पकड़—यदि जाली नोट चलन में आ जायँ तो इनके नम्बरों को अखबारों में छपवाकर प्रजा को इन्हें स्वीकार करने से मना किया जा सकता है। इस प्रकार इस प्रणाली में धोखा शीघ्र पकड़ में आ जाता है।

पत्र-मुद्रा की हानियाँ—

यद्यपि पत्र-मुद्रा के अनेक लाभ हैं और वर्तमान संसार ने इसे स्थाई तथा सर्वव्यापी रूप में स्वीकार भी कर लिया है, परन्तु इसके दोष भी गम्भीर हैं। प्रमुख हानियाँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) सरकार की इच्छा पर मूल्य की निर्भरता—पत्र-मुद्रा में कुछ भी निहित मूल्य (Intrinsic Value) नहीं होता है। यदि ऐसी मुद्रा का विमुद्रीकरण हो जाता है तो पदार्थ के रूप में इसका कुछ भी मूल्य शेष नहीं रहता है। इस मुद्रा का मूल्य अस्थिर तथा अस्थाई होता है, क्योंकि यह सरकार की इच्छा पर निर्भर होता है। यही कारण है कि पत्र-मुद्रा के प्रति जनता का विश्वास धातु-मुद्रा की तुलना में बहुत कम होता है।

(२) अत्यधिक निकासी का भय—कागज के नोट सरकार अपनी

इच्छा के अनुसार किसी भी मात्रा में छाप सकती है। ऐसी मुद्रा की अत्यधिक निकासी का भय सदा ही बना रहता है। प्रतिनिधि पत्र मुद्रा में इस प्रकार का भय नहीं रहता है, परन्तु परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा प्रणाली में निधि-अनुपात को घटाकर कागज के नोटों की संख्या में इच्छानुसार वृद्धि की जा सकती है। अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा तथा प्रादिष्ट मुद्रा में तो चलन के विस्तार पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं होते हैं। चलन के इस प्रकार के विस्तार के परिणाम काफी भयानक हो सकते हैं। इसके कारण कीमतों में अत्यधिक वृद्धि होती है और भीषण मुद्रा-प्रसार के कारण जनता को घोर कष्ट होता है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी की दशा अत्यन्त खराब हो गई थी और मुद्रा-स्फीति की प्रचण्डता के कारण सारी अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी। दूसरे महायुद्ध के काल में भारत में मुद्रा विस्तार के कारण ही कीमतें बढ़ी थीं और युद्ध तथा युद्धोत्तर काल में मुद्रा-प्रसार ने आतंक मचा दिया था।

(३) शीघ्र खराब हो जाने का दोष—कागजी नोटों के फट जाने, गल जाने तथा तेल से खराब हो जाने का भय भी अधिक रहता है। वैसे तो सरकार इस प्रकार के खराब नोटों को बदलने का आश्वासन देती है, परन्तु फिर भी जनता को इससे असुविधा अवश्य होती है और नोटों के उपयोग में सावधानी से काम लेना पड़ता है।

(४) चलन का सीमित क्षेत्र—पत्र-मुद्रा के चलन का क्षेत्र सीमित होता है। देश के बाहर कोई भी उसे स्वीकार नहीं करता है, क्योंकि इन नोटों को केवल सरकार के विशेष कानून द्वारा मूल्य प्रदान किया जाता है। पाकिस्तानी नोट भारत में विधि-ग्राह्य नहीं हैं और यही कारण है कि लोग उन्हें स्वीकार नहीं करते हैं।

(५) कीमतों की अस्थिरता—पत्र-मुद्रा का मूल्य साधारणतया बहुत अनिश्चित तथा अस्थिर होता है। उसमें अकस्मात ही घोर उच्चावचन (Fluctuations) हो सकते हैं। इसके कारण सभी वस्तुओं की कीमतों में तेजी से परिवर्तन होने लगते हैं। इस अनिश्चितता का देश के आन्तरिक कीमत-स्तर और देश की अर्थ व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है और विदेशी विनिमय दरों में भारी उथल-पुथल होने लगती है। परिणाम यह होता है कि व्यापार और उत्पादन अनियमित हो जाते हैं।

(६) सरकार द्वारा दुरुपयोग—सरकार द्वारा आय प्राप्त करने के हेतु जो पत्र-मुद्रा निकाली जाती है वह करारोपण की ही प्रकृति रखती है, परन्तु यह करारोपण न्याय-विरुद्ध होता है और समाज के निर्धन वर्गों के लिए अत्यधिक कष्टदायक होता है। वैसे भी इस प्रकार की मुद्रा-निकासी का आधार ही गलत होता है, क्योंकि चलन की निकासी व्यावसायिक आवश्यकताओं के अनुसार नहीं होती है, बल्कि सरकार की वित्तीय आवश्यकताओं के अनुसार होती है।

(७) आर्थिक जीवन में अस्थिरता—पत्र-मुद्रा में सभी प्रकार की परिकल्पना (Speculation) को प्रोत्साहित करने का दोष होता है। साख-मुद्रा तो

विशेषतया भयङ्कर होती है। पूँजीवादी देशों में व्यापार चक्रों (Trade Cycles) का एक महत्त्वपूर्ण कारण साख-मुद्रा तथा पत्र-मुद्रा की निकासी की अनियमितता तथा अनिश्चितता ही होती है। यही कारण है कि कुछ अर्थशास्त्रियों ने पत्र-मुद्रा को एक प्रकार का सामाजिक धोखा (Social Fraud) कहा है। *"पत्र-मुद्रा किसी देश की सबसे भयङ्कर महामारी है। कोई भयङ्कर से भयङ्कर बीमारी किसी व्यक्ति को जितना अधिक से अधिक कष्ट दे सकती है, उससे भी अधिक कष्ट पत्र-मुद्रा के कारण समाज को होता है।"*

(८) जनता का कम विश्वास—जनता को इस मुद्रा में विश्वास कम होता है, क्योंकि उन्हें इस बात का भय रहता है कि सरकार कभी भी इस मुद्रा को अमान्य घोषित कर सकती है।

निष्कर्ष—

इस सम्बन्ध में यह निर्णय कठिन है कि दोष पत्र-मुद्रा का है, अथवा मनुष्य का। संसार में कोई भी वस्तु बुरी नहीं होती है। प्रत्येक वस्तु की अच्छाई और बुराई उसके उपयोग पर निर्भर होती है। पत्र-मुद्रा के विषय में तो उपरोक्त कथन और भी अधिक सही है। *पत्र-मुद्रा में स्वयं तो कुछ भी बुराई नहीं होती। यह तो सरकार की इच्छा है कि वह उसे समाज और राष्ट्र के कल्याण के लिए उपयोग करती है अथवा उसके विनाश के लिए। कागजी नोट निकाल कर समुचित नियन्त्रण द्वारा देश के आर्थिक नियोजन को सफल बनाया जा सकता है और आर्थिक तथा सामाजिक जीवन को उन्नति के शिखर पर ले जाया जा सकता है,* परन्तु यह सब तभी सम्भव है जबकि सरकार समझदारी से काम लेती है और राष्ट्रीय हितों को ही प्रधानता देती है। पत्र-मुद्रा के अधिकाँश दोष मुद्रा-नियन्त्रक की मूर्खता, अज्ञानता, संकुचित दृष्टिकोण तथा स्वार्थपरता के कारण उत्पन्न होते हैं।

पत्र-मुद्रा का वर्गीकरण—

पत्र-मुद्रा को दो बड़े-बड़े भागों में बाँटा जा सकता है :—पत्र-मुद्रा-चलन (Paper Currency) तथा पत्र-मुद्रा-मान (Paper Standard)। इनमें से पत्र-मुद्रा-चलन का अध्ययन तो एक पिछले अध्याय में किया जा चुका है। प्रस्तुत विवेचना में केवल पत्र-मुद्रा-चलन का ही अध्ययन किया जायगा। *पत्र-मुद्रा-मान की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं कि इस मान में किसी धातु को मुद्रा का आधार नहीं बनाया जाता है। देश में अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का चलन होता है और वही देश की प्रामाणिक मुद्रा होती है। कागज के नोटों के पीछे केवल कागजी प्रतिभूतियों की ही आड़ होती है।*

पत्र-मुद्रा-मान, प्रबन्धित पत्र-चलन अथवा चलन-विनिमय-मान (Paper Standard, Managed Paper Currency or Currency Exchange Standard)—

इस मुद्रा पद्धति में पत्र-मुद्रा ही प्रामाणिक मुद्रा होती है। देश का मुद्रा-

नियन्त्रक पत्र-मुद्रा को स्वर्ण अथवा अन्य किसी धातु में परिवर्तित करने का उत्तर-दायित्व नहीं लेता। सन् १९२९ के महान् अवसाद के पश्चात् संसार के बहुत से देशों को स्वर्णमान का परित्याग करने पर बाध्य होना पड़ा था। इन सभी देशों ने पत्र-मुद्रा मान ग्रहण कर लिया था। इस पद्धति में विनिमय-माध्यम का कार्य पत्र-मुद्रा ही करती है। पहले तो इस मान का उपयोग सङ्कट-कालीन परिस्थितियों में किया जाता था, परन्तु अब इसका उपयोग बिना संकोच किया जाता है। इस पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं :—

पत्र-मुद्रामान की विशेषतायें—

(१) पत्र-मुद्रा देश में *प्रामाणिक तथा अपरिमित विधि-ग्राह्य मुद्रा* होती है।

(२) *पत्र-मुद्रा का मूल्य स्वतन्त्र रूप में निश्चित होता है।* स्वर्ण अथवा अन्य किसी धातु द्वारा उसका मूल्य निश्चित नहीं होता है और पत्र-मुद्रा को धातु में बदलने की व्यवस्था नहीं की जाती है।

(३) इस पद्धति में *चलन का प्रबन्ध अथवा नियमन (Regulation) मुद्रा-नियन्त्रक द्वारा किया जाता है।* उद्देश्य यह होता है कि कीमत-स्तर की स्थिरता बनी रहे, जिसके लिए मुद्रा-संचालक चलन की मात्रा को आवश्यक अंश तक बढ़ाता-घटाता रहता है। चलन की पूर्ति को उसकी माँग के बराबर बनाये रखकर कीमतों की स्थिरता प्राप्त की जाती है।

(४) इस प्रणाली में भी *विदेशी ऋणों के भुगतान के लिए स्वर्ण-कोषों की आवश्यकता पड़ती है,* क्योंकि विदेशी देश के चलन को स्वीकार नहीं करते हैं। इस कार्य के लिए सोना जमा किया जाता है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना के पश्चात् अब अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के भुगतान में सोने की आवश्यकता नहीं रही है।

भारत के वर्तमान चलनमान के उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—

इस पद्धति के कार्यवाहन को समझने के लिए भारत सरकार के वर्तमान चलन-मान की विवेचना उपयुक्त होगी। स्वर्णमान के परित्याग के पश्चात् भारत ने सन् १९३१ में स्टर्लिङ्ग-विनिमय-मान स्थापित किया। भारतीय पत्र-मुद्रा ब्रिटिश पौंड स्टर्लिङ्ग में परिवर्तनशील थी। *जब तक स्टर्लिङ्ग की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता बनी हुई थी, भारतीय कागजी नोटों के बदले में स्टर्लिङ्ग के माध्यम से सोना प्राप्त किया जा सकता था, परन्तु जब स्टर्लिङ्ग ही एक अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा बन गया तो भारतीय मुद्रा-प्रणाली पत्र-मुद्रा-मान का ही एक रूप बन गई।* भारत का मुद्रा-सञ्चालन रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा किया जाता था। रिजर्व बैंक रुपये की कीमत १ शिलिङ्ग ६ पैंस के बराबर रखती थी। इस उद्देश्य से रिजर्व बैंक

१०,००० पौंड अथवा उससे अधिक कीमत का स्टर्लिङ्ग १ शिलिङ्ग ५$\frac{१९}{६४}$ पैंस प्रति रुपया की दर से खरीदती थी और १ शिलिङ्ग ६$\frac{३}{३२}$ पैंस प्रति रुपया की दर से बेचती थी। भारत के इस मान को हम चलन-विनिमय-मान प्रणाली (Currency Exchange Standard) कह सकते थे, क्योंकि स्वयं स्टर्लिङ्ग स्वर्ण पर आधारित नहीं था। देश के भीतर रुपया ही विनिमय माध्यम तथा मूल्यमान का कार्य करता है। रुपये के बदले में केवल पत्र-मुद्रा तथा गौण सिक्के ही लिए जा सकते हैं, सोना नहीं। सन् १९४७ तक स्टर्लिङ्ग तथा भारतीय रुपया दोनों में से किसी का भी स्वर्ण से कोई सम्बन्ध न था, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की सदस्यता के कारण अब रुपये को स्वर्ण में एक निश्चित मूल्य दिया गया है। सन् १९४७ में रुपये का स्वर्ण मूल्य ०·२६८६०१ ग्राम रखा गया था। वैसे तो भारतीय रुपये तथा स्टर्लिङ्ग का वैधानिक गठबन्धन ८ अप्रैल सन् १९४७ से टूट चुका है, परन्तु व्यवहार में दोनों का यह सम्बन्ध अभी तक भी बना हुआ है।

पत्र-मुद्रा-मान प्रणाली के गुण—

पत्र-मुद्रा-मान के निम्न गुण बताये जाते हैं :—

(१) मूल्यों में स्थिरता—मुद्रा अधिकारी देश की आवश्यकताओं के अनुसार पत्र-मुद्रा की मात्रा में घट-बढ़ करके देश में मूल्यों में स्थिरता ला सकता है और इस कार्य के लिए उसे कोई भी स्वर्ण-कोष रखना आवश्यक नहीं है।

(२) प्रबन्ध की स्वतन्त्रता—इस मान के अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा किसी धातु पर निर्भर नहीं होती, अतः मुद्रा अधिकारी अपनी इच्छानुसार मुद्रा का प्रबन्ध-संचालन कर सकता है।

(३) उत्पत्ति के साधनों का पूर्ण उपयोग—यह देखा गया है कि स्वर्ण-मान की प्रवृत्ति मुद्रा-संकुचन की ओर होती है। इससे देश में बेकारी रहती है और उत्पत्ति के साधनों का अच्छी तरह से उपयोग नहीं हो पाता। लेकिन पत्र-मुद्रा के अन्तर्गत हर एक देश अपनी आवश्यकता के अनुसार मुद्रा-नीति का संचालन कर सकता है, जिससे देश में उत्पादन के साधनों का उपयोग हो सके। उसे अन्य देशों पर निर्भर रहने या उनका अनुकरण करने की आवश्यकता नहीं होती है। इस प्रकार पत्र-मुद्रा-मान लोचदार होता है।

पत्र-मुद्रा-मान प्रणाली के दोष—

पत्र-मुद्रा-मान प्रणाली के अनेक दोष हैं। प्रमुख अवगुण निम्न प्रकार हैं :—

(१) अत्यधिक निकासी का भय—पत्र-मुद्रा के पीछे किसी प्रकार की धातु-निधि न होने के कारण मुद्रा की अत्यधिक निकासी का भारी भय रहता है। इस प्रणाली में अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा के सभी दोष रहते हैं।

(२) कीमतों के परिवर्तनों की कोई सीमा नहीं—इस प्रणाली के अन्त-

र्गत कीमतों के परिवर्तनों की कोई भी सीमा नहीं होती है। पत्र-मुद्रा में निहित मूल्य कुछ भी नहीं होता, इसलिए उसके मूल्य-पतन की भी कोई अन्तिम सीमा नहीं होती है। धातु-मुद्रा की कीमत तो सिक्के की निहित कीमत से नीचे नहीं कही जा सकती है, परन्तु पत्र-मुद्रा की कीमत की ऐसी कोई सीमा नहीं होती है। इसी कारण कीमतें किसी भी सीमा तक ऊपर जा सकती हैं।

(३) विदेशी विनिमय दरों में उच्चावचन–देश की आन्तरिक कीमतों की भाँति विदेशी विनिमय दरों के परिवर्तनों की भी कोई सीमा नहीं होती है। पत्र-मुद्रा-मान में विनिमय दरों में अपरिमित उच्चावचन हो सकते हैं। इससे विदेशी व्यापार में अनेक अड़चनें पैदा होती हैं। सन् १९३१ के पश्चात् इस मान के सर्वव्यापी उपयोग के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा विदेशी ऋणों की मात्रा में भारी कमी आ गई है।

(४) एक देश की आर्थिक अवस्था का दूसरे देश पर प्रभाव— जिस प्रकार स्वर्णमान के अन्तर्गत एक देश की आर्थिक परिस्थितियों के परिवर्तनों का प्रभाव सभी स्वर्णमान देशों पर पड़ता है, इसी प्रकार यदि सभी देशों में पत्र-मुद्रा-मान का चलन है तो एक देश के आर्थिक सङ्कटों का प्रभाव दूसरों पर अवश्य पड़ेगा। परन्तु ऐसा तभी होगा जबकि व्यापार स्वतन्त्र है, परन्तु अनुभव यह है कि पत्र-मुद्रा-मान का युग विदेशी व्यापार सम्बन्धी प्रतिबन्धों का भी युग होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक की स्थापना ने संसार में पत्र-मुद्रा-मान की कठिनाइयों को एक बड़े अंश तक दूर कर दिया है। प्रत्येक देश के चलन का मूल्य सोने में घोषित किया जाता है और विनिमय-दरों की स्थिरता के लिए मुद्रा-कोष की कुछ विशेष व्यवस्थाएँ हैं। यद्यपि मुद्रा-कोष सोने को मुद्रा का आधार बनाने पर विशेष बल नहीं देता है, परन्तु विदेशी मुद्राओं को बेच कर तथा उधार देकर यह कोष विनिमय दरों में स्थिरता लाता है और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक तथा मौद्रिक सहयोग के लिए अनुकूल दशाएँ उत्पन्न करता है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का कार्य विदेशी पूँजी के आवागमन में सहायता करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों को प्रोत्साहित करके उनकी मात्राओं को बढ़ाना है।

प्रादिष्ट-मान (Fiat Standard)—

इस मान को कभी-कभी नियन्त्रित पत्र-चलन-मान (Managed Paper Currency Standard) भी कहा जाता है। प्रामाणिक प्रादिष्ट मुद्रा को सरलता से पहिचना जा सकता है। *कैन्ट के अनुसार इसकी तीन प्रमुख विशेषतायें होती हैं :–* (१) पदार्थ के रूप में इसका निहित मूल्य लगभग कुछ भी नहीं होता है। (२) इसे किसी ऐसी वस्तु में नहीं बदला जा सकता है जिसका मूल्य प्रादिष्ट मुद्रा के अङ्कित मूल्य के बराबर हो और (३) इसकी क्रयःशक्ति किसी भी वस्तु की क्रयःशक्ति के समान नहीं रखी जाती है।*

इस प्रकार प्रादिष्ट मुद्रा साधारणतया ऐसी पत्र-मुद्रा होती है जो स्वर्ण अथवा अन्य किसी वस्तु में परिवर्तनशील नहीं होती और जिसकी क्रयःशक्ति स्वर्ण अथवा अन्य किसी वस्तु द्वारा निश्चित नहीं की जाती है, अतः यदि कोई मुद्रा स्वर्ण में तो परिवर्तनशील नहीं है, लेकिन इसके मूल्य को स्वर्ण की निश्चित इकाई की समानता में देखा जाता है तो हम ऐसी मुद्रा को प्रादिष्ट मुद्रा नहीं कहेंगे।

प्रादिष्ट मुद्रा का निमाण दो तरह से किया जा सकता है:—(१) ऐसी मुद्रा कभी-कभी तो सरकार द्वारा जानबूझ कर निकाली जाती है, (२) परन्तु कभी-कभी देश में बैंक नोटों को प्रादिष्ट-मुद्रा बना दिया जाता है।

प्रादिष्ट मान के गुण—

(१) हाल के वर्षों में बहुत से अर्थशास्त्रियों ने यह विश्वास प्रकट किया है कि प्रादिष्ट-मुद्रा-मान को सरकारी नीति का एक स्थाई आधार बनाना उपयुक्त होगा, यद्यपि साधारणतया भूत-काल में इसका उपयोग सङ्कटकालीन परिस्थितियों में हुआ है। कहा जाता है कि धातु-मुद्रा की परिवर्तनशीलता केवल एक भ्रम ही है और इसी प्रकार यह भी मिथ्या है कि धातु-कोष मुद्रा के प्रति विश्वास उत्पन्न करते हैं। अनुभव बताता है कि ये दोनों बातें केवल साधारण परिस्थितियों में ही सम्भव होती हैं और ऐसी परिस्थितियों में किसी प्रकार की मुद्रा समुचित रूप में चालू रह सकती है। सङ्कटकाल में यह व्यवस्था टूट जाती है और धातु-मुद्रा की परिवर्तनशीलता तथा उसका विश्वास बनाये रखने की विशेषता समाप्त हो जाती है। प्रादिष्ट मुद्रा में भी बिल्कुल ऐसा ही होता है। तो फिर उसी को प्रामाणिक मुद्रा के रूप में क्यों न उपयोग किया जाय?

(२) साधनों का उचित उपयोग और देश का उचित आर्थिक विकास—किसी भी देश में मुद्रा की माँग व्यावसायिक कार्यों के परिमाण, औद्योगिक संगठन, यातायात तथा सम्वादवाहन के विकास, बैंकिंग प्रणाली के रूप तथा साख और साख के साधनों के विकास पर निर्भर होती है, परन्तु इनमें से किसी का धातु-कोष से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है। रॉबर्टसन का विचार है कि बहुत बार देश के भौतिक तथा मानव साधनों का पूर्ण उपयोग केवल इसी कारण नहीं हो सका है कि स्वर्ण-कोषों की कमी के कारण साख का समुचित विकास नहीं हो पाया था।* इसलिए स्वचालक धातु-मान के स्थान पर एक नियन्त्रित प्रादिष्ट-मान का उपयोग अधिक उपयुक्त हो सकता है। स्वर्णमान के खेल के नियमों के स्थान पर मानव नियन्त्रण का उपयोग अधिक लाभदायक सिद्ध होगा, क्योंकि इससे औद्योगिक समाज की आवश्यकतायें भी भली-भाँति पूरी होंगी।

(३) एक नियन्त्रित प्रादिष्ट-मान वित्तीय सुविधाओं को बढ़ाता है और आर्थिक अनियमितता को दूर करता है। इसके अन्तर्गत मुद्रा का विस्तार तथा

संकुचन इस प्रकार आयोजित किया जा सकता है कि *देश के सभी साधनों का पूर्ण उपयोग हो सके।* साथ ही, इसमें बदलती हुई आर्थिक दशाओं के अनुसार शीघ्रता-पूर्वक फेर-बदल की जा सकती है। इस प्रणाली में लोच भी बहुत होती है।

प्रादिष्ट मान के दोष—

(१) विनिमय दरों में अस्थिरता और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कठिनाई—क्योंकि इसमें मुद्रा की इकाई का किसी भी वस्तु के मूल्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता है, इसलिये विभिन्न देशों के बीच विनिमय-दरों के निर्धारण में कठिनाई होती है। वे स्थिर नहीं रह सकती हैं और उनके उच्चावचनों की कोई सीमा नहीं होती है। ऐसी दशा में उधार पर किये गये विदेशी व्यवसायों की मात्रा में भारी कमी आ जायगी, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य में उलझन पैदा हो जायगी।

(२) *प्रादिष्ट मुद्रा की अत्यधिक निकासी का भय बहुत अधिक रहता है।* इस अत्यधिक निकासी से सारी आर्थिक प्रणाली छिन्न-भिन्न हो सकती है और इस प्रकार यह मान स्वयं अपने उद्देश्य को ही समाप्त कर सकता है। धातुमान में अत्यधिक निकासी के विरुद्ध कुछ न कुछ उपचार अवश्य किये जा सकते हैं, परन्तु प्रादिष्ट मुद्रा-मान प्रणाली में कोई व्यावहारिक रोक-थाम सम्भव नहीं होती है।

पत्र-मुद्रा का संचालन कौन करे (Who should issue the paper currency)—

भूमिका—

पत्र-मुद्रा का निर्गमन कौन करे ?—आरम्भ से ही यह प्रश्न विवादग्रस्त रहा है कि नोटों की निकासी सरकार द्वारा की जाय, अथवा बैंकों द्वारा। साथ ही, इस विषय में भी सभी का एक मत नहीं है कि यदि बैंकों को नोटों की निकासी का अधिकार दिया जाता है तो यह एक बैंक को मिलना चाहिये अथवा एक ही साथ बहुत सी बैंकों को। ऐसे अर्थशास्त्रियों की कमी नहीं है जो इस बात के पक्ष में हैं कि नोट-निकासी का एकाधिकार सरकार के पास रहना चाहिये। इसके विपरीत बहुत से आर्थिक पण्डित यह अधिकार बैंकों को देना चाहते हैं। वर्तमान-काल में यह वाद-विवाद समाप्त नहीं हुआ है, यद्यपि नोटों की निकासी पर सरकारी नियन्त्रण के सिद्धान्त को अब सभी ने स्वीकार कर लिया है।

सरकार द्वारा नोट निर्गमन का कार्य—

सरकार द्वारा नोटों की निकासी के पक्ष में अनेक तर्क रखे जाते हैं, जिनमें से मुख्य-मुख्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) जनता का विश्वास—सरकार द्वारा निकाली हुई पत्र-मुद्रा पर जनता का विश्वास सबसे अधिक रहता है, क्योंकि जब तक जनता का सरकार के प्रति विश्वास बना रहेगा, इस मुद्रा पर अविश्वास का प्रश्न नहीं उठेगा। इसके अतिरिक्त

भले ही ऐसी पत्र-मुद्रा के पीछे कोई धातु की आड़ न हो, राष्ट्र की सारी सम्पत्ति और सरकार की सारी प्रतिष्ठा आड़ का काम करती है।

(२) मुद्रा-प्रणाली के सम्बन्ध की सरलता—राज्य को एक बहुत बड़े संगठन की सेवाएँ प्राप्त होती हैं और वह समाज की मौद्रिक माँगों का विशेषज्ञों द्वारा पता लगा सकता है। इसके अतिरिक्त उसके हाथ में नियम और कानून बनाने की भारी शक्ति होती है, जिसके कारण वह मुद्रा और साख के उत्पादन की प्रत्येक अवस्था पर समुचित नियन्त्रण रख सकता है। इसी कारण आवश्यकता पड़ने पर मुद्रा की मात्रा को घटाने-बढ़ाने में अन्य सभी संस्थाओं की अपेक्षा राज्य को अधिक सुविधा तथा अधिक सामर्थ्य प्राप्त होती है।

(३) लाभ का उपयोग सार्वजनिक हितों की उन्नति में—पत्र-मुद्रा की निकासी से लाभ अधिक होता है, परन्तु यह लाभ समस्त जनता के विश्वास के कारण पैदा होता है, इसलिए यह आवश्यक है कि इस लाभ का उपयोग भी जनता अथवा समाज के हितों को उन्नत करने के लिये ही किया जाय। इस लाभ के सरकारी कोषागार में जाने से इसके सार्वजनिक हितों की उन्नति में व्यय होने की सम्भावना अधिक रहती है।

(४) सरकार का बैंक के पत्र-मुद्रा निर्गमन में सदा ही बहुत हस्तक्षेप रहा है—अनुभव बताता है कि उन देशों में भी जहाँ पत्र-मुद्रा की निकासी व्यक्तिगत बैंकों द्वारा की जाती है, मुद्रा-नीति के निर्माण में सरकार का हाथ प्रमुख रहता है। मौद्रिक नीति के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय सरकार द्वारा ही किया जाता है। फिर सरकार इस काम को स्वयं ही क्यों न करे।

(५) ऐतिहासिक महत्त्व—ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी मुद्रा-निर्माण का कार्य राज्य द्वारा ही होता चला आया है।

(६) अनुपयुक्त नीति के घातक परिणामों से रक्षा—पत्र-मुद्रा के सम्बन्ध में अनुपयुक्त नीति अपनाने के परिणाम बहुधा इतने गम्भीर होते हैं कि इस कार्य को किसी ऐसी संस्था पर छोड़ देना घातक हो सकता है जो राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा अपने ही स्वार्थ पर अधिक ध्यान दे।

बैंक द्वारा नोट निर्गमन का कार्य—

इसके विपरीत व्यक्तिगत बैंक अथवा बैंकों को यह अधिकार सौंपने के पक्ष में भी बहुत से महत्त्वपूर्ण तर्क रखे जा सकते हैं :—

(१) चलन में लोच का अभाव—सरकारी विभागों का व्यापार, उद्योग तथा व्यवसाय से कोई प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं रहता है। उनका आर्थिक तथा वाणिज्य जगत में भी विशेष सम्बन्ध नहीं होता है। इस कारण सरकार द्वारा चलाई गई मुद्रा-प्रणाली में लोच का अभाव होता है, क्योंकि वह व्यावसायिक आवश्यकताओं पर आधारित नहीं होती है। इसके विपरीत बैंकों का देश के व्यापार-वाणिज्य और उद्योग से

घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है जिससे वे देश की मौद्रिक आवश्यकताओं का सुगमता से पता लगा सकते हैं और तदनुसार मुद्रा-मात्रा में प्रसार या संकुचन करते रह सकते हैं। इससे चलन में लोच आ जाती है।

(२) बैंक द्वारा पत्र-मुद्रा के निर्गमन का सुव्यवस्थित कार्य—सरकारी काम में ढील-ढाल रहती है और बहुधा विलम्ब भी होता है। किसी काम का निश्चित समय पर हो जाना कठिन होता है। मुद्रा की आवश्यकता अधिक होते हुए भी उसकी वृद्धि में कष्टदायक एवं हानिकारक विलम्ब होता है। किन्तु बैंक के विशेषज्ञ कर्मचारी सदा जागरूक रहते हैं, क्योंकि तनिक सी भी त्रुटि उनके बैंक को संकट में डाल सकती है और उन्हें भी मालिकों की ओर से निकाले जाने का डर रहता है, अतः वे सब काम समय पर निपटाते हैं।

(३) स्वस्थ आर्थिक विचारों पर आधारित मौद्रिक नीति—राज्य द्वारा पत्र-मुद्रा के संचालन में यह भी भय रहता है कि मौद्रिक नीति स्वस्थ आर्थिक विचारों के स्थान पर राजनैतिक तथा वित्तीय आवश्यकताओं से प्रभावित हों। प्रत्येक राजनैतिक दल अपने मत-पक्ष को निभाने का प्रयत्न करता है और जनता तथा करदाताओं से प्रशंसा प्राप्त करने के लिए करारोपण के स्थान पर पत्र-मुद्रा की निकासी द्वारा सरकारी वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयत्न करता है। इससे राजनैतिक भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता है। इसके विपरीत जब बैंक द्वारा नोटों का निर्गम किया जाता है तो वह विशुद्ध आर्थिक विचारों से प्रभावित होता है। राजनैतिक दलबन्दी के लिये कोई स्थान नहीं है।

(४) बैंकिंग के नियमों का पालन—भूतकालीन अनुभव स्पष्ट रूप से यह बताता है कि अधिकाँश सरकारें अपनी पत्र-मुद्रा की परिवर्तनशीलता बनाये रखने में भी असमर्थ रही हैं। बजट की हानि को पूरा करने के लिये नोट छाप कर आय प्राप्त करने की प्रवृत्ति अधिक व्यापक रही है और उसके कारण समाज को मुद्रा-प्रसार के भारी कष्ट उठाने पड़े हैं। इसके विपरीत एक बैंक सदा नोटों का निर्गम करते समय बैंकिंग के नियमों का पालन करता है, जिससे चलनाधिक्य का भय नहीं रहता।

(५) स्वतन्त्र उपक्रम में, राज्य द्वारा मुद्रा-संचालन की प्रथा स्वतन्त्र उपक्रम के विरुद्ध है। यह आशा करना भूल होगी कि एक अच्छा राजनीतिज्ञ अच्छा बैंकर भी होगा।

(६) लाभ का अधिकाँश भाग सार्वजनिक हित में व्यय—जब बैंक पत्र-मुद्रा का प्रकाशन करता है, तो उसको होने वाले लाभ का अधिकांश भाग सरकार करों द्वारा लेकर सरकारी खजाने में जमा कर लेती है तथा वहाँ से वह सार्वजनिक कार्यों में व्यय होता रहता है। बिचारे शेयरहोल्डरों की जेब में तो थोड़ा ही लाभ पहुँचने पाता है।

निष्कर्ष

उपरोक्त सभी बातों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि शायद नोटों की निकासी के लिये राज्य की अपेक्षा बैंक ही अधिक उपयुक्त संस्थाएँ हैं। उनका व्यापारी एवं व्यवसायिक जगत से सीधा और घनिष्ट सम्बन्ध होता है और उन्हें मुद्रा तथा साख सम्बन्धी व्यवहारिक तथा विशेषज्ञ ज्ञान भी प्राप्त होता है। ये संस्थाएँ मुद्रा-प्रणाली में आवश्यक लोच उत्पन्न कर सकती हैं। जहां तक जनता के विश्वास का प्रश्न है, बैंक द्वारा निकाले हुये नोटों की प्रतिष्ठा सरकारी नोटों से कम नहीं होती है और यदि सरकार नोट-निकासी के लिए समुचित विधान बना दे तथा बैंक द्वारा निकाले हुए नोटों की परिवर्तनशीलता की गारन्टी ले ले तो फिर अविश्वास का प्रश्न भी नहीं उठता है। चलन की निकासी से बैंकों को जो भारी लाभ होता है, उसका अधिकाँश भाग सरकार करों के रूप में ले सकती है। इस प्रकार बैंक द्वारा पत्र-मुद्रा की निकासी की व्यवस्था अधिक उपयुक्त तथा मितव्ययी होगी।

एक अथवा अनेकों बैंकों द्वारा पत्र-मुद्रा-निर्गम (Single Note Issue Vs. Multiple Note Issue System)—

इस निर्णय के पश्चात् कि नोटों की निकासी का कार्य बैंक द्वारा होना चाहिए, इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि यह कार्य किसी एक बैंक द्वारा सम्पन्न किया जाय, अथवा इसमें बहुत सी बैंक सामूहिक रूप में हिस्सा लें। दूसरे शब्दों में, नोट निर्गम की एकाकी निर्गम प्रणाली (Single Issue System) को अपनाया जाय, अथवा बहुबाही निर्गम प्रणाली (Multiple Issue System) को। *भूतकाल में अधिकांश देशों में बहुत सी बैंकों द्वारा नोटों की निकासी का काम किया जाता था, परन्तु आधुनिक प्रवृत्ति एकाकी निर्गम प्रणाली की ओर विशेष रूप से है। इस प्रणाली से अनेक लाभ हैं।*

(१) धातु-निधि का मितव्ययी एवं लाभपूर्ण उपयोग—इस प्रणाली में देश के धातु-कोषों को एक ही बैंक में एकत्रित कर दिया जाता है, जिसके कारण उनका अधिक सप्रभाविक, मितव्ययी तथा लाभपूर्ण उपयोग हो सकता है।

(२) पत्र-मुद्रा में एकरूपता—अलग-अलग बैंकों द्वारा निकाले हुए नोट भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। प्रत्येक बैंक की साख में भी अन्तर होता है, इसलिए जनता के लिए अच्छी और बुरी मुद्रा में भेद करना कठिन हो जाता है। वैसे भी ऐसी व्यवस्था में झंझट और उलझन का भय रहता है।

(३) मुद्रा प्रणाली के नियन्त्रण में सुविधा—एकाकी प्रणाली में सरकार का नियन्त्रण भी अधिक सप्रभाविक तथा व्यापक हो सकता है।

(४) प्रतियोगिता का अभाव—इस प्रणाली में बैंकों की पारस्परिक प्रतियोगिता का प्रश्न ही नहीं उठता है।

(५) जनता का अधिक विश्वास—जब नोटों की निकासी का एकाधिकार एक ही बैंक के पास होता है और सरकार इन नोटों की गारन्टी देती है तो नोटों के प्रति विश्वास बहुत अधिक रहता है।

इस प्रकार यही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि नोट निकासी का एकाधिकार एक ही बैंक के पास रहे, परन्तु यह बैंक कौन सी होनी चाहिए? निस्संदेह अन्य बैंकों की अपेक्षा देश की केन्द्रीय बैंक इस कार्य के लिए अधिक उपयुक्त होती है। इङ्गलैण्ड, भारत, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में नोट की निकासी का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक के ही पास है। अमरीका तथा जापान में उपरोक्त देशों की भाँति केन्द्रीय बैंक तो नहीं हैं, परन्तु वहाँ पर भी एकाकी प्रणाली का ही एक दूसरा रूप प्रचलित है।

नोट निर्गम के सिद्धान्त
(Principles of Note-issue)

नोटों की निकासी के सम्बन्ध में दो विपरीत विचारधाराएं हैं और दोनों ही के समर्थक अपने-अपने सिद्धान्तों को सही बताते हैं। इन सिद्धान्तों को चलन सिद्धान्त (Currency Principle) तथा बैंकिंग अथवा अधिकोषण सिद्धान्त (Banking Principle) के नाम से पुकारा जाता है। दोनों सिद्धान्तों में आधारभूत भिन्नता है, इसलिये दोनों को ठीक-ठीक समझ लेना आवश्यक है। दोनों की व्याख्या नीचे दी जाती है :—

(१) चलन सिद्धान्त या सुरक्षा सिद्धान्त—

यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि कागजी नोटों की निकासी का उद्देश्य केवल यही होता है कि बहुमूल्य धातुओं के सिक्कों के कम खर्च वाले स्थानापन्न (Substitutes) निकाले जायँ, जिससे मुद्रा के हस्तान्तरण में सुविधा हो और प्रचलन के कारण धातु नष्ट न होने पाये। इस कारण नोटों को बहुमूल्य धातुओं में पूर्ण रूप में परिवर्तनशील होना चाहिये और मुद्रा-नियन्त्रक को उनके पीछे १०० प्रतिशत सोने-चाँदी की आड़ रखनी चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार देश की पत्र-मुद्रा की मात्रा देश में स्थित स्वर्ण अथवा अन्य बहुमूल्य धातुओं के कोषों पर निर्भर रहती है। यदि देश में बहुमूल्य धातु का आयात होता है तो धातु-कोष की वृद्धि के अनुपात में पत्र-मुद्रा स्वयं ही बढ़ जायगी। ठीक इसी प्रकार बहुमूल्य धातु के निर्यात के अनुपात में पत्र-मुद्रा की मात्रा घट जायगी। जन-विश्वास को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि स्वर्ण अथवा अन्य किसी बहुमूल्य धातु के कोष पर ही पत्र-मुद्रा की निकासी हो। यदि ऐसा किया जाता है तो पत्र-मुद्रा पर जनता को पूरा विश्वास होगा और इस मुद्रा के अति निर्गम (Over-issue) की सम्भावना नहीं रहेगी। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अन्तर्गत प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा का प्रचलन रहना चाहिए, जो सबसे अधिक विश्वसनीय पत्र-मुद्रा होती है।

गुण—

(i) सुरक्षा—मुद्रा-चलन पूरी तौर से सुरक्षित रहता है, क्योंकि नोटों के पीछे १००% बहुमूल्य धातु की आड़ होती है।

(ii) जनता का विश्वास—नोट सदा धातु में परिवर्तनीय होते हैं; इसलिए इस प्रणाली में जनता का विश्वास रहता है।

दोष—

(i) साख की उपयोगिता की उपेक्षा—इसमें तो सन्देह नहीं है कि इस सिद्धान्त ने सुरक्षा को भारी महत्त्व दिया है, परन्तु इसमें साख की उपयोगिता तथा उसकी आवश्यकता पर ध्यान नहीं दिया गया है। केवल सुरक्षा होने से ही काम नहीं चल सकता।

(ii) *मुद्रा प्रणाली में लोच* का होना भी आवश्यक है, ताकि आवश्यकता पड़ने पर चलन की मात्रा का बढ़ाना और घटाना सम्भव हो सके। लोच के बिना व्यापार और उद्योग के विकास में भारी बाधा पड़ जायगी।

(iii) अमितव्ययिता—इसके अतिरिक्त इस पद्धति में काफी मात्रा में सोना और चाँदी सुरक्षित निधि के रूप में बेकार पड़ा रहता है। इस प्रकार ऐसी प्रणाली मितव्ययी नहीं होगी।

बैंकिंग सिद्धान्त—

यह सिद्धान्त इस बात पर जोर देता है कि मुद्रा द्वारा विनिमय माध्यम का कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा-प्रणाली में लोच हो। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रचलित नोटों की कीमत का केवल एक भाग ही सोने अथवा चाँदी के रूप में सुरक्षित कोषों में रहना चाहिए। सौ प्रतिशत कीमत का इस प्रकार रखना आवश्यक नहीं है। बैंकों को पत्र-मुद्रा की निकासी के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता रहनी चाहिए, क्योंकि यदि वे आवश्यकता से अधिक नोट निकालती हैं तो फालतू नोट नकदी में बदलवाने के लिए बैंक के पास लौट आयेंगे और यदि वास्तविक आवश्यकता के अनुसार ही नोटों की निकासी होती है तो अति-निर्गमन का भी भय नहीं रहेगा और नोटों की परिवर्तनशीलता भी बनी रहेगी। परिवर्तनशीलता के लिए १०० प्रतिशत धातु-निधि की आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि अपने अनुभव द्वारा बैंक को यह ज्ञात होता है कि एक निश्चित काल में कुल नोटों का केवल एक निश्चित भाग ही सोने अथवा चांदी में बदलने के लिए प्रस्तुत किया जाता है। यदि केवल इस भाग के लिए धातु-कोष की समुचित व्यवस्था की जाती है तो जनता के विश्वास के टूट जाने अथवा नोटों के बदले में धातु न दे सकने का भय नहीं रहता है।

गुण—

(i) लोच—इस प्रकार इस सिद्धान्त पर आधारित मुद्रा-प्रणाली का सबसे

महत्त्वपूर्ण गुण लोच होता है औद्योगिक तथा व्यावसायिक आवश्यकताओं के अनुसार चलन की मात्रा को बढ़ाना और घटाना सदा ही सम्भव होता है।

(ii) सोने व चाँदी के उपयोग में बचत—इसके अतिरिक्त सोने और चाँदी के उपयोग में भी बचत होती है

दोष—

(१) सुरक्षा की कमी—परन्तु ऐसी मुद्रा-प्रणाली में सुरक्षा कम रहती है, क्योंकि नोटों की निकासी के पीछे शत-प्रतिशत धातु नहीं रखी जाती।

(२) सुरक्षा की कमी—उक्त कारणों से इसमें पूर्ण सुरक्षा का भी प्रायः अभाव रहता है।

दोनों में से कौन सी प्रणाली अच्छी है?—

आधुनिक युग में यह निर्णय करना कठिन नहीं है कि व्यापारिक दृष्टिकोण से दोनों में से कौनसी प्रणाली अधिक उपयुक्त है। *चलन-सिद्धान्त के आधार पर मुद्रा-प्रणाली का निर्माण करना तो आज के संसार में सम्भव ही नहीं है।* स्वर्ण कोषों की कमी तथा सोने के विभिन्न देशों के बीच असमान वितरण के कारण अधिकांश देशों के लिए नोटों को १०० प्रतिशत सोने की आड़ प्रदान करना भी सम्भव नहीं है। चाँदी की आड़ भी लगभग असम्भव ही है। *इस कारण बैंकिंग सिद्धान्त के आधार पर ही मुद्रा-प्रणाली का निर्माण किया जाता है।* ऐसी प्रणाली में धातु-निधि तथा अन्य साधनों की व्यवस्था करके सुरक्षा का गुण भी प्राप्त किया जा सकता है। एक आदर्श-मुद्रा प्रणाली वही होगी जिसमें सुरक्षा तथा लोच के दोनों गुणों का समावेश हो और जो इसके साथ ही साथ व्यावहारिक भी हो। समुचित नियन्त्रण द्वारा बैंकिंग सिद्धान्त में ये सभी गुण प्राप्त किये जा सकते हैं और इसी कारण वर्तमान संसार में इसका चलन है।

नोट निर्गम की पद्धतियाँ

(The Methods of Note issue)

नोट निर्गम के सिद्धान्तों का अध्ययन करने के पश्चात् नोटों की निकासी की विभिन्न रीतियों का अध्ययन भी आवश्यक है। नोट की निकासी की सात रीतियाँ महत्त्वपूर्ण हैं:—(१) निश्चित विश्वासाश्रित निर्गम प्रणाली, (२) अधिकतम् विश्वासाश्रित निर्गम प्रणाली, (३) अनुपातिक निधि पद्धति, (४) साधारण निधि प्रणाली, (५) आंशिक निधि पद्धति, (६) न्यूनतम् निधि पद्धति और (७) कोषागार-विपत्र निधि प्रणाली।

(१) निश्चित विश्वासाश्रित निर्गम प्रणाली (Fixed Fiduciary System)—

इस प्रणाली में मुद्रा-नियन्त्रक को यह अधिकार दिया जाता है कि वह

एक निश्चित मात्रा तक, बिना किसी प्रकार की धातु-निधि के, नोटों की निकासी कर ले, परन्तु इस निश्चित मात्रा के ऊपर प्रत्येक कागजी नोट के पीछे १०० प्रतिशत धातु-निधि रखी जाती है। जो पत्र-मुद्रा बिना धातु-निधि के निकाली जाता है, उसके पीछे सरकारी प्रतिभूतियों की आड़ होती है और ऐसे निर्गम को विश्वासाश्रित निर्गम (Fiduciary issue) कहा जाता है। इस प्रणाली का प्रमुख उद्देश्य पत्र-मुद्रा की धातु में परिवर्तनशीलता बनाये रखना होता है।

इङ्गलैण्ड में यह प्रणाली काफी लम्बे काल तक चालू रही है। सन् १८४४ के बैंक चार्टर एक्ट के अनुसार बैंक ऑफ इङ्गलैण्ड को १४० लाख पौंड की कीमत के नोटों को विश्वासाश्रित निर्गम का अधिकार दिया गया था, परन्तु स्वर्ण-कोषों की कमी और मुद्रा-विस्तार की आवश्यकता के कारण ऐसे निर्गम की मात्रा सन् १९२८ में बढ़ा कर २६ करोड़ पौंड कर दी गई थी। सन् १९३९ में यह सीमा ३,००० लाख पौंड कर दी गई थी। सन् १९४६ में यह १४,५०० लाख पौंड थी, परन्तु जनवरी सन् १९५० में यह केवल १३,००० लाख पौंड रह गई थी। इङ्गलैण्ड के अतिरिक्त जापान तथा नॉरवे ने भी कुछ संशोधनों के साथ इसी प्रणाली को अपनाया था। सन् १८६१ और सन् १९२० के बीच भारत में भी यही प्रणाली चालू थी।

गुण—

(१) सुरक्षा—इस प्रणाली का मुख्य लाभ यह है कि इसमें पत्र-मुद्रा के बदले में सोना मिलना निश्चय होता है। कुछ मूल्य के नोट ऐसे अवश्य होंगे जिनके पीछे स्वर्ण-निधि नहीं रहेगी, परन्तु क्योंकि सभी नोट सोने में बदलने के लिए प्रस्तुत नहीं किये जाते हैं, इसलिए नोटों की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता सदा बनी रहती है।

(२) अति निर्गमन का भय नहीं—इसके अतिरिक्त पत्र-मुद्रा से अति-निर्गमन का भय नहीं रहता है, क्योंकि नोटों की प्रत्येक अगली निकासी के लिए समान कीमत का सोना कोष में रखा जाता है।

(३) जनता का विश्वास—जनता का विश्वास भी इस प्रकार की पत्र-मुद्रा-प्रणाली के प्रति अधिक होता है।

दोष—

(१) लोच का अभाव—किन्तु इस प्रणाली का प्रमुख दोष लोच का अभाव है। यदि राष्ट्रीय संकट के काल में अधिक मुद्रा की आवश्यकता पड़ती है तो उसे प्राप्त करने के दो ही उपाय हो सकते हैं:—या तो विदेशों से सोना मंगाया जाय, जो लगभग असम्भव होता है या प्रणाली के नियमों को तोड़ा जाय, जो प्रणाली के प्रति अविश्वास उत्पन्न कर देगा। इङ्गलैण्ड में इस प्रणाली का इतिहास यह स्पष्ट कर देता है कि उस देश को समय-समय पर विश्वासाश्रित निर्गम की मात्रा में काफी परिवर्तन करने पड़े हैं और अनेक बार इससे सम्बन्धित नियमों को तोड़ना पड़ा है।

सोना खरीदने में मुद्रा-नियन्त्रक को इस कारण भी कठिनाई होती है कि चलन की माँग बढ़ने पर सोने की कीमत भी बढ़ जाती है।

(२) व्ययपूर्ण—इसके अतिरिक्त यह प्रणाली व्ययपूर्ण है और केवल उन्हीं देशों में सफल हो सकती है, जहाँ सोना अधिक मात्रा में उपलब्ध है तथा जहाँ साख-मुद्रा का इतना अधिक प्रचार हो चुका है कि उसके उपयोग के कारण चलन की माँग में समय-समय पर भारी परिवर्तन नहीं होता है। इङ्गलैण्ड में इसकी सफलता का मुख्य कारण यही रहा है। भारत में चलन की माँग में समय-समय पर इतने अधिक परिवर्तन होते रहते हैं कि सन् १९२० के पश्चात् इसके अपनाने का प्रश्न ही नहीं उठा है।

(२) अधिकतम् विश्वासाश्रित निर्गम प्रणाली (The Fixed Maximum Fiduciary System)—

इस प्रणाली के अन्तर्गत विधान द्वारा पत्र-मुद्रा की एक अधिकतम् मात्रा निश्चित कर दी जाती है। इस निर्धारित सीमा तक मुद्रा-नियन्त्रक बिना किसी प्रकार के धातु-कोष के ही नोटों की निकासी कर सकता है, परन्तु निश्चित अधिकतम् सीमा के परे मुद्रा-नियन्त्रक को नोट निकालने का अधिकार नहीं होता है, चाहे उसके लिए १०० प्रतिशत स्वर्ण-कोषों की ही व्यवस्था क्यों न हों। कितना सोना चलन की आड़ में रखा जाय, इसका निर्णय मुद्रा-नियन्त्रक स्वयं करता है। इस प्रणाली में विश्वासाश्रित निर्गमन की अधिकतम् सीमा निश्चित करने में सावधानी बर्ती जाती है। देश की वाणिज्यिक तथा व्यवसायिक आवश्यकताओं का ठीक-ठीक अनुमान लगाकर देश में चलन की माँग निश्चित की जाती है। विश्वासाश्रित निर्गमन की मात्रा साधारणतया इतनी रखी जाती है कि देश की चलन सम्बन्धी साधारण आवश्यकताएँ बिना किसी कठिनाई के पूरी होती रहें। इन आवश्यकताओं में परिवर्तन होने की दशा में समय-समय पर निश्चित अधिकतम् विश्वासाश्रित निर्गम की मात्रा में भी परिवर्तन कर दिये जाते हैं।

सन् १९२८ तक फ्रांस में यही प्रणाली प्रचलित थी। इङ्गलैंड में भी मैकमिलन समिति ने इसी के ग्रहण करने की सिफारिश की थी। फ्रांस में जब कभी भी पत्र-मुद्रा की मात्रा अधिकतम् सीमा के निकट पहुँचती थी तो सरकार मुद्रा-प्रणाली में लोच बनाये रखने के लिए सीमा को आगे बढ़ा देती थी। समय-समय पर सरकार बैंक ऑफ फ्रांस की साख नीति की जाँच करती रहती थी और उसे आवश्यक चेतावनी भी देती रहती थी, परन्तु सन् १९२८ में फ्रांस ने इसे छोड़ दिया।

गुण—

(१) *इसी प्रणाली का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें स्वर्ण को अनावश्यक रूप में कोषागारों में बन्द करके रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती है।* स्वर्ण-निधि की मात्रा का निर्णय बैंक की स्वेच्छा पर छोड़ दिया जाता है।

(२) मुद्रा प्रणाली में लोच—दूसरा गुण यह है कि सरकार सोच-समझ कर देश की व्यापारिक तथा वाणिज्यिक आवश्यकताओं के अनुसार पत्र-चलन की निकासी निश्चित करती है। इससे मुद्रा-प्रणाली में आवश्यक लोच बनी रहती है और आवश्यकता से अधिक निकासी का भय नहीं रहता है।

दोष—

(१) सरकार द्वारा दुरुपयोग की संभावना—परन्तु यह प्रणाली भी दोषों से विमुक्त नहीं है। सरकार इसका दुरुपयोग कर सकती है। केवल आय प्राप्त करने के लिए निश्चित अधिकतम् सीमा का विस्तार किया जा सकता है, जिसके कारण चलन की मात्रा व्यापार और व्यवसाय की आवश्यकता से अधिक हो जाती है और अति-निर्गम के सभी परिणाम दृष्टिगोचर होने लगते हैं। इस प्रणाली में मुद्रा-प्रसार के विरुद्ध किसी प्रकार की रुकावट नहीं है।

(२) लोच का अभाव—यदि सरकार नोट निकासी की अधिकतम् सीमा में परिवर्तन न करे, तो यह पद्धति देश में बढ़ते हुये व्यापार की माँग को पूरा नहीं कर सकती है। इस दृष्टि से यह पद्धति कम लोचदार कही जा सकती है।

(३) रूढ़िवादी प्रणाली—यह प्रणाली नोट-निर्गमन के बैंकिंग सिद्धान्त की अपेक्षा करैन्सी सिद्धान्त पर अधिक जोर देती है। यही कारण है कि इसे एक रूढ़िवादी प्रणाली माना जाता है।

(३) अनुपातिक निधि प्रणाली (The Proportional Reserve System)—

इस पद्धति में नोटों की सम्पूर्ण निकासी के पीछे धातु की आड़ रखी जाती है, परन्तु यह आड़ १०० प्रतिशत नहीं होती है, बल्कि नियम द्वारा १०० प्रतिशत से कम नियत की जाती है,—जैसे ३०% अथवा ४०%। सभी पत्र-मुद्रा के पीछे आड़ रहती है और विश्वासाश्रित निर्गम नहीं होता है। पत्र-मुद्रा के जिस भाग के पीछे स्वर्ण निधि नहीं होती है उसकी आड़ में प्रतिभूतियाँ रखी जाती हैं। इस प्रकार पत्र-मुद्रा निर्गम का एक निश्चित प्रतिशत ही धातु-निधि के रूप में रखा जाता है।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् यह पद्धति काफी लोकप्रिय हुई थी। सन् १९२८ में फ्रांस ने निश्चित अधिकतम् विश्वासाश्रित प्रणाली को त्याग कर इसी पद्धति को अपनाया था। संयुक्त राज्य अमरीका के फैडरल रिजर्व सिस्टम ने भी इसी पद्धति को अपनाया है। हिल्टन-यंग आयोग की सिफारिशों के आधार पर सन् १९२७ में भारत सरकार ने भी इसे ग्रहण किया था और सन् १९३४ के रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में इसे स्थान दिया था।

गुण—

(१) लोच—इस प्रणाली का एक मात्र गुण इसकी लोच है । यदि पत्र-मुद्रा के पीछे २५% स्वर्ण-निधि रखी जाती है तो खजाने में एक सोने के सिक्के के आते ही चार कागज के नोट निकाले जा सकते हैं । इसके अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर स्वर्ण-निधि का प्रतिशत घटाकर पत्र-चलन का आवश्यक विस्तार किया जा सकता है ।

(२) परिवर्तनशीलता—साथ ही, यदि सरकार सोच-समझ कर काम करती है तो नोटों की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता बराबर बनी रहती है ।

दोष—

परन्तु इस पद्धति के अनेक दोष हैं :—

(१) मुद्रा-संकुचन में कठिनाई—इसमें मुद्रा का विस्तार करना तो सरल होता है, परन्तु मुद्रा-संकुचन में कठिनाई होती है । सुरक्षित निधि से सोने का एक सिक्का निकलने पर तीन-चार नोटों को रद्द करना पड़ता है, जबकि अन्य प्रणालियों में ऐसी दशा में केवल एक नोट को रद्द कर देने से काम चल जाता है ।

(२) सोना कोष में बेकार पड़ा रहता है—इस प्रणाली में भी काफी मात्रा में सोना बेकार ही सुरक्षित-कोषों में बन्द पड़ा रहता है ।

(३) नोटों की परिवर्तनशीलता केवल सैद्धान्तिक—इस प्रणाली में नोटों की परिवर्तनशीलता को बनाये रखना कठिन भी होता है । इस सम्बन्ध में व्यवहारिक कठिनाई यह है कि एक नोट के भुनाने में एक सोने का सिक्का दिया जाता है, परन्तु एक सिक्के के निकल जाने के कारण सोने की मात्रा कानूनी अनुपात से कम रह जाती है, इसलिए बिना अनुपात सम्बन्धी कानून को भङ्ग किये नोटों के बदले में सोना दे देना सम्भव नहीं होता है । इस प्रकार इस पद्धति में नोटों की परिवर्तन-शीलता सैद्धान्तिक ही रहती है ।

(४) साधारण निधि प्रणाली (Simple Deposit System)—

इस पद्धति में नोटों की कीमत के बराबर सोना और चांदी धातु-निधि के रूप में रखना आवश्यक होता है । सम्पूर्ण पत्र-मुद्रा के पीछे १०० प्रतिशत धातु-निधि होती है और इस प्रकार केवल प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा का ही चलन होता है ।

गुण-दोष—

विश्वास के दृष्टिकोण से तो यह प्रणाली सबसे उत्तम है, परन्तु इसमें *मितव्ययिता तथा लोच का अभाव होता है* और इसे चलाने के लिए लम्बे-चौड़े स्वर्ण कोषों की आवश्यकता पड़ती है ।

(५) आंशिक अनुपात निधि प्रणाली (The Percentage Method)—

यह प्रणाली अनुपातिक निधि पद्धति का ही एक सुधरा हुआ रूप है । इसमें भी कुल पत्र-मुद्रा का एक निश्चित भाग ही सोने और चाँदी के रूप में रखा जाता है,

परन्तु निधि का एक भाग विदेशी बैंकों में विदेशी मुद्राओं, विनिमय बिलों अथवा अन्य अल्पकालीन विनियोगों के रूप में रखा जा सकता है। विधान के अनुसार भारत सरकार की पत्र मुद्रा का ४०% निधि के रूप में रखना आवश्यक होता है, परन्तु इस निधि का ६०% विदेशी विनिमय तथा अल्पकालीन विदेशी विनियोगों में रखा जा सकता है।

गुण-दोष—

इस प्रणाली का मुख्य गुण यह है कि सोने और चाँदी के उपयोग में बचत होती है और साथ ही साथ मुद्रा-प्रणाली में लोच बनी रहती है। परन्तु विदेशी विनिमय का जमा करना, विदेशों में कोषों का रखना तथा विनियोग करना भी भय से सुरक्षित नहीं है। वैसे भी यह प्रणाली स्वर्ण-विनिमय मान का ही पत्र-मुद्रा स्वरूप है और उसके सभी दोष इसमें पाये जाते हैं।

(६) न्यूनतम् निधि प्रणाली (Minimum Reserve System)—

इस पद्धति में कानून द्वारा धातु-निधि की एक न्यूनतम् मात्रा निश्चित कर दी जाती है। मुद्रा नियन्त्रक का कर्त्तव्य केवल इतना होता है कि वह निश्चित कीमत की धातु निधि को अपने पास बनाये रखे। इसके पश्चात् पत्र-चलन की निकासी की मात्रा पर किसी भी प्रकार की रोक नहीं होती है। कम से कम निधि रख कर बैंक कितनी भी मात्रा में नोट छाप सकती है।

गुण-दोष—

इस प्रणाली में लोच, मितव्ययिता तथा परिवर्तनशीलता के गुण हैं, परन्तु यह प्रणाली केवल अभिवृद्धि (Prosperity) के काल में ही सफल होती है, जबकि व्यवसायिक वर्ग को मुद्रा की आवश्यकता अधिक होती है। संकट-काल में उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति नहीं होने पाती है। जब निधि की मात्रा नोटों के बदले में सोना देने के कारण घट कर न्यूनतम् मात्रा के बराबर रह जाती है तो केन्द्रीय बैंक नोटों की परिवर्तनशीलता स्थगित कर देती है। न्यूनतम सीमा के बढ़ाये जाने के भय के कारण भी बहुवा केन्द्रीय बैंक न्यूनतम कीमत से अधिक कीमत का सोना बेकार ही अपने पास रखती है।

(७) कोषागार-विपत्र निधि प्रणाली (The Bonds Deposit System)–

इस पद्धति में बैंक को पत्र-मुद्रा के लिए धातु-निधि नहीं रखनी पड़ती है। पत्र-मुद्रा का निर्गम कोषागार विपत्रों (Treasury Bills) के आधार पर हो सकता है। यह विपत्र सरकार के अल्पकालीन प्रतिज्ञा-पत्र (I. O. Us.') होते हैं। सरकार द्वारा कोषागार विपत्र बैंक को दे दिये जाते हैं, जो उन्हें प्रतिभूति मान कर उनकी कीमत की पत्र-मुद्रा की निकासी कर देती है। वैसे तो इन कोषागार विपत्रों पर सरकार को ब्याज मिलती है, परन्तु उद्देश्य आय कमाना न होकर पत्र-मुद्रा की सुव्यवस्था करना होता है।

गुण-दोष—

इस प्रणाली में *अति-निर्गम का भय कम रहता है*, क्योंकि बैंक सरकारी प्रतिभूतियों को खरीदे बिना पत्र-चलन में वृद्धि नहीं कर सकती है। यदि बैंक अधिक नोट निकालना चाहती है तो उसे अधिक प्रतिभूतियाँ खरीदनी पड़ेंगी, जिससे उनकी कीमत बढ़ जायगी और बैंक को लाभ के स्थान पर हानि होगी, परन्तु इस प्रणाली में *लोच का अत्यधिक अभाव* होता है। साथ ही, सोना देने के लिए प्रतिभूतियों का विक्रय करना होता है और जब भारी संख्या में प्रतिभूतियाँ बेची जाती हैं तो मुद्रा-नियन्त्रक को हानि होती है, क्योंकि प्रतिभूतियों की कीमत गिर जाती है।

भारत सरकार ने सन् १९०२ के पश्चात् इस प्रकार का प्रयोग किया था और स्वर्ण-निधि को सरकारी प्रतिभूतियों के रूप में लन्दन में रखना आरम्भ किया था, सन् १९०५ के विदेशी विनिमय सङ्कट के काल में प्रतिभूतियाँ बहुत सस्ती कीमत पर बिकी थीं और भारत सरकार को अधिक हानि हुई थी। संयुक्त राज्य अमरीका ने भी सन् १९१३ से पहले इस प्रणाली का उपयोग राष्ट्रीय बैंक नोटों के सम्बन्ध में किया था। कुछ बैंकों को एक निर्धारित अधिकतम् मात्रा में कुछ प्रकार के सरकारी बौंडों पर नोट निकालने का अधिकार दिया गया था।

नोट निर्गम की प्रणालियाँ

- निश्चित विश्वासाश्रित प्रणाली (The Fixed Fiduciary System)
- अधिकतम् विश्वासाश्रित निर्गम प्रणाली (The Fixed Maximum Fiduciary System)
- अनुपातिक निधि प्रणाली (The Proportional Reserve System)
- साधारण निधि प्रणाली (The Simple Deposit System)
- आंशिक अनुपात निधि प्रणाली (The Percentage System)
- न्यूनतम् निधि प्रणाली (The Minimum Reserve System)
- कोषागार विपत्र निधि प्रणाली (The Bonus Deposit System)
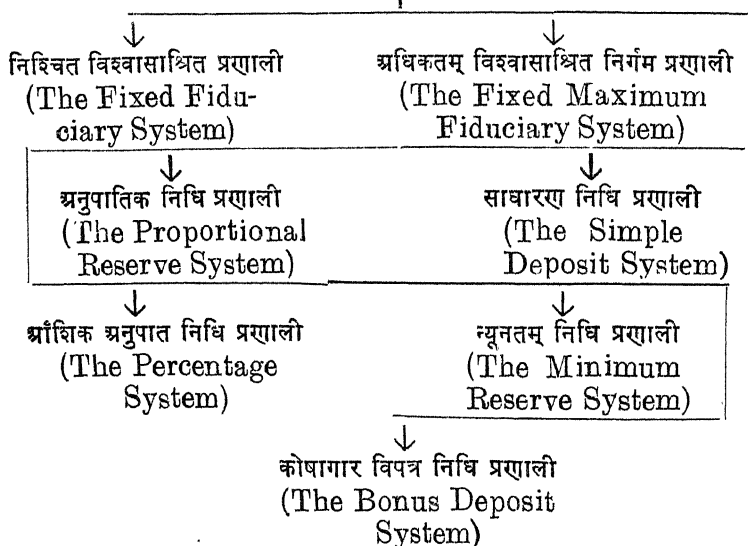
नोट निकासी और उसके नियन्त्रण का सबसे सही सिद्धान्त क्या है?—

ऊपर हमने नोट निर्गमन की अनेक रीतियों का उल्लेख और उनके गुणों और दोषों का भी अध्ययन किया है। अब प्रश्न यह उठता है कि नोटों की निकासी

का सही सिद्धान्त क्या होना चाहिए ? इस समस्या को दो भागों में बाँटा जा सकता है:—पहला प्रश्न तो यह उठता है कि क्या धातु-निधि तथा पत्र-मुद्रा के बीच किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहना चाहिए ? दूसरा प्रश्न यह है कि पत्र-चलन के निर्गमन के लिए किसी देश को सोने अथवा चाँदी का कितना कोष रखना चाहिए ? पहले प्रश्न के उत्तर के लिए हमें पहले तो यह ज्ञात करना आवश्यक है कि पत्र-मुद्रा के पीछे धातु-निधि रखने का क्या उद्देश्य होता है ? निस्सन्देह नोटों की सोने-चाँदी में परिवर्तनशीलता इसलिए रखी जाती है कि नोटों के प्रति जनता का विश्वास बना रहे और विदेशी भुगतानों का स्वर्ण में भुगतान किया जा सके । धातु-निधि का उद्देश्य विश्वास को बनाये रखना है । ऐसी दशा में यह आवश्यक प्रतीत नहीं होता है कि पत्र-मुद्रा के निर्गमन को किसी भी प्रकार सोने की मात्रा के साथ सम्बन्धित किया जाय । दूसरे शब्दों में, देश में पत्र-चलन की मात्रा स्वर्ण-कोषों की मात्रा से स्वतन्त्र रूप में निश्चित होनी चाहिए । नोटों की निकासी के सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंक पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक प्रतीत नहीं होता है । स्वर्ण-निधि का नोटों के चलन के साथ किसी प्रकार का गठबन्धन नहीं होना चाहिए । ऐसा सोचना भूल होगी कि केन्द्रीय बैंक अपनी जिम्मेदारी को नहीं निभायेगी । यदि हम केन्द्रीय बैंक को साख मुद्रा के नियन्त्रण का अधिकार दे सकते हैं तो फिर चलन के संचालन में कौन सी बात है ।

जहाँ तक दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है, उसके विषय में हम यह कह सकते हैं कि यदि मुद्रा का मान स्वर्णमान हो तो सोने का उपयोग विदेशी भुगतानों में विनिमय माध्यम के रूप में ही हो सकता है । इस कारण यह अधिक उपयुक्त है कि स्वर्ण-कोष की मात्रा नोटों के निर्गम पर निर्भर न रह कर विदेशी भुगतानों की मात्रा पर निर्भर रहे । स्वर्ण कोषों में इतना सोना रहना चाहिए कि केन्द्रीय बैंक अल्पकालीन भुगतानों को शीघ्र चुका सके, क्योंकि दीर्घकाल में तो व्यापाराशेष के सन्तुलन के अनेक उपाय किये जा सकते हैं । स्वर्ण-कोषों की मात्रा का यही आधार होना चाहिए ।

एक अच्छी चलन पद्धति वही है जिसमें, मितव्ययिता, लोच, परिवर्तनशीलता तथा अति-निर्गम के विरुद्ध सुरक्षा हो । अच्छा यही है कि पत्र-मुद्रा का निर्गमन पूर्णतया केन्द्रीय बैंक को सौंप दिया जाय और उसे चलन की मात्रा तथा धातु-निधि का प्रबन्ध करने की स्वतन्त्रता दे दी जाय । यदि सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता ही हो तो वह दो दिशाओं में होना चाहिए :—प्रथम, सरकार को न्यूनतम स्वर्ण-निधि की मात्रा निश्चित कर देनी चाहिए और दूसरे, पत्र-मुद्रा की निकासी की अधिकतम् सीमा भी निश्चित कर देनी चाहिए । ऐसी मात्रा तथा ऐसी सीमा में समय-समय पर आवश्यकतानुसार परिवर्तन आवश्यक होंगे । इस प्रकार एक अच्छी मुद्रा-प्रणाली निश्चित अधिकतम् विश्वासाश्रित प्रणाली तथा न्यूनतम् निधि प्रणाली का एक मिश्रित एवं संशोधित रूप है ।

एक अच्छी चलन प्रणाली के गुण

(Essentials of a good currency system)

एक अच्छी चलन प्रणाली में, चाहे वह धातु-मुद्रा पर आधारित हो अथवा पत्र-मुद्रा पर, निम्न गुणों का होना आवश्यक होता है :—

(१) लोच—लोच का अर्थ यह होता है कि चलन प्रणाली में शीघ्रतापूर्वक प्रसार तथा संकुचन का गुण होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, आवश्यकता पड़ने पर चलन की मात्रा में वृद्धि अथवा कमी करना सम्भव ही नहीं, सरल भी होना चाहिए। यदि चलन-प्रणाली में लोच का अभाव है तो संकट-काल में उसके कारण बड़ी कठिनाई होगी। लोच की आवश्यकता इस कारण भी है कि उद्योग तथा व्यापार की आवश्यकताओं के अनुसार चलन की मात्रा को बदला जा सके।

(२) मितव्ययिता—यह भी चलन-प्रणाली का एक आवश्यक गुण है। इसका अर्थ यह होता है कि चलन-प्रणाली के संचालन पर बहुत व्यय नहीं होना चाहिए। एक अच्छी प्रणाली में सोने और चाँदी के उपयोग में बचत होगी और संचालन-व्यय कम रहेगा। एक व्ययपूर्ण प्रणाली अच्छी होते हुए भी राष्ट्र के लिए भार बन जाती है। निर्धन देशों के लिए तो मितव्ययिता का महत्त्व और भी अधिक होता है, क्योंकि उनके पास स्वर्ण-कोषों तथा अच्छी प्रतिभूतियों का अभाव होता है।

(३) परिवर्तनशीलता—एक अच्छी चलन प्रणाली का यह भी उद्देश्य होना चाहिए कि उसमें पत्र-मुद्रा की सोने अथवा चाँदी में परिवर्तनशीलता बनी रहे। परिवर्तनशीलता के दो उद्देश्य होते हैं—प्रथम तो, इसके कारण चलन के प्रति जनता का विश्वास बना रहता है। दूसरे, इसके द्वारा विदेशी भुगतानों में सुविधा होती है। वर्तमान संसार में मुद्रा का प्रचलन साधारणतया सरकार की साख पर निर्भर होता है, इसलिए देश की आन्तरिक आवश्यकताओं के लिए स्वर्ण नहीं दिया जाता है। विदेशी भुगतानों में भी प्रायः यही प्रयत्न किया जाता है कि यथासम्भव सोना न दिया जाय, परन्तु व्यापाराशेष की अल्पकालीन प्रतिकूलता को दूर करने के लिए सोने का उपयोग कभी-कभी आवश्यक होता है, इसलिए सरकार को इतना स्वर्ण-कोष अवश्य रखना चाहिये कि इस सम्बन्ध में कठिनाई उत्पन्न न हो। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना ने तो स्वर्ण में भुगतान करने की सम्भावना को और भी न्यून कर दिया है।

(४) सरलता—अच्छी चलन-प्रणाली सरल भी होनी चाहिये। प्रणाली के सम्बन्ध में जटिलता नहीं होनी चाहिए, क्योंकि जटिलता प्रबन्ध के व्यय को बढ़ा देती है और इसमें अकुशलता का भी भय रहता है। साथ ही साथ, चलन प्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि आर्थिक विशेषज्ञ, उद्योगपति, व्यापारी तथा जन-साधारण सभी उसे भली भाँति समझ लें। इससे प्रणाली के प्रति विश्वास की वृद्धि होगी और मुद्रा-नियन्त्रक को समाज के सभी वर्गों का सहयोग प्राप्त होगा।

(५) स्थिरता—चलन प्रणाली में यह भी गुण होना चाहिए कि उसके द्वारा

मुद्रा की आन्तरिक तथा बाहरी कीमतों में स्थिरता लाई जा सके। देश के भीतर कीमतों के अत्यधिक उच्चावचन अच्छी चलन-प्रणाली के लक्षण नहीं होते हैं। ठीक इसी प्रकार विदेशी व्यापार के विकास के लिए विनिमय-दरों की स्थिरता आवश्यक होती है। स्थिरता निश्चितता को उत्पन्न करके विकास और उन्नति की अनुकूल दशाएँ उत्पन्न करती है। स्थिरता तभी सम्भव है जबकि चलन प्रणाली में अत्यधिक निकासी का भय न हो। इसके लिए सरकारी नियन्त्रण की आवश्यकता होती है और मुद्रा-संचालक का यह कर्त्तव्य होता है कि वह अपनी मुद्रा-निर्गमन-नीति केवल आर्थिक परिस्थितियों पर ही आधारित करे।

(६) निश्चितता—मुद्रा-प्रणाली में की प्रत्येक बात विधान द्वारा स्पष्ट होनी चाहिये। यदि उसमें अनिश्चितता का क्षेत्र है, तो सरकार उस सम्बन्ध में मनमानी करेगी तथा जनता का भी प्रणाली में विश्वास कम हो जायगा।

(७) स्वयं संचालकता—सबसे उत्तम मुद्रा-प्रणाली वह है जिसमें स्वयं संचालकता का गुण भी हो अर्थात् उसमें व्यापार-वाणिज्य व उद्योग की आवश्यकता के अनुसार स्वयं घटने-बढ़ने की प्रवृत्ति हो तथा सरकार का कम से कम हस्तक्षेप रहे।

भारत की वर्तमान चलन पद्धति कहाँ तक उक्त गुणों का समावेश करती है ?—

भारत की मुद्रा-प्रणाली में गुण अधिकाँशतः पाये जाते हैं। वह पर्याप्त रूप से मितव्ययी, सुनिश्चित एवं लोचदार है। चूंकि भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का सदस्य है, इसलिये चलन-पद्धति में परिवर्तनशीलता का गुण होना कोई खास जरूरी नहीं रहा है। हाँ, यह प्रणाली सरल नहीं है, क्योंकि साधारण जनता इसे समझ नहीं पाती है। यही नहीं बाह्य मूल्य-स्तर कायम रखने के प्रयत्न में आन्तरिक मूल्य-स्तर की स्थिरता को भुला दिया जाता है।

QUESTIONS

1. What are the tests of a good monetary system ? How far are these satisfied in India ? (Agra, B. A., 1956 Supp)
2. What is meant by managed currency ? Examine the advantages and disadvantages of the same. (Agra, B. A., 1956)
3. What are the criteria of a good monetary system ? How far does the Indian currency system satisfy these criteria. (Raj., B, Com., 1948 ; Agra, B. Com , 1953)

4. Discuss the essentials of a good currency system. Does the Indian currency system satisfy the test of a good currency system ? (Agra, B. Com., 1957)

5. नोट लिखिए—प्रतिबन्ध चलार्थ (Sagar, B. A., 1957)

6. Write a note on—Fiduciary Note Issue.
(Agra, B. Com., 1958 ; Jabalpur, B. A., 1958)

7. Explain the difference between Paper money and Bank money. (Agra, B. Com., 1957)

8. "Metallic money has lost its importance in modern economic life." Explain and amplify this statement.
(Agra, B. Com., 1957)

9. Discuss clearly the main features of the Fiduciary issue system and the minimum reserve method of note issue as adopted by India. Give your arguments in support of them.
भारत की विश्वासाश्रित पत्र मुद्रा संचालन एवं न्यूनतम् कोष-पद्धति की विशेषताओं का विवेचन करिये। उनकी पुष्टि के लिए अपनी युक्तियाँ दीजिये।
(Agra, B. Com., 1959)

10. Why was the 'propotional reserve system' of note issue changed to the minimum reserve system in India in 1956 ? What was its effect on Indian currency ?
भारत में १९५६ में नोट जारी करने की विधि "अनुपातिक कोष-प्रथा" से बदलकर "निश्चित कोष-प्रणाली" क्यों की गई थी ? भारत के चलार्थ पर इसका क्या प्रभाव पड़ा ? (Agra, B. A., 1959)

11. Write short note on :—
Fiat Paper Money. (Raj., B. Com., 1960)

12. Discuss the different methods for the regulation of note-issue. Which of them do you prefer and why ?
(Calcutta, B. Com. 1946 ; B. A., 1957)

13. Explain what is meant by a "monetary system" and enunciate the essential features of a sound and satisfactory monetary system. (Calcutta, B. A., 1954)

अध्याय ८

मुद्रा का मूल्य अथवा मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त

(The Value of Money or the Quantity Theory of Money)

मुद्रा के मूल्य का अर्थ—

'मुद्रा के मूल्य' का अर्थशास्त्र में अलग-अलग अर्थ लगाया गया है। वास्तव में मुद्रा के मूल्य का ठीक-ठीक अर्थ बताना कठिन होता है। किसी भी बाजार में जब हम वस्तुओं और सेवाओं को खरीदते हैं तो बदले में जितने रुपये दिये जाते हैं, वही इन वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य को सूचित करते हैं। साधारण बोलचाल में मूल्य का यही अर्थ लगाया जाता है, परन्तु क्या मुद्रा भी खरीदी और बेची जाती है ? यदि ऐसा है तो मुद्रा को किस वस्तु में बेचा जाता है ? रुपयों को रुपयों में बेचने का तो कुछ भी अर्थ नहीं होता है। यही कारण है कि मुद्रा के मूल्य का अर्थ समझने में थोड़ी कठिनाई होती है।

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि *वस्तु बाजार की भाँति मुद्रा का भी बाजार होता है और जिस प्रकार वस्तुएँ खरीदी और बेची जाती हैं, ठीक उसी प्रकार मुद्रा-बाजार में मुद्रा का भी क्रय-विक्रय होता है।* अन्तर केवल इतना है कि साधारण वस्तुएं मुद्रा में बेची जाती हैं, परन्तु मुद्रा की बिक्री मुद्रा को फिर लौटा देने की प्रतिज्ञा (Promise to pay) के बदले में होती है। इस सम्बन्ध में मुद्रा के मूल्य की माप भी मुद्रा में ही की जा सकती है। जब किसी व्यक्ति को लौटाने की प्रतिज्ञा पर मुद्रा दी जाती है तो उससे ब्याज लिया जाता है। उधार देने का प्रत्येक कार्य मुद्रा की बिक्री का ही कार्य होता है और ब्याज की रकम इस प्रकार बेची हुई मुद्रा की बाजारी कीमत होती है। यही कारण है कि *कुछ अर्थशास्त्री ब्याज को ही मुद्रा के मूल्य का नाम देते हैं।* मुद्रा बाजार के सम्बन्ध में मुद्रा के मूल्य की यह परिभाषा सही भी है।

कुछ अर्थशास्त्री मुद्रा के मूल्य का दूसरा ही अर्थ लगाते हैं। उनका अभिप्राय मुद्रा के बाहरी मूल्य (External Value) से होता है। इस अर्थ मे मुद्रा के मूल्य का अर्थ विदेशी विनिमय दर से होता है। एक देश की मुद्रा की एक निश्चित इकाई के बदले में किसी दूसरे देश की मुद्रा की जितनी मात्रा मिलती है वही उसका मूल्य कहलाती है। विदेशी व्यापार तथा विदेशी विनिमय में मुद्रा के मूल्य का यही आशय होता है।

इसी प्रकार एक तीसरे अर्थ में, *मुद्रा के मूल्य का अभिप्राय मुद्रा की क्रय-*

शक्ति से होता है। जिस प्रकार वस्तुओं और सेवाओं की कीमत मुद्रा में नापी जाती है, ठीक इसी प्रकार मुद्रा का मूल्य उसकी एक निश्चित इकाई के बदले में प्राप्त होने वाली वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा में सूचित किया जा सकता है, किन्तु इस सम्बन्ध में एक बड़ी कठिनाई यह होती है कि जबकि वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों को नापने के लिए तो मुद्रा के रूप में एक सामूहिक तथा सामान्य इकाई होती है, मुद्रा का मूल्य नापने के लिए कोई ऐसी इकाई उपलब्ध नहीं है। मुद्रा का मूल्य स्वयं मुद्रा ही में नापा नहीं जा सकता है। इसके अतिरिक्त कोई एक वस्तु अथवा कोई एक सेवा मुद्रा का मूल्य नापने के लिए उपयुक्त नहीं हो सकती है, क्योंकि मुद्रा तो स्वयं ही सामूहिक मापक का कार्य करती है। इस कारण मुद्रा की कीमत अथवा उसकी क्रयःशक्ति सामान्य रूप में वस्तुओं और सेवाओं में नापी जाती है। दूसरे शब्दों में, मुद्रा का मूल्य नापने के लिए हमें वस्तुओं और सेवाओं के एक सामान्य संग्रह को मूल्य-मापक के रूप में उपयोग करना पड़ता है।

मुद्रा का मूल्य निकालने के लिए हमें मुद्रा की सामान्य क्रयः शक्ति (General Purchasing Power) को ज्ञात करना पड़ता है। इसी बात को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि हमें सामान्य कीमतों (General Prices) को निश्चित करना पड़ता है। वास्तव में *मुद्रा की सामान्य क्रयःशक्ति और सामान्य कीमत दोनों एक ही वस्तु के दो अलग-अलग दृष्टिकोणों से दो अलग-अलग नाम हैं*—प्रथम मुद्रा के दृष्टिकोण से और दूसरा वस्तुओं और सेवाओं के दृष्टिकोण से। यहां पर इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि सामान्य कीमत किसे कहते हैं। इस प्रकार की कीमत एक प्रकार से देश में उपलब्ध सभी वस्तुओं और सेवाओं की औसत कीमत होती है। *सामान्य कीमत निकालने के लिए हम ठीक उन्हीं उपायों का उपयोग करते हैं जिनका कि निर्देशांक बनाने के सम्बन्ध में किया जाता है।* [इनका विस्तृत अध्ययन एक अगले अध्याय में दिया जायेगा।] यह निश्चय है कि देश की सारी वस्तुओं और सेवाओं की कीमत का औसत निकालना कठिन होता है, इसलिए कुछ वस्तुएं और सेवाएं सभी वस्तुओं और सेवाओं की प्रतिनिधि स्वरूप चुन ली जाती हैं और फिर इन चुनी हुई वस्तुओं और सेवाओं की औसत कीमत को सामान्य कीमत कहा जाता है। उदाहरणस्वरूप, मान लीजिये कि हमने २५० वस्तुओं और ५० सेवाओं को देश की सभी वस्तुओं और सेवाओं का प्रतिनिधि स्वरूप चुना। मान लीजिये कि इन २५० वस्तुओं की कीमतों का जोड़ २२५ रुपया है और इसी प्रकार ५० निर्वाचित सेवाओं की कीमत का जोड़ १७५ रुपया है। इस प्रकार २५० वस्तुओं + ५० सेवाओं (कुल ३०० इकाइयों) की सामूहिक कीमत २२५ + १७५ = ४०० रुपया होगी। ऐसी दशा में वस्तुओं और सेवाओं की सामान्य कीमत ४०० ÷ ३०० अर्थात् १$\frac{१}{३}$ रुपया होगी अथवा मुद्रा की १ इकाई की सामान्य क्रयः शक्ति $\frac{३}{४}$ इकाई वस्तुएं और सेवाएं होगी।

मुद्रा के मूल्य और सामान्य कीमतों का सम्बन्ध—

इस अर्थ में मुद्रा के मूल्य की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह होती है कि मुद्रा का मूल्य वस्तुओं और सेवाओं की सामान्य कीमतों की विपरीत दशा में घटता-बढ़ता है। यदि सामान्य कीमतें बढ़ती हैं तो मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है, क्योंकि उस दशा में मुद्रा की एक निश्चित मात्रा के बदले में पहले की अपेक्षा कम वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदी जा सकती हैं। इसके विपरीत यदि सामान्य कीमतें घटती हैं तो मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है, क्योंकि अब मुद्रा की प्रत्येक इकाई पहले की अपेक्षा अधिक वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदती है। स्मरण रहे कि मुद्रा के मूल्य का सम्बन्ध वस्तुओं की कीमत से होता है, उनके मूल्य से नहीं होता। यदि सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें एक ही साथ एक ही अनुपात में बढ़ती हैं तो निस्सन्देह मुद्रा का मूल्य घट जायगा, परन्तु ऐसी दशा में वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में कुछ भी अन्तर नहीं होगा, क्योंकि विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय अनुपात में कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

इस प्रकार मुद्रा के मूल्य और वस्तुओं की कीमत में पारस्परिक सम्बन्ध होता है। प्रो० सेलिगमैन ने लिखा है:—"मुद्रा का मूल्य मुद्रा की क्रय:शक्ति होती है और इसे वस्तुओं के सामान्य कीमत-स्तर से जाना जा सकता है। जब तक मुद्रा के मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं होता है तब तक वस्तुओं के सामान्य कीमत-स्तर में भी कोई फेर-बदल नहीं हो सकती है।" परन्तु *स्मरण रहे कि मुद्रा के मूल्य का सम्बन्ध सामान्य कीमत-स्तर से होता है, न कि किसी वस्तु विशेष की कीमतों के परिवर्तन से। यह सम्भव है कि किसी समय विशेष में एक देश में कुछ वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें बढ़ रही हों, परन्तु उसी समय अन्य वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों के घटने के कारण सामान्य कीमत-स्तर में कुछ भी परिवर्तन न हो। ऐसी दशा में विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों में फेर-बदल होते हुए भी मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन नहीं होगा।*

मुद्रा का मूल्य कैसे निर्धारित होता है?
(Determination of the Value of Money)

मुद्रा के मूल्य के सम्बन्ध में यह प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि यह मूल्य किस प्रकार निश्चित होता है? *मूल्य का सामान्य सिद्धान्त हमें यह बताता है कि प्रत्येक वस्तु और सेवा का मूल्य उसकी माँग और पूर्ति द्वारा निश्चित होता है।* एक ओर तो वस्तु विशेष की माँग होती है, जिसके बढ़ने के कारण वस्तु की कीमत भी बढ़ने लगती है और जिसके घटने के साथ-साथ उसकी कीमत में भी गिरने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। दूसरी ओर पूर्ति की शक्ति होती है, जिसका वस्तु की कीमत पर विपरीत दिशा में प्रभाव पड़ता है। पूर्ति के बढ़ने से वस्तु की कीमत गिरती है और घटने के कारण कीमत बढ़ती है। इस प्रकार माँग और पूर्ति की शक्तियों में किसी भी वस्तु की

कीमत भी इसी प्रकार निश्चित होती है, परन्तु *मुद्रा के सम्बन्ध में पुराने अर्थशास्त्रियों ने एक महत्त्वपूर्ण मान्यता को स्वीकार किया था। उन्होंने यह मान लिया था कि मुद्रा की माँग सदा के लिए यथास्थिर होती है और इस माँग में किसी भी कारण परिवर्तन नहीं होते हैं।* उनका विचार था कि मुद्रा की माँग किसी समाज में, किसी निश्चित काल में, इस अंश तक अपरिवर्तनशील होती है कि वह कीमतों के परिवर्तन पर भी नहीं बदलती है। चाहे वस्तुएँ सस्ती हों अथवा मँहगी, सभी उत्पादित वस्तुएँ बेची जायेंगी। इस कारण यदि मुद्रा की मात्रा तीन-चार गुनी भी हो जाती है तो भी बिकने वाली वस्तुओं की मात्रा यथास्थिर ही रहेगी। यह मान्यता कहां तक सही है, इसका अध्ययन आगे किया जायगा। इस समय केवल इतना ही जानना पर्याप्त होगा कि यह मान्यता काफी महत्त्वपूर्ण है।

इस मान्यता के आधार पर इन अर्थशास्त्रियों ने यह तर्क रखा है कि अपनी स्थिरता के कारण मुद्रा की माँग उसके मूल्य को किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं कर सकती है। मूल्य-निर्धारण में उसका कार्य इतना निष्क्रिय (Passive) है कि उस पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु मुद्रा के परिमाण के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता है। इसमें कमी और वृद्धि बराबर होती रहती है और मुद्रा के मूल्य-निर्धारण में वह सक्रिय (Active) होता है। मुद्रा के मूल्य-निर्धारण में इसी का महत्त्वपूर्ण हाथ होता है और उसके परिवर्तन तो निर्मित रूप में मुद्रा के मूल्य को भी बदलते रहते हैं। *अतएव इन अर्थशास्त्रियों ने ऐसा बताया है कि मुद्रा का मूल्य केवल उसके परिमाण द्वारा ही नियत होता है और इसी कारण मुद्रा के मूल्य का सिद्धान्त मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध हुआ।*

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का निर्माण सर्वप्रथम किसने किया, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। *यह सिद्धान्त बहुत पुराना है* और क्योंकि बड़े लम्बे काल तक सभी प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों ने इसका समर्थन किया है, इसलिए इसने अर्थशास्त्र में प्रतिष्ठित सिद्धान्त का रूप धारण कर लिया है। *संक्षेप में, यह सिद्धान्त यह बताता है कि मुद्रा का मूल्य तथा उसके मूल्य के परिवर्तन मुद्रा के परिमाण द्वारा निश्चित किये जाते हैं।* विस्तारपूर्वक समझाने के लिए सिद्धान्त के तीन अङ्गों को अलग-अलग प्रस्तुत किया जा सकता है :—

(१) मुद्रा का मूल्य मुद्रा के परिमाण द्वारा निर्धारित होता है।

(२) सामान्य कीमत-स्तर में मुद्रा के परिमाण के परिवर्तनों के कारण फेर-बदल होती है।

(३) सामान्य-कीमत स्तर के परिवर्तन मुद्रा के परिमाण के समदिशाई तथा अनुपाती (Direct and Proportional) होते हैं।

कुछ विद्वानों के विचार—

(१) *परिमाण सिद्धान्त के सम्बन्ध में रिकार्डो (Ricardo) का कथन*

है कि "मुद्रा की माँग उसके मूल्ये की अनुपाती होती है। यदि स्वर्ण की कीमत दुगुनी हो जाय तो उसकी आधी मात्रा प्रचलन में पहले के बराबर काम कर देगी और यदि स्वर्ण की कीमत आधी रह जाय तो उसकी दूनी मात्रा की आवश्यकता पड़ेगी। इस प्रकार मुद्रा के परिमाण तथा उसकी क्रयःशक्ति का गुणनफल यथा-स्थिर ही रहता है।"[1]

(२) मिल (*Mill*) के अनुसार मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त हमें यह बताता है कि "यदि अन्य बातें यथास्थिर रहें तो मुद्रा के मूल्य में उसके परिमाण की विपरीत दिशा में परिवर्तन होते हैं; परिमाण की प्रत्येक वृद्धि मूल्य को उसी अनुपात में घटाती है और परिमाण की प्रत्येक कमी उसे उसी अनुपात में बढ़ाती है।"[2]

इसी सत्य को प्रो० टाउजिग (*Taussig*) ने इस प्रकार व्यक्त किया है—"मुद्रा के परिमाण को दुगुना कर दीजिए और यदि अन्य बातें समान रहती हैं तो कीमतें पहले से दुगुनी हो जायेंगी और मुद्रा की कीमत पहले की आधी रह जायेगी। मुद्रा के परिमाण को आधा कर दीजिए और यदि अन्य बातें समान रहें तो कीमतें पहले की आधी रह जायेंगी और मुद्रा का मूल्य दुगुना हो जायेगा।"[3]

विकसेल (*Wicksell*) के शब्दों में हम संक्षेप में मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं:—"मुद्रा के मूल्य अथवा मुद्रा की क्रयःशक्ति में उसके परिमाण के उल्टे अनुपात में परिवर्तन होते हैं, जिस कारण मुद्रा के परिमाण की प्रत्येक वृद्धि अथवा कमी, यदि अन्य बातें समान रहें, वस्तुओं और

---

1. "For money the demand is exactly proportional to its value. If gold were of double the value half the quantity would perform the same functions in circulation, and it were half the value, double the quantity would be required—The quantity of money multiplied by its purchasing power remains constant." *Vide Works* edited by Maculloeh, p. 114.

2. "The value of money,lother things being the same, varies iuversely as its quantity, every increase of quantity lowers the value and every dimunation raising it in a ratio exactly equivalent." — J. S. Mill. *Political Economy*, Vol. II 1862, p. 15.

3. "Double the quantity of money, and other things being equal, prices will be twice as high as before, and the value of money one-half. Halve the quantity of money and, other things being equal, prices will be one-half of what they were before and the value of money double."—F. W. Taussig : *Principles of Economics*, Vol. I.

*सेवाओं में उसकी क्रयःशक्ति में अनुपातिक कमी अथवा वृद्धि उत्पन्न करेगी और इस प्रकार वस्तुओं की कीमतों में वैसी ही वृद्धि अथवा कमी होगी।"**

परिमाण सिद्धान्त का समीकरण—

सरलता तथा बोधगाम्यता के लिए मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को प्राचीन काल से ही एक समीकरण के रूप में प्रस्तुत करने की प्रथा चली आई है। इस समीकरण में मुद्रा के परिमाण, वस्तुओं की मात्रा तथा सामान्य कीमतों के पारस्परिक सम्बन्ध को दिखाया जाता है। *विभिन्न कालों में परिमाण सिद्धान्त के समीकरण ने अलग-अलग रूप धारण किये हैं।* वर्तमान अर्थशास्त्री पुराने सिद्धान्त को पूर्णतया असन्तोष-जनक बताते हैं, परन्तु मुद्रा के मूल्य सम्बन्धी सिद्धान्त को अभी तक भी समीकरण के ही रूप में रखा जाता है।

(१) प्राचीन अर्थशास्त्री मुद्रा के परिमाण का अर्थ देश में प्रचलित चलन की कुल मात्रा से ही लगाते थे। जैसा कि विदित है, साख-मुद्रा का महत्त्व आधुनिक काल में ही अधिक बढ़ा है। पुराने अर्थशास्त्री इसको मुद्रा प्रणाली का एक बड़ा ही तुच्छ अंग समझते थे और इसी कारण उन्होंने इसे मुद्रा की मात्रा में सम्मिलित करना आवश्यक नहीं समझा था। उस काल में बैंकों तथा अन्य साख संस्थाओं का विकास लगभग नहीं के बराबर था। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का सबसे प्राचीन समीकरण निम्न प्रकार था :—

$$\frac{\text{म}}{\text{व}} = \text{क} \text{ अथवा } \frac{M}{T} = P$$

इस समीकरण में *म* (M) समय विशेष में देश में प्रचलित चलन की मात्रा को सूचित करता है, *व* (T) उसी समय देश में प्रस्तुत वस्तुओं तथा सेवाओं की कुल मात्रा को दिखाता है और *क* (P) सामान्य कीमत-स्तर को। इस समीकरण में *व* को मान्यता के रूप में यथास्थिर माना गया है, जिसका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि *क* के सभी परिवर्तन *म* के परिवर्तनों के परिणाम होंगे। इसके अतिरिक्त *म* तथा *क* में एक ही दिशा में एक ही साथ परिवर्तन होंगे और *क* के परिवर्तनों का अंश *म* के परिवर्तनों का अनुपातिक होगा। एक-अङ्कीय उदाहरण से उपरोक्त समीकरण को स्पष्ट किया जा सकता है। यदि *म* और *व* की कीमत क्रमशः १०० और २० है तो समीकरण का रूप निम्न प्रकार होगा :—

$$\frac{१००}{२०} = ५$$

*'The value or purchasing power of money varies in inverse proportion to its quantity, so that an increase or decrease in the quantity of money, other things being equal, will cause a proportionate decrease or increase in its purchsaing power in terms of other goods, and thus a corresponding increase or decrease in all commodity prices."—Knut Wicksell : *Lectures on Political Economy.*

यह निश्चय है कि इस समीकरण में यदि *म* की कीमत दो गुनी अर्थात् २०० हो जाती है, परन्तु *व* की कीमत २० ही रहती है तो *क* की कीमत बढ़कर दो गुनी अर्थात् १० हो जायगी। इस प्रकार *क* के परिवर्तन *म* के समदिशाई तथा अनुपातिक होंगे।

(२) आगे चलकर कुछ अर्थशास्त्रियों ने उपरोक्त समीकरण को दोषपूर्ण बताया, क्योंकि उनका विचार था कि इसमें मुद्रा के परिणाम के सम्बन्ध में एक आवश्यक सत्य को भुला दिया गया है। इनका कथन था कि *यह समझना भूल होगी कि मुद्रा का परिणाम केवल देश में प्रचलित चलन की मात्रा पर ही निर्भर होता है। व्यावहारिक जीवन में चलन की प्रत्येक इकाई का एक से अधिक बार विनिमय माध्यम अथवा वस्तुओं के खरीदने के लिए उपयोग किया जाता है।* वस्तुयें खरीदते समय कोई एक नोट अथवा सिक्का एक व्यक्ति द्वारा दूसरे को दे दिया जाता है। दूसरा व्यक्ति ठीक इसी प्रकार वस्तुयें खरीद कर इसे तीसरे व्यक्ति को देता है और इस प्रकार मुद्रा की एक इकाई का बार-बार हस्तान्तरण होता रहता है। इस हस्तान्तरण के कारण मुद्रा की प्रत्येक इकाई, एक नहीं वरन् अनेक बार, वस्तुयें और सेवाएँ खरीदती है। मुद्रा की प्रत्येक इकाई विनिमय का कार्य ठीक उतनी ही बार करती है जितनी बार उसका एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास हस्तान्तरण होता है। इस प्रकार के हस्तांतकरण की बारम्बारता को अर्थशास्त्र में प्रचलन-वेग (Velocity of Circulation) अथवा गति-सामर्थ कहा जाता है।

अतएव मुद्रा का परिमाण केवल चलन की कुल मात्रा द्वारा सूचित नहीं होता, बल्कि चलन की कुल मात्रा तथा चलन के प्रचलन-वेग के गुणनफल द्वारा सूचित होता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार परिमाण सिद्धान्त के समीकरण में निम्न संशोधन किया गया था :—

$$\frac{\text{म च}}{\text{व}} = \text{क} \text{ अथवा } \frac{MV}{T} = P$$

इसी समीकरण में च (V) प्रचलन-वेग को दिखाता है और इस प्रकार मुद्रा का परिमाण *म च* द्वारा सूचित होता है। *क* के सभी परिवर्तन *म च* के परिवर्तनों के अनुसार होंगे और उनके अनुपाती भी। यदि केवल प्रचलन वेग में वृद्धि होती है तो चलन की कुल मात्रा में वृद्धि हुये बिना भी सामान्य कीमतों में वृद्धि हो सकती है। प्रचलन वेग वैसे तो स्वयं भी चलन की मात्रा पर निर्भर होता है, क्योंकि जैसे-जैसे चलन की मात्रा बढ़ती है, व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है और वस्तुओं तथा सेवाओं का विनिमय अधिक तेजी के साथ होने लगता है, परन्तु वस्तुओं के विनिमय की तेजी और भी बहुत से कारणों से हो सकती है। कुछ भी हो, चलन की मात्रा तथा उनका प्रचलन वेग दोनों ही मिलकर मुद्रा के परिमाण को निश्चित करते हैं।

(३) उपरोक्त समीकरण में भी एक गम्भीर दोष है। *चलन ही विनिमय माध्यम के रूप में उपयोग नहीं होती है, बैंक-मुद्रा अथवा साख-मुद्रा का भी इस रूप में उपयोग होता है। मुद्रा की कुल मात्रा में उसको भी सम्मिलित करना आवश्यक है।* सभी जानते हैं कि बैंकों द्वारा चालू किये चैक, विनिमय बिल तथा सभी प्रकार के साख-पत्र वस्तुएँ खरीदने के काम आते हैं। वे भी विनिमय माध्यम के रूप में मुद्रा का काम करते हैं। आधुनिक संसार में तो इस प्रकार की मुद्रा का महत्त्व बहुत ही बढ़ गया है। साथ ही, चलन मुद्रा की भाँति साख-मुद्रा की प्रत्येक इकाई भी एक से अधिक बार वस्तुयें खरीदने के काम आ सकती है। उसका भी प्रचलन-वेग होता है। एक चैक के पीछे किये गये हस्ताक्षरों की संख्या से यह पता आसानी से लगाया जा सकता है कि भुगतान के लिए बैंक में आने से पहले वह कितने हाथों से गुजर चुका है और उसने कितनी बार विनिमय-कार्य सम्पन्न किया है। इस प्रकार मुद्रा की कुल मात्रा में चलन तथा उसके प्रचलन वेग के गुणनफल के अतिरिक्त साख-मुद्रा तथा उसके प्रचलन-वेग का गुणनफल भी सम्मिलित होता है। यही दोनों मिलकर मुद्रा के परिमाण को निश्चित करते हैं। *बिना साख-मुद्रा तथा उसके प्रचलन-वेग पर विचार किये मुद्रा के मूल्य के सम्बन्ध में जो भी समीकरण बनाया जायेगा उससे प्राप्त फल वास्तविक तथा व्यावहारिक नहीं हो सकता है।*

फिशर का परिमाण सिद्धान्त का समीकरण—

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो० फिशर ने उपरोक्त सभी बातों को ध्यान में रखते हुए मुद्रा-मूल्य के निर्धारण के सम्बन्ध में पुराने समीकरण में आवश्यक परिवर्तन किये हैं। उनका समीकरण, जिसे मुद्रा परिमाण सिद्धान्त का फिशर का समीकरण कहा जाता है, निम्न प्रकार है :—

$$\frac{\text{म च + स चा}}{\text{व}} = \text{क} \quad \text{अथवा} \quad \frac{MV + M'V'}{T} = P$$

इस समीकरण में भी पहले की ही भाँति *म* चलन की कुल मात्रा को बताता है और *च* उसके प्रचलन वेग को। इसी प्रकार *व* देश में वस्तुओं की मात्रा को दिखाता है और *क* सामान्य कीमतों को। *स* साख-मुद्रा की कुल मात्रा को सूचित करता है और *चा* उसका प्रचलन वेग है। इस समीकरण के अनुसार मुद्रा का परिमाण *म च + स च* के बराबर है। इस कुल मात्रा में जो परिवर्तन होते हैं उन्हीं के अनुसार *क* में भी परिवर्तन होंगे। *म च + स चा* में परिवर्तन *म, च, स* तथा *चा* किसी के भी परिवर्तन के कारण उत्पन्न हो सकते हैं, परन्तु निस्सन्देह इस सम्बन्ध में *म* का महत्त्व बहुत अधिक है।

फिशर की मान्यता—"अन्य बातें स्थिर रहें"—

मुद्रा के प्रतिष्ठित परिमाण सिद्धान्त का अन्तिम रूप यही है। प्रो० फिशर का विचार है कि अल्पकाल में *व च* तथा *चा* यथास्थिर रहते हैं तथा *म* और

मे एक निश्चित अपरिवर्तनीय अनुपात बना रहता है, जिसके कारण कं में केवल में के परिवर्तनों के कारण फेर-बदल होती है। दूसरे शब्दों में, क्योंकि चलन और साख दोनों का प्रचलन वेग तथा वस्तुओं की मात्रा अल्पकाल में अपरिवर्तनीय होती है और चलन तथा तथा साख-मुद्राओं के बीच एक निश्चित अनुपात रहता है, इसके कारण सामान्य कीमतों में केवल चलन की मात्रा में परिवर्तन होने से ही परिवर्तन हो जाते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि अल्पकाल में मुद्रा का परिमाण केवल देश में प्रचलित चलन की मात्रा पर ही निर्भर होता है। *फिशर का विचार है:—* *"अल्पकाल में व्यवसाय अथवा मुद्रा द्वारा किया हुआ कार्य यथास्थिर रहता है, क्योंकि इस काल में जन-संख्या में परिवर्तन नहीं होते हैं, प्रति व्यक्ति उत्पादन नहीं बदलता है और उत्पत्ति का जो प्रतिशत उत्पादकों द्वारा उपयोग किया जाता है, वह भी यथास्थिर रहता है। वस्तु-विनिमय तथा मुद्रा-विनिमय का अनुपात भी नहीं बदलता है और वस्तुओं के प्रचलन वेग में भी परिवर्तन नहीं होते हैं। इस काल में उत्पादन की रीतियाँ तथा लोगों की उपभोग सम्बन्धी आदतें भी लगभग निश्चित होती हैं। इस प्रकार मुद्रा की माँग स्थिर रहती है।"** उप-*रोक्त कारणों से चलन की मात्रा तथा वस्तुओं और सेवाओं की सामान्य कीमतों में प्रत्यक्ष तथा अनुपाती परिवर्तन होते हैं।*

उपरोक्त सभी बातों को देखते हुए अब हमारे लिये *मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की एक स्पष्ट तथा सही परिभाषा देना सम्भव है। यह सिद्धान्त बताता है कि:—* *"यदि अन्य बातें समान रहें तो सामान्य कीमत-स्तर के सभी परिवर्तनों का मुद्रा के परिमाण के परिवर्तनों से प्रत्यक्ष तथा अनुपातिक सम्बन्ध होता है।"* इस परि-*भाषा में 'अन्य बातें समान रहें' यह वाक्य महत्त्वपूर्ण है।*

'अन्य बातें स्थिर रहने' का अर्थ एवं महत्त्व—

यहाँ अन्य बातों के यथास्थिर रहने का अभिप्राय निम्न प्रकार है:—

(१) व्यापार की मात्रा का यथास्थिर रहना—किसी भी देश में मुद्रा की मांग देश में होने वाले व्यापार की मात्रा द्वारा निश्चित की जाती है। यदि व्यापार की मात्रा स्थिर है तो मुद्रा की माँग भी यथास्थिर रहेगी।

(२) निश्चित वस्तु-विनिमय व्यवसाय—विनिमय का कार्य बिना मुद्रा के उपयोग के अर्थात् वस्तु-विनिमय आधार पर भी किया जा सकता है। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के सम्बन्ध में ऐसे विनिमय से सम्बन्धित वस्तुओं को कुल वस्तुओं की मात्रा में सम्मिलित नहीं किया जाता है। निस्सन्देह यदि वस्तु-विनिमय के क्षेत्र में परिवर्तन होता है तो कुल वस्तुओं अर्थात् य की मात्रा में भी परिवर्तन हो जाता है

इसलिए सिद्धान्त के सही होने के लिए यह आवश्यक है कि वस्तु-विनिमय व्यवसाय की मात्रा यथास्थिर रहे।

(३) साख-मुद्रा तथा चलन का अनुपात—साख-मुद्रा भी विनिमय माध्यम का कार्य करती है और उसकी मात्रा में भी समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं, परन्तु साख-मुद्रा सदा ही चलन पर आधारित होती है। बैंक साख-मुद्रा का निर्माण अपने नकद कोषों के ही आधार पर करती हैं और ये नकद कोष चलन के रूप में होते हैं। साधारणतया अधिक नकद कोष चलन की अधिक निकासी द्वारा उत्पन्न होते हैं, क्योंकि ऐसी दशा में लोगों की आय बढ़ती है और वे बैंक में अधिक रुपया जमा करते हैं। नकद कोषों तथा निक्षेपों का अनुपात बैंक की स्वेच्छा पर निर्भर होता है, यद्यपि कभी-कभी सरकार द्वारा इस सम्बन्ध में नियम बना दिये जाते हैं। मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त इस बात पर आधारित है कि आय का केवल एक निश्चित प्रतिशत ही बैंकों में जमा किया जाता है तथा नकद कोषों और निक्षेपों का अनुपात यथास्थिर रहता है।

(४) प्रचलन वेग—परिमाण सिद्धान्त की एक मान्यता यह भी है कि चलन तथा साख-मुद्रा दोनों के ही प्रचलन वेग स्थिर रहें। (*म च*+*स चा*) की मात्रा में, यदि *स* और *म* के परिवर्तन अनुपातिक हैं, केवल उसी दशा में *म* के परिवर्तनों के अनुपात में फेर-बदल होगी जबकि *च* तथा *चा* में किसी प्रकार की घटत-बढ़त नहीं होती है। प्रचलन-वेग की स्थिरता के लिए कई बातें आवश्यक होती हैं, इसलिए परिमाण सिद्धान्त की ये मान्यताएँ होती हैं कि देश में जन-संख्या, लोगों की उपभोग सम्बन्धी रुचियों, प्रति व्यक्ति उत्पादन आदि में परिवर्तन नहीं होगा। इन सब बातों के स्थिर रहने पर प्रचलन-वेग में स्थिरता आ जाती है।

उपरोक्त सभी मान्यताओं को देखने से पता चलता है कि वे व्यवहारिक नहीं हैं। मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त इतना अधिक मान्यता-जटित कर दिया गया है। और ये मान्यताएँ भी इतनी अवास्तविक हैं कि सिद्धान्त का केवल सैद्धान्तिक तथा ऐतिहासिक महत्त्व ही शेष रह गया है। सिद्धान्त की अधिकांश आलोचनाएँ इन अव्यवहारिक मान्यताओं के कारण ही उत्पन्न होती हैं।

मुद्रा का प्रचलन वेग किन-किन बातों पर निर्भर होता है (Factors Determining the Velocity of Circulation of Money) ?—

यह हम पहले ही बता चुके हैं कि *मुद्रा का परिमाण केवल मुद्रा की कुल मात्रा पर ही निर्भर नहीं होता है, परन्तु उसके प्रचलन-वेग पर भी निर्भर होता है। मुद्रा के प्रचलन-वेग का अर्थ यह होता है कि मुद्रा की एक इकाई एक निश्चित काल में विनिमय हेतु कितनी बार एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास जाती है।* यदि एक पाँच रुपये का नोट एक महीने में १५ बार विनिमय माध्यम के रूप में एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास जाता है तो उसका मासिक प्रचलन-वेग १५ होगा। मुद्रा के

प्रचलन-वेग पर बहुत सी बातों का प्रभाव पड़ता है। इसमें से मुख्य-मुख्य बातें निम्न प्रकार हैं :—

(१) मुद्रा की मात्रा—मुद्रा का प्रचलन-वेग स्वयं उसकी मात्रा पर निर्भर होता है। देश के आर्थिक जीवन को सुचारु रूप में चलाने के लिए विनिमय-कार्यों के लिए मुद्रा की एक निश्चित मात्रा की आवश्यकता पड़ती है। यदि मुद्रा की निकासी कम है तो उसका प्रचलन अधिक तेजी के साथ होने लगेगा। इसके विपरीत मुद्रा की पूर्ति अधिक होने की दशा में उसका प्रचलन-वेग कम रहेगा।

(२) जनता की बचत सम्बन्धी आदतें—आय के एक भाग को उपभोगीय वस्तुओं को खरीदने पर व्यय किया जाता है, परन्तु दूसरे भाग की बचत कर ली जाती है। वास्तव में मुद्रा की उतनी ही मात्रा तुरन्त काल में विनिमय माध्यम के रूप में उपयोग की जाती है जितनी कि उपभोग हेतु रखी जाती है, अतएव मुद्रा का प्रचलन वेग इस बात पर भी निर्भर होता है कि जनता समस्त आय का कौनसा भाग उपभोग के लिए रखती है।

(३) जनता की नकदी में माल खरीदने की आदत—यदि माल उधार खरीदा जाता है तो तीन महीने, छः महीने अथवा साल भर का हिसाब एक ही साथ चुकाया जाता है। ऐसी दशा में मुद्रा का प्रचलन वेग कम होता है। नकद सौदों में थोड़ा-थोड़ा भुगतान निरन्तर होता रहता है, जिसके कारण मुद्रा का प्रचलन बराबर बना रहता है।

(४) स्थगित भुगतानों को कितनी बार चुकाया जाता है—यदि देश में सामान्य रिवाज स्थगित भुगतानों (ऋणों) को साल में एक-दो बार चुकाने का है और भुगतान बड़ी मात्रा में किया जाता है तो मुद्रा का प्रचलन-वेग कम होगा। यदि बार-बार तथा थोड़ी-थोड़ी मात्रा में भुगतान किये जाते हैं तो प्रचलन-वेग बढ़ जायगा।

(५) लोगों की द्रवता पसन्दगी (Liquidity Preference)—व्यवसायिक वर्ग दिन प्रति दिन के कार्यों को चलाने के लिए जितना बड़ा नकद कोष रखता है उतना ही मुद्रा का प्रचलन-वेग कम होता है।

(६) मजदूरी प्रणाली का रूप—मजदूरी वार्षिक, मासिक, साप्ताहिक अथवा दैनिक आधार पर बांटी जा सकती है। यदि मजदूरी लम्बे काल के पश्चात् मिलती है तो दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए मुद्रा का संचय अधिक बड़ा रखा जाता है, जिसके कारण मुद्रा का प्रचलन-वेग कम रहता है। इसके विपरीत जितनी ही मजदूरी बार-बार दी जायगी उतनी ही मुद्रा की प्रत्येक इकाई विनिमय माध्यम के रूप में अधिक बार उपयोग होगी।

(७) यातायात तथा संचार साधनों की उन्नति—इसके द्वारा विनिमय का क्षेत्र विस्तृत कर दिया जाता है और वस्तुओं का क्रय-विक्रय अधिक तेजी से होने लगता है और ये दोनों ही मुद्रा के प्रचलन-वेग को बढ़ा देते हैं।

(८) ऋण प्राप्ति की सुविधाएँ—ऐसी सुविधाएँ उधार को प्रोत्साहन देकर प्रचलन-वेग के अंश को घटाती हैं।

(६) आय-व्यय तथा कीमतों का भावी अनुमान—निस्सन्देह इसी अनुमान के आधार पर विनिमय कार्यों की गति तेज अथवा धीमी की जाती है। यदि भविष्य में कीमतों के चढ़ जाने का अनुमान है तो व्यापार अधिक तेजी से होने लगेगा और मुद्रा का प्रचलन-वेग भी बढ़ जायगा।

(१०) सामान्य आर्थिक उन्नति- मुद्रा का प्रचलन-वेग देश की आर्थिक उन्नति की दशा पर भी निर्भर होता है। एक विकसित समाज में वस्तु-विनिमय का अंश कम होता है, इस कारण अधिक मुद्रा की आवश्यकता पड़ती है, परन्तु ऐसे समाज में साख-मुद्रा का अत्यधिक विकास हो जाता है। उधार की प्रथा काफी विस्तृत रूप धारण कर लेती है, मजदूरियों का भुगतान अधिक शीघ्रतापूर्वक होने लगता है और यातायात के साधनों के विकास के कारण वस्तुओं का विनिमय दूर-दूर तक तथा अधिक तीव्रता के साथ होने लगता है। व्यापार की अनिश्चित स्थिति में तथा सङ्कट-काल में मुद्रा का प्रचलन-वेग कम होता है। इसी प्रकार कृषि-प्रधान देशों में औद्योगिक तथा व्यापारी देशों की तुलना में मुद्रा का प्रचलन-वेग कम रहता है। साधारणतया बढ़ती हुई कीमतें तथा आर्थिक जीवन का विकास प्रचलन-वेग को बढ़ा देते हैं।

(११) साख की गतिशीलता—चलन की भांति साख-मुद्रा का भी प्रचलन बना रहता है और एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को उसका भी हस्तान्तरण होता है, परन्तु साख के प्रचलन-वेग को जमा राशि की गतिशीलता (Mobility of Balances) कहना ही अधिक उपयुक्त है। जितनी जल्दी-जल्दी पैसे का एक व्यक्ति के लेखे से दूसरे व्यक्ति के लेखे में हस्तान्तरण होता है उतना ही साख मुद्रा का प्रचलन-वेग भी अधिक होता है। साख-मुद्रा की गतिशीलता साधारणतया देश में बैंकिंग के विकास और उसकी उन्नति पर निर्भर होती है।

परिमाण सिद्धान्त की आलोचनाएँ—

परिमाण सिद्धान्त की आलोचनाओं को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—(अ) कुछ आलोचकों ने इस सिद्धान्त का आधार ही गलत बताया है और (ब) इसके विपरीत कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि इसका आधार तो ठीक है, किन्तु यह सिद्धान्त मुद्रा के मूल्य-निर्धारण का सही सिद्धान्त नहीं है। कुछ त्रुटियां तथा मान्यताएँ इस सिद्धान्त को अवास्तविक बना देती हैं।

(अ) सिद्धान्त के आधार सम्बन्धी आलोचनायें-

पहले वर्ग की आलोचनायें इस प्रकार हैं :—

(१) तर्क की विधि उलटी है—इस सिद्धान्त में मुद्रा की मात्रा के परिवर्तनों को सामान्य कीमत-स्तर के परिवर्तनों का कारण माना गया है, जो ठीक नहीं

है। वास्तव में कीमत-स्तर के परिवर्तनों के कारण मुद्रा की मात्रा घटती-बढ़ती है, अतएव कीमत-स्तर के परिवर्तन मुद्रा के परिमाण के परिवर्तनों के परिणाम नहीं होते हैं, बल्कि उनके कारण होते हैं।

आलोचकों का यह तर्क ठीक नहीं है। अनुभव बताता है कि पहले मुद्रा की मात्रा बढ़ती है और तत्पश्चात् कुछ समय पीछे कीमतें बढ़ जाती हैं। प्रो० फिशर ने लिखा है :—"कीमत-स्तर को मुद्रा की मात्रा घटने-बढ़ने का कारण समझना बड़ी भारी भूल होगी। निस्सन्देह ऐसा अवश्य होता है कि एक स्थान का मूल्य-स्तर दूसरे स्थान के मूल्य-स्तर पर अपना प्रभाव डालता है।" यदि किसी स्थान पर कीमतें बढ़ती हैं तो वहाँ मुद्रा की मात्रा में वृद्धि नहीं होती है, बल्कि इसके विपरीत मुद्रा उस स्थान से हट कर दूसरे ऐसे स्थान को जाने लगती है जहाँ उसकी क्रयः शक्ति अधिक होती है, अर्थात् जहाँ कीमतें नीची होती हैं। ठीक इसी प्रकार मुद्रा की मात्रा के घट जाने के कारण ऊँची कीमतों वाले स्थान में कीमतें घटने लगती हैं और यदि मुद्रा की गतिशीलता में कोई बाधा नहीं है तो अन्त में दोनों स्थानों का कीमत-स्तर बराबर हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि कीमत-स्तर के परिवर्तन तो मुद्रा परिमाण के परिवर्तनों पर निभर होते हैं, परन्तु स्थिति इसके विपरीत नहीं है।

(२) मुद्रा की कीमत मुद्रा की माँग और पूर्ति दोनों पर निर्भर होती है—कुछ आलोचकों का कहना है कि मूल्य के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार सभी वस्तुओं की कीमत उनकी माँग और पूर्ति पर निर्भर होती है और उनका निर्धारण उन्हीं के द्वारा होता है। ठीक इसी प्रकार मुद्रा की कीमत भी उसकी माँग और पूर्ति पर निर्भर रहती है। मुद्रा की मात्रा अकेले में (एकाकी रूप में) कीमत-स्तर पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकती है।

प्रो० फिशर ने इस आलोचना के विरुद्ध बताया है कि माँग और पूर्ति का सिद्धान्त किसी एक वस्तु की कीमत का पता लगाने के लिए तो उपयुक्त होता है, परन्तु इससे सामान्य कीमत का पता नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि सामान्य माँग तथा सामान्य पूर्ति का पता नहीं लग सकता है। हम किसी वस्तु की माँग तथा उसकी पूर्ति और इन दोनों के सन्तुलन का पता तो लगा सकते हैं, परन्तु वस्तुओं और सेवाओं की सामान्य माँग और सामान्य पूर्ति का लगभग कुछ भी अर्थ नहीं होता है। अतएव माँग और पूर्ति का सिद्धान्त सामान्य कीमत-स्तर के निर्धारण के लिये उपयुक्त नहीं है। जिस प्रकार विभिन्न लहरों की ऊँचाई द्वारा समुद्र-स्तल का पता नहीं लगाया जा सकता है, परन्तु समुद्र-स्तल के द्वारा लहरों की स्थिति का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है ठीक इसी प्रकार अलग-अलग वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें सामान्य कीमत की सूचक नहीं होती हैं, परन्तु सामान्य कीमतें व्यक्तिगत कीमतों की स्थिति का ज्ञान अवश्य करा देती हैं। सामान्य कीमत तो केवल मुद्रा की मात्रा द्वारा ही जानी जा सकती है।

(३) यह सिद्धान्त महत्त्वहीन सत्य को बताता है—प्रो० निकलसन (Nicholson) का कहना है कि *मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त एक साधारण सत्य है, जिसका उल्लेख करने से न तो किसी महत्त्वपूर्ण बात का पता चलता है और न किसी उद्देश्य की पूर्ति होती है।* यह तो सभी जानते हैं कि मुद्रा की मात्रा बढ़ाने से कीमतें बढ़ जाती हैं। तो फिर इसको सिद्धान्त का नाम देने से कौन सी नई बात का पता चलता है। इस आलोचना के उत्तर में प्रो० फिशर ने कहा है कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त इतना सरल नहीं है जितना कि निकलसन समझते हैं, परन्तु यदि यह सरल भी है तो इसकी वैज्ञानिक विवेचना के विरुद्ध फिर भी कुछ नहीं कहा जा सकता है।

निष्कर्ष—

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिद्धान्त के विरुद्ध जो आधारभूत आलोचनाएँ की गई हैं वे यथार्थ में ठीक नहीं हैं। आलोचकों ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त और उसके महत्त्व को ठीक-ठीक समझा ही नहीं है। शायद यह कहना गलत न होगा कि इस सिद्धान्त का आधार तो सही है, परन्तु जिस रूप में यह सिद्धान्त फिशर द्वारा प्रस्तुत किया गया है उसके विरुद्ध बहुत कुछ कहा जा सकता है।

(ब) त्रुटियों एवं मान्यता सम्बन्धी आलोचनाएँ—

ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि मुद्रा के मूल्य के प्रतिष्ठित सिद्धान्त में कुछ भारी त्रुटियाँ हैं, जिनके कारण यह सिद्धान्त गलत ही नहीं हो जाता है, बल्कि अव्यवहारिक तथा अवास्तविक भी हो जाता है। *वास्तविकता तो यह है कि अर्थशास्त्र के अन्य सिद्धान्तों की भाँति यह भी अनेक मान्यताओं पर आधारित है, परन्तु ये मान्यतायें ऐसी हैं कि इनके आधार पर तर्क करना केवल कल्पना के जगत में चक्कर लगाना है।* प्रमुख आलोचनाएँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) अवास्तविक मान्यतायें—इस सिद्धान्त की मान्यताएँ अवास्तविक हैं। *सबसे पहले तो यह मान्यता ही गलत है कि मुद्रा की माँग यथास्थिर रहती है।* अनुभव बताता है कि देश में विनिमय-साध्य वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा में बराबर परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों के अनेक कारण हो सकते हैं, जैसे—उत्पादन की वृद्धि, वस्तुओं के प्रचलन-वेग की तेजी, इत्यादि। यदि किसी कारण देश में जन संख्या के आकार अथवा उसकी कुशलता में वृद्धि हो जाती है अथवा उत्पादन विधियों के सुधार, नये आर्थिक साधनों की खोज आदि के कारण उत्पत्ति बढ़ती है तो यह मान्यता गलत हो जाती है। अनुभव बताता है कि संसार के सभी देशों में उत्पादन की कुल मात्राओं में वार्षिक तथा सामयिक (Seasonal) परिवर्तन होते ही रहते हैं। इसके अतिरिक्त स्वयं सामान्य कीमत स्तर की वृद्धि भी वस्तुओं के उत्पादन की वृद्धि में सहायक होती है। यदि कीमतें बढ़ती हैं तो उत्पादकों को लाभ अधिक होता है, क्योंकि बिक्री अधिक होती है और कीमतों की तुलना में उत्पादन-व्यय कम रहता

है। उत्पादन के अधिक लाभदायक हो जाने के कारण उत्पादन में वृद्धि की जाती है और मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के समीकरण में पै की कीमत बढ़ जाती है। इसी प्रकार सामान्य कीमतों के गिरने के काल में उत्पादकों को हानि होती है, जिससे उत्पत्ति घटती है और पै की कीमत घटती है। इस प्रकार व को यथास्थिर मान लेना गलत है।

केवल पूर्ण वृत्ति बिन्दु (Full Employment Point) पर ही वस्तुओं और सेवाओं की कुल मात्रा यथास्थिर रहती है और वह भी थोड़े से ही समय तक। यदि कोई देश बराबर मुद्रा-प्रसार की नीति को बनाये रखता है और थोड़े-थोड़े समय पश्चात् चलन की मात्रा बढ़ाता रहता है तो धीरे-धीरे कीमतें बढ़ती रहती हैं और उत्पादन का विस्तार होता रहता है, परन्तु उत्पादन के विस्तार के साथ ही वृत्ति (Employment) का भी विस्तार होता जाता है, क्योंकि अधिक उत्पत्ति करने के लिए उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को अधिक मात्रा में उपयोग करने की आवश्यकता पड़ती है। यदि इस प्रकार चलन की मात्रा बढ़ाने का क्रम चलता ही रहे तो अन्त में एक ऐसी अवस्था आ जाती है कि उत्पत्ति के सभी साधनों को पूर्ण वृत्ति मिल जाती है, अर्थात् जब कोई भी साधन तनिक भी बेकार नहीं रहता है। यही पूर्ण वृत्ति की अवस्था है। यहाँ पर चलन की मात्रा में वृद्धि कर देने पर तथा कीमतों के बढ़ने के कारण उत्पत्ति की मात्रा में वृद्धि नहीं होगी और वस्तुओं की कुल मात्रा यथास्थिर हो जायेगी। इस दशा में मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त पूर्णतया सही होगा और कीमत-स्तर में मुद्रा के परिमाण के परिवर्तनों के अनुपात में परिवर्तन होंगे, परन्तु पूर्ण वृत्ति बिन्दु पर भी थोड़े ही समय तक यह बात सत्य होती है। मनोवैज्ञानिक कारणों की कार्यशीलता के कारण शीघ्र ही कीमतें मुद्रा के परिमाण से अधिक तेजी के साथ बढ़ने लगती हैं।

इसी प्रकार *ये मान्यताएँ भी गलत हैं कि चलन तथा साख-मुद्रा तथा वस्तुओं का प्रचलन वेग यथास्थिर रहता है।* कीमतों में थोड़ी सी भी वृद्धि होने पर माल जल्दी-जल्दी खरीदा और बेचा जाने लगता है। वस्तुओं और मुद्रा की इकाइयों का हस्तान्तरण अधिक तेजी के साथ होने लगता है। इसी प्रकार ऋतु के परिवर्तन तथा सट्टा बाजार की प्रवृत्तियों के अनुसार भी प्रचलन वेग बदलता रहता है। इस वेग को यथास्थिर मान लेना अवास्तविक है। अन्य मान्यताओं के विषय में भी हम ऐसा ही कह सकते हैं। कम से कम इस संसार में तो यह सम्भव नहीं है कि अन्य बातों में परिवर्तन न हो।

(२) प्रचलन वेग का सही-सही पता लगाने की कठिनाई—फिशर द्वारा दिए गए समीकरण में *च* तथा *चा* दो ऐसे तथ्य है जिनकी कोई भी निश्चित माप सम्भव नहीं है। अल्पकालीन दृष्टिकोण से तो चलन तथा साख-मुद्रा के प्रचलन-वेग को नापने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि फिशर ने उन्हें यथास्थिर मान लिया है, परन्तु दीर्घकालीन दृष्टिकोण से इनको कैसे नापा जाय ? साँख्यिकी में कोई भी ऐसी रीति

नहीं है कि जिसके द्वारा मुद्रा के प्रचलन वेग का सही-सही पता लगाया जा सके। इस सम्बन्ध में यह भी जानना जरूरी है कि वस्तुओं का भी प्रचलन-वेग होता है, जिसके कारण वस्तुओं का कुल परिमाण उनकी मात्रा तथा विनिमय के लिए होने वाले प्रचलन-वेग पर निर्भर होता है। सरलता लाने के लिए फिशर के समीकरण में वस्तुओं के प्रचलन-वेग को सम (Unity) मान लिया गया है, जो ठीक नहीं है।

(३) केवल दीर्घकालीन प्रवृत्ति का सूचक—यह सिद्धान्त केवल एक दीर्घकालीन प्रवृत्ति को ही दिखाता है। मान्यताओं की अवास्तविकता की ओर जब फिशर का ध्यान दिलाया गया तो उन्होंने यही उत्तर दिया था कि अन्य बातें केवल अल्पकाल अथवा मध्य के काल में ही अस्थिर होती हैं। दीर्घकाल में वे लगभग यथा-स्थिर ही रहती हैं। फिशर के सिद्धान्त से केवल इतना ही स्पष्ट होता है कि बहुत सी बातों के समान रहने की दशा में मुद्रा के मूल्य की प्रवृत्ति इस सिद्धान्त के अनुसार रहती है, परन्तु जैसा कि कीन्ज ने कहा है, दीर्घकाल के अध्ययन से क्या लाभ है? दीर्घकाल में तो हम सभी मर जाते हैं। मुद्रा सम्बन्धी घटनाओं के अल्पकालीन परिणाम भी घातक हो सकते हैं, इसलिए उनके सम्बन्ध में जो भी सिद्धान्त बनाए जायें वे अल्पकालीन होने चाहिए।

(४) संचित मुद्रा—कीन्ज ने इस सिद्धान्त को एक और दृष्टिकोण से भी असन्तोषजनक बताया है। उनका विचार है कि चलन अथवा साख-मुद्रा की सारी की सारी मात्रा वस्तुओं और सेवाओं के खरीदने पर व्यय नहीं की जाती है। सभी व्यवसायी हर समय तरल मुद्रा के रूप में चलन तथा साख-मुद्रा का एक निश्चित सचय रखते हैं, जिसका आकार समय-समय पर बदलता रहता है। केवल यही संचय वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदने पर व्यय किया जाता है। चलन तथा साख-मुद्रा का एक भाग तो आसंचित कोषों (Hoards) में गायब हो जाता है। यह भाग कीमतों पर किसी भी प्रकार का प्रभाव नहीं डालता है, इसलिए मुद्रा-परिमाण में से हमें मुद्रा की ऐसी मात्रा को निकाल देना चाहिए।

(५) वस्तुओं के प्रचलन-वेग का महत्त्व—इस सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर भी की जा सकती है कि जिस प्रकार चलन-मुद्रा और साख-मुद्रा का प्रचलन-वेग होता है ठीक उसी प्रकार वस्तुओं का भी प्रचलन-वेग हो सकता है। अर्थात् जिस प्रकार मुद्रा की एक इकाई एक निश्चित समय-अवधि में एक से अधिक बार वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदने के काम आ सकती है ठीक इसी प्रकार वस्तु की एक इकाई भी उस समय अवधि में एक से अधिक बार खरीदी और बेची जा सकती है। मुद्रा के मूल्य को निकालते समय वस्तुओं के प्रचलन-वेग को भी ध्यान में रखना आवश्यक है, परन्तु फिशर के समीकरण में इस बात को बिल्कुल भुला दिया गया है।

(६) समय-विलम्ब के महत्त्व की उपेक्षा—इस सिद्धान्त में समय-विलम्ब (Time lag) के महत्त्व को नहीं समझा गया है। मुद्रा के परिमाण के परिवर्तनों

का प्रभाव कीमत-स्तर पर एक दम नहीं पड़ता है, इसमें विलम्ब होता है। यदि आज मुद्रा की मात्रा बढ़ाई जाती है तो महीनों के बाद कीमत-स्तर पर इसका प्रभाव दृष्टिगोचर होगा। इस काल में अन्य बातों में परिवर्तन हो सकते हैं, जिनके कारण कीमत के परिवर्तनों और मुद्रा-परिमाण के परिवर्तनों का पारस्परिक सम्बन्ध सिद्धान्त के अनुसार नहीं रह पाता है।

(७) *यह सिद्धान्त यह स्पष्ट नहीं करता है कि मुद्रा के परिमाण के परिवर्तन किस प्रकार कीमत-स्तर पर अपना प्रभाव डालते हैं।* जैसा कि क्राउथर, हेयक (Hayek) तथा हॉटरे (Hawtrey) का मत है, मुद्रा-परिमाण के परिवर्तन कीमत-स्तर को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं करते हैं। सर्वप्रथम, उनका प्रभाव ब्याज की दरों पर पड़ता है और बाद में ब्याज की दरों के परिवर्तन कीमतों तथा उत्पादन की मात्रा को बदल देते हैं। यही कारण है कि मुद्रा के मूल्य सिद्धान्त का उद्देश्य केवल मुद्रा-परिमाण तथा कीमतों के पारस्परिक सम्बन्ध का उल्लेख करना ही नहीं होना चाहिए, बल्कि उससे सम्बन्धित सारी बातों का स्पष्टीकरण करना होना चाहिए।

(८) कीमत-स्तर के कुछ परिवर्तनों को समझाने में असफल— यह सिद्धान्त कीमत-स्तर के उन परिवर्तनों को समझाने में असफल रहता है जो व्यापार-चक्रों के कारण उत्पन्न होते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार कीमतों के घटने-बढ़ने का कारण केवल मुद्रा की मात्रा की कमी या वृद्धि होती है, परन्तु अनुभव बताता है कि अवसाद के काल में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि कर देने पर भी कीमतें नहीं बढ़ती हैं।

(९) माँग और पूर्ति के सिद्धान्त का ही एक संशोधित रूप— अर्थशास्त्रियों का विचार है कि यह सिद्धान्त मूल्य के माँग और पूर्ति सिद्धान्त का ही एक संशोधित रूप है, जिसमें मुद्रा की पूर्ति को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे दिया गया है। वास्तव में ऐसा ही है। अन्य वस्तुओं की भाँति मुद्रा का मूल्य भी उसकी माँग और पूर्ति द्वारा निश्चित किया जाता है, परन्तु इस सिद्धान्त में व्यर्थ की मान्यताओं के आधार पर केवल मुद्रा की पूर्ति को मुद्रा के मूल्य-निर्धारण का आधार मान लिया गया है।

सिद्धान्त की उपयोगिता—

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त काफी दोषपूर्ण है। कीन्ज के अनुसार यह सिद्धान्त अधूरा है। उनके विचार में इसके द्वारा मुद्रा की कुल क्रयः शक्ति का सही-सही और पूरा-पूरा अनुमान प्राप्त नहीं होता है, बल्कि केवल नकद क्रय-विक्रय (Cash Purchases & Sales) का ही अनुमान प्राप्त होता है। मुद्रा के द्वारा होने वाले अधिकांश लेन-देन उद्योग, व्यापार अथवा वित्त से सम्बन्धित होते हैं, जिन पर यह सिद्धान्त विचार नहीं करता है। स्वयं फिशर ने भी यह स्वीकार किया है कि संक्रांति काल (Transitional Period) में मुद्रा की मात्रा तथा कीमत-स्तर में

कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता है। इस काल में मुद्रा की मात्रा के घटने-बढ़ने के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी कीमत-स्तर में परिवर्तन हो सकते हैं।

निष्कर्ष—

सब कुछ होते हुए भी इस सिद्धान्त का कुछ महत्त्व अवश्य है। (i) कीमत स्तर के परिवर्तनों के वैसे तो बहुत से कारण होते हैं, परन्तु इन सब में सबसे महत्त्वपूर्ण कारण मुद्रा की मात्रा ही है। कीमतों के परिवर्तनों का कारण बताने के नाते सिद्धान्त का कुछ महत्त्व अवश्य है। (ii) व्यावहारिक जीवन में भी इस सिद्धान्त का उपयोग अनेक बार दृष्टिगोचर होता है। कीमत-स्तर पर नियन्त्रण रखने के लिए इस सिद्धान्त का उपयोग किया जाता है। चलन की मात्रा को बढ़ाकर कीमतों को बढ़ाने तथा चलन की मात्रा को घटा कर बढ़ती हुई कीमतों को नीचे गिराने का उपाय काफी विस्तृत रूप में उपयोग किया जाता है। ऐसा करने से मुद्रा की मात्रा के परिवर्तनों के अनुपाती परिवर्तन तो कीमत-स्तर में नहीं होते हैं, परन्तु कम से कम एक अंश तक कीमत-स्तर को परिवर्तित अवश्य किया जा सकता है। यह सिद्धान्त हमें कम से कम कीमतों के नियन्त्रण का एक अच्छा उपाय तो बताता ही है। राबर्टसन ने कहा है:—*"मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त मुद्रा का मूल्य समझने के लिए एक विचित्र सत्य है। यह एक ऐसा सत्य है कि जिसका समझना वास्तविक जीवन में मुद्रा की मात्रा और वस्तुओं की कीमत में सम्पर्क स्थापित करने के लिए आवश्यक है।"*

परिमाण सिद्धान्त में सत्यता का अंश—

परिमाण सिद्धान्त को अपूर्ण, कल्पित एवं दोषपूर्ण बताया गया है। यह आलोचना बहुत कुछ सही भी है, किन्तु यह स्मरणीय है कि जब माँग तथा पूर्ति के सिद्धान्त को मुद्रा पर लागू किया जाता है, तो वस्तुओं की तरह मुद्रा की माँग व पूर्ति में जो परिवर्तन समय-समय पर होते रहते हैं तथा इन परिवर्तनों के फलस्वरूप मुद्रा के मूल्य में जो परिवर्तन होते हैं उनका स्पष्टीकरण यह सिद्धान्त कर देता है। इस सम्बन्ध में फिशर ने कई उदाहरण दिये हैं :—

(१) अमेरिका में चाँदी की खानों का पता लगने पर, स्पेनिश खोज करने वालों ने उसे योरोप को भेजना प्रारम्भ कर दिया, जिससे वहाँ सामान्य मूल्य-स्तर बढ़ गया। बाद में जैसे-जैसे जन-संख्या बढ़ती गई (मुद्रा की माँग बढ़ी या अमेरिक से चाँदी का आयात कम होने लगा) वैसे-वैसे वस्तुओं की कीमतें कम होती गईं।

(२) आस्ट्रेलिया और कैलीफोरनियां से सन् १८४४ के लगभग बड़ी मात्रा में सोने का आयात स्वर्णमान देशों में हुआ, जिससे उन देशों में वस्तुओं के मूल्य बढ़ गये। जब उक्त खानों से सोना निकलना बन्द हो गया, तो इन देशों में मूल्य-स्तर भी गिर गया।

(३) मैक्सीको में चाँदी की खानें मिल जाने से भारत व अन्य रजतमान देशों में सन् १८७३ के लगभग वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो गई थी।

(४) द्वितीय महायुद्ध और इसके पश्चात् भारत व अन्य देशों में कागजी नोटों के आधिक्य के कारण वस्तुओं व सेवाओं के मूल्य बढ़ गये थे।

स्पष्ट है कि मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन के फलस्वरूप मुद्रा के मूल्य में होने वाले परिवर्तनों का ज्ञान होता है। हाँ, इससे इन दोनों में कोई संख्यात्मक सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। शायद प्रोफेसर फिशर का भी यह अभिप्राय न था। उन्होंने गणितात्मक समीकरण का प्रयोग केवल एक प्रवृत्ति को दिखलाने के लिए किया है।

(II) कैम्ब्रिज का मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त
(The Cambridge Quantity Theory of Money)

कैम्ब्रिज सिद्धान्त के निर्माण का श्रेय मार्शल, पीगू, हॉटरे, कैनन और राबर्टसन जैसे प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों को है। इन्होंने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को एक नये समीकरण के रूप में प्रस्तुत किया है, जिसकी मुख्य-मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :—

(१) प्रत्येक समाज में लोग अपनी आय के एक निश्चित भाग को चलन के रूप में जमा करना अच्छा समझते हैं। फिशर ने अपने समीकरण में मुद्रा की माँग को कुल सौदों के मूल्य के बराबर ($M = P. T.$) माना था अर्थात् मुद्रा का स्वयं कोई उपयोग नहीं होता। वह केवल विनिमय के काम में आता है। लेकिन ध्यानपूर्वक विश्लेषण करने से प्रतीत होगा कि जमा करने के हेतु भी लोग मुद्रा की माँग करते हैं, क्योंकि अनेक बार व्यावहारिक जीवन में आय और खर्च का पूरा संयोग नहीं बैठता। यदि कभी खर्च करना चाहते हैं, तो आमदनी नहीं होती और यदि कभी आमदनी है तो खर्च कम है। प्रायः आमदनी कम और खर्च अधिक होता है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति, संस्था अथवा सरकार अपने पास दैनिक खर्चों की पूर्ति के लिये कुछ न कुछ धन नगदी के रूप में जमा रखती है। *वह कुल मुद्रा जो विभिन्न व्यक्ति, संस्थायें और सरकार अपने पास दैनिक खर्च चलाने के लिये रखते हैं, मुद्रा की कुल माँग कहलाता है।**

(२) मुद्रा की मांग लोगों की द्रव्यता पसन्दगी (Liquidity Preference) पर निर्भर होती है। मनुष्य अपना धन कई प्रकार से विनियोग कर सकता है। कुछ विनियोग इतने सरल हैं कि उनको तत्काल मुद्रा में बदला जा सकता है, जब कि अन्य में ऐसी सुविधा नहीं होती है। उदाहरण के लिये, वस्तुओं की अपेक्षा शेयरों में अधिक द्रवता होती है। अतः जिन लोगों में द्रवता पसन्दगी अधिक है उनकी मुद्रा सम्बन्धी मांग (अर्थात् मुद्रा को अपने पास चलन के रूप में रखने की मांग) अधिक होती है और जिन लोगों में द्रव्यता पसन्दगी कम होती है उनकी मुद्रा सम्बन्धी माँग भी कम होती है।

(३) मुद्रा की माँग पर अन्य अनेक बातों का भी प्रभाव पड़ता है। जैसे आय प्राप्त होने की अवधि, वस्तु का मूल्य, जन संख्या, धन का वितरण, व्यवसाय

* प्रो० कैनन के शब्दों में "जिस प्रकार मकान की वास्तविक मांग मकान में रहने वाले लोगों की होती है (मकानों के खरीदने-बेचने वालों की नहीं) उसी प्रकार मुद्रा की वास्तविक मांग वह है जिसे मनुष्य अपना खर्च चलाने के लिये अपने पास रखते हैं।"

की दशा, लेन-देन में चैक व अन्य साख-पत्र प्रयोग करने की आदत, मुद्रा की चलन गति । यदि आमदनी देर से प्राप्त होती है, वस्तुओं का मूल्य अधिक है, जन-संख्या अधिक है, धन का समान वितरण है, व्यवसाय में कम लाभ होता है, साख-पत्रों का उपयोग अधिक किया जाता है, मुद्रा की चलन गति कम है, तो जनता के पास नगद रुपया बहुत होता है, अर्थात् मुद्रा की मांग अधिक होगी विपरीत दशाओं में मुद्रा की मांग कम होगी ।

निष्कर्ष—

स्पष्ट है कि कैम्ब्रिज समीकरण के अनुसार मुद्रा की मांग किसी देश के व्यापारिक सौदों की मात्रा पर निर्भर नहीं होती, वरन् जनता की मुद्रा की माँग पर निर्भर होती है, क्योंकि जनता अपनी आय का कुछ भाग नगद रूप में अपने पास बचा कर रखना चाहती है । फिशर के विपरीत इस सिद्धान्त में मुद्रा की मांग पर अधिक बल डाला गया है, इसलिये इसे *मुद्रा की मांग का सिद्धान्त (Demand Theory of Money)* भी कहा गया है ।

कैम्ब्रिज समीकरण—

(१) कैम्ब्रिज समीकरण के आधारभूत विचार को हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं :—प्रत्येक समाज में लोग अपनी आय के एक निश्चित भाग को चलन के रूप में जमा करना अच्छा समझते हैं ! इस प्रकार चलन को जमा कर लेने से व्यवसाय में बड़ी सुविधा होती है, परन्तु इस प्रकार चलन को जमा करने से हानि भी होती है, क्योंकि यह पैसा बेकार पड़ा रहता है और किसी भी प्रकार की आय उत्पन्न नहीं कर पाता है । इस सम्बन्ध में एक व्यक्ति इस प्रकार जमा किये हुए चलन के लाभों और उसकी हानियों की बड़ी समझदारी के साथ तुलना करता है और तत्पश्चात् यह निश्चय करता है कि कुल आय के कौन से भाग को इस प्रकार जमा करके रखा जाय । यदि किसी देश के लोग कुल आय के $\frac{१}{१०}$ का इस रूप में जमा कर लेना उपयुक्त समझते हैं तो ऐसी दशा में देश के चलन की सामूहिक कीमत समाज की आय के $\frac{१}{१०}$ के बराबर होगी । यदि समाज की वार्षिक वास्तविक आय र (R) द्वारा सूचित की जाती है और अ (K) आय के उस अनुपात को दिखाता है जो कि जनता चलन के रूप में रखती है तो अ र (KR) मुद्रा की कुल मात्रा, अर्थात् म (M) के मूल्य के बराबर होगा । इस प्रकार मुद्रा की एक इकाई का मूल्य $\frac{\text{अ र}}{\text{म}}$ अथवा $\frac{KR}{M}$ के बराबर होगा और क्योंकि सामान्य कीमत-स्तर मुद्रा के मूल्य का उल्टा होता है इसलिए $\text{क} = \frac{\text{म}}{\text{अ र}}$ अथवा $P = \frac{M}{KR}$ ही सही समीकरण होगा, जिसमें क (P) पहले समीकरण की भाँति सामान्य कीमत-स्तर को सूचित करता है

From Marshall *quoted* by Keynes : *A Treatise on Money,*

उपरोक्त विचारधारा के अनुसार मुद्रा केवल वस्तुएँ ही खरीदने का ही एक मात्र साधन नहीं है। बल्कि वस्तुओं के मूल्य का संचय भी इसी में किया जाता है। देश में व्यापार की तेजी और मन्दी के कारण मुद्रा की मांग में वृद्धि अथवा कमी होती रहती है। साधारणतया मन्दी के काल में जनता मुद्रा का सञ्चय करती है, जिसके कारण मुद्रा की माँग बढ़ती है, उसका मूल्य बढ़ता है और कीमतें गिरती हैं। तेजी के काल में व्यवसायी वर्ग मुद्रा को नये-नये उपक्रमों में लगाना चाहता है, अतएव मुद्रा की पूर्ति इसकी माँग से भी अधिक हो जाती है। इससे मुद्रा का मूल्य गिरता है और कीमतें ऊपर चढ़ जाती है, *अतः यह पता चलता है कि मुद्रा की माँग व्यापारिक सौदों पर निर्भर नहीं होती, बल्कि जनता की माँग पर निर्भर होती है, जो उसका सञ्चय करना चाहती है।*

फिशर की विचारधारा और कैम्ब्रिज की विचारधारा में अन्तर—

फिशर की विचारधारा और कैम्ब्रिज विचारधारा का अन्तर संक्षेप में इस प्रकार है :—*(i) फिशर का सिद्धान्त उस सब मुद्रा पर आधारित है जो देश में व्यापार के लिए आवश्यक है, परन्तु कैम्ब्रिज विचारधारा अपने अध्ययन को उस नकदी पर आधारित करती है जो समय विशेष में जनता द्वारा भविष्य के लिए जमा की जाती है। (ii) फिशर का सिद्धान्त दीर्घकालीन है और एक अवधि (Period) की ओर संकेत करता है, परन्तु कैम्ब्रिज सिद्धान्त अल्पकालीन है और एक क्षण (Moment) का ही अध्ययन करता है।* इन दोनों सिद्धान्तों को एक-दूसरे के विरोधी तो नहीं कहा जा सकता है, परन्तु *ये दोनों एक ही समस्या के दो विभिन्न रूपों का अध्ययन अवश्य करते हैं।*

कैम्ब्रिज समीकरण में कीन्ज द्वारा संशोधन

कैम्ब्रिज समीकरण को कुछ संशोधनों के साथ दो और रूपों में भी व्यक्त किया गया है। जैसा कि स्पष्ट है कि उपरोक्त समीकरण में केवल चलन की मात्रा पर ही विचार किया गया है, साख-मुद्रा को इसमें शामिल नहीं किया गया है। उसको सम्मिलिए करते हुए कीन्ज ने समीकरण को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

न = क (अ + र आ) अथवा $n = p\ (k + r\ k')$*

इस समीकरण में कैम्ब्रिज समीकरण से कोई भी आधारभूत अन्तर नहीं है। न (n) समस्त चलन की मात्रा को दिखाता है, क (p) सामान्य कीमत को, अ (k) उन उपभोग की इकाइयों (Consumption Units) को जिनके लिये चलन के रूप में क्रयः शक्ति संचय की जाती है, र (r) बैंकों के नकद कोषों तथा निक्षेपों का अनुपात है और आ (k) उन उपभोग की इकाइयों की मात्रा है जिनके लिए साख-मुद्रा में क्रयः शक्ति का संचय किया जाता है। कीन्ज के समीकरण की विशेषता यह है कि साख-मुद्रा के महत्त्व तथा प्रभाव को भी आवश्यक स्थान दे दिया गया है। कीन्ज

का यह समीकरण उनके द्रवता पसन्दगी सिद्धान्त पर आधारित है, जिसका उपयोग उन्होंने ब्याज के निर्धारण के सम्बन्ध में किया है। इस समीकरण में आसञ्चित कोषों के प्रभाव से मुद्रा के मूल्य को विमुक्त कर दिया गया है।

पीगू का संशोधन—

पीगू ने इस सम्बन्ध में जो समीकरण दिया है वह निम्न प्रकार है :—

$$क = \frac{अ\ र}{म}\left\{स + ह(१ - स)\right\} \text{ अथवा } P = \frac{K\ R}{M}\left\{c + h(1 = c)\right\}$$

इस समीकरण में *क*, *अ*, *र* तथा *म* के अर्थ तो वही हैं जो कैम्ब्रिज समीकरण में लगाये गये हैं। *स* (*c*) का अभिप्राय नकदी के उस भाग से है जो जनता विधि-ग्राह्य मुद्रा के रूप में जमा करती है और *ह* (*h*) बैंकरों द्वारा जमा किये हुये निक्षेपों का विधि-ग्राह्य भाग है। इस प्रकार इस समीकरण में साख-मुद्रा के महत्त्व को भी स्वीकार कर लिया गया है।

कैम्ब्रिज समीकरण की आलोचना—

फिशर के समीकरण को नकद-व्यवसाय (Cash Transaction) समीकरण का नाम दिया जाता है और इसके विपरीत कैम्ब्रिज समीकरण का रूप नकद-शेष (Cash-balance) से सम्बन्धित है, परन्तु इस समीकरण की सहायता से भी पुराने समीकरण की भाँति मुद्रा की क्रयः शक्ति का पता लगाना कठिन है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो समीकरण सही प्रतीत होता है, परन्तु व्यवहारिक दृष्टिकोण से यह अनुपयुक्त है। कीन्ज के समीकरण में *अ* और *आ* (k and k') तथा पीगू द्वारा दिये गये समीकरण में *स* और *ह* (c and h) की कोई भी निश्चित माप सम्भव नहीं है। इसी प्रकार मार्शल ने जिस समीकरण को दिया है उसमें *अ* (K) का पता लगाना लगभग असम्भव है।

(III) बचत और विनियोग का सिद्धान्त

(The Saving and Investment Theory)

गह सिद्धान्त भी कीन्ज के नाम से सम्बन्धित है, यद्यपि इस पर हेयक (Hayek), हेबरलर (Heberler), क्राउथर आदि अनेक विद्वानों ने काम किया है। *कीन्ज का विचार है कि मुद्रा का मूल्य जनता की आय तथा उसके बचाने की शक्ति तथा बचत और विनियोग के सम्बन्ध पर निर्भर होता है, मुद्रा के परिमाण पर नहीं।*

परिमाण सिद्धान्त के आलोचकों का विचार है कि यद्यपि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त यह तो बता देता है कि एक समय विशेष में कीमत-स्तर एक निश्चित बिन्दु पर क्यों होता है? परन्तु यह सिद्धान्त उन रीतियों को स्पष्ट नहीं करता है और उस क्रम को नहीं बताता है कि जिनके कारण कीमत-स्तर में परिवर्तन पैदा होते हैं। बचत

और विनियोग सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि उनके सिद्धान्त की सहायता से कीमत-स्तर तथा उसके परिवर्तनों का सभी प्रकार की आर्थिक घटनाओं, जैसे—द्रव्यिक आय (Money Income), व्यय, उत्पादन, बचत, विनियोग, मुद्रा का संचय, मुद्रा की निकासी आदि से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

इस सिद्धान्त के प्रमुख आधार निम्न प्रकार हैं :—

(१) किसी निश्चित काल में मुद्रा का मूल्य एक ओर तो द्रव्यिक आय तथा व्यय के सम्बन्ध पर निर्भर होता है और दूसरी ओर वास्तविक आय अथवा बाजार में बिक्री के लिए प्रस्तुत की हुई वस्तुओं की मात्रा पर। इसमें से द्रव्यिक आय तो मुद्रा की मात्रा तथा उससे मिलने वाली आय अथवा उसके प्रचलन-वेग पर निर्भर होती है और वस्तुओं की मात्रा—पूँजी की मात्रा, लाभ की सम्भावना आदि पर निर्भर होती है।

(२) किसी देश में उपलब्ध मुद्रा की मात्रा बहुत सी बातों पर निर्भर होती है, जैसे—देश का मुद्रा-मान, नकद कोषों तथा सुरक्षित कोषों संबंधी नियम, बैंक प्रणाली का रूप इत्यादि। इसके विपरीत आय अथवा मुद्रा का विनियोग वेग (Circuit Velocity) साहसी वर्गों द्वारा लाभ की आशा, उत्पादन के अन्तर्गत व्यय होने वाले समय तथा आय प्राप्त करने वालों के इस निर्णय पर भी निर्भर होता है कि आय का उपयोग किस प्रकार किया जायगा।

(३) एक निश्चित काल में द्रव्यिक आय की मात्रा उस काल में उत्पादित वस्तुओं की मौद्रिक कीमत के बराबर होती है, परन्तु यह सम्भव है कि नवीन उत्पादित वस्तुओं के खरीदने के लिए बाजार में जितनी मुद्रा प्रस्तुत की जाती है वह आसंचन (Hoarding), मुद्रा-निर्माण अथवा मुद्रा विनाश के कारण उसी काल की द्रव्यिक आय से कम अथवा अधिक हो।

(४) बचत का अभिप्राय यह होता है कि द्रव्यिक आय समय विशेष में नई उपभोग की वस्तुओं पर व्यय नहीं की जाती है और विनियोग का आशय द्रव्यिक आय को पूँजी की नई वस्तुओं पर व्यय करना होता है। कुल द्रव्यिक आय उपभोग तथा पूँजी दोनों प्रकार की वस्तुओं पर किये जाने वाले व्यय से कम या अधिक हो सकती है, जिसका कारण संचित कोषों का जमा करना अथवा खाली करना होता है।

(५) इस प्रकार किसी काल में बचत और विनियोग का बराबर होना आवश्यक नहीं होता है, ब्याज की वास्तविक दरें उनके बीच संतुलन

स्थापित नहीं करती हैं। मुद्रा के विनाश अथवा आसंचन के कारण बचत विनियोग से अधिक हो सकती है और इसी प्रकार मुद्रा के निर्माण अथवा व्यर्थ जमा के टूटने के कारण विनियोग बचत से अधिक हो सकता है।

(६) जिस दशा में बचत विनियोग से अधिक होती है, कीमतें नीचे गिरती हैं और जिस काल में विनियोग बचत से अधिक होता है, कीमतें ऊपर चढ़ जाती हैं। साम्य की स्थिति वही होती है जिसमें बचत और विनियोग दोनों बराबर होते हैं।

बहुत ही सरल भाषा में उपरोक्त सिद्धान्त यह बताता है कि उपभोग की वस्तुओं और पूँजी की वस्तुओं (Consumption Goods and Capital Goods) की कीमतें और इसलिए मुद्रा का मूल्य, आय प्राप्त करने वालों के इस निर्णय पर निर्भर होता है कि वे उस आय का कौनसा भाग वस्तुयें खरीदने के लिए प्रस्तुत करते हैं। जिस स्थिति में वस्तुयें खरीदने के लिए प्रस्तुत की हुई आय घटती है, परन्तु वस्तुओं की मात्रा यथास्थिर रहती है; अथवा वस्तुओं की मात्रा बढ़ती है, लेकिन आय का वह भाग यथास्थिर रहता है जो वस्तुएँ खरीदने के लिए उपयोग किया जाता है तो सामान्य कीमतें गिरती हैं। इसके विपरीत उस दशा में सामान्य कीमतें बढ़ेंगी जबकि या तो वस्तुओं की मात्रा में कमी हुए बिना वस्तुएँ खरीदने के लिए प्रस्तुत किया हुआ आय का प्रवाह (Flow of Income) बढ़ता है, अथवा जबकि आय की मात्रा के यथास्थिर रहते हुए भी वस्तुओं की मात्रा घटती है।

इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य कीन्ज ने किया है। उनका विचार है कि बचत और विनियोग सदा ही और आवश्यक रूप में एक दूसरे के बराबर होते हैं।* कीन्ज ने अपना तर्क निम्न तीन समीकरणों द्वारा प्रस्तुत किया है:—

का = *उ* + *वि* अथवा $Y = C + I$

वि = *का* — *उ* अथवा $S = Y - C$

अतएव *ब* = *वि* अथवा $S = I$

उपरोक्त समीकरणों में *का* (Y) कुल आय को सूचित करता है, उ (C) उपभोग को, *वि* (I) विनियोग को तथा ब (S) बचत को। पूरे समाज को जो आय प्राप्त होती है, अर्थात् *का*, वह या तो उपभोगीय वस्तुओं *उ* का उत्पादन करके होती है, अथवा विनियोग की वस्तुयें *वि* उत्पन्न करके। इसी प्रकार *का* = *उ* + *वि*। परन्तु *उ* जो उपभोग की वस्तुओं को उत्पन्न करने की आय को सूचित करता है, आय की इस मात्रा के बराबर होगा जो उपभोग की वस्तुएँ खरीदने पर व्यय की जाती है, क्योंकि इन दोनों में वास्तव में कोई अन्तर नहीं होता है। इसी प्रकार *वि* मुद्रा की

उस मात्रा को दिखाता है जो विनिमय की वस्तुओं अथवा पूँजी की वस्तुओं पर व्यय की जाती है। इससे यह पता चलता है कि समाज की कुल बचत *ब*, *का*—*उ* के बराबर होनी चाहिए और क्योंकि *वि* भी *का*—*उ* के बराबर है, अतएव *ब*=*वि*, अर्थात् बचत और विनियोग बराबर होंगे।

एक उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—

इस सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट करने के लिए और यह दिखाने के लिए कि मुद्रा की मात्रा के परिवर्तनों का बचत तथा विनियोग पर क्या प्रभाव पड़ता है, हम एक उदाहरण ले सकते हैं। मान लीजिए कि मुद्रा संचालक मुद्रा की मात्रा (ऋण योग्य कोष) को बढ़ाता है। इससे ब्याज की दरें नीचे गिरेंगी, जिसके फलस्वरूप साहसियों द्वारा ऋण लेने तथा विनियोजन को प्रोत्साहन मिलेगा। इससे आगे चलकर मौद्रिक आय बढ़ेगी, जिसका कारण पहले मुद्रा की मात्रा की वृद्धि हो जाना होगा। कीन्ज के अनुसार विनियोग बचत से कम या अधिक नहीं हो सकता है, क्योंकि विनियोग के लिए जिस मुद्रा का सृजन होता है वह तुरन्त किसी न किसी की आय को बढ़ाती है और यदि इस आय का उपभोग नहीं होता है तो इसकी बचत ही की जायगी। इस प्रकार मुद्रा की मात्रा के परिवर्तनों की दशा में भी ब्याज की दरों के परिवर्तनों द्वारा बचत और विनियोग बराबर ही रहेंगे। यदि मुद्रा की मात्रा बढ़ाई जाती है और अतिरिक्त मुद्रा के एक भाग का आसंचन (Hoarding) भी कर लिया जाता है तो भी उपरोक्त निष्कर्ष में कोई त्रुटि उत्पन्न नहीं होती है। यह निश्चय है कि आसंचित आय न तो उपभोग पर व्यय हुई है और न विनियोग पर। ऐसी दशा में वस्तुओं और सेवाओं की माँग घटेगी, कुछ माल बिना बिके रह जायगा, कीमतें नीचे गिरेंगी और भविष्य में आय घट जायगी, जिसका उपभोग, बचत और विनियोग तीनों पर प्रभाव पड़ेगा। कीन्ज का कथन है कि क्योंकि आसंचित आय न तो उपभोग की वस्तुएँ खरीदने के काम आती है और न उत्पत्ति की वस्तुयें खरीदने के लिए। इस कारण उपभोग की वस्तुएँ और पूँजीगत माल बिना बिके रह जायगा और इस प्रकार रहे हुए माल को विनियोग ही गिना जायगा। अतः आसंचन की दशा में भी बचत और विनियोग बराबर होते है।

कीन्ज के सिद्धान्त के दोष—

कीन्ज के इस दृष्टिकोण के कई दोष है, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं:—

(१) **बचत और विनियोग प्रत्येक दशा में समान नहीं हैं**—कीन्ज ने बचत और विनियोग जैसे एक से तथ्यों को बराबर बनाने का प्रयत्न किया है। इससे कुछ पारिभाषिक कठिनाइयाँ पैदा हो जाती है। लेवन्तीफ (Leontief) का विचार है कि बचत और विनियोग को प्रत्येक दशा में समान दर्शाने से एक सैद्धान्तिक सन्तोष के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नहीं होता है।*

* W. Leontief: *Implicit Theorising—a Mathematical Criticism of the Neo-Cambridge School*, Quarterly Journal of Economics, Vol. 51, p. 337.

(२) व्यावहारिक महत्त्व का प्रभाव—लुट्ज का विचार है कि कीन्ज ने बचत और विनियोग की जो परिभाषायें दी हैं वे प्रवैगिक परिवर्तनों अथवा साख नीति के अध्ययन में बेकार हैं। ऐसी दशा में कीन्ज के मत का व्यावहारिक महत्त्व कुछ भी नहीं होगा।*

"मुद्रा की माँग की लोच 'इकाई' है"—

परिमाण सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की मात्रा दूनी कर देने से मूल्य-स्तर दूना और मुद्रा की मात्रा आधी कर देने से मूल्य-स्तर आधा हो जाता है। इस कथन से यह आशय निकलता है कि मुद्रा की माँग की लोच 'इकाई' (Unity) के बराबर है। है। किन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि मुद्रा की माँग की लचक इकाई के बराबर नहीं होती है। इसका कारण यह है कि व्यावहारिक जीवन में मुद्रा के पूर्ति के अनुसार मूल्य-स्तर में अनुपातिक परिवर्तन नहीं हुआ करते, जैसा कि उक्त कथन में बताया गया है। उदाहरण के लिए, प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी में जर्मन मार्क में जैसे-जैसे वृद्धि हुई वैसे वैसे वस्तुओं का मूल्य भी बढ़ता गया और यह मूल्य वृद्धि अनुपात से कहीं अधिक हुई, क्योंकि जनता का मुद्रा से विश्वास उठ गया था। अतः मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन से मूल्य-स्तर में उसी अनुपात में परिवर्तन नहीं होते और इसलिए मुद्रा की माँग की लोच भी 'इकाई' के बराबर नहीं हो सकती है।

मुद्रा की मात्रा की वृद्धि का कीमत स्तर पर प्रभाव (Effect of Increased Money Supply on the Price-level)—

मुद्रा, कीमत तथा ब्याज की दर के पारस्परिक सम्बन्ध में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री टाउजिग ने इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है : "अधिक मुद्रा कीमतों को ऊँचा उठाती है, परन्तु ब्याज की दर को नीचे नहीं गिराती है।" यही विचारधारा मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त तथा ब्याज के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (Marginal Productivity Theory) पर आधारित है। कीन्ज ने अपनी जनरल थ्योरी (General Theory) में इस प्रतिष्ठित विचारधारा को स्वीकार किया है कि मुद्रा की मात्रा की वृद्धि साधारणतया कीमतों की भी वृद्धि उत्पन्न करती है; परन्तु इस सम्बन्ध में कीन्ज का विचार पृथक है कि कीमतों की यह वृद्धि किसी प्रकार उत्पन्न होती है।

कीन्ज का विचार है कि मुद्रा की पूर्ति की वृद्धि का आरम्भिक प्रभाव यह होता है कि ब्याज की दरें नीचे गिरती हैं। कारण यह है कि अब लोगों के पास मुद्रा उससे अधिक मात्रा में हो जाती है जितनी कि ये रखना चाहते हैं, जिसके कारण उधार दिये जाने वाले कोषों की मात्रा बढ़ती है। किन्तु ब्याज की दर के घटने से विनियोग (Investments) प्रोत्साहित होते हैं और विनियोगों के बढ़ने के कारण रोजगार में वृद्धि हो

---

* F. A. Lutz : *The Outcome of the Saving-Investment Discussion*, Quarterly Journal of Economics, Vol. 52, p. 613.

जाती है। रोजगार की यह वृद्धि निम्न तीन कारणों से कीमतों को बढ़ा देती है:—(१) मजदूरी व्यय बढ़ जाता है, क्योंकि श्रमिकों की माँग बढ़ जाती है और साथ ही श्रमिकों को मिलमालिकों से सौदा करने की शक्ति (Bargaining Power) भी बढ़ जाती है; (२) साधारणतया अल्पकाल में क्रमगत उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है; जिसके कारण उत्पादन व्यय बढ़ जाता है और (३) उत्पादन के विस्तार के मार्ग में अनेक बाधाएँ (Bottlenecks) उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि उत्पत्ति के सभी साधनों की माँग पूर्ण रूप में लोचदार नहीं होती है।

कीन्ज के मतानुसार यद्यपि मुद्रा की मात्रा के बढ़ने से रोजगार और कीमतें दोनों बढ़ते हैं, किन्तु आरम्भ में रोजगार की वृद्धि का ही महत्त्व होता है, परन्तु धीरे-धीरे जैसे-जैसे पूर्ण रोजगार (Full Employment) की स्थिति समीप आती जाती है तो कीमतों की वृद्धि अधिक महत्त्वपूर्ण होती जाती है। जब पूर्ण रोजगार की स्थिति आ जाती है तो रोजगार के आगे बढ़ने की सम्भावना समाप्त हो जाती है और अब मुद्रा की मात्रा की वृद्धि का प्रभाव कीमतों की ही वृद्धि पर ही पूर्ण रूप में पड़ने लगता है।

कीन्ज के अनुसार संशोधित रूप में मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है : "जब तक बेरोजगारी है, रोजगार का परिवर्तन उसी अनुपात में होगा जिस अनुपात में कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होता है; और जब पूर्ण रोजगार की स्थिति आ जाती है तो कीमतें उसी अनुपात में बदलती हैं जिसमें कि मुद्रा की मात्रा।"* यह विचाराधारा निम्न मान्यताओं पर आधारित है :—

(१) बेरोजगारी अथवा आँशिक बेरोजगारी के काल में उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति पूर्णतया लोचदार होती है।

(२) पूर्ण रोजगार की दशा में उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति पूर्णतया बेलोच हो।

(३) सप्रभाविक माँग की वृद्धि उसी अनुपात में होती है जिसमें कि मुद्रा की मात्रा की वृद्धि।

अलग-अलग वस्तुओं की कीमतों में उनके उत्पादन व्यय के परिवर्तनों के अनुसार परिवर्तन होते हैं और उत्पादन व्यय के परिवर्तन उत्पादन की मात्रा पर निर्भर होते हैं। मुद्रा की मात्रा का परिवर्तन प्रत्यक्ष रूप में उत्पादन व्यय पर कोई भी प्रभाव नहीं डालता है, किन्तु परोक्ष रूप में ब्याज की दर, विनियोग के अंश, आय तथा रोजगार के परिवर्तन के कारण उत्पादन व्यय में भी परिवर्तन आ जाते हैं।

*"So long as there is unemployment, *employment* will change in the same proportion as the quantity of money ; and when there is full employment, *prices* will change in the same proportion as the quantity of money." *Vide* Keynes : *General Theory*.

जब कीमतें तथा उत्पादन की मात्रा बढ़ते हैं तो व्यवसाय के लिए अधिक मुद्रा की आवश्यकता होती है, जिसके कारण मुद्रा की पूर्ति बढ़ती है। इस प्रकार कीमत-स्तर तथा उत्पादन की मात्रा की वृद्धि अधिक मुद्रा के निर्माण का कारण बनती है। इस प्रकार अधिक मुद्रा के कारण कीमतें ऊँची नहीं होतीं, बल्कि ऊँची कीमतों के कारण मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है। यह क्रम उसका बिल्कुल उल्टा है जैसा कि प्रतिष्ठित परिमाण सिद्धान्त में दर्शाया गया है।

QUESTIONS

1. द्रव्य की परिभाषा दीजिए और समझाइये कि द्रव्य तथा अन्य वस्तुओं में क्या अन्तर है? द्रव्य का मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है, स्पष्ट कीजिए।
(Agra, B. A., 1958)
2. क्या आप द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं?
(Agra, B. A., 1957 Supp.)
3. मुद्रा की पूर्ति तथा मुद्रा की माँग की विस्तृत रूप में व्याख्या कीजिए।
(Agra, B. A, 1957)
4. The Quantity Theory has been widely criticised. With the qualification 'Other things remaining the same' it is a useless truism. "Examine the statement and give the main weeknesses of the Theory. (Agra, B. A., 1954)
5. Critically examine Quantity Theory of Money and explain how far it falls short of giving correct explanation of variation in price-level. (Raj., B. A., 1957)
6. What is meant by the Quantity Theory of Money? How far does it afford a true explanation of the rise and fall of prices? (Agra, B. Com., 1958)
7. What do you understand by the Quantity Theory of Money? What are its limitations?
(Agra, B. Com., 1954, 1956)
8. Explain what is meant by 'value of money' and show how is it measured? (Raj., B. Com., 1958)
9. Explain the Quantity Theory of Money as propounded by Keynes. How does it mark an advance upon Fisher's Theory?
(Raj., B. Com., 1956)
10. मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त समझाइये। (Sagar, B. A., 1957)

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। मुद्रा की चलन-गति के कौन-कौन से मुख्य कारक हैं। (Sagar, B. Com., 1957)

What is meant by value of money? How is the value of money determined? (Alld., B. A., 1955)

What do you understand by velocity of circulation of money? Discuss the factors that determine it. (Patna, B. A., 1957)

मुद्रा (Money) क्या है, बताइये। मुद्रा-मात्रा सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) समझाइये। (Jabalpur, B. A., 1958)

Discuss critically the Quantity Theory of Money.
मुद्रा मात्रा-सिद्धान्त की तर्क पूर्ण व्याख्या कीजिये। (Agra, B. A., 1959)

अध्याय ६

मुद्रा-स्फीति, मुद्रा-संकुचन तथा मुद्रा-संस्फीति

(Inflation, Deflaton and Reflation)

प्रारम्भिक—

पिछले अध्याय में हम यह देख चुके हैं कि मुद्रा के मूल्य अथवा कीमत-स्तर में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। पूँजीवादी देशों में एक निश्चित क्रम के अनुसार अभिवृद्धि अथवा वैभव (Boom or Prosperity) तथा अवसाद अथवा मन्दी (Depression or Slump) के काल आते रहते हैं और इनके अनुसार ही आर्थिक जगत में उथल-पुथल होती रहती है। तेजी और मन्दी के इस क्रम को अर्थशास्त्र में व्यापार चक्र अथवा व्यवसायिक चक्र (Trade Cycles or Business Cycles) के नाम से पुकारा जाता है। व्यवसायिक चक्रों के कारण उत्पन्न होने वाले कीमतों के परिवर्तनों ने संसार में काफी आतंक मचा रखा है और पूँजीवादी संसार इनसे बहुत भयभीत है। कठिनाई यह भी है कि इनके निवारण का कोई पूर्णतया सफल उपाय अर्थशास्त्र के पण्डित नहीं निकाल पाए हैं। कीमतों के इस प्रकार के उच्चावचनों का अध्ययन अर्थशास्त्र में एक नितान्त आवश्यक विषय बन गया है। प्रस्तुत अध्याय में उच्चावचनों के विभिन्न रूपों, उनके कारणों और उनकी प्रकृति का अध्ययन किया जायगा।

मुद्रा-प्रसार अथवा मुद्रा-स्फीति
(Inflation)

मुद्रा प्रसार का अर्थ (Mening of Inflation)

लगभग प्रत्येक लेखक ने मुद्रा-प्रसार अथवा मुद्रा-स्फीति की अपनी अलग ही परिभाषा दी है। परिणाम यह हुआ है कि इस शब्द के सही अर्थ समझने में बड़ी कठिनाई होती है, परन्तु मुद्रा-स्फीति शब्द बहुधा भय से सम्बन्धित होता है। एक निश्चित अवस्था पार कर लेने के पश्चात् मुद्रा-स्फीति देश की अर्थव्यवस्था को पूर्णतया चौपट कर देती है। इस कारण आवश्यकता इस बात की है कि इस शब्द के सही-सही अर्थ समझ लिये जायें। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों के विचार प्रस्तुत किये जाते हैं—

(१) क्राउथर ने लिखा है कि:—"सबसे सरल तथा सबसे उपयोगी परिभाषा यह लगती है कि स्फीति वह स्थिति है जिसमें रुपए का मूल्य गिरता रहता है, अर्थात् पदार्थों के मूल्य बढ़ते रहते हैं।[1]

परन्तु यह परिभाषा पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं है। इसके अनुसार सामान्य कीमतों की प्रत्येक वृद्धि मुद्रा-स्फीति होती है और यदि स्फीति कोई भयानक चीज है तो कीमतों की प्रत्येक वृद्धि से डरना चाहिए, परन्तु यह ठीक नहीं है। कीमतों की प्रत्येक वृद्धि समाज के लिए कष्टदायक नहीं होती है। अवसाद के पश्चात् जब धीरे-धीरे उद्धार (Recovery) के अन्तर्गत कीमतें बढ़ती हैं तो वे लाभदायक ही होती हैं। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, कीमतों की प्रत्येक वृद्धि मुद्रा-स्फीति नहीं होती। यह शब्द केवल एक विशेष प्रकार की कीमत वृद्धि के लिए उपयोग किया जाता है।

(२) केमरर (Kemmerer) का विचार है :—"यदि मुद्रा की मात्रा अधिक हो और वस्तुओं की मात्रा उत्पादन घटने के कारण कम हो जाय तो मुद्रा-स्फीति होती है।"[2] इस परिभाषा के अनुसार कीमतों का बढ़ना प्रत्येक दशा में मुद्रा-स्फीति नहीं होती है, परन्तु यदि कीमतें इस कारण बढ़ गई हैं कि मुद्रा की मात्रा बढ़ गई है और वस्तुओं की मात्रा घट गई है तो यह मुद्रा-स्फीति ही कहलायेगा। केमरर का विचार है कि यदि देश की जन-संख्या के बढ़ने के कारण या व्यापार के बढ़ जाने के कारण मुद्रा बढ़ाई जाती है तो यह मुद्रा स्फीतिं उत्पन्न नहीं करेगी, यद्यपि इसके फलस्वरूप कीमतें बढ़ सकती हैं। मुद्रा-स्फीति केवल उसी दशा में होगी जबकि मुद्रा की मात्रा इतनी अधिक बढ़ जाय कि वह व्यापार एवं उद्योगों की आवश्यकता से अधिक हो जाय और उसकी क्रयः शक्ति कम होने लगे, अथवा जबकि मुद्रा की मात्रा तो यथास्थिर रहे, परन्तु उत्पादन किसी कारण इतना कम हो जाय कि कीमतें बढ़ जायें। दूसरे शब्दों में, यदि उत्पादन की तुलना में मुद्रा की मात्रा अधिक होने के कारण कीमत बढती हैं तो यह मद्रा-स्फीति है।

1. *See* G. Crowther : मुद्रा की रूप रेखा Hindi Edition, p. 138.
2. *See* Kemmerer *A.B.C. of Inflation*, p. 46.

यह परिभाषा बहुत अंश तक सन्तोषजनक है, क्योंकि इसमें मुद्रा-स्फीति के आधारभूत कारण को स्पष्ट किया गया है। मुद्रा-स्फीति की अवस्था तभी उत्पन्न होती है जबकि मुद्रा की निकासी आवश्यकता से अधिक मात्रा में हो जाती है, अथवा उत्पादन इतना घट जाता है कि उसकी तुलना में मुद्रा की प्रस्तुत मात्रा ही आवश्यकता से अधिक हो जाती है। परन्तु इस परिभाषा का भारी दोष अस्पष्टता है। आवश्यकता से अधिक मात्रा में मुद्रा के होने का कोई निश्चित अर्थ नहीं होता है और यदि होता भी है तो उसकी पहिचान क्या है? यदि कीमतों की वृद्धि को मुद्रा के आवश्यकता से अधिक होने का लक्षण मान लिया जाता है तो उस दशा में कीमतों की प्रत्येक वृद्धि मुद्रा-स्फीति को सूचित करेगी, परन्तु केमरर स्वयं इस विचार के विरुद्ध हैं।

(३) कुछ लोगों का विचार है कि आवश्यकता से अधिक मात्रा में मुद्रा के होने का यह अर्थ होता है कि मुद्रा की पूर्ति उसकी माँग से अधिक हो। निस्सन्देह उत्पादित वस्तुएँ, व्यापार और उद्योग की स्थिति आदि मुद्रा की माँग को सूचित करती हैं और मुद्रा की पूर्ति विभिन्न रूपों में मुद्रा की मात्रा और उसके प्रचलन वेग द्वारा सूचित होती है। यदि पूर्ति के माँग से अधिक हो जाने के कारण मुद्रा की क्रयः शक्ति घटती है और कीमतें बढ़ती हैं तो यही मुद्रा-स्फीति होगी।

परन्तु मुद्रा-स्फीति की यह परिभाषा भी असन्तोषजनक है। इस परिभाषा में दो कठिनाइयाँ हैं :— प्रथम, मुद्रा की माँग और पूर्ति का ठीक-ठीक पता लगा लेना कठिन होता है। किसी भी देश से सम्बन्धित व्यापार तथा उद्योग की आवश्यकता का प्रत्येक अनुमान अनिश्चित होता है। ठीक इसी प्रकार मुद्रा के प्रचलन-वेग का सही अनुमान न लगने के कारण भी मुद्रा की पूर्ति का ठीक-ठीक पता लगाना कठिन होता है। दूसरे, किसी भी वस्तु के मूल्य के परिवर्तन उसकी माँग और पूर्ति के तुलनात्मक परिवर्तनों के परिणाम होते हैं। कीमतों की वृद्धि केवल उसी दशा में होती है जबकि मुद्रा की माँग उसकी पूर्ति से कम होती है। ऐसी दशा में कीमतों की प्रत्येक वृद्धि मुद्रा की पूर्ति उसकी मांग से अधिक होने के कारण उत्पन्न होगी।

(४) मुद्रा-स्फीति की सबसे अच्छी परिभाषा *पीगू* ने की है। उनका विचार है कि —"मुद्रा-स्फीति की अवस्था तब होती है जबकि मौद्रिक आय उत्पादन-क्रिया की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ रही हो।"[1] एक दूसरे स्थान पर पीगू ने फिर लिखा है :—"मुद्रा-स्फीति उस समय होती है, जबकि उत्पादक साधनों द्वारा किये गये काम की तुलना में, जिनको भुगतान के रूप में मौद्रिक आय प्राप्त होती है, मौद्रिक आय अधिक तेजी के साथ बढ़ रही हो।"[2] इस परिभाषा के अनुसार कीमतों की वृद्धि

---

1. Inflation exists when money income is expanding more than in proportion to income-earning activity. *See* Pigou : *Types of War Inflation*, Economic Journal, Dec. 1941, p. 439,

2. Inflation is taking place when money income is expanding relatively to the output of work by productive agents for which it is the payment. *See* Pigou : *The Veil of Money*, p. 14.

मुद्रा स्फीति का आवश्यक लक्षण है, परन्तु कीमतों की प्रत्येक वृद्धि मुद्रा-स्फीति नहीं होती है। यदि कीमतें इस कारण बढ़ रही हैं कि समाज को प्राप्त होने वाली मौद्रिक आय उसके द्वारा किये जाने वाले उत्पादन की अपेक्षा अधिक तेजी के साथ बढ़ रही है तो यह मुद्रा-स्फीति होगी। *कीमतों के बढ़ने की निम्न दशायें मुद्रा-स्फीति को दिखायेंगी :—*

(१) जबकि मौद्रिक आय और उत्पादन दोनों बढ़ रहे हैं, परन्तु मौद्रिक आय उत्पादन की अपेक्षा अधिक तेजी के साथ बढ़ती है।

(२) जबकि मौद्रिक आय बढ़ती है, परन्तु उत्पादन यथास्थिर रहता है।

(३) जबकि मौद्रिक आय बढ़ती है, परन्तु उत्पादन घटता है।

(४) जबकि मौद्रिक आय यथास्थिर रहती है, परन्तु उत्पादन घटता जाता है।

(५) जबकि मौद्रिक आय तथा उत्पादन दोनों ही घटते हैं, परन्तु उत्पादन मौद्रिक आय की अपेक्षा अधिक तेजी के साथ घटता है।

मुद्रा स्फीति के रूप (Types of Inflation)—

कारणों तथा उद्देश्यों के आधार पर अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा-स्फीति के विभिन्न रूपों को अलग-अलग नाम दे दिए हैं।

(१) मुद्रा स्फीति—कीन्ज के अनुसार *एक साधारण प्रकार के मुद्रा-प्रसार को, जिसमें वस्तुओं की कीमतें बढ़ती हैं, 'वस्तु-स्फीति' (Commodity Inflation) कहा जा सकता है।*

(२) चलन स्फीति—यदि स्फीति का कारण यह है कि सङ्कट काल में वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए *सरकार द्वारा अत्यधिक मात्रा में कागज के नोट छाप कर कीमतों को बढ़ा दिया जाता है तो इसको 'चलन-स्फीति' (Currency Inflation) का नाम दिया जाता है।* युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति का साधारणतया यही रूप होता है।

(३) लाभ स्फीति—कीन्ज का विचार है कि अनेक बार ऐसा भी देखने में आता है जबकि उत्पादन व्यय घटता है तो उसके फलस्वरूप कीमतों में नीचे गिरने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, परन्तु सरकार कृत्रिम उपायों से कीमतों की स्थिरता बनाये रखती है। ऐसी दशा में कीमतें बढ़ती तो नहीं हैं, परन्तु ये उन कीमतों की अपेक्षा ऊँची रहती हैं जो कि उस दशा में रहतीं जबकि सरकार उनके गिरने पर किसी प्रकार का नियन्त्रण न लगाती। ऐसी अवस्था को कीन्ज ने 'लाभ-स्फीति' (Profit Inflation) का नाम दिया है। इस प्रकार की स्फीति में कीमतें पुराने कीमत-स्तर पर ही बनी रहती हैं।

(४) पूर्ण स्फीति और (५) आँशिक स्फीति—पीगू ने पूर्ण-स्फीति (Full Inflation) तथा आँशिक स्फीति (Partial Inflation) में भी भेद

दिया है। उनका विचार है कि साधारणतया कीमतों के बढ़ने के कारण उत्पादन की भी वृद्धि होती है और उत्पादन की वृद्धि के साथ-साथ उत्पत्ति के साधनों की वृत्ति का भी विस्तार होता है। इसके फलस्वरूप अन्त में ऐसी अवस्था आ सकती है कि पूर्ण वृत्ति स्थापित हो जाय, अर्थात् देश में उत्पत्ति के सभी साधनों को पूर्ण रूप में रोजगार मिल जाय। ऐसी अवस्था में यदि मौद्रिक आय के तेजी के साथ बढ़ने के कारण कीमतें बढ़ती हैं तो इसे 'पूर्ण स्फीति' कहा जाता है, परन्तु पूर्ण वृत्ति के पूर्व भी मौद्रिक आय का विस्तार उत्पत्ति के विस्तार से अधिक तेजी के साथ हो सकता है। ऐसी दशा में कीमतों की वृद्धि 'आँशिक स्फीति' होती है।

(६) घाटा प्रोत्साहित स्फीति—आधुनिक युग में मुद्रा-स्फीति उत्पन्न किये बिना युद्ध के लिए वित्तीय-व्यवस्था करना लगभग असम्भव होता है। यदि जनता करों तथा ऋणों के रूप में लड़ाई के खर्चों के लिए काफी रकम नहीं दे पाती है तो सरकार को नई मुद्रा का निर्माण करके बजट के घाटे को पूरा करने पर बाध्य होना पड़ता है। इस प्रकार बजट के घाटे को पूरा करने के लिए जो मुद्रा-प्रसार किया जाता है उसे 'घाटा अथवा हीनार्थ प्रोत्साहित स्फीति' (Deficit-induced Inflation) कहा जाता है।

(७) मजदूरी प्रोत्साहित स्फीति—इसी प्रकार यदि श्रम-संघों के जोर पर सेवायोजकों (Employers) को अधिक मजदूरियाँ देने पर बाध्य होना पड़ता है, परन्तु उत्पत्ति की मात्रा न बढ़ने के कारण कीमत बढ़ जाती है तो ऐसी दशा में 'मजदूरी प्रोत्साहित स्फीति' (Wage-induced Inflation) उत्पन्न होती है।

(८) स्वतन्त्र मुद्रा-स्फीति—कुछ लेखकों के अनुसार मुद्रा-स्फीति स्वतन्त्र अथवा निष्कंटक (Open) तथा शमन (Suppressed) भी हो सकती है। यदि ऊँची मौद्रिक आय और उसके व्यय पर किसी प्रकार के नियन्त्रण नहीं लगाये जाते और मुद्रा-स्फीति का निष्कंटक विकास होता है तो ऐसी अवस्था में 'स्वतन्त्र स्फीति' (Open Inflation) होती है।

(९) शमन स्थिति—परन्तु यदि नियन्त्रण द्वारा जनता की आय के स्वतन्त्र व्यय को रोक दिया जाता है, तो स्फीति का परिणाम कीमतों की वृद्धि के विपरीत उपभोग की कमी, नकदी की जोड़ तथा बैंकों की जमा के बढ़ने के रूप में प्रकट होता है। ऐसी अवस्था में शमन-स्फीति होती है।

(१०) अत्यधिक स्फीति—स्वतन्त्र स्फीति के विकास पर यदि कोई भी प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता है तो यह प्रचण्ड रूप धारण कर सकती है और कीमतें बेहिसाब बढ़ने लगती हैं। मुद्रा की मात्रा में तनिक सी वृद्धि होते ही कीमतें कई गुनी बढ़ सकती हैं। एक-एक सप्ताह में कीमतों में १,०००% की वृद्धि होने के उदाहरण संसार में मिलते हैं। मुद्रा-स्फीति के इस रूप को 'अत्यधिक, अतिरिक्त अथवा सरपट दौड़ने वाली स्फीति' (Hyper, Super of Galloping Inflation) कहा जाता है।

मुद्रा-स्फीति की तीन अवस्थाएँ—

मुद्रा-स्फीति को देश के आर्थिक जीवन का क्षय रोग (Tuberculosis) कहा गया है। आर्थिक विद्वानों का मत है कि *मुद्रा-स्फीति के विकास की तीन अवस्थाएँ* होती है : (i) *प्रथम अवस्था* में स्फीति का निवारण सम्भव होता है और उपयुक्त उपाय करके इसे पूर्णतया समाप्त किया जा सकता है। (ii) क्षय रोग की भाँति दूसरी अवस्था में भी गम्भीर प्रयत्नों द्वारा इसका निवारण हो सकता है, यद्यपि सफलता एक अंश तक सन्देहपूर्ण ही होती है। (iii) परन्तु तीसरी अवस्था में किसी भी प्रकार मुद्रा-प्रसार को नहीं रोका जा सकता है। उसका अन्तिम परिणाम यही होता है कि देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है।

उदाहरण—

इन तीनों अवस्थाओं को एक उपयुक्त उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। सरलता के लिये हम यह मान लेते हैं कि कीमतों की वृद्धि का एक मात्र कारण सरकार द्वारा चलन की मात्रा की वृद्धि है। ऐसी दशा में जब तक कीमतें चलन की वृद्धि के अनुपात से कम तेजी के साथ बढ़ेंगी, मुद्रा-स्फीति अपनी पहली अवस्था में रहेगी, जब चलन की वृद्धि तथा कीमतों की वृद्धि की दर एक ही हो जायगी तो दूसरी अवस्था रहेगी और जब कीमतें चलन के विस्तार से भी अधिक तेजी के साथ बढ़ने लगेंगी तो स्फीति की तीसरी अथवा अन्तिम अवस्था आरम्भ हो जायगी।

आरम्भ में यह मान लीजिये कि चलन में १०% की वृद्धि की जाती है। इसके फलस्वरूप कीमतें भी कुछ समय पश्चात् लगभग इसी अनुपात में बढ़ जायेंगी, परन्तु कीमतों की वृद्धि के फलस्वरूप उत्पादन अधिक लाभदायक हो जायगा और उसका भी विस्तार होगा। हो सकता है कि उत्पादन में १०% अथवा इससे भी अधिक वृद्धि हो जाय, अतएव वस्तुओं की मात्रा के बढ़ जाने के कारण कीमतें फिर गिर कर अपने पुराने स्तर पर आ जायेंगी। कुछ दशाओं में वह पहिले से भी नीचे गिर सकती है। इस प्रकार कीमतों की वृद्धि अस्थाई रहेगी, परन्तु यदि फिर उसी प्रकार चलन की मात्रा में १०% वृद्धि कर दी जाती है। तो कीमतें फिर बढ़ेंगी और उत्पत्ति का फिर विस्तार होगा। यदि यह क्रम बराबर बना रहता है तो कुछ समय पश्चात् वस्तुओं के उत्पादन का विस्तार चलन के विस्तार की अपेक्षा कम तेजी के साथ होने लगेगा। कारण यह है कि उत्पादन के विस्तार के साथ-साथ उत्पत्ति के साधनों के रोजगार का भी विस्तार होता है और कुछ समय पश्चात् इन साधनों की दुर्लभता अनुभव होने लगती है। क्रमगत उत्पत्ति ह्रास नियम की कार्यशीलता के कारण उत्पत्ति की वृद्धि की गति धीमी पड़ जाती है। ऐसी दशा में उत्पादन की वृद्धि चलन-विस्तार की अपेक्षा कम होगी। पीगू के शब्दों में मौद्रिक आय, आय उत्पादन की क्रियाओं की अपेक्षा अधिक वेग से बढ़ने लगेगी। यहीं से मुद्रा-स्फीति का आरम्भ हो जायगा, परन्तु क्योंकि

अभी उत्पादन में वृद्धि सम्भव है। इसलिये कीमतें चलन विस्तार की अपेक्षा कम तेजी के साथ बढ़ेंगी। यह मुद्रा-स्फीति की पहली अवस्था है।

यदि चलन के विस्तार का क्रम अब भी बराबर बना रहता है, तो धीरे-धीरे ऐसी अवस्था आ जायगी जबकि उत्पत्ति के सभी साधनों को पूर्ण वृत्ति प्राप्त हो जायगी। उत्पत्ति को और अधिक बढ़ाने के लिये अब कोई भी साधन शेष नहीं रहेगा। यह पूर्ण वृत्ति (Full Employment) की अवस्था होगी। यहाँ पर साधनों के पूर्ण रूप में काम पर लगे रहने के कारण उत्पादन का विस्तार रुक जायगा। *वस्तुओं की मात्रा यथास्थिर रहने के कारण कीमतों में उसी वेग अथवा अनुपात में वृद्धि होने लगेगी, जिस अनुपात में चलन का विस्तार किया जाता है। यही मुद्रा स्फीति की दूसरी अवस्था है।*

पूर्ण वृत्ति बिन्दु के पश्चात् भी यदि चलन के विस्तार का क्रम बना रहता है और थोड़े-थोड़े समय के बाद उसकी मात्रा में १०% वृद्धि होती रहेगी तो कुछ समय तक तो कीमतें चलन-विचार के अनुपात में ही बढ़ती रहेंगी, *परन्तु कुछ समय बाद पत्र-मुद्रा की मात्रा इतनी बढ़ जायगी कि उस पर से जनता का विश्वास उठने लगेगा। जनता में भय की मनोवृत्ति उत्पन्न हो जायगी। यह मनोवृत्ति इतना प्रचण्ड रूप धारण कर लेगी कि कीमतों की वृद्धि की कोई सीमा ही न रहेगी।* वे चलन-विस्तार की अपेक्षा बहुत अधिक तेजी से बढ़ने लगेंगी। चलन में १०% वृद्धि होने पर कीमतें २०, ३०, १०० अथवा १,०००% के हिसाब से भी बढ़ सकती हैं। यहाँ पर चलन के विस्तार को बन्द कर देने पर भी कीमतों का बढ़ना बराबर बना रह सकता है। यही मुद्रा स्फीति की अन्तिम अवस्था है, जिसके बहुत ही गम्भीर परिणाम होते हैं। सन् १९२३ में जर्मनी में ऐसी ही प्रचण्ड मुद्रा-स्फीति हुई थी, जिसके फलस्वरूप देश में मुद्रा-विनिमय के स्थान पर वस्तु-विनिमय का प्रचलन हो गया था, क्योंकि कोई भी व्यक्ति जर्मन सरकार द्वारा निकाले गये कागजी नोटों को लेने के लिये तैयार न था। इस प्रकार की मुद्रा-स्फीति को अर्थशास्त्र में बड़े भयङ्कर शब्दों में वर्णित किया जाता है। यही दौड़ती हुई स्फीति (Runaway or Galloping Inflation) है। कुछ लेखकों ने तो इसे स्फीति का भयङ्कर राक्षस (The Hydra-headed Monster of Inflation) भी कहा है।

मुद्रा-स्फीति के कारण (The Causes of Inflation)—

मुद्रा-स्फीति दो प्रकार के कारणों से उत्पन्न होती है:—(१) मौद्रिक आय के विस्तार के कारण और (२) उत्पादन की कमी के कारण। अब हमें यह देखना है कि मौद्रिक आय का विस्तार किन बातों पर निर्भर होता है और किस प्रकार किया जाता है और इसी प्रकार हमें यह भी देखना है कि कौन से कारण वस्तुओं की उत्पत्ति में कमी कर देते हैं? देश में मुद्रा की मात्रा की वृद्धि, जिसके कारण कीमतें बढ़ने की सम्भावना पैदा हो जाती है, निम्न प्रकार होती है:—

(१) मौद्रिक आय के विस्तार को प्रभावित करने वाली बातें—

(i) सरकारी नीति के फलस्वरूप—*बहुत बार सरकार जान-बूझ कर चलन की मात्रा को बढ़ाकर तथा साख-विस्तार को प्रोत्साहन देकर कीमतों को बढ़ाती है।* इसका उद्देश्य यह होता है कि मुद्रा की क्रयः शक्ति को कम करके ऋणी वर्ग के ऋण भार को कम किया जाय, अथवा धनहीन कृषक वर्ग के उन कष्टों को दूर किया जाय जो कीमतों के पतन के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त इस नीति के और भी बहुत से उद्देश्य होते हैं, जैसे—देश की विकास योजनाओं के लिए धन प्राप्त करना। इन उद्देश्यों से सरकार केवल चलन की मात्रा का ही विस्तार नहीं करती है, बल्कि बैंक दर को घटा कर तथा अन्य रीतियों से बैंक-मुद्रा के विस्तार को भी प्रोत्साहन देती है। साख-मुद्रा के विस्तार का भी स्फीतिक प्रभाव होता है और इसे आर्थिक भाषा में कभी-कभी *साख-स्फीति (Credit Inflation)* कहा जाता है। उपरोक्त सभी रीतियाँ ऐच्छिक अथवा कृत्रिम स्फीति (Deliberate Inflation) को उत्पन्न करती हैं।

(ii) हीनार्थ-प्रबन्धन (Deficit Financing)—बहुत बार सरकारें घाटे के बजट बनाती हैं। व्यय की मात्रा आय से अधिक रखी जाती है और सरकार प्रतिभूतियाँ निकाल कर बैंकों से ऋण लेती है। इन प्रतिभूतियों के आधार पर बैंक अपने निक्षेपों को बढ़ाती हैं और इस प्रकार साख-मुद्रा का विस्तार होने के कारण मुद्रा-प्रसार फैलता है। आधुनिक युग में सरकारों द्वारा ऐसा करने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जब सरकार की साख इतनी कम होती है कि उसे खुले बाजार में आवश्यक मात्रा में ऋण नहीं मिलते हैं, अथवा जब सरकार और अधिक करारोपण द्वारा जनता को असन्तुष्ट करना नहीं चाहती है तो हीनार्थ-प्रबन्धन द्वारा आय प्राप्त की जाती है।

(iii) प्राकृतिक कारण, जैसे स्वर्ण की मात्रा में वृद्धि—कभी-कभी प्राकृतिक कारणों द्वारा भी मुद्रा-स्फोति फैलती है। यदि किसी ऐसे देश में जहाँ स्वर्ण को चलन का आधार बनाया गया है, अकस्मात् ही किसी कारण से बहुत अधिक मात्रा में स्वर्ण आ जाता है तो उस देश में मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। बहुमूल्य धातुओं का भारी आयात भी मुद्रा-प्रसार का कारण बन सकता है।

(iv) चलन तथा साख-मुद्रा के प्रचलन-वेग में वृद्धि—वर्तमान काल में यह कारण बहुत महत्त्वपूर्ण होता जा रहा है। मुख्यतया साख-मुद्रा के प्रचलन वेग की वृद्धि के कारण मुद्रा की कुल मात्रा में काफी वृद्धि हो जाती है और कीमतों में स्फीतिक प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। सम्पन्नता (वैभव) के काल में बैंकों के निक्षेपों की मात्रा और साख-मुद्रा का प्रचलन-वेग बढ़ने से स्फीति के विकास की अनुकूल दशायें उत्पन्न हो जाती हैं।

उत्पादन को कम करने वाली बातें—

साधारणतया उपरोक्त सभी कारण उत्पत्ति के विस्तार को भी प्रोत्साहित

करते हैं। कीमतों की वृद्धि साधारणतया अधिक माँग तथा अधिक बिक्री का सूचक होती है। इसके अतिरिक्त कच्चे माल की कीमतें तथा मजदूरियाँ भी तैयार माल की तुलना में नीची रहती हैं। ये सभी परिस्थितियाँ उत्पादक के लाभ को बढ़ाती हैं और उत्पादन के विस्तार का कारण बनती हैं, परन्तु यह सम्भव है कि उत्पादन की वृद्धि मौद्रिक आय के विस्तार की तुलना में कम रहे। ऐसी दशा में वस्तुओं और सेवाओं की एक तुलनात्मक कमी अनुभव होने लगती है। अनेक कारणों से उत्पत्ति की मात्रा घट भी सकती है, जो उस काल में भी सम्भव है जबकि मुद्रा की मात्रा यथास्थिर रहती है। उत्पादन की कमी के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं:—

(i) कुछ उत्पत्ति के साधनों की दुर्लभता, जिसके कारण उत्पत्ति क्रमगत उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत होने लगती है।

(ii) *औद्योगिक झगड़े*, जिनके कारण काम बहुधा बन्द रहता है।

(iii) *प्राकृतिक आपत्तियाँ*, जैसे—भूचाल, बाढ़, सूखा, महामारी इत्यादि।

(iv) *शिल्प सम्बन्धी परिवर्तन* (Technological changes), जो कुछ काल के लिए उत्पादन कार्यों को स्थगित करा देते हैं।

(v) *सरकार की व्यापार तथा प्रशुल्क नीति*, जिसके अन्तर्गत विदेशों को इतना अधिक निर्यात कर दिया जाता है कि देश में वस्तुओं की कमी पैदा हो जाती है, अथवा जिसके अन्तर्गत आयातों पर नियन्त्रण लगा कर उसकी मात्रा सीमित रखी जाती है और देश में वस्तुओं का अभाव उत्पन्न हो जाता है।

मुद्रा-प्रसार के परिणाम (The Effects of Inflation)—

मुद्रा-प्रसार के प्रभाव आर्थिक जीवन के सभी अङ्गों पर पड़ते हैं, यद्यपि यह सत्य है कि अलग-अलग दिशाओं में इसके प्रभाव भी अलग-अलग होते हैं। समाज के कुछ वर्गों के लिए मुद्रा-स्फीति एक प्राकृतिक आशीर्वाद के रूप में आती है, परन्तु समाज के कुछ वर्गों को इसके कारण अपार कष्ट होता है। साधारण मुद्रा-स्फीति के परिणाम इतने गम्भीर होते हैं कि लोग इसे दोषपूर्ण ही समझते हैं, परन्तु सभी दशाओं में मुद्रा-स्फीति हानिकारक नहीं होती। नियन्त्रित स्फीति के विषय में तो यह कहा जाता है कि इसकी सहायता से देश के आर्थिक जीवन के विकास तथा देश के भौतिक और मानव साधनों के पूर्ण उपयोग की योजनाओं को सफल बनाया जा सकता है। आधुनिक अर्थशास्त्री कीमत-स्तर की धीरे-धीरे ऊपर उठती हुई प्रवृत्ति को बनाये रखना देश की मौद्रिक नीति का आवश्यक आधार समझते हैं।

आथिक विनियोजन तथा युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था के प्रबन्ध में तो मुद्रा स्फीति का महत्त्व सभी स्वीकार करते हैं। आर्थिक नियोजन द्वारा एक पिछड़ी हुई अर्थ-व्यवस्था को भी उन्नत बनाया जा सकता है और देश के बेकार पड़े हुए साधनों का उपयोग करके देश में उपभोग-स्तर को ऊँचा उठाया जा सकता है, परन्तु नियोजन को सफल बनाने के लिए सरकार को भारी मात्रा में पूँजी व्यय करना पड़ता है। साधारण

साधनों, जैसे—करारोपण, लोक ऋण आदि, द्वारा इस व्यय को पूरा करना कठिन होता है। इस कारण सरकार हीनार्थ प्रबन्ध द्वारा अथवा कागज के नोट छाप कर इस व्यय को पूरा करने का प्रयत्न करती है। इससे मुद्रा-प्रसार तो अवश्य होता है, परन्तु यह इसलिए उचित होता है कि भविष्य में उत्पत्ति बढ़ने के कारण वर्तमान आर्थिक कष्टों का पूर्ण रूप में बदला मिल जाता है। इसके अतिरिक्त मुद्रा-प्रसार के कारण देश के साधनों का पुनर्वितरण हो जाता है, जिससे आर्थिक नियोजन को सफल बनाने के लिए पर्याप्त साधन मिल जाते हैं। इसी प्रकार युद्धकालीन मुद्रा-प्रसार भी इस कारण उचित होता है कि इसके द्वारा सरकार रक्षा व्यय के लिए आवश्यक धन प्राप्त कर लेती है। मुद्रा-स्फीति के कारण जो कष्ट होता है वह देश की पराजय तथा दासता की तुलना में कुछ भी नहीं होता है। आधुनिक संसार का अनुभव यही है कि युद्ध की तैयारी तथा युद्ध के सफल संचालन के लिए मुद्रा-स्फीति आवश्यक ही है।

इस प्रकार मुद्रा-स्फीति के भी अपने लाभदायक उपयोग होते हैं, परन्तु जन-साधारण के दृष्टिकोण से मुद्रा-स्फीति अत्यन्त बुरी होती है। प्रो० वकील ने मुद्रा-स्फीति की तुलना एक डाकू से की है, जो वैसे तो सारे राष्ट्र को लूटता है, परन्तु अदृश्य रहता है। लोगों को साधारणतया यह पता भी नहीं चल पाता है कि उन्हें कौन लूट रहा है और किस प्रकार? "मुद्रा प्रसार की तुलना एक डाकू से की जा सकती है। दोनों ही कोई न कोई वस्तु छीनते हैं, लेकिन अन्तर यह है कि जबकि एक डाकू दृष्टिगत होता है, मुद्रा-प्रसार अदृष्य रहता है; डाकू का शिकार एक ही समय पर एक या कई व्यक्ति होते हैं। लेकिन मुद्रा-प्रसार का शिकार समस्त जनता होती है; डाकू को न्यायालय में उपस्थित किया जा सकता है, लेकिन मुद्रा-प्रसार कानूनी होता है; उसे न्यायालय में इस प्रकार नहीं घसींटा जा सकता है।"*

समाज के विभिन्न वर्गों पर मुद्रा-स्फीति का प्रभाव—

मुद्रा-स्फीति के सामाजिक प्रभाव का अध्ययन करने के लिए कीन्ज ने समाज को ५ वर्गों में विभाजित किया है, जो इस प्रकार हैं:—(I) विनियोगी वर्ग (The Investors), (II) उत्पादक वर्ग (The Producers), (III) श्रमिक वर्ग (The Wage-earners), (IV) उपभोक्ता वर्ग (The Consumers) और (V) ऋणी वर्ग तथा साहूकार वर्ग (The Debtors and Creditors)। स्पष्ट तथा विस्तृत अध्ययन के लिए प्रत्येक वर्ग पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन अलग-अलग किया जायगा। यह निश्चय है कि इन विभिन्न वर्गों को एक दूसरे से पूर्णतया अलग नहीं किया जा सकता है। एक ही व्यक्ति एक साथ विनियोगी, उत्पादक

*Inflation may be compared to robbery. Both deprive the victim of some possession with the difference that the robber is visible, intfation is invisible; the robber's victim may be one or a few at a time, the victims of inflation are the whole nation, the robber may be dragged to a court of law, inflation is legal. *See* C. N. Vakil *Financial Burden of War on India*.

श्रमिक, उपभोक्ता तथा ऋणी और साहूकार सभी कुछ हो सकता है। यहाँ पर केवल यह देखने का प्रयत्न किया जायगा कि इन विभिन्न रूपों में समाज के सदस्यों पर मुद्रा-प्रसार का अलग-अलग प्रभाव किस प्रकार पड़ता है? यह सम्भव है कि एक रूप में एक व्यक्ति को लाभ हो और दूसरे रूप में हानि।

(I) विनियोगी वर्ग—विनियोगी वर्ग से हमारा अभिप्राय उन लोगों से होता है जो उद्योग और व्यवसाय में रुपया लगाते हैं और इस प्रकार लगाये हुए रुपए से आय प्राप्त करते हैं। यही वर्ग साहसी का काम करता है और उत्पत्ति सम्बन्धी जोखिम को उठाता है। *इस वर्ग को दो भागों में बाँटा जा सकता है*:—(१) वे विनियोगी जिन्हें निश्चित आय प्राप्त होती है और (२) वे विनियोगी जिनकी आय परिवर्तनशील होती है।

(१) निश्चित आय वाले विनियोक्ता—प्रथम वर्ग के विनियोगियों का व्यवसाय के लाभ और हानि से कोई निकट सम्बन्ध नहीं होता है। चाहे व्यवसाय को अत्यधिक लाभ हो या हानि उन्हें तो पूर्व निश्चित राशि ही मिलती है। एक सम्मिलित पूँजी कम्पनी के ऋण-पत्रधारी (Debenture Holders) इसी प्रकार के विनियोगी होते हैं। इन व्यक्तियों को कम्पनी को उधार दी गई राशि पर एक निश्चित दर पर ब्याज मिलती है। व्यवसाय की सम्पन्नता अथवा कठिनाई का ब्याज की दर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इस वर्ग को मुद्रा-स्फीति के काल में हानि होती है, क्योंकि इसकी आय तो स्थिर रहती है, परन्तु मुद्रा की क्रयः शक्ति कम हो जाने के कारण इस आय की वास्तविक कीमत घट जाती है। पहिले के बराबर आय से अब पहले से कम वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदी जा सकती हैं।

(२) परिवर्तनशील आय वाले विनियोक्ता—परिवर्तनशील आय वर्ग के विनियोगी वे लोग होते हैं जिनकी आय निश्चित नहीं होती, वरन् व्यवसाय के भाग्य पर निर्भर होती है। यदि व्यवसाय को अधिक लाभ होता है तो इस वर्ग को भी लगभग उसी अनुपात में बढ़ी हुई आय प्राप्त होती है। व्यवसाय को हानि होने की दशा में यह भी सम्भव होता है कि इस वर्ग को कुछ भी आय प्राप्त न हो। मुद्रा-स्फीति का समय व्यवसायों के लिए सम्पन्नता का काल होता है। बिक्री अधिक होती है, अच्छी कीमतें मिलती हैं और व्यापार तेजी के साथ होता है। लाभ का अंश अधिक रहता है और इस कारण इस वर्ग के विनियोगियों को अधिक आय प्राप्त होती है। सम्मिलित पूँजी कम्पनी के साधारण अंशधारी ऐसे ही विनियोगी होते हैं। इस प्रकार

इस वर्ग की मौद्रिक आय बढ़ती है, परन्तु क्योंकि कीमतें भी बढ़ जाती हैं, इसलिए वास्तविक आय उतनी तेजी से नहीं बढ़ पाती है। कुल मिलाकर इस वर्ग के विनियोगियों को लाभ ही होता है।

(II) उत्पादक वर्ग—इस वर्ग में हम उन सभी व्यक्तियों को सम्मिलित करते हैं जो उत्पादन के कार्यों में लगे रहते हैं। *उद्योगपति, कृषक, खानों के मालिक, माहीगीर आदि सभी प्रकार के उत्पादक इसी वर्ग में सम्मिलित किये जाते हैं।* हमें यह देखना है कि मुद्रा-प्रसार का इस वर्ग पर क्या प्रभाव पड़ता है ? मुद्रा-स्फीति में ऐसा होता है कि जनता के पास क्रयः शक्ति का विस्तार देश में उत्पादन की अपेक्षा अधिक तेजी से होता है। सभी प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें निरन्तर ऊपर चढ़ती जाती हैं। *सामान्य रूप में इस वर्ग के व्यक्तियों को मुद्रा-स्फीति के काल में लाभ होता है। उत्पादक के लाभों के निम्न तीन कारण होते हैं :—*

(१) कीमतों की वृद्धि साधारणतयैा माँग की वृद्धि के कारण होती है। इसका अर्थ यह होता है कि वस्तुओं और सेवाओं की बिक्री तेजी के साथ होती है। माल तैयार होते ही बिक जाता है, जिसके फलस्वरूप एक ओर तो अधिक बिक्री के कारण लाभ अधिक होता है और दूसरे, तैयार माल को जमा करके रखने, उसकी लागत पर ब्याज देने तथा माल का विज्ञापन करने पर व्यय कम होता है, तीसरे, कोई मशीन तथा कारखाना बेकार नहीं रहता है।

(२) कीमतों की तुलना में उत्पादन व्यय निम्न स्तर पर रहता है। कारण यह है कि उत्पादन में समय लगता है। यदि आज कच्चा माल तथा औजार खरीदे जाते हैं। पूँजी उधार ली जाती है, अथवा श्रमिकों को भर्ती किया जाता है तो दो-चार महीने पीछे तैयार माल निकल पाता है और हो सकता है कि माल को बेच कर कीमत प्राप्त करने में और भी अधिक समय लगे। उपरोक्त सभी खर्चे, जो उत्पादन व्यय के अंग होते हैं, वर्तमान कीमत-स्तर के अनुसार होंगे, परन्तु इस बीच में कीमतें बढ़ जाती हैं तो तैयार माल की बिक्री ऊँचे कीमत-स्तर के अनुसार अर्थात् ऊँची कीमतों पर होगी। इससे उत्पादक के लिए लाभ का अंश बढ़ जाता है।

(३) मजदूरी में भी उत्पादक को बचत होती है। यह अर्थशास्त्र में एक साधारण सी बात है कि मजदूरियाँ कीमत-स्तर से पीछे ही रहती हैं। कीमतों के बढ़ने की दशा में मजदूरियों की दरें भी अवश्य बढ़ती हैं, परन्तु उतनी तेजी से नहीं जितनी तेजी से कि कीमतें बढ़ती हैं। इस प्रकार मजदूरी का एक भाग भी उत्पादक के लाभों में सम्मिलित हो जाता है। जिन उद्योगों में मजदूरी उत्पादन-व्यय का एक बड़ा भाग होती है उन्हें तो विशेष रूप में लाभ होता है।

इस प्रकार मुद्रा-स्फीति के काल में उत्पादक वर्ग को लाभ होता है, जिसके फलस्वरूप उत्पादन का विस्तार करके और अधिक लाभ कमाने का प्रयत्न किया जाता है। व्यापारी वर्ग को भी उत्पादकों में ही सम्मिलित किया जा सकता है। इस वर्ग को

साधारणतया और भी अधिक लाभ होता है। रखे-रखे माल के दाम बढ़ते रहते हैं और प्रत्येक बार माल को कम कीमत पर खरीद कर अधिक कीमत पर बेच दिया जाता है। ग्राहकों को ढूँढ़ने तथा आकर्षित करने की आवश्यकता भी कम पड़ती है।

(III) श्रमिक वर्ग—*इस वर्ग में हम उन सब व्यक्तियों को सम्मिलित करते हैं जो अपनी सेवाओं अथवा अपने श्रम को बेचकर आय प्राप्त करते हैं।* इस वर्ग में कारखानों और कृषि में काम करने वाले मजदूर, वेतनभोगी व्यक्तियों तथा अन्य प्रकार के श्रमिकों को शामिल किया जाता है।

यदि कीमतें बढ़ती हैं तो एक दिशा में तो इस वर्ग को लाभ होता है, परन्तु दूसरी दिशा में हानि रहती है। बात यह है कि मुद्रा-स्फीति के काल में, उत्पत्ति, व्यापार तथा व्यवसाय का विस्तार होता है। इस सारे विस्तार के लिए अधिक श्रमिकों की आवश्यकता पड़ती है, जिससे रोजगार की वृद्धि होती है। श्रम की माँग अधिक होने के कारण श्रमिकों की सौदा करने की शक्ति भी बढ़ जाती है और वे कार्य की अधिक अच्छी दशाएँ प्राप्त कर लेते हैं। रोजगार के विस्तार के कारण श्रमिक वर्ग सुखी रहता है। परिवार के अधिक सदस्यों को रोजगार मिल जाने के कारण आय में वृद्धि हो जाती है, परन्तु दूसरी दिशा में श्रमिक वर्ग को हानि होती है। मजदूरियों तथा वेतनों की यह सामान्य प्रकृति है कि वे कीमत-स्तर से बहुत पीछे रहती है। *मुद्रा-स्फीति के काल में मजदूरियाँ और वेतन बढ़ते तो हैं, परन्तु कीमतों की अपेक्षा कम तेजी के साथ बढ़ते हैं, इसलिए श्रमिक की वास्तविक मजदूरी कम हो जाती है।* बढ़ी हुई मजदूरी भी पहले की अपेक्षा कम वस्तुएँ और सेवाएँ खरीद सकती है, जिससे श्रमिकों का जीवन-स्तर नीचे गिर जाता है। उन्हें विशेष कठिनाई अनुभव होती है और वे संगठन करके अधिक मजदूरियों, मँहगाई के भत्तों तथा जीवन निर्वाह व्यय के भत्तों की माँग करते हैं।

यह काल श्रम संघों के संगठन और विकास का काल होता है। सामूहिक रूप में श्रमिक अधिक मजदूरियों की माँग करते हैं। श्रम संघों की सदस्यता बढ़ती है और श्रमिकों का संगठन दृढ़ होता है। *यह काल हड़तालों का भी काल होता है,* जिसके कारण औद्योगिक अशान्ति फैलती है। श्रमिक वर्ग यह जान लेता है कि इस समय उत्पादन को बन्द करना उत्पादक के हित में नहीं है, इसलिए वह हड़ताल की धमकी अथवा हड़ताल करने पर श्रमिकों की कुछ न कुछ माँगों को अवश्य पूरा करेगा। *इसी काल में औद्योगिक शान्ति स्थापित करने की नई-नई रीतियों और नये-नये उपायों का आविष्कार किया जाता है* और श्रमिकों को सन्तुष्ट रखने के विशेष प्रयत्न किये जाते हैं।

(IV) उपभोक्ता वर्ग—*समाज के सभी सदस्य उपभोक्ता होते हैं।* चाहे हम ब्याज पर रुपया देकर आय प्राप्त करें, कोई उद्योग अथवा व्यवसाय चलायें अथवा मजदूरी करें, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हमें उपभोग **अवश्य करना**

पड़ता है। *उपभोक्ताओं के दृष्टिकोण से मुद्रा-स्फीति का काल विशेष रूप में कष्टदायक होता है।* उपभोक्ताओं की आय की तुलना में कीमतें बराबर बढ़ती जाती हैं। जीवन की नितान्त आवश्यक वस्तुओं की कीमतें सबसे अधिक बढ़ती हैं। वस्तुएँ और सेवाएँ दुर्लभ हो जाती हैं और उपभोक्ताओं को उपभोग की मात्रा में कमी करनी पड़ती है। इस कारण उपभोक्ताओं में भारी असन्तोष फैलता है। उन्हें कुछ आवश्यकताओं की सन्तुष्टि तो पूर्णतया स्थगित करनी पड़ती है और कुछ को केवल आंशिक रूप में ही पूरा करने पर वाध्य होना पड़ता है। उपभोक्ताओं की ओर से सहकारी समितियाँ स्थापित करने तथा कीमतों पर नियन्त्रण रखने की माँग की जाती है। दूसरे महायुद्ध के काल तथा युद्धोत्तर काल में उपभोक्ताओं के कष्टों से सभी परिचित हैं।

(V) ऋणी तथा साहूकार वर्ग—*इस वर्ग में उधार लेने और देने वाले व्यक्तियों को सम्मिलित किया जाता है।* आधुनिक समाज में प्रत्येक व्यक्ति ऋणी अथवा साहूकार है और कभी-कभी तो वह दोनों एक ही साथ होता है। ऋणों के सम्बन्ध में बहुधा ऐसा होता है कि ऋण एक निश्चित काल के लिए दिया जाता है और देते समय उसके ब्याज की दर निश्चित कर ली जाती है। इसके पश्चात् कीमतों की घटा-बढ़ी का इस पहिले से तय की हुई ब्याज की दर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

(१) मुद्रा-स्फीति के काल में ऋणी वर्ग को लाभ होता है। कारण यह है कि उसे एक पूर्व निश्चित मात्रा में मूलधन तथा ब्याज चुकाना होता है। कीमतों के बढ़ जाने के कारण भुगतान की इस राशि की वास्तविक कीमत कम रह जाती है। इस प्रकार ऋण का वास्तविक भार बहुत कम रह जाता है, परन्तु इस काल में साहूकार वर्ग को हानि होती है। मूलधन तथा ब्याज के रूप में इस वर्ग को जो राशि प्राप्त होती है उसकी वास्तविक कीमत उस समय की अपेक्षा बहुत कम रह जाती है जबकि ऋण दिया गया था। मुद्रा-स्फीति के काल में उत्पत्ति के बढ़ने के कारण ऋणों की माँग अधिक होती है और ब्याज की दरें ऊपर चढ़ती हैं। इस काल में बैंकों द्वारा अधिक साख का निर्माण किया जाता है। इसके अतिरिक्त बैंकिंग का विकास भी होता है। बैंकों के नकद कोषों और उनकी निक्षेपों का पारस्परिक अनुपात कम हो जाता है।

एक दूसरे दृष्टिकोण से मुद्रा-स्फीति के काल में साहूकार वर्ग को लाभ होता है और ऋणी वर्ग को हानि होती है। बढ़ती हुई कीमतों के काल में बहुधा उत्पादन का विस्तार किया जाता है। इसके लिए अधिक ऋणों की आवश्यकता पड़ती है। इसके अतिरिक्त ऐसे समय में व्यापार भी अधिक तेजी के साथ होने लगता है। इससे भी अल्पकालीन ऋणों की माँग बढ़ जाती है। दोनों ही कारणों से *ऋणों की माँग बढ़ जाती है, जिससे एक ओर तो ब्याज की दर बढ़ जाती है और दूसरी ओर साहूकार के पास धन बेकार नहीं पड़ा रहता है।* यह स्थिति साहूकार के लिए

निसन्देह लाभपूर्ण रहेगी। इसके विपरीत ऋणी को हानि होगी, क्योंकि एक ओर तो ऋणों की माँग बढ़ जाने के कारण ऋण मिलने में कठिनाई होगी और दूसरी ओर ब्याज की दरें ऊँची उठ जायेंगी।

स्मरण रहे कि मुद्रा-स्फीति के उपरोक्त सभी परिणाम मुद्रा-स्फीति की पहली और दूसरी अवस्थाओं से सम्बन्धित हैं। अन्तिम अवस्था में तो उसके परिणाम बहुत भयंकर होते हैं। जर्मनी में सन् १९२३ में विनिमय व्यवस्था पूर्णतया वस्तु विनिमय आधार पर आ गई थी। नोटों के बदले में कुछ भी प्राप्त कर लेना सम्भव न था। अत्यधिक मुद्रा-प्रसार सरकार पर से जनता का विश्वास उठा देता है। बहुत बार यह सामाजिक और राजनैतिक क्रान्ति को जन्म देता है। चीन की कॉमिटाँग सरकार की पराजय का कारण साम्यवादी फौजों की शक्ति के अतिरिक्त वह भीषण मुद्रा-स्फीति भी थी जो उसके राज्य-काल में चीन भर में फैल गई थी।

मुद्रा-स्फीति के अन्य आर्थिक प्रभाव—

समाज के विभिन्न वर्गों पर पड़ने वाले उक्त प्रभावों के अतिरक्त मुद्रा-प्रसार के निम्न आर्थिक प्रभाव भी उल्लेखनीय हैं :—

(१) करों में वृद्धि—मुद्रा प्रसार के दिनों में नये कर बहुत लगाये जाते हैं और पुराने करों में वृद्धि हो जाती है।

(२) ऋणों में वृद्धि—व्यापारी वर्ग तो अधिकाधिक ऋण लेकर उत्पादन बढ़ाने का प्रयास करता ही है, साथ ही सरकार भी अधिक ऋण लेती है, जिससे उसके बजट में घाटे की पूर्ति हो सके।

(३) बैंकिंग और बीमा—नये-नये बैंक व बीमा कम्पनियों की स्थापना होने लगती है और पुरानी निष्प्राण संस्थायें भी गतिशील हो उठती हैं।

(४) नियमित आर्थिक प्रणाली—सरकार स्वतन्त्र आर्थिक प्रणाली का परित्याग करके नियन्त्रित आर्थिक प्रणाली की नीति अपनाती है, जो देश का आर्थिक विकास करने में सहायक होती है और लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा उठता है। राशनिंग, मूल्य नियन्त्रण आदि नियन्त्रित आर्थिक प्रणाली के ही अङ्ग हैं।

(५) रक्षा-व्यय में सुविधा—युद्ध काल में मुद्रा-प्रसार के द्वारा सरकार देश की रक्षा के लिए पर्याप्त व्यय करने में समर्थ हो जाती है, यद्यपि नागरिकों को थोड़ा कष्ट तो होता है, लेकिन देश की स्वतन्त्रता के सामने उसकी कोई गिनती नहीं है।

(६) आयात उत्साहित और निर्यात हतोत्साहित होते हैं, जिससे विदेशी विनिमय दर बढ़ जाती है और व्यापार-सन्तुलन देश के प्रतिकूल रहता है।

(७) बचत की भावना को ठेस—मुद्रा-प्रसार होने पर मुद्रा का मूल्य गिर जाता है। अतः लोगों ने जो बचत की है उसका मूल्य भी (क्रय शक्ति कम हो जाने से. कम हो जाता है, जिससे लोगों में बचत की भावना कुंठित हो जाती है।

(८) करदाताओं को लाभ होता है, क्योंकि मुद्रा-प्रसार के दिनों में उन्हें कर के रूप में कुछ अधिक रुपया देना पड़ता है, लेकिन वास्तव में वस्तुओं के रूप में वे अपेक्षत: कम भुगतान करते हैं।

(९) धन का वितरण—मुद्रा-प्रसार एक ऐसा अन्धा इन्जन है जो एक का धन लूटकर दूसरे को और दूसरे का धन लूट कर तीसरे को देता है। जिन्होंने परिश्रम से कमाया है और जिन्होंने बिना परिश्रम के कमाया है वे सब ही लूटे जाते हैं। यह कुछ लोगों को फायदा और कुछ को नुकसान पहुँचाता है।

(१०) समाज का नैतिक पतन—मुद्रा-प्रसार के दिनों में अधिक से अधिक लाभ कमाने के प्रयत्न में व्यापारी चोरबाजारी, मिलावट, मुनाफाखोरी जैसे अनैतिक कर्म करने लगते हैं तथा यह रोग सरकारी कर्मचारियों में भी फैल जाता है। वे भी रिश्वत लेकर व्यापारियों को अनैतिक कर्मों की छूट दे देते हैं।

सारांश—

उपरोक्त विवेचना से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि मुद्रा-प्रसार अनेक आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं नैतिक बुराइयों की जड़ है और अन्त में सारे राष्ट्र को भयंकर हानि सहनी पड़ती है।

मुद्रा-संकुचन अथवा मुद्रा विस्फीति
(Deflation)

मुद्रा संकुचन का अर्थ (Meaning of Daflation)—

मुद्रा-संकुचन मुद्रा-स्फति की विपरीत प्रवृत्ति है। वैसे तो बहुत से लोग कीमतों के प्रत्येक पतन को मुद्रा-संकुचन का नाम दे देते हैं, परन्तु जिस प्रकार कीमतों की प्रत्येक वृद्धि स्फीतिक नहीं होती है ठीक उसी प्रकार कीमतों का प्रत्येक पतन विस्फीतिक भी नहीं होता है। कुछ लोगों का विचार है कि यदि मुद्रा की पूर्ति अथवा उसकी मात्रा, मुद्रा की माँग अर्थात् उसकी व्यापार, व्यवसाय अथवा अन्य विनिमय कार्यों सम्बन्धी आवश्यकता से, कम होती है तो मुद्रा की क्रय: शक्ति बढ़ जाती है तथा वस्तुओं और सेवाओं की सामान्य कीमतें गिरती हैं, यही विस्फीति है। जैसा कि हम मुद्रा-स्फीति के सम्बन्ध में देख चुके हैं कि मुद्रा की माँग और पूर्ति का कोई निश्चित अनुमान सम्भव नहीं होता है, इसलिए मुद्रा-विस्फीति के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण सन्तोषजनक नहीं है। मुद्रा-संकुचन की भी सबसे उपयुक्त परिभाषा पीगू ने ही की है। उनके अनुसार मुद्रा-विस्फीति कीमतों के गिरने की वह स्थिति है, जो उस समय उत्पन्न होती है, जबकि वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन मौद्रिक आय की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ता है। इस प्रकार कीमतों का प्रत्येक पतन मुद्रा-संकुचन नहीं होता है। उसकी केवल एक विशेष दशा ही मुद्रा-स्फीति को सूचित करती है। *निम्न दशाओं में कीमतों का गिरना विस्फीतिक होता है*

(१) यदि मौद्रिक आय घटती है, परन्तु उत्पादन यथास्थिर रहता है।
(२) यदि मौद्रिक आय तथा उत्पादन दोनों घटते हैं, परन्तु मौद्रिक आय अपेक्षतन अधिक तेजी से घटती है।
(३) यदि उत्पादन बढ़ता है, परन्तु मौद्रिक आय यथास्थिर रहती है।
(४) यदि उत्पादन तथा मौद्रिक आय दोनों बढ़ते हैं, परन्तु उत्पादन अधिक तेजी से बढ़ता है।
(५) यदि उत्पादन बढ़ता है और मौद्रिक आय घटती है।

मुद्रा-संकुचन के कारण—

मुद्रा-संकुचन प्रचलित चलन तथा साख-मुद्रा की मात्रा में अत्यधिक कमी करके किया जाता है। कभी-कभी जब मुद्रा-स्फीति के कारण कीमतें बहुत ऊँची हो जाती हैं तो सरकार उन्हें कम करने के लिए मुद्रा-संकुचन की नीति अपनाती है, परन्तु प्रवृत्ति कुछ इस प्रकार है कि संकुचन का क्रम भी एक बार आरम्भ होकर फिर रुकता नहीं है और कीमतें नीचे ही गिरती जाती हैं। मुद्रा-संकुचन साधारणतया निम्न प्रकार होता है :—

(१) भारी करारोपण—सरकार भारी करारोपण द्वारा या बलात् ऋणों (Forced Loans) द्वारा देश में मुद्रा की प्रचलित मात्रा घटा देती है।

(२) मुद्रा की मात्रा में कमी—सरकार देश में प्रचलित अपरिवर्तनशील नोटों तथा प्रादिष्ट-मुद्रा को रद्द करके देश में मुद्रा की मात्रा में कमी कर सकती है।

(३) वस्तुओं की मात्रा में वृद्धि—प्रचलित मुद्रा की मात्रा यथास्थिर रहते हुए यदि अकस्मात् ही वस्तुओं की मात्रा बढ़ जाती है तो कीमतें गिर सकती हैं।

(४) बैंक दर में वृद्धि—केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक दर को ऊँचा उठाकर भी मुद्रा-संकुचन कर सकती है। इस नीति का परिणाम यह होता है कि अन्य बैंकों को ऋण मिलने में कठिनाई होती है और अधिक ब्याज देना पड़ता है, जिसके कारण वे साख के उत्पादन को घटा देती हैं।

(५) केन्द्रीय बैंक की अन्य नीतियाँ—केन्द्रीय बैंक और भी कई रीतियों से मुद्रा-संकुचन कर सकती है, जैसे—जनता से प्रत्यक्ष रूप में ऋण लेकर अथवा अपनी खुले बाजार क्रियाओं (Open Market Operations) द्वारा। इसी प्रकार केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों को बेच कर भी जनता से चलन को अपने पास खींच लेती है। इसके अतिरिक्त बहुत बार सरकार साख निर्माण पर प्रतिबन्ध लगा देती है।

मुद्रा-संकुचन के परिणाम (Effects of Deflation)—

विस्फीति कीमत-स्तर को नीचे गिराती है। स्फीति के विपरीत यह देश के जीवन को अवनति की ओर ले जाती है। विस्फीति के काल में कीमतें, मजदूरियां, उत्पादन, ब्याज की दरें तथा रोजगार सभी नीचे की ओर जाते हैं। देश में अति-

उत्पादन दृष्टिगोचर होने लगता है। व्यवसायिक भविष्य निराशाजनक होता है और समाज के लगभग सभी वर्गों को भारी कष्ट होता है।

मुद्रा-स्फीति की भाँति विस्फीति का भी समाज के विभिन्न वर्गों पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। ये प्रभाव निम्न प्रकार होंगे :—

(I) विनियोगी वर्ग—*इस वर्ग के उस भाग को लाभ होगा जिसकी आय निश्चित होती है,* क्योंकि कीमतें घट जाने के कारण इस आय की वास्तविक कीमत बढ़ जाती है। *परिवर्तनशील आय वर्ग के विनियोगियों की आय घटती है।* कारण यह है कि विस्फति के काल में बहुत से उद्योग और व्यवसाय बन्द हो जाते हैं और शेष को साधारणतया हानि होती है। भूमिपतियों और ज़मींदारों को लाभ होता है, क्योंकि ये लोग निश्चित आय वर्ग के होते हैं।

(II) उत्पादक वर्ग—*इस वर्ग को सामान्य रूप में हानि होती है।* (i) कारण यह है कि कीमतें गिरना मांग के गिरने का सूचक होता है, इस कारण विस्फीति के काल में *बिक्री कम* होती है। कारखानेदारों, व्यापारियों और दूकानदारों के पास बिना बिके माल के स्टॉक जमा हो जाते हैं। मन्दी इतनी हो जाती है कि माल को बेचने में भारी कठिनाई होती है। (ii) दूसरे, *कीमतों की तुलना में उत्पादन व्यय अधिक रहता है,* जिससे हानि की सम्भावना और बढ़ जाती है। माल के तैयार होने से पहले ही कच्चा माल खरीदा जाता है, मजदूर रखे जाते हैं, औजार तथा अन्य सामान खरीदे जाते हैं, रुपया ब्याज पर लिया जाता है और फैक्टरी का लगान तय किया जाता है, परन्तु यदि माल तैयार होने के काल तक कीमतें गिर जाती हैं तो उपरोक्त सभी वस्तुएँ उस कीमत-स्तर की तुलना में मँहगी रहती हैं जिस पर माल को बेचा जाता है। इस प्रकार माल को बेचकर उत्पादन व्यय को पूरा करना भी कठिन हो जाता है। (iii) तीसरे, *विस्फीति के काल में मजदूरियाँ घटती तो अवश्य हैं, परन्तु कीमत-स्तर की तुलना में कम तेजी के साथ घटती हैं।* परिणाम यह होता है कि मजदूरियों पर प्रस्तुत कीमत-स्तर की तुलना में अधिक व्यय होता है। इन सब बातों के फलस्वरूप उत्पादकों को हानि होती है और वे उत्पादन को बन्द करना अथवा उत्पत्ति की मात्रा को घटाना आरम्भ कर देते हैं।

कृषकों को इस काल में और भी अधिक हानि होती है। साधारण अनुभव बताता है कि विस्फीति के काल में अन्य वस्तुओं की अपेक्षा कृषि-उपज की कीमतें अधिक नीचे गिर जाती हैं। किसानों को लगान के रूप में तो एक पूर्व निश्चित राशि देनी पड़ती हैं, परन्तु कीमतों के गिर जाने और मुद्रा की क्रयः शक्ति बढ़ जाने के कारण इस राशि का वास्तविक भार बढ़ जाता है। इस प्रकार ऋण का भार और भी बढ़ जाता है।

व्यापारी वर्ग को भी भारी हानि होती है। एक ओर तो माल की बिक्री नहीं होने पाती है, जिससे आय घटती है। दूसरे, मुद्रा या रुपये का फेर न बंधने के

कारण पूँजी की कमी अनुभव होती है और तीसरे, रखे हुए माल की कीमत गिरती जाती है। इसके अतिरिक्त विज्ञापन तथा ग्राहकों की सन्तुष्टि के लिये भी विशेष प्रयत्न करना पड़ता है।

(III) श्रमिक वर्ग—*इस वर्ग को विस्फीति के काल में भारी कष्ट होता है, यद्यपि एक दिशा में इस वर्ग को लाभ भी होता है।* विस्फीति के काल में उत्पादन घटाया जाता है, बहुत से उद्योग और व्यवसाय बन्द हो जाते हैं और व्यापारी लोग माल का क्रय-विक्रय कम करते हैं। इन सभी कारणों से बेरोजगारी फैलती है। *श्रमिकों को काम नहीं मिलता है और उनके भूखों मरने की नौबत आ जाती है।* श्रमिक वर्ग में भारी निराशा फैलती है। इस काल में हड़तालों के स्थान पर तालाबन्दी का जोर होता है। प्रत्येक श्रमिक अपने काम पर जमा रहना चाहता है। श्रम-सङ्घों की सदस्यता कम हो जाती है और उनका कार्य तो बहुत ही संकुचित हो जाता है।

इसके विपरीत उन श्रमिकों को लाभ होता है जिनका कि रोजगार बना रहता है। कारण यह है कि यद्यपि इस काल में मजदूरियाँ घटती हैं, परन्तु वे कीमतों की तुलना में ऊँची रहती हैं और इस प्रकार वास्तविक मजदूरी ऊँची हो जाती है। वेतनभोगी वर्ग (Salaried classes) को विशेष रूप से लाभ होता है, क्योंकि वेतनों के घटने की सम्भावना कम होती है, परन्तु कीमतों के घट जाने के कारण इन वेतनों की क्रयः शक्ति बढ़ जाती है। उन श्रमिकों को हानि होती है जिन्हें वस्तुओं के रूप में मजदूरी मिलती है, जैसे—कृषि उद्योग के श्रमिक।

(IV) उपभोक्ता वर्ग—*विस्फीति का काल उपभोक्ताओं के दृष्टिकोण से आनन्द का काल होता है।* सभी वस्तुओं और सेवाओं की प्रचुरता दृष्टिगोचर होती है। वास्तविकता यह है कि वस्तुओं के खरीदने वाले ही नहीं मिलते हैं। कीमतों के गिरने के कारण उपभोग के स्तर को ऊँचा करना सरल हो जाता है। जो आवश्यकताएँ लम्बे काल से पूरी नहीं हो रही थीं वे भी अब सरलतापूर्वक पूरी हो जाती हैं। सभी ओर हर्ष और सन्तोष का संचार होता है।

(V) ऋणी तथा साहूकार—*विस्फीति के काल में ऋणी वर्ग को हानि होती है,* क्योंकि मूलधन तथा ब्याज के रूप में इस वर्ग को जो रकम लौटानी पड़ती है उसका वास्तविक मूल्य इस कारण बढ़ जाता है कि मुद्रा की क्रयः शक्ति बढ़ जाती है। परिणाम यह होता है कि ऋणों का भार लगभग असहनीय हो जाता है। कृषक वर्ग पर तो इस काल में और भी ऋण लद जाता है। पिछले ऋणों को चुकाना तो लगभग असम्भव हो जाता है। *परन्तु एक दूसरे दृष्टिकोण से इस वर्ग को लाभ भी होता है।* इस काल में माँग घट जाने के कारण ऋण सरलता से मिल जाते हैं और उन पर ब्याज की दर भी घट जाती है।

साहूकारों को इस काल में लाभ होता है। बात यह है कि मुद्रा की क्रयः शक्ति बढ़ जाने के कारण ब्याज तथा मूलधन के रूप में मिलने वाली राशि की वास्-

विक कीमत बढ़ जाती है, *परन्तु एक दूसरे रूप में इस वर्ग को थोड़ी सी हानि भी होती है*, क्योंकि व्यापार तथा उत्पादन के संकुचन के कारण ऋणों की मांग काफी घट जाती है और ब्याज की दरें नीचे गिर जाती हैं।

मुद्रा संकुचन के अन्य प्रभाव—

उक्त वर्गीय प्रभावों के अतिरिक्त मुद्रा-संकुचन के निम्न अन्य प्रभाव भी होते हैं :—

(१) करों के भार में वृद्धि—विस्फीति के काल में करदाताओं को हानि होती है। यद्यपि रुपयों में उन्हें अपेक्षतः कम कर देना पड़ता है, तथापि वस्तुओं के रूप में उनका कर-भार बढ़ जाता है।

(२) ऋणों में वृद्धि—मुद्रा की क्रयः शक्ति बढ़ जाने से सरकार पर ऋण का भार बढ़ जाता है। उसकी आर्थिक व्यवस्था लड़खड़ा जाती है। घाटे को पूरा करने तथा बेकारी की रोकथाम करने के लिये भी उसे ऋण लेने पड़ते हैं।

(३) बैंकिंग का पतन—विस्फीति काल में दुर्बल बैंक और बीमा कम्पनियाँ टूटने लगती हैं।

(४) आयात हतोत्साहित व निर्यात प्रोत्साहित होता है—क्योंकि देश में मूल्य-स्तर गिर जाता है। इससे देश का व्यापार-सन्तुलन अनुकूल हो जाता है।

(५) नैतिक दुष्परिणाम—विस्फीति के काल में कल-कारखाने बन्द होने लगते हैं, मजदूरों की छँटनी की जाती है, श्रम वर्ग व कल-स्वामी में झगड़े प्रारम्भ हो जाते हैं। बेरोजगारी के कारण देश में अशान्ति रहती है व व्यापारी निराश होने लगते हैं।

सारांश—

अतः मुद्रा-स्फीति समाज के लिये हानिकारक अधिक है, लाभ-प्रद कम। कुछ विद्वानों का मत है कि मुद्रा-प्रसार की तुलना में मुद्रा-संकुचन अधिक हानिकारक है। वास्तव में दोनों की अपेक्षा मूल्य स्थिरता की दशा सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि इसके कारण अर्थ-व्यवस्था में सन्तुलन बना रहता है।

मुद्रा-स्फीति श्रेष्ठ है या मुद्रा-संकुचन ? (Which is better—Inflation or Deflation)—

उपरोक्त अध्ययन में मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-विस्फीति के उन प्रभावों का अध्ययन किया है जो समाज के विभिन्न वर्गों पर पड़ते हैं। हमने देखा है कि स्फीति के काल में उत्पादकों, कुछ प्रकार के विनियोगियों, ऋण-दाताओं तथा कुछ दिशाओं में श्रमिकों को लाभ होता है। इसके विपरीत अधिकांश विनियोगियों, श्रमिकों, उपभोक्ताओं और साहूकारों को हानि होती है। विस्फीति के काल में निश्चित आय वर्ग के विनियोगियों, उपभोक्ताओं तथा साहूकारों को लाभ होता है, परन्तु अन्य विनियोगियों

उत्पादकों, श्रमिकों और ऋणदाताओं को हानि होती है। विस्फीति के काल में उपभोक्ताओं को आनन्द मिलता है, परन्तु व्यवसाय बन्द हो जाते हैं और बेकारी फैलती है। स्फीति के काल में उत्पादक और व्यापारी चैन से रहते हैं तो उपभोक्ताओं को घोर कष्ट होता है और औद्योगिक अशान्ति फैलती है।

दोनों ही आर्थिक और सामाजिक दृष्टिकोण से घातक होते हैं। लार्ड कीन्ज ने लिखा है :—"मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण है और मुद्रा-संकुचन अनावश्यक अथवा अनुपयुक्त है।"* प्रो० सेलिगमैन का भी ऐसा ही मत है, उनके अनुसार—"चढ़ती और गिरती हुई कीमतों के कारण देश के आर्थिक ढाँचे में एक ऐसी अस्थिरता आ जाती है जिससे कृषि, व्यापार तथा उद्योग की स्थिति डाँवाडोल हो जाती है और समाज में विभिन्न वर्गों को अलग-अलग अनुपात में लाभ और हानि होती है। ऊँची तथा नीची कीमतों के कारण इतना नुकसान नहीं होता जितना कि कीमतों के बराबर चढ़ते-उतरते रहने के कारण होता है।" कीमतों में निरन्तर होने वाले उच्चावचन देश के आर्थिक जीवन में अनिश्चितता और अस्थिरता पैदा कर देते हैं, जिसके कारण उन्नति के मार्ग में भारी बाधाएँ उपस्थित होती हैं। इनके कारण विदेशी व्यापार का आधार समुचित तथा स्थाई नहीं हो पाता है और राज्य को देश की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिरता बनाए रखने के लिए भारी प्रयत्न करने पड़ते हैं।

मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण है ?—

मुद्रा-स्फीति को अन्यायपूर्ण इस कारण कहा जाता है कि यह प्रकृति में एक प्रकार का अदृश्य करारोपण होती है। सरकार कागज के नोट छाप कर अथवा घाटे के बजट बनाकर स्फीति उत्पन्न करती है और इस प्रकार वस्तुओं को जनता के उपभोग से छीनकर सरकारी कार्यों में उपयोग करती है। यही कारण है कि प्रो० वकील ने इसे अदृश्य डकैती कहा है। राजस्व के सिद्धान्तों के आधार पर भी यह अन्यायपूर्ण इसलिए होती है कि इस अदृश्य करारोपण का बोझ उन्हीं कन्धों पर सबसे अधिक पड़ता है जो उसे उठाने के लिए सबसे कम बलवान होते हैं। कीमतों की वृद्धि के कारण गरीब लोग ही अधिक पिसते हैं, क्योंकि सबसे अधिक वृद्धि जीवन-निर्वाह सम्बन्धी वस्तुओं की ही कीमत में होती है।

एक दूसरे दृष्टिकोण से भी मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण है। इसके द्वारा कृत्रिम सम्पन्नता उत्पन्न की जाती है, जो थोड़े ही काल तक बनी रहती है। धीरे-धीरे अभिवृद्धि का काल अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर टूट जाता है। कीमतों के निरन्तर बढ़ते रहने का परिणाम अन्त में यही होता है कि अभिवृद्धि समाप्त हो जाती है। कीमतें तेजी के साथ गिरने लगती हैं और मुद्रा-संकुचन के सभी दुष्परिणाम उपस्थित हो जाते हैं।

मुद्रा-संकुचन अनुपयुक्त है !—

मुद्रा-संकुचन को अनुपयुक्त इसलिए कहा गया है कि इसके द्वारा किसी भी

*"Inflation is unjust and deflation is inexpedient.

स्थाई लाभ की आशा नहीं की जा सकती है। मुद्रा-स्फीति का उपयोग तो देश के आर्थिक जीवन का उत्थान करने, युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था को चालू रखने अथवा पूर्ण वृत्ति की अवस्थाएँ उत्पन्न करने के लिए भी किया जा सकता है, परन्तु मुद्रा-संकुचन एक प्रतिगामी क्रिया है। उससे लाभ के स्थान पर हानि की सम्भावना ही अधिक रहती है। देश में बेरोजगारी का फैलना, उत्पादन तथा व्यापार का घटना और आर्थिक जीवन का पतन की ओर जाना, किसी भी दृष्टिकोण से उचित नहीं कहा जा सकता है। मुद्रा-संकुचन की नीति अधिक से अधिक मुद्रा-प्रसार का अन्त करने के लिए ही उपयुक्त हो सकती है, परन्तु कठिनाई यह है कि विस्फीति का क्रम एक बार आरम्भ होकर रुकता नहीं है और देश के आर्थिक ढाँचे को खोखला कर डालता है। *कीन्ज ने ठीक ही कहा है कि वैसे तो मुद्रा-प्रसार और सन्कुचन दोनों ही बुरे हैं, परन्तु दोनों में संकुचन अधिक हानिकारक है और बिना नितान्त आवश्यकता के सरकार को इसे अपनी नीति का आधार नहीं बनाना चाहिए।*

मुद्रा-संस्फीति
(Reflation)

मुद्रा-संस्फीति का अर्थ—

मुद्रा-स्फीति से ही मिलता-जुलता एक और शब्द मुद्रा-संस्फीति भी है। कोल के शब्दों में :—"जब अवसाद के प्रभाव को दूर करने के लिए जान बूझ कर मुद्रा-प्रसार किया जाता है तो उसे हम मुद्रा-संस्फीति कहते हैं।"* मुद्रा संस्फीति एक छोटे पैमाने की नियन्त्रित मुद्रा-स्फीति ही होती है। जब कभी मुद्रा-संकुचन इतना अधिक हो जाता है कि कीमतें बहुत ही नीचे गिर जाती हैं तो आर्थिक जीवन की रक्षा के लिए सरकार कोई ऐसी नीति अपनाती है जिससे धीरे-धीरे कीमतों को फिर से ऊपर उठाया जा सके, यही संस्फीति है। यह उद्धार-काल (Period of Recovery) में होती है और इसके द्वारा कीमतों को फिर सामान्य-स्तर पर लाया जाता है।

मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-संस्फीति का भेद—

मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-संस्फीति दोनों ही स्वभाव में एक सी ही होती हैं। कीमतों की वृद्धि दोनों का ही लक्षण होता है और दोनों में मुद्रा की मात्रा का विस्तार होता है, परन्तु दोनों के बीच निम्न प्रकार भेद हैं :—

(१) मुद्रा-स्फीति प्राकृतिक हो सकती है अथवा ऐच्छिक, परन्तु मुद्रा-संस्फीति सदा ही ऐच्छिक अथवा कृत्रिम होती है।

(२) मुद्रा-संस्फीति उद्धारकाल में होती है और उसका उद्देश्य कीमत को

* "Reflation may be defined as inflation deliberately undertaken to relieve a depression." *See* G. D. H. Cole : *What Everybody Wants to Know About Money.*

सामान्य-स्तर पर लाना होता है। यह उसी समय तक रहती है जब तक कीमतें सामान्य-स्तर पर नहीं आ जाती हैं। इसके विपरीत मुद्रा-स्फीति का आरम्भ ही तब होता है जबकि कीमतें सामान्य कीमत-स्तर से ऊपर उठ जाती हैं।

(३) मुद्रा-स्फीति के परिणाम घातक हो सकते हैं, परन्तु मुद्रा-संस्फीति का उद्देश्य देश को मन्दी की खाई से निकाल कर पुनर्जीवन प्रदान करना होता है। मुद्रा-संस्फीति निर्माणात्मक होती है, परन्तु स्फीति विनाश-कारी हो सकती है।

(४) मुद्रा-संस्फीति में कीमतें धीरे-धीरे ही बढ़ती हैं, परन्तु मुद्रा-प्रसार में वे बहुत तेजी के साथ बढ़ सकती हैं।

एक लेखक ने कहा है कि बेकार पड़ी हुई पूँजी और वृत्तिहीन श्रमिकों को रोजगार देने के उद्देश्य से जो मुद्रा-प्रसार किया जाता है उसे हम मुद्रा-संस्फीति कहते हैं, परन्तु यदि इस उद्देश्य की पूर्ति के पश्चात् भी मुद्रा-प्रसार होता है तो उसे मुद्रा-स्फीति कहा जायेगा।

मुद्रा-अपस्फीति
(Disinflation)

मुद्रा-अपस्फीति का अर्थ—

इस शब्द का उपयोग अर्थशास्त्र में थोड़े ही काल से आरम्भ हुआ है, परन्तु युद्ध-काल तथा युद्धोत्तर-काल में यह शब्द बड़ा लोकप्रिय था। आरम्भ में तो इस शब्द का उपयोग बड़े अस्पष्ट तथा विभिन्न अर्थों में किया जाता था, परन्तु धीरे-धीरे इसके उपयोग में स्पष्टता आ गई है। मुद्रा-अपस्फीति मुद्रा-स्फीति को दूर करने की नीति होती है। जब किसी देश में मुद्रा-स्फीति प्रचण्ड रूप धारण करने लगती है तो सरकार उसकी प्रचण्डता को कम करने तथा उसके दोषों को दूर करने के लिए जो नीति अपनाती है वही मुद्रा-अपस्फीति की नीति होती है। इस प्रकार इस शब्द द्वारा वे सभी क्रियायें, नीतियाँ तथा उपाय सूचित होते हैं जो स्फीति के वेग को रोकने के लिए किये जाते हैं। इन उपायों की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि एक निश्चित सीमा के परे मुद्रा-स्फीति विशेष दुखदायी हो जाती है।

मुद्रा अपस्फीति और मुद्रा संकुचन में भेद—

परन्तु यह समझना भूल होगी कि मुद्रा-अपस्फीति तथा मुद्रा-संकुचन एक ही चीज के दो अलग-अलग नाम हैं। वास्तव में दोनों में लगभग वैसा ही अन्तर होता है जैसा कि मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-संस्फीति के बीच होता है। कुछ दिशाओं में तो मुद्रा-अपस्फीति तथा विस्फीति समान अवश्य होती हैं, क्योंकि दोनों का उद्देश्य कीमतों को

नीचे गिराना होता है और दोनों के कारण लगभग एक से ही होते हैं, परन्तु वास्तव में दोनों में भेद होता है।

(i) मुद्रा-विस्फीति बहुत बार बिना सरकार की इच्छा के ही होती है, परन्तु अपस्फीति सदा ही कृत्रिम होती है।

(ii) इसके अतिरिक्त अपस्फीति कीमतों को कम करने का उपाय है और इसके अन्तर्गत कीमतें घटा कर सामान्य कीमत-स्तर तक लाई जाती है। मुद्रा-संकुचन में कीमतें सामान्य-स्तर से काफी नीचे तक जा सकती हैं।

(iii) मुद्रा-संकुचन मन्दी की दशाएँ उत्पन्न करता है, परन्तु मुद्रा-अपस्फीति केवल आर्थिक जीवन की असाधारणता को दूर करती है।

QUESTIONS

1. मुद्रा-प्रसार तथा मुद्रा-संकुचन में क्या अन्तर है, स्पष्ट कीजिए। देश की आर्थिक उन्नति के लिए किन परिस्थितियों में मुद्रा-प्रसार लाभदायक हो सकता है, समझाइये।
(Agra, B. A., 1958)
2. द्रव्य के मूल्य में परिवर्तनों का उत्पादन और वितरण पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है और ये परिवर्तन अधिक सामाजिक महत्त्व रखते हैं। व्याख्या कीजिए।
(Agra, B, A., 1957)
3 "मुद्रा एक अच्छा सेवक है, परन्तु बुरा स्वामी है।" व्याख्या कीजिए।
(Sagar, B. A., 1957)
4. मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होने का क्या सामाजिक और आर्थिक प्रभाव पड़ता है, इसकी विवेचना कीजिए और बताइये कि यदि इन परिवर्तनों को पूरी तरह रोका नहीं जा सकता तो कम किस प्रकार किया जा सकता है।
(Sagar, B. Com., 1954, 1957)
5. "मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण है और मुद्रा-संकोच अनुपयुक्त है। इन दोनों में आपस में मुद्रा-संकोच सबसे बुरा है।" इस उक्ति का विवेचन कीजिए।
(Sagar, B. Com., 1958)
6. मुद्रा-स्फीति (Inflation) की परिभाषा कीजिए और बतलाइये कि इसके आर्थिक परिणाम क्या हैं? (Jabalpur, B. A., 1958)
7. मुद्रा स्फीति की परिभाषा दीजिए। इसके आर्थिक प्रभावों की व्याख्या कीजिए।
(Alld., B. A., 1956)
8. "Inflation is unjust and deflation is inexpedient. Of the two perhaps deflation is worse." Elucidate.
(Raj., B. Com., 1955, 1957)

9. What is Inflation ? How does inflation effect the mill-owners, cultivators and labourers. How can the evil effects of inflation be reduced ? (Raj., B. A , 1954)

10. Distinguish clearly between—Inflation and Deflation. (Raj., B. A , 1956 ; Agra, B. A., 1956)

11. Explain inflation, deflation, disinflation and reflation. Examine the effects of inflation and deflation on production and employment. (Raj , B. Com., 1954)

12. What are the effects of Inflation ? How can inflation be controlled ? (Bihar, B. A., 1958)

13. What is inflation ? Analyse the effects of war-time inflation on Indian agriculture. (Alld., B. A , 1954)

14. 'Deficit-financing leads to inflation.' Discuss. How can you control inflation ? (Patna, B. A., 1957)

15. Discuss the economic effects of 'Inflation' and 'Deflation' of currency. (Raj., B. A., 1957)

16. Discuss the causes of inflation in our country during and after the Second World War and indicate the measures adopted by the State in controlling it. (Agra, B. Com., 1959)

अपने देश में द्वितीय विश्वयुद्ध के समय और उसके पश्चात् मुद्रा स्फीति के कारणों का विवेचन करिये। राज्य द्वारा किये गये उसके नियन्त्रण के उपायों का संक्षिप्त वर्णन करिये।

अध्याय १०

मौद्रिक नीतियाँ

(Monetary Policies)

मुद्रा-प्रसार को रोकने की रीतियाँ

मुद्रा-प्रसार के सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण अध्ययन यही है कि उसे कैसे दूर किया जाय। जैसा कि विदित है कि मुद्रा की मात्रा का विस्तार तथा उत्पादन का घटना यही मुद्रा-प्रसार के दो प्रमुख कारण होते हैं, अतः मुद्रा-प्रसार को रोकने के उपाय भी दो प्रकार के होते हैं।—(I) वे उपाय जिनके द्वारा मुद्रा के विस्तार को रोका जाता है और (II) वे उपाय जिनके द्वारा उत्पत्ति की मात्रा को बढ़ाया जाता है। एक तीसरे प्रकार के उपाय ऐसे हो सकते है कि जिनके द्वारा बिना मुद्रा की मात्रा को घटाये तथा बिना उत्पत्ति को बढ़ाए कीमतों को बढ़ने से रोक दिया जाता है।

(I) मुद्रा की मात्रा को कम करने के उपाय—

मुद्रा की मात्रा को कम करने के उपाय निम्न प्रकार हैं :—

(१) देश में *किसी विशेष प्रकार की मुद्रा को रद्द कर दिया जाय, अथवा नई मुद्रा चालू कर दी जाय* और पुराने चलन को नये चलन की कम मात्रा में परिवर्तनशील रखा जाय। युद्ध के उपरान्त यह रीति रूस ने अपनाई थी।

(२) *वेतनों, मजदूरियों, बैंकों में जमा की हुई राशि आदि में अनिवार्य तथा बलात् कमी करना।* यह एक बड़ा सप्रभाविक परन्तु क्रान्तिकारी उपाय है।

(३) *नए-नए करों* द्वारा जनता से क्रयः शक्ति को वापिस लेना।

(४) *सरकार द्वारा जनता से ऋण* लेना।

(५) *सरकार द्वारा सोना, प्रतिभूतियाँ तथा अन्य स्वीकृत वस्तुयें* बेचना और प्राप्त राशि की कीमत की मुद्रा को प्रचलन से निकाल देना।

(६) *कम्पनियों के लाभाँश बाँटने पर प्रतिबन्ध लगाना।*

(७) *चलन की निकासी को बन्द करना* और सन्तुलित बजटों (Balanced Budgets) को तैयार करना।

(८) *बैंकों की साख-निर्माण शक्ति को कम करना,* जिसके लिए बैंक दर का ऊँचा उठाना, केन्द्रीय बैंक द्वारा खुले बाजार व्यवसाय करना, वैधानिक नियन्त्रण आदि उपाय किए जाते हैं।

(II) उत्पादन को बढ़ाने के उपाय—

देश में वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा बढ़ाने के उपाय निम्न प्रकार हैं :—

(१) *आयातों को प्रोत्साहन देना और निर्यातों को कम करना*, जिससे कि देश के भीतर वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा बढ़ जाय।

(२) *देश के भीतर कृषि तथा उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देना*, जिसके लिए आर्थिक सहायता, करों में छूट, कच्चे मालों, कारीगरों तथा मशीनों की व्यवस्था आदि अनेक उपाय हो सकते हैं।

(३) *सरकार द्वारा स्वयं उत्पादन आरम्भ करना*, जिसके लिए सरकारी खेती करना तथा सरकारी उद्योगों का खोलना आवश्यक होता है।

(III) अन्य उपाय—

इनके अतिरिक्त कीमतों को बढ़ने से रोकने के लिए *कीमतों पर अंकुश (Control) लगा दिये जाते हैं, उपज के नियन्त्रित वितरण की व्यवस्था की जाती है*, सरकारी दुकानें खोली जाती हैं। राशनिंग व्यवस्था लागू की जाती है, व्यवसायों के लाभ की सीमा निश्चित कर दी जाती है और चोर बाजारी को रोकने के लिए कड़े नियम बनाये जाते हैं।

मुद्रा-संकुचन को दूर करने के उपाय

मुद्रा-संकुचन देश में क्रयःशक्ति अथवा मुद्रा की मात्रा में कमी हो जाने से पैदा होता है, परन्तु कभी-कभी अति-उत्पादन के कारण भी कीमतें गिरती हैं। *संकुचन को दूर करने के उपाय साधारणतया मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करने से सम्बन्धित होते हैं। यद्यपि बहुत बार वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन को भी कम किया जाता है।* प्रमुख उपाय निम्न प्रकार हैं :--

(१) सरकारी व्यय को बढ़ाया जाता है। केन्द्रीय और स्थानीय सरकारें राष्ट्रीय विकास की योजनाएँ बनाकर अधिक रोजगार उत्पन्न करने तथा जनता के हाथ में अधिक क्रयःशक्ति पहुँचाने का प्रयत्न करती हैं। महान् अवसाद के पश्चात् न्यू डील (New Deal) नीति के अनुसार अमरीका में जंगलों और दलदलों को साफ करने, सड़कें बनाने, सिंचाई की व्यवस्था करने आदि के बहुत से कार्य किये गये थे, जिनसे राष्ट्रीय जीवन के उद्धार और कीमतों के ऊपर उठाने में काफी सहायता मिली थी।

(२) *केन्द्रीय बैंक साख विस्तार नीति को अपनाती है।* इसके लिए बैंक दर को कम किया जाता है, जिससे कि अन्य बैंकों को सस्ते ब्याज पर ऋण मिल सकें। प्रतिभूतियों को जनता से खरीदा जाता है, ताकि जनता के हाथ में अधिक क्रयःशक्ति पहुँच जाय और उधार देने के सम्बन्ध में अधिक उदार नीति अपनाई जाती है।

(३) *आयातों को रोका जाता है* और निर्यातों को प्रोत्साहित किया जाता

है, जिससे कि माल की बिक्री होने के कारण कारखाने फिर से चालू होने लगें और व्यापार तथा यातायात सेवाओं को भी प्रोत्साहन मिले।

(४) *करों तथा भूमि के लगान में छूट दी जाती है* और पिछले ऋणों का भुगतान किया जाता है।

(५) कभी-कभी कीमतों को ऊपर उठाने के लिये *पहिले से उत्पन्न की हुई वस्तुओं को नष्ट* कर दिया जाता है।

(६) उद्योगों को काम चालू रखने के लिए *विशेष आर्थिक सहायता* दी जाती है, ताकि उनकी हानि पूरी हो सके।

(७) *पुराने ऋणों का भुगतान* करके भी मन्दी की दशाओं को दूर किया जाता है।

मूल्य-वृद्धि, मूल्य-ह्रास तथा अवमूल्यन

मुद्रा के मूल्य के सम्बन्ध में इन तीनों शब्दों का भी उपयोग किया जाता है :- (१) मूल्य वृद्धि (Appreciation); (२) मूल्य ह्रास (Depreciation) और (३) अवमूल्यन (Devaluation)।

(१) मूल्य-वृद्धि का अभिप्राय—*मूल्य-वृद्धि का अभिप्राय यह होता है कि मुद्रा का मूल्य अथवा उसकी क्रयःशक्ति बढ़ जाय।* ऐसी दशा में मुद्रा की प्रत्येक इकाई के बदले में पहिले से अधिक मात्रा में वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त होंगी। दूसरे शब्दों में, मुद्रा की मूल्य-वृद्धि के कारण वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें घट जायेंगी। *व्यवहार तथा परिणाम में मुद्रा संकुचन तथा मूल्य-वृद्धि में कोई भी अन्तर नहीं होता है।* दोनों में कीमतें घटती हैं और दोनों के उत्पन्न होने के कारण भी एक से ही होते हैं। मूल्य-वृद्धि अपने आप उत्पन्न हो सकती है, जैसे—अवसाद के काल में अथवा यह सरकारी नीति के फलस्वरूप भी उत्पन्न हो सकती है।

(२) मूल्य-ह्रास का अभिप्राय— मूल्य-ह्रास, मूल्य-वृद्धि के बिल्कुल विपरीत होता है। *मुद्रा के मूल्य अथवा उसकी क्रयःशक्ति के घटने और परिणाम-स्वरूप सामान्य कीमतों के बढ़ने को मूल्य-ह्रास कहा जाता है।* यदि मुद्रा की प्रत्येक इकाई के बदले में पहले की अपेक्षा कम वस्तुयें और सेवाएँ प्राप्त होती हैं तो ऐसी दशा में हम कहते हैं कि मुद्रा का मूल्य-ह्रास हो गया है। *मुद्रा-स्फीति के काल में सदा ही मुद्रा का मूल्य-ह्रास भी हो जाता है। मूल्य-ह्रास तथा मुद्रा-स्फीति दोनों में लगभग कुछ भी अन्तर नहीं होता है।* दोनों में एक सी दशाएँ उत्पन्न होती हैं और दोनों को उत्पन्न करने तथा दूर करने के लिये एक जैसे ही उपाय किये जाते हैं। दोनों ही या तो प्राकृतिक हो सकते हैं और या सरकारी नीति का परिणाम हो सकते हैं। *अन्तर केवल इतना है कि मुद्रा स्फीति एक कारण अथवा नीति होती है और मूल्य-ह्रास उसका परिणाम होता है।*

(३) मुद्रा अवमूल्यन का अर्थ—मुद्रा अवमूल्यन का अर्थ थोड़ा भिन्न होता

है । मूल्य-वृद्धि तथा मूल्य-ह्रास दोनों का ही सम्बन्ध देश की आन्तरिक कीमतों से होता है । इन दोनों में ही देश की चलन की कीमत में परिवर्तन होते हैं, परन्तु चलन की वास्तव में दो कीमतें होती हैं—आन्तरिक कीमत (Internal Value) तथा बाह्य कीमत (External Value) । चलन की आन्तरिक कीमत वस्तुओं और सेवाओं में नापी जाती है और वह देश के आन्तरिक कीमत-स्तर द्वारा सूचित की जाती है । बाह्य कीमत चलन की एक निश्चित इकाई के बदले में प्राप्त होने वाली विदेशी मुद्राओं की मात्रा में नापी जाती है और वह विदेशी विनिमय दर द्वारा सूचित की जाती है । *अवमूल्यन का आशय देश के चलन की बाह्य कीमत को कम करने से होता है ।* अवमूल्यन की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं–यह देश की मुद्रा की बाह्य कीमत को कम करने की एक विचारयुक्त नीति है । *यह आवश्यक नहीं है कि अवमूल्यन के साथ-साथ चलन की आन्तरिक कीमत भी कम की जाय, यद्यपि कभी-कभी अवमूल्यन तथा मूल्य-ह्रास दोनों एक ही साथ किये जाते हैं ।*

अवमूल्यन के उद्देश्य—

अवमूल्यन के उद्देश्य कई प्रकार के हो सकते हैं :-

(i) भूल सुधार—यदि किसी देश ने भूल अथवा अन्य किसी कारण से देश की मुद्रा को आवश्यकता से अधिक बाह्य कीमत दे रखी है तो इसके फलस्वरूप आयात बढ़ जायेंगे और निर्यातों में कमी हो जायगी । ऐसी दशा में अवमूल्यन द्वारा इस त्रुटि को दूर किया जा सकता है ।

(ii) शोधनाशेष का असन्तुलन—अवमूल्यन का उद्देश्य बहुधा शोधनाशेष (Balance of Payments) के असन्तुलन को दूर करना होता है । यदि कोई देश ऐसा अनुभव करता है कि उसका विदेशी व्यापार सम्बन्धी घाटा बराबर बना रहता है और वर्तमान विनिमय दर पर विदेशी ऋणों, स्वर्ण आयात अथवा अन्य उपायों द्वारा उसे दूर करना सम्भव नहीं है तो वह अवमूल्यन द्वारा देश की विदेशी विनिमय दर को घटाकर इस घाटे को दूर कर सकता है । अवमूल्यन का परिणाम यह होता है कि विदेशों में अवमूल्यन करने वाले देश के माल की कीमतें घट जाती हैं और देश के भीतर विदेशी माल की कीमतें बढ़ जाती हैं । इससे निर्यात प्रोत्साहित होते हैं और आयातों की मात्रा घटती है । इस प्रकार शोधनाशेष का सन्तुलन फिर से स्थापित हो जाता है ।

(iii) उद्योग संरक्षण—कुछ देशों में अवमूल्यन का उपयोग उद्योग-संरक्षण (Protection) के लिए भी किया जाता है ।

(iv) ऋण-भार की कमी—अवमूल्यन का उपयोग विदेशों को दिये हुये ऋणों के भार को कम करने के लिये भी किया जा सकता है, परन्तु ऐसा करने से स्वयं अवमूल्यन करने वाले देश को हानि होती है ।

मुद्रा-ह्रास तथा मुद्रा-अवमूल्यन—

परिणाम के दृष्टिकोण से मुद्रा-ह्रास तथा मुद्रा-अवमूल्यन में कोई विशेष अन्तर नहीं होता है, परन्तु दोनों की कार्य-विधि अलग-अलग होती है। *मूल्य-ह्रास में देश की मुद्रा की आन्तरिक कीमत में कमी की जाती है, परन्तु अवमूल्यन में उसकी बाह्य कीमत में।* इसमें तो सन्देह नहीं है कि मुद्रा की आन्तरिक कीमत को कम कर देने से कुछ समय पश्चात् उसकी बाह्य कीमत भी कम हो जाती है, परन्तु मूल्य-ह्रास का उद्देश्य ऐसा करना नहीं होता है। ठीक इसी प्रकार अवमूल्यन के कारण मुद्रा की आन्तरिक कीमत भी घट सकती है, क्योंकि इसका परिणाम देश में वस्तुओं की कमी उत्पन्न करना तथा उनकी कीमतों को बढ़ाना होता है। इससे देश की मुद्रा की आन्तरिक कीमत भी कम हो जाती है। वास्तविकता यह है कि *प्रत्येक दशा में मुद्रा की आन्तरिक और बाह्य दोनों ही कीमतें एक ही साथ घटती हैं, परन्तु ह्रास तथा अवमूल्यन अलग-अलग रीतियों से इस कार्य को सम्पन्न करते हैं।*

भारत में मुद्रा अवमूल्यन

स्मरण रहे कि अवमूल्यन का सदा ही यह अर्थ नहीं होता है कि देश की मुद्रा की कीमत सभी विदेशी मुद्राओं में घटा दी जाय। ऐसा साधारणतया बहुत ही कम किया जाता है। अक्सर देश की मुद्रा की बाह्य कीमत साधारणतया एक या कुछ विदेशी मुद्राओं में घटा दी जाती है। अवमूल्यन का एक अच्छा उदाहरण भारतीय रुपये के अवमूल्यन से मिलता है। सितम्बर सन् १९४९ में इङ्गलैंड ने स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन किया था, जिसके द्वारा डालर में पौंड की कीमत ३०·५% घटा दी गई थी। स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन होते ही स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के सभी देशों ने अपनी-अपनी मुद्राओं का डालर में अवमूल्यन किया था। कनाडा ने १०% और भारत, लङ्का और बर्मा ने ३०·५% के अनुपात में अपनी मुद्रा की कीमतें घटाई थीं। स्टर्लिङ्ग क्षेत्र में केवल पाकिस्तान ही एक ऐसा देश था, जिसने अवमूल्यन नहीं किया था। आगे चल कर सन् १९५५ में पाकिस्तान ने भी अपने रुपये का अवमूल्यन कर दिया था।

अवमूल्यन क्यों किया गया ?—

अवमूल्यन के पश्चात् भारतीय रुपये की कीमत ३० सेन्ट (Cents) से घटकर २१ सेन्ट रह गई। स्टर्लिङ्ग के अवमूल्यन के पश्चात् भारत सरकार के सामने अकस्मात् ही यह समस्या उठ खड़ी हुई थी कि अब क्या किया जाय ? अवमूल्यन न करने से यह भय था कि रुपये और स्टर्लिङ्ग का परम्परागत सम्बन्ध टूट जायगा और स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के देशों से व्यापार में कठिनाई उत्पन्न हो जायगी और साथ ही, देश के पौंड पावना ऋणों की कीमत भी कम हो जायगी। इसके विपरीत अवमूल्यन द्वारा मुद्रा स्फीति के और अधिक बढ़ने तथा आयातों की पहले से अधिक कीमत चुकाने का भय था, परन्तु सब कुछ सोच-विचार कर भारत सरकार ने मुद्रा अवमूल्यन को ही अधिक उचित समझा।

भारत सरकार के निर्णय पर मुख्यतया इस बात का प्रभाव पड़ा कि कई वर्षों से भारत का व्यापाराशेष डालर देशों के साथ प्रतिकूल ही चल रहा था। भारत सरकार ने डालर की बचत करने का भरसक प्रयत्न किया था और सम्पूर्ण अधिकृत ऋण राशि मुद्रा-कोष (I.M.F.) से उधार भी ली थी, परन्तु डालर का घाटा पूरा नहीं हो रहा था। आन्तरिक कीमत-स्तर डालर देशों की तुलना में ऊँचा था, जिसके कारण निर्यातों में भारी कठिनाई होती थी, परन्तु साथ ही साथ, खाद्यान्न, मशीनरी तथा पूँजीगत माल के लिए भारत को डालर देशों से आयातों का लेना आवश्यक था। *अवमूल्यन द्वारा भारत सरकार ने डालर देशों को अधिक निर्यात करने की बात सोची थी। बाद की घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि भारत सरकार का निर्णय ठीक था।* निस्सन्देह ही इसके कारण भारत के शोधनाशेष की गड़बड़ काफी अंश तक दूर हो गई थी, यद्यपि इसने भारत और पाकिस्तान के व्यापार सम्बन्धों में काफी उलझनें पैदा कर दी थीं।

मौद्रिक नीतियाँ
(Monetary Policies)

इसमें तो सन्देह नहीं है कि मुद्रा के आविष्कार ने मानव समाज का काफी कल्याण किया है, परन्तु मुद्रा के मूल्य के उच्चावचनों के फल कभी-कभी इतने दुखदायी होते हैं कि मुद्रा के मूल्य पर नियन्त्रण रखने की आवश्यकता पड़ती है। *मौद्रिक नीति का अभिप्राय एक ऐसी नीति से होता है, जिसमें मुद्रा के मूल्य को आवश्यक सीमा के भीतर नियन्त्रित रखा जाय।*

मौद्रिक नीति के उद्देश्य

मौद्रिक नीति के तीन अलग-अलग उद्देश्य हो सकते हैं:—(१) कीमत स्थिरता (Price stabilization), (२) मुद्रा की तटस्थता (Neutrality of Money) और (३) साधनों का अधिकतम् उपयोग। इसमें से अन्तिम उद्देश्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि आर्थिक सन्तुलन, पूर्ण वृत्ति, राष्ट्रीय आय को अधिकतम् बनाना आदि सभी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं।

(१) कीमतों की स्थिरता—

मौद्रिक नीति के सम्बन्ध में सबसे लोकप्रिय मत यही है कि इस नीति का उद्देश्य कीमतों की स्थिरता को बनाये रखना होना चाहिये। यदि मुद्रा को मूल्यमान के रूप में उपयोग किया जाता है तो यह आवश्यक है कि उसके मूल्य में स्थिरता रहे। इसके अतिरिक्त कीमतों में भारी उथल-पुथल के भयंकर परिणामों से भी संसार परिचित है।

परन्तु कीन्ज जैसे महान् अर्थशास्त्रियों का मत है और व्यवहारिक जीवन में यह सत्य भी है कि एक धीरे-धीरे ऊपर उठता हुआ कीमत-स्तर वृत्तिहीनता को दूर

करने तथा देश में बेकार पड़े हुए साधनों को काम में लगाने के लिए स्थिर कीमत-स्तर की अपेक्षा अधिक उपयुक्त होता है।

कीमतों की स्थिरता बनाये रखने की नीति तीन कारणों से अनुपयुक्त होती है :—

(i) कौन सी कीमतों में स्थिरता होनी चाहिये —पहली कठिनाई यह है कि कौनसी कीमतों में स्थिरता लाई जाय—थोक कीमतों को स्थिर किया जाय, अथवा खेरीज की कीमतों को, अथवा मजदूरियों में स्थिरता लाई जाय ? इसके अतिरिक्त कीमतों के सामान्य परिवर्तनों का देश के आर्थिक जीवन पर इतना बुरा प्रभाव नहीं पड़ता जितना कि उनके तुलनात्मक परिवर्तनों का, अत: सामान्य कीमतों की स्थिरता के स्थान पर तुलनात्मक कीमतों की स्थिरता अधिक उपयुक्त है; परन्तु यह सम्भव नहीं है।

(ii) कीमतों की स्थिरता से लाभ की आशा नहीं—*कीमतों के परिवर्तन आर्थिक जीवन की अस्थिरता के लक्षण होते हैं, उसके कारण नहीं होते।* कीमतों की स्थिरता रहते हुए भी उत्पादन तथा आर्थिक सम्बन्धों में काफी उथल-पुथल हो सकती है। कीमतों की उथल-पुथल से बहुत पहले ही आर्थिक जीवन में अस्थिरता आ चुकती है, इसलिये कीमतों की स्थिरता से किसी भी लाभ की आशा नहीं हो सकती है।

(iii) कीमतों के सभी परिवर्तन बुरे नहीं—*इस नीति में कीमतों के सभी परिवर्तनों को बुरा समझा जाता है, परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है।* मुद्रा की मात्रा के परिवर्तनों से सम्बन्धित कीमतों के उच्चावचन तो बुरे होते हैं, परन्तु यदि ये उच्चावचन उत्पादन के वास्तविक व्यय से सम्बन्धित हैं तो पूर्ण तथा स्थिर वृत्ति की दशाएँ उत्पन्न करने के लिए इनका होना आवश्यक होता है।

(iv) स्थिरता कैसे लाई जाय ?—इस सम्बन्ध एक व्यवहारिक कठिनाई यह भी है कि कीमतों में स्थिरता कैसे लाई जाय ? इसके लिए दो उपाय बताये जाते हैं :—प्रथम, मुद्रा की मात्रा को स्थिर रखना और दूसरे, मौद्रिक व्यय की दर को यथास्थिर रखना। प्रथम के सम्बन्ध में यह कठिनाई है कि मुद्रा की मात्रा को यथास्थिर रखने से कीमतों में स्थिरता नहीं आ सकती। मुद्रा की मात्रा को व्यापार तथा व्यवसाय की आवश्यकताओं के अनुसार घटाना-बढ़ाना आवश्यक होता है। इसलिए दूसरी रीति अधिक उपयुक्त है।

(२) तटस्थ मुद्रा—

कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि मौद्रिक नीति का उद्देश्य तटस्थ मुद्रा की स्थापना होना चाहिए। *इस नीति के अन्तर्गत वस्तुओं की पूर्ति के परिवर्तनों की दशा में मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन नहीं करने चाहिए।* वस्तुओं की मात्रा में कमी और वृद्धि के कारण सामान्य कीमत-स्तर में होने वाले परिवर्तनों को रोकना ठीक

नहीं होता है। इस नीति के समर्थकों का विचार है कि आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में सबसे दु:खदायी परिवर्तन मुद्रा की मात्रा के परिवर्तनों के ही कारण उत्पन्न होते हैं। प्रो० हेयक इसी नीति के समर्थक हैं।

आलोचना—

(३) प्रो० हैनसेन (Hansen) ने इस नीति की आलोचना इस **आधार पर** की **है** कि *एकाधिकार तथा औद्योगिक संघों के इस वर्तमान युग में यह नीति व्यवहारिक नहीं है।* कोई भी केन्द्रीय बैंक एकाधिकारों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की कीमतें घटाने में सफल नहीं हो सकती है। (ii) इसके अतिरिक्त मुद्रा की मात्रा को यथास्थिर रख कर तटस्थ मुद्रा का उद्देश्य पूरा नहीं किया जा सकता है। *वस्तुओं और मुद्रा की मात्रा के अनुपात को बनाये रखने के लिए मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन आवश्यक होते हैं।* (iii) *विनियोगों की वृद्धि के काल में भी मुद्रा का अधिक संचार अनिवार्य होता है,* इस कारण निर्बाधावादी नीति से काम नहीं चल सकता है। (iv) मुद्रा-नियन्त्रक के लिए देश के *उत्पादन की वृद्धि को ध्यान में रखना भी आवश्यक होता है।*

कीन्ज का मत—

लार्ड कीन्ज ने राष्ट्रीय आय को अधिकतम् करने के लिये मौद्रिक नीति का उपयोग करने पर जोर दिया है।* उनका विचार है कि वृत्तिहीनता को दूर करने का सबसे उपयुक्त उपाय यही है कि जब तक पूर्ण वृत्ति की दशायें उत्पन्न न हो जायें, सुलभ मुद्रा नीति (Cheap Money Policy) द्वारा कीमत-स्तर को बराबर ऊपर उठाया जाय। इस मत के पक्ष में कीन्ज ने यह बताया है कि :—(१) मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने के कारण मुद्रा के व्यय में वृद्धि होगी, क्योंकि इसके द्वारा नकद शेषें बढ़ेंगी, बैंकों की साख-निर्माण क्षमता में वृद्धि होगी और ब्याज की दरें नीचे गिरेंगी। (२) मुद्रा की मात्रा के बढ़ने के कारण कीमतें बढ़ेंगी और (३) कीमतों में इस प्रकार होने वाली वृद्धि आय को बढ़ायेगी।

इस मत के अनुसार जब तक किसी भी अंश तक वृत्तिहीनता शेष रहती है, मौद्रिक विस्तार द्वारा धीरे-धीरे ऊपर उठते हुये कीमत-स्तर को बनाये रखना आवश्यक होता है। व्यापार चक्र के विरुद्ध कीन्ज ने यही उपाय बताया है कि ब्याज की दरों को नीचे रखना ही उपयुक्त होता है, ताकि वैभव (Boom) को एक आभास स्थाई (Quasi-Permanent) रूप दिया जा सके। उस मौद्रिक नीति को अच्छा नहीं कहा जा सकता है जो देश में मन्दी की दशाएँ बनाये रखने का प्रयत्न करे। अच्छी नीति वही है जो अवसाद को आने ही न दे और आर्थिक जीवन को हल्की तेजी की अवस्था में रखे। इस दृष्टिकोण से मौद्रिक नीति का उद्देश्य कीमतों की स्थिरता बनाये रखने के स्थान पर उन्हें धीरे-धीरे ऊपर उठाना होना चाहिए।

See Keynes : *The General Theory of Employment, Interest and Money*, The Chapter on Monetary. Policy.

भारत में मुद्रा-स्फीति

दूसरे महायुद्ध के काल में तथा युद्धोत्तर काल में भारत में मुद्रा-स्फीति का जोर रहा है; यद्यपि सन् १९४८ से पहले भारतीय राजनीतिज्ञों का ध्यान इस ओर आकर्षित नहीं हुआ था। भारतीय मुद्रा-स्फीति के सम्बन्ध में एक हास्यरस लेखक ने बहुत ही अच्छा लिखा है। उनका कथन है कि "युद्धकाल में सभी काम तेजी के साथ हो रहे थे। सबकी देखा-देखी भारतीय रुपये ने भी तेजी से दौड़ना आरम्भ कर दिया, परन्तु अकस्मात ही १५ अगस्त सन् १९४७ को अङ्गरेज लोग भारत से भाग खड़े हुए। रुपये को इस परिवर्तन का पता न चल सका, क्योंकि अङ्गरेज राजा की मुहर उस पर अभी तक भी मौजूद थी और वह दौड़ता ही रहा। इस काल में भारत निवासी एक-दूसरे को लूटने-काटने तथा सभी जगहों पर झण्डे लहराने में व्यस्त रहे। इससे ऊब जाने पर उन्होंने देखा कि रुपया तेजी से दौड़ रहा था, बस एक दम उन्होंने इसे मुद्रा-स्फीति का नाम दे डाला।" इस हास्य में कटु सत्य छिपा है। भारत सरकार इतने लम्बे समय तक इस समस्या के प्रति उदासीन रही है कि शायद थोड़ा सा और विलम्ब देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए घातक हो सकता था।

इस सम्बन्ध में थोड़ा मतभेद रहा है कि भारत में मुद्रा-स्फीति का अंश कहाँ तक पहुँच गया था। प्रो० राव का विचार है कि सन् १९४८ के प्रथम छः महीनों में भारत में कीमतों की वृद्धि लगभग १२% थी, जबकि इसी काल में चलन का विस्तार केवल ४·७% ही था। निस्सन्देह इससे यही पता चलता है कि मुद्रा-प्रसार की तीसरी अवस्था आरम्भ हो गई थी। प्रो० वकील ने भी डा० राव का समर्थन किया है। इसके विपरीत श्री घनश्यामदास बिड़ला का कथन है कि भारत में मुद्रा-स्फीति थी ही नहीं। कीमतों की वृद्धि केवल मुद्रा-संस्फीति के कारण हुई थी। सत्य इन दोनों मतों के बीच है। *देश में मुद्रा-स्फीति काफी बढ़ गई थी, परन्तु अभी तीसरी अवस्था आरम्भ नहीं हुई थी।*

भारत में मुद्रा-स्फीति के कारण—

मुद्रा-स्फीति के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं :—

(१) सबसे महत्त्वपूर्ण कारण देश में चलन तथा साख-मुद्रा का विस्तार है—सन् १९३९ तथा सन् १९४८ के बीच चलन की मात्रा १७९ करोड़ से बढ़कर १,३१० करोड़ रुपया हो गई और साख-मुद्रा १२६ करोड़ से बढ़कर ४४४ करोड़ रुपया। चलन की इस अत्यधिक वृद्धि का प्रमुख कारण यह था कि *युद्ध से सम्बन्धित खर्चों को चलाने के लिए सरकार ने पत्र-मुद्रा छाप कर आय प्राप्त की थी।* कीमतों के बढ़ाने का उद्देश्य यह भी था कि वस्तुओं और सेवाओं की कीमत बढ़ा कर उनके नागरिक उपभोग को कम किया जाय। इस प्रकार चलन की मात्रा में वृद्धि होने के *कई कारण थे :—*

(i) स्टर्लिङ्ग निधि में वृद्धि—इङ्गलैंड की सरकार ने भारतीय बाजार से

काफी माल खरीदा था। इसके लिए स्टर्लिङ्ग में भुगतान किया गया था, जो इङ्गलैंड की सरकार को फिर से ऋण के रूप में दे दिया गया था, परन्तु इस प्रकार जिन स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियों अथवा हुण्डियों का निर्माण हुआ था उनको निधि के रूप में रख कर रिजर्व बैंक ने कागज के नोट छाप दिए थे, जिनमें भारत के व्यापारियों को इङ्गलैंड द्वारा खरीदी हुई वस्तुओं और सेवाओं की कीमत चुका दी गई थी।

(ii) डालरों का स्टर्लिङ्ग में परिणित होना—भारत निर्यात व्यापार द्वारा अमरीका से जो डालर प्राप्त करता था वे साम्राज्य डालर कोष (Empire Dollar Pool) में जमा कर दिए जाते थे और ब्रिटिश सरकार उनके बदले में रिजर्व बैंक को स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियाँ देकर कागज के नोट छपवाती रहती थी। इस प्रकार युद्ध के अन्त में भारत का इङ्गलैंड पर लगभग १,६०० करोड़ रुपये ऋण हो गया था।

(iii) वेतनों और मँहगाई भत्तों की वृद्धि—युद्ध-काल तथा उसके पश्चात् वेतनों और मँहगाई के भत्तों में जो वृद्धि हुई थी उसके कारण भी भारत सरकार को मुद्रा-स्फीति द्वारा आय प्राप्त करने पर बाध्य होना पड़ा था। करों की वृद्धि एक निश्चित सीमा तक ही हो सकती थी और सरकार की लोक ऋण प्राप्त करने की नीति असफल रही थी, इसलिए सरकार के पास कागज के नोट छाप कर आय प्राप्त करने के अतिरिक्त दूसरा कोई चारा न था।

(iv) हीनार्थ-प्रबन्धन—इसी प्रकार सरकार की हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit financing) नीति के कारण साख-मुद्रा का विस्तार हुआ।

(v) बैंकों की लाभ प्रवृत्ति—विनियोग और व्यापार की वृद्धि ने भी बैंकों को अधिक साख निर्माण करने के लिए प्रोत्साहित किया था। बैंकों को साख-वृद्धि करके लाभ कमाने का अच्छा अवसर मिल गया था।

(२) वस्तुओं की सामान्य दुर्लभता ने कीमतों को ऊँचा उठा दिया—इस दुर्लभता का एक कारण तो यह था कि आयातों की मात्रा युद्धकालीन कठिनाइयों के कारण बहुत ही सीमित रह गई थी और दूसरे, विभिन्न कारणों से देश में उत्पादन का विस्तार मुद्रा के विस्तार की तुलना में कम रहा था। खाद्यान्न की कमी ने तो भयंकर रूप धारण कर लिया था। लड़ाई से पहिले भारत को बर्मा, मलाया, स्याम तथा हिन्द-चीन से काफी चावल मिल जाता था, परन्तु जापानी अधिकार के पश्चात् इन देशों से आयात बन्द हो गये थे। देश के भीतर खाद्यान्न उत्पादन बराबर घट रहा था और भारत सरकार लंका, दक्षिणी अफ्रीका तथा मध्य-पूर्व युद्ध-क्षेत्रों को अनाज भेज रही थी। खाद्यान्न की इस भारी कमी का परिणाम सन् १९४३ के बंगाल दुर्भिक्ष के रूप में प्रकट हुआ। युद्ध के उपरान्त पाकिस्तान के निर्माण ने भारत की खाद्य स्थिति और भी खराब कर दी। सिन्ध तथा पश्चिमी पंजाब के अधिक अन्न उपजाऊ क्षेत्र पाकिस्तान के पास चले गए। *निर्मित वस्तुओं की कमी का प्रमुख कारण*

आयातों की कमी थी, परन्तु आवश्यक मशीनों और कच्चे मालों की कमी के कारण भी देश के भीतर उत्पादन में समुचित वृद्धि न हो सकी। सन् १९४२-४३ में ही आयात सन् १९३८-३९ का केवल ३७·९% थे। साथ ही, भारतीय उत्पादन का बहुत बड़ा भाग युद्धकालीन उद्देश्यों के लिए खरीद लिया गया। युद्ध के काल में लगभग २,००० करोड़ रुपये का माल इस प्रकार खरीदा गया था।

(३) सट्टे की प्रवृत्ति भी काफी बलवान हो गई थी और वस्तुओं को जमा करने की मनोवृत्ति बहुत बढ़ गई थी—सट्टे बाजार के विकास ने अकारण ही कीमतों को बढ़ाना आरम्भ कर दिया। दुर्लभता के कारण केवल दूकानदारों और व्यापारियों ने भी लाभ कमाने के लिए माल जमा करना लाभदायक नहीं समझा, बल्कि यह प्रवृत्ति सर्वव्यापी हो गई। पूर्ति के अनिश्चित रहने के कारण सभी ने स्टॉक् जमा करना शुरू कर दिया था।

(४) यातायात सम्बन्धी कठिनाइयों तथा वस्तुओं के असन्तोषजनक वितरण ने भारी भय की स्थिति उत्पन्न कर दी—सैनिकों और सैनिक सामानों के यातायात ने रेलों को व्यस्त रखा। इसके अतिरिक्त पैट्रोल आदि की कमी के कारण अन्य यातायात सेवाओं से पूरा-पूरा लाभ न मिल सका। स्थानीय दुर्लभताएँ बराबर बनी रहीं, जिसके कारण आसंचन (Hoarding) तथा नफाखोरी को रोकना कठिन हो गया।

(५) कीमत नियन्त्रण तथा राशनिंग की सरकारी नीति एक बड़े अंश तक असफल ही रही थी—शासन की अकुशलता तथा भ्रष्टाचार के कारण चोर-बाजारी को प्रोत्साहन मिला। राशन व्यवस्था कुछ थोड़े से शहरों तथा कुछ थोड़ी सी वस्तुओं पर ही लागू की गई थी, जिसके कारण कीमतों की वृद्धि रुक न सकी। वैसे भी अधिकांश दशाओं में राशन की मात्रा इतनी कम रखी गई थी कि लोगों को चोर बाजार से माल खरीदने पर बाध्य होना पड़ा था।

(६) युद्धोत्तर-काल में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की हीनार्थ प्रबन्धन रीति तथा विकास योजनाओं के संचालन ने कीमतों को गिरने नहीं दिया है—इसके अतिरिक्त सन् १९४७ के उपद्रव तथा शरणार्थी समस्या ने सरकार को व्यस्त रखा। सितम्बर सन् १९४९ में भारत सरकार ने रुपये का अवमूल्यन कर दिया, जिसके कारण मुद्रा-स्फीति को एक बार फिर बल प्राप्त हो गया।

भारत सरकार के मुद्रा-स्फीति विरोधी उपाय—

सन् १९४२ में ही भारत सरकार ने कीमत नियन्त्रण तथा राशनिंग द्वारा स्फीति का सामना किया था। इसके अतिरिक्त कुछ वस्तुओं की कीमतों में सट्टा बन्द कर दिया गया था, करों में वृद्धि की गई थी और सरकार ने जनता से ऋण लिए थे। साथ ही, रक्षा बचत योजना लागू की गई और लोगों को बचत करने के लिए उत्साहित किया गया। कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिए 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दो-

लन' आरम्भ किया गया, परन्तु ये सब उपाय बहुत सफल सिद्ध न हो सके। स्वतन्त्रता के पश्चात् जनवरी सन् १९४८ में राष्ट्रीय सरकार ने अपनी मुद्रा-स्फीति विरोधी नीति की घोषणा की। इस नीति के दो प्रमुख आधार थे—(I) प्रचलित मुद्रा की मात्रा को और (II) उत्पादन को बढ़ाना।

(I) *मुद्रा की मात्रा को कम करने के लिए निम्न उपाय किये गये थे :—*

(१) करों में वृद्धि करना—राज्य सरकारों को ५०० रुपया प्रति वर्ष से ऊपर की आय पर कृषि आय कर लगाने का अधिकार दिया गया।

(२) ऊँची ब्याज देकर जनता से अधिक ऋण प्राप्त करना।

(३) चलन के विस्तार को बन्द कर देना।

(४) हीनार्थ-प्रबन्धन की नीति का परित्याग कर देना।

(५) शासन के व्यय को कम करके तथा विकास योजनाओं के कार्यवाहन को धीमा करके सरकारी व्यय में कमी करना।

(६) कम्पनियों द्वारा लाभांश के वितरण पर ६% की सीमा लगाना।

(७) तीन वर्ष के लिए जमींदारों को मुआवजे तथा दूसरे भुगतानों को रोक देना।

(II) *उत्पत्ति को बढ़ाने के लिए सरकार ने निम्न प्रयत्न किये :—*

(१) बीजों, खादों, तथा सिंचाई की सुविधाएँ बढ़ाकर 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' को अधिक सफल बनाने का प्रयत्न किया गया।

(२) अधिक भू भाग पर खेती करके कपास, पटसन तथा गन्ने का उत्पादन बढ़ाया गया।

(३) पहले तीन वर्ष के लिए नये उद्योगों को आय-कर से छूट दी गई।

(४) निजी विनियोगों को प्रोत्साहन देने के लिए उद्योगों का राष्ट्रीयकरण १० वर्ष के लिए स्थगित कर दिया गया।

(५) खाद्यान्न तथा निर्मित वस्तुओं के आयात बढ़ाये गये।

(६) अपव्यय को दूर करने के नियम बनाये गये और खाद्य पदार्थों के सुरक्षित संचय की सुविधाएँ प्रदान की गईं।

(७) सरकारी सहायता द्वारा उद्योगों की स्थापना की गई।

(८) मूल्य-नियन्त्रण तथा राशनिंग सम्बन्धी नियमों को कड़ा किया गया और उनका पालन कराने पर अधिक जोर दिया गया।

आरम्भ में तो सरकारी नीति को अधिक सफलता नहीं मिली थी, परन्तु धीरे-धीरे कीमतों की वृद्धि की गति शिथिल होती गई। सन् १९५१ में भारत सरकार ने देश में प्रथम पंच-वर्षीय योजना लागू की। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में कुछ इस प्रकार का परिवर्तन हो गया कि अब कीमतें उठने के स्थान पर नीचे की ओर जाती हुई दिखाई पड़ने लगीं। कुछ समय तक भारत सरकार उल्टा यह प्रयत्न करती रही कि कृषि उपज की कीमतों को नीचे न गिरने दिया जाय, ताकि कृषक वर्ग की हालत बिगड़ने न पाये।

दूसरे पंच-वर्षीय आयोजन में कृषि उपज की कीमतों की स्थिरता को ही आर्थिक नीति का आधार बनाया गया था।

दूसरी पंच-वर्षीय योजना के काल में कीमतों की वृद्धि—

विगत वर्षों में एक महत्त्वपूर्ण घटना यह हुई है कि *दूसरी पंच-वर्षीय योजना के काल में कीमतें फिर ऊपर जाती हुई दिखाई पड़ती हैं।* प्रथम पंच-वर्षीय योजना के काल में कीमतें कुछ नीचे आ गई थीं। प्रथम योजना के अन्त में कीमतें उसके आरम्भ से भी १३% नीची थीं। कुछ दिनों तक तो भारत सरकार इस दिशा में प्रयत्नशील रही कि कृषि की उपज की कीमतों को किसी प्रकार और नीचे गिरने से रोका जाय और यथासम्भव उन्हें स्थिर कर दिया जाय। प्रथम योजना पर २,००० करोड़ रुपये के लगभग व्यय हो जाने पर भी कीमतों में नीचे गिरने की प्रवृत्ति निस्सन्देह एक आश्चर्यजनक बात थी। जिस समय दूसरी पंच-वर्षीय योजना की रूप-रेखा तैयार की गई थी उस समय कीमतें काफी स्थिर सी थीं, बल्कि उनमें गिरने की ही प्रवृत्ति थी। किंचित इसी कारण भारत सरकार ने दूसरी योजना के लिए १,२०० करोड़ रुपए के हीनार्थ-प्रबन्धन (Deficit-financing) का कार्यक्रम रखा था। सरकार का विश्वास था कि इतने अधिक हीनार्थ-प्रबन्धन के रहते हुए भी योजना काल में मुद्रा-प्रसार का भय न था। परन्तु वास्तविक अनुभव आशा के विपरीत रहा है। अप्रैल सन् १९५६ से ही कीमतों ने ऊपर उठना आरम्भ किया, मुख्यतया खाद्यान्नों की कीमतों ने। धीरे-धीरे सभी वस्तुओं की कीमतें ऊपर जाने लगीं। यहाँ तक कि दिसम्बर सन् १९५६ में ही राष्ट्रीय विकास परिषद् (National Development Council) को स्थिति पर विचार करने के लिए बाध्य होना पड़ा था। ऐसा अनुभव किया गया था कि खाद्यान्न उत्पादन सम्बन्धी स्थिति फिर बिगड़ गई थी और भारी मात्रा में हीनार्थ-प्रबन्धन के दुष्परिणाम सामने आ गये थे। हीनार्थ-प्रबन्धन को कम करने तथा खाद्य पदार्थों के भण्डारों को बढ़ाने के प्रयत्न आरम्भ हुए, किन्तु मुद्रा प्रसार का विस्तार रुक न सका। सन् १९५७ में दूसरी पंच-वर्षीय योजना के लक्ष्यों को नीचा करने की भी बात चली। ऐसा अनुमान है कि कीमतों की वृद्धि के कारण दूसरी योजना के लक्ष्यों को पूरा करने के लिए ४,८०० करोड़ रुपये के स्थान पर लगभग ५,५०० करोड़ रुपये के व्यय की आवश्यकता पड़ेगी और यह भी तब जबकि कीमतें मार्च सन् १९५८ के स्तर से ऊँची नहीं जाती हैं। इस प्रकार एक बार फिर मुद्रा-प्रसार का राक्षस हमारे सामने उपस्थित है। कीमतों की वृद्धि की यह प्रवृत्ति आज भी स्पष्टतया सामने है, किन्तु हमें इस ऐच्छिक मुद्रा-प्रसार से डरना नहीं चाहिए।

दूसरी योजना के निर्माण के समय कीमतों की वृद्धि की सम्भावना पर विचार न किया गया हो, ऐसी बात नहीं है। सरकार का विचार था कि खाद्यान्न तथा सूती कपड़े का उत्पादन बढ़ाकर इन दोनों की कीमतें यथास्थिर रखी जायेंगी और इस प्रकार यदि मुद्रा-प्रसार होता भी है तो उसका जन-साधारण पर कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ेगा। वास्तविकता यह है कि हमारा खाद्यान्न उत्पादन सम्बन्धी कार्यक्रम असफल

रहा है और कपड़ा और अनाज दोनों की कीमतें बढ़ी हैं। परिणाम यह हुआ है कि बढ़ती हुई कीमतें दुखदायी हो गई हैं। *करारोपण तथा लोक ऋण के पर्याप्त विस्तार के द्वारा भी सरकार अभी तक भी स्थिति को बदल नहीं सकी है।*

QUESTIONS

1. What is inflation? What are its causes? What are its effects upon the economy of a country? Discuss it with regard to Indian conditions. (Raj., B. Com., 1944)
2. What is inflation? What are its evils? What are the possible methods oi controlling inflation? (Bombay, B. Com., 1948)
3. Discuss the measures for combating inflation. (Bombay, B, Com., 1947)
4. लगातार बढ़ने हुए मूल्य-स्तर के दुष्परिणामों को स्पष्ट कीजिए। बढ़ते हुए मूल्य-स्तर को स्थिर करने के लिए आप क्या सुझाव देंगे। (Sagar, B. Com., 1957)
5. What are the effects of inflation? How can inflation be controlled? (Bihar, B. A., 1958)
6. What is inflation? Analyse the effects of war-time inflation on Indian agriculture? (Alld, B. A., 1954)

अध्याय ११

निर्देशांक

(Index Numbers)

प्रारम्भिक-

मुद्रा के मूल्य परिवर्तनों का अध्ययन करने के पश्चात् अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि कीमत-स्तर के उच्चावचनों को किस प्रकार नापा जाता है। यह काम निर्देशांकों अथवा सूचक अङ्कों की सहायता से किया जाता है, इसलिए प्रस्तुत अध्याय में निर्देशांकों का ही अध्ययन किया जायगा। स्मरण रहे कि मुद्रा की क्रयः शक्ति के परिवर्तनों को नापना कई दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण होता है :–(i) एक पिछले अध्याय में हम यह देख ही चुके हैं कि इन परिवर्तनों का देश के सामाजिक और आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। किसी वर्ग को लाभ होता है और किसी को हानि। (ii) इसके अतिरिक्त विभिन्न आर्थिक घटनाओं के बीच समायोजन भी इन्हीं परिवर्तनों के द्वारा होते हैं। (iii) मूल्य-यन्त्र (Price Mechanism) को पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली की संचालक शक्ति कहा जाता है। किस वस्तु का उत्पादन होगा और कितनी मात्रा में, कौन-कौन से उत्पत्ति के साधनों को रोजगार मिलेगा और किस अंश तक, देश के भीतरी और बाहरी व्यापार का क्या रूप होगा, देश का आर्थिक विकास किस सीमा तक होगा और किन-किन दिशाओं में और देश में आय अथवा क्रयः शक्ति के वितरण का क्या रूप होगा, ये सभी बातें कीमत-स्तर और उसके परिवर्तनों पर निर्भर होती हैं। (iv) यही नहीं, समाज के विभिन्न वर्गों के पारस्परिक सम्बन्ध, उनके बीच का सहयोग और उनके पारितोषण की मात्राएँ भी इन्हीं परिवर्तनों द्वारा निर्धारित होती हैं। *कोई भी ऐसा उपाय जिसके द्वारा इन परिवर्तनों को निश्चित रूप में नापा जा सके, अर्थशास्त्र में काफी महत्त्वपूर्ण होगा।*

निर्देशांक क्या होते हैं ?—

जिन वस्तुओं और सेवाओं पर मुद्रा का व्यय किया जाता है उनकी कीमतों के औसत को हम कीमत-स्तर कहते हैं और कीमत-स्तर की एक सूची (Series) को निर्देशांक अथवा सूचक अंक कहा जाता है। इस प्रकार निर्देशांक कीमत-स्तर के अङ्कों की एक सूची होती है, जिन्हें एक तालिका के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि मुद्रा के मूल्य के उच्चावचनों को सूचित करने के उद्देश्य से वस्तुओं और सेवाओं की सामान्य कीमत के परिवर्तनों को दिखाया जा सके। यदि एक निश्चित समय की तुलना में निर्देशांक ऊँचा है तो इसका अर्थ है कि सामान्य कीमतें ऊँची उठ गई हैं

और मुद्रा का मूल्य कम हो गया है। इसके विपरीत जब सामान्य कीमत-स्तर का निर्देशांक गिरता है तो मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है। अतएव जब निर्देशांक वृद्धि दिखाते हैं तो मुद्रा का मूल्य गिरता है और जब निर्देशांक पतन दिखाते हैं तो मुद्रा का मूल्य ऊपर उठता है।

इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि *सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों में एक ही साथ एक ही दिशा में परिवर्तन नहीं होते हैं।* यदि कुछ वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें बढ़ती हैं तो कुछ की नीचे गिरती हैं। इसके विपरीत विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों में परिवर्तन का अंश भी अलग-अलग होता है। *किन्तु कीमतों के इन सभी परिवर्तनों की एक सामान्य दिशा भी होती है।* विविधता के साथ-साथ उनमें एक अंश तक अनुरूपता भी रहती है। व्यक्तिगत कीमतों के परिवर्तन प्रतिविरोधी हो सकते हैं, परन्तु उनके बीच की एक सामान्य प्रवृत्ति का पता लगा लेना सम्भव होता है। *निर्देशांक का उद्देश्य इसी प्रकार की केन्द्रीय प्रवृत्ति की ओर संकेत करना होता है।* दूसरे शब्दों में, हम इस प्रकार कह सकते हैं कि निर्देशांकों का व्यक्तिगत कीमतों से कोई प्रत्यक्ष अथवा निकट सम्बन्ध नहीं होता है। उनका सम्बन्ध तो केवल कीमतों की सामान्य प्रवृत्ति से होता है, यद्यपि यह सत्य है कि स्वयं सामान्य प्रवृत्ति भी कीमतों के व्यक्तिगत परिवर्तनों पर ही निर्भर होती है।

एक बात और ध्यान देने योग्य है। *निर्देशाङ्क कीमतों के परिवर्तन के तुलनात्मक रूप को ही दिखाते हैं।* उनका उद्देश्य सामान्य कीमत के दो विभिन्न कालों के बीच होने वाले तुलनात्मक परिवर्तनों को सूचित करना होता है। वे मुद्रा के मूल्य के निरपेक्ष (Absolute) मापक नहीं हैं। यह कहने का लगभग कुछ भी अर्थ नहीं होता है कि निर्देशांक अब ७५ अथवा १५७ है। इसका कुछ अर्थ तभी हो सकता है जबकि यह बता दिया जाय कि किस वर्ष, मास, सप्ताह अथवा दिवस की तुलना में वह इतना है। निर्देशांक केवल दो विभिन्न कालों के कीमत-स्तर की तुलना करने के लिये उपयोग किये जा सकते हैं।

ऊपर की सारी विवेचना में हमने यह मान लिया है कि निर्देशांक केवल मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों को नापने के लिये ही उपयोग किये जाते हैं, परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। प्रत्येक प्रकार का आर्थिक परिवर्तन निर्देशांक द्वारा सूचित किया जा सकता है। निर्देशांक तो आर्थिक घटनाओं के तुलनात्मक परिवर्तनों को नापने की विधि है। ये आर्थिक घटनायें किसी भी प्रकार की भी हो सकती है।

सामान्य कीमतों के निर्देशांकों की निर्माण विधि—

सामान्य कीमतों के निर्देशांक औसत कीमतों पर आधारित होते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से इन निर्देशाङ्कों के बनाने में देश में उपलब्ध समस्त वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों का औसत निकालना चाहिए, परन्तु व्यवहार में ऐसा करना कठिन होता है। इसलिये कुछ वस्तुओं और सेवाओं को प्रतिनिधि के रूप में चुन लिया जाता है और उन्हीं की औसत कीमत को देश की सभी वस्तुओं और सेवाओं की औसत कीमत

के रूप में ग्रहण कर लिया जाता है। स्मरण रहे कि निर्देशांकों का बनाना यथार्थ में सांख्यिकी (Statistics) की एक समस्या है और सांख्यिकी की सहायता से सही-सही परिणाम निकालना विशेषज्ञों का काम होता है। ऐसा कहा जाता है कि अङ्क विज्ञान की सहायता से इच्छानुसार कुछ भी सिद्ध किया जा सकता है। यही कारण है कि निर्देशाँकों के बनाने तथा उनका उपयोग करने में विशेष सावधानी की आवश्यकता है। निम्न सावधानियां महत्त्वपूर्ण हैं :—

(१) आधार वर्ष का चुनाव—निर्देशांक साधारणतया वार्षिक आधार पर बनाये जाते हैं, परन्तु सभी वर्षों की औसत प्रचलित कीमतों की तुलना किसी एक निश्चित वर्ष की कीमतों से की जाती है। ऐसे वर्ष को आधार वर्ष (Base Year) कहा जाता है। निर्देशांक बनाने से पहले आधार वर्ष को सावधानीपूर्वक चुनना बड़ा आवश्यक होता है। सबसे बड़ी आवश्यकता यह होती है कि *किसी ऐसे वर्ष को आधार वर्ष के रूप में चुना जाय जो कि सभी दृष्टिकोणों से एक साधारण वर्ष (Normal Year) हो।* दूसरे शब्दों में, केवल ऐसे वर्ष को आधार बनाना उपयुक्त होता है जिसमें कीमतें न तो बहुत ऊँची रही हों और न बहुत नीची। एक छोटे से उदाहरण द्वारा ऐसे चुनाव के महत्त्व को स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिये कि हम यह जानना चाहते हैं कि एक कक्षा में विद्यार्थियों का सामान्य बुद्धि-स्तर कैसा है। अब यदि हम प्रत्येक विद्यार्थी की बुद्धिमानी की तुलना कक्षा के सबसे तेज बुद्धि वाले विद्यार्थी से करते हैं तो हमें ऐसा प्रतीत होगा कि कक्षा अत्यन्त बुद्धिहीन है। इसी प्रकार यदि किसी ऐसे विद्यार्थी को आधार के रूप में उपयोग किया जाता है, जो मूर्ख है तो तुलना करने पर यही ज्ञात होगा कि कक्षा का बुद्धि-स्तर बहुत ही ऊँचा है। कक्षा की सही योग्यता का पता लगाना दोनों ही दशाओं में कठिन होगा। सही अनुमान लगाने के लिये हमें एक औसत दर्जे के बुद्धिमान विद्यार्थी को आधार स्वरूप मानना पड़ेगा। ठीक इसी प्रकार कीमतों के निर्देशांक बनाने के लिये एक असाधारण आर्थिक परिस्थितियों वाला वर्ष उपयुक्त नहीं हो सकता है। संसार के लगभग सभी देशों में सन् १९३९ को आधार के रूप में उपयोग किया गया है, क्योंकि उसकी सहायता से युद्ध तथा युद्धोत्तर-कालीन कीमतों के परिवर्तनों का एक लाभदायक अनुमान लगाया जा सकता है। इसी प्रकार सन् १९५० को भी एक ऐसा ही वर्ष कहा जा सकता है।

(२) वस्तुओं और सेवाओं का निर्वाचन—आधार वर्ष को निश्चित करने के पश्चात् उन वस्तुओं और सेवाओं के निर्वाचन की समस्या उत्पन्न होती है जिनकी कीमतों का औसत निकालना है। सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों का औसत निकालना न तो सम्भव ही है और न आवश्यक ही, परन्तु वस्तुओं और सेवाओं को इस प्रकार सावधानीपूर्वक चुन लेना आवश्यक होता है कि वे देश की सभी वस्तुओं और सेवाओं की सामान्य प्रकृति को दिखा सकें। यह अत्यावश्यक है कि वस्तुओं और सेवाओं का निर्वाचित समूह समस्त वस्तुओं और सेवाओं का प्रतिनिधित्व करे। साथ ही,

यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि निर्वाचित वस्तुओं और सेवाओं की संख्या बहुत कम न हो।

(३) कीमतों का निर्वाचन—वस्तुओं और सेवाओं के चुन लेने के पश्चात् कीमतों का चुनना आवश्यक है। *निर्देशांकों के उद्देश्य के अनुसार इस प्रकार चुनी हुई कीमतें अलग-अलग प्रकार की होनी चाहिए।* कीमतें थोक भी हो सकती हैं और फुटकर भी। मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों को दिखाने के लिए थोक कीमतें अधिक सही अनुमान दे सकती हैं और उनका एकत्रित करना भी सुविधाजनक होता है, परन्तु जीवन निर्वाह व्यय के निर्देशांक बनाने के लिए फुटकर कीमतों का चुनना अधिक उपयुक्त होता है। इस निर्णय के पश्चात् कि कौन सी कीमतें एकत्रित की जायेंगी, यह निश्चित करना होता है कि दैनिक, साप्ताहिक, मासिक अथवा अन्य किसी समय से सम्बन्धित कीमतों को लिया जायगा। इस निर्वाचन के सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता है। यह निर्देशांक के उद्देश्य, निर्माणकर्त्ता की सुविधा तथा कीमतों की उपलब्धता पर निर्भर होता है।

(४) औसत का निर्धारण—यह भी एक महत्त्वपूर्ण निर्णय होता है, क्योंकि औसत अनेक प्रकार के होते हैं और प्रत्येक से एकसा ही फल प्राप्त नहीं होता है। *अधिक चलन गणित या समानान्तर औसत (Arithmetic Average) के उपयोग का होता है,* परन्तु यदि विभिन्न मदों के अन्तर बहुत ही विशाल होते हैं तो गुणोत्तर औसत (Geometrical Average) अधिक विश्वासजनक फल देता है। इस प्रकार विभिन्न दशाओं में अलग-अलग औसत महत्त्वपूर्ण होते हैं।

इन सब सावधानियों के पश्चात् निर्देशांकों का बनाना सरल होता है। चुनी हुई वस्तुओं की कीमतें आधार वर्ष के नीचे क्रमशः रख दी जाती हैं और आधार वर्ष की प्रत्येक कीमत को १०० के बराबर मान लिया जाता है। जिस वर्ष का निर्देशांक निकालना है उसके नीचे भी चुनी हुई सभी वस्तुओं की कीमतें उसी क्रम में रख दी जाती हैं और आधार वर्ष की कीमत को १०० मान कर वर्ष विशेष की कीमत का सम्बन्धित मूल्य निकाला जाता है। यह मूल्य कीमत-सम्बन्धी (Price-relative) कहलाता है। इस प्रकार सभी कीमत-सम्बन्धियों द्वारा यह पता चल जाता है कि आधार वर्ष की तुलना में वर्ष विशेष की कीमत में कितने प्रतिशत का परिवर्तन हुआ है। अन्त में कीमत सम्बन्धियों को जोड़ कर मदों अथवा वस्तुओं की संख्या से भाग दे देते हैं और इस प्रकार आवश्यक निर्देशांक निकल आता है। नीचे की तालिका में इस क्रम को दिखाया गया है

एक उदाहरण—साधारण निर्देशांक—

तालिका

वस्तुएं	१९३९	मूल्य सम्बन्धी	१९५३	मूल्य सम्बन्धी
चावल (प्रतिमन)	६ रुपया	१००	१८ रुपया	३००
गेहूँ (,,)	५ ,,	१००	२० ,,	४००
दाल (,,)	८ ,,	१००	१६ ,,	२००
कपड़ा (प्रति गज)	६ आना	१००	१ रुपया २ आना	३००
कोयला (प्रति मन)	८ ,,	१००	२ रुपया	४००
दूध (प्रति सेर)	३ ,,	१००	९ आना	३००
		६|६००		६|१९००
		१००		३१६.६

परिवर्तन + २१६.६
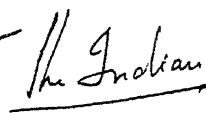
उपरोक्त तालिका यह स्पष्ट करती है कि सन् १९३९ के आधार पर सन् १९५३ का निर्देशांक ३१६.६ है। सन् १९३९ की तुलना में सन् १९५३ में कीमत स्तर में २१६.६% की वृद्धि हो गई है। स्मरण रहे कि सूचक अङ्क कीमतों के केवल औसत परिवर्तन को ही दिखाता है। निर्वाचित वस्तुओं में से किसी की भी कीमत में इतना परिवर्तन नहीं हुआ है। उपरोक्त उदाहरण में हमने केवल ६ वस्तुओं को चुना है, परन्तु एक सन्तोषजनक निर्देशांक के निर्माण में बहुत सी वस्तुओं और सेवाओं को सम्मिलित करना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि दोनों वर्षों में एक वस्तु की (जिसके गुण अथवा परिमाण में अन्तर न हो) एक सी ही कीमतों को लिया जाय।

साधारण एवं सभार निर्देशांक—

तालिका नं० १ में निकाला गया *निर्देशांक साधारण औसत द्वारा तैयार किया गया है। इस प्रकार के निर्देशांक को साधारण निर्देशांक (Simple Index Number) कहते हैं।* इसका सबसे बड़ा दोष यह होता है कि सम्मिलित की हुई प्रत्येक वस्तु को समान ही महत्त्व दिया जाता है, परन्तु वास्तविकता यह है कि समाज पर किसी आवश्यक वस्तु, जैसे—गेहूँ अथवा चावल की कीमतों के थोड़े से भी परिवर्तन का दूध, सिगरेट आदि कम आवश्यक वस्तुओं की कीमत के अत्यधिक परिवर्तन की तुलना में बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। इस कारण निर्देशांक द्वारा दिखाया गया कीमत परिवर्तन समाज के लिए उसके महत्त्व का सही अनुमान प्रस्तुत नहीं करता है।

इस कठिनाई को इस प्रकार दूर किया जा सकता है कि *निर्देशांक बनाते समय प्रत्येक कीमत परिवर्तन को आवश्यक भार (Weight) दे दिया जाय।* ये

भार वस्तु विशेष के तुलनात्मक महत्त्व पर निर्भर होंगे। पारिवारिक बजटों के अध्ययन द्वारा समुचित भारों का सरलता से पता लगाया जा सकता है। कीमत सम्बन्धियों को इन भारों से गुणा किया जाता है और औसत कीमत-स्तर को निकालने के लिए योग को भारों की कुल संख्या से भाग दे दिया जाता है। मान लीजिए कि तालिका नं० १ चावल, गेहूँ, दाल, कपड़ा, कोयला तथा दूध को क्रमशः १२, १०, ५, ८, ४ और ३ भार दिए गये हैं तो इस दशा में सभार निर्देशांक (Weighted Index Number) का निर्माण निम्न प्रकार होगा :—

तालिका २

सभार निर्देशांक का उदाहरण

वस्तुएँ	मूल्य सम्बन्धी		भार	व्यय सम्बन्धी	
	१९३९	३००		१९=९	१९५३
चावल	१००	३००	१२	१,२००	३,६००
गेहूँ	१००	४००	१०	१,०००	४,०००
दाल	१००	२००	५	५००	१,०००
कपड़ा	१००	३००	८	८००	२,५००
कोयला	१००	४००	४	४००	१,६००
दूध	१००	३००	३	३००	९००
योग	६००	१,९००	४२	४,२००	१३,५००
औसत	१००	३१६·६		१००	३२१·४

परिवर्तन + २२१·४

इस दशा में सभार निर्देशांक ३२१·४ है और कीमत में २२१·४% की वृद्धि हुई है। यह स्पष्ट है कि साधारण तथा सभार निर्देशांक तथा उनके द्वारा सूचित कीमत परिवर्तनों में पर्याप्त अन्तर है।

ऊपर की दोनों तालिकाओं में निर्देशांक बनाने के लिए हमने समानान्तर औसत (Arithmetic Average) का ही उपयोग किया है। सरलता के कारण यही औसत अधिक लोकप्रिय है, परन्तु इस प्रकार के निर्देशांक पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं होते हैं, यद्यपि भारों का उपयोग करके उनकी उपयोगिता काफी बढ़ाई जा सकती है। यह औसत कीमतों की वृद्धि अथवा उनके पतन को वास्तविक से अधिक दिखाने की प्रवृत्ति रखता है। इस दोष को दूर करने के लिए गुणोत्तर अथवा ज्योमैतिक औसत (Geometric Average) का उपयोग किया जाता है, परन्तु इस औसत में भी यह दोष बताया जाता है कि यह परिवर्तनों के अंश को वास्तविक से भी कम दिखाता है। विभिन्न सांख्यिकिक विशेषज्ञों ने अलग-अलग प्रकार के औसतों के उपयोग की सलाह दी है, किन्तु वास्तविकता यह है कि यद्यपि प्रत्येक औसत कुछ दृष्टिकोणों से सही फल प्रदान करता है, परन्तु कुछ दिशाओं में यह दोषपूर्ण अवश्य रहता है।

निर्देशांक के प्रकार (Types of Index Numbers)—

(१) मुद्रा की क्रयः शक्ति निर्देशांक—यह तो हम देख ही चुके हैं कि अधिकाँश निर्देशांकों का उद्देश्य मुद्रा के मूल्य के तुलनात्मक परिवर्तनों को दिखाना होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इनके बनाने में उन सभी मदों को सम्मिलित करना चाहिए जिनका अन्तिम दशा में उपभोग किया जाता है और फिर इन मदों को प्रत्येक पर व्यय की गई आय के अनुपात में भार दिए जाने चाहिए। कठिनाई यह है कि *व्यवहारिक जीवन में उपभोग की सभी वस्तुओं और सेवाओं को सम्मिलित कर लेना सम्भव नहीं होता है, अतः भारी संख्या में प्रतिनिधि स्वरूप वस्तुओं और सेवाओं को सम्मिलित करके ही सन्तोष कर लिया जाता है। ऐसे निर्देशांक को उपभोग निर्देशांक (Consumption Index Number) अथवा जीवन निर्वाह व्यय निर्देशांक (Cost of Living Index Number) कहा जाता है।* ऐसे सभी निर्देशांकों में यह दोष रहता है कि व्यक्तिगत सेवाओं पर किए गए व्यय को कम महत्त्व दिया जाता है। वास्तविकता यह है कि निर्देशांकों द्वारा मुद्रा की क्रयः शक्ति का पूर्णतया निश्चित अनुमान नहीं लगाया जा सकता है।

(२) आय निर्देशांक (Earning Index Number)—जबकि उपभोग निर्देशांक वस्तुओं और सेवाओं के सम्बन्ध में मुद्रा की क्रयः शक्ति को नापने का प्रयत्न करता है, *आय निर्देशांक मुद्रा की क्रयः शक्ति को मानव प्रयत्न की इकाइयों में नापता है।* यद्यपि इस दशा में किया हुआ प्रयत्न लाभदायक होता है, परन्तु कठिनाई यह है कि विभिन्न प्रकार के मानव की तुलना करने के लिए कोई सामूहिक माप की इकाई उपलब्ध नहीं होती है। कुछ अंश तक तो दक्षता तथा चतुराई के अनुसार भार निश्चित करना सम्भव हो सकता है, परन्तु यह विधि बहुत दूर तक नहीं ले जाई जा सकती है।

(३) श्रमिक वर्ग जीवन व्यय निर्देशांक (Working Class Cost of Living Index Numbers)—*ये निर्देशाँक उन प्रमुख वस्तुओं की खैरीज कीमतों पर आधारित होते हैं जो श्रमिकों के उपभोग में साधारणतया सम्मिलित होती हैं।* इस प्रकार के निर्देशांकों में उपभोग निर्देशांकों से यह भेद होता है कि इनमें सेवाओं की कीमतों को सम्मिलित नहीं किया जाता है। इन निर्देशांकों के निर्माण में उपभोग की विभिन्न मदों को समुचित भार अथवा प्रभाव देना आवश्यक होता है। भारों की मात्राएँ किसी विशेषज्ञ मण्डल द्वारा सावधानीपूर्वक निश्चित की जाती हैं। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश श्रम मन्त्रालय ने सरकारी निर्देशांकों में इस प्रकार भार निश्चित किये हैं:—भोजन ६०, किराया और भाड़ा १६, वस्त्र १२, ईंधन और रोशनी ८ और विविध ४। इन निर्देशांकों को मजदूरियों के निश्चित करने तथा उनमें परिवर्तन करने के लिए उपयोग किया जाता है। जीवन निर्वाह व्यय निर्देशांकों के अनुपात में ही मजदूरियों को भी बदलने का प्रयत्न किया जाता है।

(४) थोक कीमतों के निर्देशांक (The Wholesale Price Index Numbers)—*इस प्रकार के निर्देशाङ्क आधारभूत वस्तुओं की थोक कीमतों पर आधारित होते हैं। इन वस्तुओं में साधारणतया कच्चे-मालों की कीमतों को ही सम्मिलित किया जाता है।* वस्तुओं को या तो खाद्य सामग्री तथा अन्य वस्तुओं में विभाजित किया जाता है, अथवा कृषक और अकृषक वस्तुओं में। पुराने समय में इन निर्देशांकों में भारों का उपयोग करने का चलन या तो था ही नहीं, या भारों का निर्धारण वैज्ञानिक रीति से नहीं किया जाता था, परन्तु अब थोक कीमतों को राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में विभिन्न वस्तुओं के तुलनात्मक महत्त्व के आधार पर भार दिया जाता है। अमरीकन श्रम विभाग द्वारा थोक कीमतों का जो निर्देशांक तैयार किया जाता है वह एक प्रकार आदर्श स्वरूप होता है। यह ५५० वस्तुओं की कीमतों पर आधारित होता है और उसमें भारों को वैज्ञानिक रीति से निश्चित किया जाता है।

मुद्रा की क्रयः शक्ति के परिवर्तनों को नापने के लिए बहुधा थोक कीमतों के निर्देशांकों का ही उपयोग किया जाता है। परन्तु इस दृष्टिकोण से इन निर्देशांकों में कुछ गम्भीर दोष होते हैं। प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) *इन निर्देशांकों में केवल अनिर्मित वस्तुओं की कीमतों को सम्मिलित किया जाता है,* परन्तु अनिर्मित वस्तुओं का आर्थिक जीवन में जो महत्त्व होता है उसका निर्मित अवस्था में भी बना रहना आवश्यक नहीं होता है।

(२) *थोक कीमतों के निर्देशांकों में व्यक्तिगत सेवाओं तथा बिक्री व्यय को सम्मिलित नहीं किया जाता है,* यद्यपि उपभोक्ता के व्यय का काफी बड़ा भाग इन मदों पर खर्च होता है।

(३) *ऐसे निर्देशांकों में परिवर्तनों का अंश अधिक रहता है,* क्योंकि उपभोग निर्देशांकों की तुलना में इनकी मदें अधिक विशिष्ट होती हैं।

उपरोक्त सभी कारणों से थोक कीमतों के निर्देशाँक मुद्रा की क्रयः शक्ति के पारवतनों का पूर्णतया विश्वासजनक अनुमान नहीं दे पाते हैं।

निर्देशांकों के निर्माण में कठिनाइयाँ—

निर्देशांकों के निर्माण में कुछ भारी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। इन कठिनाइयों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं :—(i) सैद्धान्तिक कठिनाइयाँ एवं (ii) व्यवहारिक कठिनाइयां।

सैद्धान्तिक कठिनाइयाँ कई प्रकार की होती हैं—(i) भारों के निर्धारण में तथा औसतों के चुनने में भारी सावधानी की आवश्यकता पड़ती है। कितना भी प्रयत्न क्यों न किया जाय, प्रत्येक दशा में भार तथा औसत का चुनाव अनुमानजनक ही रहता है। ऐसा देखने में आता है कि भारों तथा औसतों के परिवर्तनों के कारण एक सी ही कीमतों से अलग-अलग निर्देशांक प्राप्त होते हैं। (ii) वस्तुओं की मात्राओं

के निर्वाचन में भी कठिनाई होती है। यदि आधार वर्ष में निश्चित की गई मात्राओं का ही उपयोग किया जाता है तो परिणाम ठीक ही निकलते हैं, परन्तु यदि किसी निश्चित वर्ष की मात्राओं के आधार पर भूतकालीन वर्षं के लिए निर्देशांक बनाये जाते हैं तो दूसरा ही परिणाम प्राप्त होता है। (iii) निर्देशांकों के बनाने में वस्तुओं और सेवाओं के एक पूर्व निश्चित महत्त्व को लिया जाता है, परन्तु रुचियों के परिवर्तन के कारण उपयोग की वस्तुएँ तथा उनके महत्त्व के अंश रहते हैं। कितनी ही पुरानी वस्तुएँ समाप्त हो जाती हैं और पूर्णतया नई वस्तुएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो आर्थिक जीवन में महान् महत्त्व प्राप्त कर सकती हैं। इस कठिनाई को दूर करने के लिए मार्शल ने शृङ्खलाकारी निर्देशांक (Chain Index) के उपयोग का सुझाव दिया है। इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ष की कीमतों की उससे अगले वर्ष की कीमतों से तुलना की जाती है। इस तुलना में ऐसी वस्तुओं की कीमतों को सम्मिलित नहीं किया जाता है जो दोनों वर्षों के उपभोग में सम्मिलित नहीं होती हैं। उपभोग के परिवर्तनों के अनुसार प्रति वर्ष भारों की मात्राओं में भी आवश्यक परिवर्तन किये जा सकते हैं। किसी दिये हुए वर्ष की कीमतें उससे पिछले वर्ष की कीमतों से सम्बन्धित की जा सकती हैं। उपभोग सम्बन्धी परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए निर्देशांक बनाने की सबसे उपयुक्त विधि यही हो सकती है, परन्तु यह प्रणाली भी दोष-विमुक्त नहीं है। यह प्रणाली इस मान्यता पर आधारित है कि खरीददारी (क्रय) के वार्षिक परिवर्तन लगभग अर्थहीन होते हैं, जबकि कालान्तर में उन परिवर्तनों का सामूहिक परिणाम काफी महत्त्वपूर्ण होता है।

व्यवहारिक कठिनाइयाँ भी अनेक हैं—(i) *आधार वर्ष का चुनाव ही कठिन होता है*, क्योंकि सामान्य आर्थिक परिस्थितियों के अतिरिक्त इस वर्ष में विभिन्न वस्तुओं की कीमतों के बीच सामान्य सम्बन्ध भी होना चाहिए। (ii) हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जिन वस्तुओं की कीमतों की तुलना की जा रही है वे सभी प्रकार समान हों। वस्तु का नाम ही पर्याप्त नहीं होता है। एक ही नाम की वस्तुओं में विभिन्न कालों में भारी भिन्नता हो सकती है और *वस्तुओं में गुणात्मक परिवर्तन* तो बराबर होते ही रहते हैं। (iii) ठीक इसी प्रकार *कीमतों का निर्वाचन भी सरल नहीं होता है।*

सारांश—

स्पष्ट है कि निर्देशांक बनाने में अनेक सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक कठिनाइयाँ पड़ती हैं, जिससे सच्चे निर्देशांक तैयार नहीं हो पाते और फल यह होता है कि मूल्य-परिवर्तनों को ठीक-ठीक नहीं नापा जा सकता। राबर्टसन के शब्दों में :—"मुद्रा के मूल्य परिवर्तनों को ठीक-ठीक नाप लेना न तो सैद्धान्तिक दृष्टि से ही सम्भव है और न व्यवहार में ही। इतना अवश्य है कि यदि मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होते हैं और काफी सावधानी बर्ती जाती है तो प्रत्यक्ष उपयोग के लिए उसकी माप ठीक रीति से

की जा सकती है।'' प्रो० मार्शल ने भी कहा है :—"क्रय शक्ति की निश्चित माप केवल असम्भव ही नहीं है, बल्कि अविचारणीय भी है।''* निर्देशांक बहुधा अनुमान-जनक होते हैं और क्योंकि वे सामान्य प्रकृति को सूचित करते हैं, व्यवहारिक जीवन में उनको बहुत अधिक महत्त्व देना ठीक न होगा। *ये अङ्क केवल अस्पष्ट रूप में ही हमारा ध्यान आर्थिक परिवर्तनों की केन्द्रीय प्रवृत्ति की ओर आकर्षित करते हैं।* वास्तव में आर्थिक जीवन का कलेवर बड़ा जटिल है और उसको निर्देशांक जैसी सरल विधि से पूर्णतया समझ लेना कठिन होता है।

निर्देशांकों के उपयोग अथवा लाभ—

निर्देशांकों को आर्थिक जगत का दबाव नापने का यन्त्र (Economic Barometer) कहा जाता है। इनकी सहायता से सभी आर्थिक घटनाओं के जोर को नापा जा सकता है। इनके लाभ निम्न प्रकार हैं :—

(१) जीवन-स्तर का सूचक—इनके द्वारा हम मुद्रा की क्रय: शक्ति के घटने-बढ़ने का एक सामान्य परन्तु व्यवहारिक अनुमान लगा सकते हैं, जिसकी सहायता से देश में समाज के जीवन-स्तर का पता लगाया जा सकता है और उसकी उन्नति के उपाय सोचे जा सकते हैं।

(२) औद्योगिक शान्ति की स्थापना में सहायक—जीवन निर्वाह व्यय सम्बन्धी निर्देशांकों की सहायता से यह पता लगाया जा सकता है कि देश में वास्तविक मजदूरी घट रही है अथवा बढ़ रही है और किस अनुपात में। इसके द्वारा मजदूरों के असन्तोष को दूर किया जा सकता है, औद्योगिक शान्ति स्थापित की जा सकती है और श्रमिक की कार्य-कुशलता बढ़ाई जा सकती है, क्योंकि आवश्यकता के अनुसार मजदूरी और जीवन निर्वाह व्यय के बीच समायोजन किया जा सकता है।

(३) उद्योगों की उन्नति—उत्पादन सम्बन्धी निर्देशांक यह बता देते हैं कि कौन से उद्योग उन्नति कर रहे हैं और कौन-कौन से उद्योगों को प्रोत्साहन अथवा आर्थिक सहायता देने की आवश्यकता है।

(४) मौद्रिक नीति की सफलता—मौद्रिक नीति को सफल बनाने में भी इनसे अधिक सहायता मिलती है।

(५) ऋणों के भुगतान में सुविधा—स्थगित भुगतानों अथवा दीर्घकालीन ऋणों के भुगतानों में भी इनके द्वारा न्यायशीलता, समता तथा सन्तुलन स्थापित किया जा सकता है, क्योंकि क्रय: शक्ति के परिवर्तनों का सामान्य रुख जाना जा सकता है।

(६) व्यापारी के लिए उपयोगिता—विदेशी व्यापार से सम्बन्धित निर्देशांकों से विदेशी व्यापार के शोधनाशेष के सन्तुलन में सहायता मिलती है।

---

* "A perfectly exact measure of purchasing power is not only unattainable but even unthinkable."

व्यापारी के लिए उपयोगिता—

प्रो० फिशर ने ठीक ही कहा है:—"वस्तुओं का कीमत-स्तर स्थाई रखने तथा व्यापार में स्थिरता और स्थाईपन स्थापित करने के लिए निर्देशांक बहुत ही उपयोगी हैं। इनकी सहायता से आर्थिक, व्यापारिक तथा वित्त सम्बन्धी सभी समस्याओं को समझने में आसानी होती है।" हम सरलतापूर्वक यह जान लेते हैं कि व्यापार का क्या रुख है। पूँजी की गतिशीलता का क्या हाल है और लाभ-हानि सम्बन्धी स्थिति किस प्रकार है? एक व्यापारी के लिए ये बहुत लाभदायक होते हैं, क्योंकि व्यवसायिक वर्ग का मुद्रा की क्रयः शक्ति के परिवर्तनों से अत्यधिक घनिष्ट सम्बन्ध होता है। इसी के ऊपर उसका लाभ, उसकी हानि तथा उसकी व्यवसायिक नीति आधारित होती है मजदूरों के साथ झगड़े निबटाने में भी इनसे सहायता मिलती है, क्योंकि वास्तविक मजदूरी के परिवर्तनों को भली भाँति जाना जा सकता है। दो विभिन्न कालों तथा स्थानों में होने वाले लाभों की तुलना करने में भी ये उपयोगी होते हैं। सट्टा बाजार के तो निर्देशांक प्राण ही होते हैं। सट्टा बाजार का संगठन ही कीमतों के परिवर्तन के आधार पर होता है।

राजनीतिज्ञ और सरकार के लिए उपयोगिता—

एक राजनीतिज्ञ के लिए भी निर्देशांक अधिक उपयोगी होते हैं। इनकी सहायता से देश की आर्थिक स्थिति को समझा जा सकता है और सरकार की आर्थिक नीति की रचनात्मक आलोचना की जा सकती है। सरकार को भी इनके द्वारा देश की आर्थिक स्थिति के परिवर्तनों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त हो सकता है। मुद्रा के मूल्य जीवन निर्वाह व्यय और उत्पादन व्यय के आधार पर राज्य की कर नीति का निर्माण होता है। सरकार जब आर्थिक नियोजन के सम्बन्ध में सोचती है तो उसे निर्देशांक से अत्यधिक सहायता मिलती है। निर्देशांक देश के आर्थिक जीवन की भूतकालीन तथा वर्तमान स्थिति का ज्ञान करा कर योजनाबद्ध विकास के लिए उपयुक्त मार्ग दर्शाते हैं निर्देशांक आर्थिक परिवर्तनों का ज्ञान दिला कर समाज के सभी वर्गों की सेवा करते हैं।

निर्देशांकों की सीमायें—

अत्यन्त उपयोगी होते हुए भी निर्देशांकों के कुछ महत्त्वपूर्ण दोष सीमायें हैं :—

(१) **अन्तर्राष्ट्रीय तुलना सम्भव नहीं है**—निर्देशांकों के आधार अलग अलग देशों में अलग-अलग होते हैं, अतः इनकी सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय तुलना करना सम्भव नहीं होता।

(२) **समय का अन्तर**—समय का अन्तर हो जाने पर निर्देशांकों की सहायता से तुलना करना कठिन हो जाता है, क्योंकि मनुष्य के उपभोग की आदतें सदा बदलती रहती हैं, जैसे कुछ वर्ष पहले टाई का साधारण रिवाज था, लेकिन अ

वह बहुत कम हो गया है। अतः पुरानी उपभोग वस्तुओं के आधार पर बने निर्देशांकों की तुलना उन निर्देशांकों से करना उचित नहीं होता, जो कि नवीन उपभोग वस्तुओं के आधार पर बनाये गये हों।

(३) सीमित उपयोग—निर्देशांक प्रायः किसी विशेष उद्देश्य को लेकर बनाये जाते हैं। अतः उनका उपयोग किन्हीं अन्य उद्देश्य के लिये नहीं किया जा सकता, वरना धोखा होने का भय है। जैसे अध्यापकों की आर्थिक स्थिति का पता लगाने के हेतु बनाये गए निर्देशांकों से मजदूरों की आर्थिक दशा का अनुमान नहीं लग सकता।

(४) बिल्कुल सत्य परिणाम का अभाव—निर्देशांकों में गणित जैसी शुद्धता नहीं पाई जाती, किन्तु 'समीपता' का गुण अवश्य होता है अर्थात् निर्देशांकों के परिणाम केवल 'लगभग सत्य' ही होते हैं।

(५) भार देने का दोष—सभार निर्देशांकों में भार देने का कोई वैज्ञानिक उपाय नहीं है। भारों की ठीक-ठीक जानकारी न होने से निर्देशांक भी सही परिणाम प्रस्तुत नहीं करते हैं।

(६) फुटकर मूल्य निर्देशांकों का अभाव—प्रायः निर्देशांक थोक मूल्यों के आधार पर बनाये जाते हैं, क्योंकि इनकी जानकारी सरलता से उपलब्ध होती है। लेकिन व्यावहारिक जीवन में फुटकर मूल्य पर बनाये गए निर्देशांकों की आवश्यकता भी पड़ती है। फुटकर मूल्यों की जानकारी में बहुत कठिनाई होने से थोक मूल्य वाले निर्देशांकों से काम चलाया जाता है, जिससे परिणाम भ्रमात्मक होने का भय रहता है।

सारांश—

इतनी कठिनाइयों व सीमाओं के होते हुये भी यह मानना पड़ेगा कि मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों को नापने का इससे बढ़कर कोई दूसरा साधन उपलब्ध नहीं है। तनिक सावधानी रखने पर इनके दोष काफी सीमा तक दूर हो सकते हैं।

QUESTIONS

1. Write a note on—Index Numbers.
   (Agra, B. A., 1958, 57, 55 Supp. and 55 ; B. Com., 1959 ; Raj., B. A., 1954 ; Jabalpur, B. A., 1958 ; Alld., B. A., 1955)
2. What are Index Numbers and how are they prepared ? Show how Index Numbers can be used to measure changes in the value of money ? (Agra, B. A., 1956 Supp.)

3. What are simple Index Numbers ? How are they constructed ? Give their uses. (Agra, B. A., 1954)
4. Explain the nature, construction and uses of Index Numbers of prices. (Agra, B. Com., 1957)
5. Explain the purpose and method of preparing Index Number. What is 'weighted index number' and why is it prepared ? (Agra, B. Com., 1956 Supp.)
6. Discuss the importance and purpose of weighting in constructing Index Numbers (सूचनांक या निर्देशांक) and indicate the practical difficulties in the way. (Raj., B. Com., 1958)
7. What is an Index Number (सूचनांक या निर्देशांक) ? Examine the difficulties experienced in measuring changes in the value of money with the help of Index Numbers. (Raj., B. Com , 1956)
8. What do you understand by Index Number ? How are they prepared ? Explain their uses in the study of economic problems. (Sagar, B. A., 1958)
9. देशनांक क्या है ? सामान्य देशनांक अनुगणन करने की विधि (Method of Constructing) समझाइये । (Alld., B. A., 1956)
10. What do you mean by the General Price Level ? How do you measure changes in it ? (Bihar, B. A., 1951)

अध्याय १२
बैंक और उसके कार्य
(Bank and its Functions)

BANK And ITS FUNCTIONS

बैंक की परिभाषा—

बैंक एक ऐसा शब्द है जिससे दैनिक जीवन में हम सभी परिचित हैं, परन्तु अन्य साधारण शब्दों की भाँति इसकी परिभाषा में भी अनेक कठिनाइयाँ हैं। इस शब्द की भी अर्थशास्त्र में बहुत सी परिभाषाएँ प्रचलित हैं। अँग्रेजी का बैंक शब्द जर्मन शब्द बैंक (Back) से बना है, जिसको इटेलियन भाषा में बैंको (Banco) कहा जाता है।

(१) ऑक्सफोर्ड शब्द-कोष के अनुसार :—"बैंक एक ऐसा कार्य-गृह है जो अपने ग्राहकों से प्राप्त अथवा उनकी ओर से धन का संरक्षण करता है। इसका मुख्य कार्य उनके द्वारा बैंक पर निकाले हुये आदेशों का शोधन करना होता है। इसके लाभ उस धन के उपयोग द्वारा उत्पन्न होते हैं जिसका बैंक के ग्राहक उपयोग नहीं करते हैं।"[1]

(२) सेयर्स (Sayers) के विचार में :—"बैंक वह संस्था है जिसके ऋणों को दूसरे व्यक्तियों के पारस्परिक भुगतान में विस्तृत मान्यता प्राप्त हो।"

(३) बैंक शब्द की परिभाषा सर्व प्रथम इङ्गलैंड के विनिमय बिल विधान सन् १८८२ में की गई थी, जो संशोधित रूप में इस प्रकार है—"बैंक शब्द में प्रत्येक ऐसे व्यक्ति, फर्म अथवा कम्पनी को सम्मिलित किया जाता है जिसके पास ऐसा व्यवसाय स्थान है जहाँ पर निक्षेप अथवा मुद्रा संग्रहण द्वारा साख खोली जाती है और जिसका भुगतान विकर्ष, धनादेश अथवा आदेश द्वारा होता है अथवा जहाँ स्कन्ध आदि की आड़ पर मुद्राएँ अथवा ऋण दिए जाते हैं।"[2]

(४) भारतीय बैंकिंग कम्पनीज एक्ट सन् १९४९ में बैंक की परिभाषा

---

1. 'An establishment for the custody of money received from or on behalf of its customers. Its essential duty is to pay their drafts on it ; its profits arise from the use of the money left unemployed by them.'—The Shorter Oxford English Dictionary.

2. "In a Bank, we include every person, firm or company having a place of business where credits are opened by deposits or collection of money or currency, subject to be paid or remitted on drafts, cheques or orders or money as advanced or loaned on stocks, etc."

नम्न प्रकार की गई है—"बैंकिंग कम्पनी वह कम्पनी है जो बैंकिंग का कार्य करती
बैंकिंग का अभिप्राय जनता से उधार देने के लिए अथवा विनियोग करने के
लए मुद्रा के निक्षेपों का स्वीकार करना है, जो माँग पर अथवा किसी अन्य प्रकार
नादेश, विकर्ष, आदेश आदि द्वारा शोधनीय होते हैं।"[1]

(५) इसी प्रकार टाउजिग का मत है—"बैंक विनियोगों तथा बचतों के
ंग्रह के आढ़तियों का काम करती हैं, वे विनिमय के माध्यम के एक भाग का निर्माण
करती हैं।"

(६) हार्ट के अनुसार :—"बैंकर वह व्यक्ति है जो अपने साधारण व्यवसाय
के अन्तर्गत लोगों का रुपया जमा करता है, जिसे वह उन व्यक्तियों के धनादेशों का
भुगतान करके चुकाता है जिन्होंने यह रुपया जमा किया है, अथवा जिनके खाते में यह
रुपया जमा किया गया है।"[2]

(७) किनले ने बैंक की परिभाषा इस प्रकार की है :—"बैंक एक ऐसी
संस्था है जो ऋण की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुये ऐसे व्यक्तियों को रुपया उधार
देती है जिन्हें उसकी आवश्यकता है और जिसके पास व्यक्तियों द्वारा अपना फालतू
रुपया जमा किया जाता है।"[3]

(८) सबसे विस्तृत परिभाषा जोन पेजेट ने की है। उनका विचार है
"कोई भी व्यक्ति अथवा संस्था तब तक बैंकर कहलाने का अधिकारी नहीं है जब तक
कि वह :—(१) निक्षेप खाते स्वीकार नहीं करता है, (२) चालू खाते में रुपया जमा
नहीं करता है (३) धनादेशों की निकासी और अपने ऊपर लिखे हुये धनादेशों का
भुगतान नहीं करता है, (४) अपने ग्राहकों की ओर से रेखाँकित (Crossed) और
बिना रेखाँकित धनादेशों का रुपया एकत्रित नहीं करता है—और शायद यह कहना
अनुपयुक्त न होगा कि यदि किसी व्यक्ति अथवा संस्था द्वारा उपरोक्त सभी कार्य किए
जाते हैं तो उसका उस समय तक बैंकर होना आवश्यक नहीं है जब तक कि वह निम्न
शर्तें पूरी न करता हो :—(१) बैंकिंग उसका ज्ञात व्यवसाय हो, (२) जनता के
सम्मुख वह अपने बैंकर अथवा बैंक होने की घोषणा करे और जनता उसे इसी रूप में

1. "The accepting for the purpose of lending or investment of deposits of money from the public repayable on demand or otherwise and withdrawable by cheque, draft, order or otherwise."—*The Indian Banking Companies Act, 1949.*

2. "A banker is one who, in the ordinary course of his business, receives money which he repays by honouring cheques of persons from whom or on whose account he receives it."—*Hart*

3. "Bank is an establishment which makes to individuals such advances of money as may be required and safely made and to which individuals entrust money when not required by them for use." —*Kinlay*

समझती हो, (३) इस प्रकार के व्यवसाय से उसका धनोपार्जन का इरादा हो, (४) यह व्यवसाय उसका गौण व्यवसाय न हो, बल्कि मुख्य व्यवसाय हो।"[1]

(६) गाटियर नामक एक दूसरे अर्थशास्त्री ने बैंक की एक लम्बी-चौड़ी परिभाषा की है। उनके अनुसार :—"बैंक शब्द द्वारा ऐसा व्यवसाय सूचित होता है जिसमें दूसरों की ओर से जमा और भुगतान करना, सोने और चाँदी की मुद्रा, विनिमय विपत्र और विकर्ष (Drafts), सार्वजनिक प्रतिभूतियाँ और औद्योगिक उपक्रमों के अंशों—सारांश में—इस प्रकार की सभी देनों का बेचना और खरीदना सम्मिलित है जो राज्य, समाज अथवा व्यक्तियों द्वारा साख के उपयोग से पैदा होती हैं।"[2]

(१०) फिन्डले शिराज के अनुसार "बैंकर वह व्यक्ति, फर्म अथवा कम्पनी है जिसके पास कोई ऐसा व्यापार स्थान हो जहाँ मुद्रा अथवा चलन की जमा द्वारा साख का कार्य किया जाता है और जिसकी जमा का ड्राफ्ट, धनादेश अथवा आदेश द्वारा भुगतान किया जाता हो अथवा जहाँ स्टॉक्, बांड, धातु तथा विपत्रों पर मुद्रा उधार दी जाती हो अथवा जहाँ प्रतिज्ञा-पत्र बट्टे पर अथवा बेचने हेतु लिए जाते हों।"[3]

निष्कर्ष—

इसी प्रकार बैंक की और भी बहुत सी परिभाषाएँ दी गई हैं। सभी परिभाषाओं के देखने से पता चलता है कि इनमें परिभाषा के स्थान पर वर्णन को अधिक महत्त्व दिया गया है। प्रत्येक लेखक ने उन कार्यों अथवा उन व्यवसायों को गिन-

1. "No one and nobody, corporate and otherwise, can be a banker who does not:– (i) take deposit account, (ii) take current accounts, (iii) issue and pay cheques drawn upon himself, (iv) collect cheques crossed and uncrossed for his customers—and it might be said that even if all the above functions are performed by a person or body corporate, he or it may not be a banker or bank unless he or it fulfils the following conditions : (i) banking is his or its known occupation, (ii) he or it may profess to be a banker and the public takes him or it as such, (iii) has an intention of earning by doing so, (iv) this business is not subsidiary." —*John Paget*

2. "The word bank expresses the business which consists in effecting on account of others receipts and payments, buying and selling either money or gold and silver or letters of exchange and drafts, public securities and shares in industrial enterprises—in a word—all the obligations whose creation has resulted from the use of credit on the part of states and societies and individuals.'
—*Gautier*

3. "A banker is a person, firm or company having place of business where credits are opened by the deposit or collection of money or currency, subject to be paid or remitted upon draft, cheque, order or where money is advanced or loaned on stocks, bonds, bullion and B/E and P/N are received for discount and sale."
Findlay Shirras

वाने का प्रयत्न किया है जो एक बैंकर अथवा बैंक के लिए आवश्यक हैं। अधिकाँश परिभाषाओं में जटिलता भी है, जिसके कारण बैंक जैसी साधारण और सर्व-परिचित संस्था का समझना भी कठिन हो जाता है। तर्क के दृष्टिकोण से भी अधिकांश परिभाषायें दोषपूर्ण हैं। आवश्यकता इस बात की है कि बैंक की कोई ऐसी परिभाषा दी जाय जिससे उसे सरलता के साथ पहिचाना जा सके और साथ ही उसकी प्रमुख विशेषतायें भी स्पष्ट हो जायँ।

*बैंक की एक सरल परन्तु सही परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं :—"बैंक उस व्यक्ति अथवा संस्था को कहते हैं जो मुद्रा और साख में व्यवसाय करती है।"** इस परिभाषा में मुद्रा और साख के व्यवसाय का अर्थ समझ लेना आवश्यक है। जब हम यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति अमुक वस्तु में व्यवसाय करता है तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि वह व्यक्ति उस वस्तु को खरीदता और बेचता है, परन्तु क्या मुद्रा तथा साख को भी इस प्रकार खरीदा और बेचा जा सकता है? मुद्रा के बेचने अथवा खरीदने का अर्थशास्त्र में एक विशेष अर्थ होता है। मुद्रा के बेचने का अर्थ उसका ऋण देना होता है और इसी प्रकार मुद्रा को खरीदने का अभिप्राय उसके ऋण लेने से होता है। दोनों ही दशाओं में मुद्रा की कीमत ब्याज के रूप में चुकाई जाती है। इस प्रकार बैंक का कार्य ऋणों का लेना और उनका प्रदान करना होता है। परन्तु ऋण तो लगभग सभी व्यक्तियों द्वारा लिए-दिए जाते हैं तो फिर क्या सभी व्यक्ति बैंक हैं? वास्तव में बात ऐसी नहीं है। *बैंक की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता साख का क्रय-विक्रय करना होती है।* यह तो हम एक अगले अध्याय मे देखेंगे कि बैंक किस प्रकार साख का निर्माण करती है। यहाँ हमारा सम्बन्ध केवल इस महत्त्वपूर्ण सत्य से है कि बैंक अपने ग्राहकों की साख को खरीदती है और अपनी साख उन्हें बेच देती है। इसी कारण यह कहा जाता है कि बैंक का आवश्यक कार्य अपनी साख का अपने ग्राहकों की साख में हस्तान्तरण करना होता है। साख के व्यवसाय का यही अर्थ होता है।

यह कार्य इस कारण होता है कि बैंक द्वारा दिया गया प्रत्येक ऋण निक्षेपों को भी उत्पन्न करता है (Loans create deposits)। जब कोई बैंक ऋण देती है. तो अपनी साख उत्पन्न करती है, इन ऋणों द्वारा जिन निक्षेपों का निर्माण होता है वे ऋण लेने वालों अर्थात् बैंक के ग्राहकों की साख का निर्माण करती हैं। जब कोई निक्षेपधारी बैंक के ऊपर धनादेश लिखता है और जब धनादेश भुगतान के लिए बैंक को प्रस्तुत किया जाता है तो ग्राहक की साख को बैंक की साख म बदला जाता है और इसी प्रकार साख का हस्तान्तरण होता है।

बैंक और साधारण साहूकारों में भेद—

स्मरण रहे कि साख व्यवसाय बैंक का एक विशेष गुण है। सभी महाजन अथवा साहूकार मुद्रा में व्यवसाय करते हैं, क्योंकि वे ऋण लेते भी हैं और देते भी

* Bank is an institution dealing in money and credit.

हैं, परन्तु वे साख का क्रय-विक्रय नहीं कर सकते है। *साख का क्रय-विक्रय बैंक की ही विशेषता है।* इस प्रकार बैंक तथा साधारण साहूकारों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर होता है। हम यह तो कह सकते हैं कि *प्रत्येक बैंक साहूकार का काम करती है, परन्तु प्रत्येक साहूकार को बैंकर नहीं कहा जा सकता है।* बैंक की विशेषता जमा को स्वीकार करना है, जो उसकी कार्यवाहक पूँजी का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग होती है। साख में व्यवसाय करना बैंक की प्रमुख विशेषता होती है।

आधुनिक बैंकों के कार्य तथा सेवायें—

सामान्य रूप में एक आधुनिक बैंक के प्रमुख कार्यों को निम्न प्रकार बताया जा सकता है :—

(१) निक्षेपों को स्वीकार करना अथवा ऋण लेना (Acception of Deposits)—यह प्रत्येक आधुनिक बैंक का महत्त्वपूर्ण कार्य है। अपने अंशों की निकासी करके तथा विभिन्न प्रकार के निक्षेप स्वीकार करके बैंक व्यक्तियों तथा फर्मों के फालतू धन को अपने पास जमा करने का प्रयत्न करती है। *व्यवसायिक क्षेत्र में एक बैंक का मान साधारणतया इसी बात पर निर्भर होता है कि उसकी ऋण अथवा निक्षेप प्राप्त करने की शक्ति कितनी है।* अंशों की बिक्री तथा निक्षेपों की स्वीकृति के अतिरिक्त बैंक विनिमय बिल भुना कर, बैंक नोट निकाल, कर बाँड निकाल कर, ऋण-पत्र तथा रोक प्रमाण-पत्र जारी करके भी धन प्राप्त करती हैं, परन्तु बैंकों के अधिकाँश ऋण निक्षेपों के ही रूप में होते हैं। भारत में ऐसे निक्षेप विशेषकर पाँच प्रकार के होते हैं—निश्चितकालीन निक्षेप, सेविंग बैंक निक्षेप, चालू निक्षेप, अनिश्चित-कालीन निक्षेप तथा गृह बचत खाता।

(क) निश्चितकालीन निक्षेप—ऐसे निक्षेपों का अभिप्राय उन निक्षेपों से होता है जिनका भुगतान केवल एक निश्चित अवधि के पश्चात् जो तीन मास से ५ वर्ष तक की होती है, हो सकता है, परन्तु अपने ग्राहकों की सुविधा के लिए कटौती काट कर बैंक ऐसे निक्षेपों को समय से पहले निकाल लेने की भी आज्ञा दे देती है। ऐसे निक्षेपों के लिए बैंक द्वारा रसीद दी जाती है, जो विनिमय साध्य (Negotiable) नहीं होती है, अर्थात् जिसे किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा नहीं भुनाया जा सकता है। ऐसे निक्षेपों पर ब्याज की दर साधारणतया ऊँची होती है, क्योंकि बैंक को एक निश्चित अवधि तक उनके निकाले जाने की चिन्ता नहीं होती है।

(ख) सेविंग बैंक निक्षेप—यह जमा साधारणतया उन व्यक्तियों के लिए उपयुक्त होती है जो कभी-कभी पैसा जमा करना चाहते हैं और वह भी छोटी-छोटी मात्राओं में। निक्षेपदाता जमा तो कभी भी कर सकता है, परन्तु उसे एक सप्ताह में केवल एक या दो बार रुपया निकालने का अधिकार होता है। ऐसे निक्षेपों के लिये जमा करने वाले को 'पास बुक' (Pass Book) दी जाती है, जो उस पर अथवा

धनादेश द्वारा रुपया निकाल सकता है। ऐसी जमा पर निश्चितकालीन जमा की अपेक्षा कम ब्याज दिया जाता है।

(ग) चालू निक्षेप—ऐसी जमा की विशेषता यह होती है कि जमा करने वाला अपनी इच्छानुसार कभी भी अपने खाते में रुपया जमा कर सकता है, अथवा उसमें से रुपया निकाल सकता है। रुपया चैक द्वारा निकाला जा सकता है। ऐसी जमा पर अच्छी बैंक साधारणतया कुछ भी ब्याज नहीं देती हैं, बल्कि बहुत बार तो उल्टा प्रबन्ध का व्यय ग्राहक से वसूल किया जाता है, परन्तु कभी-कभी बहुत कम दर पर ब्याज भी दिया जाता है। ऐसी दशा में बैंक बहुधा यह अनुरोध करती है कि जमा की मात्रा एक निश्चित राशि से नीचे न गिरने पाये। जमा के इस राशि से कम हो जाने की दशा में अन्तर पर ब्याज लिया जाता है।

(घ) अनिश्चितकालीन निक्षेप—यह जमा बहुत लोकप्रिय नहीं है और बैंक के व्यवसायिक जीवन में इसका महत्त्व कम ही रहता है। इसके अन्तर्गत जो रुपया जमा किया जाता है वह कुछ विशेष दशाओं को छोड़कर कभी भी निकाला नहीं जा सकता है, केवल उसके ब्याज की राशि को ही निकालना सम्भव होता है। इस जमा पर ब्याज की दर सबसे ऊँची होती है, क्योंकि बैंक जमा की गई राशि का दीर्घकालीन तथा स्थायी विनियोग कर सकती है।

(ङ) गृह बचत खाता (Home Saving Account)—इसका चलन थोड़े ही काल से लोकप्रिय हुआ है। इसके अनुसार बैंक जमा करने वाले के घर पर एक गुल्लक (Safe) रख देती है, जिसमें वह समय-समय पर अपनी छोटी-छोटी बचत को डालता है। समय-समय पर सेफ को बैंक में ले जाया जाता है, जो उसे खोलती है और एकत्रित राशि को जमा करने वाले के खाते में जमा कर देती है। यह बचत को प्रोत्साहन देने की एक अच्छी विधि है। ऐसी जमा पर ब्याज नाम-मात्र ही होती है।

✓(२) ऋणों का प्रदान करना—बैंक का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य ऋणों अथवा अग्रिमों (Advances) का देना है। *साधारणतया बैङ्क नकद ऋण नहीं देती है।* बैंक ऋणी को एक निश्चित सीमा तक चैक द्वारा बैंक से धन निकालने का अधिकार दे देती है। ऋणों से ही बैंक को अपनी आय अथवा लाभ का अधिकांश भाग प्राप्त होता है। एक बैंक की योग्यता भी साधारणतया इसी बात पर निर्भर होती है कि वह अपने ऋण व्यवसायों को किस प्रकार चलाती है। ऋणों के सम्बन्ध में गलत नीति अपनाना बैंक के लिये घातक हो सकता है और ऐसी दशा में बैंक के फेल होने का भय रहता है। *भारतीय बैङ्क कभी तो स्पष्ट अग्रिम (Clean advdances) प्रदान करती हैं, जो व्यक्तिक प्रतिभूति (Personal Securities) पर दिये जाते हैं, परन्तु अधिकतर ऋण उपयुक्त तथा बिक्री-साध्य प्रतिभूतियों पर दिये जाते हैं।* भारतीय बैंकों के ऋण साधारणतया निम्न चार रूपों में होते हैं—

(अ) नकद साख (Cash Credit)—यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें बैंक अपने ग्राहक को बांड अथवा अन्य प्रतिभूतियों के आधार पर एक निश्चित मात्रा तक ऋण लेने का अधिकार देती है। भारतीय व्यवसायी ऋण लेने की इस प्रणाली को अधिक पसन्द करते हैं, क्योंकि इसमें ऋण की सारी राशि को एक दम निकाल लेने की आवश्यकता नहीं होती है। आवश्यकतानुसार समय-समय पर ऋण लेने वाला आवश्यक राशि निकालता रहता है। इस व्यवस्था में साधारणतया एक निश्चित समय के लिए बैंक ग्राहक की ऋण सम्बन्धी आवश्यकता का अनुमान लगा कर उसको पूरा करने के लिए आवश्यक धन रखती है, इसलिये बैंक को उस राशि पर ब्याज की हानि होती है जो ग्राहक द्वारा नहीं निकाली जाती है। इस हानि से बचने के लिये बैंक बहुधा बिना खर्च की हुई राशि पर भी ग्राहक से पूरी या आधी दर पर ब्याज लेती है।

(ब) अधि-विकर्ष (Over-draft)—यह सुविधा बैंक द्वारा अपने निक्षेप-दाताओं को अल्पकालीन अग्रिम के रूप में दी जाती है। चालू खाते में ग्राहक का जितना रुपया जमा है उससे भी कुछ अधिक राशि निकालने का अधिकार ग्राहक को दे दिया जाता है, यद्यपि इसके लिये उचित प्रतिभूति ली जाती है। ग्राहक समय-समय पर आवश्यकता के अनुसार इस अधि-विकर्ष सुविधा का लाभ उठाता रहता है और उसे एक ही बार सारा ऋण निकाल लेने की आवश्यकता नहीं होती है। नकद साख और अधि-विकर्ष अग्रिमों में केवल इतना अन्तर होता है कि अधि-विकर्ष सुविधा अल्प-कालीन होती है, जो केवल रुपया जमा करने वालों को ही दी जाती है, परन्तु नकद साख प्रणाली का बहुत विस्तृत उपयोग होता है और बैंक का कोई भी ग्राहक इसका लाभ उठा सकता है।

(स) ऋण—यदि बैंक एक मुश्त रुपया उधार देती है, जिसे पूर्ण रूप में चुकाये बिना ऋण का अन्त नहीं होता और पूरा चुकाने पर ऋण का पूर्णतया अन्त हो जाता है तो उसे ऋण कहा जाता है। स्मरण रहे कि ऋण कभी भी चालू नहीं रहता है। यदि ऋणी उसके एक भाग को चुका कर फिर से उधार लेना चाहता है तो यह तब तक सम्भव नहीं होगा जब तक कि बैंक एक दूसरा ऋण देना स्वीकार न कर ले। ऐसे ऋणों पर बैंक के लिए ब्याज की हानि उठाने का प्रश्न ही नहीं उठता है, इसलिए साधारणतया ऋणों पर अग्रिमों की अपेक्षा ब्याज की दर कम रहती है। इसके अतिरिक्त बैंक के लिए ऋण खातों का सञ्चालन व्यय भी कम हो जाता है।

(द) विनिमय बिलों का भुनाना—बैंक द्वारा ऋण तथा अग्रिम प्रदान करने की यह भी एक महत्त्वपूर्ण विधि है। बैंक विनिमय बिलों को भुना कर ऋण दे सकती है। ऐसे ऋण अल्पकालीन होते हैं और समुचित प्रतिभूतियों पर दिए जाते हैं। ऐसे ऋण भी स्पष्ट (Clean) अथवा पुस्तकीय ऋण (Book Credit) हो सकते

हैं। स्पष्ट ऋण आहर्त्ता (Drawer) और आहार्यी (Drawee) के हस्ताक्षरों पर ही दे दिये जाते हैं, परन्तु पुस्तकीय अग्रिमों के लिए वस्तुओं की उपस्थिति के किसी प्रमाण-पत्र की प्रतिभूति आवश्यक होती है। विनिमय बिल की परिपक्वता अवधि से पूर्व ही यदि उसकी राशि की आवश्यकता पड़ती है तो उसे बैंक से भुनाया जा सकता है, जिस दशा में बैंक शेष अवधि का ब्याज काट लेती है और परिपक्वता पर बिल की राशि वसूल कर लेती है। यह बैंक का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण व्यवसाय है, जो व्यापारियों को भारी सुविधा देता है और साथ ही बैंक के आदेयों को भी तरल रखता है।

(३) अभिकर्त्ता सम्बन्धी सेवाएँ—अपने ग्राहकों के अभिकर्त्ता (Agent) के रूप में बैंक ग्राहकों के लिए विभिन्न प्रकार की सेवाएँ सम्पन्न करती है। इसमें से मुख्य-मुख्य निम्न प्रकार हैं :—

(क) साख-पत्रों के भुगतान का संग्रह—ग्राहकों की ओर से धनादेशों, विनिमय बिलों, प्रतिज्ञा-पत्रों आदि का भुगतान एकत्रित करना।

(ख) ग्राहकों की ओर से भुगतान—ग्राहकों के सभी प्रकार के भुगतान सम्बन्धी आदेशों को पूरा करना, जैसे—उनकी ओर से ऋणों की किश्तें, ब्याज, चन्दे, बीमे की किश्तें, कर आदि चुकाना। इनके लिए बैंक साधारण सा कमीशन लेती है।

(ग) ग्राहकों की ओर से भुगतान संग्रह करना—ग्राहक की ओर से उसके आदेशानुसार विभिन्न प्रकार के भुगतानों को प्राप्त करना, जैसे—लाभांश, ऋण की राशि, ब्याज आदि एकत्रित करना। ये कार्य बैंक कमीशन के आधार पर करती है।

(घ) ग्राहकों की ओर से उनके आदेशानुसार प्रतिभूतियों का खरीदना और बेचना—इस कार्य के लिए बैंक ग्राहक से कमीशन नहीं लेती है, बल्कि सट्टे के दलालों से दलाली कमीशन का एक हिस्सा प्राप्त करती है। इससे ग्राहकों को लाभ रहता है।

(ङ) एक शाखा से दूसरी शाखा तथा एक स्थान से दूसरे स्थान को कोषों का हस्तान्तरण करना—इस सम्बन्ध मे ग्राहकों को यह सुविधा दे दी जाती है कि वे एक शाखा या स्थान में रुपया जमा करके दूसरी शाखा अथवा स्थान पर भुगतान ले सकें।

(च) अपने ग्राहकों के अभिकर्त्ता अथवा प्रतिनिधि के रूप में अन्य प्रकार के कार्य करना।

(छ) ग्राहकों की ओर से रिक्थ-पत्रों (Wills), ट्रस्ट अथवा आदेशित संस्थाओं का प्रबन्ध और वित्तीय आयोजन करना।

(४) बैंक नोटों का निकालना - यह भी बैंक का एक महत्त्वपूर्ण कार्य रहा है। भूतकाल में यह अधिकार सभी बैंकों को प्राप्त था, परन्तु आजकल नोट-निर्गम

का एकाधिकार केवल देश की केन्द्रीय बैंक के ही हाथ में होता है। भारत में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के निकाले हुए नोट चालू हैं और विधि-ग्राह्य मुद्रा हैं।

(५) अन्य उपयोगी सेवाएँ - एक आधुनिक बैंक को व्यवसायी वर्ग के लिए और भी बहुत सी उपयोगी सेवाएँ सम्पन्न करनी पड़ती हैं, जिनका वर्णन निम्न प्रकार है :—

(अ) बहुमूल्य धातुओं, जैसे—हीरे जवाहरात, प्रतिभूति, आवश्यक पत्र, इत्यादि का सुरक्षित संरक्षण—इस कार्य के लिए बैङ्क के पास सुरक्षित कमरे तथा विशेष प्रकार की मजबूत अलमारियाँ होती हैं, जिनमें बहुमूल्य वस्तुएँ जमा कर दी जाती हैं और इन अलमारियों की चाबी जमा करने वाले को दे दी जाती हैं। बैङ्क इन वस्तुओं के सुरक्षित संरक्षण का उत्तरदायित्व लेती है। इस कार्य के लिए बैंक एक विशेष कमीशन अथवा पारितोषण लेती है, परन्तु जमा करने वाले के दृष्टिकोण से बैङ्क की यह सेवा काफी लाभदायक होती है।

(ब) साख प्रमाण पत्रों (Letters of Credit) का प्रदान करना—इससे ग्राहकों को दूसरे स्थानों तथा विदेशों से माल खरीदने में सुविधा रहती है। इन पत्रों के आधार पर पत्रधारी की साख बनती है। अज्ञात व्यापारी तथा व्यवसायी भी इसकी साख से परिचित हो जाते हैं और साधारणतया उधार माल देने में संकोच नहीं करते हैं, विशेषकर यदि प्रमाण-पत्र किसी अच्छी बैङ्क ने दिया है।

(स) ग्राहक की ओर से विनिमय बिल को स्वीकार करना—इससे काफी लाभ होता है, क्योंकि बिल पर बैंक का नाम देख कर ऋण-दाता अथवा माल का विक्रेता ग्राहक की साख पर सरलतापूर्वक विश्वास कर लेता है। इस प्रकार विनिमय बिल पर बैंक के हस्ताक्षर हो जाने से दूसरों के द्वारा उसके स्वीकार हो जाने की सम्भावना बढ़ जाती है और ग्राहक को माल उधार मिलने में सुविधा रहती है।

(द) ग्राहकों को एक दूसरे की साख के सम्बन्ध में सही तथा विश्वसनीय सूचना देना—यह सूचना बैंक बड़ी सावधानी के साथ एकत्रित करती है, परन्तु इसके द्वारा बैंक के ग्राहक को यह पता चल जाता है कि जिस व्यक्ति के साथ वह व्यवसाय करना चाहता है उसकी साख कैसी है।

(य) व्यापार तथा व्यवसाय सम्बन्धी सूचनाओं और आँकड़ों का इकट्ठा करना—यह सेवा बड़ी-बड़ी बैंकों द्वारा प्रतिपादित की जाती है और इस प्रकार की सूचना पूछने पर ग्राहक को दे दी जाती है, अथवा

(५) सरकार तथा व्यापार प्रमण्डलों के ऋणों का अभिगोपन (Underwriting)—इससे इन ऋणों के प्राप्त होने में सुविधा होती है, क्योंकि ऋण-पत्रों पर बैंक के हस्ताक्षर हो जाने के कारण विश्वास उत्पन्न हो जाता है।

(६) विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय—बैंक विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय द्वारा विदेशी व्यापार को भारी सहायता देती है। वैसे तो साधारणतया यह कार्य एक विशेष प्रकार की बैंकों अर्थात् विदेशी विनिमय बैंकों द्वारा किया जाता है, परन्तु भारत में कुछ व्यापार बैंक भी दूसरे कार्यों के साथ-साथ विभिन्न देशों की मुद्राओं में व्यवसाय करती हैं। विदेशी विनिमय व्यवसाय का अर्थ एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा में बदलना होता है।

(७) आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध—यह भी बैंक का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। यह कार्य साधारणतया विनिमय बिलों को खरीद कर किया जाता है। हुण्डियों और विदेशी विनिमय बिलों की आड़ पर भारतीय बैंक अल्पकालीन अग्रिम देती रहती हैं। यदि किसी व्यापारी के पास ऐसा विनिमय बिल है जिसकी परिपक्वता का समय दो महीने पीछे आयगा, परन्तु व्यापारी को तुरन्त धन की आवश्यकता होती है तो यह व्यापारी इस बिल को बैंक से भुना सकता है। बाजार दर पर दो महीने का ब्याज काट कर बिल का शेष रुपया बैंक बिल भुनाने वाले को दे देती है और परिपक्वता का समय आ जाने पर बिल की राशि का भुगतान लिखने वाले से प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार बिल को भुनाने का यह परिणाम होता है कि एक ओर तो व्यापारियों को आवश्यकता के समय धन मिल जाता है और दूसरी ओर बैंक के लिए लाभ कमाना सम्भव हो जाता है।

निष्कर्ष—

ऊपर बैंक की सेवाओं का जो संक्षिप्त वर्णन किया गया है उससे आधुनिक बैंक के महत्त्व का सही अनुमान नहीं लगता है। वास्तविकता यह है कि व्यापार और व्यवसाय सम्बन्धी लगभग कोई भी कार्य ऐसा नहीं होता है जो एक आधुनिक बैंक अपने ग्राहकों के लिए सम्पन्न नहीं करती हैं। बैंक का कार्य सलाह देने से आरम्भ होकर अभिकर्त्ता, मित्र, प्रामाणिक अधिकारी तथा ऋण-दाता तक फैला रहता है। यही कारण है कि आधुनिक युग में बैंकिंग का समुचित विकास आर्थिक उन्नति की प्रथम आवश्यकता समझा जाता है, क्योंकि देश की आर्थिक सम्पन्नता की नींव बैंकिंग के समुचित विकास पर ही रखी जा सकती है।

बैंकिंग का आरम्भिक इतिहास—

संसार में बैंकिंग प्रणाली काफी पुरानी है। ऐतिहासिक खोज से पता चलता है कि अब से लगभग २,००० वर्ष पूर्व भी बैंकिंग का व्यवसाय होता था। बेबीलोन, भारत, यूनान और रोम चारों ही देशों में प्राचीन काल में बैंकिंग के विकास के प्रमाण

मिलते हैं। बैंकिंग प्रथा के आरम्भ के विषय में ऐसा कहा जाता है कि सबसे पहले यह कार्य सराफों और सुनारों ने आरम्भ किया था। जिन लोगों के पास फालतू धन होता था वे इस धन को अपने पास न रखकर सराफों अथवा सुनारों के पास जमा कर देते थे, क्योंकि इससे रुपया सुरक्षित रहता था और कुछ दशाओं में ब्याज के रूप में भी कुछ मिल जाता था। ये सराफ साधारणतया एक राज्य अथवा स्थान की मुद्रा को दूसरे राज्य अथवा स्थान की मुद्रा में बदलने का काम करते थे। जमा किये हुए रुपये के लिए ये जमा करने वालों को जमा की रसीद देते थे, क्योंकि इनका कार्य सन्देह से परे होता था और ऊँची साख होने के कारण जनसाधारण का इन पर विश्वास होता था, इसलिए ये रसीदें भी विनिमय साध्य (Negotiable) होती थीं और बहुत बार ऋणों को चुकाने के लिए धन के स्थान पर उपयोग की जाती थीं। धीरे-धीरे यह प्रथा बढ़ती गई और जमा की रसीदें आधुनिक बैंक-नोटों की भाँति चलने लगीं। जमा स्वीकार करने वाले साहूकारों ने भी अनुभव द्वारा यह जान लिया कि एक निश्चित काल में कुल जमा का केवल एक भाग ही जमा करने वालों द्वारा निकाला जाता था और शेष उनके पास ऐसे ही पड़ा रहता था, अतएव इन्होंने फालतू पड़े हुए जमाधन को ब्याज पर उठाना आरम्भ कर दिया।

इस कार्य में सराफों को भी लाभ होने लगा और उन्होंने जमाधन अधिक मात्रा में एकत्रित करने का प्रयत्न किया। इसके लिए उन्होंने जमा राशि पर ब्याज देकर और अधिक जमा आकर्षित करना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार ब्याज पर रुपया जमा करना और ब्याज पर रुपया उधार देना, इनका मुख्य व्यवसाय हो गया। साधारणतया जमाधन पर नीची दर पर ब्याज दिया जाता था, जिसका प्रमुख कारण सराफ की ऊँची साख थी। इसके विपरीत ऋणों पर ऊँचा ब्याज लिया जाता था। ब्याज की दर के इस अन्तर के कारण सराफ को लाभ होता था। कालान्तर में धीरे-धीरे इन सराफों ने और भी बहुत से सम्बन्धित कार्य आरम्भ कर दिये। चैक की प्रथा के विकास के पश्चात् तो इन कार्यों की संख्या में काफी वृद्धि हो गई। स्मरण रहे कि ये प्राचीन साहूकार वास्तविक अर्थ में बैंकर न थे, क्योंकि वे केवल रुपया उधार देते थे और ब्याज खाने वाले महाजन थे।

सबसे पहले बैंकिंग प्रणाली ने बेबीलोन में उन्नति की। वहाँ साहूकारों के अतिरिक्त जन-साधारण भी रुपये के लेन-देन का व्यवसाय करता था। बेबीलोन की अति प्राचीन इजिबी बैंक (Igibi Bank) कुछ दिशानों में उतनी ही विकसित थी जितनी कि १९ वीं शताब्दी की आधुनिक बैंक। बेबीलोन से यह प्रथा यूनान में पहुँची और यूनान से रोम में। तत्पश्चात् बैंकिंग की सबसे अधिक उन्नति इटली में हुई। यूरोप के सभी देशों में इसकी उन्नति का श्रेय यहूदी जाति के लोगों को है। इटली में इसके विकास के प्रमुख केन्द्र वेनिस, मिलन और जेनोआ रहे हैं। इटली के लम्बर्ड व्यापारियों ने अधिकोषण के विकास में विशेष ख्याति प्राप्त की और उनमें से कुछ ने इङ्गलैंड जाकर लन्दन नगर में इस व्यवसाय को आरम्भ किया। अब से २,१५०

वर्ष पूर्व की राज्याज्ञा का इटली में प्रमाण मिलता है, जिसके अनुसार बैंकों को यह आदेश दिया गया था कि उन्हें अपने कार्यालय स्थापित करने और कार्य-प्रणाली के निर्माण में कौन सी बातों को ध्यान में रखना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि उस काल में भी रोम का बैंकिंग व्यवसाय काफी विकसित अवस्था में था।

तत्पश्चात् कई शताब्दियों तक बैंकिंग के विकास में शिथिलता दृष्टिगोचर होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि *मध्य-युग (Middle Ages) की अराजकता और निरन्तर युद्धों के कारण साहूकारों का व्यवसाय पनपने नहीं पाता था। धार्मिक और सामाजिक विचारधारा भी ब्याज लेने के विरुद्ध थी।* प्रसिद्ध यूनानी विद्वान अरस्तु के अनुसार रुपया रुपये को जन्म नहीं दे सकता। पूँजी स्वभाव से ही बाँझ (Sterile) है। इस कारण ब्याज का लेना अनुचित है। ब्याज लेने का अर्थ यह होता है कि किसी निर्धन अथवा आवश्यकताग्रस्त भाई की दीन अवस्था से अनुचित लाभ उठाया जाय। इसी प्रकार लगभग सभी धर्मों में ब्याजखोरी को निन्दनीय बताया गया है। यहूदियों के अतिरिक्त सभी लोग धन को उधार पर चलाना अस्वाभाविक तथा अनैतिक (Immoral) समझते थे। यहूदियों के लिए तो ब्याज लेने के विरुद्ध कोई धार्मिक दबाव न था। यही कारण है कि बैंकिंग क्षेत्र में यहूदियों का ही सबसे अगला हाथ रहा है।

धीरे-धीरे विचारधारा फिर बदली और ब्याज लेने की वाँछनीयता स्वीकार की जाने लगी। इस परिवर्तन का प्रमुख कारण यह था कि धीरे-धीरे ऐसे ऋणों की मात्रा बढ़ती जा रही थी जो उत्पादक थे, अर्थात् जिनका उपयोग करके ऋणी आय प्राप्त करता था। इस प्रकार प्राप्त आय में से ऋण-दाता द्वारा एक हिस्सा लेना अनुचित नहीं हो सकता था। कालान्तर में बड़े-बड़े व्यापार गृहों और बैंकिंग गृहों की स्थापना हुई। ये व्यापारी गृह जनसाधारण से जमा स्वीकार करते थे और अपने ऋण दूकानदारों, साहूकारों तथा कुछ दशाओं में राजाओं तक को देते थे। *राजाओं को ऋण देना एक महत्त्वपूर्ण तथा लाभदायक धन्धा था, परन्तु इसके कारण अनेक व्यापार गृहों को अपना व्यवसाय बन्द करने पर बाध्य होना पड़ा।* राजा द्वारा ऋण चुकाने से इन्कार करने का अर्थ केवल यही नहीं होता था कि उधार की राशि मारी जाय। वास्तविकता यह है कि ऐसी दशा में सारे व्यवसाय को बन्द कर देना पड़ता था। परिणाम यह हुआ कि १७ वीं शताब्दी तक ये व्यापार-गृह समाप्त हो गये, जिसके कारण बैंकिंग के विकास में भारी शिथिलता आई।

तुरन्त ही *१७ वीं शताब्दी में एक नये युग का आरम्भ हुआ।* इस काल में यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति हुई थी और अनेक नये-नये देशों तथा उपनिवेशों की खोज की गई थी। जलयान यातायात का भारी विकास हुआ और यूरोप के व्यापार का भारी विस्तार हुआ। इसके अतिरिक्त नई-नई व्यापार कम्पनियों की वित्तीय व्यवस्था तथा उपनिवेशों के विकास के लिए भी धन की भारी आवश्यकता पड़ी थी। वैसे भी यूरोप के विभिन्न देशों के बीच काफी प्रतियोगिता थी और प्रत्येक दूसरों से आगे बढ़

कर व्यापार और वाणिज्य के अधिक विस्तृत अधिकार प्राप्त करना चाहता था। ऐसे काल में बैंकिंग का विकास भी स्वाभाविक ही था, अतः *इस क्षेत्र में भी भारी उन्नति हुई।*

किंचित यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि *आधुनिक प्रकार की सबसे पहली बैंक सन् १४०१ में स्पेन देश के बारसिलोना नगर में स्थापित हुई।* तत्पश्चात् सन् १६०७ में हॉलैंड में बैंक ऑफ एमस्टरडम और सन् १६१६ में बैंक ऑफ हेम्बर्ग जर्मनी में स्थापित हुई। यह क्रम बराबर चलता रहा और स्वीडन तथा अन्य योरोपीय देशों में बैंक खोली गईं। इस काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना *सन् १६९४ में बैंक ऑफ इङ्गलैण्ड की स्थापना थी।* इसके पश्चात् चैक प्रथा आरम्भ हुई और सम्मिलित-पूँजी बैंकों का अधिक विकास हुआ।

भारत में आधुनिक बैंकिंग का विकास—

वैसे तो भारत में बैंकिंग का विकास बहुत ही प्राचीन काल में हो चुका था, परन्तु देश में आधुनिक बैंकिंग का विकास बहुत पुराना नहीं है। इसके आरम्भ का श्रेय यूरोप के लोगों को है। १८ वीं शताब्दी में अंग्रेजों ने कलकत्ता और बम्बई में *अभिकर्त्ता-गृह (Agency Houses)* खोले थे, जो इङ्गलैंड के व्यापारियों की ओर से भारत में उनके व्यवसाय की देख-भाल करते थे। इस कार्य के अतिरिक्त ये गृह बैंकिंग का कार्य भी करते थे। *बैंकिंग की दिशा में इनका प्रमुख कार्य अपनी ओर से बैंक-नोट निकालना था।* १९ वीं शताब्दी के मध्यकाल में इन गृहों पर आर्थिक संकट आया और ये एक-एक करके ठप्प होने लगे। यद्यपि ये गृह कुछ बैंकिङ्ग सम्बन्धी कार्य करते थे, परन्तु सच्चे अर्थ में इन्हें बैङ्क नहीं कहा जा सकता था। *उनके ठप्प हो जाने के पश्चात् वास्तविक अर्थ में देश में बैङ्किंग का विकास आरम्भ हुआ। इस कार्य का श्रीगणेश प्रेसीडेन्सी बैङ्कों की स्थापना से हुआ।* सर्व प्रथम सन् १८०६ में बैङ्क ऑफ बङ्गाल स्थापित किया गया। ४० वर्ष पश्चात् सन् १८४६ में बैंक ऑफ बॉम्बे खुला और उसके तीन वर्ष पीछे सन् १८४९ में बैंक ऑफ मद्रास। आरम्भ में इन बैंकों को सरकार की ओर से नोटों की निकासी का अधिकार दिया गया था, परन्तु एक बैंक के नोट एक निश्चित क्षेत्र में ही विधि-ग्राह्य होते थे। सन् १८६२ में नोट निर्गम का अधिकार छीन लिया गया, क्योंकि सरकार ने ऐसा अनुभव किया था कि उस समय तक भारतवासी बैङ्क प्रणाली से भली-भाँति परिचित हो चुके थे। *धीरे-धीरे भारत में अब सम्मिलित पूँजी बैंकों का खुलना आरम्भ हो गया था।* सम्मिलित पूँजी बैङ्कों में से सर्वप्रथम सन् १८८१ में 'अवध कॉमर्शियल बैंक' स्थापित हुई, जो एक भारतीय बैंक थी। इसी काल में विदेशी पूँजी की सहायता से 'इलाहाबाद बैंक' तथा 'एलायंस बैंक ऑफ शिमला' भी खुलीं। १९ वीं शताब्दी की एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बैंक सन् १८९४ में स्थापित 'पंजाब नेशल बैंक' भी थी।

२० वीं शताब्दी का आरम्भ होते ही बैंकों की संख्या बहुत तेजी के साथ बढ़ने लगी। सन् १९०१ में ही 'दी पीपल्स बैंक ऑफ इण्डिया' खुल गई और तत्प-

श्चात सन् १९१३ तक एक के बाद दूसरी बैंक बराबर खुलती गई। बैंक इतनी तेजी के साथ खुलती गईं कि बैंकिंग का विकास आरोग्य न रह सका। सन् १९०६–०७ के आर्थिक संकट के काल में बहुत सी बैंक फेल हो गईं, परन्तु संख्या की वृद्धि की गति रुक न सकी। विकास इतना अधिक परन्तु इतना कमजोर हुआ था कि भारतीय बैंङ्किग प्रणाली प्रथम महायुद्ध की चोट न सह सकी। *अधिकाँश बैङ्कों के पास पूँजी की कमी थी और वे अपने कार्यवाहन में भी समुचित नियमों का पालन नहीं करती थीं। अधिकाँश बैङ्क धन के लिए जमाधन पर ही निर्भर रहती थीं और परस्पर एक दूसरी से होड़ करती थीं।* ऋण लम्बे काल के लिए दे दिये जाते थे, जिसके कारण आदेयों की तरलता नहीं रहती थी। इस कारण आदेयों का मूल्य अधिक रहते हुए भी कुछ बैंक अपनी देन को चुकाने में असमर्थ रहने के कारण फेल हो जाती थीं। वैसे भी बैंकों का संचालन साधारणतया अनुभवहीन और स्वार्थी संचालकों (Directors) के हाथ में होता था। यही कारण है कि देश में अधिकाँश ऐसी बैङ्किग संस्थाएँ स्थापित हुईं जिनकी कमर पहले से ही बलहीन थी और जो थोड़ी सी भी चोट न सह सकीं। आर्थिक संकट की एक ही झपट में वे टूट गईं।

सन् १९१३ में ही 'पीपल्स बैंक ऑफ इण्डिया' फेल हो गई थी और उसके पश्चात् *बैङ्कों के फेल होने की एक लहर सी देश भर में फैल गई।* ऐसा अनुमान लगाया गया है कि सन् १९१३ और सन् १९१७ के बीच में ही ८७ बैङ्क फेल हो गई थीं और प्रथम महायुद्ध के समाप्त हो जाने पर भी संकट का अन्त न हो सका था। केन्द्रीय बैंकिग जाँच समिति ने पता लगाया है कि अन्य कारणों के अतिरिक्त देश में केन्द्रीय बैंक के न होने के कारण भी बैंक अधिक संख्या में फेल होती गई थीं। युद्धोत्तर काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना सन् १९२० का इम्पीरियल बैङ्क ऑफ इण्डिया एक्ट था, जिसके अनुसार सन् १९२१ में तीनों प्रेसीडेन्सी बैङ्कों को मिला कर इम्पीरियल बैङ्क ऑफ इण्डिया स्थापित किया गया था। इस बैंक को आंशिक रूप में केन्द्रीय बैङ्क सम्बन्धी कुछ अधिकार भी दिये गये थे।

प्रथम महायुद्ध के अन्तिम वर्षों में देश के वाणिज्य और व्यवसाय की दशा कुछ अंश तक सुधर गई थी, क्योंकि व्यापारियों और उद्योगपतियों को खूब लाभ हुआ था। परिणामस्वरूप बैङ्कों के जमाधन में पर्याप्त वृद्धि हुई थी। युद्धोत्तर काल में देश की बैङ्किग प्रणाली एक बार फिर से संगठित की गई। बैङ्कों के खुलने की फिर से बाढ़ सी आने लगी। इस काल की प्रमुख विशेषता यह थी कि औद्योगिक वित्त का आयोजन करने और औद्योगिक बैङ्क खोलने पर विशेष ध्यान दिया गया। इसके अतिरिक्त बड़ी-बड़ी बैंकों ने अपनी शाखाएँ खोल कर व्यवसाय बढ़ाने का प्रयत्न किया। नई बैंक भारी संख्या में खोली गईं। उन्नति का यह युग सन् १९३६ तक चलता रहा, यद्यपि सन् १९२९ के महान् अवसाद ने संकट की दशाएँ उत्पन्न कर दी थीं। सन् १९३१ में भारत सरकार ने बैङ्क प्रणाली के दोषों की जाँच करने और सुझाव देने के लिए केन्द्रीय बैङ्किग जाँच समिति नियुक्त की। इस समिति ने केन्द्रीय बैङ्क की स्थापना पर

ससे पूर्व सन् १६२६ में हिल्टन-यंग आयोग ने भी इसी प्रकार का सुझाव
ा। सन् १६३४ में भारत सरकार ने रिजर्व बैङ्क ऑफ इण्डिया एक्ट
ा और १ अप्रैल सन् १६३५ को रिजर्व बैङ्क ऑफ इण्डिया का, जो
बैङ्क है, उद्घाटन हुआ था, परन्तु थोड़े समय बाद ही सन् १६३६ का
ारम्भ हुआ और देश में सैकड़ों की संख्या में बैङ्क फेल हो गईं।

महायुद्ध के काल में देश की बैंकिंग प्रणाली पर बहुत तनाव पड़ा, परन्तु
इतनी अधिक थी और चलन के विस्तार के कारण जनता के पास क्रयः
गई थी कि बैंकों के जमाधन का भारी विस्तार हुआ था। युद्ध के
सेवाओं का विकास हुआ और साख-मुद्रा की अत्यधिक वृद्धि हुई।
ोने के पश्चात् सन् १६४७ में देश का विभाजन हुआ, जिसके कारण
गाल की बहुत सी बेंक फेल हो गईं। युद्धोत्तर काल की महत्त्वपूर्ण
६४८ में रिजर्व बैंक और सन् १६५५ में इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीय-
ा काल में भारतीय बैंकिंग कम्पनीज एक्ट सन् १६४६ भी पास हुआ है।

हत्त्व

ाधुनिक समाज के वित्त तथा साख संगठन का एक महत्त्वपूर्ण साधन
ार, वाणिज्य और व्यवसाय का धमनी केन्द्र (Nerve Centre) बैंक
ा युग में साख का महत्त्व सभी जानते हैं। साख का सृजन वर्तमान
तर बैंक द्वारा ही किया जाता है। वैसे भी, बैंक के कार्यों पर दृष्टि
सका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। बैंक अपनी साख को अपने ग्राहकों को
देती है। ऐसा कहा जाता है कि औद्योगिक विकास की कोई भी योजना
कास के सफल नहीं हो सकती है। ये समाज के फालतू धन को एकत्रित
और व्यवसाय की आवश्यकताओं को पूरा करती हैं। कालान्तर में
में निरन्तर वृद्धि ही हुई है। अभिकर्त्ता और प्रतिनिधि के रूप में बैंक
म्पन्न करती है। किसी भी देश का आन्तरिक और विदेशी व्यापार इसी
है। यही नहीं, बैंक एक अच्छे वाणिज्यिक और व्यवसायिक सलाहकार
रती है। बैंक के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार होते हैं :—

पूँजी की उत्पादकता में वृद्धि—बैंक समाज के उन व्यक्तियों तथा
मा करती है जिनके लिए वह अनावश्यक अथवा कम उपयोगी है और
को उन व्यक्तियों के पास हस्तान्तरित कर देती है जो इसका उत्पादक
अपना ही नहीं देश भर का भला करते हैं।

वित्तीय साधनों का संरक्षण—बैंक देश के वित्तीय साधनों का
है तथा उनका लाभदायक और हितकारी वितरण करती है। इसके
थक जीवन में सन्तुलन आता है और उसकी जड़ें दृढ़ हो जाती हैं।

कोषों के हस्तांतरण की सुविधा - बैंक कोषों के एक स्थान से

दूसरे स्थान को भेजने का सस्ता, सुरक्षित और सुविधाजनक साधन उपलब्ध करती हैं।

(४) भुगतान करने में सुविधा—बैंक चैकों (धनादेशों) के उपयोग को बढ़ाती है। यह बहुत सुविधा-जनक होता है, क्योंकि इसमें गिनने, जाँच करने तथा हस्तान्तरित करने की सरलता होती है। यह रीति सुरक्षित भी अधिक होती है। इसके अतिरिक्त चैक के भुगतान में यह प्रमाण भी प्राप्त हो जाता है कि धन अमुक व्यक्ति को दिया गया है।

(५) संरक्षण सेवाएँ—बैंक बहुमूल्य धातुओं और वस्तुओं का संरक्षण करके अपने ग्राहकों को काफी लाभ पहुँचाती है।

(६) साख मुद्रा के लाभ—साख-मुद्रा के अधिकांश लाभ बैंक की सेवाओं के ही परिणाम होते हैं।

(७) मुद्रा प्रणाली में लोच—बैंक देश की मुद्रा प्रणाली में लोच उत्पन्न कर देती है। साख-मुद्रा की मात्रा के परिवर्तन द्वारा विनिमय-माध्यम की मात्रा घटाई-बढ़ाई जा सकती है।

(८) सरकारी अर्थ-प्रबन्ध की सुविधा—बैंकों का सरकारी अर्थप्रबन्ध में भी भारी महत्त्व होता है। सरकारी रोको का संरक्षण, सरकारी ऋणों का प्रबन्ध तथा आवश्यकता पड़ने पर ऋण प्रदान करना, ये सब कार्य बैंक द्वारा ही किए जाते हैं।

बैंकों का वर्गीकरण—

बैंकों को उनके विशेष कार्यों के आधार पर निम्न प्रकार से वर्गित किया जा सकता है :—

(१) व्यापारिक बैंक (Commerical Banks), जोकि मुख्य रूप से व्यापारियों को अल्पकालीन ऋण उपयुक्त तरल प्रतिभूतियों के आधार पर देते हैं।

(२) औद्योगिक बैंक (Industrial Banks) वे हैं जो औद्योगिक वित्त का प्रबन्ध करते है। ये बैंक प्रायः दीर्घकालीन जमा प्राप्त करके उद्योग-धन्धों को दीर्घकालीन ऋण दिया करते हैं।

(३) विदेशी विनिमय बैंक (Foreign exchange Banks) विदेशी बिलों का क्रय-विक्रय करके विदेशी भुगतान में सहायता पहुँचाते हैं।

(४) कृषि बैंक (Agricultural Banks) कृषि की अर्थ व्यवस्था के लिये विशेष रूप में स्थापित किये जाते हैं। कृषि के अर्थ-प्रबन्धन की समस्या अपने ढंग की निराली है, क्योंकि ऋण लेने के हेतु जमानत स्वरूप किसानों के पास कोई ठोस प्रतिभूति नहीं होती है, जिससे उनको ऋण देने में जोखिम अधिक होती है। ये बैंक प्रायः दो प्रकार के होते हैं—सहकारी बैंक (अथवा सहकारी साख समितियाँ) और भूमि-बन्धक बैंक।

(५) पोस्ट ऑफिस सेविंग बैंक *(Post Office Savings Bank)*, जिनका संगठन डाक विभाग द्वारा, अल्प आय वाली जनता में बचत की प्रवृत्ति का विकास करने के लिए किया गया है।

(६) देशी बैंकर *(Indigenous Bankers)*, जिनके अन्तर्गत महाजन व साहूकार आते हैं, जोकि मुख्यतः आन्तरिक व्यापार और कृषि कार्य के लिए वित्तीय सुविधा देते हैं।

(७) केन्द्रीय बैंक *(Central Bank)*, जो प्रायः प्रत्येक देश में केवल एक ही हुआ करता है। इसे नोट निकालने का अधिकार होता है। यह बैंकों का बैंक और सरकार का बैंक कहलाता है। इस पर ही देश की बैंकिंग व्यवस्था को मजबूत बनाने की जिम्मेदारी होती है।

भारत में औद्योगिक बैंकों और विदेशी विनिमय बैंकों की कमी है। औद्योगिक बैंकों का कार्य इस समय तो विभिन्न औद्योगिक वित्त प्रमण्डल कर रहे हैं। विदेशी विनिमय का काम अधिकतर विदेशी बैंकों के हाथ में है, जिनके प्रमुख कार्यालय विदेशों में हैं। ये बैंक राष्ट्रीय हित में काम नहीं करते।

QUESTIONS

Give the main functions of Commercial Banks and show how they create credit? (Agra, B. A., 1955 Supp.)

Briefly discuss the functions of commercial banks. How far Indian commercial banks perform these functions? (Raj., B. A., 1957)

Explain the role which joint-stock banks play in the economic development of a nation. (Agra, B. A., 1955)

What is a bank? Discuss the services it renders to industry and trade and point out the sources of its profits. (Agra, B. Com., 1957 Supp.)

Briefly discuss the importance of a Commercial Bank (व्यापारिक बैंक) to modern trade and state how far they help trade and commerce. (Raj., B. A, 1958)

व्यापारी बैंकों (Commercial Banks) के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिए और बताइये कि किसी देश की औद्योगिक उन्नति में ये किस प्रकार सहायक हैं। (Jabalpur, B. A, 1958)

"Banking consists of receiving other people's money and lending it out again to the people who deposited it. The banker really borrows the depositor's money, usually for nothing, and then lends the same money back again on interest." Comment on this statement. (Agra, B. A., 1955 Supp.)

Briefly discuss the functions of a modern bank and explain the main considerations that guide a banker in investing his funds. (Raj., B. Com., 1958)

अध्याय १३

साख-मुद्रा तथा साख-पत्र

(Credit Money and Credit Instruments)

साख किसे कहते हैं ?—

अंग्रेजी भाषा में साख शब्द के स्थान पर क्रेडिट (Credit) शब्द का उपयोग किया जाता है और वह क्रेडो (Credo) शब्द से बना है, जिसका अर्थ है मैं विश्वास करता हूँ (I Believe)। अतः साख शब्द का अर्थ विश्वास, भरोसा अथवा यकीन (Trust or Confidence) से होता है। साधारण बोलचाल में साख शब्द जिस अर्थ में उपयोग किया जाता है वह काफी विस्तृत होता है, क्योंकि सभी प्रकार का विश्वास साख हो सकता है। अर्थशास्त्र में इस शब्द का उपयोग अधिक संकुचित अर्थ में होता है। यहाँ साख का अभिप्राय केवल देनदारी अथवा शोधनक्षमता के विश्वास से होता है। जब हम यह कहते हैं कि बाजार में अमुक व्यक्ति की साख बहुत है तो इसका अर्थ यह होता है कि लोग उस व्यक्ति की देनदारी पर अधिक विश्वास रखते हैं, अर्थात् उस व्यक्ति को सरलता के साथ पर्याप्त उधार मिल जाता है। साख शब्द का सम्बन्ध सदा ही उधार की लेन-देन अथवा स्थगित शोधनों से होता है। विनिमय का एक पक्ष दूसरे पक्ष को मुद्रा, वस्तुएँ अथवा सेवाएँ उधार देता है और उनको भविष्य में कुछ निश्चित शर्तों पर लौटाने का वचन ले लेता है। यही साख व्यवसाय है और इसका आधार यह है कि प्रस्तुत सेवाओं तथा वस्तुओं का भावी वायदे के साथ विनिमय किया जाता है। यह इसी कारण होता है कि ऋणी व्यक्ति की शोधनक्षमता पर विश्वास किया जाता है। साख की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—*साख वर्तमान काल में हस्तान्तरित किए गये माल के बदले में माँगने पर अथवा किसी निश्चित भावी तिथि पर भुगतान प्राप्त करने का अधिकार अथवा भुगतान देने का उत्तर-दायित्व है।* इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों के विचार नीचे दिये गये हैं :—

(१) प्रो० जाइड (Gide) के अनुसार—"साख एक ऐसा विनिमय कार्य है जो कुछ समय पश्चात् अर्थात् भुगतान कर देने पर पूरा हो जाता है।"*

(२) प्रो० टामस (Thomas) के अनुसार—"साख शब्द का अभिप्राय किसी व्यक्ति की उस शोधनक्षमता तथा देनदारी के विश्वास से होता है जिसके कारण उस व्यक्ति पर यह विश्वास कर लिया जाता है कि किसी दूसरे व्यक्ति की बहुमूल्य वस्तु

उसे सौंपी जा सके, वह बहुमूल्य वस्तु मुद्रा, वस्तुएँ, सेवायें अथवा स्वयं साख हो सकती है, जैसे कि उस दशा में जबकि एक व्यक्ति दूसरे को अपनी व्यवसायिक ख्याति अथवा अपने नाम के उपयोग का अधिकार देता है।"*

साख का आधार—

अब हमें यह देखना है कि किसी व्यक्ति की साख किन बातों पर निर्भर होती है ? इस सम्बन्ध में आर्थिक विद्वानों के अलग-अलग मत हैं। कुछ लोगों का विचार है कि साख का आधार विश्वास है। यदि किसी व्यक्ति को यह विश्वास नहीं है कि ऋण की राशि लौटा दी जायगी तो वह ऋण प्रदान करने का विचार भी नहीं करेगा। केवल दान अथवा मित्रता के हेतु ही वह उधार दे सकता है। इसके विपरीत कुछ लेखकों का कहना है कि साख का आधार विश्वास नहीं सम्पत्ति है और उसी को देख कर ऋण दिये जाते हैं। कुछ और लेखकों ने ऋण लेने वाले के चरित्र को साख का वास्तविक आधार माना है और कुछ ने चरित्र, पूँजी तथा क्षमता तीनों को। वास्तव में व्यक्ति तथा सम्पत्ति दोनों ही पर साख निर्भर होती है। प्रायः साख के निम्न आधार माने जाते हैं :—

(१) विश्वास—कुछ लेखकों का मत है कि विश्वास ही साख का आधार है, क्योंकि यदि किसी व्यक्ति को रुपया उधार लेने वाले मनुष्य के बारे में यह विश्वास नहीं है कि वह उसके ऋण को लौटा देगा, तो वह ऐसे मनुष्य को कभी ऋण नहीं देगा। हाँ, यह बात मित्रता व प्रेम के सम्बन्धों में लागू नहीं होती है।

(२) चरित्र – यदि किसी व्यक्ति को ऐसी ख्याति प्राप्त होती है कि भूतकाल में उसने अपने सभी ऋणों को ठीक-ठीक चुकाया है, अथवा यदि उसका सामान्य चरित्र निष्कलङ्क तथा विश्वसनीय है तो उसकी साख भी अधिक होगी। इसके विपरीत यदि भूतकाल में किसी व्यक्ति का चरित्र सन्देहयुक्त रहा है तो उसे ऋण देने से पहले उसकी शोधनक्षमता पर विचार किया जायगा।

(३) क्षमता—यह दूसरी आवश्यकता है। केवल चरित्र से ही काम नहीं चलता। ऋण देने वाले को यह भी विश्वास होना चाहिए कि ऋण लेने वाले के पास भुगतान के लिए पर्याप्त साधन भी विद्यमान हैं। कुछ दशाओं में स्वयं चरित्र ही क्षमता का आधार हो सकता है। यदि चरित्र विश्वसनीय है और व्यक्ति विशेष को पर्याप्त अनुभव, शिक्षण तथा योग्यता प्राप्त है तो ऐसा विश्वास किया जा सकता है कि कुछ समय पश्चात् यह ऋण को चुकाने के लिए आवश्यक साधन भी जुटा ही लेगा। फिर भी लेने वाले के पास लौटाने की सामर्थ्य को देखा अवश्य जाता है।

---

* "The term credit is now applied to that belief in a man's probity and solvency which will permit of his being entrusted with something of value belonging to another whether that something consists of money, goods, services or even credit itself as when one man entrusts to another the use of his good name and reputation." *See* S E. Thomas : *Elements of Economics*, p. 398.

(४) पूँजी और सम्पत्ति—उपरोक्त दोनों आधारों पर छोटी-छोटी रकम के ऋण ही प्राप्त किए जा सकते हैं। बड़े-बड़े ऋणों के लिए बैंकों पर निर्भर रहना पड़ता है, परन्तु बैंक ऋण देने से पहले ही यह देख लेती है कि ऋण लेने वाले के पास उपयुक्त प्रतिभूति है या नहीं। साधारणतया जितनी ही किसी व्यक्ति के पास पूँजी अथवा सम्पत्ति अधिक होती है उतने ही उसे अधिक ऋण मिल सकते हैं और उतनी ही उसकी साख भी अधिक ऊँची होती है।

(५) प्रतिभूतियों अथवा आदेयों की तरलता—प्रत्येक प्रकार की सम्पत्ति साख के आधार के दृष्टिकोण से समान रूप में उपयुक्त नहीं होती है। यदि ऋण लेने वाले के पास तरल आदेय हैं और उसका व्यवसाय सरलतापूर्वक चल रहा है तो उसकी साख अधिक होगी। यदि आदेय अचल सम्पत्ति और अबिक्री-साध्य प्रतिभूतियों के रूप में हैं तो ऋण देने वाले को संकोच होगा।

(६) साख की अवधि—साख देना या न देना इस बात पर भी निर्भर होता है कि वह कितने समय के लिए माँगी जा रही है। प्रायः दीर्घकालीन साख देने में बहुत संकोच किया जाता है, क्योंकि इस बीच ग्राहक की परिस्थितियों में अन्तर होने से रुपया लौटने की सम्भावना समाप्त हो सकती है।

साख की विशेषताएँ—

उपरोक्त सभी बातों के देखने से साख की तीन विशेषताओं का पता चलता है:—सर्वप्रथम तो, साख की राशि का उल्लेख आवश्यक होता है। अनिश्चित मात्रा में ऋण का कोई भी अर्थ नहीं है। दूसरे, साख की समय-अवधि भी निश्चित होती है। यह स्पष्ट रूप में बताया जाता है कि साख कितने समय के लिए है, अर्थात् ऋण कितने समय पश्चात् शोधनीय है। साख की तीसरी विशेषता विश्वास है। बिना विश्वास के साख उत्पन्न ही नहीं हो सकती है। इसके अतिरिक्त कितनी मात्रा में तथा कितने समय के लिए साख प्रदान की जाती है, यह भी इसी बात पर निर्भर होता है कि ऋणदाता को ऋणी पर कितना विश्वास है।

साख का वर्गीकरण

साख का वर्गीकरण करने की कई रीतियाँ हैं। अनेक बार तो ऋण लेने वाले की स्थिति के अनुसार साख का वर्गीकरण किया जाता है और बहुत बार ऋण देने वाले की स्थिति के अनुसार। कभी-कभी साख प्रदान करने की समय-अवधि को भी वर्गीकरण का आधार माना जाता है, परन्तु अधिक प्रचलित रीति साख को उसके उपयोग के अनुसार वर्गीकृत करने की है—

(१) व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक साख (Private and Public Credit)—साधारणतया सरकारी अर्थात् सरकार द्वारा इस वायदे पर प्राप्त की हुई वस्तुओं और सेवाओं को, कि उनकी कीमत का भुगतान् भविष्य में कर दिया जायगा, सार्वजनिक अथवा लोक साख कहा जाता है। आधुनिक युग में सरकार द्वारा

ऋणों का लेना एक बड़ी साधारण सी घटना है। लोक ऋण लोक साख को जन्म देते हैं। सरकार के अतिरिक्त अन्य सभी व्यक्तियों और संस्थाओं की साख होती है। आर्थिक अध्ययन में व्यक्तिगत साख का ही महत्त्व अधिक होता है। इस व्यक्तिगत साख के भी कई रूप होते हैं।

(२) बैंक साख (Bank Credit) — यह भी एक प्रकार की व्यक्तिगत साख ही होती है। अर्थशास्त्र में यह दो अर्थों से उपयोग की जाती है:—संकुचित तथा विस्तृत। संकुचित अर्थशास्त्र में बैंक साख का आशय केवल व्यापार बैंकों की अभियाचन निक्षेपों (Demand Deposits) से होता है, परन्तु विस्तृत अर्थ में यह शब्द बैंकिंग संस्थाओं की सभी प्रकार की भुगतान सम्बन्धी प्रतिज्ञाओं को सूचित करता है, जिसमें बैंकों के अभियाचन निक्षेप, समय निक्षेप (Time Deposits), रोक साख-पत्र (Cash Letters of Credit), ऋण-पत्र (Debentures), बाँड (Bonds), नोट तथा बैंकरों की स्वीकृतियाँ (Banker's Acceptances) सम्मिलित होते हैं। बैंक साख शब्द को साधारणतया इन दोनों ही अर्थों में निःसंकोच उपयोग किया जाता है। बैंक साख की ही एक शाखा केन्द्रीय बैंक की साख होती है। इसमें केन्द्रीय बैंक द्वारा चालू किए हुए नोट तथा केन्द्रीय बैंक के निक्षेप उत्तरदायित्व (Deposit Liabilities) सम्मिलित होते हैं।

(३) विनिमय साख (Investment Credit)—इस प्रकार की साख व्यवसायों की दीर्घकालीन ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओं के कारण उत्पन्न होती है। यदि व्यवसाय का स्वामी भूमि, मकान तथा मशीन आदि के लिए अपने ही पास से पर्याप्त पूँजी उपलब्ध नहीं कर सकता है तो उसे इन कार्यों के लिए दीर्घकाल ऋणों की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे ऋणों को चुकाने का एक मात्र उपाय यही होता है कि उन विनियोगों के लाभ से प्राप्त होने वाली राशि में से उनका भुगतान किया जाय, जिनके लिए वे लिए गये हैं, परन्तु इस प्रकार इनके भुगतान में समय लगता है। इस कारण ऐसे ऋणों को प्राप्त करने के लिए एक विशेष साख-पत्र का उपयोग किया जाता है, जिसे प्राधि बाँड (Mortgage Bonds) कहते हैं। इस पत्र में ऋणी निर्देशित शर्तों पर मूलधन को लौटाने का वचन देता है और प्रतिभूति के रूप में अपनी सम्पत्ति का एक भाग ऋणदाता के पास गिरवी रख देता है, जिसका अधिकार कुछ निश्चित दशाओं में ही ऋणदाता को प्राप्त हो सकता है। यदि ऋणी प्राधि-पत्र की शर्तों को यथा-समय ठीक ठीक पूरा करता रहता है तो सम्पत्ति पर उसका स्वतन्त्र अधिकार रहता है। ऐसे प्राधि-बाँड द्वारा निर्मित साख वाणिज्यिक भाषा में विनियोग साख कहलाती है।

(४) वाणिज्य साख (Commercial Credit)–इस साख का सम्बन्ध भी व्यवसाय से होता है। जिस प्रकार व्यवसाय को दीर्घकालीन ऋणों की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार समय-समय पर उसके लिए अल्पकालीन ऋण भी आवश्यक होते हैं। वाणिज्य साख से हमारा अभिप्राय अल्पकालीन ऋणों से ही होता है। इस

प्रकार की साख व्यवसायों की निर्माण तथा बिक्री सम्बन्धी अल्पकालीन आवश्यकताओं के लिए प्रदान की जाती है। कच्चे मालों के खरीदने, मजदूरियाँ देने, करों को चुकाने तथा विज्ञापन आदि करने के लिये व्यवसाय को ऋणों की आवश्यकता पड़ सकती है, क्योंकि व्यवसायी को उस समय तक आय प्राप्त नहीं होती है जब तक कि वह माल बेचकर उसकी कीमत वसूल नहीं कर लेता है। ऐसे कार्यों को सम्पन्न करने के लिये ही वाणिज्य अथवा अल्पकालीन साख की आवश्यकता पड़ती है, जिसकी समय अवधि अधिक से अधिक ६ मास अथवा एक वर्ष तक होती है। ऐसे ऋणों को भी व्यवसाय से प्राप्त शुद्ध आय में से ही चुकाया जाता है, परन्तु इन ऋणों के पीछे कच्चे माल, तैयार माल आदि के तरल आदेयों की आड़ रहती है।

(५) उपभोक्ताओं की साख तथा उत्पादकीय साख (Consumer's Credit and Producer's Credit)—साख को उपभोक्ताओं की साख तथा उत्पादकों की साख में भी विभाजित किया जाता है। उपभोक्ता की साख में उपभोक्ताओं को क्रयः शक्ति अथवा वस्तुओं के ऋण दिये जाते हैं। इन ऋणों की विशेषता यह होती है कि इनसे ऋणी को कोई आय प्राप्त नहीं होती है और इसलिए इनके मूलधन तथा ब्याज को चुकाने की व्यवस्था व्यक्तिगत आय में से की जाती है। ऐसे ऋण केवल उपभोग के हेतु लिए जाते हैं। उपभोक्ता-साख में दूकानदारों द्वारा दिया गया उधार, साहूकार तथा बैंकों द्वारा दिये गये व्यक्तिगत ऋण आदि सम्मिलित किये जाते हैं। इसके विपरीत उत्पादकीय साख में उन सब ऋणों को सम्मिलित किया जाता है जो विभिन्न व्यक्तियों, फर्मों, कम्पनियों अथवा सरकार को उत्पादन कार्यों के लिए दिये जाते हैं। ऐसे ऋणों की विशेषता यह होती है कि उनसे ऋणी को आय प्राप्त होती है और कम से कम ब्याज का भुगतान तो ऋण की राशि के उपयोग से प्राप्त आय में से अवश्य किया जा सकता है। ऐसे ऋण दीर्घकालीन अथवा विनियोग ऋण, मध्यकालीन अथवा अल्पकालीन या वाणिज्यिक ऋण हो सकते हैं। आधुनिक जगत में ऐसे ही ऋणों की प्रधानता है।

साख की मात्रा किन बातों पर निर्भर होती है?—

किसी देश में साख का विस्तार बहुत सी बातों पर निर्भर होता है। साख की आवश्यकता व्यवसायों के सम्बन्ध में पड़ती है। आधुनिक व्यवसायिक सगठन की जान तो साख है, क्योंकि दूसरों के रुपयों से व्यवसाय करना ही आधुनिक व्यापार की विशेषता है। सामान्य रूप में हम यह कह सकते हैं कि किसी देश के आर्थिक, औद्योगिक, व्यापारिक तथा बैंकिंग जीवन का जितना ही अधिक विकास होगा उतना ही वहाँ साख के विस्तार की सम्भावना भी अधिक होगी। साख की मात्रा इस बात पर भी निर्भर होती है कि ऋणदाता किस अंश तक ऋण देने को तैयार है और ऋण लेने वाले कितना ऋण लेना चाहते हैं। निम्न कारणों का प्रभाव साख की मात्रा पर विशेष रूप से पड़ता है :—

(१) लाभ की मात्रा—विनियोगों पर जितना ही अधिक लाभ प्राप्त होगा और जितने ही ये विनियोग अधिक सुरक्षित होंगे उतनी ही ऋणों की माँग भी अधिक होगी और उन्हें देने की तत्परता भी उतनी ही अधिक होगी।

(२) व्यापार की दशाएं—व्यापार की दशाओं का भी साख की मात्रा से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। वैभव (Boom) के काल में चारों ओर तेजी रहती है। व्यापार और व्यवसायों का विस्तार होता है और विनियोगों पर अधिक लाभ प्राप्त होता है। इस काल में ब्याज की दरें भी ऊपर उठती हैं, क्योंकि व्यवसायों के विस्तार के साथ-साथ ऋणों की माँग बढ़ती जाती है। बैंक तेजी के साथ अपनी साख का विस्तार करती हैं। इसके विपरीत मन्दी के काल में उत्पादन घटता है और व्यवसायों को हानि होती है, जिसके कारण ऋणों की माँग बहुत कम होती है। भविष्य के उज्वल न होने के कारण विनियोगी वर्ग जोखिम उठाने से घबराता है। निश्चय ही ऐसे काल में साख का उत्पादन कम होता है।

(३) सट्टा बाजार की प्रवृत्ति—सट्टेबाजी के कारण भी साख की मात्रा का विस्तार अथवा संकुचन हो सकता है। जब भविष्य में कीमतों के बढ़ने की आशा की जाती है तो सट्टा बाजार बड़ी तेजी से चालू होता है। नये-नये सौदे खरीदे जाते हैं और ऋणों की माँग बढ़ने के कारण साख का विस्तार होता है। यदि सट्टा बाजार में मन्दी है तो ऋणों की माँग घटने के कारण साख का संकुचन होता है। बहुत बार तो सट्टेबाज अकारण ही कीमतों में तेजी अथवा मन्दी उत्पन्न करके ऋणों की माँग ो घटा-बढ़ा देते हैं और साख के निर्माण को प्रोत्साहित कर देते हैं।

(४) देश की राजनीतिक दशाएँ—राजनीतिक स्थिरता आर्थिक जीवन स्थायीपन उत्पन्न करके उसके विकास के लिए उपयुक्त दशाएँ उत्पन्न कर देती है, सके कारण ऋणों की माँग बढ़ती है और साख का विस्तार होता है। यदि राज-ीतिक वातावरण अनिश्चित है तो आर्थिक विकास हतोत्साहित होता है और साख का ो संकुचन होता है।

(५) सरकार तथा केन्द्रीय बैंक की नीति—साख नियन्त्रण के दृष्टिकोण इसका भारी महत्त्व होता है। यदि केन्द्रीय बैंक सुलभ मुद्रा नीति (Cheap Money Policy) अपनाती है और कम ब्याज पर ऋण देने की अधिक सुविधाएँ दान करती है तो साख का विस्तार होता है परन्तु यदि केन्द्रीय बैंक, बैंक दर को ँचा करके अथवा अन्य रीतियों से ऋणों को हतोत्साहित करती है तो साख का ंकुचन होगा।

(६) चलन की दशाएँ (Currency Conditions)—साख की ात्रा पर देश की चलन व्यवस्था का भारी प्रभाव पड़ता है। यदि देश की मुद्रा के ूल्य ह्रास का भय है अथवा यदि सरकार की चलन सम्बन्धी नीति अनिश्चित है तो

साख का संकुचन होगा। इसके विपरीत एक समुचित चलन प्रणाली के अन्तर्गत साख के विस्तार की सम्भावना अधिक होगी।

(७) बैंकों का विकास तथा बैंकों की सामान्य नीति— आधुनिक संसार में साख के निर्माण का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन बैंक हैं, क्योंकि देश की अधिकाँश साख का निर्माण उन्हीं के द्वारा किया जाता है, अतः जितना ही किसी देश में बैंकिंग का विकास अधिक होगा उतनी ही साख के विस्तार की सम्भावना भी अधिक होगी। साथ ही, बैंकों की साख सम्बन्धी नीति तथा देश में साख-मुद्रा के उपयोग की प्रथा पर भी साख विस्तार की सीमा निर्भर रहती है।

क्या साख पूँजी है (Is Credit Capital) ?—

यह विषय विवादग्रस्त है कि *क्या साख पूँजी है, अर्थात् क्या साख के द्वारा उपयोगिता का सृजन होता है ?* स्मरण रहे कि पूँजी मनुष्य की पिछली कमाई का वह भाग होती है जिसे और अधिक उत्पत्ति करने के लिए उपयोग किया जाता है। इस दृष्टिकोण से साख न तो पूँजी है और न उत्पत्ति का ही साधन है। मैकलौड का विचार है :—"साख वास्तविक अर्थ में पूँजी है। मुद्रा और साख दोनों ही पूँजी हैं। व्यापारिक साख को एक प्रकार की व्यापारिक पूँजी ही कहा जा सकता है।"[1] परन्तु यह विचार ठीक नहीं है। वास्तविकता यह है कि साख उत्पत्ति का साधन नहीं है, वह तो एक उत्पादन विधि मात्र है। जिस प्रकार श्रम-विभाजन तथा विनिमय उत्पादन करने की रीतियाँ हैं और दोनों के ही द्वारा उपयोगिता में वृद्धि की जा सकती है, ठीक इसी प्रकार साख भी केवल एक रीति है, जो किसी वस्तु की उपयोगिता बढ़ा देती है। मैकलौड के विरुद्ध मिल तथा रिकार्डो जैसे महान् अर्थ-शास्त्रियों का मत है कि साख को पूँजी कहना भूल होगी। मिल के अनुसार साख द्वारा केवल पूँजी का हस्तान्तरण होता है, उसका सृजन नहीं होता है। उन्होंने लिखा है :—"केवल उधार देने से नई पूँजी का निर्माण नहीं हो सकता है, ऐसी दशा में तो केवल उस पूँजी का जो पहले से ही ऋण-दाता के पास थी, ऋणी को हस्तान्तरण होता है। साख तो केवल दूसरे की पूँजी को उपयोग करने का अधिकार है, इसके द्वारा उत्पत्ति के साधनों की वृद्धि नहीं होती, उनका केवल हस्तान्तरण ही होता है।"[2] ठीक इसी प्रकार रिकार्डो ने भी कहा है :—"साख पूँजी का सृजन नहीं करती है, वह तो केवल

1. "Money and credit are both capital. Mercantile credit is mercantile capital. See Macleod : *Elements of Banking. Chap. IV*.

2. "New capital is not created by the mere fact of lending, only the capital that was in the hands of the lender is now transferred to the hands of the borrower, credit being only the permission to use the capital of another person. The means of production cannot be increased by it but only be transferred." See J.S. Mill : *Principles of Political Economy*.

यह निश्चित करती है कि पूँजी का उपयोग कौन करेगा।"† अतः (i) साख-पत्र (Credit Instruments) केवल पूँजी के प्रतिनिधि स्वरूप होते हैं, वे स्वयं पूँजी नहीं होते। वे तो केवल उस पूँजी का, जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं, एक स्थान से दूसरे स्थान को या एक व्यक्ति से दूसरे को हस्तान्तरण ही करते हैं। एक व्यवसायी के लिए वे पूँजी पर अधिकार पाने का अच्छा साधन होते हैं। (ii) यद्यपि साख द्वारा पूँजी का जो हस्तान्तरण होता है वह उत्पादक होता है। परन्तु यह उत्पादकता हस्तान्तरण द्वारा उत्पन्न हुई है। साख को उत्पत्ति का एक स्वतन्त्र साधन कहना उपयुक्त नहीं हो सकता है। साख की लेन-देन से पूँजी की गतिशीलता और उसकी उत्पादकता बढ़ती है। परन्तु पूँजी की मात्रा में वृद्धि नहीं होती है। (iii) साख द्वारा पूँजी का ऐसे व्यक्तियों के पास हस्तान्तरण हो जाता है जो उसे आर्थिक विकास के लिए अधिक उपयुक्त रीति से उपयोग कर सकते हैं। इससे किसी नई पूँजी का निर्माण नहीं होता।

साख तथा कीमत-स्तर (Credit and Prices)—

यह प्रश्न भी विवाद-ग्रस्त है कि साख और कीमतों के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध है। *वाकर (Walker) का मत है कि साख का कीमतों पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है।* उनका विचार है कि साख में क्रयः शक्ति तो होती है, परन्तु निस्तारण शक्ति (Liquidating Power) नहीं होती है। सभी प्रकार के विनिमय तथा ऋण व्यवसायों का अन्तिम निस्तारण नकद भुगतानों द्वारा ही होता है। इसके अतिरिक्त साख-मुद्रा के द्वारा जो क्रय-विक्रय होता है उसमें एक क्रिया का दूसरी से सन्तुलन हो जाता है और इस प्रकार साख की लेन-देन का वस्तुओं के कीमत-स्तर पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है।

इसके विपरीत मिल तथा उनके समर्थकों का विचार है कि साख के निर्माण का कीमतों पर ठीक उसी प्रकार का प्रभाव पड़ता है जैसा कि चलन की उत्पत्ति का, क्योंकि चलन की भाँति साख-मुद्रा भी क्रयः शक्ति होती है और उसके द्वारा भी वस्तुओं और सेवाओं का क्रय-विक्रय होता है। मुद्रा का परिमाण चलन तथा साख-मुद्रा दोनों का ही सामूहिक योग होता है और इस पर साख-मुद्रा की मात्रा के परिवर्तनों का भी उसी प्रकार प्रभाव पड़ता है जिस प्रकार कि चलन की मात्रा के परिवर्तनों का। सरकार तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा साख नियन्त्रण की जो नीति अपनाई जाती है उसका कीमतों पर काफी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। साधारणतया साख पर दी जाने वाली राशि इस उद्देश्य से दी जाती है कि उसकी सहायता से वस्तुओं का उत्पादन किया जाय और उत्पादित कीमत में से उसका भुगतान कर दिया जाय, परन्तु उत्पादन कार्य में समय लगता है और इस बीच में साख मुद्रा क्रयः शक्ति का विस्तार करके कीमतों को बढ़ा सकती है।

† "Credit does not create capital, it only determines by whom capital should be employed." *See* Ricardo : *Principles of Political Economy and Taxation.*

सकते तो उनका कीमतों पर ठीक वही प्रभाव पड़ता जो कि चलन का पड़ता है, परन्तु साख-पत्र उतना विश्वास उत्पन्न नहीं करते हैं जितना कि चलन मुद्रा द्वारा उत्पन्न किया जाता है। अन्तिम दशा में सभी साख-पत्रों का निस्तारण नकदी में ही किया जाता है। साख निर्माण के हेतु बैंकों को नकद कोष भी जमा करके रखने पड़ते हैं और साख का और अधिक विस्तार केवल नकद कोषों की वृद्धि करके ही किया जा सकता है। जब साख का विस्तार होता है तो नकद कोषों में जमा की हुई चलन मुद्रा को प्रचलन में से निकाला जाता है। परिणाम यह होता है कि लगभग कभी भी कीमतें साख-विस्तार के अनुपात में नहीं बढ़ पाती हैं, परन्तु क्योंकि साख-मुद्रा के पीछे शत-प्रतिशत नकदी नहीं रखी जाती है, इस कारण साख विस्तार में स्फीतिक प्रवृत्ति अवश्य रखी जाती है। साख विस्तार के कारण उत्पत्ति की जो वृद्धि होती है वह भी वस्तुओं की कुल मात्रा को बढ़ाकर कीमतों को नीचे गिरने की सम्भावना उत्पन्न कर सकती है। कीमत-स्तर साख-मुद्रा के प्रभाव से पूर्णतया विमुक्त नहीं होता है। *अधिक से अधिक इतना कहा जा सकता है कि चलन की तुलना में साख-मुद्रा का कीमतों पर कम प्रभाव पड़ता है।*

साख-पत्र और उनके भेद (Credit Instruments and their Kinds)

साख-पत्रों का अर्थ—

साख-पत्रों से हमारा अभिप्राय उन सभी नोटों, परचों या पुर्जों और साधनों से होता है जिनका साख-मुद्रा के रूप में उपयोग किया जाता है। साख-पत्र भी वस्तुओं और सेवाओं के क्रय-विक्रय में विनिमय-माध्यम का कार्य करते हैं और इस कारण विस्तृत अर्थ में उन्हें भी मुद्रा में ही सम्मिलित किया जा सकता है, *परन्तु मुद्रा के रूप में सिक्कों तथा नोटों और साख-पत्रों में यह भेद होता है कि साख-पत्र चलन मुद्रा की भाँति विधिग्राह्य नहीं होते हैं।* उनकी ग्राह्यता लेने वाले की इच्छा पर निर्भर होती है। यही कारण है कि उनका प्रचलन अपेक्षतन अधिक सीमित रहता है। क्रयः शक्ति का लगभग सभी प्रकार का संचय सिक्कों और नोटों में ही किया जाता है। अविधि-ग्राह्य होने तथा विश्वास की कमी के कारण साख-पत्र इस कार्य के लिए उपयुक्त नहीं होते हैं। इस मुद्रा का न तो कोई निहित मूल्य ही होता है और न इसके पीछे किसी प्रकार का कानूनी बल ही होता है।

साख-पत्रों के भेद—

साख-पत्र कई प्रकार के होते हैं। साख-मुद्रा के प्रमुख भेद निम्न प्रकार हैं :—

(१) चैक (Cheque)—चैक साख-मुद्रा का एक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। यह सबसे अधिक प्रचलित साख-पत्र है। भारतीय विनिमय-साध्य विपत्र एक्ट (Indian Negotiable Instruments Act) के अनुसार :—"चैक, बैंक में रुपया जमा करने वाले का अपनी बैंक के लिए ही एक लिखित आदेश है,

जिसके द्वारा उसके खाते में से आदेश प्राप्त करने वाले को अथवा अन्य व्यक्ति या संस्था को, जिसका कि आदेश में नाम लिखा हुआ है, आदेशानुसार अंकित रुपया दिया जाता है।" चैक सदा ही बैंक के लिए लिखा जाता है और इसका भुगतान बैंक को माँग पर तुरन्त ही करना पड़ता है। *चैक में तीन पक्ष होते हैं* अर्थात् आहर्त्ता (Drawer), जोकि आदेश देता है, आहार्यी (Drawee) अर्थात् जिसको कि आदेश दिया जाता है और आदाता (Payee), जिसको कि भुगतान किया जाता है। चैक की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं :—(१) यह सदा ही एक लिखित आदेश होता है, (२) इसके भुगतान पर किसी प्रकार की शर्त नहीं लगाई जाती, (३) यह सदा ही किसी बैंक के लिए लिखा जाता है, (४) इसमें भुगतान की राशि का स्पष्ट रूप में उल्लेख किया जाता है, (५) इसका भुगतान बैंकों को माँग पर तुरन्त ही करना होता है, (६) चैक का भुगतान निर्देशित व्यक्ति अथवा उसके आदेश के अनुसार ही किया जाता है और (७) चैक पर आहर्त्ता (Drawer) के हस्ताक्षर आवश्यक होते हैं।

चैक अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे—वाहक चैक (Bearer Cheque) आदेश चैक (Order Cheque), खुला चैक (Open Cheque), रेखाङ्कित चैक (Crossed Cheque), प्रमाणित चैक (Marked Cheque) तथा उत्तर-तिथीय चैक (Post-dated Cheque)।

(i) वाहक चैक उस चैक को कहते हैं जो निर्देशित व्यक्ति अथवा अन्य किसी भी ऐसे व्यक्ति को शोधनीय होता है जो उसे बैंक में प्रस्तुत करता है। इस चैक पर आदाता के हस्ताक्षर आवश्यक नहीं होते, यद्यपि सुरक्षा के दृष्टिकोण से बैंक आदाता के हस्ताक्षर पर अनुरोध करती है। ऐसा चैक पूर्ण रूप में हस्तान्तरीय (Transferrable) होता है।

(ii) आदेश चैक वह चैक होता है जिस पर उस व्यक्ति को ही भुगतान मिल सकता है जिसका नाम चैक में लिखा है। ऐसा चैक लिखे अनुसार हस्तांतरणशील अथवा अहस्तान्तरणशील (Non-transferrable) हो सकता है। ऐसे चैकों के भुनाने के लिए आदाता के हस्ताक्षर आवश्यक होते हैं।

(iii) रेखांकित चैक के ऊपर आड़ी रेखा खींचकर अंग्रेजी में '& Co.' लिख दिया जाता है। ऐसे चैक द्वारा बैंक से नकदी प्राप्त नहीं की जा सकती। इसकी अङ्कित रकम आदाता के खाते में ही हस्तान्तरित की जा सकती है। इस प्रकार के चैक दो प्रकार के होते हैं :—*सामान्य रेखांकित चैक तथा विशिष्ट रेखांकित चैक।* दूसरे प्रकार के चैक में '& Co.' अथवा 'Not Negotiable' के अतिरिक्त यह भी अङ्कित किया जाता है कि किस विशेष बैंकर को चैक का भुगतान होना चाहिए। इस लिखाई का आशय यह तो नहीं होता है कि चैक का हस्तान्तरण नहीं हो सकता है। अभिप्राय केवल यही होता है कि हस्तान्तरण करने वाला केवल उसी प्रकार के अधिकार का हस्तान्तरण कर सकता है जैसा कि स्वयं उसको प्राप्त है।

(iv) खुले चैकों का अभिप्राय उन चैकों से होता है जिन्हें किसी भी व्यक्ति द्वारा बैंक के काउण्टर (Counter) पर प्रस्तुत करके भुगतान लिया जा सकता है। ऐसे चैकों की चोरी और खो जाने का भय बहुत होता है।

(v) प्रमाणित चैक वह चैक होता है जो आहार्यी बैंक द्वारा इस प्रकार प्रमाणित किया जाता है कि प्रस्तुत करने पर उसका भुगतान कर दिया जायगा। यह आदाता के विश्वास के लिए किया जाता है।

(vi) उत्तर-तिथि चैकों में केवल इतनी विशेषता होती है कि उन पर एक भावी तिथि डाल दी जाती है और उस तिथि से पहिले उनका भुगतान नहीं लिया जा सकता है।

(२) विनिमय बिल (Bill of Exchange)—भारतीय विनिमय साध्य विपत्र एक्ट की धारा ५ के अनुसार :—"विनिमय बिल एक लिखित पत्र होता है, जिसमें लिखने वाले की ओर से बिना कोई शर्त लगाये किसी व्यक्ति को ऐसा आदेश दिया जाता है कि वह किसी व्यक्ति को अथवा उसके आदेशानुसार अथवा इस पत्र को प्रस्तुत करने वाले को एक निश्चित राशि का भुगतान कर दे।" इस प्रकार विनिमय बिल एक प्रकार का आदेश-पत्र होता है, जिसमें एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को अङ्कित राशि चुकाने का आदेश देता है। ऐसा कहा जाता है कि एक सही विनिमय बिल में ५ बातें निश्चित होनी चाहिए :—(१) आहर्त्ता, (२) आदेश, (३) आहार्यी, (४) आदाता और (५) राशि।

विनिमय बिल साधारणतया दो प्रकार के होते हैं :—(i) देशी विनिमय बिल (Inland Bill of Exchange) तथा (ii) विदेशी विनिमय बिल (Foreign Bill of Exchange)। जो बिल देश के ही किसी व्यापारी के ऊपर लिखा जाता है, वह देशी विनिमय बिल कहलाता है, परन्तु यदि बिल का आहर्त्ता अथवा आहार्यी दोनों में से कोई भी एक विदेशी है तो वह विदेशी विनिमय बिल होगा। प्रथा के अनुसार विनिमय बिल तीन मास की अवधि का होता है, अर्थात् बिल लिखने की तिथि के ९० दिन पीछे उसका भुगतान करना आवश्यक होता है, परन्तु कभी-भी दर्शनी बिल (Demand Bills) भी लिखे जाते हैं, जिनका भुगतान माँगने पर तुरन्त ही किया जाता है। ऐसे बिलों पर टिकट (Revenue Stamp) की आवश्यकता नहीं होती है, अन्यथा सभी विनिमय बिलों पर राशि के अनुपात में टिकट लगाये जाते हैं। कोई भी विनिमय बिल उस समय तक विनिमय साध्य या वैध नहीं होता जब तक कि आहार्यी उसे स्वीकार करके उस पर अपने हस्ताक्षर नहीं कर देता है। यदि निश्चित तिथि पर आहार्यी बिल का भुगतान नहीं करता है तो बिल का अनादर (Dishonour) हो जाता है। ऐसी दशा में भुगतान का उत्तरदायित्व लिखने वाले पर होता है।

विनिमय बिल का व्यापार, वाणिज्य तथा लेन-देन के जगत में भारी महत्त्व होता है। (i) इसकी सहायता से एक व्यवसायी नकदी में तुरन्त भुगतान किये बिना

ही माल खरीद सकता है। बिल की परिपक्कता (Maturity) के समय तक माल को बेचकर धन प्राप्त किया जा सकता है और माल की कीमत का भुगतान किया जा सकता है। (ii) विदेशी व्यापार में तो इससे बहुत ही लाभ होता है, क्योंकि निर्यात व्यापारी को अपने देश की ही मुद्रा में भुगतान मिल जाता है। (iii) इसके कारण बहुमूल्य धातुओं के यातायात और बीमे का व्यय बच जाता है। विदेशों को भेजे हुए माल के दाम देश में ही मिल जाते हैं। (iv) विनियोगी वर्ग के लिए यह एक विनियोग का तरल तथा सुविधाजनक साधन उपलब्ध करता है, क्योंकि विनिमय बिल को परिपक्कता से पहले भी आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त भुनाया जा सकता है। (v) विनिमय बिल उसके स्वामी को निश्चित समय और स्थान पर निश्चित राशि का भुगतान प्राप्त करने का अधिकार प्रदान करता है और क्योंकि यह विनिमय साध्य (Negotiable) होता है, इसलिए इसे सरलता से खरीदा और बेचा जा सकता है। परिपक्कता से पहले रुपये की आवश्यकता पड़ने पर बिल को बेंक द्वारा भुनाया जा सकता है।

(३) बेंक ड्राफ्ट (Bank Draft)—ड्राफ्ट में चैक तथा विनिमय बिल दोनों के ही गुण पाये जाते हैं। *बैंक ड्राफ्ट उन विनिमय बिलों को कहते हैं जो एक बैंक द्वारा उसकी अपनी शाखाओं पर लिखे जाते हैं।* भारत में ड्राफ्टों पर ठीक उसी प्रकार के नियम लागू होते हैं जैसे कि चैकों पर। ड्राफ्ट रुपये को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने का बड़ा सस्ता तथा सुविधाजनक साधन होते हैं। इस कारण व्यापार के अर्थ-प्रबन्धन में इनका भारी महत्त्व होता है। यदि एक व्यक्ति आगरे से कलकत्ते को १,००० रुपया भेजना चाहता है तो वह स्टेट बेंक ऑफ इण्डिया की आगरा शाखा से उसकी कलकत्ता शाखा पर १,००० रुपये का ड्राफ्ट खरीद सकता है और फिर इस ड्राफ्ट को कलकत्ते में उस व्यक्ति के पास भेज सकता है जिसे भुगतान होना है। वह व्यक्ति ड्राफ्ट को स्टेट बेंक की कलकत्ता शाखा पर प्रस्तुत करके भुगतान ले सकता है। ठीक इसी प्रकार किसी भारतीय बेंक की लन्दन शाखा पर ड्राफ्ट खरीद कर लन्दन में भुगतान लिया जा सकता है।

(४) प्रतिज्ञा-पत्र अथवा प्रण-पत्र (Promissory Note)—यह वह लिखित पत्र होता है जिसमें उसका लिखने वाला उसमें लिखी हुई राशि उसमें लिखित व्यक्ति को अथवा उसके आदेशानुसार अथवा उसके वाहक को बिना किसी शर्त के देने की प्रतिज्ञा करता है। प्रतिज्ञा-पत्र तीन प्रकार के होते हैं :—*(१) बैंक प्रतिज्ञा-पत्र (Bank Promissory Note)* वह प्रतिज्ञा-पत्र होता है जो साधारणतया देश की केन्द्रीय बेंक द्वारा चालू किया जाता है और उसका भुगतान वाहक को माँग पर तुरन्त किया जाता है। भारत में एक रुपये के कुछ नोटों को छोड़कर अन्य सभी नोट रिजर्व बेंक के ऐसे ही प्रतिज्ञा-पत्र हैं। *(२) चलन प्रतिज्ञा-पत्र (Currency Promissory Note)* तथा बेंक प्रतिज्ञा-पत्रों में केवल इतना ही अन्तर होता है

कि ये देश की सरकार अथवा देश के मुद्रा-संचालक की ओर से चालू किए जाते हैं। अन्य सभी बातों में दोनों समान ही होते हैं। (३) *व्यापारिक प्रतिज्ञा-पत्र (Commercial Promissory Note)* सरकार तथा बैंक द्वारा नहीं लिखा जाता है। *प्रकृति तथा रूप में यह विनिमय बिल की भाँति ही होता है। अन्तर यह होता है कि इसको देनदार लिखता है और हस्ताक्षर करके लेनदार को देता है।* इसमें आहर्त्ता और आहार्यी दोनों एक ही व्यक्ति होता है। इसके विपरीत विनिमय बिल को लेनदार लिखता है और स्वीकृति के पश्चात् देनदार उसे लेनदार के पास भेज देता है। उसमें आहर्त्ता, आहार्यी तथा आदाता तीनों साधारणतया अलग-अलग व्यक्ति ही होते हैं। प्रतिज्ञा-पत्र सदा ही मुद्दती होता है अर्थात् इसका भुगतान एक निश्चित समय-अवधि के पश्चात् ही मिल सकता है।

(४) हुन्डी (Hundi)—यह भारतवर्ष का एक विशेष साख-पत्र है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि लगभग एक हजार वर्ष पहले से भारत में यह साख-पत्र प्रचलित है। स्मरण रहे कि विनिमय बिल, प्रतिज्ञा-पत्र तथा अन्य साख-पत्रों को वैधानिक स्वीकृति प्राप्त होती है, परन्तु हुन्डियों का चलन रीति-रिवाज पर आधारित है। ये साधारणतया स्थानीय भाषा में लिखी जाती हैं और भारतीय देशी बैंकों, व्यापारियों तथा अन्य संस्थाओं द्वारा उपयोग की जाती हैं। विनिमय बिलों की भाँति इन पर भी टिकट लगाया जाता है। प्रकृति में ये विनिमय बिलों की ही भाँति होती हैं। भुगतान के पश्चात् हुन्डी को खोखा कहा जाता है।

हुन्डियाँ कई प्रकार की होती हैं, परन्तु सबसे अधिक प्रचलन दर्शनी तथा मुद्दती हुन्डियों का होता है। (i) *दर्शनी हुन्डी* का भुगतान माँग पर तुरन्त ही किया जाता है, (ii) परन्तु *मुद्दती हुन्डी* का भुगतान एक निश्चित अंकित अवधि के पश्चात् होता है। हुन्डियाँ और भी बहुत से प्रकार की होती है, जैसे—(iii) *देखनहार हुन्डी* जिसका भुगतान उसे प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति को ही कर दिया जाता है। (iv) *धनी जोग हुन्डी* का भुगतान केवल निश्चित पाने वाले को ही हो सकता है और (v) *नाम जोग अथवा फरमान जोग हुन्डी* वह होती है जिसका भुगतान पाने वाले के आदेशानुसार किया जाता है और जिसमें बेचान (Endorsement) की आवश्यकता होती है। बेचान का अर्थ यह होता है कि हुन्डी में लिखित व्यक्ति यह स्पष्टतया लिखता है कि हुन्डी की राशि का कि किस व्यक्ति को भुगतान होना है। (iv) इसी प्रकार *शाहजोग हुन्डी* वह होती है जिसका भुगतान किसी आदरणीय व्यापारी को ही हो सकता है।

(६) साख प्रमाण-पत्र (Letters of Credit)—*साख प्रमाण-पत्र एक व्यक्ति, फर्म अथवा बैंक द्वारा लिखा हुआ एक प्रकार का पत्र होता है, जिसमें किसी अन्य व्यक्ति अथवा बैंक से यह प्रार्थना की जाती है कि वे पत्र में अंकित व्यक्ति को एक निश्चित् मात्रा के भीतर किसी भी अंश तक साख प्रदान कर दें।* बहुधा इस पत्र में एक तिथि का उल्लेख कर दिया जाता है और जिसके नाम

पत्र लिखा जाता है उससे इस तिथि तक ही साख प्रदान करने की प्रार्थना की जाती है। *ऐसे प्रमाण-पत्र साधारणतया बैंकों द्वारा ही चालू किए जाते हैं।* ये प्रमाण-पत्र भी *दो प्रकार* के होते हैं : (i) साधारण साख-प्रमाण-पत्र तथा (ii) चलायमान साख प्रमाण-पत्र (Circular Letters of Credit)। एक साधारण पत्र केवल एक ही बैंक अथवा फर्म के नाम लिखा जाता है, परन्तु चलायमान पत्र एक ही साथ जारी करने वाली बैंक की अनेक शाखाओं, अभिकर्त्ताओं तथा अन्य सम्बन्धित बैंकों को लिखा जाता है। सभी साख-पत्रों के आधार पर ऋण नकदी में प्राप्त किये जा सकते हैं अथवा विनिमय बिलों के रूप में। इस प्रकार प्राप्त ऋणों को पत्र की पीठ पर अंकित करना आवश्यक होता है।

(७) यात्री धनादेश (Traveller's Cheque)—ये चैक यात्रियों के लिए बड़े उपयोगी होते है, क्योंकि *इनको प्रस्तुत करके यात्री चैक निकालने वाली बैंक की किसी भी शाखा, अभिकर्त्ता अथवा सम्बन्धित संस्था से रुपया ले सकता है।* जितनी ही ऐसी शोधन संस्थाओं की संख्या अधिक होती है उतनी ही यात्री को सुविधा भी अधिक रहती है। प्रत्येक चैक के बदले में उस पर छपी हुई राशि मिलती है और यात्री को भुगतान करने वाली बैंक के सामने अपने हस्ताक्षर करने होते हैं। वैसे भी चैक प्रदान करने वाली बैंक अपने सामने यात्री से उन पर हस्ताक्षर करा लेती है और यह हस्ताक्षर नमूने (Specimen) के रूप में उपयोग होते हैं। इस प्रकार चैक के खो जाने अथवा धोखेबाजी के कारण हानि होने का भय नहीं रहता है।

(८) कोषागार विपत्र (Treasury Bills)—*कोषागार विपत्र सरकार के अल्पकालीन ऋणों के सूचक होते हैं। इन पत्रों की निकासी तीन, छः, नौ अथवा बारह महीनों की अवधि के लिए की जाती है।* बात यह है कि सरकार की आय प्राप्ति का समय बहुधा निश्चित होता है, परन्तु आय प्राप्ति के समय से पहले सरकार को धन की आवश्यकता पड़ सकती है। इस काल के लिए सरकार कोषागार विपत्रों के द्वारा ऋण प्राप्त करती है। ये ऋण इस आशा पर लिए जाते हैं कि आय प्राप्त होते ही इनका भुगतान कर दिया जायगा। इन पत्रों की निकासी के लिए सरकार निविदा (Tenders) माँगती है, जिसमें निविदा देने वालों से उस ब्याज का ब्यौरा माँगा जाता है जिस पर वे ऋण देने को तैयार हैं। ऐसे निविदे एक निश्चित राशि के लिए ही माँगे जाते हैं और फिर उस निविदे को स्वीकार किया जाता है जिसमें सबसे कम ब्याज माँगा जाता है। भुगतान निश्चित राशि में से ब्याज की राशि काट कर लिया जाता है और भुगतान के समय विपत्र में अंकित पूरी राशि लौटा दी जाती है।

(९) पुस्तकीय साख (Book Credit)—*जब कोई व्यापारी उधार माल बेचता है अथवा जब कोई बैंक ऋण देती है और उधार की राशि को अपनी खाता बही में दिखाती है तो इस प्रकार के उधार को पुस्तकीय साख कहते हैं।* इस प्रकार की खाता पुस्तकों के हिसाब को वैधानिक रूप में उधार मान लिया जाता है। यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि उन पर ऋणी के हस्ताक्षर हों। इस प्रकार

का पुस्तकीय साख बहुत प्रचलित है और एक व्यापारी द्वारा दूसरे व्यापारियों तथा एक बैंक द्वारा दूसरे बैंकों को प्रदान किया जाता है। बहुधा उधारों का एक बड़ा भाग आपसी ऋणों के समायोजन से ही चुकती हो जाता है। शेष के लिये नगदी में भुगतान कर दिया जाता है। बैंकों के लिए इस प्रकार के समायोजन का कार्य समाशोधन-गृहों (Clearing Houses) द्वारा किया जाता है।

(१०) अनुग्रह बिल (Accomodation Bill)—यह बिल प्रकृति तथा रूप में विनिमय बिल की ही भाँति होता है। अन्तर केवल इतना होता है कि *विनिमय बिल प्राप्त मूल्य के आधार पर लिखा जाता है, परन्तु यह बिना किसी मुआवजे के लिखा और स्वीकार किया जाता है।* इसका उद्देश्य केवल पारस्परिक साख का प्रदान करना होता है। अनुग्रह बिल को बैंक द्वारा भुनाकर दोनों ही दलों को साख प्राप्त हो जाती है। ऐसे बिल साख प्राप्त करने का एक अच्छा और उपयोगी साधन होते हैं।

उपरोक्त साख-पत्रों के अतिरिक्त बाँड्स (Bonds), ऋण-पत्र (Debentures), जो कि सम्मिलित पूँजी कम्पनियों द्वारा निकाले जाते है, आदि और भी बहुत से साख- पत्र होते हैं, जो विनिमय साध्य होते हैं और काफी लोकप्रिय भी हैं।

साख के कार्य और उसके लाभ—

पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली में साख व्यवस्था का अधिक महत्त्व है। यह तो सत्य है कि साख पूँजी का निर्माण नहीं करती है, परन्तु यह पूँजी में गतिशीलता उत्पन्न करके उद्योग और व्यापार की बड़ी सेवा करती है। आजकल का बाजार विश्व-व्यापी है और संसार के सभी भाग एक दूसरे पर निर्भर हैं आज का संसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर आधारित है और उत्पत्ति काफी बड़े पैमाने पर होती है। इस विशालकाय ढाँचे को चलाने के लिए साख की भारी आवश्यकता होती है। केवल व्यक्तिगत रूप में ही मनुष्य इससे लाभ नहीं उठाता है, वरन् सामूहिक रूप में भी वह इस पर आश्रित है। *इसके प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं—*

(१) पूंजी की उत्पादक शक्ति में वृद्धि—साख पूँजी में गतिशीलता उत्पन्न करके उसकी उत्पादन-शक्ति को बढ़ा देता है। इसके द्वारा बेकार पड़ी हुई पूँजी का उन व्यक्तियों के पास हस्तान्तरण हो जाता है जो उसे उत्पादन कार्य में लगा कर अपना ही नहीं वरन् समाज और राष्ट्र का भी भला करते हैं।

(२) बहुमूल्य धातु की बचत—साख-पत्रों का उपयोग विनिमय माध्यम के रूप में भी होता है। इससे एक ओर तो विनिमय माध्यम की मात्रा बढ़ जाने के कारण व्यापार और व्यवसाय में सुविधा होती है और दूसरी ओर बहुमूल्य धातुओं के उपयोग में बचत होती है।

(३) व्यापार की उन्नति में सहायता—साख से व्यापार की उन्नति में भारी सहायता मिलती है। यदि बैंकों की सहायता से विभिन्न देशों के व्यापारी एक दूसरे

से परिचित न हों तो व्यापार का आधार ही समाप्त हो जाय। सारा ही ...ा और उनके
विनिमय बिलों, ड्राफ्टों आदि पर आधारित होता है। बिना समुचित सा... जाता है
के आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। ...ी है,

(४) दूर-दूर के स्थानों तक भुगतान में सुविधा—बड़ी-बड़ी राशियों के भुगतान के लिए साख-पत्र अधिक सुरक्षित, सस्ता तथा सुविधाजनक साधन होते हैं और इनसे दूर-दूर धन भेजने में भी सुविधा होती है।

(५) आर्थिक विकास की सुविधा—उधार अथवा स्थगित शोधनों के लिए तो साख प्राणतुल्य होती है और उधारों की सुविधा, आर्थिक, व्यवसायिक और वाणिज्यिक उन्नति का प्रतीक होती है।

(६) बचत को प्रोत्साहन—साख से बचत तथा पूँजी के संचय को प्रोत्साहन मिलता है। बैंक जैसी साख संस्थाएँ छोटी-छोटी बचतों को भी जमा कर लेती हैं। ब्याज का लोभ लोगों को अधिक बचत करने के लिए प्रेरित करता है।

(७) मूल्यों में स्थिरता—साख पर समुचित नियन्त्रण रखने से देश में कीमत-स्तर की स्थिरता प्राप्त की जा सकती है, जिसके अनेक लाभ होते हैं।

(८) मुद्रा-प्रणाली में लोच – साख निर्माण बहुधा बैंकों द्वारा किया जाता है, जो व्यापार और व्यवसाय की आवश्यकताओं के अनुसार उसका विस्तार अथवा संकुचन करती है। इससे देश की मुद्रा-प्रणाली में लोच बनी रहती हैं।

(९) उत्पत्ति के साधनों का अधिकतम उपयोग—साख क्रय:शक्ति और सरकारी आय में वृद्धि करके सरकार को देश के मानव और भौतिक साधनों के अधिक अच्छे उपयोग का अवसर देती है।

(१०) आर्थिक संकटों का मुकाबिला—साख की सहायता से सरकार को संकट-कालीन परिस्थितियों का सामना करने के लिए आवश्यक धन प्राप्त हो जाता है और वह अपनी प्राप्त आय के व्यय को समुचित रूप में नियन्त्रित कर सकती है।

साख की हानियाँ (Dangers of Credit)—

अनुभव बताता है कि साख का दुरुपयोग भी सम्भव है। एक सेविका के रूप में तो इसकी सेवायें सराहनीय होती हैं, परन्तु एक स्वामिनी के रूप में यह देश के आर्थिक जीवन को इतना दूषित कर सकती है कि समाज की हानियों की कोई सीमा ही न रहे। साख के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) आय का असमान वितरण—साख तथा पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली दोनों का ही एक साथ विकास होता है। पूँजीवाद का विकास करके साख देश के भीतर आय के वितरण में घोर असमानताएँ उत्पन्न करती है। सारा धन और सारी आर्थिक शक्ति थोड़े से ही हाथों में एकत्रित हो जाती है। इससे समाज के एक वर्ग

को दूसरे का शोषण करने का अवसर मिल जाता है और सामाजिक अशान्ति बढ़ती है।

(२) अपव्यय का भय—ऋणों के सुगमता के साथ प्राप्त हो जाने के कारण समाज में अपव्यय की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है, जिससे समाज का नैतिक स्तर नीचे गिर जाता है;

(३) अकुशल व्यवसायों का पोषण—उधार मिलने की अत्यधिक सुविधा अयोग्य तथा अकुशल व्यवसायों को जन्म देती है और जब ये व्यवसाय ठप्प होते हैं तो राष्ट्र का भारी अनहित होता है।

(४) सट्टे का प्रोत्साहन—साख सट्टे को प्रोत्साहित करती है, जिससे जुआरी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है और कीमतों में अकारण ही भारी उच्चावचन पैदा होते हैं।

(५) साख के अत्यधिक प्रसार का भय—साख का एक गम्भीर दोष यह भी है कि तेजी के समय इसका अधिक विस्तार होता है और मन्दी के काल में भारी संकुचन भी। इस प्रकार स्फीति तथा विस्फीति दोनों ही की प्रवृत्तियों को और अधिक बल मिल जाता है। भारी कठिनाई यह है कि साख मानव नियन्त्रण पर अवलम्बित है और यदि ऐसा नियन्त्रण कुशल नहीं है तो यह गम्भीर दोष उत्पन्न कर सकती है।

(६) एकाधिकार संस्थाओं की स्थापना—साख प्रणाली में पूँजी का कुछ ही व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रीयकरण हो जाता है, जिससे देश में एकाधिकारिक संस्थाओं की स्थापना होने लगती है। ये संस्थायें जनता का शोषण करती हैं और मौका मिलते ही राजनैतिक सत्ता को भी हथियाने की चेष्टा करने लगती हैं।

बैंक साख का निर्माण किस प्रकार करती है?—

साख-निर्माण की सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था बैंक है। बैंक साख का निर्माण दो प्रकार करती है:—

(१) बैंक नोटों की निकासी साख उत्पादन की ही एक विधि है। भूतकाल में प्रत्येक बैंक को नोट निर्गमन का अधिकार होता था, परन्तु इस समय यह एकाधिकार केवल देश की केन्द्रीय बैंक के पास होता है। जितने नोटों का निर्गम बैंक द्वारा किया जाता है उन सबके पीछे धातु-निधि नहीं रखी जाती है। जिन देशों में बैंक नोटों को धातु-मुद्रा में बदलने का वचन देती है वहाँ भी नोटों के केवल एक भाग को ही धातु-निधि के रूप में रखा जाता है, शेष के पीछे प्रतिभूतियाँ रखी जाती हैं; क्योंकि अनुभव द्वारा बैंक को यह ज्ञात होता है कि कुल नोटों के एक छोटे से भाग को ही जनता द्वारा धातु में बदला जाता है। जब तक बैंक के ऊपर विश्वास रहता है, ये नोट बिना किसी बाधा के चलते हैं। इस प्रकार नोट चालू करने वाली बैंक साख उत्पन्न करती है और इस साख द्वारा व्यवसायों को क्रयः शक्ति प्रदान की जाती है।

(२) *बैंक द्वारा साख निर्माण की दूसरी रीति ऋणों को देना और उनके लिए निक्षेपों का उत्पन्न करना है।* जो धन किसी बैंक के पास जमा किया जाता है उसको बैंक आय कमाने तथा अपने साख संगठन निर्माण के लिये उपयोग करती है, परन्तु बहुधा ऐसा होता है कि यदि बैंक में जमा केवल १०,००० रुपया की है तो बैंक आसानी से ४०,००० या ५०,००० रुपया उधार दे देगी। ऊपर से देखने पर तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह असम्भव है, परन्तु वास्तव में बैंक सदा ही ऐसा करती है और यही बैंक के लाभ का प्रमुख साधन है। *अनुभव द्वारा बैंक को यह ज्ञात होता है कि जो ऋण उसके द्वारा दिये जाते हैं उनके एक छोटे से भाग के लिए ही नकदी की माँग की जाती है। अधिकाँश ऋण तो विभिन्न ग्राहकों के लेखों में आवश्यक समायोजन करने से बिना नकदी दिए ही सुलझ जाते हैं।* इसका कारण यह है कि एक बैंक के विभिन्न ग्राहक आपस में भी एक-दूसरे के ग्राहक होते हैं अथवा अन्य किसी ऐसी बैंक के ग्राहक होते हैं जिसकी बैंक विशेष से लेन-देन है। ऐसी दशा में विभिन्न ग्राहकों द्वारा एक-दूसरे को जो भुगतान किए जाते हैं वे साधारणतया एक-दूसरे को रद्द करते रहते हैं। *एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा:—*

मान लीजिये कि एक बैंक के पास नकदी में केवल १०,००० रुपये हैं और उसके क, ख, ग, घ, ङ पाँच ग्राहक हैं, जिनमें से प्रत्येक को वह ८-८ हजार रुपए का ऋण देती है। इन पाँच ग्राहकों की आपस में भी लेन-देन है और इनका हिसाब भी बैंक द्वारा ही रखा जाता है। मान लीजिए कि क ५,००० रुपए का चैक लिखता है और बैंक को यह आदेश देता है कि यह राशि ख को चुका दी जाय। बैंक तुरन्त इतनी राशि क के खाते से निकाल कर ख के खाते में जमा कर देगी। इसी प्रकार ख इतनी ही राशि का चैक ग के लिए लिख सकता है, ग फिर घ के लिए और घ आगे चलकर ङ के लिए। अन्त में ङ इसी राशि का चैक क के लिए लिख सकता है। प्रत्येक बार जब चैक बैङ्क को भेजा जाता है तो बैंक को विभिन्न ग्राहकों के खातों में जमा-घटी करनी पड़ती है, परन्तु जैसा कि स्पष्ट है कि उपरोक्त लेन-देन में बैंक को वास्तव में नकदी में कुछ भी देने की आवश्यकता नहीं पड़ती है, केवल लेखों में समायोजन करने से ही काम चल जाता है। इस प्रकार यद्यपि दिखाने के लिए ५ बार पाँच-पाँच हजार रुपये का भुगतान करके बैंक ने २५,००० रुपये का भुगतान किया है, परन्तु उसे नकदी में कुछ भी नहीं देना पड़ा है। इस प्रकार २५,००० रुपये की राशि का साख निर्माण हुआ। बैंकों की ऋण-दान विधि यह होती है कि प्रत्येक ऋण लेने वाले को निक्षेपदाता की भाँति समझा जाता है। जितनी राशि उसको उधार दी गई है उतने का खाता उसके नाम में खोल दिया जाता है, जिसमें से एक साधारण निक्षेपधारी की भाँति वह चैक से रुपया निकाल सकता है। *यही कारण है कि बहुधा यह कहा जाता है कि बैंक के ऋण उसके निक्षेपों को पैदा करते हैं (Loans Create Deposits)।* इस प्रकार बैंक के निक्षेप दो प्रकार के होते हैं:—प्रथम, वे जो निक्षेपधारियों ने रुपया

जमा करके उत्पन्न किए हैं और दूसरे वे जो ऋण लेने वालों ने ऋण लेकर उत्पन्न किये हैं।

विदरस् (Withers) का विचार है कि बैंक के सभी ऋण इस प्रकार निक्षेपों को उत्पन्न करके साख का निर्माण करते हैं। बैंक के अधिकाँश निक्षेपधारी नकदी में भुगतान नहीं माँगते है, यद्यपि बैंक ऐसे भुगतान से कभी इन्कार नहीं करती है। अधिकांश भुगतान चैकों द्वारा किये जाते हैं, जो या तो उसी बैंक में जमा हो जाते हैं जिस पर वे लिखे गये हैं अथवा किसी अन्य बैंक में जमा होकर नए निक्षेप उत्पन्न करते हैं। विभिन्न बैंकों की अन्योन्य लेन-देन चलती रहती है, जिसका समायोजन समाशोधन गृहों द्वारा कर दिया जाता है। नकदी के भुगतान बहुत ही कम होते हैं।

लीफ (Leaf) तथा कैनन ने बैंकों द्वारा इस प्रकार साख निर्माण की कड़ी आलोचना की है। उनका विचार है कि साख निर्माण का कार्य निक्षेप-धारियों द्वारा आरम्भ किया जाता है, न कि बैंक द्वारा। बैंक ऋणों के प्रदान करने में इसी कारण सफल होती है कि निक्षेपधारी अपनी निक्षेपों के अधिकांश भाग का भुगतान नकदी में नहीं लेते हैं। यहाँ लीफ तथा कैनन ने बैंक के कार्य को समझने में भूल की है, क्योंकि बैंक तो साधारणतया उन्हीं निक्षेपों को ऋणों के रूप में देती है जो निकाली नहीं जाती है।

साख की सीमायें (Limits of Credit)—

इस सम्बन्ध में यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है कि बैंक किस सीमा तक साख का विस्तार कर सकती है। ऋणों के कुछ न कुछ भागों की नकदी में मांग अवश्य की जाती है। इस सम्बन्ध में *बेनहाम ने बैंकों की साख निर्माण शक्ति की तीन सीमाएँ बताई हैं, जो निम्न प्रकार हैं :—*

(१) देश में रोक (Cash) की कुल मात्रा—स्मरण रहे कि केवल रोक के आधार पर ही साख का निर्माण हो सकता है। जितनी ही देश में रोक अथवा विधिग्राह्य मुद्रा अधिक होगी उतनी ही अधिक मात्रा में साख का निर्माण हो सकेगा। किसी देश में रोक की मात्रा केन्द्रीय बैंक द्वारा निश्चित की जाती है, जो साख के विस्तार तथा संकुचन के हेतु उसे घटा-बढ़ा सकती है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक की नीति साख की सीमा निर्धारित करती है।

(२) जनता द्वारा रोक का उपयोग—यदि किसी देश में चैकों के स्थान पर नकदी के उपयोग की ही प्रथा है तो जैसे ही बैंक द्वारा साख प्रदान किया जायगा, ऋणी चैक की सहायता से नकदी प्राप्त कर लेगा। नकद कोषों में कमी होते ही बैंक की साख निर्माण शक्ति भी घट जायगी। भारत में ऐसी ही प्रथा है और इसी कारण बैंक कम मात्रा में साख का निर्माण कर पाती हैं। इसके विपरीत जिन देशों में चैकों का ही विस्तृत उपयोग होता है वहाँ बैंकों की साख निर्माण शक्ति अधिक होती है।

इस प्रकार जनता की रोक उपयोग सम्बन्धी आदतें साख के निर्माण की सीमाएँ निश्चित करती हैं।

(३) कुल दायित्त्वों के साथ नकद कोष का अनुपात—तीसरी सीमा बैंकों के नकद कोषों के उनके निक्षेपों के अनुपात द्वारा निश्चित की जाती है। कुछ देशों में तो यह अनुपात वैधानिक रूप में निश्चित कर दिया जाता है, परन्तु अन्य देशों में इसका आधार परम्परागत होता है और आदेयों की तरलता के उस अंश पर निर्भर होता है, जिसे बैंक की सुरक्षा के लिए आवश्यक समझा जाता है। यह तो स्पष्ट ही है कि जब भी बैंक द्वारा कोई नया ऋण दिया जाता है अथवा कोई नया निक्षेप उत्पन्न किया जाता है तो बैंक की देन में वृद्धि होती है और उसके साथ ही साथ बैंक के नकद कोषों और उनके निक्षेपों का अनुपात भी घटता है, परन्तु क्योंकि बैंक भुगतानों को नकदी में चुकाने की गारन्टी देती है और नकदी में भुगतान न कर पाने की दशा में बैंक के विश्वास खो देने तथा ठप्प हो जाने का भय होता है, इसलिए बैंक नकद कोषों को निक्षेपों के एक निश्चित न्यूनतम् प्रतिशत से नीचे नहीं गिरने देती हैं। जिन देशों में नकद कोषों तथा निक्षेपों के अनुपात को नियमानुसार निश्चित नहीं किया जाता है वहाँ भी अनुभव के आधार पर सुरक्षा के दृष्टिकोण से बैंकों द्वारा नकद कोषों की न्यूनतम् सीमा निश्चित कर ली जाती है। नकद कोषों तथा निक्षेपों का यह अनुपात साख के विस्तार की सबसे महत्त्वपूर्ण सीमा है।

अन्य सीमायें—

उक्त सीमाओं के अलावा बैंकों द्वारा साख-सृजन की निम्न सीमायें भी हैं— *(i) बैंक को केन्द्रीय बैंक के पास अपने दायित्त्वों का कुछ भाग रक्षित कोषों के रूप में जमा करना पड़ता है*, जिसमें दायित्त्वों की घट-बढ़ के साथ-साथ परिवर्तन होता रहता है। यह कोष भी बैंक की साख-सृजन की शक्ति को सीमित कर देती है। *(ii) केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार की क्रियाओं व बैंक दर नीति आदि* का भी बैंक द्वारा साख का प्रसार करने पर अंकुश रहता है। *(iii) जमाकर्त्ताओं की बैंकों में अपना द्रव्य रखने की इच्छा* पर भी साख का सृजन निर्भर होता है, क्योंकि यदि जमाकर्त्ता (Depositor) बैंक में रुपया कम जमा करायें, तो बैंक साख का अधिक सृजन नहीं कर सकेंगे। *(iv) जमानतों की श्रेष्ठता* पर भी साख का अधिक या कम निर्माण होना निर्भर रहता है, क्योंकि बैंक अन्य प्रतिभूतियों के आधार पर ही ऋण दिया करते हैं।

2. What is credit and how do commercial banks create credit ?
(Raj., B. A., 1954 ; Agra, B. A., 1959)

3. How does a bank create credit ? Examine the limitation's on the power of banks to create credit.
(Agra, B. A., 1956)

4. What are the different ways in which bank deposits arise ? How do loans create deposits ?
(Agra, B. Com., 1958)

5. 'Every loan creates a deposit'. How does it happen.
(Agra, B. Com., 1956)

6. बैंक साख कैसे उत्पन्न करते हैं ? साख उत्पन्न करने में बैंक की शक्ति कैसे सीमित है ?
(Sagar, B. A , 1957)

7. 'ऋण साख का निर्माण करते हैं' (Loans create credit) । इस मत की व्याख्या कीजिए और बताइये कि बैंकों या अधिकोषों द्वारा साख निर्माण कर सकने की क्या सीमाएँ हैं ?
(Sagar, B. Com., 1954)

8. Criticise the view that a bank can credit to the extent of several times the amount of its cash resources.
(Bombay, B. Com., 1950)

9. 'Loans create credit'. Discuss this statement and point out the limitations on the power of banks to create credit.
(Agra, B. Com., 1945 ; Raj., B. Com., 1950)

10. Write a note on :—Bill of Exchange.
(Raj., B. A., 1955)

अध्याय १४

बैंक की कार्य-प्रणाली

(The Banking Operations

आरम्भ—

पिछले अध्याय में हमने बैंक और उसके कार्यों का अध्ययन किया था। प्रस्तुत अध्याय में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि बैंक अपने विभिन्न प्रकार के कार्यों को किस प्रकार सम्पन्न करती है। बैंक का प्रमुख कार्य रुपये की लेन-देन करना होता है। बैंक लोगों से ब्याज पर रुपया लेती है और फिर उसी रुपये को उधार पर चलाती है। वास्तविक जीवन में बैंक ऋण के रूप में प्राप्त राशि से भी अधिक रुपया उधार दे सकती है, जिसका कारण यह होता है कि बैंक साख का निर्माण करती है और यह साख-मुद्रा भी नकद रुपये की भाँति उधार दे दी जाती है। एक साधारण व्यवसायी की भांति बैंक को भी अपना व्यवसाय चलाने के लिए धन अथवा पूँजी की आवश्यकता पड़ती है, इसलिए *बैंक की कार्य-प्रणाली का अध्ययन बड़े अंश तक इस बात का अध्ययन होगा कि बैंक किस प्रकार पूँजी प्राप्त करती है और फिर इस प्राप्त पूँजी का उपयोग करके किस प्रकार लाभ कमाती है।*

बैंक द्वारा पूँजी प्राप्त करना—

एक बैंक द्वारा पूँजी प्राप्त करने के साधन निम्न प्रकार होते हैं :—

(१) अंश पूँजी (Share Capital)—आधुनिक बैंकों का संगठन सम्मिलित पूँजी कंपनियों (Joint-stock Companies) की भाँति होता है। वे भी मिश्रित पूँजी संस्थायें होती हैं। बैंक का संचालक-मण्डल यह निश्चय कर लेता है कि बैंक कुल कितनी पूँजी से व्यवसाय आरम्भ करेगी अथवा उसकी अधिकृत पूँजी (Authorised capital) कितनी होगी। तत्पश्चात् इस अधिकृत पूँजी को अंशों में बाँट दिया जाता है, जिनमें से प्रत्येक बराबर मूल्य का होता है। इन अंशों को बाजार में बेचने के लिए उपस्थित किया जाता है। संचालक-मण्डल द्वारा बहुधा यह भी निश्चय कर दिया जाता है कि एक व्यक्ति अधिक से अधिक कितने अंश खरीद सकता है। इसके विपरीत कभी-कभी एक व्यक्ति को किसी भी सीमा तक अंश खरीदने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। अंश खरीदने वाला व्यक्ति बैंक का अंशधारी (Share-holder) कहलाता है। अंशों की बिक्री से प्राप्त राशि बैंक की पूँजी होती है और कुछ दशाओं में तो बैंक की कुल पूँजी का काफी बड़ा भाग अंश पूँजी के रूप में ही होता है। साधारणतया आरम्भ में ही यह निश्चय कर दिया जाता है कि बैंक कितनी

अंश पूँजी प्राप्त करेगी, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि इस प्रकार निर्धारित पूँजी की पूर्ण मात्रा प्राप्त हो ही जाय।

(२) निक्षेप अथवा जमाधन (Deposits)—यह बैंक की पूँजी का दूसरा साधन है। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, बैंक जनता से रुपया उधार लेकर अपने व्यवसाय में लगाती है। बैंक के ऋण साधारणतया निक्षेप अथवा जमाधन के रूप में होते हैं। लोगों को यह अधिकार होता है कि निश्चित शर्तों पर वे अपना रुपया बैंक में जमा कर सकते हैं। इस प्रकार यह रुपया सुरक्षित ही नहीं रहता, बल्कि अधिकाँश दशाओं में बैंक इस जमा पर ब्याज भी देती है। निक्षेपधारी को बिना किसी शर्त के अथवा कुछ शर्तों पर जमा किया हुआ रुपया निकालने का अधिकार दिया जाता है। निक्षेप कई प्रकार की हो सकती हैं, जैसे—चालू जमा, निश्चितकालीन जमा, अनिश्चितकालीन जमा, सेविंग बैंक जमा, गृह बचत जमा, इत्यादि। प्रत्येक प्रकार की जमा में जमाधारी और बैंक के अधिकारों में अन्तर होता है और प्रत्येक के लिए अलग-अलग प्रकार के खाते खोले जाते हैं। इन खातों में छोटी से छोटी राशि से लेकर बड़ी से बड़ी राशि भी जमा की जा सकती है। यह यथार्थ में बैंक का एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य है; क्योंकि इसी के द्वारा जनता के पास फालतू पड़े हुये धन का लाभपूर्ण उपयोग सम्भव होता है और ब्याज का लोभ देकर जनता को अधिक बचत करने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है। जिस प्रकार बूँद-बूँद पानी जमा होते-होते कुछ समय पश्चात् तालाब भर जाता है, ठीक इसी प्रकार थोड़ी-थोड़ी बचत के इकट्ठा हो जाने से देश के लिए पर्याप्त पूँजी जमा हो सकती है। वैसे भी एक अच्छी बैंक की पहिचान इसी से होती है कि उसे कितना जमाधन प्राप्त हुआ है।

(३) ऋण (Loans)—जमाधन भी एक प्रकार का ऋण ही होता है, जो बैंक द्वारा जन-साधारण से लिया जाता है, परन्तु जमाधन के अतिरिक्त एक बैंक प्रत्यक्ष रूप में भी ऋण ले सकती है। ऐसे ऋण साधारणतया व्यक्तियों से नहीं लिए जाते हैं, बल्कि अन्य बैंकों, केन्द्रीय बैंकों अथवा इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं से लिए जाते हैं। वैसे तो एक बैंक किसी भी काल में ऋण ले सकती है, परन्तु साधारण परिस्थितियों में बहुधा अंश पूँजी तथा जमाधन से ही काम चलाया जाता है। केवल असाधारण परिस्थितियों में ही ऋणों की शरण ली जाती है। जब किसी बंक के निक्षेपधारी इतनी अधिक मात्रा में नकदी की मांग करने लगते हैं कि बैंक किसी भी प्रकार अपने साधनों में से इस माँग को पूरा नहीं कर पाती है तो बैंक देश की केन्द्रीय बैंक अथवा किसी दूसरी बैंक से ऋण ले सकती है। ऐसे ऋण साधारणतया थोड़े काल के लिए ही लिये जाते हैं और संकट काल का अन्त होते ही लौटा दिये जाते हैं।

(४) साख का निर्माण (Creation of Credit)—बैंक के इस कार्य का विस्तृत अध्ययन एक पिछले अध्याय में किया जा चुका है। साख का निर्माण करना और इस प्रकार निर्मित साख में व्यवसाय करना बैंक की एक प्रमुख विशेषता

है। बैंक की देनदारी पर लोगों का विश्वास होने के कारण बैंक लगभग सदा ही उससे बहुत अधिक मात्रा में ऋण दे सकती हैं जितना कि उनके पास नकद कोष है। अपने पास केवल ५,००० रुपये नकद रहते हुए भी बैंक २५,००० रुपये तक के ऋण दे सकती है। इसका प्रमुख कारण यह होता है कि बैंक ऋण लेने वालों के खाते खोल देती है, जिसमें से वे धीरे-धीरे आवश्यकतानुसार ऋण की अधिकृत राशि निकालते रहते हैं। ऋण की सारी राशि की नकदी में माँग नहीं की जाती है। अधिकांश भुगतान केवल विभिन्न खातेदारों के खातों में आवश्यक समायोजन करके ही सम्पन्न हो जाते हैं, क्योंकि एक बैंक के विभिन्न ग्राहक या तो आपस में एक दूसरे के ग्राहक होते हैं या किसी दूसरी बैंक के ग्राहक होते हैं, जिससे पहली बैंक की लेन-देन होती रहती है।

आधुनिक युग में बैंकों के साख निर्माण-कार्य का महत्त्व बहुत ही बढ़ गया है और ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं कि बैंक अधिक मात्रा में साख का निर्माण कर सकती है, यद्यपि उसे इस सम्बन्ध में अपनी सुरक्षा का ध्यान अवश्य रखना पड़ता है। *निम्न चार कारणों ने बैंक की साख-निर्माण-शक्ति में वृद्धि की है :—*

(क) आधुनिक संसार में नकदी के स्थान पर चैक द्वारा भुगतान करने की प्रथा अधिक लोकप्रिय हो गई है, जिसके कारण बैंक से नकदी की माँग कम ही रहती है।

(ख) लोग पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा में बैंक से व्यवसाय करने लगे हैं। केवल बैंकिंग प्रणाली की लोकप्रियता में ही वृद्धि नहीं हुई है, वरन् बैंक के प्रति विश्वास भी बढ़ गया है।

(ग) समाशोधन गृहों (Clearing Houses) के विकास ने यह सम्भव बना दिया है कि विभिन्न बैंकों की अन्योन्य लेन-देन नकदी में होने के स्थान पर खातों के समायोजन द्वारा होती रहे। इसका परिणाम यह होता है कि नकदी में भुगतानों की आवश्यकता बहुत ही कम रहती है।

(घ) जनता में बैंकिंग आदत भी बढ़ती जा रही है। बैंक को निरन्तर अधिक संख्या में ग्राहक मिल रहे हैं और इन ग्राहकों की तत्काल नकदी में भुगतान लेने की आतुरता भी घट रही है।

(५) सुरक्षित कोष (Reserve Fund)—अपने व्यवसाय के अन्तर्गत बैंक आय कमाती है। इस आय का एक भाग तो कार्यवाहन व्यय को पूरा करने में खर्च हो जाता है और शेष लाभ के रूप में प्राप्त होता है। एक बैंक अपने लाभ का भी दो प्रकार उपयोग करती है—लाभ का एक भाग लाभाँश (Dividend) के रूप में अंशधारियों में बांट दिया जाता है और दूसरा भाग सुरक्षित कोष में डाल दिया जाता है। साधारणतया सुरक्षित कोष की व्यवस्था लाभाँश बाँटने से पहिले की जाती है और घोषित लाभाँश को निश्चित सीमा के ही भीतर रखा जाता है। सुरक्षित कोष बहुत सी दशाओं में तो बैंक के कुल विनियोग धन का काफी महत्त्वपूर्ण भाग होता

है और कालान्तर में कोष का आकार बढ़ता ही जाता है, परन्तु पूँजी का यह साधन बैंक को कुछ समय पश्चात् ही प्राप्त होता है, क्योंकि धीरे-धीरे व्यवसाय के लाभ में से सुरक्षित कोष बनाया जाता है। नये विधान के अनुसार भारत में बैंकों के लिए सुरक्षित कोषों का जमा करना आवश्यक हो गया है। प्रत्येक बैंक को अपने लाभों (Profits) का २०% भाग सुरक्षित कोष में तब तक स्थानान्तरित करना अनिवार्य कर दिया है जब तक कि वह दत्त पूँजी (Paid-up Capital) के बराबर न हो जाय।

बैंक के धन का विनियोग
(Investment of Funds)

बैंक के लाभ उसके विनियोगों द्वारा ही पैदा होते हैं। अंश पूँजी, जमाधन, ऋण की राशि तथा अन्य कोषों का विनियोजन करके बैंक लाभ कमाती है। कुल पूँजी को कुछ निश्चित उपयोगों तथा विनियोगों में बाँटा जाता है, जैसे—नकद कोष, मृत स्कन्ध, तरल आदेय, अतरल आदेय और लाभपूर्ण विनियोग। एक बैंक किस प्रकार अपनी कुल पूँजी को विभिन्न विनियोगों में बांटती है, इसका कोई निश्चित नियम तो नहीं हो सकता है, परन्तु समुचित विनियोजन नीति के सम्बन्ध में कुछ सामान्य नियम अवश्य बनाये जा सकते हैं। ये नियम बैंक की सुरक्षा, जनता के विश्वास और विनियोगों की लाभपूर्णता पर आधारित होंगे। प्रमुख नियम निम्न प्रकार हो सकते हैं।

बैंक की समुचित विनियोग नीति के सिद्धान्त (Principles of a Sound Banking Investment Policy)—

एक बैंक की सफलता बड़े अंश तक इस बात पर निर्भर होती है कि वह अपने कोषों का किस प्रकार विनियोजन करती है। इस सम्बन्ध में एक गलत नीति का अपनाना बैंक के लिए घातक हो सकता है। जैसा कि एक पिछले अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है कि बैंक के पास नकदी की उन समस्त माँगों की तुलना में जो उसके ऊपर की जा सकती हैं, नकद कोष बहुत ही कम होते हैं। बैंक अनुभव द्वारा यह जान लेती है कि नकदी की माँग साधारणतया कितनी रहती है और उसी के अनुसार वह नकद कोष रखती है अथवा अपनी निक्षेपों का विस्तार करती है, परन्तु कभी-कभी विशेष प्रकार की परिस्थितियाँ भी उत्पन्न हो सकती हैं। यदि बैंक ग्राहकों की नकदी की माँगों को पूरा करने में असफल रहती है तो जनता का उस पर से विश्वास उठ जाता है और फिर उसके ठप्प होने में समय नहीं लगता है। *बैंक की समुचित विनियोग नीति के आधारभूत सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं :—*

(१) सुरक्षा (Safety)–बैंक की अग्रिम तथा विनियोग नीति के सम्बन्ध में यह सबसे पहली आवश्यकता है, क्योंकि सुरक्षित विनियोगों के न होने से स्वयं बैंक का जीवन ही संकट में पड़ जाता है। अधिक लाभ कमाने के लिए सुरक्षा पर ध्यान

न देना घातक हो सकता है। इस कारण ऐसा कहा जाता है कि बिना उपयुक्त प्रतिभूति के बैंक को ऋण नहीं देना चाहिए। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो यही उपयुक्त है, परन्तु अन्य बैंकों की प्रतियोगिता के कारण बैंक को बहुत बार व्यक्तिक अथवा कम विश्वसनीय प्रतिभूतियों पर भी ऋण देना पड़ जाता है। ऐसी दशाओं में बैंक के प्रबन्धक को बहुत सोच-विचार कर तथा सावधानीपूर्वक काम करना चाहिए। व्यवसाय में लोच बनाये रखने के लिए यदि कम सुरक्षित विनियोग आवश्यक होते हैं तो उन्हें सावधानी से चुनना चाहिए।

(२) तरलता (Liquidity)—यह उपयुक्त विनियोग नीति की दूसरी आवश्यकता है। विशेष परिस्थितियों में बैंक को नकदी की अधिक आवश्यकता पड़ सकती है। इसके लिए बैंक को ऐसे आदेयों को रखना चाहिए जिन्हें सरलतापूर्वक शीघ्र ही नकदी में बदला जा सके। इस दृष्टिकोण से बैंक के लिये थोड़े काल के लिए ऋणों का देना अधिक उपयुक्त होता है, जिससे कि आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त ही धन प्राप्त किया जा सके। यदि बैंक अतरल आदेयों, जैसे—भू-सम्पत्ति, अविक्री-साध्य प्रतिभूतियों अथवा दीर्घकालीन औद्योगिक तथा कृषि ऋणों में अपना धन फँसा देती है तो यह धन काफी समय तक के लिए रुक जायगा और आदेयों पर तरलता समाप्त हो जायगी। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता कि एक सच्चा बैंकर वही है जो विनिमय बिल तथा प्राधि के अन्तर को समझता है।* बात यह है कि विनिमय बिल एक अल्पकालीन साख-पत्र होता है, जिसकी परिपक्वता अधिक से अधिक ३ महीने की होती है, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर उसे केन्द्रीय बैंक से भी भुनाया जा सकता है, अथवा अन्य किसी बैंक के हाथ बेचकर तुरन्त नकदी प्राप्त की जा सकती है। प्राधि (Mortgage) में यह बात नहीं होती। वह तो एक बड़ा ही अतरल आदेय है। यह सम्भव है कि बैंक के पास बहुत काफी अतरल आदेय रहते हुए भी उसका दिवाला निकल जाय, यदि वह अपनी नकदी सम्बन्धी माँगों को तत्काल पूरा करने में असफल रहती है। एक अच्छी बैंक के लिए तरल आदेयों में धन का अधिक मात्रा में लगाना बहुत ही आवश्यक है।

(३) जोखिम की विविधता (Diversification of Risk)—यह भी बहुत आवश्यक है कि बैंक अपना सारा या अधिकाँश धन एक ही प्रकार के ऋणों, प्रतिभूतियों, व्यवसायों अथवा विनियोगों में न लगाये, बल्कि उसका विभिन्न प्रकार के आदेयों में वितरण करे। इसका महत्त्व इस कारण है कि ऐसी दशा में एक व्यवसाय में मन्दी आने अथवा एक प्रकार की प्रतिभूतियों की तरलता घट जाने या उनकी कीमतों के गिरने का बैंक की साख पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता है। यदि सभी अण्डे एक ही टोकरी में रखे जाते हैं तो उनके टूटने का भय अधिक रहता है। इस दृष्टिकोण से यह भी अधिक उपयुक्त है कि बैंक कुछ थोड़े से उद्योगों अथवा व्यापारियों को बड़े-

---

* A true banker is one who understands the difference between a mortgage and a bill of exchange.

बड़े ऋण देने के स्थान पर छोटे-छोटे अथवा मध्यम प्रकार के ऋण बहुत से उद्योगों और व्यक्तियों को दे। इसका यह लाभ होता है कि एक समय में कुछ व्यक्तियों द्वारा भुगतान न होने से उत्पन्न होने वाली जोखिम कम हो जाती है और बैंक के लिए नकदी का एक ऐसा प्रवाह बना रहता है कि उसे ग्राहकों की नकदी की माँग पूरा करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती है।

(४) उत्पादकता (Productivity)—प्रत्येक बैंक का उद्देश्य लाभ कमाना होता है। बैंक यही देख कर ऋण देने का निर्णय करती है कि उससे किस अंश तक लाभ प्राप्त होगा। जितनी ही विनियोग अथवा आदेय की उत्पादकता अधिक होगी उतना ही उसे अधिक पसन्द किया जायगा। बैंक बहुधा स्वयं ऋण लेकर विनियोग करती है। यदि ऋण प्राप्त करने की ब्याज की दर और ऋण प्रदान करने की ब्याज की दर में अधिक अन्तर है तो ऋण देना अधिक लाभदायक होता है। बिना समुचित लाभ की आशा के विनियोग का प्रश्न ही नहीं उठता है।

(५) प्रतिभूतियों की बिक्री-साध्यता (Marketability of Securities)—यह भी सुरक्षा के दृष्टिकोण से किया जाता है। जिन प्रतिभूतियों में बैंक विनियोग करती है वे ऐसी होनी चाहिए कि उन्हें शीघ्रतापूर्वक बेचकर नकदी प्राप्त की जा सके। विनिमय साध्य साख-पत्रों, तैयार माल अथवा अच्छी कम्पनियों के अंशों और ऋण-पत्रों पर जो ऋण दिए जाते हैं उनमें तरलता तथा सुरक्षा दोनों ही रहते हैं, क्योंकि ये सभी प्रतिभूतियाँ पूर्णतया बिक्री-साध्य हैं, परन्तु अचल सम्पत्ति में लगाया हुआ धन इतनी आसानी से नहीं निकाला जा सकता है। एक बैंक इस सम्बन्ध में जितनी ही अधिक सावधान रहती है उतना ही उसके डूबने का भय कम रहता है।

कोषों के विनियोजन की मदें—

एक बैंक को अपने कोषों को साधारणतया दो प्रकार के विनियोगों में लगाना पड़ता है:—(१) लाभदायक विनियोग और (२) बिना लाभ के विनियोग। दोनों ही प्रकार के विनियोग आवश्यक होते हैं और एक बैंक को बड़ी चतुराई के साथ यह निर्णय करना होता है कि इन दोनों प्रकार के विनियोगों में कोषों का वितरण किस अनुपात में किया जाय। सुरक्षा तथा तरलता के दृष्टिकोणों से लाभहीन विनियोग आवश्यक होते हैं, परन्तु उत्पादकता के दृष्टिकोण से लाभदायक विनियोगों का चुनना आवश्यक होता है। एक बैंक को दो बातों को एक ही साथ ध्यान में रखना पड़ता है:—प्रथम, तो अंशधारियों को समुचित लाभ प्रदान किया जा सके और दूसरे, बैंक की विफलता का भय उत्पन्न न होने पाये। स्मरण रहे कि बैंक का प्रारम्भिक उद्देश्य अंशधारियों के लिए लाभ कमाना होता है। इसके लिए लाभदायक विनियोग ही अधिक पसन्द किए जाते हैं, परन्तु इस स्वार्थी नीति के कारण बहुत सी बैंकों का दिवाला निकल जाता है। इस सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिए कि बैंक का उत्तरदायित्व केवल उसके अंशधारियों के ही प्रति नहीं होता है, समाज तथा राष्ट्र के प्रति

भी उसका कुछ कर्त्तव्य हुआ करता है। बैंक की विफलता से अंशधारियों को तो हानि होती है, परन्तु समाज और राष्ट्र का भी अनहित होता है। यही कारण है कि सरकार बहुधा बैंक की विनियोग नीति में हस्तक्षेप भी किया करती है। इस हस्तक्षेप का उद्देश्य बहुधा यह होता है कि अधिक लाभ के लोभ में बैंक आदेयों की तरलता को न खोने पाये।

बैंक के लाभदायक विनियोगों में ऋण, अग्रिम, नकद साख, अधिविकर्ष आदि सम्मिलित होते हैं और उसके लाभहीन विनियोग नकद कोषों और मृत स्कन्ध (Dead Stock) के रूप होते हैं। लाभहीन आदेयों में सबसे बड़ा महत्त्व नकद कोषों का होता है। नकदी से अधिक तरलता किसी भी आदेय में नहीं होती है और प्रत्येक बैंक समय-समय पर की जाने वाली अपने ग्राहकों की नकदी की माँग को पूरा करने के लिए नकदी का संचय रखती है। आरम्भ में बैंक के नकद कोषों का अर्थ केवल उस संचय से होता था जो बैंक अपने कोष में देश के चलन के रूप में रखती थी, परन्तु वर्तमान बैंकिंग पद्धति में यह शब्द अधिक विस्तृत अर्थ में उपयोग किया जाता है। नकद कोषों में बैंक द्वारा संचित चलन के अतिरिक्त उस जमा को भी सम्मिलित किया जाता है जो बैंक विशेष अन्य बैंकों तथा केन्द्रीय बैंक में रखती है। ये कोष बैंक की सुरक्षा का सबसे बड़ा साधन होते हैं।

यह कहना कठिन है कि एक बैंक को अपने कुल निक्षेपों का कौनसा भाग नकद कोषों के रूप में रखना चाहिए। इस सम्बन्ध में सुरक्षा और लाभ दोनों ही दृष्टिकोणों के बीच समायोजन तथा सन्तुलन करना पड़ता है।

(१) नकद कोष—

बैंक के दैनिक व्यवसाय में नकद कोषों का भारी महत्त्व है। वैसे तो प्रति दिन ही बैंक के पास कुछ न कुछ नकद रुपया आता रहता है, जिसमें से वह अपने ग्राहकों की नकदी की माँगों को पूरा करती रहती है, परन्तु फिर भी यह सम्भव है कि किसी दिन नकदी की मांग उसकी प्राप्ति से अधिक हो। यदि बैंक इस मांग को पूरा करने में असमर्थ रहती है तो उसकी साख टूटती है और बैंक की सामर्थ्यहीनता की थोड़ी सी भी अफवाह बैंक के लिए भारी कठिनाई उत्पन्न कर सकती है। यही कारण है कि प्रत्येक बैंक यथेष्ठ नकद कोष रखना आवश्यक समझती है।

इस सम्बन्ध में किसी प्रकार के निश्चित नियम नहीं बनाए जा सकते हैं कि बैंक के लिए कम से कम अथवा अधिक से अधिक कितने बड़े नकद कोष आवश्यक होते हैं। अलग-अलग विद्वानों के इस सम्बन्ध में अलग-अलग मत हैं। वैसे भी विभिन्न परिस्थितियों में अलग-अलग मात्रा में नकद कोषों की आवश्यकता पड़ती है। इस सम्बन्ध में केवल अनुभव तथा सामान्य बुद्धिमानी ही सबसे उपयुक्त सहारा हो सकते हैं।

(१) नकद कोषों सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण नियम—

यद्यपि नकद कोषों की मात्रा के विषय में पूर्णतया निश्चित नियम तो नहीं

बनाए जा सकते हैं, परन्तु कुछ सामान्य बातें अवश्य बताई जा सकती हैं। इन बातों को ध्यान में रखने का परिणाम यह होता है कि बैंक को यथासमय नकदी में भुगतान करने में विशेष कठिनाई नहीं होती है। ये नियम निम्न प्रकार बताये जा सकते हैं :—

(i) वैधानिक आवश्यकता—कुछ देशों में नकद कोषों की न्यूनतम् सीमा नियम द्वारा निश्चित कर दी जाती है। उदाहरणस्वरूप, भारत में उन सभी अनुसूचित बैंकों को जिन्हें रिजर्व बैंक की अनुसूचि २ (Second Schedule) में सम्मिलित किया गया है, अपने माँग दायित्व (Demand Liabilities) का ५% और अपने समय दायित्व (Time Liabilities) का २% रिजर्व बैंक में हर समय जमा करके रखना पड़ता है। इसी प्रकार अन्य बैंकिंग कम्पनियों को नियमानुसार अपने पास अथवा रिजर्व बैंक में जमा के रूप में, अथवा कुछ अपने पास और कुछ रिजर्व बैंक में, अपने माँग दायित्व का कम से कम ५% और समय दायित्व का २% नकद कोषों में रखना होता है। जहाँ नकद कोषों की न्यूनतम् सीमा इस प्रकार निश्चित कर दी जाती है, वहाँ कम से कम उतने नकद कोष तो अवश्य रखे जाते हैं, यद्यपि व्यवहार में बैंकों को इससे अधिक अनुपात में नकद कोष रखने पड़ते हैं।

(ii) ग्राहकों की मनोवृत्ति तथा क्षेत्र विशेष की व्यवसायिक दशाएँ—यदि लोगों में चैक (धनादेश) द्वारा भुगतान करने की प्रथा अधिक प्रचलित है तो साधारणतया कम नकद कोषों से काम चल जाता है। भारत जैसे देश में, जहाँ अधिकाँश भुगतान नकदी में ही होते हैं, नकदी को अधिक मात्रा में रखना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त यदि स्थानीय क्षेत्रों में औद्योगिक तथा व्यापारिक व्यवसाय हैं, जिसके कारण विनिमय का कार्य काफी जल्दी तथा अधिक मात्रा में होता है तो नकदी की आवश्यकता अधिक रहेगी। कृषक क्षेत्रों में बैंक नकद कोषों से ही अपना कार्य चला सकती है।

(iii) व्यवसाय की प्रकृति (Nature of the Business)—नकद कोषों की मात्रा इस बात पर भी निर्भर होती है कि बैंक किस प्रकार के विनियोग करती है। यदि कोई बैंक अपने धन का अधिकाँश भाग विनिमय बिलों, विनिमय-साध्य प्रतिभूतियों तथा अल्पकालीन ऋणों में लगाती है तो उसे अपेक्षतन कम नकद कोषों की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि उसके अधिकाँश आदेय तरल रूप में होते हैं, जिनका किसी भी समय निस्तारण करके तत्काल नकदी प्राप्त की जा सकती है। इसके विपरीत यदि बैंक के अधिकाँश विनियोग ऋणों में अथवा अतरल आदेयों के रूप में हैं, तो उसे अधिक मात्रा में नकद कोष रखने पड़ते हैं।

(iv) बैंकरों के निकासी गृहों का होना (The Presence of Banker's Clearing Houses)—निकासी गृह का कार्य यह होता है कि ये विभिन्न बैंकों की अन्योन्य लेन-देन का समायोजन करते हैं। ऐसी दशा में प्रत्येक बैंक को उन सभी धनादेशों का नक़दी में भुगतान नहीं करना पड़ता है, जो इसके ऊपर

लिखे गये हैं और दूसरी बैंकों में जमा कर दिए गए हैं। उसे केवल उन चैकों की राशि जो कि दूसरे बैंकों पर लिखे गए हैं और उनके पास जमा हैं तथा उन धनादेशों की राशि जो अन्य बैंकों के पास हैं और उसके ऊपर लिखे गए हैं, का अन्तर ही नकदी में देना पड़ता है। निकासी गृह के न होने की दशा में प्रत्येक चैक का नकदी में भुगतान करना आवश्यक होता है। भारत में निकासी गृहों के अभाव के कारण अधिकाँश बैंकों को अधिक बड़े नकद कोष रखने पड़ते हैं।

(v) खातों की प्रकृति—नकद कोषों की मात्रा इस बात पर भी निर्भर होती है कि बैंक में खोले हुए विभिन्न प्रकार के खाते कैसे हैं। यदि खाते इस प्रकार के हैं कि उनमें तेजी के साथ धन आता-जाता रहता है तो बैंक के लिए अधिक मात्रा में नकदी का रखना आवश्यक होता है। दलालों तथा सोने-चाँदी के व्यापारियों के खाते इसी प्रकार के होते हैं। इसी प्रकार यदि चालू खातों की ही अधिकता है तो बड़े नकद कोषों की आवश्यकता पड़ेगी। इसी प्रकार वे बड़ी-बड़ी बैंक, जिनमें स्थानीय छोटी-छोटी बैंकों की जमा रहती है, छोटी बैंकों की अपेक्षा अधिक नकदी रखती हैं। इसके विपरीत यदि निश्चितकालीन जमा के खाते अधिक हैं तो छोटे नकद कोषों से भी काम चल सकता है।

(vi) निक्षेपों का आकार (Size of the Deposits)—बैंक के नकद कोषों की आवश्यकता उसके ग्राहकों की संख्या पर भी निर्भर होती है। यदि बैंक के थोड़े से ही ग्राहक हैं, जिनके बड़े-बड़े खाते खुले हुए हैं तो नकदी की आवश्यकता अधिक रहेगी, किन्तु यदि बैंक के छोटे-छोटे खातों वाले बहुत से ग्राहक हैं तो नकदी की माँग कम होगी। कारण यह है कि बैंक के अधिकाँश ग्राहक आपस में भी एक-दूसरे के ग्राहक होते हैं और उनके खातों में आवश्यक समायोजन करके ही अधिकाँश भुगतान चुका दिए जाते हैं, अतः हम इस प्रकार कह सकते हैं कि जितना ही बैंक का व्यवसाय विस्तृत होगा उतना ही अपेक्षतन कम नकद कोषों से काम चल जायगा।

(vii) अन्य बैंकों की नकद कोष नीति—व्यवसायिक मनोवृत्ति भेड़ की सी मनोवृत्ति होती है। सभी बैंक एक-दूसरे की देखा-देखी अपने-अपने नकद कोषों को घटाती-बढ़ाती हैं। यदि किसी क्षेत्र में बहुत सी ऐसी बैंक हैं जो नकद कोष अधिक मात्रा में रखती हैं तो दूसरी बैंकों को यह भय होने लगता है कि इन बैंकों पर जनता का विश्वास अधिक हो जाने के कारण इनकी प्रतियोगिता शक्ति अधिक हो जायगी और वे अन्य बैंकों के ग्राहकों को तोड़ लेंगी। इस कारण दूसरी बैंक भी अधिक नकद कोष रखने लगती हैं।

उपरोक्त सभी बातों को ध्यान में रखकर और सामान्य अनुभव और बुद्धिमानी से काम लेकर एक बैंक यह निश्चित करती है कि उसे अपनी कुल निक्षेपों का कौनसा प्रतिशत नकद कोष के रूप में रखना चाहिए। कुछ देशों में नकद कोष का न्यूनतम् प्रतिशत विधानानुसार भी निश्चित कर दिया जाता है, जिसे हम विधानतः रोक निधि

(Statutory Cash Reserve) कहते हैं। इस व्यवस्था का अभिप्राय यह होता है कि इस प्रकार निश्चित प्रतिशत से नीचे कोई भी बैंक अपने नकद कोषों को नहीं घटा सकती है, यद्यपि कोई भी बैंक इससे अधिक मात्रा में नकद कोष रखने के लिए पूर्णतया स्वतन्त्र होती है। विधानानुसार भारत में प्रत्येक व्यापारिक बैंक को अपने चालू खाते का ५% और सावधि जमा (Time Deposits) का २% नकदी के रूप में रिजर्व बैंक में रखना अनिवार्य है। व्यवहार में यह नकद कोष बहुत कम है, इसलिए सभी बैंक इसके अतिरिक्त और भी नकद कोष अपने पास रखती हैं।

(२) मृत स्कन्ध (Dead Stock)—

नकद कोषों के पश्चात् यह बैंक का दूसरा लाभहीन आदेय होता है। बैंक को अपनी इमारत, भूमि, फर्नीचर (Furniture), फिटिंग तथा अन्य स्थिर आदेयों पर भी व्यय करना पड़ता है। इन सबकी व्यवस्था व्यवसाय के संचालन के लिए आवश्यक होती है, यद्यपि इनसे कोई भी आय प्राप्त नहीं होती है। इन आदेयों (Assets) को मृत स्कन्ध इस कारण कहा जाता है कि इन्हें सरलतापूर्वक बेचा नहीं जा सकता है। ये सरलतापूर्वक विनिमय साध्य नहीं होते हैं और इन्हें बेचने से बैंक के मान को हानि पहुँचती है, जो उसके व्यवसाय के लिए घातक है। इनको केवल उसी समय बेचा जाता है जबकि बैंक ठप्प हो जाती है और उसके सभी प्रकार के आदेयों को बेच कर लेनदारों का भुगतान किया जाता है। साधारणतया मृत स्कन्धों पर बैंकों को काफी व्यय करना पड़ता है और प्रत्येक बैंक आरम्भ में ही इस व्यय के लिए धन का प्रबन्ध करती है। आरम्भ में व्यय कर देने के पश्चात् आगे चलकर इस मद पर प्रति वर्ष बहुत ही कम व्यय की आवश्यकता पड़ती है। इसी कारण बैंक के चालू व्यय में मृत स्कन्ध व्यय का बहुत ही कम महत्त्व रहता है।

मृत स्कन्धों का रखना भी बैंक के लिए आवश्यक है। इनके बिना कार्य-स्थान की समुचित व्यवस्था कठिन होती है। बैंक को अपना दिन प्रति दिन का काम ठीक-ठीक चलाने के लिए ही नहीं, बल्कि अपनी प्रतिष्ठा के लिए भी समुचित कार्य-स्थान तथा फर्नीचर आदि की आवश्यकता पड़ती है।

बैंक के लाभदायक आदेय—

बैंक के लाभदायक आदेयों में याचना राशि (Call Money), विनियोग (Investments), अग्रिम (Advances), ऋण, नकद-साख, अधि-विकर्ष (Overdraft), विनिमय बिलों को भुनाना, स्वीकृतियाँ (Acceptances) आदि सम्मिलित होते हैं। इनमें से प्रत्येक का अलग-अलग वर्णन नीचे किया जायेगा।

(१) याचना राशि अथवा अल्प सूचनार्थ ऋण (Money at Short Notice)—

इसमें वे सब ऋण सम्मिलित होते हैं जो थोड़े काल का नोटिस देकर वसूल किये जा सकते हैं। ऐसे ऋणों में मुद्रा-बाजार, बिल के दलालों तथा स्टॉक एक्स-

चेन्ज के व्यापारियों को दिये हुए ऋण सम्मिलित होते हैं। प्रत्येक बैंक इस प्रकार की कुछ जमा अवश्य रखती है, जिसे बिना सूचना अथवा कुछ समय की सूचना पर तुरन्त निकाला जा सकता है। सुरक्षा के दृष्टिकोण से नकद कोषों के बाद बैंक के आदेयों में दूसरा नम्बर इन्हीं का आता है, परन्तु नकद कोषों की अपेक्षा ये इस कारण अधिक अच्छे होते है कि सुरक्षा के साथ-साथ इनसे आय भी प्राप्त होती है।

इङ्गलैंड आदि देशों में इसी प्रकार के ऋण बिल के दलालों, डिस्काउन्ट गृहों (Discount Houses) और स्टॉक एक्सचेन्ज (Stock Exchange) के आढ़तियों और दलालों को दिये जाते हैं और इन्हें बहुत बार केवल एक ही घन्टे का नोटिस देकर वसूल किया जा सकता है। भारत में बिलों को भुनाने वाले गृह तथा निर्गम गृह (Issue Houses) नहीं हैं, इसलिए हमारे देश में याचना राशि को एक बैंक द्वारा दूसरी बैंकों को ही देने की प्रथा अधिक प्रचलित है। परिणामस्वरूप तरल आदेयों की प्राप्ति कम अंश तक ही हो पाती है।

(२) बिलों का भुनाना—

लाभदायक विनियोग में दूसरा नम्बर बिलों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों के भुनाने का आता है। बैंक बिलों को भुनाती है और उन्हें खरीद कर भी रख लेती है। बिलों की परिपक्वता अवधि साधारणतया ६० से ६० दिन तक की होती है, यद्यपि बिल को बेच कर अथवा केन्द्रीय बैंक से भुनवा कर इससे पहले भी धन प्राप्त किया जा सकता है। यही बात प्रतिज्ञा-पत्रों और कोषागार विपत्रों (Treasury Bills) के क्रय-विक्रय के सम्बन्ध में भी की जा सकती है। भारतीय बैंक प्रतिज्ञा-पत्रों में व्यवसाय कम करती हैं और उन पर साधारणतया जमानत भी माँगती हैं। कोषागार विपत्रों अथवा सरकारी हुण्डियों में रुपया लगाना अच्छा समझा जाता है। इसमें जोखिम कम रहती है, सुरक्षा अधिक रहती है और इन हुण्डियों को सरलता से बेचा जा सकता है। इन हुण्डियों की परिपक्वता अवधि भी अधिक से अधिक एक वर्ष की होती है। परन्तु अन्य अल्पकालीन विनियोगों की भाँति इन पर भी ब्याज की दर कम रहती है। भारत में बिल बाजार का समुचित विकास न होने के कारण और उनके क्रय-विक्रय में कठिनाई होने के कारण बिलों में लगाये हुए धन की मात्रा सीमित ही रहती है। यह भारतीय मुद्रा-बाजार का एक गम्भीर दोष है, जिसे शीघ्र ही दूर करने की आवश्यकता है। बिल बाजार के विकास से आदेयों की तरलता और लाभपूर्णता दोनों एक ही साथ प्राप्त हो सकती हैं। पिछले कुछ वर्षों से रिजर्व बैंक ने इस दिशा में कुछ प्रयत्न आरम्भ भी किये हैं।

(३) विनियोग—

ये बैंक के तीसरे लाभदायक आदेय हैं। विनियोगों के सम्बन्ध में बैंक सुरक्षा, विनिमय साध्यता, मूल्य स्थिरता तथा उत्पादकता को विशेषकर देखती है। अच्छी बैंक अपने कोषों का एक काफी बड़ा भाग परम प्रतिभूतियों (Guilt-edged Securi-

ties) में लगाती है। विनियोग सोने और चांदी में भी किये जा सकते हैं। श्रेष्ठता के दृष्टिकोण से सबसे उत्तम प्रतिभूतियाँ केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की प्रतिभूतियाँ होती है। इसके पश्चात् अर्द्ध-सरकारी लोक अधिकारियों, जैसे—नगरपालिकाओं, जिला बोर्डों तथा अन्य लोक संस्थाओं की प्रतिभूतियों का नम्बर आता है। इसके अतिरिक्त और भी बहुत सी प्रकार की प्रतिभूतियों में धन लगाया जा सकता है, जैसे—रेलों के अंग, ऋण-पत्र, बाँड आदि, लोक उपयोगी सेवाओं (Public Utility Services) की प्रतिभूतियाँ, सरकारी ऋण, औद्योगिक कम्पनियों के अंश, ऋण-पत्र, बांड आदि। भारतीय बैंक सरकारी हुण्डियों में धन लगाना अधिक पसन्द करती हैं, क्योंकि देश में अन्य प्रकार की प्रतिभूतियाँ कम संख्या में प्राप्त होती हैं।

(४) ऋण तथा अग्रिम—

ऋण तथा अग्रिम विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं और इनकी सम्बन्धित प्रतिभूतियां भी अलग-अलग प्रकार की होती हैं। अग्रिम साधारणतया ऋण, नकद साख तथा अधि-विकर्ष का रूप लेते हैं। ऐसे अग्रिम व्यक्तिगत प्रतिभूतियों, गारन्टी अथवा अन्य उपयुक्त प्रतिभूतियों के आधार पर दिये जा सकते हैं। व्यक्तिगत प्रतिभूति पर दिए हुए ऋण साधारणतया अरक्षित अग्रिम (Unsecured advances) होते हैं और प्रतिज्ञा-पत्रों पर दिये जाते हैं, परन्तु साधारणतया व्यक्तिगत प्रतिभूति के साथ कोई सहायक प्रतिभूति (Collateral Security) भी ली जाती है। ऐसी प्रतिभूतियाँ स्टॉक एक्सचेन्ज प्रतिभूति, विनिमय-साध्य साख-पत्र, माल के अधिकार-पत्र (Titles), बीमा पॉलिसी, अचल सम्पत्ति आदि के रूप में होती हैं।

बैंक की ऋण दान नीति

यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि ऋणों का प्रदान करना बैंक का महत्त्वपूर्ण कार्य है और उसकी आय का भी प्रमुख साधन है। *साधारणतया बैंक के ऋण तीन प्रकार के होते हैं :—*

(१) साधारण ऋण तथा अग्रिम,
(२) अधि-विकर्ष (Over-draft) और
(३) नकद-साख (Cash-credit)।

(१) साधारण ऋण तथा अग्रिम—साधारण ऋणों को प्रदान करने की रीति यह होती है कि बैंक ऋण लेने वाले का खाता अपने यहाँ खोल लेती है। इस प्रकार व्यवहार में बैंक के ऋणी और उसके जमाधारी में अन्तर नहीं होता है। ऋण की राशि को ऋणी एक साधारण जमाधारी की भाँति चैक द्वारा कभी भी निकाल सकता है, परन्तु कोई भी ऋण देने से पहले बैंक प्रार्थी की आर्थिक स्थिति और उसकी साख की भली-भाँति जाँच कर लेती है। बैंक ऋण के लिये समुचित जमानत का भी अनुरोध करती है। ब्याज की दर पहले से ही निश्चित कर ली जाती है, जिसमें ऋण के भुगतान की अवधि के अनुसार अन्तर होता है। ऋणी को उधार की सारी

राशि पर ब्याज देना पड़ता है, चाहे वह उपयोग एक दम करता है अथवा धीरे-धीरे, परन्तु अधिकांश बैंक बिना उपयोग की हुई राशि पर नीची दर पर ब्याज लेती हैं। *प्रार्थी की साख का पता लगाने के लिए बैंक के पास अनेक साधन होते हैं। प्रमुख साधन निम्न प्रकार हैं :—*

(१) कुछ संस्थाएँ ऐसी होती हैं जो विभिन्न व्यापारियों की आर्थिक स्थिति और साख सम्बन्धी सूचनाओं को एकत्रित करती हैं। बैंक इन संस्थाओं की सेवाओं का उपयोग करती है। यूरोप के सभी देशों में ऐसी संस्थाएँ बहुत हैं और विश्वसनीय भी होती हैं, परन्तु भारत में इनकी कमी है।

(२) उन व्यापारियों और संस्थाओं से पूछताछ की जाती है जिनसे प्रार्थी का लेन-देन रहता चला आया है।

(३) एक बैंक दूसरी बैंक को भी इसी प्रकार की सूचना देती रहती है और अपने ग्राहक की साख दूसरी बैंक को बता देती है।

(४) प्रार्थी फर्म के वार्षिक चिट्ठे के निरीक्षण से भी उसकी साख का अनुमान लगाया जा सकता है।

(५) प्रार्थी फर्म के वार्षिक अंकेक्षण विवरण (Audit Report) को देख कर।

(६) अपने कर्मचारियों और विशेषज्ञों को भेज कर जानकारी प्राप्त करके।

(७) यदि प्रार्थी बैंक का ही पुराना ग्राहक है तो उसकी लेन-देन का पिछला इतिहास देखकर।

(२) अधि-विकर्ष—अधि-विकर्ष की सुविधा केवल बैंक के जमाधारी को ही दी जाती है। रुपया जमा करने वाले को यह सुविधा दी जाती है कि वह आवश्यकता पड़ने पर जमा की राशि से कुछ अधिक रुपया भी खाते में से निकाल सकता है। यह सुविधा चालू खातों पर ही दी जाती है। जमाधारी से केवल उतनी ही राशि पर ब्याज लिया जाता है जितनी वह दिन प्रति निकालता रहता है। साधारणतया अधि-विकर्ष की सीमा निश्चित कर दी जाती है और इस प्रकार के ऋण के लिए कोई जमानत नहीं माँगी जाती है, यद्यपि कभी-कभी बैंक जमानत का भी अनुरोध करती है।

(३) नकद साख—नकद साख की सुविधा भी साधारणतया ग्राहकों अथवा खातेधारियों को ही दी जाती है, यद्यपि कभी-कभी यह अन्य व्यक्तियों को भी दी जा सकती है। इस प्रकार के ऋणों के लिए प्रत्येक दशा में जमानत ली जाती है और वह भी माल अथवा सम्पत्ति की। व्यक्तिगत जमानत अथवा प्रतिज्ञापत्र पर ऐसे ऋण नहीं दिये जाते हैं। ऋणी माल अथवा सम्पत्ति को बैंक के गोदाम में जमा कर देता है, अथवा अपनी फसल, धन, तैयार माल आदि को गिरवी रखता है। जैसे-जैसे ऋणी रुपया चुकाता जाता है, बैंक उसके माल को छोड़ती रहती है। साधारणतया अचल तथा अक्रय

प्रतिभूति पर ऐसे ऋण नहीं दिये जाते हैं। अधि-विकर्ष की भाँति ऐसे ऋणों में भी केवल उसी राशि पर ब्याज लिया जाता है जिसका ऋणी द्वारा वास्तव में उपयोग किया जाता है। बिना निकाली हुई राशि पर ब्याज नहीं लिया जाता है।

ऋण की प्रतिभूतियाँ अथवा जमानतें
(Securities)

दो प्रकार की प्रतिभूतियाँ—

बैंक द्वारा सभी प्रकार के ऋण किसी न किसी प्रकार की जमानत पर दिये जाते हैं। इन जमानतों को आर्थिक भाषा में प्रतिभूति कहा जाता है। प्रतिभूतियों को दो भागों में बाँटा जा सकता है :—(I) व्यक्तिगत प्रतिभूतियाँ, (Personal Securities) और (II) सहायक प्रतिभूतियाँ (Collateral Securities)।

(I) व्यक्तिगत प्रतिभूतियाँ—

व्यक्तिगत प्रतिभूति किसी ऐसी जमानत को कहते हैं जो स्वयं ग्राहक के व्यक्तित्व द्वारा प्रस्तुत की जाती है। बैंक ऋण लेने वाले व्यक्ति की आर्थिक स्थिति, साख, चरित्र, व्यवसाय प्रणाली और व्यापार कुशलता को देखती हैं और यदि ये सभी विश्वसनीय है तो इन्हीं के आधार पर बिना किसी प्रकार की जमानत लिये ऋण दे सकती हैं। ऐसे ऋणों के देने में विशेष सावधानी बर्ती जाती है और बैंक बिना समुचित जाँच के ऋण नहीं देती हैं। इस प्रकार दिये हुये ऋणों की संख्या और मात्रा भी सीमित ही रहती है। यह सुविधा साधारणतया उन ग्राहकों को दी जाती है जो काफी समय से बैंक के साथ व्यवसाय करते चले आये हैं और जिन्हें बैंक भली भाँति जानती है। *भारत में इस प्रकार दिये जाने वाले ऋणों का सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण अधि-विकर्ष है,* जिसमें बैंक अपने ग्राहक को बिना किसी जमानत के उसके खाते में जमा की हुई राशि से अधिक धन निकाल लेने का अधिकार दे देती है। व्यक्तिगत प्रतिभूति पर दिये जाने वाले अन्य ऋण वे होते हैं जिनमें ऋणी से प्रतिज्ञा-पत्र लिखवा लिया जाता है और उस पर जमानत के रूप में दो प्रतिष्ठित व्यक्तियों के हस्ताक्षर करा लिए जाते हैं। *इस प्रकार की जमानत के दो रूप हो सकते हैं :*—(१) विशेष (Specific), जिसमें जमानत देने वालों के हस्ताक्षर किसी विशेष ऋण के ही लिए स्वीकार किये जाते हैं और (२) चालू (Current), जिसमें जमानती हस्ताक्षरों को ऋण लेने वाले के प्रत्येक अगले ऋण के लिए भी मान लिया जाता है।

(II) सहायक प्रतिभूतियाँ—

इसी प्रकार की जमानतें किसी वस्तु की आड़ के रूप में ली जाती हैं। बैंक बहुधा व्यक्तिगत प्रतिज्ञा-पत्र अथवा जमानती हस्ताक्षरों पर ऋण नहीं देती हैं, बल्कि माल, सम्पत्ति, सोना, चांदी आदि को आड़ में रखकर ऋण देती हैं। ये जमानतें भौतिक वस्तुओं के रूप में होती हैं। *तीन प्रकार की भौतिक जमानतें अधिक प्रच-*

लित हैं—(१) *ग्रहणाधिकार (Lien)*, जिसमें आड़ में रखी हुई वस्तु बैंक के पास रखी जाती है, परन्तु ऋण का भुगतान न होने की दशा में बैंक वस्तु को उस समय तक नहीं बेच सकती है जब तक कि वह न्यायालय से कुर्की का आदेश प्राप्त नहीं कर लेती है, (२) *गिरवी (Pledge)*, जिसमें आड़ में रखी हुई वस्तु को बेचने के लिए न्यायालय की आज्ञा की आवश्यकता नहीं पड़ती है, बैंक द्वारा ऋणी को समुचित सूचना देना ही पर्याप्त होता है और (३) *प्राधि अथवा रहन (Mortgage)*, जिसमें अङ्कित शर्त के अनुसार आड़ में रखी हुई वस्तु पर ऋणी का ही अधिकार रहता है, अथवा उसके स्वामित्व का बैंक को हस्तान्तरण हो सकता है ।

सहायक प्रतिभूतियों के प्रकार—

भारत में साधारणतया पाँच प्रकार की सहायक प्रतिभूतियों का चलन है :—(१) स्टॉक एक्सचेंज में बिकने वाले पत्र, (२) विनिमय बिल, (३) माल अथवा माल के अधिकार-पत्र (४) जीवन बीमा पत्र और (५) अचल सम्पत्ति ।

(१) स्टॉक एक्सचेंज में बिकने वाले पत्र—

इन पत्रों में सरकारी हुण्डियाँ, कम्पनियों के अंश, ऋण-पत्र, प्रतिज्ञा-पत्र तथा अन्य प्रकार के विनिमय-साध्य साख-पत्र सम्मिलित होते हैं । ऐसी प्रतिभूतियों को बैंक बहुत पसन्द करती है । *इनके प्रमुख गुण निम्न प्रकार होते हैं* :—(१) इन्हें आवश्यकता पड़ने पर सरलतापूर्वक तत्काल बेच कर नकदी प्राप्त की जा सकती है । (२) इनकी बाजार कीमत का पता सरलता से तथा शीघ्र लग जाता है । (३) बिक्री-साध्य होने के कारण इनके स्वामित्व में किसी प्रकार का झगड़ा नहीं होता है । (४) इनकी कीमत बिना कठिनाई के वसूल की जा सकती है । (५) इनकी कीमतों में काफी स्थिरता रहती है । इन्हें केन्द्रीय बैंक तथा अन्य बैंक भी ऋणों की जमानत के रूप में स्वीकार कर लेती हैं ।

इन गुणों के साथ-साथ ऐसी प्रतिभूतियों के कुछ दोष भी होते हैं:—(१) अंशों को सावधानी के साथ देख-भाल कर खरीदना आवश्यक होता है, क्योंकि यदि अंशधारी पर कम्पनी का कुछ ऋण शेष है तो कम्पनी उसे अंश में से वसूल कर लेती है, जिस दशा में ऐसे अंश को प्राप्त करने वाली बैंक को हानि हो सकती है । (२) बैंक को यह देखना पड़ता है कि अंश विशेष की पूरी रकम चुका दी गई है या नहीं । यदि सावधानी से काम नहीं लिया जाता है तो अशोधित रकम बैंक को चुकानी पड़ती है । (३) कुछ साख-पत्र पूर्णतया विनिमय-साध्य नहीं होते हैं, इसलिए इन्हें प्राप्त करने के पश्चात् बैंक बेचने में कठिनाई अनुभव कर सकती है । उपरोक्त सभी दोषों से केवल यही सिद्ध होता है कि इन प्रतिभूतियों के स्वीकार करते समय सावधानी की आवश्यकता होती है ।

व्यवहारिक जीवन में तीन प्रकार की सावधानी रखने से बैंक के लिए हानि का भय कम रह जाता है :—(१) प्रतिभूतियों की कीमतों में परिवर्तन की

सम्भावना रहती है। इसलिए यह आवश्यक है कि प्रतिभूति की कीमत से कम के ऋण दिए जायँ। (२) ऐसे अंश अथवा अन्य पत्र न खरीदे जायँ जिनका पूरा भुगतान नहीं हो पाया है। (३) बैंक को ऐसे साख-पत्र नहीं खरीदने चाहिए जो स्वतन्त्रता-पूर्वक विनिमय-साध्य (Negotiable) नही हैं।

(२) विनिमय बिल—

विनिमय बिलों को बैंक द्वारा अच्छी प्रतिभूति समझा जाता है। एक व्यापारी विनिमय बिल को बैंक से भुनवा कर ऋण प्राप्त कर सकता है। ऐसी दशा में उसे बिल की परिपक्वता अवधि के शेष भाग के लिए ही बैंक को ब्याज देना पड़ता है। परिपक्वता पर बैंक बिल को लिखने वाले व्यापारी के पास प्रस्तुत करती है और अंकित राशि वसूल कर लेती है। आवश्यकता पड़ने पर बैंक भी बिल को दुबारा भुनवा सकती है। यह कार्य केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है। विनिमय बिल एक बिक्री-साध्य साख-पत्र होता है और बैंक के अल्पकालीन विनियोग को सूचित करता है। *इस प्रकार की प्रतिभूति के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—*

(१) इसके मूल्य में परिवर्तन का प्रश्न नहीं उठता है।

(२) इसके बेचने तथा दुबारा भुनवाने में कठिनाई नहीं होती है, इसलिए यह एक बहुत तरल आदेय होता है।

(३) इसकी आड़ पर ऋण मिल सकते हैं।

(४) यदि विनिमय बिल सावधानीपूर्वक चुना जाता है तो इसकी राशि के वसूल होने में सन्देह नहीं होता है।

इस प्रतिभूति का एक-मात्र दोष यही होता है कि यदि स्वीकार करने वाला पक्ष भुगतान देने से इन्कार कर देता है तो बैंक को काफी कठिनाई होती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि बैंक विनिमय बिल के स्वीकार करने वाले की साख की सावधानी के साथ जाँच करे। स्वीकार करने वाले पक्ष की साख का देख लेना आवश्यक होता है। साथ ही, बैंक के लिए यह भी आवश्यक है कि वह गिरवी (Pledge) के रूप में विनिमय बिल को स्वीकार न करे, क्योंकि ऐसी दशा में भी काफी कठिनाई हो सकती है।

आधुनिक व्यवसायिक जगत में बैंक द्वारा बिल के स्वीकरण का भारी महत्त्व हैं। बैंक द्वारा बिल के स्वीकरण का अभिप्राय यह होता है कि बैंक अपने ग्राहक की ओर से बिल पर हस्ताक्षर करके उसे स्वीकार कर लेती है। यह बिल लिखने वाले अर्थात् माल बेचने वाले के विश्वास के लिए किया जाता है। यदि बैंक का ग्राहक किसी व्यापारी से माल खरीदता है तो ग्राहक की साख अज्ञात होने के कारण व्यापारी माल उधार देने में संकोच करता है। वह ग्राहक पर बिल लिखने में इसलिए डरता है कि कहीं धन डूब न जाय। ऐसी दशा में विक्रेता के विश्वास के लिए ग्राहक अपनी बैंक पर बिल लिखने का आदेश दे सकता है। बिल बैंक पर लिखने में विक्रेता के अविश्वास का प्रश्न ही नहीं उठता है। इस बिल को अपने ग्राहक की ओर से बैंक द्वारा

स्वीकार किया जाता है। परिपक्वता पर विक्रेता बैंक से रुपया पा लेने का अधिकारी होता है और क्योंकि बैंक अपने ग्राहकों की साख से परिचित होती है, वह भी इस प्रकार के बिल के भुगतान का उत्तरदायित्व ले लेती है। परिपक्वता पर बैंक ग्राहक से बिल की राशि ले लेती है और इसके अतिरिक्त कमीशन के रूप में अपनी सेवा का पारितोषण भी ले लेती है। इस स्वीकरण से विक्रेता, ग्राहक और बैंक तीनों को ही लाभ होता है। विक्रेता को धन डूबने का भय नहीं रहता है, ग्राहक को उधार माल मिल जाता है और बैंक अपना कमीशन पा जाती है।

बैंक बिलों का स्वीकरण भी सोच-विचार के पश्चात् करती है। प्रत्येक व्यक्ति को यह सुविधा नहीं दी जा सकती है। केवल कुछ विश्वसनीय व्यापारियों तथा बैंक के अपने ग्राहकों की ओर से ही बिल स्वीकार किये जाते हैं। *प्रत्येक दशा में बैंक दो बातों पर ध्यान देती है :*—(१) उस व्यक्ति की साख और आर्थिक स्थिति जिसकी ओर से बिल स्वीकार किया जा रहा है और (२) अपनी स्वयं की शोधनक्षमता। यदि ग्राहक की साख सन्देहपूर्ण है अथवा यदि उसकी आर्थिक स्थिति बिगड़ने वाली है तो बैंक उसकी ओर से बिल को स्वीकार करने से इन्कार कर सकती है। ठीक इसी प्रकार यदि बैंक को यह भय है कि बिल को स्वीकार करने से उसकी अपनी आर्थिक दशा के बिगड़ने की सम्भावना है तो बैंक स्वीकरण नहीं करेगी। स्मरण रहे कि बिल के भुनाने (Discounting) तथा उसके स्वीकरण (Acceptance) में अन्तर होता है, यद्यपि दोनों में ही बैंक लाभ कमाती है। भुनाने की दशा में तो बैंक एक पहले से स्वीकार किए हुए बिल को खरीदती है, परन्तु स्वीकरण में वह ग्राहक की ओर से स्वयं बिल को स्वीकार करती है।

(३) माल और उसके अधिकार-पत्र—

इस प्रकार की प्रतिभूति माल की वास्तविक जमा अथवा माल की जमा की रसीदों के रूप में होती है। बैंक अपने गोदामों में गिरवी माल को जमा करा सकती है अथवा माल ऋणी के ही गोदामों में रह सकता है, परन्तु गोदाम की चाबी बैंक के पास रहती है। इन दोनों ही दशाओं में बैंक के सामने माल की भौतिक उपस्थिति आवश्यक होती है, परन्तु सभी दशाओं में बैंक ऐसी उपस्थिति का अनुरोध नहीं करती है। वह माल के अधिकार-पत्रों (Document of Titles) को भी आड़ में रख कर ऋण दे सकती है, जैसे—जहाजों की रसीदें, डाक की रसीदें, रेलों की रसीदें, स्वीकृत गोदामों की माल जमा की रसीदें, इत्यादि। *प्रतिभूति के रूप में ऐसे अधिकार-पत्रों के दो लाभ होते हैं :*—(१) माल का मूल्य आसानी से जाना जा सकता है और (२) धन डूबने का भय नहीं रहता, क्योंकि आड़ में रखे हुए माल की बिक्री पर तुरन्त रुपया मिल जाता है। व्यापारी द्वारा रुपए न देने की दशा में बैंक माल को नीलाम करके रुपया वसूल कर सकती है, परन्तु इस सम्बन्ध में कुछ व्यवहारिक कठि-

नाइयाँ हैं और बैंक को सावधान रहने की आवश्यकता है। *प्रमुख कठिनाइयाँ निम्न प्रकार हैं :—*

(१) बैंक को गोदाम का प्रबन्ध करना पड़ता है। उसे या तो अपनी ओर से गोदाम बनाने पड़ते हैं या ऐसे गोदामों को खोजना पड़ता है जो सुरक्षित तथा विश्वसनीय हों।

(२) यह भय सदा ही रहता है कि रखे-रखे माल के दाम घट जाने के कारण प्रतिभूतियों का मूल्य कम न हो जाय ।

(३) गोदामों में माल के खराब हो जाने अथवा नष्ट हो जाने का भय रहता है।

(४) अधिकार-पत्रों द्वारा सूचित माल के खो जाने अथवा नष्ट हो जाने का भय रहता है।

(५) माल के सही मूल्य का आंकना कठिन होता है।

(६) अधिकार-पत्र झूठे हो सकते हैं। धोखेबाजी की काफी सम्भावना रहती है।

(७) ऋणी ऋण की राशि धीरे-धीरे किश्तों में चुकाता जाता है और अपना माल भी गोदाम से धीरे-धीरे निकालता रहता है। इसमें बैंक को काफी असुविधा रहती है और गलती होने का भी डर रहता है।

(८) यदि ऋणी माल नहीं छुड़ाता है और बैंक उसे एक दम नीलाम करती है तो कम कीमत वसूल होती है, परन्तु बैंक के लिए रुक जाना भी जोखिम उठाने के बराबर होता है, इसलिए माल को नीची कीमत पर ही बेचना पड़ता है।

इस सम्बन्ध में धोखे तथा हानि से बचने के लिए बैंक के लिए निम्न प्रकार की सावधानियाँ आवश्यक होती हैं :—

(१) जितना ऋण दिया जाता है उससे अधिक मूल्य का माल आड़ में रखा जाय, ताकि माल के दाम गिरने अथवा उसके नीलाम करने की दशा में हानि का भय न रहे ।

(२) माल के मूल्य का पता लगाने, उसके सुरक्षित रखने तथा उसे थोड़ी-थोड़ी मात्रा में निकालने का हिसाब रखने के लिए अलग कर्मचारी रहने चाहिए।

(३) माल रखने से पहिले उसकी किस्म और उसके खराब हो जाने की सम्भावना की जाँच होनी चाहिए। यदि माल ऋणी के ही गोदामों में रखा है तो भी जाँच आवश्यक है।

(४) गोदाम सुरक्षित होने चाहिए और समय-समय पर माल की देख-भाल होनी चाहिए, ताकि दीमक, चूहा और पानी से माल खराब न होने पाये।

(५) माल के अधिकार-पत्रों को सावधानीपूर्वक देख लेना और उनके असली स्वामी का पता लगा लेना आवश्यक है।

(६) जिन अधिकार-पत्रों की कई प्रतिलिपियाँ होती हैं उनकी सभी प्रतिलिपियाँ बैंक को प्राप्त कर लेनी चाहिए।

(७) यह देखना आवश्यक है कि माल बिक्री योग्य है या नहीं।

(४) जीवन बीमा-पत्र—

जीवन बीमा पत्र (Life Insurance Policy) पर ऋण देने की प्रथा भारत में बहुत कम है, क्योंकि स्वयं बीमा कम्पनियाँ इनकी प्रतिभूति पर ऋण दे देती हैं, परन्तु कुछ दशाओं में बैंक भी उनकी जमानत पर ऋण दे देती हैं। ऋण देने से पहले बैंक बीमा कम्पनी की आर्थिक स्थिति की जाँच कर लेती है और साधारणतया बीमा-पत्र के अध्यपूर्ण मूल्य (Surrender Value) से अधिक ऋण नहीं देती है। इन दोनों बातों को देखने के पश्चात् बीमा-पत्र की आड़ पर ऋण दिये जा सकते हैं।

गुण—

प्रतिभूति के रूप में बीमा-पत्र के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं—(१) अध्यपूर्ण मूल्य का पता लगाने में कठिनाई नहीं होती है। (२) यदि बीमा कम्पनी विश्वसनीय है तो भुगतान न होने का भय नहीं रहता है। जीवन बीमा व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् तो भारत में जीवन बीमा निगम पूर्णतया विश्वसनीय हो गया है। (३) जैसे-जैसे बीमे की और किश्तें चुकाई जाती हैं, प्रतिभूति की कीमत बढ़ती जाती है। (४) इन पत्रों का हस्तान्तरण हो सकता है और ये दूसरी बैंकों को बेचे जा सकते हैं। (५) बीमा कम्पनी से पूछ कर स्वामित्त्व का सही पता लगाया जा सकता है।

दोष—

इस प्रतिभूति के दोष इस प्रकार हैं :—(१) बीमा-पत्र में त्रुटि रहने की दशा में बीमा कम्पनी भुगतान देने से इन्कार कर सकती है। (२) बीमा-पत्र के हस्तान्तरण की दशा में बीमा कम्पनी सर्वप्रथम सूचना देने वाले के ही अधिकार को स्वीकार करती है। इसमें बैंक को धोखा होने का भय रहता है। (३) बीमा कराने वाले की आयु का प्रमाण-पत्र न होने की दशा में वसूली कठिन होती है। (४) प्रतिभूति के मूल्य को बढ़ाने के लिए कभी-कभी बैंक को स्वयं किस्त चुकानी पड़ती है, जिससे बैंक का व्यय बढ़ता है।

सावधानियाँ—

(i) इन दोषों से बचने के लिए बैंक को अध्यपूर्ण मूल्य से कुछ कम राशि ही का ऋण देना चाहिए। (ii) यह भी आवश्यक है कि बैंक बीमा कराने वाले की आयु के प्रमाण-पत्र, अधिकार तथा बीमा चुकाने की स्थिति को देखती रहे और समुचित रूप में जाँच कर ले और बीमा-पत्र प्राप्त करते ही कम्पनी को उसकी सूचना तुरन्त दे दे। (iii) व्यवहार में बैंक आमरण बीमे (Whole life Insurance) की अपेक्षा निश्चित अवधि बीमे (Endowment) को अधिक पसन्द करती हैं।

(५) सम्पत्ति—

सम्पत्ति दो प्रकार की होती है :—चल (Movable) और अचल (Immovable)—दोनों ही प्रकार की सम्पत्ति को गिरवी रखा जा सकता है। चल सम्पत्ति तो सोने, चाँदी, जेवरात, अनाज आदि के रूप में होती है। इनके अतिरिक्त माल के अधिकार-पत्र, हुन्डियाँ, विनिमय बिल आदि भी चल सम्पत्ति ही होते हैं। इस प्रकार की सम्पत्ति का स्थानान्तरण सम्भव होता है और इसके क्रय-विक्रय में भी सुविधा रहती है। ऐसी सम्पत्ति को आड़ में लेकर बैंक आसानी से ऋण दे देती है। सावधानी केवल इतनी बर्ती जाती है कि ऋण की रकम सम्पत्ति की कीमत से कम रखी जाती है, ताकि सम्पत्ति के मूल्य के नीचे गिरने की दशा में भी हानि का भय न रहे। ऐसी जमानतों पर ५० से ७०% की कीमत के ऋण दिये जाते हैं। ऐसी प्रतिभूतियों का सबसे बड़ा लाभ उनकी बिक्री-साध्यता होती है। ऋणी द्वारा समय पर भुगतान न होने की दशा में बैंक तुरन्त इन्हें बेचकर धन प्राप्त कर लेती है। इस दृष्टिकोण से कम्पनियों के अंशों और ऋण-पत्रों को उत्तम प्रतिभूति माना जाता है। इसी प्रकार सरकारी हुण्डियाँ और कोषागार विपत्र भी परम प्रतिभूति (Gilt-edged Securities) होते हैं। भारत में अंश बाजार के अभाव के कारण सरकारी हुन्डियों का ही इस रूप में अधिक चलन है।

अचल सम्पत्ति से हमारा अभिप्राय ऐसी सम्पत्ति से होता है जिसका स्थानान्तरण सम्भव नहीं होता है, जैसे—जमीन, मकान, इत्यादि। साधारणतया बैंक ऐसी सम्पत्ति की जमानत लेने में संकोच करती है। कभी-कभी बैंकों पर ऐसी सम्पत्ति को आड़ में न लेने का वैधानिक प्रतिबन्ध भी लगा दिया जाता है। ऐसी आड़ का स्वीकार करना जोखिम से विमुक्त नहीं होता है, क्योंकि एक ओर तो अचल सम्पत्ति को तत्काल बेचकर धन प्राप्त कर लेना कठिन होता है और दूसरी ओर ऐसी सम्पत्ति का स्वामित्त्व प्राप्त करने में अधिक झगड़ा रहता है। *इस प्रकार की प्रतिभूतियों का एक मात्र गुण* यह होता है कि बहुत से ऐसे व्यक्तियों को भी ऋण मिल जाता है जिनके पास अन्य प्रकार की जमानत नहीं है और फिर जो केवल व्यक्तिगत साख पर ऋण नहीं प्राप्त कर सकते हैं।

प्रतिभूति के रूप में अचल सम्पत्ति के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) ऐसी सम्पत्ति के सही-सही स्वामित्त्व का पता लगाना कठिन होता है।
(२) सम्पत्ति का ठीक मूल्य केवल विशेषज्ञ ही आँक सकते हैं।
(३) ऐसी सम्पत्ति के मूल्य में अधिक अंश तक परिवर्तन होते रहते हैं।
(४) ऐसी सम्पत्ति के प्रबन्ध और निरीक्षण पर काफी व्यय होता है और उसे एक दम बेच देना भी सम्भव नहीं होता है।
(५) स्वामित्त्व के हस्तान्तरण के लिए लम्बी-चौड़ी अदालती कार्यवाही की आवश्यकता पड़ती है।

उपरोक्त कारणों से ऐसी जमानत को स्वीकार करने में संकोच किया जाता है। अचल सम्पत्ति की आड़ पर ऋण देने वाली बैंक को बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है :—(१) बैंक को चाहिए कि सम्पत्ति के स्वामित्व और अधिकार का ठीक-ठीक पता लगाए। (२) सम्पत्ति को गिरवी रखने के लिए वैधानिक प्राधि (Mortgage) आवश्यक होता है। (३) हस्तान्तरित करने वाले के स्वामित्व और अधिकार की भली-भाँति जाँच होनी चाहिए। (४) सम्पत्ति की कीमत से ऋण की राशि काफी कम रखनी चाहिए।

उधार देने के सम्बन्ध में सावधानियाँ—

इस प्रश्न का उत्तर कठिन है कि ऋण देते समय किसी बैंक को कौन-कौन सी बातों का ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि अलग-अलग बैंकों और अलग-अलग ग्राहकों की समस्याएँ अलग-अलग होती हैं। सभी बैंक समान रूप में व्यापार कुशल भी नहीं हो सकती हैं और सभी ग्राहक भी समान रूप में विश्वासप्रद नहीं होते हैं। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्त्व बैंक के अनुभव का है। अपने कार्यवाहन के अन्तर्गत बैंक यह जान लेती है कि किन ग्राहकों के साथ किस प्रकार व्यवहार किया जाय। इसके अतिरिक्त विभिन्न क्षेत्रों और कालों की समस्याएँ भी अलग-अलग हो सकती हैं। ऋणों के सम्बन्ध में सबसे अधिक ध्यान ऋणी के चरित्र, उसकी आर्थिक स्थिति और उसके ऋण के लेने के कारण की ओर देना चाहिए। यद्यपि प्रत्येक बैंक की ऋण दान नीति में अन्तर हो सकता है, परन्तु इस सम्बन्ध में कुछ सामान्य सुझाव निम्न प्रकार दिये जा सकते हैं :—

(१) आदेयों की तरलता—आदेयों की तरलता और बैंक की अपनी सुरक्षा के लिए बहुत ही लम्बे काल के लिए ऋण देना अनुपयुक्त होता है।

(२) जोखिम का अधिकतम् वितरण—जोखिम का यथासम्भव अधिक से अधिक वितरण होना चाहिए। इस दृष्टिकोण से कुछ थोड़े से व्यक्तियों को बड़े-बड़े ऋण देने की अपेक्षा बहुत से व्यक्तियों को छोटे-छोटे ऋण देना अधिक अच्छा होता है। इसी प्रकार एक क्षेत्र में ऋण देने अथवा एक ही प्रकार के व्यापारियों को ऋण देने की अपेक्षा बहुत से क्षेत्रों और अनेक प्रकार के व्यापारियों को ऋण देना अच्छा होता है।

(३) ऋणों की उत्पादकता—अधिकांश ऋण उत्पादक होने चाहिए, ताकि ऋणी उनसे प्राप्त आय में से ब्याज और मूलधन चुका सके। उपभोग अथवा सट्टे के लिए दिए हुए ऋण अच्छे नहीं होते हैं।

(४) उपयुक्त जमानत—जमानत लेने में सावधानी की आवश्यकता है। बैंक को प्रतिभूतियों की तरलता पर अनुरोध करना चाहिए। अचल सम्पत्ति की आड़ पर कम ऋण देने चाहिए।

(५) पर्याप्त मार्जिन रखना—बैंक को चाहिए कि ऐसी नीति अपनाये कि

ऋण की राशि प्रतिभूति के मूल्य से काफी कम रहे। इससे जोखिम बच जाती है और हानि का भय नहीं रहता। ऐसी दशा में स्वयं ऋणी भी शीघ्र भुगतान करके अपने माल को छुड़ाने के लिए उत्सुक रहता है।

(६) ऋण की वसूली में नियमितता—ऋण के वसूल करने पर अधिक ध्यान देना चाहिए। यदि ऋणी को बार-बार ऋण को बदलने अथवा उसका नवीनीकरण (Renewal) करने की सुविधा दी जाती है तो वह भुगतान करने में उत्सुकता नहीं दिखाता है और भुगतान की अवधि बढ़ जाती है।

(७) ऋण की मात्रा का निर्धारण—ऋण की कुल मात्रा सोच-समझकर निश्चित करनी चाहिए। प्रत्येक ऋण निक्षेप उत्पन्न करता है और नकद कोष को कम करने की सम्भावना उत्पन्न करता है। नकद कोषों की तुलना में निक्षेपों के बहुत बढ़ जाने से बैंक के फेल हो जाने का डर रहता है।

(८) ऋणी के सम्बन्ध में जानकारी—ऋणी का चरित्र ही ऋण के भुगतान की सबसे बड़ी गारन्टी होती है, इसलिए इस सम्बन्ध में समुचित जानकारी प्राप्त किये बिना ऋण नहीं देना चाहिए।

बैंक का चिट्ठा अथवा बैलेन्स शीट
(The Balance Sheet)

बैंक के स्थिति विवरण का अर्थ—

किसी भी बैंक की वास्तविक आर्थिक स्थिति का सही अनुमान उसके चिट्ठे द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। *इसमें एक बैंक की सम्पूर्ण लेनदारी और देनदारी का विस्तृत विवरण होता है। किसी भी बैंक के चिट्ठे के अध्ययन से निम्नलिखित लाभ होते हैं* :—(i) कोई भी व्यक्ति चिट्ठे को देख कर बैंक की पूँजी, विनियोग नीति तथा उसकी व्यापार-कुशलता का पता लगा सकता है। (ii) चिट्ठा वार्षिक आधार पर बनाया जाता है। दो वर्षों के चिट्ठों की तुलना करने से यह भी सरलता से जाना जा सकता है कि बीच के काल में बैंक की स्थिति किस अंश तक सुधर गई है अथवा बिगड़ गई है। (iii) जनता में बैंक के प्रति विश्वास उत्पन्न करने के लिए भी चिट्ठे का भारी महत्त्व होता है। पुराने काल में अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ दिखाने के लिए बैंक के कर्मचारी चिट्ठे को जान-बूझकर इस प्रकार बनाते थे कि बैंक की स्थिति अच्छी दिखाई पड़े। वैसे भी अलग-अलग बैंकों की चिट्ठा बनाने की विधि अलग-अलग थी। इससे धोखेबाजी की काफी सम्भावना रहती थी और विभिन्न बैंकों की आर्थिक स्थिति की तुलना करने में भी कठिनाई होती थी। बैंक की समुचित प्रगति पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ता था। *भारत सरकार ने इस सम्बन्ध में सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनी विधान में चिट्ठा बनाने की एक रीति निर्धारित कर दी है* और अब सभी भारतीय बैंक उसी के अनुसार चिट्ठा तैयार करती हैं। व्यवसायिक दृष्टिकोण से भी आधुनिक बैंक चिट्ठे में जान-बूझ कर परिवर्तन करना

उचित नहीं समझतीं, क्योंकि इसका उनकी साख पर बुरा प्रभाव पड़ता है। उपरो नियम के अनुसार भारत में बैंकों के वार्षिक चिट्ठे का निम्न रूप होता है :—

बैंक के वार्षिक चिट्ठे का नमूना

(Specimen of Bank Balance Sheet)

पूंजी और देनदारी (Liabilities)

(१) पूंजी : अधिकृत अथवा परिदत्त (Capital : Authorised or Paid-up) :
  (क) पूर्वाधिकार अंश (Preference Shares)
  (ख) साधारण अंश (Ordinary Shares)
  (ग) अस्थगित अंश (Deferred Shares)
(२) सुरक्षित कोष एवं अन्य जमा (Reserves and Funds)
(३) जमाधन तथा अन्य खाते (Deposits and other Accounts) :
  (क) सावधि जमा (Fixed Deposits)
  (ख) सेविंग बैंक जमा
  (ग) चालू जमा (Current Account)
(४) अन्य बैंकों, अभिकर्त्ताओं आदि के ऋण :
  (क) भारत के भीतर
  (ख) भारत के बाहर
(५) शोधनीय बिल (Bills Payable)
(६) अन्य बिल (Bills of Collection, etc.)
(७) अन्य देन (Other Liabilities)

लेनदारी और आदेय (Assets)

(१) नकदी :
  (क) हाथ की नकदी (Cash in hand)
  (ख) रिजर्व बैंक में जमा
  (ग) स्टेट बैंक में धरोहर
  (घ) अन्य बैंकों के पास चालू खातों में जमा
(२) याचना राशि (Money at Call & Short Notice)
(३) भुनाये और खरीदे हुए बिल
(४) विनियोग (Investments) :
  (क) केन्द्रीय और राज्य सरका की हुण्डियाँ और कोषागा विपत्र
  (ख) अंश :
    (अ) पूर्वाधिकार
    (आ) साधारण
    (इ) अस्थगित
  (ग) ऋण-पत्र और बांड (Debentures and Bonds)
  (घ) स्वर्ण
  (ङ) अन्य विनियोग
(५) ऋण तथा अग्रिम (Loans and Advanc including Over-dra and Cash-Credit) :
  (क) पूर्णतया सुरक्षित ऋण (Fully secured Debt

(८) स्वीकृतियाँ, बेचान तथा इसी प्रकार की अन्य देन
(Acceptances, Endorsements and such other Obligations)

(९) लाभ और हानि खाता
(Profit and Loss A/c.)

(१०) सामयिक अथवा आकस्मिक देन
(Contingent Liabilities)

(ख) व्यक्तिगत जमानत पर दिये हुए ऋण (Loans on Personal Security)

(ग) ऋण, जिन पर व्यक्तिगत जमानत के अतिरिक्त और व्यक्तियों की भी व्यक्तिगत जमानत है।

(घ) बिना जमानती ऋण
(Unsecured or Doubtful Loans)

(ङ) बैंक के संचालकों अथवा अधिकारियों को दिये गये ऋण (Loans to the Directors and Officers of the Bank)

(च) ऐसी कम्पनियों अथवा फर्मों को दिये हुए ऋण जिनसे बैंक के संचालक सम्बन्धित हैं।
(Loans to Companies or Firms with which the Directors of the Bank are connected)

(छ) कुल ऐसे ऋणों का योग जो बैंक के संचालकों, मैनेजर तथा अन्य अधिकारियों को दिए गए हैं।

(ज) कुल ऐसे ऋणों का योग जो उन कम्पनियों तथा फर्मों को दिये गये हैं जिनसे बैंक के संचालक किसी प्रकार सम्बन्धित हैं।

(झ) अन्य बैंकों पर ऋण (Dues from other Banks)

	(६) वसूली के लिए प्राप्त बिल (Bills acquired for collection)
	(७) स्वीकृतियाँ, बेचान आदि (Acceptances, Endorsements, etc.)
	(८) कार्य-स्थान (Premises minus depreciation
	(९) फर्नीचर और अन्य सामान
	(१०) अन्य आदेय
	(११) गैर-बैंकिंग आदेय
	(१२) लाभ और हानि
योग	योग

चिट्ठे का विश्लेषण—

चिट्ठा ठीक इसी प्रकार तैयार किया जाता है जिस प्रकार कि बही खाते का एक पृष्ठ। इसमें दाहिनी ओर देनदारी दिखाई जाती है और बाईं ओर लेनदारी। दोनों तरफ की मदों का योग अन्त में बराबर हो जाता है और बैलेन्सशीट का सन्तुलन हो जाता है। बैलेन्सशीट को ठीक-ठीक समझने के लिए हम देनदारी की प्रमुख मदों को एक-एक करके लेते हैं।

(१) पूँजी—बैंक अपनी पूँजी को चिट्ठे में विशेष रीति से दिखाती है। प्रारम्भन से पूर्व ही यह घोषित कर दिया जाता है कि बैंक कितनी पूँजी से अपना व्यवसाय आरम्भ करेगी। ऐसी घोषणा बैंक के स्मारक-पत्र (Memorandum of Association) में कर दी जाती है और इसी के आधार पर बैंक अपने अंश निकालती है। ऐसी पूँजी को अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) कहा जाता है। कोई बैंक अधिकृत पूँजी से अधिक कीमत के अंश नहीं निकाल सकती है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि सम्पूर्ण अधिकृत पूँजी के अंश बेचे जायँ। अधिकृत पूँजी के जिस भाग के अंश वास्तव में निकाले जाते हैं और बेचने के लिए प्रस्तुत किए जाते हैं उसे निर्गमित पूँजी (Issued Capital) कहा जाता है। यदि सम्पूर्ण अधिकृत पूँजी के अंश निकाले जाते हैं तो निर्गमित और अधिकृत पूँजी बराबर होगी। यह भी आवश्यक नहीं है कि सभी निकाले हुए अंश खरीद लिये जायँ। जितने मूल्य के अंश जनता द्वारा खरीदे जाते हैं उसे प्रार्थित पूँजी (Subscirbed Capital) कहते हैं। इस सम्बन्ध में यह भी याद रखना आवश्यक है कि बैंक बहुधा अपने अंश का सारा मूल्य एक ही साथ नहीं लेती है। १०० रुपये के अंश पर आरम्भ में ५० रुपए लिये जा सकते हैं और आगे आवश्यकता पड़ने पर धीरे-धीरे अंश की कीमत का शेष रुपया ले लिया जा सकता है। प्रार्थित पूँजी का वह भाग जो बैङ्क को वास्तव में चुका दिया

जाता है, परिदत्त पूंजी (Paid-up Capital) कहलाती है। यह आवश्यक है कि चिट्ठे में पूंजी को दिखाते समय चारों प्रकार की पूंजी को अलग-अलग दिखाया जाय।

(२) सुरक्षित कोष तथा अन्य जमा—इस मद में वह कुल राशि दिखाई जाती है जो बैंक लाभांश घोषित करने से पहले सुरक्षित कोष में डालती रहती है। इसके अतिरिक्त और भी बहुत से कार्यों के लिए बैंक धन जमा कर सकती हैं। इस प्रकार की समस्त जमा इस शीर्षक के अन्तर्गत दिखाई जाती है।

(३) जनाधन तथा अन्य खाते—इस शीर्षक में विभिन्न व्यक्तियों और फर्मों द्वारा बैंक में जमा की हुई राशि को दिखाया जाता है। प्रत्येक प्रकार की जमा का अलग-अलग दिखाना आवश्यक होता है।

(४) अन्य बैङ्कों के ऋण—इस शीर्षक में दूसरी बैंकों से लिया हुआ उधार दिखाया जाता है। देश के भीतर और देश के बाहर की बैङ्कों के ऋणों को अलग-अलग दिखाना आवश्यक होता है।

(५) शोधनीय बिल—इस मद में उन सब बिलों की राशि का जोड़ लिखा जाता है जिनका भुगतान करने का बैंक ने उत्तरदायित्व लिया है।

(६) अन्य बिल—यह शीर्षक उन बिलों की राशि को दिखाता है जिन्हें बैंक ने अपने ग्राहकों की ओर से एकत्रित करने के लिए जमा किया है। यह रुपया एकत्रित हो जाने के पश्चात् ग्राहकों को लौटा दिया जाता है, इसलिए ऐसे बिलों की राशि को लेन और देन दोनों के रूप में दिखाया जाता है। वसूली से पहले यह बैंक की लेन होती है और वसूली के पश्चात् उसकी देन बन जाती है।

(७) स्वीकृतियाँ तथा बेचान—इस शीर्षक में उस राशि को दिखाया जाता है जिसकी कीमत के विनिमय बिल बैंक ने अपने ग्राहकों की ओर से स्वीकार कर लिए हैं। स्वीकार किए हुए बिल का धन ग्राहक से मिल जाता है और इस धन से बिल का भुगतान कर दिया जाता है, परन्तु जब तक बिल का भुगतान नहीं होता है, यह बैङ्क की देन ही रहती है।

(८) सामयिक अथवा आकस्मिक देन—इस शीर्षक की राशि को देनदारी के योग में नहीं जोड़ा जाता है। बैंक अपनी ऐसी देनदारी को इस मद में दिखाती है, जो केवल अनुमानजनक है और किसी प्रकार निश्चित नहीं है। आकस्मिक देनों के लिए, जो अज्ञात हैं, पहले से ही कुछ न कुछ व्यवस्था कर ली जाती है।

लेनदारी अथवा आदेय (Assets)—

दाहिनी ओर के खानों में बैंक की लेनदारी अथवा उस राशि का ब्यौरा दिया जाता है जो बैंक को प्राप्त होनी है। इस ओर के प्रमुख शीर्षकों की विवेचना निम्न प्रकार है :—

(१) नकदी—भारतीय बैंक अपने पास ग्राहकों की माँग को पूरा करने

के लिए सदा ही नकदी का संचय रखती हैं। इसके अतिरिक्त समय और माँग देन का एक निश्चित प्रतिशत विधानानुसार रिजर्व बैंक में जमा किया जाता है। एक बैंक स्टेट बैंक ऑफ इन्डिया तथा अन्य बैंकों में भी धरोहर रख सकती है, ताकि आवश्यकता पड़ने पर नकदी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो सके।

(२) याचना राशि—इस शीर्षक में उन सब धनों को सम्मिलित किया जाता है, जो माँगने पर तुरन्त मिल जाते हैं। ऐसी राशि बैंक द्वारा अधिक से अधिक एक सप्ताह के भीतर वसूल की जा सकती है।

(३) भुनाये और खरीदे हुए बिल—उन सब बिलों की कीमत इस शीर्षक में दिखाई जाती है जो या तो बैंक ने खरीद लिए हैं अथवा भुना दिये हैं। परिपक्वता पर इनका रुपया बैंक को मिल जाता है, परन्तु परिपक्वता अवधि के आने से पूर्व आवश्यकता पड़ने पर इन्हें बेचा जा सकता है, अथवा रिजर्व बैंक से भुनवा लिया जाता है।

(४) विनियोग—विनियोगों में बैंक के लाभदायक आदेयों को सम्मिलित किया जाता है। प्रत्येक प्रकार के विनियोग की राशि अलग-अलग दिखाई जाती है। अल्पकालीन और दीर्घकालीन तथा सरकारी और गैर-सरकारी हुण्डियों के विनियोग का विस्तृत ब्यौरा दिया जाता है।

(५) ऋण तथा अग्रिम—इस शीर्षक में दूसरों को उधार दी गई राशि चिट्ठे में दिखाये हुए क्रम के अनुसार लिखी जाती है।

(३) स्वीकृतियाँ—इस मद में उन बिलों का सारा मूल्य दिखाया जाता है जिन्हें बैंक ने ग्राहकों की ओर से स्वीकार किया है। यह राशि देनदारी में भी दिखाई जाती है।

(७) कार्य-स्थान—इसके अन्तर्गत बैंक की समस्त अचल सम्पत्ति का मूल्य दिखाया जाता है। ऐसी सम्पत्ति में बैंक के कार्यालय की बिल्डिङ्ग, बैंक का फर्नीचर तथा उसके कार्य-स्थान से सम्बन्धित अन्य स्थिर सामानों की कीमत को सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार की सम्पत्ति बैंक के मृत स्कन्ध होते हैं। इन्हें उसी समय बेचा जाता है जबकि बैंक फेल होती है और उसका निस्तारण (Liquidation) करके लेनदारों को भुगतान किया जाता है।

QUESTIONS

1. What are the tests of the soundness of a bank? Is there any necessary relation between the size of a bank and its soundness? (Agra, B. A., 1956 Supp.)

2. Briefly discuss the functions of a modern bank and explain the main considerations that guide a banker in investing his funds. (Raj., B. Com , 1958)

3. Describe the functions of a Commercial Bank. What are the sources of its profits and what considerations guide the investment of its funds ? (Agra, B. Com., 1956 Supp.)

4. Explain the functious of a Commercial Bank and discuss in this connection the importance of cash reserves and investment policies. (Agra, B. Com., 1955 Supp.)

५. एक अधिकोष का काल्पनिक स्थिति विवरण (Balance Sheet) बना कर यह बताइये कि उसके भिन्न-भिन्न पदों का क्या महत्त्व है ? (Sagar, B. Com. 1958)

६. 'एक अच्छी बैंक को चाहिए कि वह तरलता और लाभदायकता के बीच सन्तुलन बनाए रक्खे।' व्याख्या कीजिए। (Sagar, B. Com., 1955)

7. Write short notes on :—
Money at Call and Short Notice. (Agra, B. Com., 1955)
Liquid Assets of a Bank. (Agra, B. Com., 1957 & 1954)

अध्याय १५

बैंक और ग्राहक का सम्बन्ध

(The Relation Between the Bank and the Customer)

'बैंकर' और 'ग्राहक' की परिभाषायें—

बैंक और ग्राहक के सम्बन्ध को समझने से पहले दोनों के सही-सही अर्थ समझ लेना आवश्यक है। एक पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि बैंक की बिल्कुल सही परिभाषा करना कठिन है। साधारण रूप में हम बैंकर उस संस्था अथवा व्यक्ति को कहते हैं जो मुद्रा और साख में व्यवसाय करे। दूसरे शब्दों में, रुपये की लेन-देन और साख का क्रय-विक्रय बैंक की प्रमुख विशेषताएं होती हैं। धनादेशों द्वारा भुगतान करने की प्रणाली के विकास के कारण अधिकांश भुगतान धनादेशों पर ही किये जाते हैं, अतएव डा० हार्ट ने बैंक की परिभाषा इस प्रकार की है :—*"एक बैंकर वह व्यक्ति है जो अपने साधारण व्यवसाय के अन्तर्गत ऐसे धनादेशों का भुगतान करता है जो उन व्यक्तियों द्वारा लिखे गये हैं जिनके लिये अथवा जिनकी ओर से उसके पास चालू खाते में रुपया जमा किया गया है।"* इस प्रकार धनादेशों पर भुगतान करना ही आधुनिक बैंक की प्रमुख विशेषता है और यह भुगतान उस धन में से किया जाता है जो ग्राहकों ने बैंक में जमा कर रखा है। कुछ लोगों से धन जमा के रूप में स्वीकार करके बैंक दूसरे व्यक्तियों को ऋण के रूप में दे देती है। साख का निर्माण भी इस प्रकार की जमा के ही आधार पर किया जाता है। इस कारण किंचित यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि बैंक एक प्रकार अपने विभिन्न ग्राहकों के बीच लेन-देन का सम्बन्ध स्थापित कराने में मध्यस्थ का कार्य करती है।

अब ग्राहक शब्द का सही अर्थ समझने की आवश्यकता है। साधारण बोल-चाल में ग्राहक का अभिप्राय खरीदार से होता है, जो किसी वस्तु अथवा सेवा को खरीदता है। बैंक के सम्बन्ध में भी ग्राहक के लगभग यही अर्थ होते हैं, परन्तु बैंकिंग के सम्बन्ध में खरीदने का विशेष अर्थ होता है। बैंक के सम्बन्ध में ग्राहक का अभिप्राय ऐसे व्यक्ति, फर्म अथवा संस्था से होता है जिसने बैंक में धन जमा करके अपने नाम का खाता खुलवाया है और इस खाते में से वह बिना पूर्व सूचना के धनादेश द्वारा धन निकाल सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति विशेष अधिक समय से बैंक के साथ व्यवसाय करे। ग्राहक ऐसा कोई भी व्यक्ति हो सकता है जिसका बैंक में इस प्रकार का खाता है कि उसमें से धनादेश द्वारा धन निकाला जा सकता है। इस प्रकार ग्राहक सदा ही बैंक में धन जमा करने वाला व्यक्ति होता है। यहाँ इस प्रश्न

का उठना आवश्यक है कि क्या उस व्यक्ति को बैंक का ग्राहक नहीं कहा जायगा जो बैंक में रुपया जमा करने के स्थान पर उलटा बैंक से रुपया उधार लेता है ? *व्यवसायिक जगत में ऋणी और जमाधारी दोनों ही को बैंक का ग्राहक कहा जाता है।* बात यह है कि बैंक से ऋण लेने वाले तथा बैंक में धन जमा करने वाले के बीच बैंक के व्यवसायिक दृष्टिकोण से कोई भी अन्तर नहीं होता है। ऋण भी जमा को उत्पन्न करते हैं ; बैंक की धन उधार देने की रीति यह है कि ऋण की राशि का ऋणी के नाम बैंक में खाता खोल दिया जाता है, जिसमें से वह धनादेशों द्वारा भुगतान ले सकता है, अतः बैंक का ऋणी भी ऐसा ही व्यक्ति होता है जिसके खाते में बैंक में रुपया जमा रहता है और धनादेशों द्वारा निकाला जा सकता है। इस प्रकार बैंक का प्रत्येक ग्राहक उसका जमाधारी होता है।

ग्राहकों के प्रकार—

बैंक का ग्राहक व्यक्ति, फर्म, कम्पनी, संस्था, सभा, संघ आदि कोई भी हो सकता है। इसी प्रकार एक अधिकारी अथवा संघ का मन्त्री भी सभा की ओर से खाता खोल सकता है। किसी व्यक्ति अथवा संस्था को ग्राहक बना लेने के पश्चात् बैंक को उससे सम्बन्धित कर्त्तव्यों को पूरा करना आवश्यक होता है, इसलिए ग्राहक बनाते समय बैंक *अपने भावी ग्राहक के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करती है।* किसी भी व्यक्ति के नाम का खाता खोलने से पहले उसके चरित्र, उसकी साख, उसकी ईमानदारी, उसकी व्यवसायिक ख्याति तथा उसकी आर्थिक स्थिति का पता लगाया जाता है। यही कारण है कि बैंक नये ग्राहक से हवाला अथवा परिचय माँगती है। ऐसे व्यक्ति के विषय में दूसरी बैंकों तथा पुराने ग्राहकों से गुप्त जांच की जाती है और व्यक्तिगत भेंट द्वारा बैंक का व्यवस्थापक वास्तविक स्थिति का पता लगाने का प्रयत्न करता है। *सुरक्षा के लिए ग्राहक के हस्ताक्षरों के नमूने लिए जाते हैं* और बैंक इस बात पर अनुरोध करती है कि प्रत्येक धनादेश पर नमूने के अनुसार ही हस्ताक्षर होने चाहिए। नमूने के हस्ताक्षर सुरक्षित रखे जाते हैं।

ग्राहक और बैंकर का पारस्परिक सम्बन्ध

एक बैंकर और उसके ग्राहक के बीच तीन प्रकार के सम्बन्ध होते हैं—

(१) साहूकार तथा ऋणी का सम्बन्ध (Creditor and Debtor)।

(२) अभिकर्त्ता अथवा प्रतिनिधि और प्रधान का सम्बन्ध (Agent and Principal)।

(३) धरोहर-धारी और धरोहर-धर्त्ता अथवा अमानत लेने वाले और अमानत देने वाले का सम्बन्ध (Bailee and Bailer)।

साहूकार और ऋणी—

बैंकर और ग्राहक के बीच का आधारभूत सम्बन्ध ऋणी और साहूकार का ही

है। जब कोई व्यक्ति बैंक में अपना रुपया जमा करके खाता खुलवाता है तो जमाधन की मात्रा के अनुसार बैंक जमा करने वाले अर्थात् ग्राहक की ऋणी हो जाती है। यह बैंक का उत्तरदायित्त्व होता है कि वह निश्चित शर्तों पर ग्राहक की माँग पर उसका धन लौटा दे। इसके विपरीत कुछ दशाओं में बैंकर साहूकार होता है और ग्राहक उसका ऋणी होता है। बैंकर अपने ग्राहक को धन उधार देता है, जो अधि-विकर्ष, नकद साख, ऋण, अग्रिम आदि किसी भी रूप में दिया जा सकता है। धन का लौटाना ग्राहक का उत्तरदायित्त्व होता है। *इस प्रकार कभी ग्राहक ऋणी होता है और कभी बैंकर। बैंकर और ग्राहक के इस सम्बन्ध की कुछ विशेषताएँ होती हैं, जो साधारणतया अन्य साहूकारों और ऋणी व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में नहीं पाई जाती हैं। इन विशेषताओं की गणना निम्न प्रकार की जा सकती है :—*

(१) ऋण का भुगतान करने की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध—स्वभाव में ग्राहक द्वारा जमा की गई राशि एक ऐसे सामान्य ऋण की भाँति होती है जो एक व्यक्ति द्वारा दूसरे को दिया जाता है। ग्राहक अथवा जमाधारी को बैंक के विरुद्ध वही अधिकार प्राप्त होते हैं जो एक साहूकार को ऋणी पर प्राप्त होते हैं। यदि बैंक का दिवाला निकल जाता है तो जमाधारी को अपनी जमा के प्रमाण देने पड़ते हैं और तभी उसका दावा सच्चा माना जाता है, परन्तु एक साधारण व्यापारिक ऋण और बैंक की जमा में अन्तर होता है। जो राशि बैंक में जमा की जाती है वह बैंक के पास अमानत अथवा धरोहर के रूप में नहीं होती है, बल्कि यह राशि ऋण के रूप में होती है, जिसे बैंकर आवश्यकता पड़ने पर किसी भी प्रकार उपयोग कर सकता है, परन्तु यद्यपि एक साधारण कर्जदार ऋण की राशि को कभी भी चुका सकता है और चुकाने के सम्बन्ध में कोई समय अवधि अथवा शर्त नहीं लगाई जाती है, बैंक ऐसा नहीं कर सकती है। वह अपनी ओर से धन का भुगतान करके ऋण से निबटारा नहीं पा सकती है। ग्राहक का खाता केवल ग्राहक की प्रार्थना पर ही बन्द किया जा सकता है। बिना माँग के बैंक भुगतान नहीं कर सकती है। इस प्रकार साधारण ऋणी के विप-रीत भुगतान की प्राथमिकता साहूकार अर्थात् ग्राहक की ओर से ही होती है, स्वयं ऋणी अर्थात् बैंक की ओर से नहीं।

(२) ऋण का उपयोग करने की स्वतन्त्रता—बैंकर को उसके पास जमा किये हुए धन के उपयोग का पूरा-पूरा अधिकार होता है। एक साधारण ऋणी किसी निश्चित उद्देश्य से ऋण लेता है और प्राप्त राशि का उपयोग निर्धारित शर्तों के अनुसार करता है, परन्तु बैंक के ऊपर इस प्रकार का कोई उत्तरदायित्त्व नहीं होता है। वह जमाधन का इच्छानुसार विनियोग कर सकती है। बैंकर का केवल इतना दायित्त्व रहता है कि जमाधन को यदि वह चालू खाते में है तो माँग पर तुरन्त चुका दे और वह सावधि जमा में है तो निर्धारित अवधि के पश्चात् चुका दे। इससे आगे धन के उपयोग पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता है।

(३) ऋणदाता (ग्राहक) की आज्ञानुसार रुपयों का भुगतान—एक साधारण ऋण तो ऋणदाता द्वारा निश्चित अवधि के पहले वापिस नहीं लिया जा सकता है, किन्तु बैंक के ग्राहक को यह अधिकार होता है कि वह पहले से निर्धारित की गई शर्तों के अनुसार धनादेश द्वारा अपनी रकम को वापिस ले ले और विधान के अनुसार बैंक के लिए यह अनिवार्य है कि यह ग्राहक की आज्ञानुसार उसके खाते में से भुगतान करती रहे। बैंक का यह उत्तरदायित्व है कि जैसे ही धनादेश प्रस्तुत किया जाता है, तुरन्त भुगतान कर दे। यदि चैक में किसी प्रकार की अनियमितता नहीं है और चैक लिखने वाले के खाते में पर्याप्त धन है तो बैंक भुगतान करने से इन्कार नहीं कर सकती है। यदि कोई बैंक बिना समुचित कारण के चैक का अनादर अथवा तिरस्कार (Dishonour) करती है तो इसका बैंक की साख पर बुरा प्रभाव पड़ता है। यही नहीं, इससे चैक लिखने वाले के आर्थिक मान और उसकी प्रतिष्ठा पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। जिस व्यक्ति द्वारा लिखे हुए चैक का अनादर हो जाता है उसे लोग शङ्का की दृष्टि से देखने लगते हैं और उसके साथ व्यवसाय करने में संकोच करते हैं। ग्राहक को यह भी अधिकार है कि यदि बैंक ने अकारण चैक का अनादर किया है तो वह बैंक पर मान-हानि का दावा करके मुआवजा प्राप्त कर ले। न्यायालय बैंक को हर्जाना देने पर बाध्य करते हैं।

(४) ग्राहक के खातों की गोपनीयता और पूछ-ताछ—एक साधारण ऋणदाता के लिये यह अनिवार्य नही है कि वह अपने ऋणी की आर्थिक अवस्था को गुप्त रखे या उसके बारे में किसी भी प्रकार की पूछ-ताछ का उत्तर दे। किन्तु बैंकर के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने ग्राहक के खाते से सम्बन्धित सभी बातों को गुप्त रखे। वह अन्य पक्षों को ग्राहक के सम्बन्ध में कोई बात उस समय तक नहीं बता सकती है जब तक कि ऐसा करना या तो आवश्यक न हो और या उपयुक्त। प्रत्येक बार जब बैंक अपने ग्राहक की आर्थिक स्थिति की सूचना अन्य व्यक्तियों को देती है तो वह एक प्रकार की जोखिम उठाती है। यदि बैंक के ऐसा करने से ग्राहक के मान की हानि होती है तो ग्राहक बैंक के ऊपर क्षय-पूर्ति का दावा कर सकता है। वैसे भी बैंक की ऐसी कार्यवाहियों का परिणाम यह होगा कि बैंक अपने ग्राहकों को खो बैठेगी। केवल निम्न दशाओं में ग्राहक की आर्थिक स्थिति का रहस्य खोलना उचित हो सकता है।

(क) जबकि किसी न्यायालय के आदेशानुसार ग्राहक की आर्थिक स्थिति का बताना आवश्यक है।

(ख) यदि ऐसा करना राष्ट्र, समाज अथवा व्यवसायिक उन्नति के लिए आवश्यक है।

(ग) जबकि ग्राहक स्वयं रहस्य खोलने की आज्ञा देता है।

(घ) जबकि ग्राहक बैंक का हवाला देता है और संदर्भ (Reference) के लिए बैंक को ग्राहक की आर्थिक स्थिति बताना पड़ती है।

(ङ) यदि ग्राहक की आर्थिक स्थिति बताना स्वयं बैंक की सुरक्षा के लिए आवश्यक है।

उपरोक्त दशाओं में भी जब कभी भी ग्राहक के खाते और उसकी साख की सूचना दी जाती है तो बैंक को सावधानी से काम लेना चाहिए। यदि बैंक की असावधानी के कारण ग्राहक की साख को ठेस पहुँचती है तो इससे बैंक और ग्राहक दोनों ही को हानि होती है।

अभिकर्त्ता और प्रधान—

बैंक और ग्राहक का दूसरा सम्बन्ध अभिकर्त्ता और प्रधान का होता है। बैंक का प्रमुख कार्य तो रुपए का जमा करना और उधार देना ही है, परन्तु *आधुनिक बैंक को अपने ग्राहक के प्रतिनिधि अथवा अभिकर्त्ता के रूप में भी अनेक सेवाएँ सम्पन्न करनी पड़ती हैं।* इन सेवाओं का व्यापार और वाणिज्य जगत में भारी महत्त्व है। इनसे ग्राहक को विशेष सुविधा होती है और क्योंकि बैंकर अपनी सेवाओं का पारितोषण लेता है, इसलिए उसकी भी आय में वृद्धि होती है। *अभिकर्त्ता के रूप में बैंकर के निम्न कार्य महत्त्वपूर्ण हैं :—*(१) ग्राहक के चैकों का भुनाना, (२) ग्राहक की ओर से विनिमय बिलों को स्वीकार करना और एकत्रित करना, (३) ग्राहक का रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजना, (४) ग्राहक की ओर से अंशों, ऋण पत्रों, प्रतिज्ञा-पत्रों, स्टॉक आदि को खरीदना और बेचना, (५) ग्राहक की ओर से ब्याज, मूलधन, लाभाँश आदि एकत्रित करना और चुकाना, (६) ग्राहक की ओर से बीमा, ब्याज, ऋण आदि की किश्तों का चुकाना, (७) ग्राहक की ओर से अन्य आदेशित कार्य करना, इत्यादि।

इन कार्यों की संख्या और उनका महत्त्व आधुनिक संसार में बराबर बढ़ता ही जा रहा है। ये सभी कार्य ग्राहक के आदेशानुसार बैंक उसके प्रतिनिधि के रूप में करती है और *यदि बैंक अपने ग्राहकों की आज्ञानुसार कार्य करती है तथा अपने अधिकारों का दुरुपयोग नहीं करती है तो बैंक के कार्यों के लिए ग्राहक उत्तरदायी होता है।* इस सम्बन्ध में ग्राहक और बैंक के पारस्परिक सम्बन्ध पर भारतीय प्रसंविदा विधान (Indian Law of Contracts) की व्यवस्थाएँ लागू होती हैं। जब तक बैंक की लापरवाही, अधिकार से बाहर काम करना अथवा बेईमानी सिद्ध नहीं होती है, ग्राहक बैंक की उन सभी कार्यवाहियों के लिए उत्तरदायी होता है जो उसने उस ग्राहक की ओर से की हैं।

धरोहर-धारी और धरोहर-धर्त्ता—

बैंकर तथा ग्राहक के बीच तीसरी प्रकार का सम्बन्ध प्रन्यासी (Trustee) तथा लाभधारी (Beneficiary) का होता है। *आधुनिक बैङ्क अपने ग्राहकों की बहुमूल्य वस्तुओं के संरक्षण का भी कार्य करती हैं।* एक ग्राहक जेवरात, हीरे,

बहुमूल्य प्रतिभूतियाँ और पत्र-बैंक के संरक्षण में छोड़ सकता है। इस *संरक्षण के लिए बैंक शुल्क अथवा कमीशन लेती है,* परन्तु बैंक धरोहर को सुरक्षित रखने और लौटाने की गारन्टी देती है। धरोहर के खो जाने अथवा नष्ट हो जाने की दशा में बैंक को उसकी कीमत चुकानी पड़ती है। *विधान के अनुसार धरोहर के प्रति बैंक को इतनी ही सावधानी वर्तनी पड़ती है जितनी वह निजी माल के सम्बन्ध में रखती है।* यदि बैंक की किसी भी प्रकार की असावधानी के कारण ग्राहक को हानि होती है तो बैंक को उसकी क्षय-पूर्ति करनी पड़ती है।

व्यवहार में बैंक इस प्रकार की धरोहर को मुहर लगे हुए लिफाफों अथवा मुहर लगे हुए तालाबन्द सन्दूकों में लेती है और बैंक यह जिम्मेदारी लेती है कि माँगने पर धरोहर-धर्त्ता को उसी प्रकार बिना मुहर टूटे धरोहर लौटा दी जायगी। परन्तु ऐसी वस्तु के लौटाने में सावधानी की आवश्यकता होती है। यदि यह किसी अनाधिकृत (Unauthorised) व्यक्ति को लौटा दी जाती तो बैंक उत्तरदायी होती है। कुछ देशों में इस प्रकार का नियम है कि यदि धरोहर रखने के लिए पारितोषण नहीं लिया जाता है और बैंक की घोर लापरवाही सिद्ध नहीं होती है तो बैंक धरोहर की क्षय-पूर्ति के लिए उत्तरदायी नहीं होता है। *भारत का नियम इस सम्बन्ध में अधिक कड़ा है। यहाँ प्रत्येक धरोहर पर बैंक की असावधानी सिद्ध होने पर क्षय-पूर्ति आवश्यक होती है,* चाहे उसके संरक्षण के लिए बैंक ने कमीशन लिया है या नहीं।

जब बैंक बहुमूल्य वस्तुओं के संरक्षण और सुरक्षित रखने का उत्तरदायित्व लेती है तो वह एक प्रन्यासी (Trustee) के रूप में कार्य करती है। इसी प्रकार जब बैंक निश्चित शर्तों पर जमा स्वीकार करती है और उसका हिसाब जमा करने वाले को देती रहती है तो भी बैंक प्रन्यासी हो रहती है।

ग्राहकों के प्रति बैंक की विशेष जिम्मेदारियाँ—

उपरोक्त सम्बन्धों के अतिरिक्त व्यवहारिक जीवन में बैंक के उसके ग्राहकों के प्रति कुछ विशेष उत्तरदायित्व होते हैं, जिनका निभाना बैंक के लिए आवश्यक होते हैं। *ये उत्तरदायित्व निम्न प्रकार हैं :—*

(i) धनादेशों का भुगतान करना—बैंक के लिए उसके ग्राहकों द्वारा उस पर लिखे हुए धनादेशों का आदर करना आवश्यक होता है। जब तक ग्राहक के खाते में प्रर्याप्त धन है और धनादेश के विषय में कोई अन्य प्रकार की त्रुटि नहीं है, बैंक को उस पर लिखे हुए सभी चैकों का भुगतान करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

(ii) बैंकर का साधारण ग्रहणाधिकार (General lien)—यदि कोई विरोधी समझौता नहीं हुआ है तो प्रतिभूति के रूप में बैंक किसी भी ऐसी सम्पत्ति को रोक सकती है जो उसके संरक्षण में रखी हुई हो।

(iii) खातों की गोपनीयता—बैंक का यह महान् उत्तरदायित्व होता है

कि वह अपने ग्राहक के खाते को गुप्त रखे। बहुत बार ग्राहक की आर्थिक स्थिति के खुल जाने से उसकी साख तथा उसके व्यवसाय को काफी हानि पहुंच सकती है, अतएव जब तक नियम, लोक हित अथवा ग्राहक की स्वीकृति के कारण ऐसा करना आवश्यक नहीं होता है, बैंक अपने ग्राहक की आर्थिक स्थिति छुपाकर ही रखती है, परन्तु बैंक अपने ग्राहकों को एक दूसरे की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में गोपनीय रिपोर्ट दे सकती है।

(iv) आनुषांगिक व्यय लेने का अधिकार—बैंक को अपने ग्राहकों से आनुषांगिक व्यय (Incidental Charges) वसूल करने का अधिकार होता है और ग्राहक उन्हें देने से इन्कार नहीं कर सकता है।

(v) चक्रवर्ती व्याज लगाने का अधिकार—बैंक को चक्रवर्ती ब्याज लगाने का अधिकार होता है।

(vi) समय-सीमा की छूट—बैंक ऐसी गारन्टी देती है कि निक्षेपदाताओं द्वारा जमा की हुई राशि पर समय सीमा (Time Limitation) लागू नहीं होती है। यदि निक्षेपदाता को तीन साल से भी अधिक समय रुपया जमा किए हुए हो जाता है और समय सीमा विधान (Limitation Law) के अनुसार ऋण के अशोधनीय हो जाने की अवस्था उत्पन्न हो जाती है, परन्तु फिर भी बैंक उसे चुकाने से कभी भी इन्कार नहीं करती है।

बैंकर और ग्राहक के सम्बन्ध की कुछ विशेष दशाएँ—

चार महत्त्वपूर्ण परिस्थितियों में, जो नीचे दी जाती हैं, बैंक को विशेष रूप में सावधानी से काम करना पड़ता है:—

(१) ग्राहक के धनादेशों का भुगतान—वैसे तो ग्राहक के धनादेशों का भुगतान करने के लिए बैंक उत्तरदायी है और अकारण भुगतान न करने पर बैंक को मान-हानि की क्षय-पूर्ति करने के लिए बाध्य किया जा सकता है, परन्तु इस सम्बन्ध में भी थोड़ी सी सावधानी की आवश्यकता होती है। यदि बैंक को इस प्रकार की सूचना मिल चुकी है कि ग्राहक पागल हो गया है, उसका दिवाला निकल चुका है, ग्राहक ने धनादेश विशेष का भुगतान न करने का लिखित आदेश दे दिया है, अथवा ग्राहक ने धनादेश के खो जाने की सूचना दे दी है तो बैंक को चाहिए कि वह ग्राहक के धनादेश का भुगतान न करे। यदि सब कुछ जानते हुए भी बैंक भुगतान करती है तो वह हर्जाना देने के लिए उत्तरदायी होती है।

(२) अल्पवयस्क ग्राहक के प्रति—अल्पवयस्क अथवा नाबालिग (Minor) के साथ व्यवसाय करने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। विधान के अनुसार अल्पवयस्क के साथ किए हुए प्रसंविदे (Contracts) अमान्य होते हैं। यदि ऐसा व्यक्ति ऋण लेता है, अधि-विकर्ष प्राप्त करता है, अथवा बिल को स्वीकार करता है तो उससे धन वसूल नहीं किया जा सकता है। ऐसे व्यक्ति के नाम का खाता खोलते

समय बैंक को इन सब बातों का ध्यान रखना पड़ता है। व्यवहार में बैंक इस बात पर अनुरोध करती है कि ऐसे व्यक्ति की ओर से उसके संरक्षक के नाम पर खाता खोला जाय और उसे जमाधन से अधिक धन निकालने का अधिकार न दिया जाय।

(३) सम्मिलित हिन्दू परिवार का खाता—सम्मिलित हिन्दू परिवार की ओर से उसका प्रबन्धकर्त्ता सभी बातों के लिए उत्तरदायी होता है। परिवार के अन्य सदस्यों के वैधानिक अधिकार सीमित होते हैं, इसलिए यह आवश्यक है कि ऐसे खाते से सम्बन्धित सभी धनादेशों पर प्रबन्धकर्त्ता के हस्ताक्षर रहें। साझेदारी फर्म में सभी साझेदारों का सामूहिक और व्यक्तिगत उत्तरदायित्व होता है, इसलिए किसी भी साझेदार के हस्ताक्षर अथवा आदेश पर भुगतान किया जा सकता है, परन्तु सम्मिलित हिन्दू परिवार में यह बात नहीं होती है।

(४) संस्था की ओर से खोला हुआ खाता—फर्मों की भाँति संस्थाओं अथवा विभागों की ओर से भी खाते खोले जा सकते हैं। इन खातों पर संस्थाओं और विभागों के अधिकारियों द्वारा धनादेश लिखे जाते हैं और बहुधा चैकों पर दो या उससे अधिक हस्ताक्षर आवश्यक होते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी बैंक को पहले से ही बता दिया जाता है कि अमुक खाते से धन निकालने का अधिकार किसको है। बैंक के लिए यह आवश्यक है कि सभी धनादेशों की समुचित जाँच के पश्चात् ही भुगतान करे और सन्देह की दशा में बिना प्रमाण के भुगतान न करे।

QUESTIONS

1. Discuss the relationship between a banker and his customer.
(Agra, B. Com., 1953 ; Raj., B. Com., 1956, 1952, 1960, 1949)
2. What is a banker and who is his customer ? Examine the relationship between the two. (Agra, B. Com., 1957)
3. What precaution should the banker take in opening accounts with :—
(*a*) a miner, (*b*) a married purdanashin woman, (*c*) joint-stock company, (*d*) an illiterate person. (Raj., B. Com., 1950)
4. How is the banker's position as a drawer with regard to endorsement on cheques ; if the banker makes payment in due course of a cheque bearing a forged endorsement, can be re over the amount as money paid under mistake ?
(Agra, B. Com., 1957)

अध्याय १६

आधुनिक बैंकिङ्ग के प्रकार

(The Types of Modern Banking)

व्यापार बैंकिंग के प्रकार—

देश की प्रचलित मुद्रा साधारणतया बैंकिंग मुद्रा ही होती है और यह बैंक मुद्रा व्यापार बैंकों द्वारा निर्मित होती है। विभिन्न देशों में व्यापार बैंकों के संगठन और उनकी कार्य-विधियों में भारी अन्तर पाया जाता है, परन्तु व्यापार बैंकिंग प्रथा को हम दो बड़े-बड़े भागों में बाँट सकते हैं :—(१) ब्रिटेन की शाखा बैंकिंग प्रणाली (Branch Banking System) तथा (२) अमरीका की इकाई बैंकिंग पद्धति (Unit Banking System)। सबसे पहले हम बैंकों की इस कार्य-विधि के अन्तर का ही अध्ययन करेंगे।

शाखा बैंकिंग प्रणाली

(Branch Banking)

शाखा बैंकिंग का अर्थ—

शाखा बैङ्किंग से अभिप्राय बैङ्किंग की उस प्रणाली का है जिसमें बैङ्किंग कम्पनी की अनेक शाखायें सारे देश में या देश के एक बहुत बड़े भाग में फैली हैं। इस प्रकार की बैंकिंग प्रणाली का सबसे अच्छा उदाहरण इङ्गलैण्ड में मिलता है, जहाँ व्यापार बैंक साधारणतया एक विशालकाय संस्था होती है, जिसकी शाखाएँ देश भर में फैली रहती हैं। अन्य बहुत से देशों में भी, जिनमें भारत भी सम्मिलित है, यह प्रणाली प्रचलित है। इङ्गलैण्ड की कुल १०,८७४ बैंकिंग संस्थाओं में से ९७,७१७ पर पाँच बड़ी-बड़ी बैंकों का, जिन्हें 'महान् पाँच' (Big Five) कहा जाता है, आधिपत्य है। इसी प्रकार जर्मनी और फ्रान्स में भी अधिकांश बैंकिंग व्यवसाय कुछ थोड़ी सी ही बैंकों के हाथ में है।

शाखा बैंकिंग प्रणाली के लाभ—

इस प्रकार की बैंकिंग प्रणाली के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—

(१) बड़े पैमाने की उत्पत्ति और श्रम-विभाजन के लाभ—शाखा बैंकिंग को बड़े पैमाने की उत्पत्ति तथा श्रम-विभाजन के सभी लाभ प्राप्त होते हैं। एक ही बैंक का विशाल संगठन होता है और उसके पास पूँजी तथा अन्य साधन भी अधिक मात्रा में होते हैं। ऐसी बैंक बैंक-कार्यों के संचालन के लिये विशेषज्ञ रख

सकती है और इस प्रकार अपने व्यवसाय का वैज्ञानिक तथा कुशल प्रबन्ध कर सकती है। छोटी-छोटी बैंकों के लिए धनाभाव के कारण यह सम्भव नहीं है कि वे ऊँचा वेतन देकर विशेषज्ञों को रख सकें।

(२) सुरक्षित कोष में बचत—इस प्रणाली में निधि की बचत होती है। एक विशाल बैंक के लिए यह सम्भव हो सकता है कि वह प्रत्येक शाखा में थोड़ी-थोड़ी सुरक्षित निधि रखे, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर एक शाखा से दूसरी शाखा को नकद कोषों का हस्तान्तरण किया जा सकता है, परन्तु यदि बैंक की शाखाएँ नहीं हैं तो उसे अधिक बड़ा सुरक्षित कोष रखना पड़ता है, जिससे कि आवश्यकता पड़ने पर कठिनाई न हो। इस प्रकार व्यवसाय के विस्तार की तुलना में इकाई बैंकिंग की अपेक्षा शाखा बैंकिंग में कम सुरक्षित कोषों की आवश्यकता पड़ती है।

(३) धन के हस्तांतरण में मितव्ययिता एवं सरलता—शाखा बैंकिंग के लिये विप्रेय व्यवसाय (Remittance Business) अर्थात् धन का एक स्थान से दूसरे को हस्तान्तरण सस्ता और सरल होता है, क्योंकि बैंक की एक शाखा से दूसरी को धन का हस्तान्तरण हो सकता है। यही कारण है कि ऐसी बैंकों के कारण देश के विभिन्न भागों के लिए ब्याज की दरों में समानता आ जाती है।

(४) व्यवसायिक जोखिम का भौगोलिक वितरण—शाखा बैंकिंग में व्यवसायिक जोखिम का भौगोलिक वितरण हो जाता है। कुल सम्पत्ति अथवा कुल व्यवसाय एक ही क्षेत्र में केन्द्रित न होकर कई स्थानों पर फैला हुआ होता है। इस प्रकार एक स्थान की हानियों का एक दूसरे स्थान के लाभों से समायोजन होता रहता है। यदि एक स्थान पर मन्दी भी आती है तो भी बैंक सरलतापूर्वक उसके दुष्परिणामों को सहन कर सकती है।

(५) बैंकिंग सेवाओं में वृद्धि—इस पद्धति द्वारा देश के सभी नगरों, अविकसित क्षेत्रों और ग्रामीण क्षेत्रों तक में बैंकिंग सेवाएँ उपलब्ध की जा सकती है। इस प्रकार इसके द्वारा देश के उन भागों को भी बैंकिंग सेवाओं के लाभ प्राप्त हो जाते हैं जहाँ स्वतन्त्र रूप में बैंक खोलने का विचार भी नहीं किया जा सकता है।

(६) प्रतिभूतियों का कुशल विनियोग—शाखा बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत बैंकों के कर्मचारी योग्य एवं कुशल होते है, और उनके पास विनियोग के लिए धन भी काफी होता है। अतः वे उपयुक्त व सुरक्षित प्रतिभूतियों में धन का विनियोग करने में सफल रहते है।

(७) कर्मचारियों की ट्रेनिंग में भी सुविधा हो जाती है, क्योंकि शाखा बैंकिंग के अन्तर्गत बैंकों का काम बहुत विस्तृत होता है, जिससे कर्मचारियों को बैंकिंग कारोबार के प्रत्येक पहलू की ट्रेनिंग प्राप्त करने का अवसर मिलता है।

शाखा बैंकिंग पद्धति के दोष—

यह प्रणाली आधुनिक आर्थिक विकास प्रणाली के अनुकूल तो अवश्य है,

परन्तु आधुनिक उत्पादन प्रणाली के सभी दोष भी इसमें पाये जाते हैं। प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) प्रबन्ध व निरीक्षण की कठिनाई—इस प्रणाली में बड़े पैमाने की उत्पत्ति के सभी दोष होते हैं। विशालकाय संगठन के कारण प्रबन्ध, निरीक्षण और नियन्त्रण की गम्भीर समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं।

(२) प्रारम्भन-प्रेरणा, लोच व रुचि-अनुकूलता का अभाव—एक बैंक के लिए दो बातों की भारी आवश्यकता होती है :—एक तो यह कि जिस क्षेत्र में वह स्थित है उस क्षेत्र विशेष की परिस्थितियों और ग्राहकों की रुचियों के अनुसार कार्य-विधि निश्चित की जाय और दूसरे, उसके कार्य में लोच तथा प्रारम्भन प्रेरणा (Initiative) रहे। शाखा बैंकिंग द्वारा ये दोनों बातें कठिनाई से पूरी होती हैं, क्योंकि प्रत्येक बात प्रधान कार्यालय से पूछ कर उसकी निर्धारित नीति के अनुसार की जाती है। यही कारण है कि ऐसी प्रणाली को व्यक्तिगत सम्पर्क के लाभ बहुत ही कम प्राप्त होते हैं और बहुत बार उसका कार्य स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल नहीं रह पाता है।

(३) व्ययपूर्ण प्रणाली—शाखा बैंकिंग प्रणाली साधारणतया व्ययपूर्ण होती है। प्रत्येक नई शाखा की स्थापना पर अलग-अलग व्यय करना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त जैसे-जैसे शाखाओं की संख्या बढ़ती है और उनका फैलाव बढ़ता है वैसे-वैसे समचय (Coordination), नियन्त्रण (Control) तथा निरीक्षण (Supervision) का व्यय बढ़ता जाता है।

(४) अनावश्यक व प्रतियोगी विकास का दोष—यह पद्धति बैंकिंग सेवाओं के अनावश्यक तथा प्रतियोगी विकास को प्रोत्साहन देती है। प्रत्येक नगर और क्षेत्र में प्रत्येक बैंक अपनी-अपनी शाखाएं खोलने का प्रयत्न करती है। इससे सेवाओं की दोबारगी (Duplication) होती है और विभिन्न बैंकों के बीच हानिकारक प्रतियोगिता उत्पन्न हो जाती है।

(५) एक शाखा के दोषों का अन्य शाखाओं पर प्रभाव—एक शाखा की भूल का सारी शाखाओं पर प्रभाव पड़ता है। यदि किसी एक क्षेत्र में संकट अथवा मन्दी आती है तो सारी की सारी बैंकिंग प्रणाली का ढाँचा हिलने लगता है।

(६) एकाधिकार को बढ़ावा—शाखा बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत अत्यधिक केन्द्रीयकरण हो जाता है। इसके फलस्वरूप आर्थिक सत्ता कुछ इने-गिने व्यक्तियों के हाथों में पहुँच जाती है, जिसका दुरुपयोग होने का भय है।

इकाई बैंकिंग
(Unit Banking)

इस प्रकार की बैंकिंग प्रणाली का चलन मुख्यतया संयुक्त राज्य अमरीका में

है। *इसके अन्तर्गत एक बैंक का कार्य साधारणतया एक ही कार्यालय तक सीमित होता है, यद्यपि यह सम्भव है कि कुछ बैंकों को एक सीमित क्षेत्र के भीतर शाखायें खोलने का भी अधिकार हो।* इस प्रणाली में प्रतिनिधि बैंकिंग पद्धति द्वारा काम किया जाता है। धनों के हस्तान्तरण तथा कार्य की सुविधा के लिए विभिन्न बैंकों को एक-दूसरे से सम्बन्ध रखना पड़ता है। इकाई बैंकिंग प्रणाली इस आधारभूत विचार के अनुसार ठीक समझी जाती है कि एक बैंक का प्रारम्भन स्थानीय समाज द्वारा ही होना चाहिए और उसका स्वामित्त्व भी उसी के पास रहना चाहिये। ऐसी बैंक का व्यवसाय साधारणतया आस-पास के उद्योगपतियों, व्यापारियों तथा कृषकों से ही सम्बन्धित होता है। ऐसी प्रणाली में बैंक के कार्य का स्थानीय, आर्थिक और सामाजिक संगठन के साथ एकीकरण होता है। ऐसी पद्धति में जन-संख्या के अनुपात में बैंकों की संख्या अधिक होती है। अमरीका में हजारों छोटी-छोटी स्वतन्त्र और व्यक्तिगत बैंक है, जिनका स्वामित्व भी स्थानीय होता है। एकाधिकारी प्रवृत्तियों को रोकने के लिए अमरीकन सरकार बैंकों के कार्य-क्षेत्र को सीमित रखने का प्रयत्न करती है।

इकाई बैंकिंग के गुण—

इस प्रणाली के समर्थक इसे विभिन्न कारणों से अधिक उपयुक्त बताते हैं—

(i) स्वतन्त्र व्यवसाय सिद्धान्त के अनुकूल—यह कहा जाता है। इकाई-बैंकिंग स्वतन्त्र व्यवसाय (Free Enterprise) सिद्धान्त के अधिक अनुकूल है।

(ii) स्थानीय कल्याण का विशेष ध्यान—इसमें स्थानीय कल्याण का विशेष ध्यान रखा जाता है। शाखा बैंकिंग स्वभाव से ही ऐसी होती है कि अपने लाभ के पीछे स्थानीय जन-संख्या के हितों का ध्यान नहीं रख सकती है। बैंक का स्थानीय जन-संख्या से प्रत्यक्ष और व्यक्तिगत सम्पर्क रहता है और उसका संचालन तथा उसकी कार्य-विधि स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार होती है।

(iii) एकाधिकारी संस्थाओं के विकास पर रोक—यह प्रणाली एकाधिकारी बैंकिंग के विरुद्ध एक अच्छा प्रतिबन्ध है, क्योंकि इस प्रणाली के अन्तर्गत बैंक छोटे-छोटे होते हैं, जिससे बड़ी एकाधिकारी संस्थाओं के निर्माण का डर नहीं होता।

(iv) कार्य में शीघ्रता – एकाकी बैंकिंग-प्रणाली के अन्तर्गत कार्य शीघ्रता से समय पर किया जाता है। अधिकारीगण दिन प्रति दिन की समस्याओं का यथोचित निर्णय कर लेते हैं जिससे दीर्घसूत्रता (Red Tapism) की हानियाँ नहीं होने पाती हैं।

(v) अकुशल बैंकों की समाप्ति—जब कि शाख बैंकिंग के अन्तर्गत एक बैंक की अकुशल शाखा अन्य कुशल शाखाओं के बल पर जीवित रहती है, इकाई बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत ऐसा होना सम्भव नहीं है, क्योंकि एक अकुशल बैंक अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकता।

(vi) प्रबन्ध में सुविधा रहती है, क्योंकि इस पद्धति के अन्तर्गत देश भर में शाखाओं का जाल सा नहीं बिछा होता ।

आलोचना—

इस प्रणाली के विरुद्ध भी बहुत कुछ कहा जा सकता है । *जोखिम का फैलाव न होने* के कारण इस प्रणाली में स्थिरता कम होती है और बैंकों की विफलता का भय अधिक रहता है । (ii) *कोषों में गतिलशीता नहीं रहती* और उनका हस्तान्तरण कठिन और व्ययपूर्ण होता है । (iii) *व्यवसाय का पैमाना छोटा होने के* कारण प्रबन्ध की कुशलता तथा कार्य-विधियों के सुधार सम्बन्धी लाभ कम ही प्राप्त होते हैं । (iv) ऐसी प्रणाली में *छोटे-छोटे नगरों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सेवाएँ उपस्थित करने में कठिनाई होती हैं,* क्योंकि एक स्वतन्त्र बैंक की स्थापना शाखा खोलने की अपेक्षा अधिक कठिन होती है और नये क्षेत्रों में आरम्भ में व्यवसाय भी कम ही मिलता है । (v) *सरकारी नियन्त्रण तथा निरीक्षण के दृष्टिकोण से भी इकाई बैंकिंग शाखा बैंकिंग की तुलना में अच्छी नहीं होती है,* क्योंकि प्रत्येक बैंकिंग इकाई पर अलग-अलग नियन्त्रण रखना आवश्यक होता है ।

इकाई बैंकिंग प्रणाली में सुधार—

इकाई बैंकिंग प्रणाली के दोषों को देखते हुए अमरीकन बैंकिंग पद्धति में कुछ आवश्यक सुधार किये गये हैं । (i) कुछ बैंकों को *थोड़ी-थोड़ी शाखाएं खोलने का अधिकार* दिया गया है । (ii) इसके अतिरिक्त वहाँ *शृङ्खलाकारी अथवा वर्गीय (Chain or Group), बैंकिंग पद्धति को प्रोत्साहन* दिया गया है । इसके अन्तर्गत बहुत सी बैंकों पर एक ही साथ एक ही व्यक्ति अथवा कुछ थोड़े से व्यक्तियों का सामूहिक स्वामित्त्व रहता है, यद्यपि वैसे प्रत्येक बैंक की पूँजी, प्रबन्ध तथा कर्मचारी अलग अलग होते हैं । (iii) साथ ही ऐसी भी व्यवस्था पाई जाती है कि *ग्रामीण क्षेत्रों तथा छोटे-छोटे नगरों की बैङ्क बड़े-बड़े नगरों की बैङ्कों में अपने खाते खोलती हैं,* जिससे कि विभिन्न बैंकिंग इकाइयों का एक-दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हो जाता है । (iv) *बड़े-बड़े नगरों की बैङ्क छोटी-छोटी बैङ्कों को व्यवसायिक सलाह देती* है । उनके फालतू धन को एक से दूसरी के पास हस्तान्तरित करती है और आवश्यकता के समय उन्हें आर्थिक सहायता भी देती है ।

निष्कर्ष—

यह निर्णय करना थोड़ा कठिन है कि भारत में इन दोनों में से कौन सी प्रणाली अधिक उपयुक्त है । *इस सम्बन्ध में टामस् (Thomas) ने कहा है कि "यद्यपि दोनों ही प्रणालियाँ अपूर्ण हैं, परन्तु दोनों की कार्य पद्धति को देखने से पता चलता है कि शाखा बैङ्किंग प्रणाली अधिक उत्तम है ।"* वास्तविकता यह है कि अमरीका जैसे धनी देश में तो जहाँ जन-साधारण की आय काफी ऊँची है और जहाँ व्यवसायों का काफी विस्तार हो चुका है, इकाई बैंकिंग प्रणाली ठीक हो सकती

है, यद्यपि वहाँ पर भी उसके सफल संचालन के लिए उसमें समय-समय पर परिवर्तन आवश्यक होते हैं। भारत में पूँजी की कमी है, आय की कमी के कारण बचत कम होती है, बैंकिंग प्रणाली का विकास बहुत ही कम हुआ है और प्रस्तुत बैंकों के पास पर्याप्त व्यवसाय नहीं है, इसलिए यहाँ इकाई बैंकिंग प्रणाली उपयुक्त नहीं हो सकती है। हमारे लिए तो शाखा बैंकिंग ही अधिक अच्छी है, परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि एक बैंक की अलग-अलग शाखाएँ स्थानीय दशाओं के अनुसार अपनी-अपनी नीति और कार्य-प्रणाली का निर्माण करें, ताकि बैंक और स्थानीय व्यवसायिक वर्ग के बीच निकटतम् सम्बन्ध बना रहे।

अमेरिका ने इकाई बैंकिंग पद्धति को अपनाया था, लेकिन सन् १६२६-३३ की महान् मन्दी में इस प्रणाली के बैंक संकटों का सामना न कर सके और टूट गए, जबकि इङ्गलैंड के शाखा प्रणाली के बैंक इन संकटों को झेल गये। अपनी अनगिनती शाखाओं के बल पर उन्होंने संकटों का सामना कर लिया। इस कारण ही अमेरिका अब धीरे-धीरे शाखा बैंकिंग की ओर बढ़ रहा है। भारत ने इङ्गलैंड का अनुसरण करते हुये शाखा बैंकिंग पद्धति को अपनाया है।

बैंकों का वर्गीकरण (The Classification of Banks)—

बैंक साधारणतया निम्न प्रकार की होती हैं :—

(१) केन्द्रीय बैंक (Central Bank) —यह देश की राष्ट्रीय बैंक होती है। ऐसी देश में साधारणतया एक ही बैंक होती है, यद्यपि इसकी अनेक शाखाएँ हो सकती हैं। भारत की केन्द्रीय बैंक रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया है। लगभग सभी केन्द्रीय बैंकों की दो प्रमुख विशेषताएँ होती हैं :—प्रथम, ऐसी बैंक को देश में नोट निर्गम का एकाधिकार प्राप्त होता है और दूसरे, विशेष परिस्थितियों को छोड़कर उसे जनता से प्रत्यक्ष व्यवसाय करने का अधिकार नहीं होता है। केन्द्रीय बैंक विभिन्न प्रकार के कार्य सम्पन्न करती है। सरकारी धन की लेन-देन और उसका हिसाब-किताब केन्द्रीय बैंक ही रखती है और यह बैंक आवश्यकता पड़ने पर सरकार को ऋण भी देती है। दूसरे शब्दों में, केन्द्रीय बैंक सरकार की बैंकर होती है। सरकारी रोकों का संरक्षण और सरकारी ऋणों का प्रबन्ध भी इसी के हाथ में होता है। इसके अतिरिक्त यह बैंक विभिन्न रीतियों से देश की चलन तथा साख व्यवस्था पर नियन्त्रण रखती है, सरकार को आर्थिक, वित्तीय तथा मौद्रिक मामलों में सलाह देती है और इन विषयों से सम्बन्धित आवश्यक सूचना और आँकड़े एकत्रित करती है। बैंकिंग प्रणाली के दृष्टिकोण से भी केन्द्रीय बैंक कई प्रकार के महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। यह बैंकों की बैंक होती है। बैंकों को विभिन्न रूपों में ऋणों, अग्रिमों तथा उनके द्वारा भुनाए हुए विनिमय बिलों को पुनः भुनाकर आर्थिक सहायता देती है, उनके समुचित संचालन की देख-रेख करती है और सरकार को बैंकिंग विधान के सम्बन्ध में सुझाव देती है। आधुनिक युग

में तो मौद्रिक साख, विनियोग तथा वित्तीय समस्याओं की जटिलता के कारण केन्द्रीय बैंक का महत्त्व बराबर और भी बढ़ता जा रहा है।

(२) व्यापारिक बैंक (Commercial Banks)—भारत की अधिकांश सम्मिलित पूँजी बैंक (Joint-stock Banks) इसी प्रकार की हैं। इन बैंकों का प्रमुख कार्य व्यापार की वित्तीय व्यवस्था में सहायता देना होता है। इन बैंकों की विशेषता यह होती है कि वे अल्पकालीन ऋण और अग्रिम प्रदान करती हैं। भारत में ऐसी बैंक साधारणतया ३ महीने तक के लिए ही ऋण देती है, यद्यपि कुछ दशाओं में अधिक से अधिक १ वर्ष के लिए भी ऋण दे दिए जाते हैं। ये अग्रिम वैयक्तिक प्रतिभूतियों, विनिमय बिलों अथवा बाँड की आड़ पर दिये जाते हैं, परन्तु तैयार माल, जो गोदामों में रखा गया है, फसलें, कृषि की उपज, अन्य उपयुक्त तरल आदेय तथा चल सम्पत्ति को भी बैंकों द्वारा अच्छी प्रतिभूति समझा जाता है। प्रतिज्ञा-पत्रों पर साधारणतया किसी दूसरे सम्मानित दल के हस्ताक्षरों का भी अनुरोध किया जाता है। विधानानुसार ऐसी बैंक अचल सम्पत्ति की आड़ पर तथा दीर्घकालीन औद्योगिक कार्यों के लिए ऋण नहीं देती हैं, परन्तु भारत की कुछ व्यापार बैंक व्यापारिक वित्त के अतिरिक्त और भी बहुत सी सेवाओं को अपने कार्य-क्षेत्र में सम्मिलित करती हैं। ऐसी बैंक लगभग सभी प्रकार की निक्षेपों को स्वीकार करती हैं और बैंक सम्बन्धी अन्य सामान्य सेवाओं को भी सम्पन्न करती हैं। बहुत बार ये बैंक विदेशी विनिमय व्यवसायों में भी भाग लेती हैं।

(३) औद्योगिक बैंक (Industrial Banks)—ये बैंक व्यापार के स्थान पर औद्योगिक वित्त की व्यवस्था करती हैं। इन बैंकों के तीन कार्य महत्त्वपूर्ण होते हैं:—प्रथम, जमा का प्राप्त करना—व्यापार बैंकों की भाँति औद्योगिक बैंक भी जमा स्वीकार करती हैं, परन्तु ये साधारणतया निश्चित तथा अनिश्चितकालीन निक्षेपों अर्थात् दीर्घकालीन जमा ही स्वीकार करती हैं, क्योंकि इन्हें ऋण भी लम्बे काल के लिए देने पड़ते हैं। दूसरे, ये बैंक दीर्घकालीन औद्योगिक ऋण प्रदान करती हैं। उद्योगों को दो प्रकार के ऋणों की आवश्यकता होती है:—मशीनरी, बिल्डिङ्ग तथा फर्नीचर आदि के लिए दीर्घकालीन ऋण आवश्यक होते हैं, परन्तु मजदूरी चुकाने, कच्चा माल खरीदने और तैयार माल की बिक्री के लिए अल्पकालीन ऋणों से काम चल जाता है। दूसरी प्रकार के ऋण तो व्यापार बैंकों से मिल जाते हैं, परन्तु प्रथम प्रकार के ऋण औद्योगिक बैंकों से मिलते हैं। इस सम्बन्ध में औद्योगिक बैंक ऋण लेने वाले उद्योग की साख और वित्तीय स्थिति की सूक्ष्म जाँच करती है और नियन्त्रण तथा सुरक्षा के लिए फर्म के प्रबन्ध में सक्रिय हिस्सा लेती है। तीसरे, ये बैंक और भी बहुत सी फुटकर सेवाएँ सम्पन्न करती हैं, जैसे—औद्योगिक फर्मों को विनियोग सम्बन्धी सलाह देना, औद्योगिक कम्पनियों के अंशों को खरीदना और बेचना, औद्योगिक फर्मों के लिए विज्ञापन करना, इत्यादि।

भारत में ऐसी बैंक लगभग न होने के बराबर हैं, परन्तु जर्मनी और जापान में उनका चलन बहुत है। भारत में औद्योगिक वित्त प्रमण्डल (Industrial Finance Corporation) तथा राज्य औद्योगिक वित्त प्रमण्डल इसके अच्छे उदाहरण हैं। कुछ देशों में मिश्रित बैंक पद्धति भी प्रचलित है। जर्मनी की औद्योगिक बैंक व्यापार बैंकों का भी कार्य करती हैं और अमेरिका में व्यापार बैंक औद्योगिक बैंक भी होती हैं।

इन बैंकों का औद्योगिक विकास में भारी महत्व होता है, क्योंकि ये स्थिर यंत्र (Plant), बिल्डिंग, मशीनरी आदि की प्रतिभूतियों पर दीर्घकालीन ऋण प्रदान करती हैं। ये बैंक भी साधारणतया मिश्रित पूँजी बैंक होती हैं और इनकी पूँजी कई मदों से प्राप्त होती है :—प्रथम, अंशों की बिक्री से पूँजी मिलती है—इन बैंकों की परिदत्त पूँजी (Paid-up Capital) व्यापार बैंकों की अपेक्षा अधिक होती है। दूसरे, इनकी पूँजी का दूसरा साधन दीर्घकालीन जमा होती है। तीसरे, ये बैंक बीमा कम्पनियों से दीर्घकालीन ऋण प्राप्त करती हैं। अन्त में, ये बैंक ऋण-पत्र (Debentures) निकाल कर पूँजी प्राप्त करती हैं।

(४) विदेशी विनिमय बैंक (Foreign Exchange Banks)—इन बैंकों का मुख्य कार्य विदेशी बिलों की खरीद और बेच द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन को सुलझाना होता है। स्मरण रहे कि प्रत्येक देश के व्यापारी अपने ही देश के चलन में भुगतान लेना पसन्द करते हैं, इसलिए किसी ऐसी संस्था की आवश्यकता पड़ती है जो एक देश की मुद्रा को दूसरे देशों की मुद्राओं में बदलने का कार्य करती हो। इन बैंकों को विभिन्न देशों की मुद्रायें रखनी पड़ती हैं और इनकी शाखायें भी देश-विदेश में फैली रहती हैं। इन बैंकों को कभी-कभी केवल 'विनिमय बैंक' भी कहा गया है।

इन बैंकों की कार्य-विधि यह होती है कि विनिमय बैंक की एक देश की शाखा बिल खरीदती है और कीमत चुकाती है और फिर दूसरे देश की शाखा इसी बिल को बेचती है और धन वसूल करती है। इस प्रकार बिना धन का हस्तान्तरण किये अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन सुगमतापूर्वक वैसे ही तय हो जाता है। ये बैंक विदेशी व्यापार की सहायता करके उसके प्रोत्साहन में भी सहायक होती हैं। इसके अतिरिक्त इन बैंकों के अन्य कार्य अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का भुगतान, प्रतिभूतियों का आयात-निर्यात, अग्रिम या भावी विनिमय व्यापार (Forward Exchange) भी हैं। ये बैंक विनिमय दरों के आकस्मिक उच्चावचनों को रोक कर आयात-निर्यात व्यापारियों को अनिश्चितता तथा उससे सम्बन्धित जोखिम से बचा देती हैं। इन कार्यों के साथ-साथ विनिमय बैंक बैंकों के और भी लगभग सभी प्रकार के सामान्य कार्य सम्पन्न करती हैं।

भारत में पूर्णतया भारतीय विनिमय बैंक कोई भी नहीं है। अधिकांश विनिमय बैंक विदेशी बैंकों की ही शाखायें हैं, परन्तु आधुनिक काल में कुछ ऐसी प्रवृत्ति देखने को आती है कि एक ही बैंक एक ही साथ कई प्रकार की बैंकों के कार्य करती

है। व्यापार बैंक विदेशी विनिमय व्यवसाय करती हैं और विनिमय बैंक व्यापार बैंकों के भी कार्य करती हैं। इस कारण एक बैंक को उसके प्रधान कार्य के अनुसार ही व्यापार अथवा विनिमय बैंक का नाम दिया जाता है। यदि किसी बैंक का मुख्य कार्य विदेशी विनिमय व्यवसाय है तो उसे विनिमय बैंक का नाम दिया जाता है।

(५) कृषक बैंक (Agricultural Banks)—कृषि की समस्याएँ व्यापार तथा निर्माण उद्योगों से भिन्न होती हैं। कृषक व्यापारियों तथा उद्योगपतियों की भाँति ऐसी प्रतिभूतियाँ नहीं दे सकते हैं जो व्यापार तथा औद्योगिक बैंकों को मान्य हों। इसके अतिरिक्त कृषि की वित्तीय आवश्यकताएँ दो प्रकार की होती हैं :—बीज, खाद तथा फसलों की बिक्री के लिए अल्पकालीन ऋणों की आवश्यकता होती है, परन्तु भूमि में स्थायी सुधार के लिये दीर्घकालीन ऋणों की आवश्यकता पड़ती है। वैसे भी कृषि में सामयिक वित्त (Seasonal Finance) का काफी महत्त्व होता है। इसी कारण कृषि की वित्तीय व्यवस्था के लिये अलग प्रकार की ही बैंकों की आवश्यकता पड़ती है।

कृषि सम्बन्धी वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए दो प्रकार की बैंक होती हैं :—एक तो, सहकारी बैंक, जो साधारणतया अल्पकालीन ऋण देती हैं और दूसरी, भू-प्राधि अथवा भूमि-बन्धक बैंक (Land Mortgage Banks), जो दीर्घकालीन ऋणों की व्यवस्था करती हैं। भारत में दोनों ही प्रकार की बैंक हैं, परन्तु सहकारी बैंकों का चलन अधिक है और ये बैंक बहुत बार दीर्घकालीन ऋण भी प्रदान कर देती है।

(६) सहकारी बैंक (Co-operative Banks)—भारत में दस या दस से अधिक व्यक्ति मिलकर एक सहकारी साख समिति खोल सकते हैं और उसका पंजीयन (Registration) भी करा सकते हैं। ऐसी समितियाँ केन्द्रीय बैंक तथा राज्य सहकारी बैंकों से सहायता प्राप्त कर सकती हैं। इनका उद्देश्य पारस्परिक साख का निर्माण करना तथा कृषकों को कम ब्याज पर अल्पकालीन ऋणों का प्रदान करना होता है। सहकारी साख समितियों में उत्तरदायित्व सीमित अथवा असीमित हो सकता है, परन्तु भारत में ग्रामीण साख समितियों का संगठन साधारणतया असीमित उत्तर-दायित्व (Unlimited Liability) आधार पर ही किया जाता है। इन समितियों पर राज्य सहकारी संस्थाओं का सामान्य निरीक्षण रहता है।

एक साधारण सहकारी बैंक अथवा साख समिति की पूँजी प्रवेश शुल्क (Entrance Fee), अंशों की बिक्री, जनता तथा सदस्यों द्वारा जमा किये हुए निक्षेपों, सुरक्षित कोषों, सरकारी सहायता और केन्द्रीय तथा राज्य सहकारी बैंकों से लिये हुये ऋणों से प्राप्त होती है। कुछ काल से भारत में सहकारी आन्दोलन के रूप में परिवर्तन किया जा रहा है और सहकारी साख समितियों के स्थान पर बहुमुखी समितियाँ (Multi-purpose Societies) खोलने का प्रयत्न किया जा रहा है,

जो साख सुविधा के अतिरिक्त एक ही साथ और भी अनेक प्रकार की सेवाएँ सम्पन्न करने का प्रयत्न करती हैं।

(७) भूमि-वन्धक बैंक (Land-Mortgage Banks)—ये बैंक कृषि उद्योग को दीर्घकालीन ऋण, अर्थात् ५ से लेकर २० वर्ष के काल के लिये ऋण प्रदान करती हैं। ये ऋण खेतों में स्थायी सुधार के लिए दिए जाते हैं और भूमि को गिरवी रख कर प्राप्त किये जाते हैं। खेतों में कुँए खुदवाने, मवेशी खरीदने, बाढ़ को रोकने का प्रबन्ध करने आदि के सम्बन्ध में ये ऋण लिए जाते हैं। इनका भुगतान बहुधा किश्तों में किया जाता है, जो एक निश्चित समय के पश्चात् आरम्भ होती हैं।

कुछ समय से भारत में भू-प्राधि बैंकों को खोलने का काफी प्रयत्न किया जा रहा है और साधारणतया ऐसी बैंकों को मिश्रित पूँजी बैंकों के रूप में खोला जा रहा है। कभी-कभी भू-प्राधि बैंक सहकारी भूमि-बंधक बैंक भी होते हैं और कभी-कभी उनको आभास-सहकारी भू-प्राधि बैंक (Quasi-Cooperative Land Mortgage Bank) के रूप में खोला जाता है। ऐसी बैंकों के सदस्य ऋण लेने वाले तथा देने वाले दोनों हो सकते हैं, लेकिन इनमें उत्तरदायित्व सीमित होता है।

एक अच्छी बैंक प्रणाली की आवश्यक विशेषताएँ—

किसी भी देश के आर्थिक जीवन में बैंकों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। बैंकों से समाज को अनेक लाभ होते हैं :—(i) ये देश में बचत को प्रोत्साहन देकर पूँजी के निर्माण में सहायक होती हैं। (ii) ये बचत करने वालों तथा विनियोगियों के बीच मध्यस्थ का कार्य करके दोनों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित कर देती हैं। (iii) साख का निर्माण अधिकतर इन्हीं के द्वारा किया जाता है, इस कारण इनके द्वारा साख पद्धति के सभी लाभ प्राप्त हो जाते हैं। आधुनिक युग में बिना बैंकिंग का समुचित विकास किये औद्योगिक तथा वाणिज्यिक उन्नति की आशा निर्मूल है।

परन्तु अपनी सेवाओं का सरलतापूर्वक प्रतिपादन करने के लिए बैंक प्रथा में कुछ विशेषताओं का होना आवश्यक होता है। ये विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं:—

(१) बैंक प्रणाली ऐसी हो कि वह समाज के सभी वर्गों की आवश्यकता पूरी करे। इसका अर्थ यह होगा कि बैंक प्रणाली देश की आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल हो। एक कृषि प्रधान देश में सहकारी तथा भू-प्राधि बैंकों की प्रधानता रहेगी और एक व्यवसायिक देश में व्यापार बैंकों की। इसी प्रकार विदेशी व्यापार के लिये विनिमय बैंकों का होना आवश्यक होता है।

(२) बचत को संग्रह करने में सुविधा—यह आवश्यक है कि बैंकिंग प्रणाली का इस प्रकार संगठन किया जाय जिससे कि समाज के धनी तथा निर्धन दोनों ही वर्गों की बचत को एकत्रित किया जा सके।

(३) साख पर समुचित नियन्त्रण—क्योंकि साख का अत्यधिक निर्माण

देश के लिए घातक होता है, इसलिए यह आवश्यक है कि ऐसे हो साख-मुद्रा की जिससे बैंक प्रणाली पर समुचित नियन्त्रण रखा जा सके और वह श्यकतानुसार साख की मात्रा को घटाती-बढ़ाती रहे। कार्य-विधि

(४) समन्वित बैंकिंग प्रणाली—यह आवश्यक है कि बैंकिंग प्रव्यवहार भी विभिन्न अङ्गों के बीच समुचित समन्वय अथवा समचय (Co-ordination) को रहे। इससे एक ओर तो सेवाओं की दोबारगी (Duplication) नहीं होने पायेगी और दूसरी ओर अनार्थिक प्रतियोगिता समाप्त हो जायगी। इसके अतिरिक्त बैंकिंग संगठन के पूरे-पूरे लाभ भी उसी दशा में प्राप्त होते हैं जबकि बैंकर सेवाओं का विकास समचययुक्त (Co-ordinated) होता है।

QUESTIONS

1. Explain fully the difference between Commercial and Central Banking and state the functions of a Commercial Bank,

(Sagar, B, A., 1958)

२. केन्द्रीय बैंक और व्यापार बैंक के कार्यों का अन्तर समझाइये ?

(Sagar, B. A , 1957)

3. Explain the difference between the Unit and Branch banking. Which one will you prefer and why ?
4. Explain clearly the various types of modern banking institutions.

अध्याय १७

केन्द्रीय बैंकिंग

(Central Banking)

भूमिका—

केन्द्रीय बैंक से हमारा अभिप्राय: देश की उस बैंक से होता है जो प्रधानतया देश में बैंकिंग तथा साख पर नियन्त्रण रखती है। ऐसी बैंक को हम केन्द्रीय बैंक इस कारण कहते हैं कि इसका देश की मुद्रा और साख व्यवस्था में केन्द्रीय स्थान होता है। इस बैंक को कुछ ऐसे विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं जो अन्य बैंकों को या तो प्राप्त ही नहीं होते या बहुत ही कम अंश तक उपलब्ध होते हैं। इन अधिकारों के कारण केन्द्रीय बैंक देश की मौद्रिक और साख नीति को अधिक अंश तक प्रभावित कर सकती है। *केन्द्रीय बैंक की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं :—"यह वह बैंक है जो देश की साख और मौद्रिक नीति का जन-साधारण के कल्याण के लिए प्रबन्ध करती है।"* केन्द्रीय बैंक की और भी परिभाषाएँ देखने में आती हैं। लगभग सभी परिभाषाओं में केन्द्रीय बैंक के कार्यों का उल्लेख करने का प्रयत्न किया गया है। प्रमुख परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं :—

प्रमुख परिभाषाएँ—

(१) "केन्द्रीय बैंक वह संस्था है जो देश में जन-साधारण के हितों को ध्यान में रखकर मुद्रा और साख के बीच सम्बन्ध स्थापित करती है, देश के हित में मुद्रा और साख पर नियन्त्रण रखती है और इस प्रकार देशी और विदेशी कीमतों में स्थिरता स्थापित करती है और बैंकिंग तथा बैंकिंग व्यवस्था का विकास तथा संगठन करती है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक वह संस्था है जो देश के भीतर आर्थिक स्थिरता (Economic Stability) स्थापित करती है।"

(२) "केन्द्रीय बैंक वह संस्था है जो अन्य बैंकों तथा साख संस्थाओं की मुद्रा और साख सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, बैंकों की बैंक होती है, सरकारी बैंक का कार्य करती है, राष्ट्र के आर्थिक हितों की रक्षा करती है और देश की मुद्रा और साख प्रणालियों का इस प्रकार नियन्त्रण रखती है कि देश के भीतर कीमत-स्तर और देश की मुद्रा की विदेशी विनिमय दरों में स्थिरता (Stability) बनी रह सके, देश में वृत्तिहीनता (Unemployment) दूर हो और देशवासियों के वास्तविक आय-स्तर की वृद्धि हो। इस प्रकार, केन्द्रीय बैंक वह संस्था है जो केन्द्रीय बैंक के कार्य करे।"

*(३) "केन्द्रीय बैंक वह बैंक है जो देश में चलन तथा साख-मुद्रा की त्रा का नियमन करे ।"**

वर्तमान युग में ऐसी बैंक का विधान, उसके कार्य और उसकी कार्य-विधि भी साधारण बैंकों से भिन्न होते हैं । ऐसी बैंक के अपने सिद्धान्त तथा व्यवहार भी लग होते हैं । केन्द्रीय बैंक को इस योग्य बनाने के लिए कि वह अपने कार्यों को मुचित रूप में पूरा कर सके, सरकार द्वारा कुछ विशेष अधिकार दिए जाते हैं, जैसे—त्र-मुद्रा निर्गम का एकाधिकार, सरकारी धन का संरक्षण, चलन निधि को रखना, न्य बैंकों की जमा को रखना और अन्य बैंकों को संकट काल में सहायता देना, त्यादि । इन विशेष अधिकारों के कारण केन्द्रीय बैंकिंग के सिद्धान्त एवं व्यवहार न्य बैंकों से अलग होते हैं और इसीलिए केन्द्रीय बैंकिंग का एक पृथक विषय के प में अध्ययन आवश्यक हो जाता है ।

केन्द्रीय बैंक की प्रकृति—

एक साधारण व्यापार बैंक के विरुद्ध केन्द्रीय बैंक का कार्य देश की बैंकिंग णाली पर इस प्रकार नियन्त्रण रखना होता है कि राज्य की सामान्य मौद्रिक नीति ो सफल बनाया जा सके । इसका अभिप्राय यह होता है कि :—(i) केन्द्रीय बैंक ा उद्देश्य व्यापार की भाँति अपने स्वामियों अथवा अंशधारियों के लिए अधिकतम् ाभ कमाना नहीं होता है । (ii) केन्द्रीय बैंक के पास व्यापार बैंकों पर नियन्त्रण खने के कुछ उपाय अथवा साधन होते हैं । (iii) केन्द्रीय बैंक सदा ही राज्य के प्रादेशानुसार कार्य करती है । कुछ ऐसी परम्परा बन गई है कि सभी देशों में, चाहे वहाँ की शासन प्रणाली का रूप कुछ भी क्यों न हो, सरकार कुछ इस प्रकार के नियम अवश्य बनाती है जिनके द्वारा केन्द्रीय बैंक पर नियन्त्रण रखा जा सके । अधिकाँश दशाओं में तो केन्द्रीय बैंक एक राष्ट्रीय संस्था के रूप में कार्य करती है, परन्तु जिन देशों में वह व्यक्तिगत अंशधारियों की बैंक होती है वहाँ भी सरकार इसके प्रबन्ध में भाग लेती है, इसकी नीति का निर्धारण करती है और इसके कार्यवाहन पर नियन्त्रण रखती है । (iv) केन्द्रीय बैंक का मुख्य कार्य मौद्रिक प्रणाली का संरक्षण करना होता है । इस उद्देश्य से ही उसे नोट निर्गम का एकाधिकार दिया जाता है और अन्य बैंकों पर इसका आधिपत्य स्थापित किया जाता है । (v) इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक सरकार तथा देश की अन्य बैंकों के बैंकर के रूप में भी कार्य करती है ।

केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता—

(१) साख के निर्माण पर नियन्त्रण—बैंकों का एक महत्त्वपूर्ण कार्य साख का निर्माण है और साख के इस निर्माण से समाज और राष्ट्र को काफी लाभ

होता है, परन्तु अपने लाभों को बढ़ाने के लिए बैंक साख के निर्माण को एक निश्चित सीमा से बाहर ले जा सकती है। ऐसी दशा में साख राष्ट्र की सेविका न रह कर उल्टा उसके लिए अभिशाप बन जाती है। इस कारण आवश्यकता इस बात की है कि देश के हितों को ध्यान में रखते हुए साख के निर्माण पर नियन्त्रण रखा जाय, जिससे उनकी निकासी एक सीमा के ही भीतर रहे, *परन्तु प्रश्न यह उठता है कि बैंकिंग पर इस प्रकार का नियन्त्रण कौन रखे?* प्रत्येक बैंक को भी अपनी सुरक्षा का ध्यान रखना पड़ता है, इसलिए वह स्वयं भी अपने कार्यवाहन को इस प्रकार नियन्त्रित करती है कि उसके पास नकद कोषों की कमी न होने पाये और संकट काल में सरलता से धन प्राप्त करके ग्राहकों की नकदी की माँग को पूरा करने में कठिनाई न हो। व्यवहार में लगभग सभी बैंक अपनी माँग देन (Demand Liabilities) का १५-२० प्रतिशत नकदी के रूप में रखती हैं। वास्तव में अपने अनुभव द्वारा बैंक यह जान लेती है कि उसे कितना नकद कोष रखना चाहिए, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता है कि नकद कोषों के रखने के सम्बन्ध में बैंक को पूरी-पूरी स्वतन्त्रता दे दी जाय। बात यह है कि अधिक लाभ कमाने के लिए बैंक अपनी सुरक्षा को खतरे में डाल सकती है। बैंक की ऐसी नीति से बैंक और उसके अंशधारियों को तो हानि होती है, परन्तु देश की सारी अर्थव्यवस्था पर भी उसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। *यही कारण है कि किसी बाहरी व्यक्ति अथवा संस्था द्वारा साख का नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है। यह संस्था कोई बैंक ही होनी चाहिए, क्योंकि उसी को जनता की साख सम्बन्धी आवश्यकता का ठीक-ठीक पता रहता है।* इसके अतिरिक्त साख के नियन्त्रण के लिए भारी योग्यता तथा तान्त्रिक क्षमता की आवश्यकता होती है, जो किसी एक व्यक्ति अथवा सरकारी अधिकारी को प्राप्त नहीं हो सकती है। इस कार्य के लिए देश की केन्द्रीय बैंक ही सबसे उपयुक्त संस्था हो सकती है।

(२) बैंकों की आर्थिक सहायता—यही नहीं, केन्द्रीय बैंक आवश्यकता पड़ने पर अन्य बैंकों को अपने पास से आर्थिक सहायता भी देती है, जिससे कि संकट के काल में उन्हें डूबने से बचाया जा सके।

(३) सरकार की मौद्रिक नीति को सफल बनाने में सहायता- एक केन्द्रीय बैंक देश की बैंकिंग संस्थाओं पर इस प्रकार नियन्त्रण रखता है कि जिससे राज्य को अपनी मुद्रा-नीति कार्यान्वित करने में सुविधा होती है। एक केन्द्रीय बैंक के कठोर नियन्त्रण के कारण ही उसे अपनी नीति में सफलता मिलती है।

केन्द्रीय बैंकिंग की आवश्यकता यथार्थ में उसके कार्यों से सिद्ध होती है। *सन् १९२० की ब्रुसेल्स की अन्तर्राष्ट्रीय वित्त परिषद ने कहा था—"जिन देशों में केन्द्रीय बैङ्क नहीं हैं वहाँ शीघ्र ही ऐसी बैंक स्थापित की जायें।"* ऐसा समझा गया था कि वित्तीय और मौद्रिक आधार को सुदृढ़ बनाने के लिए यही आवश्यक है। दूसरे महायुद्ध के पश्चात् संसार के सभी देशों में केन्द्रीय बैंकिंग के महत्त्व को समझा जाने लगा। सन् १९२६ में हिल्टन यङ्ग आयोग ने भारत में भी केन्द्रीय बैंक

की स्थापना का सुझाव दिया, यद्यपि ऐसी बैंक सन् १९३५ में ही स्थापित हो पाई थी। केन्द्रीय बैंक देश में पूँजी की गतिशीलता को भी बढ़ाती है।

केन्द्रीय बैंकिंग के सिद्धान्त (Central Banking Principles)—

केन्द्रीय बैङ्क तथा साधारण बैंकों की कार्य-पद्धति में बड़ा अन्तर होता है। वास्तव में केन्द्रीय बैंक एक अलग ही प्रकार की संस्था होती है, यद्यपि बहुत बार केन्द्रीय बैंक साधारण बैंकिंग सम्बन्धित कुछ प्रकार के कार्य को सम्पन्न कर सकती है। केन्द्रीय बैंकिंग के प्रमुख सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं :—

(१) राष्ट्रीय कल्याण की भावना—*एक साधारण बैंक मुख्यतया लाभ के लिए कार्य करती है, जबकि इसके विपरीत केन्द्रीय बैंक का प्रमुख उत्तर-दायित्व देश के आर्थिक और वित्तीय स्थायित्व की रक्षा करना होता है।* डी० कौक के अनुसार—"केन्द्रीय बैंक का निर्देशक सिद्धान्त यह है कि वह केवल लोक हित और समस्त देश के कल्याण के लिए ही कार्य करे और लाभ को अपना प्रारम्भिक उद्देश्य न समझे।"* इसका यह अर्थ तो नहीं है कि केन्द्रीय बैंक लाभ नहीं कमाती है, परन्तु लाभ कमाना केवल एक गौण उद्देश्य होता है और राज्य ऐसी बैंक को अत्यधिक जोखिम वाले उपक्रमों में भाग लेने से रोकता है। इसका परिणाम यह होता है कि केन्द्रीय बैंक अधिक समझदारी से कार्य करती है और अन्य बैंकों से प्रति-योगिता नहीं करने पाती है। इसका प्रमुख उद्देश्य देश की समस्त बैंकिंग प्रणाली की शोधनक्षमता बनाये रखना होता है। इसलिए अपने आदेयों को तरलतम् रूप में रखना इसके लिए अत्यन्त आवश्यक होता है।

(२) साख का भण्डार—*केन्द्रीय बैंक साख का भण्डार होती है। अन्य सभी बैंक तथा दूसरी वित्तीय संस्थाएँ इससे आवश्यकता के समय ऋण की आशायें रख सकती हैं,* यद्यपि केन्द्रीय बैंक भी ऋणों पर ब्याज लेती है, किन्तु स्वयं केन्द्रीय बैंक किसी से ऋण की आशा नहीं कर सकती है।

(३) मौद्रिक एवं वित्तीय स्थिरता—*केन्द्रीय बैंक को देश के मौद्रिक और वित्तीय जीवन में सक्रिय (Active) भाग लेना चाहिए।* जब भी देश की साख प्रणाली में कोई त्रुटि उत्पन्न होती है तो बैंक को उसे पूरा करने के लिए सक्रिय उपाय करने होते हैं। इसके लिए केन्द्रीय बैंक के शस्त्र-भण्डार में अनेक शस्त्र होते हैं, जिनका विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा।

(४) कार्य संचालन के लिए विशेष व्यवस्थायें—*अपने कार्यों को सफलतापूर्वक चलाने के लिए केन्द्रीय बैंक के लिए कुछ विशेष व्यवस्थाएँ की जाती हैं।* उदाहरणस्वरूप, इसे नोट निर्गम का एकाधिकार दिया जाता है, यह सरकारी बैंकों की बैंक होती है और बैंकों की बैंक के रूप में भी कार्य करती है।

---

* "The guiding principle of a Central Bank int hat it should act only in the public interest and for the welfare of the country as a whole and without regard to profit as a primary considera-tion."—De Kock—*Central Banking.*

(५) राजनैतिक प्रभाव का अभाव—*केन्द्रीय बैंक पर किसी भी राजनीतिक दल का आधिपत्य नहीं रहना चाहिये।* इस प्रकार किसी भी प्रकार का राजनीतिक दबाव अथवा प्रभाव नहीं रहना चाहिए, ताकि यह देश और समाज के हित में निःसंकोच तथा स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सके। किन्तु साथ ही केन्द्रीय बैंक और सरकार के बीच पूर्णतया सहयोग रहना चाहिए।

केन्द्रीय बैंक के स्वामित्व का प्रश्न (The Question of the Ownership of the Central Bank)—

बहुत बार ऐसा कहा जाता है कि केन्द्रीय बैंक 'स्वतन्त्र' होनी चाहिये, परन्तु 'स्वतन्त्र' शब्द के निश्चित अर्थ समझने में कठिनाई होती है। यदि स्वतन्त्र होने का अर्थ यह है कि केन्द्रीय बैंक पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं होना चाहिए तो यह अनुपयुक्त है, क्योंकि मौद्रिक इतिहास में ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता है। केन्द्रीय बैंक पर किसी न किसी प्रकार का नियन्त्रण अवश्य रहता है, यद्यपि अलग-अलग देशों में तथा अलग-अलग कालों में नियन्त्रण के अंश में अन्तर रहा है। कुछ दशाओं में तो सरकार केवल इतना कर देती है कि चलन की कीमत को स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा के बराबर घोषित कर देती है और मौद्रिक प्रणाली के प्रबन्ध का शेष कार्य बैंक पर छोड़ देती है, परन्तु कुछ दशाओं में सारा अधिकार सरकार के पास होता है और केन्द्रीय बैंक को सभी मामलों में सरकार की आज्ञा का पालन करना पड़ता है। दोनों ही प्रकार के सरकारी नियन्त्रण के उदाहरण संसार में मिलते हैं।

केन्द्रीय बैंक के स्वामित्व का प्रश्न भी सरकारी नियन्त्रण से ही सम्बन्धित है। सरकारी स्वामित्व भी एक प्रकार का सरकारी नियन्त्रण ही है। जिन देशों में केन्द्रीय बैंक की स्वतन्त्रता को महत्त्व दिया जाता है वहाँ उसको जन-साधारण अथवा व्यापार बैंकों के स्वामित्व में रखा जाता है। इसके विपरीत जिन देशों में सरकारी आधिपत्य को अधिक महत्त्व दिया जाता है वहाँ केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण को आवश्यक बताया जाता है। १६ वीं शताब्दी में जब सबसे पहले केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता अनुभव की गई तो इस बात पर जोर दिया गया था कि ऐसी बैंक की स्वतन्त्रता को बनाये रखना आवश्यक था। यह कहा गया था कि केन्द्रीय बैंक पर किसी भी प्रकार राज्य का नियन्त्रण नहीं होना चाहिए, अन्यथा उसका राजनीतिक शोषण होगा और वह सरकार की वित्त-सम्बन्धी मनमानी नीति का साधन बन जायगी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक को व्यक्तिगत अंशधारियों की बैंक बनाया जाता था, परन्तु स्मरण रहे कि लगभग कभी भी केन्द्रीय बैंक को अपने लाभों को इच्छानुसार बाँटने का अधिकार नहीं दिया जाता था। इन लाभों में राज्य का हिस्सा अवश्य रहता था। जो लोग केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण के समर्थक है उनका विचार है कि केन्द्रीय बैंक के संचालन के लिये राजकीय निर्देशन तथा नियन्त्रण आवश्यक होता है और इसके लिए केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण से अच्छा उपाय कोई भी नहीं है। *स्वामित्व के दृष्टिकोण से केन्द्रीय बैंक सात अलग-अलग प्रकार की हो सकती हैं :*—(i) उसकी कुल

पूँजी सरकारी हो सकती है, (ii) जन-साधारण अथवा साधारण व्यक्तिगत अंश-धारियों की हो सकती है, (iii) व्यापार बैंकों द्वारा प्रसादित की जा सकती है, (iv) जन-साधारण तथा सरकार द्वारा मिलकर दी जा सकती है, (v) सरकार तथा व्यापार बैंकों की मिली-जुली पूँजी हो सकती है, (vi) सरकार, जन-साधारण तथा व्यापार बैंक तीनों द्वारा मिलकर उपलब्ध की जा सकती है, अथवा (vii) जन साधारण तथा व्यापार बैंकों की सम्मिलित पूँजी हो सकती है। वर्तमान युग में बहुमत केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण के ही पक्ष में है। दूसरे महायुद्ध के पश्चात् बैंक ऑफ इङ्गलैण्ड, बैंक ऑफ फ्रांस तथा रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है। *वैसे तो अलग-अलग देशों में केन्द्रीय बैंक का रूप अलग-अलग होता है, परन्तु कुछ विशेषतायें ऐसी अवश्य हैं जो किसी न किसी अंश में लगभग सभी केन्द्रीय बैंकों में पाई जाती हैं।* (i) ऐसी संस्थायें साधारणतया लाभ कमाने के उद्देश्य से स्थापित नहीं की जाती हैं। उनका अधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य राष्ट्रीय हितों को उन्नत करना होता है। (ii) इन बैंकों पर सरकारी नियन्त्रण तथा निरीक्षण काफी रहता है। (iii) ऐसी संस्थायें साधारणतया जनता के साथ प्रत्यक्ष व्यवसाय नहीं करती हैं। (iv) इन संस्थाओं को कुछ ऐसे अधिकार प्राप्त होते हैं जो अन्य किसी भी बैंक को प्राप्त नहीं होते हैं। वैसे भी ये शक्तिशाली संस्थायें होती हैं।

केन्द्रीय बैंक के कार्य (The Functions of the Central Bank)-

केन्द्रीय बैंक के कार्यों को हम निम्न भागों में बांट सकते हैं :—

(१) नोट निर्गम का एकाधिकार—आरम्भ में नोटों की निकासी का अधिकार राज्य का ही एक विशेष अधिकार समझा जाता था, परन्तु व्यापार बैंकों के विकास के पश्चात् यह अधिकार उन्हें सौंप दिया गया था। यह व्यवस्था भी बहुत सफल न रह सकी और ऐसा अनुभव किया गया कि राज्य तथा व्यापार बैंक दोनों ही इस कार्य के लिए अनुपयुक्त थे। धीरे-धीरे यह अधिकार केन्द्रीय बैंक को सौंप दिया गया, क्योंकि ऐसी आशा की गई थी कि यह बैंक इस कार्य को राष्ट्रीय हित के दृष्टिकोण से अधिक सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकेगी। लगभग सभी देशों में नोट निर्गम का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक के पास है। इसके मुख्य कारण निम्न प्रकार हैं :—

(i) नोट निर्गमन में अनुरूपता—प्रत्येक देश ने ऐसा अनुभव किया है कि नोट निर्गम में अनुरूपता लाने तथा उस पर सरकारी नियन्त्रण तथा निरीक्षण को दृढ़ता के साथ बनाये रखने के लिए उसका एकाधिकार केन्द्रीय बैंक को ही देना ठीक था।

(ii) साख निर्माण पर नियन्त्रण—वर्तमान युग में व्यापर बैंकों द्वारा निकाली हुई साख-मुद्रा के प्रचलन के बढ़ जाने के कारण इस साख पर समुचित नियन्त्रण रखने की समस्या काफी महत्त्वपूर्ण हो गई है। इस सम्बन्ध में ऐसा अनुभव किया जाता है कि केन्द्रीय बैंक को नोट निर्गम का एकाधिकार देने से एक अंश तक नियन्त्रण की समस्या

सुलभ जाती है, क्योंकि साख-मुद्रा की प्रत्येक वृद्धि के लिए चलन की वृद्धि की आवश्यकता पड़ती है। केन्द्रीय बैंक चलन की मात्रा नियन्त्रित करके साख-मुद्रा के विस्तार को सीमित कर सकती है। अतः साख-मुद्रा पर नियन्त्रण रखने के लिए भी केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता पड़ती है।

(iii) जनता का विश्वास—ऐसा भी अनुभव किया गया है कि किसी ऐसी बैंक को नोट निर्गम का अधिकार देने से जिसे सरकारी संरक्षण प्राप्त है, नोटों के प्रति जनता के विश्वास को काफी ऊँचा रखा जा सकता है।

(iv) राज्य को लाभ की प्राप्ति—नोट निर्गम एक लाभदायक व्यवसाय है। एक ही बैंक के पास नोट निर्गम का एकाधिकार रहने की दशा में राज्य को निर्गम लाभों को प्राप्त करने में भारी सुविधा रहती है, क्योंकि केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण अथवा उनके लाभों पर कर लगाकर सरकार के लिए इन लाभों को प्राप्त कर लेना सरल होता है।

(v) आन्तरिक और बाह्य मूल्य में स्थिरता—नोट निर्गम के एकाधिकार द्वारा केन्द्रीय बैंक को मुद्रा की आन्तरिक तथा बाह्य कीमत का स्थायित्व बनाये रखने में काफी सफलता मिलती है। इसका परिणाम यह होता है कि विदेशी विनिमय दर में उच्चावचन कम होते हैं और देश के भीतर भी कीमतों में परिवर्तन कम ही हो पाते हैं।

(vi) मुद्रा-प्रणाली में लोच—जब व्यापारिक बैंकों द्वारा नोटों का निर्गम किया जाता है, तो वे नोटों का निर्गम व्यापारिक आवश्यकता के अनुसार नहीं कर पाते, लेकिन केन्द्रीय बैंक ऐसा कर सकता है, क्योंकि उसकी देश की व्यापारिक आवश्यकताओं से निकट जानकारी होती है। इससे मुद्रा प्रणाली में लोच आ जाती है।

(२) सरकारी बैंकर—यह केन्द्रीय बैंक का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है।

(i) केन्द्रीय बैंक सरकार का एजेन्ट तथा बैंकर के रूप में कार्य करता है—इस रूप में केन्द्रीय बैंक सरकारी कोषों का संरक्षण करती है और विभिन्न सरकारी विभागों के खातों तथा हिसाबों को रखती है। सरकारी करों की राशि केन्द्रीय बैंक में ही जमा होती है और आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय बैंक सरकार को अल्पकालीन ऋण भी देती है। इसके अतिरिक्त यह सरकार की ओर से विदेशी मुद्राओं तथा प्रतिभूतियों को खरीदती और बेचती भी है, सरकारी ऋणों का प्रबन्ध करती है और लगभग सभी आर्थिक मामलों में सरकारी अभिकर्त्ता के रूप में कार्य करती है।

(ii) केन्द्रीय बैंक सरकार का आर्थिक सलाहकार होता है—मौद्रिक

तथा बैंकिंग मामलों में सरकार केन्द्रीय बैंक से सलाह भी लेती है। सरकारी धन केन्द्रीय बैंक में ही जमा किया जाता है और सरकारी देनों का भुगतान भी वही करती है।

(३) बैंकों की बैंक—केन्द्रीय बैंक का देश की अन्य बैंकों से लगभग उसी प्रकार का सम्बन्ध होता है जैसा कि एक साधारण बैंक का अपने ग्राहकों से होता है। विधान अथवा परम्परा के अनुसार सभी बैंकों को अपनी रोक निधि (Cash Reserves) का एक भाग केन्द्रीय बैंक में जमा करना पड़ता है। इससे कई महत्त्वपूर्ण लाभ होते हैं :—(i) साख प्रणाली में लोच उत्पन्न हो जाती है और (ii) साख-मुद्रा के नियन्त्रण की समस्या सरल हो जाती है। (iii) इसके अतिरिक्त बैंकों की बैंक के रूप में केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों को ऋण देती है। (iv) उन्हें आवश्यक व्यवसायिक सलाह देती है तथा उनकी पारस्परिक लेन-देन का समायोजन भी करती है। (v) केन्द्रीय बैंक ही साधारणतया देश में निकासी गृह (Clearing House) खोलने का कार्य करती है।

बैंकों की बैंक के रूप के केन्द्रीय बैंक का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य बैंकों को ऋण तथा अग्रिम प्रदान करना होता है। *केन्द्रीय बैंक को अन्तिम ऋणदाता (Lender of last resort) कहा जाता है।* जब किसी बैंक को अन्य किसी भी सूत्र से ऋण प्राप्त नहीं होता है तो वह केन्द्रीय बैंक से सहायता ले सकती है। व्यापार बैंकों द्वारा भुनाये हुये बिलों को दुबारा भुनाकर अथवा उपयुक्त स्वीकृत प्रतिभूतियों पर ऋण देकर केन्द्रीय बैंक संकट अथवा आवश्यकता के काल में बैंकों की बहुत सहायता कर सकती है। संकट के काल में तो बैंकिंग प्रणाली का जीवन ही केन्द्रीय बैंक पर निर्भर होता है। एक दूसरे दृष्टिकोण से भी केन्द्रीय बैंक अन्तिम ऋणदाता कही जा सकती है। आर्थिक कठिनाई के काल में केन्द्रीय बैंक सरकार अथवा जन-साधारण को भी ऋण दे सकती है। खुले बाजार प्रतिभूतियां खरीद कर केन्द्रीय बैंक साख का विस्तार करती है और आर्थिक कठिनाई को बड़े अंश तक दूर कर देती है।

(४) राष्ट्र के अन्तर्राष्ट्रीय चलन संचय की संरक्षक—स्वर्ण तथा सभी प्रकार के विदेशी विनिमय संचयों का संरक्षण केन्द्रीय बैंक ही करती है। यह केन्द्रीय बैंक का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, क्योंकि देशी चलन की बाह्य कीमत को बनाये रखना केन्द्रीय बैंक का ही कर्त्तव्य होता है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए केन्द्रीय बैंक विदेशी मुद्राओं का संचय रखती है।

(५) साख-मुद्रा का नियन्त्रण—अधिकांश अर्थशास्त्री और बैंकर साख-मुद्रा के नियन्त्रण को ही केन्द्रीय बैंक का प्रधान कार्य मानते हैं। इस कार्य में केन्द्रीय बैंकिंग नीति सम्बन्धी लगभग सभी विषय सम्मिलित होते हैं। केन्द्रीय बैंक के लगभग सभी कार्यों का अन्तिम उद्देश्य मुद्रा की मात्रा पर समुचित नियन्त्रण रखना होता है और इसके लिए साख नियन्त्रण एक प्रारम्भिक आवश्यकता है। वर्तमान आर्थिक व्यव-

स्थाओं में साख मुद्रा महत्त्वपूर्ण सेवाएं कर सकती है। ये सेवाएं अच्छी और बुरी दोनों ही प्रकार की हो सकती हैं। यही कारण है कि आधुनिक युग में साख नियन्त्रण की आवश्यकता को सभी स्वीकार करते हैं। यद्यपि यह विषय विवाद-ग्रस्त है कि साख नियन्त्रण का सही उद्देश्य क्या होना चाहिए—इसके द्वारा देश में आन्तरिक कीमतों की स्थिरता स्थापित की जाय अथवा विनिमय दरों की स्थिरता—परन्तु साख नियन्त्रण के महत्त्व से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता है। साख नियन्त्रण के कई उपाय होते हैं, जैसे—बैंक दर अर्थात् केन्द्रीय बैंक की ब्याज की दर में परिवर्तन करना, केन्द्रीय बैंक द्वारा खुले बाजार व्यवसाय करना, बैंकों पर वैधानिक प्रतिबन्ध लगाना इत्यादि। केन्द्रीय बैंक इनमें से पहले दो उपाय ही कर सकती है। इन उपायों का विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा।

(६) सलाहकारी कार्य—केन्द्रीय बैंक राज्य के आर्थिक और वित्तीय सलाहकार का भी कार्य करती है। वह सरकार को आर्थिक तथा वित्तीय मामलों में आवश्यक सलाह देती है और सरकार किसी भी उलझी हुई समस्या के सम्बन्ध में इससे विचार-परामर्श कर सकती है। इसके अतिरिक्त मुद्रा, साख, विदेशी विनिमय तथा लोक ऋण सम्बन्धी नियम साधारणतया केन्द्रीय बैंक की ही सिफारिश के अनुसार बनाये जाते हैं। भारत में बैंकिंग विधान सम्बन्धी सलाह सदा ही रिजर्व बैंक द्वारा प्रस्तुत की जाती है। राजकीय अर्थप्रबन्ध में भी इसकी सलाह उपयोगी होती है।

(७) सूचनाओं और आँकड़ों का एकत्रित करना—यह भी केन्द्रीय बैंक का एक लगभग आवश्यक कार्य ही बन गया है। मुद्रा, अधिकोषण तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यक आँकड़े केन्द्रीय बैंक ही एकत्रित करती है। इन आँकड़ों की सहायता से देश की आर्थिक प्रगति का वेग जाना जा सकता है। विधान की आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है और आर्थिक नियोजन के आधार को दृढ़ किया जा सकता है। इन आँकड़ों की सहायता से विभिन्न देशों की स्थिति का भी तुलनात्मक अनुमान लगाया जा सकता है।

निष्कर्ष—

उपरोक्त सभी कार्य लगभग सभी केन्द्रीय बैंकों द्वारा किये जाते हैं, परन्तु इन कार्यों की गणना कर देने से यह सिद्ध नहीं हो जाता है कि इससे केन्द्रीय बैंक के सभी कार्य समाप्त हो जाते हैं। केन्द्रीय बैंक के कार्यों का निरन्तर विस्तार हो रहा है और विभिन्न अर्थशास्त्री इस सम्बन्ध में सहमत नहीं हैं कि केन्द्रीय बैंक के कार्यों की सीमा किस स्थान पर निर्धारित कर दी जाय। प्रो० स्प्रेग (Sprague) का मत है कि—"केन्द्रीय बैंकों के विशेष कार्यों का उल्लेख तीन भागों में किया जा सकता है। वे सरकार के आर्थिक अभिकर्त्ता का कार्य करती हैं, नोट निर्गम के एकाधिकार के कारण उनका चलन पर विस्तृत नियन्त्रण रहता है और अन्त में, क्योंकि इनके पास

अन्य बैंकों की निधि का काफी बड़ा भाग रहता है, वे समस्त साख-कलेवर के आधार के लिए प्रत्यक्ष रूप में उत्तरदायी होती हैं। अन्तिम कार्य केन्द्रीय बैंक का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य होता है।"[१]

यह विषय विवाद-ग्रस्त है कि केन्द्रीय बैंक का सबसे आवश्यक कार्य क्या है। हाटरे (Hawtrey) का विचार है। कि केन्द्रीय बैंक मुख्यतया अन्तिम ऋण-दाता होती है। *बेरा स्मिथ (Vera Smith)* ने नोट निर्गमन के एकाधिकार को अधिक महत्त्व दिया है, *शॉ (Shaw)* का विचार है कि साख नियन्त्रण ही केन्द्रीय बैंक का एक मात्र वास्तविक, किन्तु पर्याप्त कार्य है।[२] *किश और एलकिनस्* ने मौद्रिक मान के स्थायित्त्व को बनाये रखना ही केन्द्रीय बैंक का आवश्यक कार्य बताया है।[३] किन्तु किसी एक कार्य को केन्द्रीय बैंक का आवश्यक कार्य कहना शायद उपयुक्त नहीं है। *डी कौक (De Kock) ने निम्न आठ कार्यों को केन्द्रीय बैंकिंग कार्य बताया है*–[४]

(१) पत्र-मुद्रा का निर्गम, जिसका इसे पूर्ण अथवा आंशिक एकाधिकार प्राप्त होता है।

(२) राज्य के बैंकिंग तथा अभिकर्त्ता सेवाएँ सम्पन्न करना,

(३) व्यापार बैंकों के नकद कोषों का संरक्षण,

(४) राष्ट्र की धातु-निधि का संरक्षण,

(५) विनिमय बिलों, कोषागार विपत्रों तथा अन्य उपयुक्त विपत्रों का फिर से भुनाना,

अन्तिम ऋणदाता का उत्तरदायित्त्व स्वीकार करना,

विभिन्न बैंकों की पारस्परिक लेन-देन का निबटाना, और

व्यवसायिक आवश्यकताओं तथा राज्य द्वारा घोषित मौद्रिक मान की स्थिरता को ध्यान में रख कर साख-मुद्रा पर नियन्त्रण रखना।

सन् १६२६ के भारतीय चलन- और वित्त आयोग के सम्मुख बैंक ऑफ इङ्गलैंड के गवर्नर ने केन्द्रीय बैंक के निम्न कार्यों का वर्णन किया था :—"इसे

---

1. "The special functions of the Central Banks may be grouped under three heads: They serve as fiscal agents of Governments; they have large powers of control over currency through the more or less complete monopoly of note issue; and finally, since they hold a large part of the reserves of other banks, they are directly. responsible for the foundation of the entire structure of credit. This last is by far the most important function of the Central Bank."—Sprague.

2, "........the one true, but at the same time all—sufficing function of a central bank."—Shaw.

3. Kisch and Elkins : *Central Banks*, p. 74.

4. De Kock : *Central Banking*, p. 15.

नोट निर्गम का एकाधिकार होना चाहिए, विधि-ग्राह्य मुद्रा की निर्गम तथा उसके प्रचलन से हटाने का एकमात्र सूत्र यही होना चाहिए। सरकार की सभी शेषें (Balances) तथा देश की अन्य बैंकों और उनकी शाखाओं की सभी शेषें इसी के पास रहनी चाहिए। यह एक ऐसी अभिकर्त्ता का कार्य करे जिसके द्वारा देश के आन्तरिक और विदेशी आर्थिक कार्य सम्पन्न किए जायँ। केन्द्रीय बैंक का यह भी कर्त्तव्य होना चाहिये कि देश के चलन की आन्तरिक और बाह्य कीमत की स्थिरता को यथा-सम्भव बनाये रखते हुये चलन प्रणाली में उपयुक्त विस्तार तथा संकुचन करे। आवश्यकता के समय अथवा संकट के काल में यह ऋण का अन्तिम साधन होनी चाहिये, जो कि स्वीकृत बिलों को दुबारा भुनवाकर अग्रिम के रूप में अथवा सरकारी हुण्डियों की जमानत पर मिल सके

केन्द्रीय बैंक और मौद्रिक नीति
(साख-नियन्त्रण)
(Central Bank and the Monetary Policy)

मौद्रिक नीति का अर्थ एक पिछले अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है। कुछ निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यह बहुधा आवश्यक समझा जाता है कि देश में चलन और साख-मुद्रा की कुल मात्रा का आवश्यकतानुसार विस्तार और संकुचन किया जाय। वर्तमान युग में तो इस बात का महत्त्व बहुत बढ़ गया है, क्योंकि आधुनिक सरकारें वित्तीय और मौद्रिक विषयों के नियन्त्रण द्वारा ही आर्थिक और वाणिज्यिक नीतियों को फलीभूत करने का प्रयत्न करती हैं। इस सम्बन्ध में चलन की मात्रा पर नियन्त्रण रखना अपेक्षतन सरल होता है, क्योंकि अधिकाँश चलन पत्र-मुद्रा के रूप में होता है, जिसके निर्गमन का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक के पास रहता है। प्रमुख समस्या साख के नियन्त्रण की होती है, क्योंकि साख का निर्माण अनेक बैंकों

* "It should have the sole right of note-issue, it should be the channel, and the only channel, for the output and intake of legal-tender currency. It should be the holder of all the Government balances, the holder of all the reserves of other banks and the branches of banks in the country. It should be the agent, so to speak, through which the financial operations at home and abroad of the Government would be performed. It would further be the duty of the Central Bank to effect, as far as it could, suitable contraction and suitable expansion, in addition to aiming at general stability, and to maintain that stability within as well as without. When necessary it would be the ultimate source from which necessary credit might be obtained in the form of rediscounting of approved bills or advances on approved short securities or Government paper."—Governor, Bank of England—*Vide* Report of the Royal Commission on Indian Currency and Finance, 1926.

द्वारा किया जाता है। मौद्रिक नीति के सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य साख के विस्तार और संकुचन को नियन्त्रित करने से ही सम्बन्धित होता है। धीरे-धीरे इस दिशा में केन्द्रीय बैंक के कार्य का काफी विकास हुआ है। यहाँ तक कि वर्तमान केन्द्रीय बैंक सारे मुद्रा-बाजार के संगठन, विकास और नियन्त्रण का भार अपने ऊपर ले लेती है।

साख नियन्त्रण के उद्देश्य (Objects of Credit Control)—

यहाँ पर इस प्रश्न का उठना भी स्वभाविक ही है कि साख नियन्त्रण क्यों किया जाय। निश्चय है कि साख नियन्त्रण का अभिप्राय देश की व्यापार, वाणिज्य तथा जन-साधारण सम्बन्धी आवश्यकताओं के अनुसार साख की मात्रा को घटाने-बढ़ाने से होता है। कारण यह है कि यदि मुद्रा की मात्रा का उसकी आवश्यकता के साथ समायोजन नहीं किया जाता है तो समाज को मुद्रा-प्रसार अथवा मुद्रा-संकुचन के कष्टों को भोगना पड़ता है। साख नियन्त्रण के उद्देश्यों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं, अर्थात् ऋणात्मक उद्देश्य तथा धनात्मक उद्देश्य (Negative and Positive Objects)। प्रथम प्रकार के उद्देश्यों में आर्थिक जीवन की अस्थिरता को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है, जबकि दूसरी प्रकार के उद्देश्यों में किसी निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति का प्रयत्न किया जाता है। ऋणात्मक उद्देश्यों में से अधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) मुद्रा-प्रसार अथवा मुद्रा-संकुचन की स्थिति को सुधारना—यदि किसी कारण से देश में मुद्रा-प्रसार अथवा मुद्रा-संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो गई है तो साख की मात्रा का संकुचन अथवा विस्तार करके सामान्यता स्थापित की जा सकती है। साख की मात्रा घटाने से कीमतें गिरती हैं और उत्पादन की वृद्धि का क्रम रुक जाता है। इसके विपरीत साख की मात्रा के बढ़ने से मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है, जिससे कीमतें ऊपर उठती हैं और उत्पादन तथा रोजगार का विकास होता है।

(२) विदेशी विनिमय दरों के पतन अथवा उठान को रोकना—व्यापाराशेष के परिवर्तनों, सट्टे बाजार की कार्यवाहियों अथवा अन्य कारणों से विदेशी विनिमय दरों में अधिक उतार-चढ़ाव हो सकते हैं। विनिमय दर के इन परिवर्तनों का देश की आन्तरिक अर्थव्यवस्था और देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इन परिवर्तनों से देश की अर्थव्यवस्था की रक्षा के लिए साख के विस्तार पर नियन्त्रण रखना आवश्यक हो सकता है। विदेशी विनिमय की पूर्ति का उसकी मांग से समायोजन करने के लिए उसकी मात्रा का नियमन किया जाता है।

(३) बेरोजगारी की वृद्धि और उत्पादन के पतन को रोकना—अवसाद के कारण अथवा अन्य कारणों से देश में उत्पादन घट सकता है। उत्पादन के घटने के साथ-साथ रोजगार सम्बन्धी स्थिति बिगड़ जाती है। उद्योग और व्यवसायों के बन्द हो जाने के कारण श्रमिक अधिक संख्या में बेकार होने लगते हैं। ऐसे काल में

साख का विस्तार कीमतों और उत्पादन के पतन को रोक कर बेरोजगारी को बढ़ने से रोक सकता है ।

धनात्मक उद्देश्य—

इस प्रकार के उद्देश्यों में निम्न विशेषतया महत्त्वपूर्ण हैं:—

(१) देश में कीमत-स्तर में स्थायित्त्व स्थापित करना (Stability of the Internal Price-level)—कीमत-स्तर के अत्यधिक परिवर्तन बहुधा आन्तरिक अर्थव्यवस्था के समुचित विकास में बाधक होते हैं। वे आर्थिक जीवन में अनिश्चितता उत्पन्न कर देते हैं। लगभग प्रत्येक आधुनिक सरकार इस बात का प्रयत्न करती है कि कीमतों में यथासम्भव कम से कम परिवर्तन हों। अनुभव बताता है कि एक उपयुक्त साख नीति द्वारा ऐसे परिवर्तनों को न्यूनतम किया जा सकता है और इस प्रकार देश के आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त दशाएँ उत्पन्न की जा सकती हैं।

(२) विदेशी विनिमय दरों में स्थायित्त्व लाना (Stability of Exchange Rates)—साख नियन्त्रण का दूसरा उद्देश्य विनिमय दरों में स्थिरता लाना हो सकता है। विदेशी विनिमय दरों के परिवर्तन भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अनिश्चितता उत्पन्न करके उसके विकास को रोक देते हैं। साख की मात्रा के नियमन द्वारा विनिमय दरों की स्थिरता स्थापित करने का अच्छा अवसर मिलता है। यह विषय विवादग्रस्त है कि देश की सरकार को विनिमय दरों की स्थिरता स्थापित करने पर अधिक ध्यान देना चाहिए अथवा आन्तरिक कीमत-स्तर के स्थायित्त्व पर। इस प्रश्न का उत्तर कठिन है। आज के संसार में अधिकांश देश आन्तरिक कीमतों की स्थिरता को अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं, यद्यपि उन देशों के लिए जिनकी अर्थव्यवस्था मुख्यतया विदेशी व्यापार पर निर्भर होती है, विनिमय दरों की स्थिरता अधिक महत्त्वपूर्ण होती है।

(३) रोजगार और उत्पादन में स्थायित्त्व लाना (Stability of Production and Employment)—देश में उत्पादन की मात्रा और रोजगार के अंश के परिवर्तन भी साधारणतया अच्छे नहीं समझे जाते हैं। मन्दी और तेजी के निरन्तर आते रहने से समाज को अत्यधिक कष्ट होता है। साख के विस्तार और संकुचन द्वारा रोजगार और उत्पादन के उच्चावचनों को रोका जा सकता है।

(४) आर्थिक नियोजन की सफलता (Success of Economic Planning)—देश में आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए भी उपयुक्त साख नीति आवश्यक होती है। बहुधा नियोजन की सफलता के लिए मुद्रा की मात्रा का विस्तार तथा हीनार्थ-प्रबन्धन (Deficit financing) आवश्यक होते हैं। वैसे भी एक निरन्तर किन्तु धीरे-धीरे ऊपर उठता हुआ कीमत-स्तर उत्पादन और रोजगार के विकास में, जो आर्थिक नियोजन के प्रमुख उद्देश्य होते हैं, सहायक होता है।

(५) युद्ध की तैयारी तथा देश की रक्षा (Preparation for War and the Defence of the Country)—साख नियन्त्रण का उद्देश्य मुद्रा की मात्रा की वृद्धि द्वारा देश को युद्ध के लिए तैयार करना अथवा शत्रुओं से देश की रक्षा करना हो सकता है। आधुनिक युद्ध इतने मँहगे होते हैं कि बिना साख और मुद्रा के विकास के कोई भी देश उनका अर्थ प्रबन्ध नहीं कर सकता है। दूसरे महायुद्ध के काल में संसार के सभी देशों ने साख के विस्तार को युद्ध की तैयारी का एक महत्त्वपूर्ण साधन बनाया था।

साख नियन्त्रण की रीतियाँ
(Methods of Credit Control)

केन्द्रीय बैंक का एक महत्त्वपूर्ण कार्य देश में मुद्रा और साख के विस्तार पर नियन्त्रण रखना होता है, जिससे कि सरकार की मौद्रिक नीति को सफल बनाया जा सके। इसके लिए कई प्रकार के उपाय किये जाते हैं। कुछ उपाय तो सीधे सरकार द्वारा किये जाते हैं और कुछ केन्द्रीय बैंक द्वारा, परन्तु सभी प्रकार के उपायों को केन्द्रीय बैंक द्वारा ही कार्य-रूप दिया जाता है। प्रमुख उपाय बैंक दर और खुले बाजार व्यवसाय हैं, यद्यपि इनके अतिरिक्त और भी बहुत सी रीतियों से इस कार्य को सम्पन्न किया जाता है। इस प्रकार के अलग-अलग उपायों से निश्चित तथा सप्रभाविक परिणाम प्राप्त करने के लिए बहुधा उनका सामूहिक रूप में भी उपयोग किया जाता है। विशेषतया आधुनिक सरकारें तो किसी एक उपाय पर कभी भी निर्भर रहने का प्रयत्न नहीं करती हैं। अब हम इन सब उपायों की सविस्तार जाँच करेंगे :—

(अ) बैङ्क दर नीति
(Bank Rate Policy)

बैङ्कर की नीति का अर्थ व इसका प्रभाव—

बैङ्क दर से हमारा अभिप्राय ब्याज की उस न्यूनतम दर से होता है जिस पर देश की केन्द्रीय बैंक अच्छी श्रेणी के बिलों को फिर से भुनाने (Rediscounting) अथवा स्वीकृत प्रतिभूतियों पर ऋण या अग्रिम देने को तैयार रहती है। दूसरे शब्दों में, यह केन्द्रीय बैंक द्वारा निश्चित ब्याज की दर होती है। इङ्गलैंड में बैङ्क दर का आशय सरकार द्वारा प्रकाशित उस दर से होता है जिस पर बैङ्क ऑफ इङ्गलैंड एक विशेष प्रकार के तीन-मासीय बिलों को भुनाने को तैयार रहती है। इस सम्बन्ध में बैङ्क दर तथा 'बाजार दर' (Market Rate) के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। बाजार दर से हमारा आशय बाजार में प्रचलित ब्याज की दर अर्थात् ब्याज की उस दर से होता है जिस पर सम्मिलित पूँजी बैंक, डिस्काउन्ट गृह आदि स्वीकृत विनिमय बिलों को भुनाते हैं। परन्तु बैंक दर तो केन्द्रीय बैंक की डिस्काउन्ट दर होती है। इसका अर्थ यह नहीं हैं कि बैंक दर तथा बाजार दर में

कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता है। यह अवश्य सही है कि केन्द्रीय बैंक साधारणतया बिलों को भुनाने का कार्य नहीं करती है और बैंक दर ब्याज की बाजार दर से साधारणतया ऊँची रहती है। केन्द्रीय बैंक से ऋण लेने का प्रश्न तभी उठता है जबकि ऋण प्राप्ति के अन्य साधन समाप्त हो चुकते हैं। एक प्रकार बैंक दर एक दण्ड के रूप में होती है। यदि कोई बैंक अपनी साख का अत्यधिक विस्तार कर देती है तो उसे ऊँचे ब्याज पर केन्द्रीय बैंक से ऋण लेने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि बाजार दर भी ऊपर उठकर बैंक दर के बराबर हो जाती है, परन्तु सब कुछ होते हुए भी बैंक दर ब्याज की बाजार दर से सम्बन्धित होती है। जिन देशों में केन्द्रीय बैंक की ब्याज की दर महत्त्वपूर्ण होती है वहाँ ब्याज की बाजारी दर भी बैंक दर के ही अनुसार बदलती रहती है।

बैंक दर नीति का संक्षिप्त इतिहास—

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हम यह कह सकते हैं कि सन् १९१४ से पूर्व स्वर्णमान प्रणाली के अन्तर्गत बैंक दर केन्द्रीय बैंक के साख नियन्त्रण का सबसे महत्त्वपूर्ण अस्त्र होती थी। अन्य जो भी उपाय किए जाते थे वे बैंक दर नीति के सहायक अथवा गौण के रूप में ही काम में लाये जाते थे। प्रथम महायुद्ध के काल में सरकार ने बैंक दर नीति का उपयोग वित्तीय आवश्यकताओं के अनुसार मुद्रा तथा साख-विस्तार को सम्पन्न करने के उद्देश्य से किया और युद्ध के पश्चात् भी यही प्रवृत्ति बनी रही। सन् १९२५ में स्वर्णमान की पुनर्स्थापना के पश्चात् बैंक दर को साख नियन्त्रण के साधन के रूप में उपयोग करने का क्रम फिर आरम्भ हुआ, परन्तु इस काल में साख नियन्त्रण की अन्य रीतियों की तुलना में इसका महत्त्व घट गया था। दूसरे महायुद्ध के पश्चात् इस नीति का महत्त्व फिर बढ़ता हुआ दृष्टिगोचर होता है, यद्यपि वर्तमान युग में इसको साख नियन्त्रण की केवल एक सहायक अथवा गौण रीति के रूप में ही अपनाया जाता है। सन् १९५० से संसार के अधिकांश देशों में बैंक दर की वृद्धि का मुद्रा-प्रसार विरोधी नीति के रूप में विस्तृत उपयोग हुआ है। सर्वप्रथम २५ अगस्त सन् १९५० को संयुक्त राज्य अमरीका ने अपनी बैंक दर को १·५०% से बढ़ाकर १·७५% किया था। तत्पश्चात् फरबरी सन् १९५१ में तुर्की ने उसमें १% की वृद्धि की। अप्रैल सन् १९५१ में हालैण्ड ने भी बैंक दर को १% बढ़ाया। इसी वर्ष जुलाई में बेल्जियम ने ०·२५%, अक्टूबर में जापान ने ०·७३%, फ्रान्स ने ०·५०%, नवम्बर में ब्रिटेन ने ०·५०%, फ्रांस ने १·००% तथा भारत ने ०·५०% और दिसम्बर में आस्ट्रेलिया ने १·५०% तथा फिनलैण्ड ने ०·२५% से अपनी बैंक दरों को बढ़ाया। बैंक दरों की वृद्धि का यह क्रम सन् १९५२ में भी चालू रहा। २२ जनवरी सन् १९५२ को हॉलैंड ने अपनी बैंक दर में ०·५०% कमी कर दी, परन्तु १२ मार्च सन् १९५२ को इङ्गलेंड ने अपनी बैंक दर में १·५% की फिर वृद्धि की, यद्यपि मार्च सन् १९५८ में इसमें फिर १% की कमी कर दी गई थी। अभी हाल में संयुक्त राज्य अमरीका ने २८ मई सन् १९५९ को बैंक दर को ३% से बढ़ाकर ३½% कर दिया है।

बैंक दर नीति का सिद्धान्त (The Theory of Bank Rate Policy)-

बैंक दर नीति का सिद्धान्त इस आधार पर स्थित है कि बैंक दर के परिवर्तनों के फलस्वरूप सभी प्रकार की मौद्रिक दरों में परिवर्तन होते हैं। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि यदि बैंक दर ऊँची कर दी जाती है तो सभी प्रकार की ब्याज की दरें ऊपर उठती हैं, ऋणों का लेना कम लाभदायक हो जाता है और इस प्रकार साख का संकुचन होता है। इसके विपरीत यदि बैंक दर घटाई जाती है तो ब्याज की दरों के घटने के कारण ऋणों को प्रोत्साहन मिलता है और साख का विस्तार होता है।

कीन्ज के अनुसार बैंक दर नीति के परम्परागत सिद्धान्त के सम्बन्ध में तीन प्रकार की विचारधाराएँ हैं।* इनमें से प्रथम विचारधारा के अनुसार बैंक दर केवल बैंक मुद्रा को नियन्त्रित करने का ही एक साधन है। इस दृष्टिकोण मे प्रचलित मुद्रा की मात्रा का संकुचन करने के लिए बैंक दर की वृद्धि आवश्यक होती है, परन्तु इस सिद्धान्त का दोष यह है कि बैंक दर तथा बैंक मुद्रा की पूर्ति में कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं है। यदि बैंक दर अपना प्रभाव डालने में सफल भी होती है तो अभिवृद्धि (Boom) के काल में यह आवश्यक नहीं है कि बैंक दर की वृद्धि का साख के विस्तार पर कोई प्रभाव पड़े ही। इसी प्रकार मन्दी अथवा अवसाद के काल में बैंक दर के घटाने पर भी बहुधा साख का विस्तार सम्पन्न नहीं हो पाता है।

दूसरी विचारधारा के अनुसार बैंक दर का कार्य विदेशी ऋणों के ब्याज की दर को नियन्त्रित करके देश के स्वर्ण-कोषों की रक्षा करना होता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के अन्तर्गत यदि एक स्वर्णमान देश अपनी बैंक दर में वृद्धि करता है तो इससे केवल स्वर्ण का देश से बाहर जाना ही नहीं रुक जाता है, अपितु ऊँचे ब्याज के लालच में विदेशी ऋणों के रूप में सोना देश में आने लगता है। इस प्रकार उपरोक्त विचारधारा के अनुसार बैंक दर विनिमय दरों को प्रतिकूल हो जाने से रोकती है और देश के स्वर्ण-कोषों की रक्षा करती है।

तीसरी विचारधारा के अनुसार बैंक दर का प्रभाव विनियोग दरों (Investment Rates) पर पड़ता है और इससे बचत और विनियोग के पारस्परिक अनुपात में परिवर्तन हो जाता है। बैंक दर की प्रत्येक वृद्धि बचत की तुलना में विनियोगों को हतोत्साहित करती है और इसके विपरीत बैंक दर की कमी के कारण बचत की तुलना में विनियोग अधिक प्रोत्साहित होते हैं। इस सम्बन्ध में यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि यद्यपि बैंक दर और बचत में तो एक प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट सम्बन्ध रहता है, परन्तु बैंक दर तथा विनियोगों का सम्बन्ध इतना स्पष्ट नहीं है। यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि बैंक दर का देश के आर्थिक जीवन और देश की आर्थिक क्रियाओं पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है, परन्तु यह विषय विवाद-ग्रस्त है कि बैंक दर के परि-

* *See* J. M. Keynes : *A Treatise on Money*.

वर्तनों का आर्थिक क्रियाओं पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में कीन्ज और हॉटरे (Hawtrey) की दो विरोधी विचारधारायें हैं :—हॉटरे का विचार है कि बैंक दर के परिवर्तनों के प्रभाव का मुख्य स्रोत व्यवसायों पर पड़ने वाले ब्याज की अल्पकालीन दरों के प्रभाव होते हैं। बैंक दर के परिवर्तनों का दूकानदारों की तैयार तथा अर्द्ध-तैयार वस्तुओं के स्टॉक जमा करने की प्रवृत्ति पर प्रभाव पड़ता है। यदि अल्पकालीन ब्याज की दरें घटती हैं तो स्टॉकों को रखने के व्यय में भी कमी आ जाती है और दूकानदार स्टॉकों को बढ़ाने लगते हैं। निर्माणकर्त्ताओं को माल मँगाने के अधिक आदेश प्राप्त होते हैं और वे उत्पत्ति को बढ़ाते हैं, जिसके फलस्वरूप रोजगार तथा मौद्रिक आय का भी विस्तार होता है। परन्तु यह तर्क दो बातों पर आश्रित है—(१) इस बात पर कि ब्याज की दर तथा स्टॉक रखने के व्यय में क्या सम्बन्ध है और (२) इस बात पर कि स्टॉक जमा करने की सुविधा की माँग की लोच कितनी है। व्यवहारिक जीवन में न तो इस सम्बन्ध का ही ठीक-ठीक पता लगाया जा सकता है और न स्टॉक जमा करने की सुविधा की माँग की लोच को ही किसी निश्चित् रूप में नापा जा सकता है। इसलिए बैंक दर के परिवर्तनों के प्रभाव के परिणामों की कोई निश्चित माप सम्भव नहीं होती है।

कीन्ज का विचार है कि बैंक दर का आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था पर मुख्य प्रभाव दीर्घकालीन व्याज की दरों के परिवर्तन द्वारा ही पड़ता है। यदि बैंक दर ऊँची की जाती है तो दीर्घकालीन प्रतिभूतियों से प्राप्त होने वाली आय की तुलना में ऋण प्राप्त करने का व्यय बढ़ जाता है। जो व्यक्ति अथवा फर्में पहिले बैंकों से ऋण लेकर व्यवसाय करते थे, अब उसके स्थान पर इन दीर्घकालीन प्रतिभूतियों को बेच कर धन प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार प्रतिभूतियों को बेचने की आग्रहपूर्णता बढ़ती है, परन्तु दूसरी ओर, जिन व्यक्तियों अथवा फर्मों के पास फालतू धन होता है वे उसे प्रतिभूतियों की अपेक्षा निक्षेपों में लगाना अधिक लाभदायक समझते हैं, क्योंकि इसमें लाभ अधिक होता है। इस प्रकार प्रतिभूतियों की माँग घटती है। दोनों ही कारणों से दीर्घकालीन प्रतिभूतियों की कीमतों का पतन होता है। प्रतिभूतियों की कीमतों के गिरने का अर्थ यह होगा कि उनसे प्राप्त आय बढ़ेगी और इस प्रकार अल्प-कालीन व्याज की दर की प्रत्येक वृद्धि से दीर्घकालीन ब्याज की दरें भी ऊपर उठ जायेंगी और इसके विपरीत अल्पकालीन दरों का पतन दीर्घकालीन दरों को भी गिरा देगा।

साहसियों की विनियोग नीति पर दीर्घकालीन ब्याज की दरों का ही सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। उसी को देखकर वे यह निश्चय करते हैं कि व्यवसायों में पूँजी का विस्तार किया जाय अथवा नहीं। यदि ब्याज की दीर्घकालीन दरें नीची हैं तो प्रतिभूतियों की कीमत ऊँची होगी और साहसी के लिए अंश तथा ऋण पूँजी का प्राप्त करना सरल होगा। इसी काल में स्टॉकों को बदलने और नए करने का

कार्य भी तेजी के साथ होता है। इस प्रकार बैंक दर वास्तव में दीर्घकालीन व्याज की दरों को प्रभावित करके अपना प्रभाव दिखाती है।

बैंक दर के परिवर्तनों के उद्देश्य (Objectives of the Change in the Bank Rate)—

बैंक दर के परिवर्तनों का प्रमुख उद्देश्य साख-मुद्रा का नियन्त्रण होता है। इस प्रकार के परिवर्तन साधारणतया निम्न कारणों से किए जाते हैं :—

(१) विनिमय दर की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता दूर करने के लिए—जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, विनिमय दर के परिवर्तनों पर साख के विस्तार और संकुचन का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। बैंक दर का उपयोग विनिमय दर की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता दूर करने अथवा सम्पन्न करने के लिए किया जा सकता है।

(२) स्वर्ण कोषों की रक्षा—बैंक दर के परिवर्तनों का उद्देश्य देश से स्वर्ण कोषों का बाहर जाना हो सकता है। बैंक दर के बढ़ जाने से देश में सभी प्रकार के ब्याज की दरें बढ़ जाती हैं। ऐसी दशा में विदेशी देश में लगाई हुई पूँजी को देश से बाहर निकालना बन्द कर देते हैं। बल्कि यह भी सम्भव है कि देश में उल्टा पूँजी का आयात होने लगे। इस प्रकार स्वर्ण कोषों का देश से बाहर जाना रुक जाता है।

(३) सट्टा बाजार पर अंकुश—सट्टे बाजार की कार्यवाहियों के फलस्वरूप कीमतों में भारी उच्चावचन उत्पन्न हो सकते हैं, जिससे देश के आर्थिक जीवन में अनिश्चितता आ जाती है। साख नियन्त्रण द्वारा सट्टे बाजार को मिलने वाले ऋणों को घटाकर सट्टा व्यवसाय पर प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं।

(४) मुद्रा-बाजार में धन के अभाव को दूर करना—बहुत बार मुद्रा-बाजार में धन की कमी उत्पन्न हो जाती है, जिससे उद्योगों और व्यवसायों को आवश्यकतानुसार ऋण नहीं मिल पाते हैं। ऐसी दशा में बैंक की दर कम करके बैंकों की साख निर्माण करने तथा ऋण देने की क्षमता बढ़ाई जा सकती है।

(५) मुद्रा की माँग में वृद्धि करना—व्यवसायिक मन्दी के काल में बहुधा ऐसा अनुभव किया जाता है कि ऋणों की माँग ही घट जाती है और बैंकों तथा व्यापारियों के पास बहुत-सा धन फालतू पड़ा रहता है। ऐसी दशा में बैंक दर को घटाने से ऋणों की माँग में वृद्धि की जा सकती है और व्यवसायिक मन्दी की स्थिति को दूर किया जा सकता है।

(६) विदेशी पूँजी के आयात और निर्यात के लिए—बैंक दर के घटने से देश में सभी प्रकार के ब्याज की दरें घटती हैं। इससे पूँजी के निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है और आयात हतोत्साहित होते हैं। इसके विपरीत बैंक दर के ऊँचा उठा देने से पूँजी के आयात आकर्षित होते हैं और निर्यात घटते हैं।

(७) प्रतिशोध (Retaliation)—बैंक दर में इसलिए भी परिवर्तन किये जा सकते हैं कि अन्य देशों द्वारा अपनी बैंक दरों में किए हुए परिवर्तनों से देशी अर्थ व्यवस्था की रक्षा की जा सके। विदेश में बैंक दर के बढ़ जाने से उस देश को पूँजी का निर्यात होने लगता है, जिसे रोकने के लिए देश को भी बैंक दर ऊपर उठानी पड़ती है, ताकि दोनों देशों के बीच ब्याज की दरों का अन्तर मिट जाय।

बैंक दर के परिवर्तनों का प्रभाव—

बैंक दर के परिवर्तनों का प्रभाव एक देश की आन्तरिक अर्थव्यवस्था पर तीन रूप में पड़ता है :—दो प्रकार के प्रभाव तो प्रत्यक्ष रूप में देशी अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्धित होते हैं, परन्तु तीसरी प्रकार का प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय शोधनाशेष के परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होता है। *जहाँ तक आन्तरिक प्रभावों का सम्बन्ध है, उन्हें हम मुख्य तथा गौण दो भागों में बाँट सकते हैं :* (i) बैंक दर की वृद्धि का मुख्य प्रभाव यह होता है कि यदि देश में लोगों की आय यथास्थिर रहती है तो बचत की मात्रा बढ़ती है और स्थिर पूँजीगत वस्तुओं की कीमत घट जाती है। (ii) परन्तु उपरोक्त प्रभाव का गौण प्रभाव यह होगा कि बैंक दर के बढ़ने के कारण पूँजीगत माल की कीमतों में जो कमी उत्पन्न हो जाती है उसके कारण उस माल का उत्पादन भी घटता है। पूँजीगत माल उत्पन्न करने वाले व्यवसायों में बेरोजगारी बढ़ती है, जिसके कारण आय घटती है और अन्त में उपभोगीय वस्तु उद्योगों (Consumer goods industries) के माल की भी कीमतें घटती हैं। इस प्रकार सारी अर्थ-व्यवस्था पर मन्दी छा जाती है। सर्वप्रथम पूँजीगत माल बनाने वाले उद्योगों में लाभ घटने लगते हैं। फिर-धीरे-धीरे सभी उद्योगों में लाभ समाप्त हो जाते हैं और चारों ओर व्यवसायिक मन्दी फैल जाती है। इसके विपरीत बैंक दर के गिर जाने से भी और तेजी की दशाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, क्योंकि इससे सभी व्यवसायों को विस्तार करने का प्रोत्साहन मिलता है।

(iii) *अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से यदि स्वर्णमान का चलन है तो बैंक दर की वृद्धि के कारण स्वर्ण निर्यात रुक जायेंगे और हो सकता है कि विदेशों से पूँजी का आयात होने लगे। इसके कारण विदेशी विनिमय दर अनुकूल हो जायगी।* दूसरे क्योंकि बैंक दर की वृद्धि के कारण देश में कीमतें तथा मौद्रिक आय घटती है इस कारण विदेशी आयात कम हो जाते हैं, क्योंकि देशी माल की तुलना में विदेशी माल के दाम ऊँचे हो जाते हैं। इसके विपरीत विदेशों में देशी माल के दाम घट जाने के कारण निर्यात प्रोत्साहित होते हैं। इस प्रकार व्यापाराशेष की प्रतिकूलता अनुकूलता में बदल जाती है। अन्त में कीमतों और मौद्रिक आय के घटने के कारण रोजगार तथा मजदूरियों में भी कमी आ जाती है, जिसके कारण उत्पादन व्यय घटता है और देशी अर्थ-व्यवस्था का असन्तुलन दूर हो जाता है। देशी उद्योगों की प्रतियोगिता शक्ति बढ़ती है और निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है। जब बैंक दर इस अन्तिम

उद्देश्य को पूरा कर चुकती है तो राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के असन्तुलन का दोष पूर्णतया दूर हो जाता है, परन्तु यह फल देर में प्राप्त होता है। इस प्रकार अल्प तथा दीर्घ दोनों ही कालों के दृष्टिकोण से बैंक दर नीति का विदेशी व्यापार के अर्थप्रबन्ध में भारी महत्त्व होता है।

बैंक दर के परिवर्तन विदेशी विनिमय दर को तीन रीतियों अथवा तीन साधनों द्वारा प्रभावित करते हैं—अल्पकालीन मौद्रिक बाजार को प्रभावित करके, दीर्घकालीन पूँजी बाजार के परिवर्तनों द्वारा और व्यापाराशेष के परिवर्तनों द्वारा। जब देश के सामने विनिमय दर के पतन की समस्या आती है, स्वर्ण का निर्यात होता है और स्वर्ण-कोष तेजी के साथ घटने लगते हैं तो बैंक दर को ऊँचा कर देने से देश की भीतरी कीमतों और ब्याज की दरों पर इस प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं कि विना स्वर्ण निर्यात के ही शोधनाशेष का असन्तुलन दूर हो जाता है, क्योंकि अल्पकालीन कोषों का देश में आयात होने लगता है। विदेशी अधिक ब्याज कमाने के लिए अपने ऋणों का भुगतान लेना स्थगित कर देते हैं, वल्कि और अधिक ऋण देने लगते हैं और देशवासियों द्वारा विदेशियों को दिए गए ऋण वापिस मँगा लिए जाते हैं। स्वर्ण-ऋण तथा कोषों के देश के भीतर इस प्रवाह के कारण देश के चलन की मांग बढ़ जाती है और विनिमय दर देश के लिए अनुकूल हो जाती है।

कुछ समय पश्चात् बैंक दर के परिवर्तनों का प्रभाव दीर्घकालीन प्रतिभूतियों की ब्याज की दर पर भी पड़ने लगता है। इस वृद्धि के कारण ऋणों की मांग घटती है। प्रतिभूतियों की कीमत घटने के कारण उनसे प्राप्त आय बढ़ जाती है और क्योंकि विदेशों में ऋण की मांग घट जाती है, इस कारण स्वर्ण, पूँजी और कोषों का देश से बाहर जाना रुक जाता है। इसके फलस्वरूप विदेशी विनिमय बाजार में देश के चलन की पूर्ति कम हो जाती है और अन्य मुद्राओं में देश की मुद्रा की मूल्य वृद्धि हो जाती है।

दीर्घकाल में बैंक दर की वृद्धि के परिणाम आर्थिक जीवन की अन्य शाखाओं में भी दृष्टिगोचर होंगे। विनियोगों में कमी होगी और व्यवसायिक कार्य का संकुचन होगा। विस्फीतिक प्रवृत्तियों के कारण उत्पादन व्यय तथा मौद्रिक आय दोनों में ही कमी आ जायगी। फल यह होगा कि निर्यातों को प्रोत्साहन मिलेगा और आयात घटते जायँगे, जिसके कारण व्यापाराशेष भी अनुकूल हो जायगा। व्यापाराशेष की यह अनुकूलता विनिमय दरों को भी अनुकूल बना देगी। बैंक दर के नीचा कर देने के सभी दिशाओं में विपरीत प्रभाव पड़ते हैं। व्यापाराशेष प्रतिकूल हो जाता है और उसके साथ ही साथ विनिमय दर भी प्रतिकूल हो जाती है।

संक्षेप में, हम ऐसा कह सकते हैं कि बैंक दर के परिवर्तन के प्रमुख प्रभाव निम्न प्रकार होते हैं :—

(१) इसके फलस्वरूप साख की मात्रा का विस्तार अथवा संकुचन होता है।

(२) देश का आन्तरिक कीमत-स्तर (Internal Price-level) या तो ऊपर उठ जाता है अथवा नीचे गिर जाता है अथवा उसके नीचे या ऊपर जाने की प्रवृत्ति रुक जाती है।

(३) पूँजी के विनियोग या तो घट जाते हैं या बढ़ जाते हैं। प्रथम दशा में पूँजी का देश से निर्यात होने लगता है और दूसरी दशा में देश में पूँजी का आयात होता है। दोनों दशाओं में देश में उपलब्ध पूँजी की मात्रा में परिवर्तन होते हैं अथवा पूँजी का निर्यात अथवा आयात रुक जाता है।

(४) विनिमय दरों की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता बढ़ जाती है अथवा अनुकूलता या प्रतिकूलता की प्रवृत्ति रुक जाती है।

बैंक दर नीति के महत्त्व की कमी—

वर्तमान संसार में साख नियन्त्रक साधन तथा व्यापाराशेष के असन्तुलन को दूर करने का उपाय दोनों ही के रूप में बैंक दर का महत्त्व बहुत घट गया है। इस कमी के तीन कारण हैं—प्रथम, वर्तमान युग में मुद्रा-बाजार तथा आर्थिक व्यवस्था में इतने गम्भीर परिवर्तन हो गए हैं कि बैंक दर का अस्त्र पूर्णतया सफल नहीं हो रहा है। दूसरे, अधिक प्रत्यक्ष परिणामों के कारण अन्य उपायों का उपयोग बढ़ गया है और तीसरे, वर्तमान संसार ने सुलभ मुद्रा नीति (Cheap Money Policy) को लोक नीति का आवश्यक आधार मान लिया है। स्वर्णमान के पतन के पश्चात् स्वर्ण कोषों के आवागमनों को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से तो बैंक दर का कोई महत्त्व ही नहीं रह गया है। साख नियन्त्रण की इतनी कठोर तथा सप्रभाविक रीतियों का अब संसार में आविष्कार हो गया है कि बैंक दर के अध्ययन का लगभग ऐतिहासिक महत्त्व ही शेष रह गया है। इसके साथ ही साथ, ऐसा अनुभव किया जाता है कि बैंक दर के परिवर्तनों द्वारा शोधनाशेष का जो संतुलन स्थापित किया जाता है वह देश के लिये काफी मँहगा पड़ता है, क्योंकि उसके कारण बेरोजगारी और मानव कष्ट दोनों बढ़ते हैं। इस कारण विदेशी विनिमय दरों की स्थिरता को प्राप्त करने के लिए आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था की स्थिरता को खो देना बुद्धिमानी नहीं समझी जाती है। वर्तमान सरकारें विनिमय ह्रास तथा विनिमय नियन्त्रण जैसे प्रत्यक्ष उपायों द्वारा विनिमय दरों की स्थिरता स्थापित करना मुद्रा-संकुचन और उसके दुष्परिणामों की तुलना में कहीं अच्छा समझती हैं, क्योंकि इनका आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था पर इतना बुरा प्रभाव नहीं पड़ता है और इनकी सफलता भी अधिक निश्चित होती है।

विगत वर्षों में बैंक दर नीति के महत्त्व के घट जाने के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं :—

(१) अर्थ-व्यवस्था में लोच का अभाव—प्रथम महयुद्ध के पश्चात् विभिन्न देशों की अर्थव्यवस्थाओं में वह लोच नहीं रह पाई है जो पहले थी। परिणाम यह हुआ है कि बैंक दर का परिवर्तन सारी अर्थ-व्यवस्था पर अपना प्रभाव डालने में असमर्थ रहता है।

(२) अन्य बैंकों की केन्द्रीय बैंकों पर निर्भरता में कमी—बैंक दर की सप्रभाविकता उसी दशा में सम्भव होती है जबकि सभी बैंक आवश्यकता के समय ऋण के लिए केवल केन्द्रीय बैंक पर ही निर्भर रहें, परन्तु आधुनिक युग में ऐसी प्रथम श्रेणी की बहुत सी बैंक हैं जो दूसरी बैंकों की केन्द्रीय बैंक पर आश्रिता दूर कर देती हैं। काफी समय तक इम्पीरियल बैंक एक इसी प्रकार की बैंक रही है। ऐसी दशा में बैंक दर के परिवर्तनों का अन्य बैंकों पर कोई भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ने पाता है।

(३) नकद साख व अधिविकर्ष का अधिक उपयोग—आधुनिक जगत में आन्तरिक व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध नकद साख तथा अधि-विकर्ष ऋणों द्वारा किया जाता है। विनिमय बिलों की आड़ पर प्राप्त ऋणों और उनसे सम्बन्धित बैंक दर का महत्त्व घट गया है। इससे स्वयं ही बैंक दर नीति की सप्रभाविकता कम हो गई है, क्योंकि बिलों को केन्द्रीय बैंक से दुबारा भुनवाने की आवश्यकता कम हो गई है।

(४) अन्य प्रभावपूर्ण रीतियों का आविष्कार—साख नियन्त्रण के अधिक सफल और सप्रभाविक उपायों के आविष्कार ने बैंक दर का महत्त्व घटा दिया है।

(५) राष्ट्रों की सुलभ मुद्रा नीति—आर्थिक नियोजन के इस वर्तमान संसार के सभी देशों की नीति सस्ती अथवा सुलभ मुद्रा नीति है, जिसके अन्तर्गत बैंक दर को नीचा रखना ही आर्थिक नीति का स्थायी आधार माना जाता है।

(६) आदेयों की तरलता में वृद्धि—आधुनिक काल में बैंकों के आदेयों की तरलता बढ़ती जा रही है, जिसके कारण केन्द्रीय बैंक से ऋण लेने की आवश्यकता घटती जा रही है। इस कारण बैंक दर के परिवर्तनों का बैंकों की साख निर्माण नीति पर कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ पाता है।

(७) मुद्रा बाजार पर देर से प्रभाव पड़ना—बैंक दर के परिवर्तनों का मुद्रा बाजार पर कुछ समय पश्चात् ही प्रभाव पड़ता है। परन्तु मौद्रिक क्षेत्र में वही नीति लाभदायक हो सकती है जिसका अल्पकाल में प्रभाव पड़ सके। बैंक दर इसके लिए अधिक उपयुक्त नहीं है।

(८) अन्य बैंकों द्वारा अपनी जमाओं पर अधिक व्याज देना—बैंक दर की वृद्धि के प्रभाव को एक बैंक अपनी निक्षेपों पर अधिक व्याज देकर दूर कर सकती है। अधिक निक्षेप प्राप्त हो जाने के कारण केन्द्रीय बैंक से ऋण लेने की आवश्यकता नहीं रहती है। वर्तमान काल में यह प्रवृत्ति बराबर बलवान होती जा रही है और ऋण के अन्तिम प्रदानकर्त्ता के रूप में केन्द्रीय बैंक का महत्त्व घटता जा रहा है।

बैंक-दर नीति की सीमाएँ—

विगत वर्षों में साख-नियन्त्रण के दृष्टिकोण से बैंक-दर नीति के महत्त्व का

घट जाना इस बात को स्पष्ट कर देता है कि यह नीति सभी दशाओं में आवश्यक अंश तक सफल नहीं होती है। वास्तव में इस नीति के उपयोग की दो महत्त्वपूर्ण सीमायें हैं, जो निम्न प्रकार हैं :—

(१) बैंक दर में परिवर्तन होने पर अन्य ब्याज दरों में भी परिवर्तन होना—देश में प्रचलित सभी प्रकार की ब्याजों की दरों से बैंक-दर का ऐसा सम्बन्ध होना चाहिए कि बैंक-दर का प्रत्येक परिवर्तन उनमें भी वैसा ही परिवर्तन उत्पन्न कर सके। ऐसा सम्बन्ध तभी सम्भव हो सकता है जबकि मुद्रा-बाजार पूर्णतया संगठित (Organised) हो। केवल उसी दशा में जबकि सभी प्रकार की ब्याज की दरें स्वयं ही बैंक दर के परिवर्तनों के अनुसार बदल जाती हैं, साख की मात्रा में बैंक-दर के परिवर्तनों के अनुसार ही विस्तार और संकुचन हो सकेगा। जिन देशों में ऐसी स्थिति नहीं है वहाँ बैंक-दर साख-नियन्त्रण का सप्रभाविक उपाय नहीं हो सकती है।

(२) अर्थ-व्यवस्था में लचीलापन होना—देश के आर्थिक कलेवर में काफी लचीलापन (Flexibility) होना चाहिए, जिससे कि साख की मात्रा के परिवर्तनों का उत्पादन, कीमत, मजदूरी, व्यापार, भाड़ों तथा मौद्रिक आय पर आवश्यक प्रभाव पड़ सके। इस प्रकार की लचक संयोग से कहीं मिलती होगी।

वास्तविक जीवन में इन दोनों शर्तों का पूरा होना कठिन होता है। शायद इङ्गलैंड ही एक ऐसा देश है जहाँ का मुद्रा-बाजार बहुत सुसंगठित है और जहाँ आर्थिक कलेवर में लचीलापन भी काफी है। यही कारण है कि उस देश में बैंक-दर नीति को अधिक सफलता मिली है। अनुकूल परिस्थितियां न रहने के कारण संसार के दूसरे देशों में यह नीति बहुत ही कम सफल हो पाई है। भारत में संगठित मुद्रा-बाजार और आर्थिक कलेवर की लचक दोनों ही का अभाव है। यहाँ तो इस नीति से सफलता की आशा बहुत ही कम हो सकती है।

कीन्ज का विचार है कि सामान्य आर्थिक स्थायित्त्व के लिए बचत और विनियोग का सन्तुलन आवश्यक है। इस प्रकार का स्थायित्त्व बैंक दर नीति तथा साख नियन्त्रण के अन्य उपायों द्वारा ही स्थापित नहीं किया जा सकता है, बल्कि इसके लिए राज्य को प्रत्यक्ष रूप में विनियोगों की व्यवस्था करनी चाहिए और अवसाद के काल में लोक कार्यों (Puclic Works) का विकास करना चाहिए। *कीन्ज के अनुसार बैंक दर नीति साख नियन्त्रण का एक बड़ा ही घिसा हुआ तथा रूढ़िवादी उपाय है।**

किन्तु इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि बैंक दर नीति का उपयोग पूर्णतया समाप्त अभी भी नहीं हुआ है, केवल उसका महत्त्व ही घट गया है। अभी तक भी मुद्रा की माँग और पूर्ति के बीच समायोजन करने का यह एक लोकप्रिय

J. M. Keynes : *General Theory of Employment, Interest and Money*, p. 164.

उपाय है। यह कहना तो कठिन है कि आर्थिक आर्थिक जीवन पर बैंक दर का प्रभाव अल्पकालीन ब्याज की दरों के परिवर्तन द्वारा पड़ता है अथवा दीर्घकालीन ब्याज की दरों के परिवर्तन द्वारा। किन्तु इस प्रकार का प्रभाव पड़ता अवश्य है और क्योंकि आर्थिक जीवन पर ब्याज की दरों के परिवर्तनों के अतिरिक्त और भी अनेक वातों का प्रभाव पड़ता है, इसलिए केवल बैंक दर के परिवर्तनों द्वारा स्थिति को पूर्णतया सुधार लेना सम्भव नहीं हो पाता है।

विगत वर्षों में बैङ्क-दर के परिवर्तन—

यद्यपि अब बैंक-दर नीति का पहला सा महत्त्व शेष नहीं रह गया है, परन्तु सन् १९४५ के पश्चात् संसार के अधिकांश देशों में इसका उपयोग फिर बढ़ता हुआ दिखाई देता है। अधिकांश देशों ने मुद्रा-प्रसार से उत्पन्न होने वाली स्थिति का सामना बैंक-दर में परिवर्तन करके करने का प्रयत्न किया है, यद्यपि साथ में अन्य उपाय भी किए गये हैं। बैंक-दर में वृद्धि करने की प्रवृत्ति विश्वव्यापी होती गई है। निम्न तालिका में इस परिवर्तन के क्रम को दियाया गया है :—

देश	वर्तमान दर	परिवर्तन की तिथि	परिवर्तन से पूर्व की दर	अन्तर
१. भारत	४·००	जनवरी १९५७	४·५	+०·५०
२. आस्ट्रेलिया	५·००	दिसम्बर १९५१	३·५०	+१·५०
३. फिनलैंड	५·००	दिसम्बर १९५४	५·७५	—०·७५
४· फ्रान्स	३·००	दिसम्बर १९५४	३·७५	—०·७५
५· तुर्की	४·५०	जून १९५५	३·००	+१·५०
६· बेल्जियम	३·००	अगस्त ४, १९५५	२·७५	+०·२५
७· जापान	७·३०	अगस्त १९५५	५·८४	+१·४६
८. संयुक्त राज्य अमरीका	३·५०	मई १९५९	३·००	+०·५०
९. नीदरलैण्डस्	३·००	फरबरी ६, १९५६	२·५०	+०·५०
१०· ब्रिटेन	४·५०	मार्च १९५८	५·५०	—१·००
११. रूस	४·००	जुलाई १, १९५६	४·००	—४·००
१२. इटली	५·५०	....	....	....
१३. दक्षिणी अफ्रीका	३·५०	....	....	....
१४. नार्वे	२·५०	....	....	....
१५. स्वीडन	२·५०	....	....	....
१६. कनाडा	१·५०	....	....	....
१७. स्विट्जरलैंड	१·५०	....	....	....
१८. न्यूजीलैंड	१·५०	....	....	....

(ब) खुले बाजार क्रियाएँ
(Open Market Operations)

खुले बाजार की क्रियाओं का अर्थ—

साधारणतया, केन्द्रीय बैंक को व्यक्तिगत फर्मों तथा जन-साधारण के साथ व्यवसाय करने का अधिकार नहीं होता है, परन्तु विशेष परिस्थितियों के लिए ऐसी व्यवस्था की जाती है कि साख नियन्त्रण हेतु केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों के प्रतियोगी के रूप में जन-साधारण से व्यवसाय करने लगती है। इसी को केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार क्रिया कहा जाता है। 'खुले बाजार क्रिया'* को दो प्रकार के अर्थ में उपयोग किया जाता है :—(i) विस्तृत अर्थ में इसका उपयोग केन्द्रीय बैंक द्वारा किसी भी प्रकार के बिलों अथवा प्रतिभूतियों के खरीदने और बेचने से होता है, (ii) परन्तु संकुचन अर्थ में इसका अभिप्राय केवल सरकारी प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय से होता है। साख नियन्त्रण की इस रीति का प्रचलन पिछले २०-३० वर्षों से अधिक बढ़ गया है। प्रकृति में यह नीति केन्द्रीय बैंक द्वारा साख के निर्माण तथा रद्द करने की एक विधि होती है। प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय द्वारा केन्द्रीय बैंक प्रत्यक्ष रूप में एक दम देश में चलन की मात्रा तथा बैंकों के नकद कोषों को घटा-बढ़ा देती है और इस प्रकार अन्य बैंकों की साख निर्माण शक्ति में परिवर्तन कर देती है।

खुले बाजार की क्रियाओं का साख व चलन प्रणाली पर प्रभाव—

यदि केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों को खरीदती है तो चलन की अधिक मात्रा जनता के हाथ में चली जाती है। जनता की मौद्रिक आय बढ़ती है और उसके साथ ही साथ कीमतें भी ऊपर को जाने लगती हैं। जनता को जो अधिक मात्रा में आय प्राप्त होती है उसका एक भाग उसके द्वारा बैंकों में भी जमा किया जाता है और इस प्रकार बैंकों के नकद कोषों का विस्तार होता है। साख-मुद्रा की अधिक मात्रा में निकासी होने लगती है, कीमतों की वृद्धि के कारण उत्पादन भी अधिक लाभदायक हो जाता है और साख-मुद्रा की माँग बढ़ने लगती है। *इस प्रकार प्रतिभूतियों के क्रय की नीति का परिणाम यह होता है कि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होती है और साख का विस्तार होता है।* इसके विपरीत यदि केन्द्रीय बैङ्क प्रतिभूतियाँ बेचती है तो क्योंकि केन्द्रीय बैंक पर अन्य सभी बैंकों की अपेक्षा अधिक विश्वास रहता है, लोग अपनी-अपनी बैंकों से रुपया निकाल कर, अधिक बचत द्वारा तथा अपने दिये हुए ऋणों को वापिस लेकर इन प्रतिभूतियों को खरीदते हैं। इस प्रकार नकदी केन्द्रीय बैंक को लौट जाती है और प्रचलित मुद्रा की मात्रा घटती है, जिससे बैंकों के नकद कोषों में कमी आ जाती है। नकद कोषों में कमी हो जाने के कारण बैंकों को साख-मुद्रा का संकुचन करने पर बाध्य होना पड़ता है। मुद्रा की मात्रा में कमी हो जाने के कारण कीमतों में गिरने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण व्यवसाय हतोत्साहित होते हैं। *अतः प्रति-*

* कुछ लेखकों ने इन्हें "विवृत विपणि क्रियायें" भी कहा है।

भूतियाँ बेचने की नीति का स्पष्ट परिणाम साख-संकुचन के रूप में प्रकट होता है, क्योंकि बैंकों की साख निर्माण शक्ति और साख-मुद्रा की माँग दोनों ही में कमी आ जाती है।

खुले बाजार की क्रियाओं की नीति को अपनाने की दशायें—

खुले बाजार की क्रियाओं वाली नीति का प्रयोग प्रायः निम्न दशाओं में किया जाता है—

(i) *स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण के आयात और निर्यात के प्रभाव को विफल करने* के लिये यह नीति अपनाई जाती है। स्वर्ण का आयात होने पर प्रायः स्वर्ण-मान देश में मुद्रा का प्रसार हो जाता है और मूल्य-स्तर बढ़ने लगते हैं। यदि मूल्य वृद्धि देश-हित में न हो, तो केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियाँ बेचकर देश में मुद्रा की मात्रा को कम कर लेता है, जिसमें मूल्य वृद्धि पर रोक लग जाती है। इसके विपरीत जब स्वर्ण का निर्यात होता है तो उस पर आधारित मुद्रा की मात्रा घट जाती है, मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है वस्तुओं के मूल्य गिरने लगते हैं यदि यह गिरावट देश के अनुकूल न हो तो केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियाँ खरीद कर प्रचलित मुद्रा में वृद्धि कर देती है, जिससे मूल्य गिरने बन्द हो जाते हैं।

(ii) *पूँजी के निर्यात को रोकने के लिये* केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियाँ बेच कर मुद्रा बाजार से अतिरिक्त राशि को खींच लेती है। इससे विदेशों को पूँजी का निर्यात होना रुक जाता है।

(iii) *बैंकों पर दौड़ रोकने के लिये*—संकट काल में जब बैंकों पर जनता रुपया निकालने के लिये दौड़ पड़ती है तो मुद्रा बाजार में जनता का विश्वास स्थापित करने के लिये केन्द्रीय बैंक बैंकों की हुन्डियों और अन्य पत्रों को भुनाने लगती है तथा जनता से प्रतिभूतियाँ खरीद कर उन्हें आवश्यक मात्रा में नकद धन देने लगती है, इससे बैंकों का संकट दूर हो जाता है।

(iv) *बैंक दर के असफल होने पर*—जब कभी बैंक दर के बढ़ने पर मुद्रा बाजार की अन्य संस्थायें अपनी ब्याज दरें नहीं बढ़ाती हैं, क्योंकि उनके पास काफी नकद कोष हैं तो केन्द्रीय बैंक खुले बाजार में प्रतिभूतियाँ बेच कर बैंक की इस अति-रिक्त राशि को घटा देता है, जिससे ये संस्थायें ब्याज-दर बढ़ाने पर विवश हो जाती हैं।

(v) *मुद्रा बाजार में मुद्रा की कमी को दूर करने के लिये* भी केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियां खरीदने लगता है। इससे बाजार में मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है और समाज के आर्थिक व्यवहारों में समता बनी रहती है।

बैंक दर नीति श्रेष्ठ है या खुले बाजार की क्रियाओं की नीति ?—

इस नीति का उपयोग बहुधा बैंक-दर नीति के साथ ही साथ उसे अधिक

सप्रभाविक बनाने के लिए किया जाता है, परन्तु स्वतन्त्र रूप में भी इसका उपयोग हुआ है। बैंक दर के परिवर्तनों का ब्याज की दीर्घकालीन दरों पर केवल परोक्ष ही प्रभाव पड़ता है, परन्तु खुले बाजार क्रियाओं द्वारा उन्हें प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त बैंक दर का प्रभाव तत्काल तो केवल ब्याज की अल्पकालीन दरों पर ही पड़ता है, दीर्घकालीन दरों पर वह काफी समय पश्चात् प्रकट होता है; परन्तु खुले बाजार व्यवसाय का दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन दोनों ही प्रकार की ब्याज की दरों पर एक ही साथ प्रभाव पड़ता है और वह भी तत्काल ही। यही कारण है कि इस नीति के फल प्रत्यक्ष रूप में दृष्टिगोचर होते हैं।

खुले बाजार क्रिया नीति की सीमाएँ—

खुले बाजार क्रिया नीति की सफलता के लिए यह आवश्यक होता है कि प्रचलित मुद्रा मात्रा तथा व्यापार बैंकों के नकद कोषों में खुले बाजार व्यवसाय की प्रकृति और विस्तार के ही अनुसार परिवर्तन हों, व्यापार बैंक अपने नकद कोषों की मात्रा के अनुपात में ब्याज की दरों को घटाने-बढ़ाने के लिए तैयार हो और बैंक-साख की माँग ब्याज की प्रत्येक वृद्धि और कमी के साथ घट-बढ़ जाय। साधारणतया व्यवहारिक जीवन में उपरोक्त मान्यताएं सत्य होती हैं, यद्यपि कुछ परिस्थितियां इससे भिन्न भी हो सकती हैं।

यह नीति निम्न कारणों से कभी-कभी असफल रहती है:—

(१) परिस्थितियों की अनुकूलता—यह सम्भव है कि केन्दीय बैंक द्वारा प्रतिभूतियाँ खरीदने पर भी प्रचलित मुद्रा तथा व्यापार बैंकों के नकद कोषों की मात्रा न बढ़ सके। विशेष रूप से यदि उसी काल में पूँजी का निर्यात होता है, व्यापाराशेष प्रतिकूल है अथवा जनता पत्र-मुद्रा को जमा करके रखने लगती है। इसी प्रकार केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रतिभूतियां बेचने पर मुद्रा-संकुचन का होना आवश्यक नहीं है, यदि व्यापाराशेष अनुकूल है अथवा यदि लोग अपने आसंचित कोषों (Hoards) को खाली करने लगते हैं। दूसरे शब्दों में, हम इस प्रकार कह सकते हैं कि यह नीति भी केवल अनुकूल परिस्थितियों में ही सफल होती है। प्रत्येक दशा में इसकी सफलता भी सन्देहपूर्ण ही रहती है।

(२) नकद कोषों के रखने के सम्बन्ध में कड़ी नीति का पालन—साख के आधार अर्थात् नकद कोषों को विस्तृत अथवा संकुचित कर देने के फलस्वरूप साख की मात्रा में उसी के अनुपात में विस्तार अथवा संकुचन होना आवश्यक नहीं है, जब तक कि बैंक नकद कोषों के बनाये रखने में एक कड़ी नीति नहीं अपनाती है। इङ्गलैंड में तो बैंकों की नीति यही है, परन्तु इसके विपरीत अमरीका की बैंक नकद कोषों की वृद्धि का उपयोग साधारणतया संघ निधि प्रणाली (Federal Reserve System) के ऋण चुकाने के लिए ही करती है। इसके अतिरिक्त नकद कोषों की वृद्धि के आधार पर साख का विस्तार करने के लिए बैंक को और भी बहुत सी व्यवसायिक

बातों को ध्यान में रखना पड़ता है। इस कारण यह आवश्यक नहीं है
कोषों के बढ़ने की प्रत्येक दशा में साख का विस्तार ही किया जाय और नकद कोष
की वृद्धि के अनुपात में साख का विस्तार तो किंचित ही हो पाता है।

(३) ऋणों की मांग की आग्रहपूर्णता—यह भी सम्भव है कि नकद कोषों के बढ़ने पर भी बैंक साख का विस्तार न कर सकें, क्योंकि साख विस्तार ऋणों की मांग पर निर्भर होता है। यदि ऋणों की मांग ही नहीं है तो साख के विस्तार का प्रश्न ही नहीं उठेगा। अवसाद के काल में बहुधा ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसके विपरीत अभिवृद्धि के काल में ब्याज की दर के ऊँचा हो जाने के कारण नकद कोषों की कमी भी साख के विस्तार की प्रवृत्ति को रोकने में असमर्थ ही रहती है, क्योंकि ऊँचे ब्याज पर भी ऋणों की मांग बहुत होती है। अतः ऋणों की मांग की आग्रहपूर्णता भी साख के विस्तार और संकुचन की सीमाएँ निर्धारित करती है।

(४) प्रतिभूतियों को खरीदने-बेचने की शक्ति असीमित होनी चाहिये—खुले बाजार व्यवसाय नीति की सफलता इस बात पर भी निर्भर होती है कि केन्द्रीय बैंक के पास बेचने के लिए कितनी प्रतिभूतियाँ हैं और वह कितनी प्रतिभूतियाँ खरीद सकती है। दोनों ही दिशाओं में भारी सीमितता होती है, जिसके कारण अनेक व्यवहारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। वास्तविक जीवन में न तो केन्द्रीय बैंक के पास पूंजी की ही प्रचुरता रहती है और न उसके पास बिक्री साध्य प्रतिभूतियाँ ही असीमित मात्रा में होती हैं। केन्द्रीय बैंक सभी प्रकार की प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय भी नहीं कर सकती है। इस प्रकार इस नीति का कार्य-क्षेत्र भी सीमित रहता है।

इन सीमाओं के रहते हुए भी यह कहा जा सकता है कि केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रतिभूतियाँ खरीदने और बेचने तथा बैंक द्वारा साख के संकुचन तथा विस्तार के बीच पर्याप्त सम्बन्ध होता है। खुले बाजार क्रियाओं की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन दोनों ही प्रकार की सरकारी हुण्डियों के क्रय-विक्रय के लिए विस्तृत तथा सक्रिय मण्डी हो। इस प्रकार की मण्डियाँ ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमरीका में ही हैं और इसी कारण इन्हीं देशों में इस उपाय को अधिक सफलता मिली है। ब्रिटेन में तो बैंक दर नीति की सप्रभाविकता बढ़ाने के लिए एक सहायक उपाय के रूप में इसका बहुत उपयोग हुआ है।

(स) साख-नियन्त्रण की अन्य रीतियाँ
(Other Methods of Credit Control)

बैंक दर तथा खुले बाजार क्रिया के अतिरिक्त और भी बहुत सी रीतियों से साख-नियन्त्रण के उद्देश्य को पूरा किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में जो उपाय किये जाते हैं उनका अलग-अलग अथवा कई को एक साथ मिलाकर उपयोग किया जा सकता है। अन्य प्रमुख उपाय निम्न प्रकार हैं :—

(१) व्यापार बैंकों की न्यूनतम् नकद निधि को बदलना (Variation in the Bank Reserve Ratios)—केन्द्रीय बैंक व्यापार बैंकों द्वारा उसके पास जमा की हुई न्यूनतम् नकद निधि के अनुपात में परिवर्तन करके साख-नियन्त्रण का उपाय कर सकती है। यह रीति सर्वप्रथम सन् १९२३ में अमरीका में अपनाई गई थी, परन्तु इसके पश्चात् संसार भर में इसका विस्तृत उपयोग हुआ है। बैंकों द्वारा रखी हुई सुरक्षित निधि के अनुपात को बढ़ाने से साख का विस्तार रोका जा सकता है और इसके विपरीत उसे कम कर देने से साख का विस्तार हो सकता है। अमरीका ने, जो बैंक दर नीति के साथ-साथ इस उपाय को भी कितनी ही बार अपनाया है, परन्तु यह रीति भी पूर्णतया दोष-विमुक्त नहीं है। सभी बैंकों के बीच नकद कोषों का समान वितरण नहीं होता है, इसलिये इसके फलस्वरूप कुछ बैंकों को दूसरों की अपेक्षा अधिक कठिनाई होती है। इसके अतिरिक्त यह एक कठोर रीति है, जिसका प्रभाव सभी व्यापार बैंकों पर पड़ता है, न कि केवल उन बैंकों पर जो साख निर्माण के सम्बन्ध में गलत नीति अपनाती हैं। इसलिए केन्द्रीय बैंक को इसका उपयोग सावधानीपूर्वक करना पड़ता है।

(२) साख की राशनिङ्ग (Rationing of Credit)—यह एक अत्यधिक कठोर उपाय है और इसका उपयोग साधारणतया तानाशाही शासन प्रणाली में ही अधिक विस्तृत रूप में हुआ है। इसके अन्तर्गत व्यवसायिक आवश्यकताओं को देखते हुए साख के निर्माण की एक अधिकतम् सीमा निश्चित कर दी जाती है और उसमें से विभिन्न बैंकों तथा विभिन्न प्रकार के व्यवसायों के लिए अभ्यंश निश्चित कर दिए जाते हैं। इस प्रकार साख का विस्तार अथवा संकुचन नहीं हो पाता है। उसकी मात्रा पहले से ही निश्चित कर दी जाती है। कोई भी बैंक निर्धारित अभ्यंश (Quota) से कम या अधिक साख उत्पन्न नहीं कर सकती है। यह वैसे तो एक बड़ी सप्रभाविक रीति है, परन्तु इसमें व्यवहारिक कठिनाइयाँ बहुत हैं, क्योंकि केन्द्रीय बैंक को विभिन्न व्यवसायों की ऋण आवश्यकताओं और उनसे सम्बन्धित साख के निर्माण की मात्रा का सही-सही अनुमान लगाना पड़ता है और फिर सभी बैंकों के अलग-अलग अभ्यंश निर्धारित करने पड़ते हैं।

(३) सीधी कार्यवाही (Direct Action)—सीधी कार्यवाही का अभिप्राय प्रतिविरोधी कार्यों से होता है। यदि कोई बैंक केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्धारित साख नीति का पालन नहीं करती है तो केन्द्रीय बैंक उसके विरुद्ध अनेक प्रकार की कार्यवाहियाँ कर सकती है, जैसे—उसके बिलों को भुनाने से इन्कार करना, उसे ऋण न देना अथवा उससे मौद्रिक दण्ड वसूल करना। कठोर रूप में इसके अन्तर्गत बैंक विशेष के बैंकिंग अधिकार भी छीने जा सकते हैं। सीधी कार्यवाही की सैद्धान्तिक वांछनीयता यही है कि इस प्रणाली में बैंक-साख का अधिक अच्छा गुणात्मक वितरण हो जाता है, जबकि अन्य साधारण उपायों का प्रभाव केवल साख की मात्रा के वितरण पर ही पड़ता है, परन्तु यह रीति भी सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि इससे कोई भी

रचनात्मक कार्य सम्पन्न नहीं होता है। यह तो केवल एक प्रकार का प्रतिकार है, जिसका उद्देश्य केवल बैंक विशेष की प्रस्तुत साख नीति में परिवर्तन करना होता है और उसे केन्द्रीय बैंक के आदेशों को मानने पर बाध्य किया जाता है।

(४) समझाना (Persuasion)—यह भी एक प्रकार की सीधी कार्यवाही ही है, परन्तु इसमें किसी प्रकार का भय नहीं दर्शाया जाता है, बल्कि एक प्रकार सोचने-समझने के आधार पर प्रार्थना की जाती है और बैंक विशेष के सम्मुख उसकी नीति के दुष्परिणाम स्पष्ट कर दिये जाते हैं। इस उपाय का आधार यह है कि केन्द्रीय बैंक देश की बैंकों का एक प्रकार से नेतृत्त्व करती है और इस नाते उसे सलाह देने तथा पथ-प्रदर्शन करने का अधिकार होता है। यह प्रणाली इसलिए अच्छी है कि इसका उपयोग सीधी कार्यवाही की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता है, परन्तु उसको केवल उसी देश में अधिक सफलता मिलती है जिसमें थोड़ी सी ही संख्या में बड़ी-बड़ी बैंक हों, जिनसे केन्द्रीय बैंक का घनिष्ट सम्बन्ध रहे। भारत में यह नीति बहुत सफल नहीं रह सकती है, क्योंकि रिजर्व बैंक के लिए प्रत्येक बैंक को अलग-अलग समझाना कठिन है।

(५) प्रतिभूति ऋणों की आवश्यकता सीमा में परिवर्तन (Changes in Margin Requirements on Security Loans)—यह भी साख के गुणात्मक नियन्त्रण का ही एक उपाय है और इसका उपयोग साधारणतया उस साख के नियन्त्रण हेतु किया जाता है जो सट्टा प्रतिभूतियों के लिए निर्मित किया जाता है। इस प्रणाली का आविष्कार भी अमरीका में हुआ था। इस प्रणाली में केन्द्रीय बैंक को ऐसे वैधानिक अधिकार दे दिये जाते हैं कि वह बैंकों द्वारा सट्टा बाजार को दिये जाने वाले ऋणों की मात्रा के सम्बन्ध में नियम बना सके, जिससे कि उस बाजार के लिए नियन्त्रित मात्रा में ही साख मिल सके। यह सट्टा बाजार पर नियन्त्रण रखने का एक सप्रभाविक उपाय है।

(६) उपभोक्ता साख का नियमन (Regulation of Consumer Credit)—इस रीति का उपयोग सर्वप्रथम दूसरे महायुद्ध के काल में अमरीका में रक्षा-उद्देश्य से किया गया था। केन्द्रीय बैंकिंग प्रणाली को यह अधिकार दिया गया था कि वह ऐसे नियम बनाये कि जिनके आधार पर उपभोक्ताओं को किश्तों पर थोड़ी-थोड़ी करके साख सुविधाएं दी जा सकें। युद्ध के पश्चात् कनाडा ने इस प्रणाली को अपनाया। ऐसी व्यवस्था की गई कि बैंकों को स्थायी उपभोगीय वस्तुओं की १०% कीमत नकदी में देनी पड़ती थी। परिणाम यह होता था कि प्रत्येक ऋण का एक भाग अनिवार्य रूप में नकदी में चुकाना आवश्यक था और साख विस्तार एक निश्चित सीमा के परे नहीं हो पाता था।

(७) विज्ञापन तथा प्रचार (Publicity)—यह भी समझाने का ही एक उपाय है। इसका आधार यह है कि वर्तमान युग में किसी भी नीति के प्रति एक

सप्रभाविक जनमत तैयार करके उसकी सफलता को अधिक अंश तक निश्चित किया जा सकता है। केन्द्रीय बैंक प्रचार द्वारा यह दिखाने का प्रयत्न करती है कि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के हितों को देखते हुये साख सम्बन्धी कौनसी नीति अधिक उपयुक्त है और कौन-कौनसी बैङ्क उस नीति का पालन नहीं करती हैं।

(८) अन्य उपाय—विगत वर्षों में युद्धकालीन मुद्रा-प्रसार के विरुद्ध साख नियन्त्रण की और भी कई रीतियों का उपयोग किया गया है। उदाहरणस्वरूप, कुछ देशों ने विदेशी ऋणों को प्राप्त करके मुद्रा-प्रसार को रोकने का प्रयत्न किया है। लङ्का की केन्द्रीय बैङ्क ने व्यापार बैङ्कों को प्राप्त विदेशी आदेय कम मात्रा में बाहर भेजने की सलाह दी है। कनाडा ने लचीली (Flexible) विनिमय दरों को ग्रहण किया है और अनुसूचित बैंकों को निक्षेप प्रमाण-पत्र (Deposit Certificates) दिये हैं।

इस प्रकार साख नियन्त्रण के उपाय अनेक प्रकार के हो सकते हैं। इनमें कुछ तो तुरन्त फल प्रदान करते हैं और कुछ थोड़े समय पश्चात्, कुछ कठोर होते हैं और कुछ उदार ; प्रत्येक देश अपनी आवश्यकता और अर्थ-व्यवस्था की स्थिति के अनुसार उपायों को चुनता है। इस सम्बन्ध में केवल इतना कहा जा सकता है कि प्रत्येक उपाय का उपयोग सोच-समझ कर करने की आवश्यकता है। यह अविवेचक (Indiscriminate) नहीं होना चाहिये।

साख नियन्त्रण की कठिनाइयाँ (Difficulties of Credit Control)—

विभिन्न उपायों का उपयोग करके भी यह आवश्यक नहीं है कि देश में साख की मात्रा पर आवश्यक अंश तक नियन्त्रण रखा जा सके। साख नियन्त्रण के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं :—

(१) साख के विभिन्न रूपों पर नियन्त्रण रखने की कठिनाई—केन्द्रीय बैंक केवल बैंक साख (Bank Credit) को ही नियन्त्रित करने का प्रयत्न करती है, परन्तु बैंक साख ही साख का एक मात्र रूप नहीं है। इसके अतिरिक्त पुस्तकीय साख, विनिमय बिलों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों आदि के रूप में वाणिज्य साख भी होती है। ये भी बैंक साख की भाँति मुद्रा होते है। किन्तु इन पर केन्द्रीय बैंक का नियन्त्रण नहीं होता है।

(२) सभी बैंकों पर नियन्त्रण का अभाव—बैङ्क साख पर केन्द्रीय बैङ्क का पूर्ण नियन्त्रण नहीं हो सकता है, क्योंकि देश की सभी बैंकों का केन्द्रीय बैंक से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है। अमरीका में लगभग आधी व्यापार बैंक केन्द्रीय बैंक के प्रभाव-क्षेत्र से बाहर हैं। भारत में भी लगभग सभी देशी बैंकर रिजर्व बैंक से किसी प्रकार सम्बन्धित नही हैं।

(३) सहयोग प्राप्त करने में कठिनाई—यदि व्यापार बैङ्क केन्द्रीय बैङ्क से प्रत्यक्ष रूप में सम्बन्धित है तब भी यह आवश्यक नहीं है कि वे केन्द्रीय बैंक को सह-

योग दें और जब तक केन्द्रीय बैंक को अन्य बैंकों का सहयोग प्राप्त न होगा, वह साख नियन्त्रण में सफल न हो सकेगी।

(४) गैर-वित्तीय संस्थाओं का प्रभाव—देश के वित्तीय कलेवर में कुछ ऐसी गैर-वित्तीय संस्थायें भी होती हैं जो साख तथा बैंकों की साख निर्माण नीति पर बहुत प्रभाव डालती हैं, किन्तु इन पर केन्द्रीय बैंक का किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं हो सकता है।

(५) साख के अन्तिम उपयोग पर नियन्त्रण का अभाव—केन्द्रीय बैंक साख के अन्तिम उपयोग पर नियन्त्रण नहीं रख सकती है। यदि सट्टे के लिए ऋण नहीं दिये जाते हैं तो यह सम्भव है कि वाणिज्य कार्यों के हेतु लिए हुए ऋण सट्टा बाजार को हस्तान्तरित हो जायँ।

QUESTIONS

1. केन्द्रीय बैंक किसे कहते हैं ? मुद्रा और साख को यह बैंक किस प्रकार नियन्त्रित करती है, बतलाइये। (Agra, B. A., 1958)

2. What are the functions of a Central Bank ? How does it control the volume of currency and credit. (Agra, B. Com., 1957)

3. What are the main functions of the Central Bank ? How does it co-ordinate currency and credit. (Alld., B. A., 1955)

4. What are the functions of a central bank ? How does it control commercial banks ? (Bihar, B. A., 1958)

5. How does a central bank control the volume of currency and credit in a country ? (Sagar, B. A., 1958)

6. Show how the central bank of country controls credit ? Point out the limitations on its power of controlling credit. (Agra, B. A., 1956)

7. Explain Bank Rate and discuss its effects on the external and the internal situations of a country. Can it operate effectively in India ? (Raj., B. Com., 1954)

8. Write short note on : Bank Rate
(Agra, B. A., 1956 & 1955 Supp.; Raj., B. Com., 1956;
(Agra, B. Com., 1958, 1956 & 1954)
Open Market operations (Agra, B. A., 1956 Supp.)

9. What is Bank Rate ? Discuss the effects of changes of such a rate on industry and trade in a country.

(Agra, B. Com., 1957, 1956 Supp. & 1955)

10. केन्द्रीय अधिकोष देश की मुद्रा एवं साख नीति का नियंत्रण किस प्रकार करता है ? (Sagar, B. Com., 1958)

11. केन्द्रीय अधिकोष के मुख्य कार्य क्या होते हैं ? केन्द्रीय अधिकोष व्यापारी अधिकोषों द्वारा निर्मित साख को राशि को कैसे नियंत्रित करता है।

(Sagar, B. Com., 1957)

12. केन्द्रीय बैंक से आप क्या समझते हैं ? उसके द्वारा साख का नियंत्रण किस प्रकार होता है ? (Jabalpur, B. A., 1958)

13. Examine the comparative importance of discount rate and open market operations as methods of credit control. State the reasons why the discount rate policy is less important today than what is was under the gold standard. (Agra, B. Com., 1953)

14. Enumerate the main difficulties in the way of and limitations to the central bank's power of controlling oredit.

(Bombay, B. Com., 1956)

15. How does a modern central bank control the quantity and quality of credit ? (Bombay, B. Com., 1955)

16. Describe the chief functions of a central bank. Explain the methods by which the central bank controls the volume of credit. (Agra, B. Com., 1949 ; Raj., B. Com., 1952)

17. Discuss the objects and methods of credit control employed by a central bank.

किसी केन्द्रीय अधिकोष के साख नियंत्रण के उद्देश्यों एवं पद्धतियों की विवेचना कीजिए। (Agra, B. Com., 1959)

18. केन्द्रीय बैंक के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिए और बतलाइये कि यह साख का नियन्त्रण (क) बाजार में खुले रूप से कार्य करके तथा (ख) बैंक दर के द्वारा किस प्रकार करता है ? (Agra, B. A., 1950)

अध्याय १८

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

(The International Monetary Fund)

प्रारम्भिक—

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् संसार के प्रायः सभी देशों को मौद्रिक तथा विनिमय दर सम्बन्धी अस्थिरता का कटु अनुभव हुआ था। युद्धकालीन मुद्रा-प्रसार के कारण सभी देशों की आर्थिक व्यवस्था बिगड़ गई थी। विदेशी व्यापार में अनेक असुविधायें और बाधायें उत्पन्न हो गई थीं, जिससे उसकी मात्रा काफी अंश तक घट चुकी थी। कीमतों की उथल-पुथल के कारण केवल विदेशी व्यापार में ही नहीं, राष्ट्रों के आन्तरिक व्यापार में भी कठिनाइयाँ थीं। *प्रत्येक देश दूसरे देशों के हितों पर ध्यान दिए बिना स्वार्थी आर्थिक नीति को अपनाता था। विनिमय अवमूल्यन तथा विनिमय नियन्त्रण सभी देशों की आर्थिक नीति के आवश्यक अंग बन गए थे और एक-दूसरे की देखा-देखी सभी देश एक-दूसरे का गला काटने पर तैयार थे।* इस काल में अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग के स्थान पर पारस्परिक स्पर्धा का ही जोर था और प्रत्येक देश दूसरों को धोखा देकर अपना उल्लू सीधा करना चाहता था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का गला घुटता जाता था और आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था अस्थिरता के थपेड़ों से व्याकुल थी।

निस्सन्देह ऐसी व्यवस्था का बना रहना राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय हितों के लिए घातक था। *आरम्भ से ही कुछ देश अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की किसी समुचित योजना द्वारा इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न कर रहे थे, परन्तु दूसरे महायुद्ध के काल में तो इस दिशा में विशेष प्रयत्न किया गया।* सभी जानते थे कि युद्धकालीन विध्वंस के कारण युद्धोत्तर-काल में आर्थिक पुनर्वासन तथा पुनर्निर्माण की ऐसी गम्भीर समस्यायें उत्पन्न होंगी जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, विदेशी व्यापार के विकास तथा विभिन्न देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के समुचित प्रवाह के बिना हल करना सम्भव न था। साथ ही, ऐसा भी अनुभव किया गया था कि आधुनिक युद्ध आर्थिक कारणों के ही परिणाम होते हैं। *विभिन्न राष्ट्रों के आर्थिक विकास-स्तरों में समानता लाए बिना तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की किसी समुचित योजना के कार्यरूप दिये बिना भविष्य में युद्ध की सम्भावना का अन्त करना सम्भव न था।* युद्ध के काल में ही अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की योजनाओं

का निर्माण आरम्भ हुआ। ब्रिटिश कोषागार, अमरीकन सरकार तथा कनाडा ने इस सम्बन्ध में अपनी-अपनी योजनायें संसार के सम्मुख रखीं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना—

समस्या पर विचार करने के लिए जुलाई सन् १९४४ में अमरीकन सरकार ने ब्रेटन वुड्स (Bretton Woods) नामक स्थान पर एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिषद् बुलाई। इस परिषद् में ४४ मित्र राष्ट्रों ने अपने प्रतिनिधि भेजे। *परिषद् ने एक योजना को स्वीकार किया। परिषद् के सुझाव दो भागों में बाँटे गए हैं :—* (i) पहले भाग में एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष, जिसे संक्षेप में मुद्रा-कोष (I. M. F.) भी कहा जाता है, की स्थापना का प्रस्ताव था। (ii) दूसरे भाग में इसी प्रकार एक अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक, जिसे संक्षेप में विश्व बैंक (World Bank) भी कहा जाता है, की योजना प्रस्तुत की गई थी।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य—

कोष सम्बन्धी समझौते की धारा १ के अनुसार मुद्रा-कोष के उद्देश्यों को निम्न प्रकार बताया गया है :—

(१) "एक स्थाई संस्था द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की उन्नति करना............।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार और संतुलित विकास को सुविधाजनक बनाना और इस प्रकार सभी सदस्य देशों में रोजगार के ऊँचे स्तरों को स्थापित करना और बनाये रखना............।

(३) विनिमय स्थिरता को उत्पन्न करना, सदस्यों के बीच नियमित विनिमय व्यवस्थाओं का बनाए रखना और प्रतियोगी विनिमय अवमूल्यन को रोकना............।

(४) सदस्यों के बीच चालू व्यवसायों के सम्बन्ध में बहु-देशीय भुगतान प्रणाली की स्थापना करना तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धी प्रतिबन्धों को हटाने में उनकी सहायता करना............।

(५) समुचित सुरक्षा के अन्तर्गत सदस्य देशों के लिए कोष के साधनों को उपलब्ध करके उनमें विश्वास उत्पन्न करना और इस प्रकार उन्हें, ऐसे उपायों को किए बिना, जो राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय वैभव को नष्ट करते हैं, अपने शोधनाशेष की त्रुटियों को दूर करने का अवसर देना............।

(६) उपरोक्त व्यवस्थाओं के अनुसार सदस्यों के अन्तर्राष्ट्रीय शोधनाशेष के असन्तुलन की अवधि और उसके अंश को कम करना।"

अभ्यंश और चन्दे—

कोष के कुल साधनों का योग १,००० करोड़ डालर नियत किया गया है।

इसमें से विभिन्न सदस्य देशों के अभ्यंश निश्चित किये गये हैं। बड़े-बड़े देशों के अभ्यंश (Quotas) निम्न प्रकार हैं:—

	(करोड़ डालर में)		(करोड़ डालर में)
संयुक्त राज्य अमरीका	२७५	चीन	५५
ब्रिटेन	१३०	फ्रांस	५२·२५
रूस	१२०	भारत	४०
कनाडा	३०	आस्ट्रेलिया	२०
दक्षिणी अफ्रीका	१०	पाकिस्तान	१०

इसी प्रकार अन्य सम्मिलित होने वाले देशों के चन्दे भी निश्चित कर दिये गए थे। *जो देश परिषद् में सम्मिलित नहीं हुए थे उनको बाद में मुद्रा-कोष की योजना में सम्मिलित होने का अधिकार दिया गया था और उनका चन्दा मुद्रा-कोष निश्चित करता है।* प्रत्येक ५ वर्ष पश्चात् $\frac{4}{5}$ बहुमत से मुद्रा कोष किसी भी देश के अभ्यंश को बदल सकता है, परन्तु इसके लिए सदस्य देश की अनुमति आवश्यक होती है। सदस्य की प्रार्थना पर भी चन्दे में परिवर्तन किए जा सकते हैं। प्रत्येक देश को अपने चन्दे का $\frac{1}{4}$ अथवा सरकारी स्वर्ण तथा डालर जमा का $\frac{1}{10}$ सोने में देना होता है और शेष वह अपनी मुद्रा में दे सकता है। स्वर्ण के अतिरिक्त शेष चन्दा मुद्रा कोष के अभिकर्त्ता के रूप में सदस्य देश की केन्द्रीय बैंक के पास ही रखा जाता है।

कोष का विधान तथा प्रबन्ध—

धारा १२ के अनुसार *कोष के कार्य-संचालन के लिए एक गवर्नर मण्डल (Board of Governors), कार्यकारिणी संचालक (Executive Director), प्रबन्धक डायरेक्टर तथा स्टॉफ होगा।* कोष का दिन प्रति दिन का कार्य कार्यकारिणी संचालक समिति द्वारा किया जाता है। इस समिति के १२ सदस्य होते हैं, जिनमें से ५ स्थाई और ७ अस्थाई होते हैं। प्रथम ५ उन पाँच बड़े-बड़े राष्ट्रों द्वारा नियुक्त किए जाते हैं जिनके अभ्यंश सबसे अधिक हैं, २ की नियुक्ति लेटिन अमरीका के देशों द्वारा की जाती है और शेष का अन्य सदस्य देशों द्वारा अनुपाती प्रतिनिधित्व प्रणाली के अन्तर्गत निर्वाचन होता है, जिसमें प्रत्येक सदस्य को २५०+ प्रत्येक १ लाख डालर अभ्यंश या उसके भाग के साथ एक और मत का अधिकार होता है। आरम्भ में अमरीका, ब्रिटेन, रूस, चीन तथा फ्रांस को स्थाई सदस्य नियुक्त करने का अधिकार था, किन्तु रूस के सदस्यता छोड़ने के पश्चात् भारत पाँचवे नम्बर पर आ गया है। कोई भी सदस्य देश साधारण सूचना देकर कोष की सदस्यता छोड़ सकता है। *कोष का प्रधान कार्यालय अमरीका में है, परन्तु इसकी शाखायें सदस्य देशों में स्थापित की जा सकती हैं।* संचालक समिति एक-मत प्रस्ताव द्वारा कोष के कार्य को अधिक से अधिक १२० दिन के लिए स्थगित भी कर सकती है।

कोष का कार्यालय तथा संग्रहालय (Office and Depositories of the Fund)—

विधान के अनुसार कोष का प्रधान कार्यालय उस सदस्य देश में रहेगा जिसका अभ्यंश (Quota) सबसे अधिक है, अर्थात् संयुक्त राज्य अमरीका। शाखाएँ किसी भी सदस्य देश में खोली जा सकती हैं। मुद्रा-कोष के पास जो स्वर्ण रहता है उसका आधा ऐसे संग्रहालय (Depository) में जमा रहेगा जो सबसे बड़े अभ्यंश वाले देश द्वारा सूचित किया जायगा। शेष आधे का ८०% अर्थात् कुल का ४०% उन चार देशों में रखा जायगा जिनके कोटे सबसे बड़े हैं।

विभिन्न करैन्सियों की समता दरों का निर्धारण—

समझौते की धारा ४ के अनुसार प्रत्येक सदस्य देश को अपने चलन की कीमत स्वर्ण अथवा अमरीकन डालर में (जैसा कि वह १ जुलाई सन् १९४४ को था) परिभाषित करनी होती है। इस प्रकार प्रत्येक देश के चलन का स्वर्ण मूल्य निश्चित हो जाने के पश्चात् विनिमय दरों के निर्धारण में कोई कठिनाई नहीं रहती है। इस प्रकार ब्रिटन वुड्स योजना के अनुसार स्वर्ण के द्वारा विश्व के विभिन्न राष्ट्रों की करैन्सियों के विनिमय की सम-मूल्य दर (Par values) निश्चित हो जाती है। किसी सदस्य द्वारा स्वर्ण के क्रय-विक्रय के लिये कोष इस तुल्यता (Parity) से एक अधिकतम और एक निम्नतम सीमा तय कर देता है, जिनके बीच में ही सदस्य अपनी करैन्सियों का अवमूल्यन या अधिमूल्यन कर सकते हैं। इस प्रकार प्रतियोगी अवमूल्यन का भय दूर हो गया है और विनिमय दरों में अधिक स्थिरता आ गई है। एक बार निर्धारित की गई विनिमय दर में सदस्य देश की प्रार्थना पर १०% तक का परिवर्तन किया जा सकता है। इसमें कोष को इन्कार करने का अधिकार नहीं है। इसके पश्चात् कोष से आज्ञा लेकर सदस्य विनिमय दर में और भी १०% का परिवर्तन कर सकता है, परन्तु कोष के लिए आज्ञा लेना अनिवार्य नहीं है। २०% से ऊपर के प्रत्येक परिवर्तन के लिए सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत की अनुमति आवश्यक होती है। इस नियम का पालन करने पर कोष सदस्य देश को कोष के साधनों का उपभोग करने से रोक सकता है अथवा सदस्यता से हटा सकता है। अतः स्पष्ट है कि कोष ने विभिन्न राष्ट्रों को अपनी आर्थिक सामाजिक तथा अन्य घरेलू समस्याओं को हल करने के लिए समय-समय पर, अपनी करेन्सी के विनिमय मूल्य में घटा-बढ़ी करने की आजादी दे रखी है और प्रायः वह इस प्रकार की घटा-बढ़ी करने में कोई हस्तक्षेप नहीं करता है, किन्तु किसी भी देश को यकायक लाभ प्राप्ति अथवा किसी अन्य उद्देश्य को पूरा करने के लिए परिवर्तन करने का अधिकार न होगा। *इस प्रकार अब स्पर्धात्मक विनिमय अवमूल्यन (Competitive Exchange Depreciation) की सम्भावना बहुत कम हो गई है। इस योजना का उद्देश्य ही यह है कि किसी देश की विनिमय दर में परिवर्तन केवल उसके आन्तरिक मूल्य और आमदनी के स्तर के अनुसार ही हो।*

आरम्भ में भारत ने अपने रुपये का स्वर्ण मूल्य ०·२६८६०१ ग्राम विशुद्ध स्वर्ण निश्चित किया था। डालर में उसका मूल्य ३०·२५ सेन्ट रखा गया था। सन् १९४९ में उसने कोष की सहमति से अपनी करेन्सी में ३०·५% का अवमूल्यन किया था, जिससे रुपये का स्वर्ण मूल्य व डालर मूल्य क्रमशः ०·१८६६२१ ग्राम विशुद्ध सोना और २१ सेन्ट हो गया है।

सदस्यों को कोष से विदेशी विनिमय क्रयः अधिकार—

मुद्रा कोष के सदस्यों को कोष से विदेशी विनिमय खरीदने का अधिकार है। कोष के लिए यह अनिवार्य है कि वह सदस्य देश की माँग होने पर उसकी मुद्रा और स्वर्ण के बदले किसी अन्य देश की मुद्रा का प्रबन्ध करे। परन्तु इस सम्बन्ध में एक शर्त है। किसी भी समय कोष के पास उस सदस्य की मुद्रा की मात्रा उसके कोटे से २००% से अधिक नहीं होनी चाहिए। उदाहरण के लिए, किसी देश का २००% मि० डालर का कोटा है, जिसमें से उसने ५० मि० डालर का सोना व १५० मि० डालर की अपनी मुद्रा कोष को प्रदान की है। अब यह देश मुद्रा कोष से २५० मि० डालर से अधिक की मुद्रा नहीं ले सकेगा (४०० — १५० = २५०)। इस प्रकार २५० मि० डालर की विदेशी मुद्रा के बढ़ने के बदले, जो कोष उस देश को देता है, कोष के पास उस देश की ४०० मि० (२५०+१५०) डालर की मुद्रा+५० मि० डालर का सोना रहता है। सदस्य देश को यह लाभ है कि उसे केवल ५० मि० डालर का सोना रख कर ही २५० मि० डालर की विदेशी मुद्रा प्राप्त हो जाती है। इस क्रय के बारे में एक अन्य शर्त यह भी है कि कोई देश बारह महीनों के भीतर कोष से अपने चलन (मुद्रा) के बदले में अपने कोटे के २५% से अधिक नहीं खरीद सकता है। ऊपर दिये गये उदाहरण में वह देश किसी एक वर्ष में ५० मि० डालर से अधिक विदेशी मुद्रा नहीं खरीद सकता। ये प्रतिबन्ध इसलिए लगाये गये हैं ताकि (i) कोष में अल्प मुद्रायें जल्दी समाप्त न हों और (ii) सदस्य देश स्वयं अपनी स्थिति को सुधारने का प्रयत्न भी करें। किन्तु संकट या अत्यधिक आवश्यकता के काल में ये शर्तें ढीली की जा सकती हैं।

इस दृष्टिकोण से कि कोई भी सदस्य बिना आवश्यकता अथवा बार-बार कोष से विदेशी विनिमय न खरीदे, ऐसी व्यवस्था की गई है कि जैसे-जैसे मुद्रा-कोष का ऋण बढ़ता जाता है, ऋणी सदस्य को निरन्तर बढ़ती हुई दरों पर ब्याज देना पड़ता है। यह दर ½% से आरम्भ होकर २½% तक जाती है। कोष इस बात में बड़ा सतर्क रहता है कि उससे लिए गये ऋणों का उपयोग किसी ऐसे कार्य के लिए न किया जाय जोकि कोष के उद्देश्यों के विरुद्ध हो।

अन्य मुद्रायें—

आरम्भ में ही ऐसा अनुमान लगा लिया गया था कि युद्धोत्तर काल में कुछ मुद्राएँ दुर्लभ हो जायँगी और इस प्रकार ऐसी सम्भावना उत्पन्न हो जायगी कि मुद्रा

कोष अपने ही साधनों द्वारा ऐसी मुद्राओं की माँग पूरी न कर सके। डालर के विषय में ऐसा अनुमान बहुत पहले से किया जा सकता था। इस स्थिति के लिए यह व्यवस्था की गई है कि जिस मुद्रा की मांग को कोष अपने साधनों में से पूरा नहीं कर सकता है उसे वह देश विशेष से उधार ले सकता है। यदि उधार नहीं मिलता है तो वह उसे सोना देकर खरीद सकता है, परन्तु यदि फिर भी मांग को पूरा करना सम्भव नहीं है तो कोष सदस्य देशों को मुद्रा विशेष की दुर्लभता के कारणों की सूचना देकर उसकी प्राप्त पूर्ति का राशन कर सकता है और आँशिक रूप में सबकी थोड़ी-थोड़ी माँग पूरी कर सकता है।

कोष के साधनों की तरलता—

इस बात की सम्भावना रहती है कि ऋणी देश अपनी मुद्रा के बदले में अन्य मुद्रा खरीदते चले जायें, जिससे कोष के पास ऐसी मुद्राओं की पूर्ति बढ़ जाय, जिनकी माँग नहीं है और ऐसी मुद्राओं की पूर्ति समाप्त हो जाय जिनकी माँग बहुत है। यदि ऐसा हुआ, तो कोष एक रक्षित कोष का कार्य नहीं कर सकेगा। अतः साधनों में तरलता रखने के उद्देश्य से तीन उपाय रखे गये हैं :—(i) जो सदस्य देश स्वर्ण के बदले कोई विदेशी मुद्रा खरीदना चाहता है, तो वह ऐसा कर सकता है। (ii) यदि किसी सदस्य देश की मुद्रा कोष के पास उसके कोटे से अधिक है, तो वह देश अपनी अतिरिक्त मुद्रा को कोष से सोना देकर खरीद सकता है। (iii) प्रत्यैक सदस्य देश प्रति वर्ष स्वर्ण या परिवर्तनीय मुद्रा के बदले कोष के पास जितनी उसकी मुद्रा है उसका कुछ भाग पुनः खरीदेगा। इस पुनः खरीदने के नियम द्वारा ही कोष के साधन तरल अवस्था में बने रहते हैं।

सदस्यों पर प्रतिबन्ध—

मुद्रा कोष इस विषय में बड़ा सतर्क रहता है कि उससे उधार ली हुई राशि का समुचित उपयोग हो और साथ ही कोष के अन्य उद्देश्यों की भी पूर्ति हो। इस बात को ध्यान में रखकर सदस्यों पर निम्न प्रतिबन्ध लगाए गये हैं :—(i) कोष से आज्ञा प्राप्त किए बिना कोई भी सदस्य देश अपनी मौद्रिक नीति को नहीं बदल सकता है। (ii) कोई भी सदस्य देश केवल कोष द्वारा निर्धारित दरों पर ही स्वर्ण खरीद अथवा बेच सकता है। (iii) प्रत्यैक देश केवल कोष द्वारा निर्धारित विनिमय दरों पर ही विदेशी विनिमय व्यवसाय कर सकता है। (iv) सदस्य देशों को चालू अन्त-र्राष्ट्रीय भुगतान के सम्बन्ध में भुगतान सम्बन्धी किसी प्रकार का प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार नहीं है। (v) कोष से उधार ली हुई राशि का उपयोग इस प्रकार नहीं किया जा सकता है कि वह कोष के उद्देश्य के विपरीत हो।

मुद्रा कोष में स्वर्ण का स्थान—

किसी भी सदस्य देश को स्वर्णमान स्थापित करने पर बाध्य नहीं किया जाता है। प्रत्यैक सदस्य को केवल अपने चलन का स्वर्ण-मूल्य घोषित करना होता है। स्वर्ण

कीमतों के सामूहिक मापक का कार्य करता है और प्रत्येक देश को निश्चित कीमतों पर सोने को खरीदने और बेचने का वायदा करना पड़ता है। मुद्रा-कोष की व्यवस्था के स्वर्ण से तीन सम्बन्ध हैं :—(i) प्रत्येक सदस्य को अपने अभ्यंश का एक भाग स्वर्ण में देना होता है। (ii) प्रत्येक सदस्य देश को चलन का प्रारम्भिक मूल्य स्वर्ण में निर्धारित करना होता है और (iii) किसी मुद्रा की दुर्लभता की दशा में उसे स्वर्ण में खरीदने की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त कोष नियत दरों पर सोना खरीदने को सदा तैयार रहता है।

क्या कोष का निर्माण स्वर्णमान पर वापिस आना है? कुछ अर्थशास्त्रियों ने कोष का निर्माण स्वर्णमान पर वापिस आना (Return to Gold Standard) कहा है; क्योंकि कोष योजना और स्वर्णमान में निम्न समानतायें हैं :—(i) स्वर्णमान वाले देशों की तरह ही इस कोष में भी विभिन्न देशों की करैन्सियों के मध्य प्रारम्भिक विनिमय दर स्वर्ण के आधार पर ही तय की जाती है। (ii) कोष की योजना में भी स्वर्ण का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है (ऊपर पढ़िए), अतः इस योजना में स्वर्ण का अमुद्रीकरण (Demonetisation) नहीं किया गया है। (iii) स्वर्णमान में एक देश अपनी लेन-देन की बाकी का संतुलन सारे संसार से एक बार में ही करता है। इसी तरह कोष प्रणाली भी प्रत्येक देश से अलग-अलग समन्वय कराके बहुपक्षी भुगतान पद्धति को बढ़ावा देती है, क्योंकि कोष द्वारा निश्चित सम-मूल्य दरों पर मुद्राओं को बदला जा सकता है। (iv) वह देश जो कोष से अन्ततः विदेशी मुद्राओं का खरीदने वाला है उसकी अवस्था स्वर्णमान में एक स्वर्ण खोने वाले देश के समान होती है, जबकि कोष को अन्ततः अपनी मुद्रा बेचने वाले राष्ट्र की स्थिति स्वर्णमान में स्वर्ण प्राप्त करने वाले देश के समान होती है। विदेशी मुद्रा खरीदने वाले देश में मुद्रा संकुचन के और अपनी मुद्रा बेचने वाले देश में मुद्रा प्रसार के लक्षण प्रगट होने लगते हैं। (v) स्वर्णमान के अन्तर्गत तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के आधार पर व्यापार होता है, जिसमें कोई विशेष बाधा नहीं पड़ती है, किन्तु योजना के अन्तर्गत फिलहाल परिवर्तनकाल में विनिमय नियन्त्रणों से विदेशी व्यापार में रुकावट पड़ेगी, किन्तु कोष को आशा है कि विभिन्न राष्ट्र इन नियन्त्रणों को शीघ्र हटा लेगें और तब विदेशी व्यापार तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त से ही कम अधिक मात्रा में नियन्त्रित होने लगेगा।

यद्यपि कोष योजना में स्वर्णमान के अनेक गुण हैं तथापि वह पूर्णरूपेण स्वर्णमान नहीं है और यह कहा जा सकता है कि कोष का निर्माण स्वर्णमान पर आना है, क्योंकि इस योजना में स्वर्णमान के दोष नहीं हैं, जैसे—(i) स्वर्णमान में विनिमय दर अत्यन्त निश्चित (Rigid) सी होती है और उसे स्वर्ण के आयात-निर्यात द्वारा कायम रखा जाता है, लेकिन कोष योजना के अन्तर्गत परिस्थिति बदलने पर विभिन्न राष्ट्र कुछ सीमा तक विनिमय दर बदल सकते हैं। (ii) स्वर्णमान में प्रत्येक देश को अपना आन्तरिक मूल्य-स्तर अन्य देशों के समान रखना पड़ता है और स्वर्ण

के आयात निर्यात द्वारा परस्पर लेनी-देनी का सन्तुलन रखा जाता है, जिससे साख संकुचन एवं साख प्रसार का सिलसिला चलता है, लेकिन कोष योजना के अन्तर्गत प्रत्येक देश अपनी आन्तरिक आर्थिक नीति के बारे में स्वतन्त्र रहता है और कोष की सहायता से, अपनी साख व्यवस्था को प्रभावित किये बिना, अन्य देशों से अपनी लेना-देना नियत कर लेता है।

आय का वितरण—

मुद्रा कोष को जो आय प्राप्त होती है उसका २% उन देशों में बाँट दिया जाता है जिनकी चलन के दूसरे देशों द्वारा उधार लिए जाने के कारण कोष के पास उनकी चलन का संचय उनके अभ्यंश के ७५% से कम रह गया हो। शेष आय सदस्य देशों के बीच उनके अभ्यंशों के अनुपात में बाँट दी जाती है। मुद्रा-कोष प्रत्येक सदस्य देश को लाभ का हिस्सा देश विशेष के ही चलन में चुकाता है।

कोष का कार्य-क्षेत्र—

मुद्रा-कोष को निजी संस्थाओं तथा व्यक्तियों के साथ व्यवसाय करने का अधिकार नहीं दिया गया है। एक सदस्य देश कोष के साथ केवल अपनी केन्द्रीय बैंक, स्थिरता कोष (Stabilization Fund) अथवा अन्य किसी मौद्रिक संस्था के द्वारा ही व्यवसाय कर सकता है और इसी प्रकार मुद्रा कोष भी इन्हीं संस्थाओं के द्वारा व्यवसाय कर सकता है। *कोष को शोधनाशेष के सन्तुलन के लिये सदस्य देश की भीतरी अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है।* कोष अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की एक अच्छी संस्था है और यह सदस्य देशों को ऋण के रूप में सहायता देकर उनके शोधनाशेष के घाटे को दूर करता है, परन्तु *कोष केवल अल्प-कालीन ऋण ही दे सकता है और वे भी केवल व्यापाराशेष के अस्थाई असंतुलन को दूर करने के लिए।*

संक्रान्तिकालीन सुविधायें (Facilities during the Transitional Period)—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष विदेशी विनिमय तथा विदेशी व्यापार सम्बन्धी सभी प्रतिबन्धों के विरुद्ध है, परन्तु सदस्य देशों को संक्रातिकाल में विनिमय नियंत्रण, संरक्षण तथा अन्य प्रतिबन्धों के बनाने रखने का अधिकार दिया गया है, यद्यपि यह आशा प्रकट की गई है कि प्रत्येक सदस्य इन्हें शीघ्र से शीघ्र हटाने का प्रयत्न करेगा। संक्रान्तिकाल के अन्त की घोषणा पर सदस्य देशों को अनिवार्य रूप में सभी प्रतिबन्ध हटाने होंगे। प्रत्येक देश को यह अधिकार है कि प्रत्येक प्रतिबन्ध की आवश्यकता अथवा वाँछनीयता कोष के सम्मुख रखे और नियन्त्रण के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत करे। किन्तु कोष तथा सदस्य के बीच नियन्त्रण के सम्बन्ध में मतभेद होने की दशा में सदस्य देश को सदस्यता छोड़नी पड़ेगी।

सदस्यता का परित्याग—

कोई भी सदस्य देश किसी भी समय लिखित सूचना देकर कोष की सदस्यता का परित्याग कर सकता है। कोष को त्याग-पत्र अस्वीकार करने का अधिकार नहीं है। *त्याग-पत्र उसी समय से कार्यशील समझा जायगा जबकि वह कोष को प्राप्त हुआ है। कोष के नियमों का पालन न करने अथवा आदेशों का उलंघन करने की दशा में सदस्यता समाप्त भी की जा सकती है।*

कोष व बैंकिंग कोष—

जिस प्रकार किसी देश का केन्द्रीय बैंक वहाँ की अन्य सब बैंकों का बैंक होता है उसी प्रकार विश्व की समस्त केन्द्रीय बैंकों का बैंक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष है। केन्द्रीय बैंक में अन्य बैंकों के रक्षित कोष एकत्रित रखे जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष भी सदस्य देशों के केन्द्रीय बैंक के साधनों को एक जगह एकत्र कर लेता है। किन्तु कोष और केन्द्रीय बैंकों में निम्न अन्तर भी हैं :—(i) केन्द्रीय बैंक तो एक ही प्रकार की (स्वदेशी) मुद्रा एकत्र करता है, लेकिन मुद्रा कोष विभिन्न देशों की मुद्राओं का कोष रखता है। (ii) मुद्रा कोष केन्द्रीय बैंकों की तरह किसी नई मुद्रा का निर्माण नहीं कर सकता है। (iii) मुद्रा कोष का अपने सदस्य देशों की आन्तरिक आर्थिक नीति का निर्धारण करने में कोई हाथ नहीं होता है, जबकि केन्द्रीय बैंक सदस्य व्यापारिक बैंकों की साख नीति पर पूर्ण नियन्त्रण रखती हैं।

भारत और मुद्रा कोष—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिषद् में भारत ने अपनी ओर से ही दो प्रस्ताव प्रस्तुत किए थे :—(i) यह कि भारत को मुद्रा-कोष की कार्यकारिणी में स्थाई स्थान दिया जाय और (ii) यह कि भारत के पौंड-पावना ऋणों को मुद्रा-कोष के कार्य-क्षेत्र में सम्मिलित किया जाय। ये दोनों ही प्रस्ताव अस्वीकार कर दिए गए थे, इसलिए भारत ने सदस्यता प्राप्त करने में भारी संकोच किया। *बाद को रूस के निकल जाने के कारण भारत की पहली माँग स्वयं ही पूरी हो गई और दूसरी माँग के सम्बन्ध में भी ब्रिटेन से सन्तोषजनक समझौता हो गया।* अक्टूबर सन् १९४६ में भारत ने कोष की प्रारम्भिक सदस्यता प्राप्त कर ली। कोष की योजना में सम्मिलित होने से भारत को लाभ ही हुआ है। *कोष की सदस्यता के द्वारा उसे विश्व बैंक की भी सदस्यता प्राप्त हो गई,* जिसने उसकी विकास योजनाओं को काफी सहायता दी है। सन् १९४८-४९ में भारत का व्यापाराशेष सम्बन्धी घाटा बहुत था। मार्च सन् १९४८ और मार्च सन् १९४९ के बीच में भारत ने कोष से ९·२ करोड़ डालर का ऋण लिया था। अप्रैल सन् १९४९ में उसने अपना समस्त अधिकृत डालर ऋण प्राप्त कर लिया था और एक विशेष संकट के आधार पर कोष से शर्तों को ढीला करने की प्रार्थना की थी। कोष ने यह प्रार्थना भी स्वीकार कर ली थी। *वास्तविकता यह है कि भारत ने कोष की सुविधाओं का अधिकतम् उपयोग करने*

की ख्याति प्राप्ति की है। कोष की सदस्यता के पश्चात् भारत ने रुपये-स्टर्लिङ्ग का वैधानिक गठबन्धन तोड़ दिया है और ८ अप्रैल सन् १९४७ को रुपये की कीमत स्वर्ण में नियत कर दी गई है। कोष ने इङ्गलैण्ड की भांति भारत को भी सन् १९४९ में अवमूल्यन की आज्ञा दे दी थी। अवमूल्यन के पश्चात् हमारे व्यापाराशेष में काफी सुधार हुआ है और हमने अपना ऋण काफी अंश तक चुका दिया है। *भारत को केवल यही भय था कि कोष की सदस्यता के कारण शायद उसे अपनी उद्योग-संरक्षण नीति को छोड़ना पड़े, परन्तु संक्रान्ति काल में मुद्रा कोष ने व्यापारिक प्रतिबन्धों को लगाने की आज्ञा दे दी है।*

भारत समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ऋण लेता रहा है। दूसरी योजना के काल में कुछ कारणों से शोधनाशेष का घाटा बहुत बढ़ गया है, अतः भारत ने जनवरी सन् १९५७ में कोष से १२.७५ करोड़ डालर के ऋण की बात तय की। पिछले साल में भारत ने मुद्रा-कोष से निम्न प्रकार ऋण लिए हैं :— जनवरी से मार्च सन् १९५७ के ३ महीनों में ६०.७ करोड़ रुपये के ऋण और अप्रैल से जून सन् १९५७ के ३ महीनों में ३४.५ करोड़ रुपयों के ऋण। उसके बाद अभी और ऋण लेने की आवश्यकता नहीं पड़ी है। जनवरी और मार्च सन् १९५७ में ६ करोड़ रुपये के ऋण का भारत ने भुगतान भी किया था।

कोष का सदस्य होने के नाते भारत के रुपये का सम-मूल्य (Par value) स्वर्ण तथा डालर में क्रमशः ०.१८६६२१ ग्राम विशुद्ध सोना तथा २१ सेन्ट रखा गया है। अवमूल्य से पूर्व यह मूल्य क्रमशः ०.२६८६१ ग्राम स्वर्ण तथा ३०.२५ सेन्ट था। अब रिजर्व बैंक को कोष द्वारा निर्धारित विनिमय दरों पर विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय का भार सौंपा गया है, परन्तु विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय २ लाख रुपये से कम राशि का नहीं हो सकता है।

भारत को कोष से लाभ—

भारत को कोष का सदस्य बन जाने से निम्न लाभ हुए हैं :—

(१) भारत को आवश्यकतानुसार विदेशी मुद्रायें मिलने लगी हैं, जिससे वह अपने आर्थिक विकास के लिए आवश्यक पूँजीगत सामान विदेशों से ले सकता है।

(२) रुपया स्टर्लिङ्ग की परम्परागत दासता से मुक्त हो गया है। उसका सम्बन्ध स्वर्ण से हो जाने पर वह किसी भी देश की मुद्रा में परिवर्तित किया जा सकता है। इस प्रकार अब अ-स्टर्लिङ्ग क्षेत्रों से भी व्यापार में सुविधा हो गई है।

(३) भारत कोष की नीति के निर्धारण में भाग लेता है, क्योंकि रूस द्वारा सदस्यता अस्वीकार कर देने से संचालन मंडल में पाँचवाँ स्थान भारत को मिल है।

(४) आन्तरिक आर्थिक समस्याओं पर भी कोष से परामर्श मिलता

रहता है, जैसे अभी हाल में पंचवर्षीय योजनाओं की वित्त व्यवस्था के सम्बन्ध में कोष ने भारत को महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये थे।

(५) भारत अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का सदस्य भी बन सका है और इस बैंक से भारत को विकास कार्यों के लिये ऋण प्राप्त हुये।

कुछ लोगों ने कोष की सदस्यता से भारत को कतिपय हानियों का भी उल्लेख किया है, जैसे—(i) कोष ने भारतीय पौंड पावनों के भुगतान के लिए सुविधा नहीं दी है। (ii) भारत का कोटा उसको प्राप्त होने वाले लाभ से अधिक रखा गया है और (iii) भारत बिना जनता या विधान मण्डलों की स्वीकृति के कोष का सदस्य बना है। किन्तु ये आक्षेप लाभों को देखते हुए असहत्त्वपूर्ण है।

मुद्रा-कोष की आलोचनाएँ—

कोष की सन् १९५८ की वार्षिक रिपोर्ट से पता चलता है कि कोष के कार्यों का बराबर विस्तार हो रहा है, परन्तु इस समय कोष से पहिले की तुलना में कम ऋण लिए जा रहे हैं, अधिकाँश ऋण डालर में लिए गये हैं। सन् १९५४-५५ में सदस्य देशों ने केवल ४·९ करोड़ डालर के ऋण लिये थे, यद्यपि इसी वर्ष में ७·६ करोड़ डालर के पुराने ऋणों का भुगतान किया गया था। रिपोर्ट में बताया गया था कि मार्च सन् १९४७ से लेकर, जबकि कोष ने कार्य आरम्भ किया था, सन् १९५४-५५ के अन्त तक कोष में से कुल ११९·७ करोड़ डालर के ऋण लिये गये थे, जिनमें से ८०·९ करोड़ डालर का भुगतान हो चुका था। साधारणतया कोष का कार्यवाहन सन्तोषजनक ही रहा है और इसने व्यापाराशेष के घाटे को दूर करने में काफी सहायता दी है।

इसमें तो सन्देह नहीं है कि कोष की सफलता की सूची काफी लम्बी है, परन्तु सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक दोनों ही दृष्टिकोणों से कोष की काफी आलोचना की जा सकती है। कोष की प्रमुख आलोचनायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) मुद्रा कोष का कार्यक्षेत्र बहुत सीमित है—कोष केवल चालू सौदों से सम्बन्धित विदेशी विनिमय की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करेगा। युद्ध ऋण, पूँजी का आयात-निर्यात, समावरुद्ध स्टर्लिंग (Blocked Sterling) आदि के भुगतान के सम्बन्ध में राष्ट्रों को अन्य उपाय करने होंगे। इस प्रकार कोष की उपयोगिता कम हो जाती है। [किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि यदि कोष को आरम्भ से ही इन जटिल समस्याओं को सुलझाने का कार्य सौंप दिया गया होता, तो कोष-योजना बहुत शीघ्र ही असफल हो जाती। अतः उक्त आलोचना सही नहीं है।]

(२) मुद्रा कोष का चन्दा किसी भी वैज्ञानिक आधार पर निश्चित नहीं किया गया है—चन्दा या तो विभिन्न देशों की विदेशी व्यापार की मात्रा के आधार पर हो सकता था या व्यापाराशेष की स्थिति के आधार पर और या विदेशी विनिमय की आवश्यकता के आधार पर, परन्तु इनमें से किसी को भी आधार नहीं

बनाया गया है। ऐसा मालूम होता है कि अंग्रेजों और अमरीकनों के आर्थिक और राजनैतिक स्वार्थों को ध्यान में रख कर चन्दा निर्धारित किया गया है। इसका परिणाम शीघ्र ही रूस के त्याग-पत्र के रूप में सामने आया है और कोष को समाजवादी राष्ट्रों की सदस्यता प्राप्त नहीं हो सकी है।

(३) ऋणों के प्रदान करने और आवश्यक सुविधाओं के देने में कोष ने भेद-भाव किया है—फ्रान्स द्वारा कोष की आज्ञा के विरुद्ध अवमूल्यन करने पर भी कोई कड़ी सजा उसे नहीं दी गई है। यह सन्देह है कि मुद्रा-कोष अमरीकन सरकर की कठपुतली है।

(४) मुद्रा-कोप की कार्यकारिणी की सदस्यता दोषपूर्ण है—मुद्रा-कोष की कार्यकारिणी की सदस्यता इस प्रकार रखी गई है कि अमरीकन हितों की रक्षा होती रहे, इसीलिए लेटिन अमरीका के देशों के लिए दो स्थान सुरक्षित रखे गये हैं।

(५) कम उन्नत देशों पर पश्चिमी देशों के दबाव का भय—भय यह है कि भविष्य में पश्चिमी देश अपने आर्थिक हितों की उन्नति के लिए व्यापारिक प्रतिबन्धों को तोड़ने पर जोर देंगे। कम उन्नत देशों के लिए यह लाभदायक न होगा और इस कारण दोनों में खींच-तान रहेगी। शायद कम उन्नत देशों को कोष की सदस्यता ही छोड़नी पड़े।

(६) डालरों की अल्पता की सम्भावना—इसका कारण स्पष्ट है कि अमेरिकन निर्यात के लिए कोष के डालर जायेंगे, लेकिन अमेरिकन आयातकर्त्ताओं को दिये जाने वाले डालर कोष को नहीं मिलेंगे। अतः जो देश अमेरिका को माल भेजेंगे वे कोष के बाहर बहुत अधिक मात्रा में डालर एकत्र कर लेंगे, क्योंकि वहाँ के निर्यात-कर्त्ता स्वदेश की मुद्रा के बजाय डालर में ही बीजक बनावेंगे। इस तरह डालर की अल्पता होने के कारण कोष को अपने कार्य में सफलता नहीं मिलेगी। यहाँ भी यह स्मरणीय है कि डालरों की समाप्ति पर प्रतिबन्ध लगाने के दृष्टिकोण से ही कोष के विधान में यह आयोजन किया गया है कि वह डालरों का पुनः क्रय कर सकता है और राशनिग की योजना अपना सकता है, जिससे योजना चलती रहे, टूटे नहीं।

मुद्रा-कोष की सफलताएँ—

मुद्रा कोष की स्थापना से निम्न लाभ हुए हैं :—

(१) इसके द्वारा बहुपक्षी व्यापार बहुपक्षी भुगतान की व्यवस्था सम्भव हो सकी है, जिससे विदेशी व्यापार और विनियोग के लिए पूँजी के आवागमन को बढ़ावा मिला है।

(२) कोष के पास विभिन्न देशों की मुद्राओं का रक्षित कोष रहता है, जिससे वह इनका क्रय-विक्रय करके सदस्य देशों की आवश्यकतानुसार विदेशी विनिमय की पूर्ति करता रहता है, और उन्हें बराबरी के आधार पर अपने शोधनाधिक्य के असन्तुलन को दूर करने का अवसर देता है।

(३) विनिमय दर में अब अपेक्षाकृत अधिक स्थायित्त्व रहने लगा है, अस्थाई कारणों से घटा बढ़ी नहीं होने पाती है तथा आन्तरिक नीतियों में भी हस्तक्षेप नहीं होता।

(४) कोष के निर्माण से विश्व को स्वर्णमान की स्थापना के बिना स्वर्णमान के लाभ प्राप्त हो गये हैं।

QUESTIONS

1. Write a note on :—International Monetary Fund.
(Agra, B. A., 1958, 57 ; Raj., B. Com., 1958 ; Alld., B. A., 1955)

2. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना किन उद्देश्यों से की गई थी? इस मुद्रा-कोष के कार्यों का विवेचन कीजिए। (Agra, B. A., 1957 Supp.)

3. India's admission to the International Monetary Fund marks the inauguration of a new currency standard for India. Explain carefully and examine the existing Indian currency system. (Agra, B. A., 1956)

4. What are the principal objectives of the International Monetary Fund and how does the Fund seek to accomplish them ? (Agra, B. A., 1955 Supp.)

5. Briefly discuss the working of 'International Monetary Fund' (अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष) and explain how far it has succeeded in its objects. (Raj., B. A., 1958, 57)

6. Explain the objects and functions of International Monetary Fund. How does the Fund seek to stabilise foreign exchange rates ? Explain. (Raj., B. Com., 1954)

7. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि (I. M. F.) पर एक संक्षिप्त तथा परिपूर्ण टिप्पणी लिखिए और उसकी तुलना अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-प्रमाप से कीजिए।
(Sagar, B. Com., 1955)

8. What is the International Monetary Fund and how does it function ? Show what benefit India has derived from this Fund.
अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष क्या है? और यह किस प्रकार कार्य करता है? इस कोष से भारत को क्या लाभ हुआ है समझाइये। (Agra, B. A., 1959)

अध्याय १६

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक

(International Bank For Reconstruction and Development)

उद्देश्य—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिषद् की रिपोर्ट के दूसरे भाग की धारा १ के अनुसार विश्व बैंक के उद्देश्य निम्न प्रकार है :—

(१) राष्ट्रों का पुनर्निर्माण व आर्थिक विकास—युद्ध विध्वंसित सदस्य देशों की अर्थ-व्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण तथा विकास में सहायता देना, युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था में शान्तिकालीन समायोजनों को सफल बनाना और अविकसित देशों के विकास में सहायता प्रदान करना।

(२) पूंजी के विनियोग को बढ़ावा देना—ऋणों की गारन्टी लेकर अथवा उनमें सम्मिलित होकर व्यक्तिगत विदेशी ऋणों का विस्तार करना और यदि व्यक्तिगत ऋण उपलब्ध नहीं हैं तो उत्पादन कार्यों के लिए समुचित शर्तों पर अपने पास से ऋण देना।

(३) दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन देना—विदेशी व्यापार की दीर्घकालीन सन्तुलित उन्नति की व्यवस्था करना और इस प्रकार सदस्य देशों में उपज, जीवन-स्तर तथा श्रमिकों की कार्य-दशाओं को उन्नत करना।

(४) शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था स्थापित करना—युद्धोत्तर काल में अन्तर्राष्ट्रीय विनियोगों को बढ़ाना और शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था के लिए समुचित दशाएँ उत्पन्न करना।

विश्व बैंक के चन्दे—

बैंक की अधिकृत पूंजी १,००० करोड़ डालर है। इस पूंजी को १-१ लाख डालर के अंशों में बाँटा गया है। प्रमुख देशों के अभ्यंश निम्न प्रकार हैं :—

अमरीका	२४३·५ करोड़ डालर	फ्राँस	४५ करोड़ डालर
इङ्गलेंड	१००·० ,,	भारत	४० ,,
चीन	६०·० ,,		

प्रत्येक देश के चन्दे को दो भागों में बाँटा गया है :—२०% चन्दा माँगने पर तुरन्त ही देना पड़ता है। शेष ८०% उस समय देना पड़ता है, जबकि आवश्यकता

पड़ने पर बैंक उसे माँगती है। अभ्यंश का २% स्वर्ण अथवा अमरीकन डालर में लिया जाता है और शेष १८% सदस्य देश अपनी मुद्रा में दे सकता है। जब और अधिक चन्दे की माँग की जाती है तो सदस्य देश को यह अधिकार होता है कि वह उसे स्वर्ण, डालर अथवा बैंक द्वारा आदेशित किसी अन्य मुद्रा में चुका दे। ऐसी मुद्रा की बैंक समय-समय पर घोषणा करती रहती है।

बैंक का कार्य—

बैंक को व्यक्तियों और व्यक्तिगत संस्थाओं के साथ प्रत्यक्ष व्यवसाय का अधिकार नहीं है। वह केवल सदस्य देश की सरकार द्वारा ही व्यवसाय कर सकती है। स्मरण रहे कि मुद्रा-कोष की भाँति विश्व बैंक में सदस्यों को प्राप्त होने वाले ऋणों की मात्रा उनके चन्दों पर निर्भर नहीं होती है। चन्दे तो केवल उत्तर-दायित्वों तथा शासन शक्तियों की ही सीमाएँ निश्चित करते हैं। *बैंक का उद्देश्य यह भी नहीं है कि व्यक्तिगत विदेशी ऋणों के स्थान पर अपनी ओर से ऋण दे। इसके विपरीत यह तो व्यक्तिगत ऋणों को प्रोत्साहन* देती है। अपने पास से तो बैंक केवल उसी दशा में ऋण देती है जबकि व्यक्तिगत विदेशी ऋण उपलब्ध नहीं होते हैं। अपने ऋणों पर तो बैंक ब्याज लेती ही है, परन्तु *जिन व्यक्तिगत ऋणों की गारंटी ली जाती है उन पर भी जोखिम उठाने का कमीशन लिया जाता है।* गारन्टी लेने से पहले बैंक यह देख लेती है कि ऋण लेने वाले की माँग कहाँ तक वास्तविक है और देने वाले की शर्तें कहाँ तक उचित अथवा न्यायपूर्ण हैं। *ऋणों की गारंटी अथवा उनके प्रदान करने के सम्बन्ध में बैंक की शर्तें निम्न प्रकार होती हैं :—*

(१) जबकि बैंक को यह सन्तोष है कि प्रस्तुत दशाओं में ऋण लेने वाले के लिए अन्य सूत्रों से ऐसी शर्तों पर ऋण मिलने की सम्भावना नहीं है जो बैंक के दृष्टिकोण से उचित हैं।

(२) जबकि वही देश जिसकी सीमा में ऋण का उपयोग होता है, स्वयं ऋण नहीं लेता तो सदस्य देश अथवा उसकी केन्द्रीय बैंक को ऋण के मूलधन, ब्याज तथा अन्य खर्चों के चुकाने की गारन्टी देनी पड़ती है।

(३) जबकि बैंक द्वारा नियुक्त की हुई कोई उपयुक्त समिति ऋण देने के प्रस्ताव का समर्थन करती है।

(४) यदि बैंक के विचार में ब्याज की दर तथा अन्य शर्तें उचित हैं और उसके तथा मूलधन के चुकाने की रीति उपयुक्त है।

(५) गारन्टी देते समय बैंक ऋण लेने वाले, ऋण देने वाले तथा समस्त सदस्यों के हित को देखती है।

(६) बैंक द्वारा दिये गये अथवा गारन्टी किये गये ऋण कुछ विशेष दशाओं

को छोड़कर केवल पुनर्निर्माण अथवा विकास योजनाओं पर ही व्यय किये जा सकते हैं।

विश्व बैंक बहुदेशीय निकासी तथा व्यापार के आधार पर कार्य करती है। प्राप्त ऋणों के द्वारा किसी भी देश से माल खरीदा जा सकता है। प्रत्येक सदस्य को अनुकूलतम् बाजार से माल खरीने का अवसर मिलता है। इसी प्रकार जब तक ऋण का उपयोग बैंक के उद्देश्यों के विरुद्ध नहीं किया जाता है, सदस्य द्वारा ऋण के व्यय पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता है।

विधान और प्रबन्ध—

बैंक के प्रबन्ध के लिए (i) एक *गर्वनर मण्डल*, (ii) एक *कार्यकारिणी समिति*, (iii) एक *अध्यक्ष* तथा (iv) *अन्य कर्मचारी* होते है। बैंक का संचालन अधिकार गर्वनर मण्डल के हाथ में होता है, जिसमें प्रत्येक सदस्य का एक-एक प्रतिनिधि रहता है। दिन प्रति दिन का कार्य कार्यकारिणी समिति करती है, जिसमें १२ सदस्य होते हैं। ५ सदस्य पाँच बड़े-बड़े अभ्यंश वाले देशों द्वारा नियुक्त किये जाते हैं और शेष ७ मुद्रा कोष की भाँति प्रतिनिधि निर्वाचन प्रणाली द्वारा निर्वाचित किये जाते है, जिसमें प्रत्येक सदस्य को २५० मत तथा १ लाख डालर चन्दे के पीछे एक और मत प्राप्त होता है। कार्यकारिणी समिति अध्यक्ष को नियुक्त करती है, जो कि न तो कार्यकारिणी का सदस्य हो सकता है और न गवर्नर मण्डल का। इसके अतिरिक्त गवर्नर समिति कम से कम सात सदस्यों की एक (v) *सलाहकार समिति का* भी निर्वाचन करती है। जब किसी ऋण का प्रार्थना-पत्र प्राप्त होता है तो समुचित जाँच के लिए बैंक एक विशेषज्ञ समिति नियुक्त करती है। कोई भी सदस्य मुद्रा-कोष की सदस्यता को त्याग कर अथवा लिखित त्याग-पत्र देकर बैंक की सदस्यता को छोड़ सकता है। स्मरण रहे कि केवल वही देश विश्व बैंक का सदस्य बन सकता है जिसने पहले मुद्रा-कोष की सदस्यता प्राप्त कर ली हो।

भारत और विश्व बैंक—

भारत ने विश्व बैंक की प्रारम्भिक सदस्यता प्राप्त कर ली थी। बैंक की सदस्यता से भारत को काफी लाभ हुआ है। अब तक भारत को विश्व बैंक से नौ ऋण प्राप्त हुए हैं। अगस्त सन् १९४९ में भारत को रेलवे विकास के लिए ३·४ करोड़ डालर का ऋण मिला था। तत्पश्चात् सितम्बर सन् १९४९ में कृषि विकास के लिए १ करोड़ डालर और अप्रैल सन् १९५० में १·८५ करोड़ डालर का ऋण नदी-घाटी योजनाओं के लिए प्राप्त हुआ। इसके बाद दामोदर घाटी योजना के लिए भी एक और ऋण प्रदान किया गया। इन ऋणों में से ४·२ करोड़ डालर भारत ने सन् १९५१-५२ से पूर्व ही निकाल लिया था। शेष को कोलम्बो योजना में सम्मिलित कर लिया गया था। सन् १९५५ तक भारत को विश्व बैंक से १२·५० करोड़ डालर का ऋण मिल चुका है, जिसमें से लगभग आधी राशि भारत निकाल चुका है। विश्व बैंक के ऋणों

के सम्बन्ध में बड़ी कठिनाई यह है कि ऋण की रकम केवल उसी निश्चित उद्देश्य के लिए व्यय की जा सकती है जिसके लिए वह ली गई है। बैंक का एक विशेषज्ञ मण्डल अप्रैल सन् १९५६ में भारत की दूसरी पंच-वर्षीय योजना के लिए ऋण के प्रार्थना-पत्र पर भारत का दौरा कर गया था। भारत ने प्रार्थना की थी कि उसे निश्चित उद्देश्य (Specific) ऋण के स्थान पर सामान्य ऋण (Block Loan) दिया जाय, जिसका उपयोग किसी भी काम में किया जा सके। पहले ऐसा ऋण आस्ट्रेलिया को दिया जा चुका था। भविष्य में भारत को शीघ्र ही और भी ऋण मिलने की आशा की जाती है।

भारत को विश्व बैंक से निम्न नौ ऋण प्राप्त हुए हैं :—

(१) रेलों के विकास के लिए ऋण—पहला ऋण ३·४ करोड़ डालर का अगस्त सन् १९४९ में मिला था, जो रेल-मार्गों की उन्नति के लिए दिया गया था। ऋण १५ वर्ष के लिए है और इस पर ३% ब्याज और १% कमीशन प्रति वर्ष दिया जाता है। इसमें से भारत ने केवल ३·२५ करोड़ डालर प्राप्त किया है। ऋण का भुगतान अगस्त सन् १९५० से आरम्भ हो गया है।

(२) कृषि विकास के लिए ऋण—दूसरा ऋण १ करोड़ डालर का सितम्बर सन् १९४९ में कृषि विकास के लिए लिया गया था। यह ७ वर्ष के लिए है और इस पर २½% ब्याज और १% कमीशन है। इसमें से भारत ने केवल ७५ लाख डालर लिये हैं। ऋण का भुगतान जून सन् १९५२ से आरम्भ हो गया है।

(३) दामोदर घाटी योजना ऋण—तीसरा ऋण १·८५ करोड़ डालर का अप्रैल सन् १९५० में दामोदर घाटी योजना के लिए लिया गया था। यह २० वर्ष के लिए है और इस पर ३% ब्याज तथा १% कमीशन दिया जाता है। १ अप्रैल सन् १९५५ से भुगतान आरम्भ हो गया है।

(४) लौह व स्पात के लिए ऋण—चौथा ऋण सन् १९५३ में इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी लिमिटेड, कलकत्ता के लिए लिया गया है, जो कि १·३५ करोड़ डालर का है। यह एक निजी व्यवसायिक संस्था को मिलने वाला ऋण है, यद्यपि इस पर भारत सरकार की गारन्टी है।

(५) पाँचवाँ ऋण सन् १९५३ में दामोदर घाटी योजना के लिए लिया गया है। इसकी राशि १·९५ करोड़ डालर है।

(६) विद्युत योजनाओं के लिए ऋण—छठा ऋण १·६२ करोड़ डालर का सन् १९५४ में टाटा ग्रुप को बम्बई में बिजलीघर के विकास के लिए प्राप्त हुआ है।

(७) औद्योगिक साख व विनियोग प्रमण्डल के लिए ऋण—सातवां ऋण सन् १९५५ में १ करोड़ डालर की राशि का भारतीय औद्योगिक साख और विनियोग प्रमण्डल को मिला है।

(८) आठवाँ ऋण सन् १९५८ में प्राप्त हुआ है, जो १५० करोड़ रुपये का है।

(९) बन्दरगाहों के विकास व सुधार के लिए ऋण—१६ अप्रैल सन् १९५८ को विश्व बैंक ने दो और ऋणों के देने की घोषणा की है, जिनकी सामूहिक राशि ४·३ करोड़ डालर है। २·९ करोड़ डालर कलकत्ते की बन्दरगाह के सुधार के लिए हैं और शेष मद्रास की बन्दरगाह के लिए।

(१०) सन् १९५८ में विश्व बैंक ने ८·५ करोड़ डालर का एक ऋण देना और स्वीकार किया है। यह ऋण भारतीय रेलों के सुधार और विकास की योजना के अन्तर्गत दिया गया है। इस सुधार और विकास के लिए विदेशी विनिमय की समस्त आवश्यकता इस ऋण से पूरी हो जाने की आशा है।

भारत को जो ऋण प्राप्त हुए हैं उनके सम्बंध में निम्न आलोचनायें की गई हैं:—(१) ये ऋण केवल निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मिलते हैं, जबकि भारत सामान्य ऋण भी चाहता है, जिनका प्रयोग किसी भी कार्य के लिए किया जा सके। (२) *व्याज की दर ऊँची है।* भारत जैसे अविकसित और निर्धन राष्ट्रों के लिए २·५% से ४·७८% तक व्याज-दर बहुत भारस्वरूप है, जिससे विवश होकर उन्हें सस्ती साख के अन्य स्रोत तलाशने पड़ते हैं। (३) *भारत को बैंक से बहुत कम ऋण मिला है।* भारत की औद्योगिक एवं विकास योजनाओं की आवश्यकताओं को देखते हुए जो ऋण मिला है वह बहुत नगण्य है। इन दोषों के कारण ही भूतपूर्व अर्थ मन्त्री श्री जॉन मथाई ने यह मत प्रगट किया था कि भारत को बैंक पर निर्भर नहीं रहना चाहिए, वरन् अपने देश में ही वैयक्तिक पूँजी को निकालने के साधन ढूँढ़ने चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समझौते पर एक आलोचनात्मक दृष्टि—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का कार्य काफी सराहनीय रहा है। इसकी उपयोगिता का पता इसी बात से चल जाता है कि मार्च सन् १९४७ तथा अप्रैल सन् १९५२ के पाँच वर्षों में ही इसने ८५·७८ करोड़ डालर विभिन्न देशों को बेचा था, जिसमें से ६२ लाख डालर सोने में बेचा गया था और शेष विभिन्न सदस्यों के चलन के बदले में। ३० अप्रैल सन् १९५२ को कोष के पास ५१·४३ करोड़ डालर की कीमत का चलन संचय था, जिसमें से १२·८३ करोड़ अमरीकन डालर थे और २२·५ करोड़ अमरीकन डालर की कीमत का कनाडा का डालर था।

विश्व बैंक का कार्य तो और भी अधिक शानदार रहा है। (i) अपने जीवन-काल के प्रथम ५ वर्षों में ही इसने ६८ ऋण दिए, जिनकी कीमत १४१·२ करोड़ डालर के बराबर थी। इसमें से केवल १३ करोड़ डालर का इस काल में भुगतान हुआ और शेष १३८·२ करोड़ डालर का विभिन्न देशों पर ऋण बना रहा। (ii) ऋणों के अतिरिक्त विश्व बैंक ने दक्षिणी अमरीका के राज्यों, मिश्र, भारत, ईराक, ईरान, लेबेनन तथा फिलीपाइन्स को शिल्प सहायता भी दी। (iii) बैंक ने विभिन्न सदस्य देशों की वित्तीय दशाओं को सुधारने के लिए लाभदायक उपाय भी बताये हैं।

उपरोक्त बातों से यही पता चलता है कि ये दोनों संस्थायें मौद्रिक तथा वित्तीय क्षेत्रों में काफी लाभदायक कार्य कर रही हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि इनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन का आधार काफी दृढ़ हो जायगा और भावी विकास की मजबूत नींव पड़ जायगी, *परन्तु दोनों संस्थाओं की निष्पक्षता पर बहुधा सन्देह किया जाता है। राजनीतिक दृष्टिकोणों पर आर्थिक सहायता का आधार बनाया जाता है। सारी कार्यवाहियों के पीछे साम्राज्यशाही डालर का प्रभुत्व साफ दिखाई पड़ता है।* यदि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग राजनीतिक तथा आर्थिक स्वार्थों के ही लिए किया जाता है तो निस्सन्देह उसका जीवन काल लम्बा नहीं हो सकता है। दोनों ही संस्थाओं ने पक्षपात किया है, जो उनकी सफलता पर सन्देह उत्पन्न करता है।

जहाँ तक मुद्रा-कोष का सम्बन्ध है उसमें अभ्यंशों का निर्धारण आर्थिक आधारों पर नहीं किया गया है, जिससे कि समस्त शक्ति अमरीका और उसके पीछे चलने वाले देशों के ही हाथ में केन्द्रित रहती है। ऐसे देशों द्वारा अवैध कार्य करने पर भी कोष ने कोई दण्ड नहीं दिया है। इसका परिणाम और भी गम्भीर प्रतीत होता है, जबकि हम जानते हैं कि मुद्रा-कोष की सदस्यता के बिना विश्व बैंक की सदस्यता भी प्राप्त नहीं हो सकती है।

विश्व बैंक के ऊपर भी दो आरोप लगाये जाते हैं :—प्रथम, यह कहा जाता है कि उसका *कार्य विलम्बपूर्ण होता है।* यह विलम्ब ऋण लेने वाले देश के लिए बड़ा असुविधाजनक होता है। दूसरे, इसका कार्य भी *भेद-भाव से पूर्णतया विमुक्त नहीं है।*

जहाँ तक भविष्य का सम्बन्ध है, इन दोनों संस्थाओं की उपयोगिता बड़े अंश तक राजनीतिक तथा आर्थिक शान्ति और स्थिरता पर निर्भर होगी, परन्तु वर्तमान संसार में इनकी आशा कम है। भारत को दोनों संस्थाओं के विरुद्ध कुछ भी कहने को गुन्जाइश शायद नहीं है, परन्तु हमारे लिए केवल अपने ही हितों की ओर देखना बहुत अच्छा नहीं हो सकता है।

QUESTIONS

1. Give the constitution and functions of the International Bank for Reconstruction and Development.
(Agra, B. A., 1954)

2. Give a brief evaluation of the working of the International Bank for Reconstruction and Development.
(Agra, B. A., 1955)

3. पुनर्निर्माण तथा विकास के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक पर एक नोट लिखिए। भारत ने इस बैंक की सेवाओं से क्या लाभ उठाया है ? (Agra, B. A., 1957)

4. Describe the aims and constitution of International Bank for Reconstruction and Development. Discuss its value to different countries in general and to India in particular. (Agra, B. Com., 1951)

5. Explain the economic purposes for which the World Bank was established. To what extent has India benefitted ? (Agra, B. Com., 1950)

अध्याय २०

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

(International Trade)

आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की परिभाषायें—

एक देश के व्यापार को दो भागों में बाँटा जा सकता है :—आन्तरिक, देशी अथवा घरेलू व्यापार तथा विदेशी अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार। *आन्तरिक व्यापार से हमारा अभिप्राय उस व्यापार से होता है जो एक ही देश के विभिन्न क्षेत्रों अथवा स्थानों के बीच होता रहता है।* इसको कभी-कभी अन्तर्स्थानीय व्यापार (Inter-regional Trade) अथवा क्षेत्रवर्ती व्यापार भी कहा जाता है। इसके विपरीत *अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से हमारा आशय उस व्यापार से होता है जो दो अलग-अलग देशों या राष्ट्रों के बीच होता है।* उदाहरणस्वरूप, यदि दिल्ली और अमृतसर के व्यापारी आपस में क्रय-विक्रय करते हैं तो उसे भारत का आन्तरिक व्यापार कहा जायगा, परन्तु यदि अमृतसर के व्यापारी लाहौर के व्यापारियों के साथ व्यापार करते हैं तो यह भारत का विदेशी व्यापार होगा। कारण यह है कि दिल्ली और अमृतसर ये दोनों तो एक ही देश में स्थित हैं, परन्तु लाहौर एक दूसरे देश में स्थित है। इस सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि एक देश अथवा राष्ट्र किसे कहते हैं। फ्रीमैन (Freeman) के अनुसार :—"राष्ट्र भू-भाग का वह लगातार भाग है जिसके रहने वाले एक सी ही भाषा बोलते हैं तथा एक ही राज्य के शासन के भीतर आते हैं।" इसी प्रकार बेजहोट (Bagehot) के अनुसार :—"राष्ट्र उत्पादकों का एक ऐसा

समूह है जिसके बीच श्रम और पूँजी की स्वतन्त्र गतिशीलता होती है।" स्मरण रहे कि फ्रीमैन की परिभाषा राजनैतिक दृष्टिकोण से है और बेजहोट की आर्थिक दृष्टिकोण से, परन्तु क्योंकि एक देश की आर्थिक और राजनैतिक सीमाएँ प्रायः समान होती हैं, अतः दोनों परिभाषाओं में लगभग कुछ भी अन्तर नहीं है।

आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का भेद—

ऊपर से देखने पर किसी देश के आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कुछ भी भेद दृष्टिगोचर नहीं होता है। दोनों का आधार विनिमय द्वारा ऐसी वस्तुओं और सेवाओं के बदले में जो कि स्थान विशेष में फालतू अथवा प्रचुर हैं, ऐसी वस्तुओं और सेवाओं का प्राप्त करना होता है जो या तो उपलब्ध ही नहीं हैं अथवा दुर्लभ हैं। दोनों का उद्देश्य इस प्रकार विनिमय द्वारा अधिकतम् आवश्यकताओं को पूर्ण करके अधिकतम् सन्तोष प्राप्त करना ही होता है। जिस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न कार्य करने की विशेषता अथवा योग्यता होती है इसी प्रकार प्राकृतिक तथा अन्य कारणों से विभिन्न देश अलग-अलग वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन के लिए अधिक उपयुक्त होते हैं। यही कारण है कि जिस प्रकार विनिमय द्वारा विनिमय करने वाले दोनों व्यक्तियों को लाभ प्राप्त होता है ठीक उसी प्रकार विदेशी व्यापार, उसमें सम्मिलित होने वाले सभी देशों के लिए हितकारी होता है। स्वभाव में आन्तरिक व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक से ही होते हैं, क्योंकि दोनों का ही आधारभूत उद्देश्य विनिमय द्वारा लाभ कमाना होता है, परन्तु आर्थिक विद्वानों ने निम्न कारणों से इन दोनों के बीच भेद करने का प्रयत्न किया है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये एक भिन्न सिद्धान्त की आवश्यकता क्यों ?—

आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में इतनी समानता होते हुए भी दोनों व्यापारों में कुछ अन्तर की बातें पाई जाती हैं, जिनके आधार पर विद्वानों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये एक पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता बतलाई है। ये अन्तर निम्नलिखित हैं :—

(१) श्रम और पूंजी की गतिशीलता—एक देश के भीतर साधारणतया श्रम और पूँजी में गतिशीलता होती है। इसका परिणाम यह होता है कि देश के सभी स्थानों पर मजदूरी और ब्याज की दरें समान ही रहती हैं और उत्पादन-व्यय भी लगभग समान रहता है। श्रम और पूँजी की गतिशीलता के इस अभाव के अनेक कारण होते हैं। ऐसा देखने में आता है कि विदेशों में काफी ऊँचे वेतन मिलने पर भी लोग अपने देश को छोड़ना नहीं चाहते हैं। कारण यह है कि विभिन्न देशों में भाषा, धर्म, आचार-विचार, रीति-रिवाज, खान-पान, सामाजिक और आर्थिक जीवन आदि के अधिक अन्तर हैं। जहाँ तक पूँजी का प्रश्न है, वह श्रम की अपेक्षा अधिक गतिशील होती है, परन्तु लाग अपनी बचत का भी अपने ही देश में अधिक विनियोग करने की इच्छा करते हैं। विदेशियों को ऋण देते समय प्रतिभूति सम्बन्धी शर्तें अधिक

कड़ी रखी जाती हैं और ब्याज भी अधिक माँगा जाता है। लोगों का कुछ ऐसा विश्वास है कि देशी विनियोग विदेशी विनियोगों की अपेक्षा अधिक सुरक्षित होते हैं।

गतिशीलता के इस अन्तर का प्रभाव यह होता है कि विभिन्न देशों में एक सी ही वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन व्यय में समानता नहीं आने पाती है। इस प्रकार विभिन्न देशों को अलग-अलग वस्तुओं के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ प्राप्त होने लगते हैं और उत्पादन का इस प्रकार विशिष्टीकरण (Specialisation) हो जाता है कि विभिन्न देशों के बीच स्पर्धा नहीं हो पाती है। गतिशीलता के इस अभाव का एक और भी महत्त्वपूर्ण आर्थिक परिणाम होता है। दीर्घकाल में प्रत्येक वस्तु के मूल्य में उसके उत्पादन व्यय के बराबर हो जाने की प्रवृत्ति होती है, किन्तु विभिन्न देशों के बीच एक वस्तु के उत्पादन व्यय में अन्तर होने के कारण उसके मूल्यों में भी अन्तर बना रहता है।

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि जिस तरह एक देश की सीमा में श्रम और पूँजी पूर्ण गतिशील नहीं होते उसी तरह वे भिन्न-भिन्न देशों में भी पूर्ण प्रगतिशील नहीं होते, क्योंकि अब चमत्कारिक यातायात-साधनों व अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के फलस्वरूप आर्थिक और राजनैतिक दूरियों का महत्व कम हो गया है। अतः उक्त विद्वानों के अनुसार आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में केवल मात्रा का भेद (Difference of Degree) ही होता है।

(२) उत्पादन सम्बन्धी नियम—एक देश के भीतर उत्पादन सम्बन्धी नियम सभी स्थानों पर एक से ही होते हैं। उत्पादन के सम्बन्ध में सरकारी नीति भी समान ही रहती है। आर्थिक और सामाजिक संस्थाओं में भी अनुरूपता रहती है। एक देश के नागरिकों के लिए राष्ट्रीय और स्थानीय कर भी एक से होते हैं। उनके लिए स्वास्थ्य, सफाई, कारखानों में काम करने की दशाओं और सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी नियम एक से रहते हैं, यातायात और लोक-सेवाएँ एक सी होती हैं, औद्योगिक सम्बन्धों और श्रम-संघों के लिए एक से ही नियम रहते हैं और व्यवसायिक कार्य-प्रणाली में भी अन्तर नहीं होता। *परन्तु अलग-अलग देशों में इन सब दिशाओं में भारी विविधता रहती है, जिसके कारण उत्पादन सम्बन्धी सुविधाओं में अन्तर रहता है और व्यय में भिन्नता आ जाती है। विभिन्न देशों के बीच आर्थिक घटनायें अपना प्रभाव स्पष्ट व स्वतन्त्रतापूर्वक स्पष्ट नहीं कर पाती हैं।*

(३) प्राकृतिक साधनों और भौगोलिक दशाओं में भिन्नता—विभिन्न देशों के बीच भूमि की बनावट, जलवायु तथा प्राकृतिक साधनों की उपलब्धता के भी गम्भीर अन्तर हो सकते हैं। इनका परिणाम भौगोलिक श्रम विभाजन तथा उद्योगों के स्थानीयकरण के रूप में प्रकट होता है। कुछ देशों को खनिज पदार्थों के लाभ प्राप्त होते हैं तो कुछ को उपयुक्त भूमि और अच्छी जलवायु के। इन लाभों का एक देश से दूसरे देश को हस्तान्तरण या तो असम्भव होता है या बहुत ही व्ययपूर्ण, यद्यपि

देश के भीतर इसमें कोई बाधा नहीं होती है। इन लाभों के कारण भी दो देशों के बीच किसी वस्तु के उत्पादन व्यय में अन्तर हो जाता है।

(४) मुद्रा प्रणाली में भिन्नता—प्रत्येक देश की मुद्रा-प्रणाली अलग-अलग होती है। देश के भीतरी व्यवसाय में विदेशी विनिमय अर्थात् एक देश की मुद्रा दूसरे देश की मुद्रा में बदलने की समस्या नहीं होती है, परन्तु विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में इस समस्या का अधिक महत्त्व होता है। यह समस्या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में जटिलता लाती है और उसके निष्कंटक संचालन में अनेक बाधायें उपस्थित करती है। *प्रत्येक देश की मुद्रा देश के मुद्रा-नियन्त्रक की नीति के अनुसार चलती है और मुद्रा-नियन्त्रक की नीति के प्रत्येक परिवर्तन का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।*

(५) वस्तुओं के आयात-निर्यात में बाधायें—*अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ऐसे स्वतन्त्र देशों के बीच होता है, जो आयात-निर्यात, विनिमय नियन्त्रण आदि के सम्बन्ध में अपनी अलग-अलग नीतियों के अनुसार कार्य करते हैं।* साधारणतया देश के भीतर वस्तुओं के आवागमन पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं होते हैं, परन्तु विदेशी व्यापार में ऐसे प्रतिबन्ध लगभग सभी देशों में लगाये जाते हैं।

निष्कर्ष—

इस आधार पर अर्थशास्त्रियों का ऐसा विचार है कि आन्तरिक व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्यायें एक दूसरे से पूर्णतया पृथक हैं और इसलिए साधारण विनिमय सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए उपयुक्त नहीं है। उसके लिए एक अलग ही सिद्धान्त की आवश्यकता है। परन्तु *दोनों प्रकार के व्यापार के अन्तरों को ध्यान-पूर्वक देखने से पता चलता है कि वे आधारभूत नहीं हैं। भेद केवल अंश का है।* यद्यपि यह तो सत्य है कि विभिन्न देशों के बीच श्रम और पूँजी की गतिशीलता का भारी अभाव होता है, परन्तु यह समझना भी भूल होगी कि स्वयं देश के भीतर ये साधन पूर्ण रूप में गतिशील होते हैं। एक देश के भीतर भी अलग-अलग स्थानों में भाषा, धर्म, रीति-रिवाज आदि के गम्भीर अन्तर हो सकते हैं। ठीक इसी प्रकार देश के भीतर पूँजी का आवागमन भी पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं होता है। अधिक से अधिक हम इतना ही कह सकते हैं कि देश के भीतर दो अलग-अलग देशों के बीच की तुलना में श्रम और पूँजी की गतिशीलता अधिक होती है। कभी-कभी तो यह भी सम्भव है कि दोनों दशाओं में गतिशीलता का अंश समान ही रहे।

ठीक इसी प्रकार एक देश के भीतर भी उत्पादन सम्बन्धी नियमों में अन्तर हो सकता है। स्वयं भारत में कुछ नियम केन्द्रीय सरकार द्वारा बनाये जाते हैं और कुछ राज्य सरकारों द्वारा। विभिन्न राज्यों द्वारा बनाये हुए नियमों में विभिन्नता का रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। साथ ही, एक देश के अलग-अलग भागों में प्राकृतिक साधन तथा भौगोलिक दशाएँ भी एक सी नहीं होती हैं। भारत इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है, जहाँ लगभग सभी प्रकार की भूमि तथा सभी प्रकार की जलवायु पाई जाती

है। कुछ लोग तो इसी कारण भारत को एक छोटा-सा महाद्वीप कहते हैं। इसी प्रकार कभी-कभी तो यह भी देखने में आता है कि देश के भीतर एक से अधिक प्रकार की मुद्राएँ चालू होती हैं और माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में भी रुकावटें रहती हैं।

इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई मौलिक भेद तो नहीं है, परन्तु कुछ महत्त्वपूर्ण बातें ऐसी अवश्य हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अपेक्षा आन्तरिक व्यापार में अधिकता से पाई जाती है। इनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पूर्णतया अलग प्रकार का तो नहीं हो जाता है, परन्तु उसमें विशिष्टता अवश्य आ जाती है। *ओहलिन (Ohlin) ने ठीक ही कहा है—"अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्स्थानीय व्यापार की ही एक विशिष्ट दशा है।"**

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्यों होता है?—

यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्यों और किन दशाओं में सम्भव होता है? इस प्रश्न का उत्तर वैसे तो बड़ा ही सरल है। बात यह है कि *जिस प्रकार प्रत्येक विनिमय कार्य से विनिमय करने वाले दोनों पक्षों को लाभ होता है ठीक इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी उसमें सम्मिलित होने वाले दोनों देशों के लिए लाभदायक होता है।* अब हमें यह देखना है कि किन दशाओं में तथा किन कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लाभदायक हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर प्रादेशिक श्रम विभाजन को प्रोत्साहन देता है। इसके कारण उत्पादन का इस प्रकार विशिष्टीकरण हो जाता है कि प्रत्येक देश ऐसी ही वस्तुओं का उत्पादन करता है जिनका उत्पादन व्यय उसके लिए न्यूनतम् होता है। यही कारण है कि भारत पटसन का उत्पादन करता है, बर्मा चावल का, इङ्गलैंड ऊनी कपड़े का और जापान सूती कपड़े का। इससे निस्सन्देह लाभ होता है, क्योंकि प्रत्येक देश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा बाहर के देशों से न्यूनतम् कीमतों पर वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त करने का अवसर मिलता है। इस प्रकार *अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ इस कारण प्राप्त होता है कि विभिन्न देशों में एक वस्तु के उत्पादन-व्यय और मूल्य में अन्तर होते हैं।* अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार उत्पादन-व्यय तथा मूल्यों का यह अन्तर ही है। वैसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इसलिए भी हो सकता है कि एक देश दूसरे देश से कोई ऐसी वस्तु प्राप्त करे जिसे वह स्वयं उत्पन्न नहीं कर सकता है, परन्तु व्यवहार में इस कारण होने वाला व्यापार कम ही रहता है। अधिकाँश दशाओं में विदेशों से वही वस्तुएँ मंगाई जाती हैं जिन्हें हम स्वयं उत्पन्न तो कर सकते हैं, परन्तु हमारा उत्पादन-व्यय विदेशों से ऊँचा होता है।

* "International trade is only a special case of the inter-regional trade." See Ohlin: *Inter-regional and International Trade*, p. 3.

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लागतों में अन्तर—

उत्पादन व्यय के अन्तर को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—(१) लागत का निरपेक्ष (Absolute) अन्तर और (२) लागत का तुलनात्मक अन्तर (Comparative Difference)।

(१) निरपेक्ष अन्तर (Absolute Difference)—एकाधिकार प्राप्त हो जाने के कारण किसी देश को कुछ वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ प्राप्त हो सकता है। *कुछ देशों पर कुछ दशाओं में प्रकृति की विशेष उदारता होने के कारण वहाँ पर कुछ वस्तुओं का उत्पादन बहुत ही कम लागत पर हो सकता है।* इसके कारण कुछ विशेष खनिज पदार्थों का मिलना अथवा विशेष प्रकार की जलवायु अथवा पृथ्वी की बनावट हो सकते हैं। दक्षिणी अफ्रीका को संसार भर में हीरे के उत्पादन का एकाधिकार प्राप्त है। भारत को जूट, जावा को चीनी और ब्राजील को कहवे के सम्बन्ध में विशेष सुविधायें हैं। *ऐसे देशों में इन वस्तुओं का उत्पादन व्यय काफी कम होता है और दूसरे देशों को इन वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए उपरोक्त देशों पर निर्भर रहना पड़ता है। इस प्रकार के व्यापार को जन्म देने वाली दशा को लागतों का निरपेक्ष अन्तर कहते हैं।* नीचे का उदाहरण इसे स्पष्ट करता है—

	पटसन	चावल	
भारत	२ इकाई	१ इकाई	एक दिन के श्रम का उत्पादन।
बर्मा	१ ,,	२ ,,	

यह उदाहरण स्पष्ट करता है कि पटसन के उत्पादन में भारत को श्रेष्ठता प्राप्त है। प्रत्येक देश उसी वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करेगा जिसमें उसे श्रेष्ठता प्राप्त होगी और उसी में दूसरे राष्ट्रों से व्यापार करेगा। इससे दोनों ही देशों को लाभ होगा। यदि व्यापार नहीं किया जाता है तो भारत अथवा बर्मा को तीन दिन के श्रम के फलस्वरूप केवल २ इकाई पटसन + २ इकाई चावल प्राप्त होता है, परन्तु व्यापार होने की दशा में इतने ही श्रम के फलस्वरूप ३ इकाई पटसन तथा ३ इकाई चावल मिल सकता है। श्रम लागत के आधार पर पटसन और चावल का विनिमय अनुपात निम्न प्रकार होगा :—

भारत—चावल की एक इकाई = पटसन की दो इकाई।

बर्मा—चावल की एक इकाई = पटसन की $\frac{1}{2}$ इकाई।

भारत और बर्मा के बीच का व्यापार उस समय तक बराबर लाभदायक रहेगा जब तक कि भारत को पटसन की २ इकाइयों के बदले में चावल की एक से अधिक इकाई मिलती रहेगी। ठीक इसी प्रकार उस समय तक व्यापार बर्मा के लिए भी लाभदायक होगा जब तक कि उसके फलस्वरूप चावल की एक इकाई के बदले में पटसन की आधे से अधिक इकाई मिलती रहेगी। इस उदाहरण में हमने यह मान लिया है कि व्यापार के सम्बन्ध में यातायात तथा बीमे का व्यय नहीं होता है। परन्तु यातायात, बीमा आदि के व्यय को जोड़ देने पर भी लाभ की इस स्थिति में

अन्तर नहीं पड़ेगा, क्योंकि इसका प्रभाव भारत और बर्मा दोनों पर समान रूप में पड़ेगा। इस प्रकार भारत तथा बर्मा का पारस्परिक व्यापार लाभदायक होगा।

(२) सापेक्ष अन्तर (Relative Difference)—उपरोक्त उदाहरण में हमने यह देखा है कि एक देश को ऐसी वस्तुओं का निर्यात करने में लाभ होता है जो वहाँ पर निरपेक्ष रूप में और कम लागत पर उत्पन्न की जा सकती हैं और उन वस्तुओं के आयात से लाभ होता है जिनकी लागत अधिक बैठती है, परन्तु *लागत के निरपेक्ष अन्तर साधारणतया कम ही होते हैं।* वैसे तो प्रत्येक देश में लगभग सभी वस्तुएँ किसी न किसी प्रकार उत्पन्न की जा सकती हैं, परन्तु किसी-किसी वस्तु का उत्पादन व्यय कभी-कभी इतना ऊँचा हो सकता है कि वस्तु का उत्पादन ही अनार्थिक हो जाय। युद्धकाल में जर्मनी ने रसायनिक पैट्रोल (Sinthetic Petrol) को अधिक मात्रा में उत्पन्न किया था, परन्तु उसका उत्पादन व्यय प्राकृतिक पैट्रोल की तुलना में बहुत ही अधिक था। *लागत के निरपेक्ष अन्तर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को निस्सन्देह लाभदायक बनाते हैं, परन्तु व्यवहारिक जीवन में उनका महत्त्व कम ही रहता है।*

एक देश के लिये विदेशों से ऐसी वस्तुओं का मँगाना भी लाभदायक हो सकता है जिन्हें वह स्वयं विदेशों की अपेक्षा कम लागत पर उत्पन्न कर सकता है। यह इस कारण होता हैं कि माल मँगाने वाला देश अन्य वस्तु के उत्पादन का विशिष्टीकरण करके और भी अधिक लाभ प्राप्त कर सकता है। ऐसी दशा में दोनों के बीच लागत में निरपेक्ष अन्तर नहीं होता, बल्कि तुलनात्मक अथवा सापेक्ष अन्तर होता है। एक कॉलिज का प्रोफेसर घर के कामों को एक नौकर की अपेक्षा अधिक कुशलतापूर्वक कर सकता है, परन्तु उसके लिए नौकर रखना इसलिए अधिक लाभदायक हो सकता है कि इस प्रकार समय की जो बचत होती है उसका और भी अधिक लाभपूर्ण उपयोग सम्भव होता है। बिल्कुल यही बात एक देश के विषय में भी ठीक हो सकती है। वह एक वस्तु को दूसरे देश से केवल इसी कारण मँगा सकता है कि देश में उस वस्तु का उत्पादन बन्द करने से जिन साधनों की जो बचत होती है उनका और भी अधिक लाभदायक उपयोग सम्भव होता है।

परन्तु लागत के सापेक्ष अन्तर दो प्रकार के हो सकते हैं :—(१) समान अन्तर और (२) तुलनात्मक अन्तर। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उसी दशा में लाभदायक होता है जबकि लागत के सापेक्ष अन्तर तुलनात्मक होते हैं। *समान अन्तर रहने की दशा में लाभ की कोई सम्भावना नहीं रहती और इसलिये व्यापार का प्रश्न ही नहीं उठता है।* इस उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है। भारत और बर्मा के उपरोक्त उदाहरण में थोड़ा सा परिवर्तन कर देने से स्थिति बदल जायगी।

	पटसन	चावल	
भारत	२ इकाई	२ इकाई	एक दिन के श्रम का उत्पादन
बर्मा	१ इकाई	१ इकाई	

उपरोक्त उदाहरण समान सापेक्ष अन्तर को स्पष्ट करता है। जैसा कि विदित है कि भारत को वर्मा की तुलना में पटसन और चावल दोनों ही के उत्पादन में कम लागत लगानी पड़ती है, परन्तु यदि दोनों के बीच व्यापार नहीं होता है तो भारत में पटसन और चावल का विनिमय अनुपात १ : १ होगा और ठीक यही अनुपात वर्मा में भी रहेगा। यदि भारत केवल पटसन का ही उत्पादन करता है और अपनी चावल की आवश्यकता वर्मा से चावल मँगा कर पूरी करता है तो भी उसे कोई लाभ नहीं होता है, क्योंकि बर्मा में भी चावल और पटसन का विनिमय अनुपात वही है जो कि भारत में। ऐसी दशा में व्यापार करना उल्टा हानिकारक हो सकता है, क्योंकि बाहर से माल मँगाने में माल की कीमत के अतिरिक्त यातायात सम्बन्धी लागत और भी देनी पड़ेगी।

परन्तु दो देशों में लागत के तुलनात्मक अन्तर भी हो सकते हैं। ऐसे अन्तरों की दशा में, जैसा कि निम्न उदाहरण से सिद्ध हो जायगा, व्यापार लाभदायक होगा और यही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उपयुक्त दशा होगी :—

	चाय	मसाले	
भारत	२ इकाई	१ इकाई	एक दिन के श्रम का
जावा	२ इकाई	२ इकाई	उत्पादन

उपरोक्त उदाहरण में यदि भारत और जावा के बीच व्यापार नहीं होता है तो दोनों देशों में चाय और मसालों के विनिमय अनुपात इस प्रकार होंगे:—भारत—१ इकाई चाय = ½ इकाई मसाले और जावा—१ इकाई चाय = १ इकाई मसाला, परन्तु यदि भारत केवल चाय का ही उत्पादन करता है और जावा केवल मसालों का और दोनों ही दूसरी वस्तु व्यापार द्वारा प्राप्त करते हैं तो दोनों को लाभ होगा। भारत चाय की एक इकाई को जावा में भेजकर उसके बदले में जावा के विनिमय अनुपात के आधार पर १ इकाई मसाला प्राप्त कर सकता है और ठीक इसी प्रकार जावा १ इकाई मसाले को भारत भेजकर बदले में २ इकाई चाय ले सकता है। इस प्रकार यह व्यापार दोनों ही देशों के लिए लाभदायक है। स्मरण रहे कि जावा में चाय का उत्पादन व्यय ठीक उतना ही है जितना कि भारत में, परन्तु फिर भी जावा को भारत से चाय को खरीदने में अधिक लाभ होता है। व्यवहारिक जीवन में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ साधारणतया इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने की सामान्य दशा यही होती है। इसी को अर्थशास्त्र में तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त कहा गया है।

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त
(The Doctrine of Comparative Cost)

प्रतिष्ठित विचारधारा—अर्थशास्त्र में तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का उपयोग सबसे पहले *रिकार्डो* ने किया था। *उनका विचार था कि एक देश के भीतर श्रम और*

पूँजी की गतिशीलता के कारण विभिन्न व्यवसायों में लाभ का अंश समान रहने की प्रवृत्ति होती है, परन्तु दो देशों के बीच ऐसा नहीं हो पाता है। व्यवहारिक जीवन से एक उदाहरण लेकर रिकार्डो ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया था कि यद्यपि पुर्तगाल कपड़ा तथा शराब दोनों ही इङ्गलैंड की अपेक्षा कम कीमत पर उत्पन्न कर सकता था, परन्तु पुर्तगाल के लिए यही अधिक लाभदायक था कि वह शराब के उत्पादन पर अधिक ध्यान दे और कपड़े का इङ्गलैंड से आयात करे, क्योंकि उसे शराब के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ अधिक था। इस सम्बन्ध में रिकार्डो ने यह भी बताया था कि विदेशी विनिमय दरों की सीमाएँ भी तुलनात्मक लागत द्वारा ही निर्धारित होती हैं।

रिकार्डो के सिद्धान्त में मिल ने आवश्यक सुधार किये। उनका विचार था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार तो तुलनात्मक लागत का अन्तर ही था और उसके लाभ भी इसी के कारण उत्पन्न होते हैं, परन्तु इस लाभ का अंश इस बात पर निर्भर है कि तुलनात्मक दृष्टिकोण से एक देश में दूसरे देश के माल की माँग कितनी आग्रहपूर्ण है। साम्य की दशा में आयातों तथा निर्यातों का मूल्य बराबर होता है, परन्तु यह साम्य इस प्रकार स्थापित होता है कि अधिक कीमत का माल मँगाने वाला देश बहुमूल्य धातुओं का निर्यात करके वस्तुओं के निर्यात की कमी को पूरा करता है और इस प्रकार अपने अधिक आयातों का मूल्य चुकाता है।

मिल तथा रिकार्डो दोनों ने ही इस मान्यता पर इस सिद्धान्त का निर्माण किया था कि एक देश के भीतर श्रम और पूँजी दोनों ही पूर्ण रूप में गतिशील होते हैं, परन्तु दो अलग-अलग देशों के बीच उनमें गतिशीलता बिल्कुल भी नहीं होती है। *कैरनीज (Cairnes) नामक अर्थशास्त्री ने इस मान्यता की आलोचना की है।* उनका विचार है कि एक देश के भीतर भी श्रम और पूँजी की गतिशीलता पूर्ण नहीं होती है और इसके विपरीत यह भी सत्य नहीं है कि विभिन्न देशों के बीच उनकी गतिशीलता का पूर्णतया अभाव होता है। वास्तविकता केवल यह है कि देश के भीतर और देश के बाहर श्रम और पूँजी की गतिशीलता में अन्तर होता है, परन्तु कैरनीज का मत था कि रिकार्डो और मिल की मान्यता को हटा देने से भी तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त गलत नहीं हो जाता है। साधनों की गतिशीलता की अधिकता के कारण एक देश के भीतर लाभों में समानता आ जाने की प्रवृत्ति अधिक तीव्र होती है, परन्तु विभिन्न देशों के बीच यह प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है। इस प्रकार, जबकि देश के भीतर वस्तुओं का विनिमय अनुपात उसके उत्पादन व्यय द्वारा निश्चित होता है, विभिन्न देशों के बीच यह अन्योन्य मांग (Reciprocal Demand) अर्थात् एक देश के भीतर दूसरे देश की उत्पादित वस्तु की मांग की आग्रहपूर्णता द्वारा ही निर्धारित होता है। *कीन्ज ने भी निष्कर्ष रूप में रिकार्डो और मिल के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है, यद्यपि उन्होंने इसकी विवचना की पृथक रीति अपनाई है।*

प्रतिष्ठित विचारधारा में आधुनिक सुधार—

तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को आधुनिक अर्थशास्त्री भी स्वीकार करते हैं, परन्तु उन्होंने इसमें तीन महत्त्वपूर्ण सुधार किए हैं :—

(i) लागत का माप श्रम के वजाय मुद्रा में—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने रिकार्डो का अनुकरण करते हुए लागत की माप निर्माण में व्यय होने वाले श्रम की मात्रा में की थी, परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री उसकी माप मुद्रा में करते हैं। इसका कारण यह है कि आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने मूल्य के श्रम सिद्धान्त (Labour Theory of Value) को अस्वीकार कर दिया और फिर वस्तुओं के उत्पादन में श्रम के अलावा अन्य साधन भी स्तैमाल किये जाते हैं। अतः आजकल मूल्य सिद्धान्त सीमान्त उत्पादन व्यय के रूप में प्रगट किया जाता है। कहा जाता है कि एक देश उन वस्तुओं का निर्यात करता है जिनका उत्पादन अपेक्षतन अधिक प्रचुर साधनों द्वारा किया जाता है, अर्थात् जिनका सीमान्त उत्पादन-व्यय कम होता है और इसके विपरीत उन वस्तुओं का आयात करता है जिनका उत्पादन-व्यय तुलना में अधिक होता है, अथवा जो अपेक्षतन अधिक दुर्लभ साधनों द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं।

(ii) उत्पत्ति-वृद्धि और उत्पत्ति ह्रास नियमों को सम्मिलित करना— प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त की विवेचना केवल इस आधार पर की थी कि उत्पादन क्रमगत उत्पत्ति स्थिरता नियम (Law of Constant Returns) के अन्तर्गत होता है और विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में होने वाले यातायात व्यय का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने इन मान्यताओं को आवश्यक नहीं समझा है। उन्होंने यातायात व्यय तथा उत्पत्ति ह्रास नियम की कार्यशीलता के आधार पर इस सिद्धान्त का विवेचन किया है और इस प्रकार इस सिद्धान्त में व्यवहारिकता उत्पन्न कर दी है। जब उत्पत्ति क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियमों के अन्तर्गत होती है, तो पूर्ति में वृद्धि होने से लागत प्रति इकाई कम हो जाती है, जिससे विदेशी व्यापार में तुलनात्मक लाभ का क्षेत्र बढ़ जाता है और विदेशी व्यापार को बढ़ावा मिलता है, परन्तु जब उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत की जाती है, तो पूर्ति बढ़ाने से लागत प्रति इकाई बढ़ जाती है, जिससे तुलनात्मक लाभ का क्षेत्र कम हो जाता है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को हतोत्साहन होता है।

(iii) माँग की लोच का प्रभाव—रिकार्डो और उनके समर्थकों ने यह तो बताया था कि सिद्धान्त के आधार पर किन-किन वस्तुओं में व्यापार करना लाभदायक होगा, परन्तु वे यह निश्चित नहीं कर पाये थे कि लाभ की मात्रा किन बातों पर निर्भर होगी। इस सम्बन्ध में आधुनिक अर्थशास्त्रियों का विचार है कि लाभ का अंश इस बात पर निर्भर होता है कि एक देश में दूसरे माल की माँग की लोच कितनी है। जिस देश में दूसरे देश के माल की तुलनात्मक माँग की लोच अधिक होगी उसी को व्यापार से लाभ भी अपेक्षतन अधिक ही होगा। जिस देश में अन्य देश की वस्तु की

तुलनात्मक माँग की लोच अधिक होगी, उस देश के लिये व्यापार की शर्तें अधिक अनुकूल होंगी और जिस देश में अन्य देश की वस्तु की तुलनात्मक माँग की लोच कम होगी उस देश के लिये व्यापार की शर्तें कम अनुकूल होंगी।

सिद्धान्त का वर्तमान रूप—

ऊपर की व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार केवल इस कारण सम्भव होता है कि विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं के उत्पादन-व्यय में अन्तर होते हैं। ये अन्तर तीन प्रकार के हो सकते हैं:—(१) निरपेक्ष अन्तर, (२) समान अन्तर और (३) तुलनात्मक अन्तर। इनमें से केवल पहिली और तीसरी दशाओं में ही व्यापार हो सकता है। समान अन्तरों की दशा में व्यापार से कुछ भी लाभ नहीं हो सकता है, इसलिए पहिली और तीसरी दशाओं का ही विस्तृत अध्ययन लाभदायक है।

(१) निरपेक्ष अन्तर—सबसे पहिले हम निरपेक्ष अन्तर को लेते हैं :—

प्रति मन सीमान्त व्यय (रुपयों में)

	चावल	कपास
भारत	८	१२
पाकिस्तान	१२	८

क्योंकि दीर्घकाल में कीमत सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर होती है, भारत में १ मन कपास का १½ मन चावल में विनिमय होगा और पाकिस्तान में १ मन चावल का १½ मन कपास में। इस प्रकार भारत में चावल और कपास का विनिमय अनुपात २ : ३ होगा और पाकिस्तान में ३ : २। यहाँ पर यह स्पष्ट है कि भारत को चावल के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ प्राप्त है और पाकिस्तान को कपास के उत्पादन में। भारत को कपास का उत्पादन छोड़कर केवल चावल का ही उत्पादन करने में लाभ होगा, क्योंकि पाकिस्तान के साथ व्यापार करके उसे १ मन चावल के बदले में ⅔ मन से अधिक कपास मिल जायगी, जबकि कपास को स्वयं उत्पन्न करने की दशा में १ मन चावल के बदले में केवल ⅔ मन कपास मिलती है। इसी प्रकार पाकिस्तान के लिए कपास का उत्पादन अधिक लाभदायक होगा, क्योंकि वह भी भारत से १ मन कपास के बदले में ⅔ मन से अधिक चावल प्राप्त कर सकता है, जबकि स्वयं उत्पन्न करके उसे भी केवल ⅔ मन चावल मिलता है। भारत को वास्तव में १ मन चावल के बदले में कितनी कपास मिलेगी और पाकिस्तान को १ मन कपास के बदले में कितना चावल मिलेगा, यह दो बातों पर निर्भर होगा :—(१) यह कि यातायात पर कितना व्यय होता है और (२) यह कि भारत और पाकिस्तान में क्रमशः कपास और चावल की अन्योन्य माँग (Reciprocal Demand) की तुलनात्मक लोच का अंश कितना है। जब तक भी भारत को एक मन चावल के बदले में ⅔ मन से अधिक कपास मिलती रहेगी, वह व्यापार करने को तैयार रहेगा। इसी प्रकार जब तक पाकिस्तान १ मन कपास के बदले में ⅔ मन से अधिक चावल प्राप्त करता रहेगा, उसे व्यापार से लाभ ही होगा और वह भी व्यापार करता रहेगा।

(२) तुलनात्मक अन्तर—ठीक इसी प्रकार हम उत्पादन व्यय के तुलनात्मक अन्तर का भी उदाहरण दे सकते हैं। नीचे का उदाहरण इसी प्रकार का है :—

प्रति मन सीमान्त उत्पादन व्यय (रुपयों में)

	पटसन	चावल
भारत	७	१४
बर्मा	६	५

इस उदाहरण में बर्मा पटसन तथा चावल दोनों को ही भारत की अपेक्षा कम कीमत पर उत्पन्न करता है, परन्तु बर्मा को चावल के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ अधिक है। इसके विपरीत बर्मा की तुलना में भारत में दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन व्यय अधिक है, परन्तु पटसन के उत्पादन में उसकी तुलनात्मक हानि कम है। इस प्रकार भारत में १ मन पटसन = १/२ मन चावल और बर्मा में १ मन पटसन = ६/५ मन चावल विनिमय अनुपात होंगे। भारत के लिए पटसन के उत्पादन में विशेपता प्राप्त करना लाभदायक होगा और बर्मा के लिए चावल के उत्पादन में। व्यापार द्वारा जब तक भारत को एक मन पटसन के बदले में १/२ मन से अधिक चावल मिलेगा, उसे लाभ ही होगा। इसी प्रकार जब तक बर्मा को १ मन चावल के बदले में ५/६ मन से अधिक पटसन मिलता रहेगा, उसे भी लाभ ही होगा। दोनों देशों के बीच पटसन और चावल का विनिमय अनुपात कहीं पर इन दोनों अनुपातों के बीच निश्चित होगा, अर्थात् एक मन पटसन के बदले में जितना चावल मिलेगा वह १/२ मन तथा ५/६ मन के बीच में ही रहेगा। चावल और पटसन के इस विनिमय अनुपात पर ३ बातों का प्रभाव पड़ेगा :— (१) यातायात व्यय, (२) अन्योन्य माँग की तुलनात्मक लोच और (३) उत्पत्ति का वह नियम जिसके अन्तर्गत उत्पादन हो रहा है। इस सम्बन्ध में इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि क्रमगत उत्पत्ति वृद्धि नियम व्यापार के लाभ में और भी वृद्धि कर देता है, क्योंकि उसके अन्तर्गत उत्पत्ति की प्रत्येक वृद्धि के साथ सीमान्त उत्पादन व्यय घटता जाता है। क्रमगत उत्पत्ति स्थिरता नियम का व्यापार की लाभदायकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, क्योंकि उत्पादन के बढ़ने पर भी सीमान्त उत्पादन व्यय ज्यों का त्यों ही रहता है, परन्तु यदि उत्पादन क्रमगत उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत होता है तो उत्पत्ति के बढ़ने से सीमान्त उत्पादन व्यय भी बढ़ जाता है और इसके कारण व्यापार के लाभों का अंश घटता जाता है। अन्त में एक ऐसी स्थिति आ सकती है, जबकि वह पूर्णतया समाप्त हो जाय। यहाँ पर व्यापार लाभदायक नहीं रहता है।

(३) समान अन्तर—उपरोक्त दोनों उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि उत्पादन व्यय के निरपेक्ष और तुलनात्मक दोनों प्रकार के अन्तर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को लाभदायक बना देते हैं और दोनों ही दशाओं में पारस्परिक व्यापार दोनों देशों के लिए हितकारी होता है। अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि उत्पादन व्यय के समान

अन्तरों का परिणाम क्या होगा। नीचे का उदाहरण इस प्रकार के अन्तरों को दिखाता है :—

प्रति मन सीमान्त उत्पादन व्यय (रुपयों में)

	चाय	चीनी
भारत	१६०	४०
चीन	१२०	३०

इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि चीन को भारत की तुलना में चाय और चीनी दोनों के उत्पादन में श्रेष्ठता प्राप्त है। दोनों का ही उत्पादन व्यय भारत की तुलना में नीचा है, किन्तु भारत में चाय और चीनी का अनुपात १ मन चाय = ४ मन चीनी रहेगा और इसी प्रकार चीन में भी दोनों का यही अनुपात रहेगा। यदि भारत दोनों का उत्पादन स्वयं करता है तो ४ मन चीनी के बदले में एक मन चाय प्राप्त होगी और यदि केवल चीनी का उत्पादन करके चाय चीन से मँगाता है तो भी ४ मन चावल के बदले में १ मन चाय ही मिलती है (यदि हम यह मान लेते हैं कि यातायात व्यय नहीं होता है)। ठीक यही बात चीन के विषय में भी कही जा सकती है और उसे भी भारत को चाय अथवा चावल भेजकर कोई लाभ नहीं होता है। भय उल्टा यह है कि यातायात व्यय के कारण व्यापार में हानि हो सकती है। निश्चय है कि ऐसी दशा में आपस में व्यापार का प्रश्न नहीं उठता है। इस प्रकार लागत के समान अन्तरों की दशा में दो देशों के बीच व्यापार नहीं होगा।

विदेशी व्यापार के लाभ—

देशी व्यापार की भाँति विदेशी व्यापार भी इसलिए किया जाता है कि उससे लाभ होता है। विदेशी व्यापार के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—

(१) प्रादेशिक श्रम विभाजन—इसके द्वारा विभिन्न देशों के बीच प्रादेशिक श्रम विभाजन सम्भव होता है। अलग-अलग देश केवल ऐसी वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त कर सकते हैं, जिनके उत्पादन में अधिकतम् योग्यता अथवा कुशलता प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक देश ऐसी वस्तुओं का उत्पादन करता है जिन्हें वह न्यूनतम् लागत पर उत्पन्न कर सकता है। इसके फलस्वरूप संसार भर में उत्पत्ति अनुकूलतम् दशाओं के अन्तर्गत होती है और मानव कल्याण की वृद्धि होती है।

(२) उपभोक्ताओं को सस्ती वस्तुयें मिलना—विदेशी व्यापार द्वारा उपभोक्ताओं को यह सुविधा मिलती है कि वे उन बाजारों से अपनी आवश्यकता की वस्तुयें खरीदें जहाँ वे सबसे कम मूल्य पर मिलती हैं। इससे संसार भर में मानव समाज का उपभोग-स्तर ऊँचा उठता है। साधारणतया विदेशों से माल मँगाया ही इसलिए जाता है कि वह देश में तैयार होने वाले वैसे ही माल की तुलना में सस्ता

होता है। इसके अतिरिक्त इस व्यापार द्वारा बहुत सी ऐसी वस्तुएँ भी प्राप्त हो जाती हैं जो अपने देश में उत्पन्न ही नहीं हो सकती हैं।

(३) आर्थिक संकट काल में सहायता—आर्थिक संकटों के कष्टों को भी विदेशी व्यापार की सहायता से काफी कम किया जा सकता है। कहा जाता है कि आधुनिक दुर्भिक्ष अनाज या वस्तुओं के अभाव से उत्पन्न नहीं होते है, बल्कि क्रय: शक्ति के अभाव के कारण उत्पन्न होते हैं। ऐसे संकट के काल में दूसरे क्षेत्रों से अन्न तथा दूसरी आवश्यक वस्तुएँ मँगाई जा सकती हैं। इस प्रकार विदेशी व्यापार आर्थिक कष्टों को कम करता है।

(४) वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों में समानता की प्रवृत्ति—विदेशी व्यापार के कारण संसार भर में लगभग सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों के समान रहने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। सभी देशों में अर्थ-व्यवस्था के विकास और उपभोग-स्तरों में समानता आ जाती है। इससे मजदूरियों तथा कार्य की दशाओं में भी समानता आती है, जिसके कारण लागत के तुलनात्मक अन्तरों के लाभ और भी सरलता से प्राप्त किये जा सकते हैं।

(५) उत्पादन विधि में सुधार को बढ़ावा—विदेशी प्रतियोगिता का भय देशी उत्पादकों को सुधार की ओर कार्यशील रखता है। वे उत्पादन विधियों में इस प्रकार के सुधार करते रहते है कि उत्पादन व्यय कम से कम रहे। इसके अतिरिक्त इससे प्रबन्ध की कुशलता में भी उन्नति होती है। परिणाम यह होता है कि उपभोक्ताओं को कम से कम मूल्य पर वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त हो जाती हैं।

(६) कच्चे माल की उपलब्धता—विदेशी व्यापार की सहायता से आवश्यक कच्चे माल, मशीनरी तथा शिल्प योग्यता विदेशों से मंगाकर देश के औद्योगीकरण को आगे बढ़ाया जा सकता है। इससे देश के साधनों का सर्वोत्तम उपयोग होता है।

(७) सांस्कृतिक सम्बन्ध व अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग—सामाजिक दृष्टिकोण से विदेशी व्यापार संसार के विभिन्न देशों के बीच सम्पर्क स्थापित करके अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भावना का विस्तार करता है।

विदेशी व्यापार की हानियाँ—

लाभों के साथ-साथ विदेशी व्यापार के कुछ गम्भीर दोष भी है, जो कुछ अंश तक इन लाभों के अच्छे परिणामों को नष्ट कर देते हैं। *अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अधिकांश लाभ तभी प्राप्त होते हैं जबकि विभिन्न देशों के बीच पारस्परिक सद्भावना हो और व्यापार पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध न हों, परन्तु आधुनिक संसार में न तो पारस्परिक सद्भावना ही है और न अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मार्ग निष्कंटक ही है।* विदेशी व्यापार की प्रमुख हानियाँ निम्न प्रकार है :—

(१) कच्ची सामग्री की समाप्ति—विदेशी व्यापार द्वारा देश के बहुत से ऐसे साधन समाप्त हो सकते हैं जिनका प्रतिस्थापन भी सम्भव होता है। बहुत से देशों में कोयला, पैट्रोल तथा अन्य भूगर्भ स्थित पदार्थ इसी प्रकार समाप्त होते जा रहे हैं। भारत की मैंगनीज और अबरक की खान बराबर खाली होती जा रही हैं और देश को इन आवश्यक धातुओं का समुचित मूल्य भी नहीं प्राप्त हो रहा है। यदि इन धातुओं का उपयोग देश के अन्दर ही औद्योगिक मालों के तैयार करने में किया जाता तो एक ओर तो इनके उपयोग में बचत की जा सकती थी और दूसरी ओर इसका अधिक लाभपूर्ण उपयोग हो सकता था।

(२) विदेशी प्रतियोगिता के घातक प्रभाव—विदेशी व्यापार देश के उद्योगों के लिए विदेशी प्रतियोगिता उपस्थित करता है। इसके द्वारा विकसित देशों को तो लाभ होता है, परन्तु अविकसित देशों में उद्योग-धन्धे या तो स्थापित ही नहीं हो पाते हैं या स्थापित होने के पश्चात् पनपने नहीं पाते हैं।

(३) देश का एकांगी विकास—विदेशी व्यापार देश के आर्थिक विकास को एक-दिशायी करके देश के लिए भारी समस्यायें उत्पन्न करता है। संकटकाल में ऐसे विकास के दुष्परिणाम भयंकर रूप में प्रकट होते हैं। दोनों महायुद्धों के काल का अनुभव यह स्पष्ट करता है कि जो देश खाद्य-पदार्थों अथवा अन्य आवश्यक वस्तुओं के लिए विदेशी व्यापार पर निर्भर रहते हैं, युद्धकाल में उनके कष्टों की कोई भी सीमा नहीं रहती है। विदेशी व्यापार के इसी दोष ने बीसवीं शताब्दी में आर्थिक राष्ट्रीयवाद को जन्म दिया है। उत्पत्ति के विशिष्टीकरण के कारण देश के कितने ही साधन बेकार पड़े रहते हैं, रोजगार का समुचित विकास नहीं होने पाता है और देश के आर्थिक जीवन की स्थिरता भी संकट में पड़ जाती है।

(४) विदेशों पर निर्भरता—विदेशी व्यापार विभिन्न देशों की अर्थ-व्यवस्थाओं को एक दूसरे पर अवलम्बित कर देता है। यह निर्भरता सदा अच्छी नहीं होती है, क्योंकि किसी एक देश में आने वाले आर्थिक संकट का प्रभाव संसार भर में व्याप्त हो जाता है।

(५) आदतों पर स्थायी प्रभाव—विदेशी व्यापार देश की उपभोग सम्बन्धी आदतों में भी हानिकारक परिवर्तन उत्पन्न कर सकता है। दीर्घकाल तक चीन के निवासी अफीम खाने के आदी बने रहे हैं, यद्यपि उस देश में अफीम का उत्पादन बिल्कुल नहीं होता है।

(६) अन्तर्राष्ट्रीय द्वेष—विदेशी व्यापार के कारण प्रारम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना और सहयोग को बढ़ावा अवश्य मिला था, लेकिन आजकल यह अन्तर्राष्ट्रीय द्वेष और युद्ध का आधार बना हुआ है। विदेशी व्यापार बढ़ाने की भावना ने उपनिवेश-वाद को जन्म दिया और अनेक राष्ट्र गुलाम बना कर शोषित किये जा रहे हैं।

(७) राशिपातन का भय—यह देखा गया है कि विदेशी बाजार को हथि-

पाने के लिए कुछ देश प्रारम्भ में वहाँ अति कम मूल्य पर वस्तुयें बेचते है और जब देशी उद्योग नुकसान उठाकर बन्द हो जाते हैं तब मनमाना मूल्य चार्ज करके जनता का शोषण करने लगते हैं।

(८) जीवन-स्तर में गिरावट—देश के व्यापार ऊँचे मूल्य पर वस्तुएँ बेचकर लाभ अर्जन करने के हेतु वस्तुओं का निर्यात कर देते है, जिससे कभी-कभी स्वदेश में वस्तुओं की कमी हो जाती है तथा नागरिकों का जीवन-स्तर गिर जाता है।

(९) खेतिहर देशों को हानि—जब एक खेतिहर देश किसी औद्योगिक देश से विदेशी व्यापार करता है, तो उसे हानि उठानी पड़ती है, क्योंकि वह ऐसी वस्तुएँ भेजता है जोकि बढ़ती हुई लागत के नियम के अन्तर्गत पैदा की जाती हैं और ऐसी वस्तुयें मंगाता है जोकि घटती हुई लागत के नियम के अन्तर्गत पैदा की जाती हैं।

इस प्रकार विदेशी व्यापार की अनेक हानियाँ हैं। २० वीं शताब्दी में भी इसके अनेक गम्भीर परिणाम दृष्टिगोचर हुए हैं। पारस्परिक सद्भावना के स्थान पर इसने अन्तर्राष्ट्रीय द्वेष तथा झगड़ों को प्रोत्साहन दिया है। इसने देशों को दासता की बेड़ियों में जकड़ दिया है और यह उनके आर्थिक और राजनैतिक शोषण का भारी कारण रहा है, परन्तु फिर भी किंचित यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि विदेशी व्यापार के लाभ हानियों की अपेक्षा अधिक हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ की सीमाएँ—

यहाँ पर हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ का अंश किन बातों पर निर्भर होता है। *टाउजिग (Taussig) का विचार है कि किसी देश को विदेशी व्यापार से होने वाला लाभ दो बातों पर निर्भर होता है—अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अथवा व्यापार की शर्तें और निर्यात की वस्तुयें उत्पन्न करने में देश की उत्पादन क्षमता।* इन दोनों का अलग-अलग विवेचन निम्न प्रकार है—

(१) व्यापार की शर्तें (Terms of Trade)—*इन शर्तों का अभिप्राय उस अनुपात से होता है जिस पर दो देशों में उत्पादित वस्तुओं का आपस में विनिमय होता है।* यदि हम भारत और बर्मा का उदाहरण लेते हैं और व्यापार न होने की दशा में भारत में १ मन पटसन के बदले में केवल $\frac{२}{३}$ मन चावल प्राप्त होता है, परन्तु व्यापार द्वारा बर्मा से $\frac{६}{५}$ मन चावल प्राप्त किया जा सकता है तो भारत का लाभ $\frac{६}{५}-\frac{२}{३}$ अर्थात् $\frac{८}{१५}$ मन चावल होगा। इसी प्रकार बर्मा में यदि देश के भीतर चावल और पटसन का अनुपात १ : $\frac{५}{६}$ है, परन्तु भारत से १ मन चावल के बदले में $\frac{३}{२}$ मन पटसन मिल सकता है तो बर्मा का लाभ $\frac{३}{२}-\frac{५}{६}$ अर्थात् $\frac{२}{३}$ मन पटसन होगा, परन्तु जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि यह विनिमय अनुपात दोनों देशों में एक-दूसरे की उपज की प्रति-माँग (Reciprocal Demand) की स्थिति पर निर्भर होता है। इसी माँग की आग्रहपूर्णता के अनुसार व्यापार की शर्तों में भी परिवर्तन

होते रहते हैं। प्रति-माँग की सापेक्ष अथवा तुलनात्मक लोच व्यापार की शर्तों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ की मात्रा को निश्चित करती है।

साम्य की दशा में विनिमय का अनुपात ऐसा होगा कि उस पर किसी देश के निर्यातों की कीमत उसके आयातों की कीमतों के बराबर हो जाय। इस प्रति माँग का प्रभाव व्यापार की शर्तों पर ही नहीं, बल्कि व्यापार के लाभों पर भी पड़ता है। टाउजिग के अनुसार :—*"उस देश को सबसे अधिक लाभ होता है जिसके निर्यातों की माँग सबसे अधिक होती है और जिसमें आयातों (दूसरे देशों के निर्यातों) की माँग केवल थोड़ी सी होती है। उस देश को सबसे कम लाभ होता है जिसमें अन्य देशों की उपजों की माँग बहुत अधिक होती है।"*

(२) उत्पादन क्षमता—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों पर दूसरा प्रभाव निर्यात की वस्तुओं के उत्पादन में देश के श्रम की कुशलता का पड़ता है। *वास्तविकता यह है कि दो व्यापारी देशों के बीच लागत के अन्तरों का मूल कारण श्रम की कुशलता ही होती है। श्रम की कुशलता के बढ़ने से सापेक्ष अथवा तुलनात्मक लागतों का अन्तर बढ़ जाता है और लाभपूर्ण व्यापार का क्षेत्र भी बढ़ जाता है।* जिस देश में श्रमिकों की कार्य-कुशलता अधिक होगी उसके निर्यातों की माँग भी अधिक रहेगी, देश में जनता की मौद्रिक तथा वास्तविक दोनों ही प्रकार की मजदूरियाँ ऊँची रहेंगी व्यापार से भी ऐसे देश को लाभ अधिक होगा, क्योंकि वह अपनी निर्यात वस्तुओं का अधिक उत्पादन करके विनिमय में बहुत अधिक वस्तुओं को प्राप्त कर सकेगा।

किसी देश के अन्तर्राष्ट्रीय लाभ की मात्रा का अनुमान उसकी मौद्रिक आय (Money Income) से लगाया जा सकता है, क्योंकि देश को मौद्रिक आय के रूप में ही लाभ प्राप्त होता है। जिस देश की वस्तुओं की माँग विदेशों में बहुत व निरन्तर रहती है उस देश की मौद्रिक आय का स्तर ऊँचा होता है, क्योंकि वहाँ निर्यात उद्योग उन्नत हो जाते हैं, उनमें मजदूरी की दर भी अधिक हो जाती है और अन्य उद्योगों की मजदूरी भी बढ़ जाती है (क्योंकि श्रमिक अधिक मजदूरी वाले उद्योगों में जाने लगते हैं)।

QUESTIONS

1. तुलनात्मक सापेक्ष लागत के सिद्धान्त को विवेचना सहित समझाइये और बतलाइये कि वास्तव में यह अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन को कहाँ तक स्पष्ट करता है?
(Agra, B. A., 1958)

2. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अध्ययन आंतरिक व्यापार से विभिन्न किस आधार पर किया जाता है ? समझाकर लिखिए।

(Agra, B. A., 1957 Supp.)

3. Discuss the principle of comparative costs and examine the criticisms against it. (Agra, B. A , 1955, 1956 ; Raj., B. A., 1956; Raj., B. Com., 1954; Jabalpur, B. A., 1958 ; Allahabad, B. A., 1958 ; Bihar, B. A., 1958)

4. Discuss the main factors that give rise to a separate theory of International Trade and describe briefly the advantages and disadvantages of foreign trade. (Agra, B. A., 1954)

5. "There ie no essential difference between domestic and international trade and consequently no place for a special theory regarding internatianal trade." Examine this statement carefully. (Raj., B. Com., 1957)

6. Discuss the advantages of International Trade.

(Rai., B. Com., 1957)

7. Distinguish between domestic and international trade and point out the advantages arising from the participation in International Trade. (Sagar, B. A., 1958)

8. अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में तुलनात्मक परिव्यय नियम से आप क्या समझते हैं। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार सदा इस नियम पर क्यों आधारित नहीं होता ?

(Sagar, B. A., 1957)

9. Examine fully the principle of comparative costs as an explanation of international trade. (Alld., B. A., 1958)

10. Explain the theory of comparative cost underlying international trade. (Aligarh, B. A., 1956)

11. Write short notes on :—
International Trade Organisation अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ
(Agra, B. A., 1959)

अध्याय २१

मुक्त व्यापार एवं संरक्षण

(Free Trade and Protection)

व्यापार नीतियाँ (Trade Policies)—

इस अध्याय में हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि व्यापार नीतियाँ कितने प्रकार की होती हैं और उनके क्या-क्या लाभ और दोष होते हैं ? आरम्भ में इतना बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि *व्यापार नीति का आशय देश द्वारा किये हुए उन सब कार्यों से होता है जो उस देश के वैदेशिक आर्थिक सम्बन्धों की व्यवस्था करने के लिए किए जाते हैं।* अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय में इस सम्बन्ध में दो नीतियाँ महत्त्वपूर्ण रही हैं—(i) मुक्त अथवा स्वतन्त्र व्यापार और (ii) संरक्षण। *मुक्त व्यापार का अभिप्राय अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय की स्वतन्त्रता से होता है।* एडम स्मिथ (Adam Smith) के शब्दों में, मुक्त व्यापार का अभिप्राय उस व्यापारिक नीति से है जिसमें घरेलू और विदेशी वस्तुओं में कोई अन्तर नहीं समझा जाता है और न किसी एक को बुरा समझा जाता है और न दूसरे को विशेष अधिकार दिये जाते हैं। इस व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं और सेवाओं के आवागमन पर किसी भी प्रकार की रुकावट नहीं होती है और अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अपनी स्वाभाविक गति से स्वतन्त्रतापूर्वक चलता रहता है। *संरक्षण की नीति में व्यापारिक प्रतिबन्ध अनिवार्य होते हैं।* वस्तुओं, सेवाओं और पूँजी के स्वतन्त्र आवागमन पर रोक लगाई जाती है और देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था को विदेशी आर्थिक प्रभाव से मुक्त करने का प्रयत्न किया जाता है। साधारणतया संरक्षण का उद्देश्य देश के उद्योगों की विदेशी स्पर्धा से रक्षा करना होता है। वस्तुओं के आयात पर पूर्णतः अथवा आँशिक रोक लगा दी जाती है, जिससे कि गृह-उद्योगों को उन्नति तथा विकास का अवसर मिलता रहे। संरक्षण का प्रमुख उद्देश्य तो यही होता है, किन्तु अनेक बार हस्तक्षेप के सभी कार्य, चाहे उनका उद्देश्य कुछ भी क्यों न हों, जिनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अस्वाभाविक अथवा कृत्रिम बाधाएँ उत्पन्न होती हैं, संरक्षण में सम्मिलित किये जाते हैं।

अब हम इन दोनों नीतियों का इस प्रकार अध्ययन करेंगे कि इनमें से कौन सी नीति अधिक उपयुक्त है। विशेष रूप में, हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि आर्थिक क्रियाओं के इस ध्येय को कि सामाजिक उत्पादन अधिकतम् हो, इन दोनों नीतियों में से प्रत्येक किस अंश तक पूरा करती है।

मुक्त व्यापार के लाभ—

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री सब के सब मुक्त व्यापार के पक्ष में थे और विदेशी व्यापार सम्बन्धी सभी बाधाओं को अनुचित समझते थे। उन्होंने मुक्त व्यापार की वांछनीयता को साधारणतया इसी कारण महत्त्वपूर्ण समझा था कि इससे श्रम विभाजन के सभी महत्त्वपूर्ण लाभ प्राप्त हो जाते हैं। इसके पक्ष में निम्न तर्क रखे जाते हैं—

(१) संसार में उत्पत्ति के साधनों का अनुकूलतम वितरण—निर्बाधावादी नीति का परिणाम यह होता है कि उसके द्वारा उत्पत्ति के साधनों का संसार भर में अनुकूलतम् वितरण होता है और इस प्रकार प्रस्तुत साधनों से अधिकतम् लाभ उठाया जा सकता है। अनियन्त्रित स्पर्धा के कारण प्रत्येक देश ऐसी वस्तुओं के उत्पादन में विशेषता प्राप्त करने का प्रयत्न करता है जिनमें उसे प्राकृतिक अथवा अन्य कारणों से अधिकतम् लाभ अथवा सुविधा प्राप्त होती है। सारे संसार तथा प्रत्येक राष्ट्र की आय को अधिकतम् करने की रीति यही हो सकती है कि प्रत्येक देश में उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन किया जाय जो वहाँ न्यूनतम् मूल्य पर उत्पन्न की जा सकती हैं।

(२) अकुशल एवं व्ययपूर्ण व्यवसायों की समाप्ति—अनियन्त्रित प्रतियोगिता के कारण अकुशल तथा व्ययपूर्ण व्यवसाय कुछ ही समय पश्चात् ठप्प हो जाते हैं। केवल ऐसे ही उद्योग चालू रहते हैं जो कम लागत पर उत्पादन कर सकते हैं, इसलिए उपभोक्ताओं को सभी स्थानों पर कम से कम कीमत पर वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त हो जाती हैं। इससे संसार भर में लोगों की वास्तविक आय में वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त मुक्त-व्यापार एकाधिकारों तथा औद्योगिक संघों को बनने से रोकता है, क्योंकि यह प्रतियोगिता पर आधारित होता है।

(३) पारस्परिक सहयोग एवं सद्भावना—स्वतन्त्र व्यापार संसार के देशों को एक-दूसरे पर निर्भर बना कर उनके बीच पारस्परिक सद्भावना एवं सहानुभूति पैदा करता है। इसके द्वारा सभी देशों को यह ज्ञात हो जाता है कि उनमें से प्रत्येक का हित एक-दूसरे के हित तथा सभी के सामूहिक हित पर निर्भर है।

(४) भौगोलिक स्थानीयकरण को प्रोत्साहन—स्वतंत्र व्यापार के अन्तर्गत हर एक देश केवल वही वस्तुयें उत्पन्न करता है जिनके लिये उस देश में प्राकृतिक सुविधायें प्राप्त हों। इस प्रकार उद्योगों के भौगोलिक स्थानीयकरण को बढ़ावा मिलता है तथा श्रम विभाजन के लाभ प्राप्त होते हैं।

(५) एकाधिकारी संघों पर रोक—पारस्परिक प्रतियोगिता के कारण एकाधिकारी संघों के विकास पर रोक लगती है और वस्तुओं के मूल्य बहुत ऊँचे नहीं होने पाते हैं।

(६) बाजार के क्षेत्र का विस्तार—स्वतन्त्र व्यापार में विदेशी व्यापार की वस्तुओं का क्रय-विक्रय दूर-दूर तक अनेक देशों से होने लगता है। इस प्रकार

उनका बाजार बहुत विस्तृत हो जाता है, वस्तुओं के मूल्य भी कम हो जाते हैं (विशेषतः तब जब कि उनका उत्पादन उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत किया जा रहा है)। इससे देशों को निरपेक्ष लाभ और तुलनात्मक लाभ अधिक मिलने लगते हैं।

संरक्षण की वांछनीयता (Arguments for Protection)—

यद्यपि मुक्त-व्यापार के लाभ महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु इसमें कुछ ऐसे गम्भीर दोष भी हैं जिनके कारण आधुनिक संसार के सभी देशों ने इस नीति का परित्याग कर दिया है। १६ वीं शताब्दी में इङ्गलैंड तथा अन्य बड़े-बड़े देश मुक्त व्यापार के भारी समर्थक थे, परन्तु प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इसका संसार से अस्तित्त्व ही मिट गया है। साधारणतया संरक्षण का उद्देश्य उपभोक्ताओं के हितों को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय उद्योगों की उन्नति करना होता है, परन्तु आर्थिक कारणों के अतिरिक्त अनेक बार राजनैतिक कारण भी संरक्षण को प्रोत्साहन देते हैं। संरक्षण का वास्तविक आधार मनुष्य का स्वार्थ है। वह स्वभाव से ही प्रतियोगिता से घृणा करता है। संरक्षण के पक्ष में अनेक तर्क रखे जाते हैं, परन्तु जैसा कि हम आगे की विवेचना में देखेंगे कि कुछ तर्क तो मान्य हैं, परन्तु अधिकाँश तर्क केवल कृत्रिम हैं। प्रमुख तर्क निम्न प्रकार हैं-

(१) शिशु-उद्योग तर्क (The Infant Industries Argument)—संरक्षण के पक्ष में यह तर्क सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस तर्क के जन्मदाता जर्मनी के प्रसिद्ध राष्ट्रीयवादी अर्थशास्त्री फ्रेडरिक लिस्ट (Frederich List) हैं। इस तर्क को इतना महत्त्वपूर्ण माना गया है कि मुक्त-व्यापार के महान् समर्थकों ने भी इसको स्वीकार किया है। शिशु-उद्योग तर्क का आधार यह है कि संसार के सभी देशों में आर्थिक विकास की अवस्था एक सी नहीं होती है। विभिन्न कारणों से कुछ देश औद्योगीकरण का आरम्भ शीघ्र कर देते हैं और कुछ देश इस दिशा में पीछे रह जाते हैं। कालान्तर में विकसित देशों के उद्योगों को अनुभव, पैमाने के विस्तार तथा शिल्प ज्ञान के कारण कुछ विशेष सुविधायें प्राप्त हो जाती हैं, जिनके कारण उनकी प्रतियोगी शक्ति बढ़ जाती है। *जिन देशों में उद्योगों का विकास देर में होता है वहाँ के उद्योग शिशु अवस्था में ही होते हैं, जो विकसित देशों के वयस्क उद्योगों की प्रतियोगिता की क्षमता नहीं रखते हैं।* इसमें तो सन्देह नहीं है कि यदि इन उद्योगों को उन्नति और विकास का अवसर दिया जाय तो कुछ समय पश्चात् ये भी प्रतियोगिता कर सकने की शक्ति प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु यदि *मुक्त-व्यापार नीति का अनुकरण किया जाता है तो विकसित देशों के उद्योग इन्हें फलने-फूलने से पूर्व ही नष्ट कर सकते हैं। इन शिशु उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना आवश्यक होता है।* यदि ऐसा नहीं किया जाता है तो विकसित देश अविकसित देशों का विकास ही नहीं होने देंगे। इस तर्क का आधार तो ठीक है, किन्तु इसके सम्बन्ध में यह कठिनाई है कि यह निर्णय बहुधा कठिन होता है कि शिशु उद्योग को कैसे पहिचाना जाय ? अनेक देशों ने इस तर्क के आधार पर किसी भी उद्योग को शिशु उद्योग

घोषित करके संरक्षण की नीति को उचित बताया है, परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों का विचार है कि *केवल उसी उद्योग को शिशु अवस्था में कहा जा सकता है, जिसे उद्योग सम्बन्धी सभी प्रकार की आन्तरिक बचत तो प्राप्त हों, परन्तु अभी बाह्य बचत उपलब्ध न हो सकी हों।* स्वयं लिस्ट ने कहा कि केवल निम्नलिखित तीन दशाओं में ही संरक्षण मिलना चाहिए:—

(क) *संरक्षण का उद्देश्य राष्ट्र को औद्योगिक शिक्षा प्रदान करना होना चाहिए।* ऐसे देशों में संरक्षण नहीं होना चाहिए जहाँ पर औद्योगिक उन्नति पहले से ही पर्याप्त हो चुकी है, अथवा जहाँ उद्योगों को उन्नति की कोई सम्भावना ही नहीं है।

(ख) *संरक्षण अस्थाई होना चाहिए।* यह केवल उन्हीं देशों के लिए लाभदायक हो सकता है जहाँ विदेशी प्रतियोगिता के कारण राष्ट्रीय उद्योगों की अवनति हो रही है। उद्योगों का समुचित विकास होते ही संरक्षण हटा लेना चाहिए। संरक्षण केवल शिशु अवस्था के लिए ही उपयुक्त होता है।

(ग) *कृषि उद्योग को संरक्षण नहीं मिलना चाहिए,* क्योंकि अन्य उद्योगों की उन्नति स्वयं ही उसकी भी उन्नति कर देगी।

शिशु उद्योग के आधार पर बनाई गई संरक्षण-नीति में निम्न दोष हैं:—(i) शिशु उद्योग की पहिचान कठिन है। (ii) नये उद्योग को प्रदान किये गये संरक्षण में स्थायी होने की प्रवृत्ति रहती है अर्थात् जब उद्योग युवावस्था में भी पहुँच जाता है, तो सम्बन्धित उद्योगपति अपने स्वार्थ-वश संरक्षण को हटवाने के लिए तैयार नहीं होते। (iii) संरक्षण काल में उपभोक्ताओं को हानि होती है, क्योंकि उन्हें वस्तुओं का अधिक मूल्य देना पड़ता है।

(२) बेकार साधन सम्बन्धी तर्क (The Idle Rosources Argument)—यह तर्क शिशु उद्योग तर्क से थोड़ा सा भिन्न है। इसका आशय यह है कि ऐसे देश को संरक्षण से लाभ होगा जिसमें बहुत से साधन बेकार पड़े हुए हैं। विदेशी आयातों के सुगमतापूर्वक तथा कम मूल्यों पर प्राप्त हो जाने के कारण यह सम्भव है कि देशवासी देश के साधनों का समुचित उपयोग ही न करें। ऐसी दशा में देश में साधनों की प्रचुरता होते हुए भी जनसाधारण में दरिद्रता हो सकती है। *संरक्षण केवल शिशु उद्योगों को ही बढ़ने का अवसर नहीं देता है, उसके द्वारा पूर्णतया नये उद्योगों को खड़ा करके देश के साधनों का पूर्ण उपयोग किया जा सकता है* और इस प्रकार देश में धन के उत्पादन को बढ़ा कर सामान्य उपभोग-स्तर को ऊँचा किया जा सकता है।

(३) उद्योग विविधता का तर्क (The Diversification of Industries Argument)—यह तर्क भी सर्व प्रथम लिस्ट ने ही प्रस्तुत किया था।

उनका मत था कि एक देश में विभिन्न प्रकार के उद्योगों का रहना ही अधिक अच्छा होता है। यदि बहुत से अण्डों को एक ही टोकरी में रख दिया जाता है तो उनके टूटने का अधिक भय रहता है। इसी प्रकार *यदि देश के समस्त साधनों को एक या दो-चार उद्योगों में ही लगा दिया जाता है तो इन उद्योगों में कुछ भी विघ्न उत्पन्न होने से सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था ही अस्त-व्यस्त हो जाती है। अतः यह आवश्यक है कि देश की एक ही उद्योग पर निर्भरता दूर करने के लिए नये-नये उद्योगों को संरक्षण प्रदान करके प्रोत्साहित किया जाय।* ऐसा करने से दो मुख्य लाभ प्राप्त होंगे :—एक ओर तो देश में सन्तुलित अर्थ-व्यवस्था स्थापित करना सम्भव हो जायगा और दूसरी ओर देश के विविध प्रकार के सम्पूर्ण साधनों का उपयोग हो सकेगा, परन्तु इस तर्क के सम्बन्ध में हमें इतना अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि इसमें विशिष्टीकरण के लाभों का विस्मरण कर दिया गया है।

(४) आधार उद्योग तर्क (Key Industry's Argument)—इस तर्क के अनुसार प्रत्येक देश को अपने आधार उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना चाहिए। *देश का आर्थिक विकास आधार उद्योगों की ही उन्नति पर निर्भर होता है। ऐसे उद्योग वे होते हैं जिनका तैयार माल अन्य उद्योगों में कच्चे माल के रूप में उपयोग किया जाता है।* लोहा और इस्पात उद्योग, रासायनिक पदार्थ उद्योग, इन्जीनियरिंग उद्योग आदि ऐसे ही उद्योग हैं।

(५) रक्षा तर्क (Defence Argument)—यह तर्क इस विश्वास पर आधारित है कि *देश की रक्षा और उसकी स्वतन्त्रता को स्थिर रखना अन्य सभी बातों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होता है,* इसलिये देश की सैनिक शक्ति को बढ़ाने और बनाये रखने के लिये रक्षा उद्योगों को संरक्षण देना आवश्यक होता है। सैनिक उद्योग तथा वे उद्योग जो सेना के संगठन के लिये आवश्यक होते हैं, संरक्षण के अधिकारी हैं। आज के संसार में, जबकि प्रति दिन युद्ध के काले बादल मंडराते रहते हैं, इस तर्क का महत्त्व अधिक है।

(६) वृत्ति सम्बन्धी तर्क (The Employment Argument)—इस तर्क का सार यह है कि *यदि किसी देश में बेरोजगारी काफी अधिक है तो उसे दूर करने के लिए संरक्षण की नीति अधिक उपयुक्त होगी।* संरक्षण का रोजगार पर दो दिशाओं में प्रभाव पड़ता है। आयातों के घट जाने से वर्तमान उद्योगों की उत्पादन शक्ति के विस्तार द्वारा रोजगार की वृद्धि होती है और आयातों के अभाव के कारण जो माँग असन्तुष्ट रहती है उसकी पूर्ति के लिए नए-नए उद्योग खुल सकते हैं।

(७) घरेलू साधनों के रक्षण सम्बन्धी तर्क (Conservation of Domestic Resources' Argument)—स्वतन्त्र व्यापार द्वारा अनेक बार देश के साधनों का व्ययपूर्ण उपयोग होता है। ऐसा कहा जाता है कि स्वतन्त्र व्यापार ने ब्रिटेन की कोयले की खानों को खाली कर दिया है। इसी प्रकार भारत के मैंगनीज

और अबरक के खनिज भण्डार का इसके कारण पर्याप्त उपयोग किया जा चुका है। स्मरण रहे कि इन वस्तुओं को प्रकृति ने केवल सीमित मात्रा में ही प्रदान किया है। *इन बहुमूल्य धातुओं को देश के अन्दर निर्माण उद्योगों में उपयोग करके काफी अधिक लाभ कमाया जा सकता है। यदि कोई देश इन वस्तुओं के बचाव के लिये संरक्षण नीति को ग्रहण करता है तो यह उचित ही होगा।*

(८) प्रतिकारी अथवा राशिपातन विरोधी तर्क (Retaliation or Anti-dumping Argument)—इस तर्क के अनुसार प्रतिकार के रूप में संरक्षण करों का लगाना उचित बताया जाता है। *यदि कोई देश हमारे देश से आने वाले माल पर प्रतिबन्ध लगाता है तो हमें भी उस देश से आने वाले माल पर प्रतिबन्ध लगाने में संकोच नहीं करना चाहिए।* राशिपातन के विरुद्ध संरक्षण कार्यवाही करना तो स्वतन्त्र व्यापार के पक्षपाती भी उचित समझते हैं, क्योंकि राशिपातन का उद्देश्य उत्पादन व्यय से भी कम कीमत पर माल बेचकर देशी उद्योगों को समाप्त करना होता है, जिससे कि भविष्य में एकाधिकारी द्वारा उसी माल का ऊँचा मूल्य प्राप्त किया जा सके।

(९) राष्ट्रीय स्वावलम्बता तर्क (National Self-sufficiency Argument)—यह तर्क प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है। इसके अनुसार देश को अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुयें स्वयं ही उत्पन्न करनी चाहिए। अधिकांश देशों का सामान्य अनुभव यही रहा है कि युद्धकाल में विदेशों से माल नहीं मंगाया जा सकता है, जिसके कारण एक ओर तो रक्षा व्यवस्था बलहीन हो जाती है और दूसरी ओर जनता को अधिक कष्ट होता है, *अतः जब तक संसार से लड़ाई का भय पूर्णतया नहीं मिट जाता है, प्रत्येक देश को आवश्यकता की सभी वस्तुएँ देश में ही उत्पन्न करनी चाहिए।*

(१०) द्रव्य को देश में रखने तथा गृह बाजार का तर्क (Keeping Money at Home Argument or the Home Market Argument)—यह तर्क अमरीका की ओर से अनेक बार प्रस्तुत किया गया है। ऐसा कहा जाता है कि *यदि हम विदेशों से माल नहीं मंगाते हैं तो देश का द्रव्य देश में ही रहता है, परन्तु यह तर्क इस कारण निराधार है कि यदि हम आयात नहीं ग्रहण करते हैं तो निर्यात भी नहीं कर पायेंगे।* अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में द्रव्य के खोने या पाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि अन्तिम दशा में आयातों और निर्यातों का सन्तुलन होना आवश्यक होता है। इसी तर्क से मिलता-जुलता तर्क गृह बाजार तर्क भी है। ऐसा कहा जाता है कि *संरक्षण द्वारा उद्योगों का विस्तार करके अधिक व्यक्तियों को रोजगार दिया जा सकता है और इस प्रकार गृह-बाजार का भी विस्तार सम्भव होता है, परन्तु इस सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है कि आयातों के साथ-साथ निर्यात भी घटेंगे और गृह-बाजार के विस्तार की दशा में विदेशी बाजार का संकुचन होगा।*

(११) मजदूरी तर्क (Wage's Argument)—इस तर्क के अनुसार एक ऐसे देश को जिसमें मजदूरी की दरें ऊँची हैं, *ऐसे देश से माल के आने पर प्रतिबन्ध लगाने चाहिए जहाँ मजदूरियाँ बहुत कम हैं,* क्योंकि ऐसा देश सदैव ही नीचे मूल्यों पर वस्तुएं बेच सकता है ।

संरक्षण विरोधी तर्क—

संरक्षण एक अमिश्रित आशीर्वाद नहीं है । अनेक बार उसके राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था पर बुरे प्रभाव पड़ते हैं । संरक्षण नीति आर्थिक जीवन में सरकारी हस्तक्षेप की नीति होती है, इस कारण सरकार उसके परिणामों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करती है और यथासम्भव उससे उत्पन्न होने वाले दोषों को दूर करने का प्रयत्न भी करती है । संरक्षण के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) अकुशल और सारहीन उद्योगों का पालन—संरक्षण बहुधा देश में ऐसे उद्योगों को प्रोत्साहित करता है जो आर्थिक दृष्टिकोण से देश के लिए उपयुक्त नहीं होते हैं । कहा जाता है कि संरक्षण की ऊँची दीवारों के पीछे पूर्णतया अकुशल तथा सारहीन उद्योग भी पलते रहते हैं । ऐसे उद्योग एक विशेष समस्या उत्पन्न करते हैं । यदि उनका संरक्षण बन्द कर दिया जाता है तो प्रतियोगिता के कारण वे ठप्प हो जाते हैं और देश को पर्याप्त हानि होती है । इसके विपरीत यदि उन्हें निरन्तर संरक्षण के द्वारा ही जीवित रखा जाता है तो वे सदा के लिए देश पर एक प्रकार का भार बन जाते हैं ।

(२) विशिष्टीकरण में बाधा और साधनों का अनार्थिक उपयोग—संरक्षण के कारण साधन अरक्षित उद्योगों से हटकर रक्षित उद्योगों में जाने लगते हैं । इससे एक ओर तो विशिष्टीकरण के मार्ग में बाधा पड़ती है, जिससे कीमतें ऊँची ही बनी रहती हैं और दूसरी ओर साधनों का अनार्थिक उपयोग होता है । दोनों ही दशाओं में उपभोक्ताओं को हानि होती है । विशिष्टीकरण न होने के कारण उत्पादन-व्यय तथा मूल्य नीचे नहीं गिरने पाते हैं और आयातों के न रहने से मूल्य ऊपर चढ़ते हैं । उपभोक्ताओं द्वारा ऊँची कीमतों के रूप में जो अदृश्य कर दिया जाता है, वह भी सरकारी खजाने को नहीं जाता, बल्कि रक्षित उद्योगों के मालिकों के लाभों में वृद्धि करता है ।

(३) आय के वितरण में असमानता—संरक्षण बहुधा देश में आय के वितरण की असमानताओं में वृद्धि करता है । यह निर्धन वर्गों पर धनियों के लाभ के लिए अदृश्य कर लगाकर उन्हें और भी धनहीन बना देता है ।

(४) औद्योगिक संघों व एकाधिकारों को जन्म—विदेशी प्रतियोगिता को समाप्त करके संरक्षण देश में औद्योगिक संघों और एकाधिकारों को उत्पन्न करता है ।

(५) उद्योगों में शिथिलता—संरक्षण उद्योगों में शिथिलता उत्पन्न करता

है। प्रतियोगिता का भय न रहने के कारण वे सुधार तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध की ओर कम ही ध्यान देते हैं।

(६) राजनैतिक भ्रष्टाचार—बहुत बार संरक्षण द्वारा देश में निहित हित (Vested Interests) उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे राजनैतिक भ्रष्टाचार फैलता है।

(७) राष्ट्रों में मन मुटाव—जब एक देश संरक्षण की नीति अपनाता है, तो दूसरा देश उसका प्रतिकार (Retaliation) करता है, जिससे परस्पर बेचैनी व मनमुटाव बढ़ता है और युद्ध तक छिड़ जाता है।

(८) विदेशी व्यापार में कमी—संरक्षण के कारण विदेशों से आयात व्यापार घट जाता है और साथ ही निर्यात व्यापार भी, क्योंकि विदेशी सरकार भी प्रतिकार करती हैं। इस प्रकार विदेशी व्यापार का ह्रास होता है।

(९) संरक्षण के स्थायी होने की प्रवृत्ति—एक बार संरक्षण मिल जाने पर उद्योगपति अपने स्वार्थ वश उसे आवश्यक न होने पर बनाए रखने का प्रयत्न करते हैं।

(१०) उपभोक्ताओं को हानि होती है, क्योंकि उन्हें संरक्षित वस्तुओं के अधिक मूल्य देने पड़ते हैं।

संरक्षण की रीतियाँ—

संरक्षण प्रदान करने की अनेक रीतियाँ होती हैं, परन्तु निम्न रीतियाँ अधिक प्रचलित हैं :—

(१) संरक्षण प्रशुल्क (Protective Tariffs)—यह रीति सबसे अधिक प्रचलित है। *इसमें आयातों को रोकने के लिए उन पर आयात कर लगाये जाते हैं।* व्यवहार में ऐसे कर अनेक प्रकार के हो सकते हैं, जैसे—*यथामूल्य कर*, जो मूल्य के एक निश्चित अनुपात के रूप में लगाया जाता है; *प्रमाणिक कर*, जो अलग-अलग दरों में लगाया जाता है, इत्यादि। इन करों का प्रभाव यह होता है कि विदेशों से आने वाले माल की कीमत बढ़ जाती है, जिसके कारण देश में उसकी खपत कम हो जाती है।

(२) आयात अभ्यंश (Import Quotas)—यह संरक्षण की एक अधिक सप्रभाविक रीति है। इसके *अन्तर्गत विदेशों से आने वाले माल की अधिकतम् मात्रा निश्चित कर दी जाती है।* कभी-कभी तो कुल आयात का अभ्यंश निश्चित कर दिया जाता है, परन्तु साधारणतया अलग-अलग देशों में अभ्यंश पृथक-पृथक नियत किए जाते हैं। इस प्रकार अभ्यंश निश्चित करके वस्तु विशेष की पूर्ति को नियन्त्रित किया जाता है और देश में उसके उत्पादन के लिए समुचित अवकाश रखा जाता है।

(३) सरकारी आर्थिक सहायता—*इस रीति के अनुसार व्यापारियों और उद्योगपतियों को विशेष छूट, अनुदान, ऋण अथवा अन्य प्रकार की*

आर्थिक सहायताएँ प्रदान की जाती हैं। देश के उद्योगपतियों को करों में छूट देकर, कम ब्याज अथवा बिना ब्याज पर ऋण देकर अथवा निर्यातों पर आर्थिक सहायता देकर देश में उत्पादन की वृद्धि की जाती है।

(४) विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control)—इस प्रणाली में विदेशी विनिमय पर नियन्त्रण लगा दिए जाते हैं, जिसके फलस्वरूप आयातों पर प्रतिबन्ध लग जाते हैं।

(५) निषेध (Prohibition)—इसके अन्तर्गत कुछ मालों का आयात अथवा निर्यात पूर्णतया वर्जित कर दिया जाता है।

(६) स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रतिबन्ध—यह संरक्षण की एक अनूठी रीति है। इसमें देश में आने वाले माल को कुछ विशेष रीतियों से रोग-मुक्त किया जाता है, जिससे उनके मूल्य बढ़ जाते हैं और प्रतियोगिता शक्ति का ह्रास हो जाता है।

(७) विनिमय ह्रास अथवा अवमूल्यन—इसका विस्तृत अध्ययन एक पिछले अध्याय में किया जा चुका है। यहाँ पर केवल इतना ही बता देना पर्याप्त है कि इसके द्वारा विदेशों में निर्यात की कीमत घट जाती है और देश में आयातों की कीमत बढ़ जाती है, अतः आयात हतोत्साहित होते हैं एवं निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है।

निष्कर्ष—

संरक्षण की इन विभिन्न रीतियों के सम्बन्ध में यह निर्णय देना कठिन है कि इनमें से कौन सी रीति सबसे अधिक उपयुक्त है। *प्रत्येक प्रणाली के अपने ही अलग-अलग गुण और दोष होते हैं। संसार में अधिक प्रचलन आयात प्रशुल्क का है, क्योंकि इसके द्वारा सरकार को भी आय प्राप्त हो जाती है और आयात करों के भार को एक अंश तक विदेशियों पर भी डाला जा सकता है,* परन्तु आयात कर संरक्षण का एक बहुत ही शक्तिशाली उपाय नहीं है। अभ्यंश प्रणाली द्वारा संरक्षण का उद्देश्य पूर्ण रूप में पूरा हो जाता है, परन्तु यह बहुधा प्रतिकार (Retaliation) को जन्म देती है और भारी आर्थिक और राजनैतिक उलझनें उत्पन्न कर देती है। ठीक यही बात संरक्षण की अन्य रीतियों के विषय में भी कही जा सकती है। *वास्तविकता यह है कि संरक्षण की प्रत्येक रीति अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भावना के विरुद्ध होती है।*

स्वतन्त्र व्यापार, उचित व्यापार एवं संरक्षण—

स्वतन्त्र व्यापार वह व्यापार है जिसमें विभिन्न देशों के मध्य वस्तुओं का विनिमय बिना किसी बाधा के होता है, जबकि संरक्षण वह व्यापारिक नीति है जिसके अन्तर्गत स्वदेशी उद्योगों की लाभ-दृष्टि से विदेशी वस्तुओं के आयात पर प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। दोनों ही नीतियाँ दोषपूर्ण हैं। किन्तु इनके बीच का एक मार्ग और है, जिसे

अपनाकर दोनों नीतियों के लाभ प्राप्त करते हुए दोषों से बचा जा सकता है। यह मार्ग है उचित व्यापार की नीति अपनाने का। उचित व्यापार वह व्यापार है जिसमें प्रतिबन्ध विदेशियों के बनावटी लाभ के अनुचित प्रभाव को समाप्त करने के लिए लगाये जाते हैं। इस नीति का उद्देश्य यह है कि स्वदेश के उत्पादक भी अपनी वस्तुओं को विदेशी उत्पादकों के साथ ही साथ बेच सकें। अतः उचित व्यापार में कर केवल इतना लगाया जाता है कि देशी व विदेशी वस्तुओं का मूल्य बराबर हो जाय।

QUESTIONS

1. "Protection must not be protection of excessive costs, inefficient methods and obsolete equipment, nor should it encourage the practice of relying on signs, cartels, tariffs and guaranteed marked rather than on efficient production." In the light of the above statement, examine the obligations of protected industries in India. (Agra, B. A., 1956 Supp.)

2. Discuss the arguments in favour of protection (संरक्षण). Do you think India should adopt a policy of protection ? What do you understand by Discriminating protection ?
(Raj., B. A., 1958)

3. What are the arguments in favour of a 'policy of protection' ? What is meant by a policy of 'discriminating protection' ?
(Raj., B. A., 1957)

4. नोट लिखिए—विवेचनात्मक संरक्षण (Discriminating Protection).
(Jabalpur, B. A., 1958 ; Agra, B. A., 1959)

5. Discuss critically the main arguments in support of free trade in the present condition of world trade.
(Agra, B. A., 1959)
संसार की वर्तमान व्यापारिक दशा में स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में तर्कपूर्ण सुझाव दीजिए।

अध्याय २२

व्यापार एवं भुगतान सन्तुलन

(Balance of Trade and Payments)

व्यापार संतुलन का अर्थ—

वर्तमान काल में प्रत्येक देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में संरक्षण की नीति को अपनाता है। विभिन्न रीतियों द्वारा आयातों को घटाने व निर्यातों को बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है। इसका उद्देश्य यह होता है कि व्यापार सन्तुलन देश के पक्ष में रहे। *व्यापार सन्तुलन (Balance of Trade) का अर्थ आयात और निर्यात के अन्तर से होता है। यह अन्तर दो प्रकार का होता है :—*

(अ) अनुकूल व्यापार सन्तुलन—जब निर्यात अधिक और आयात कम होते हैं तो इस अन्तर को अनुकूल व्यापार सन्तुलन (Favourable Balance of Trade) कहते हैं। प्रत्येक देश यही प्रयत्न करता है कि उसका व्यापार संतुलन उसके पक्ष में रहे।

(ब) प्रतिकूल व्यापार संतुलन—जब आयात अधिक और निर्यात कम होते हैं तो इन आयातों व निर्यातों के अन्तर को 'प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन' (Unfavourable Balance of Trade) कहते हैं। प्रत्येक देश इस बात का प्रयत्न करता है कि उसके देश का व्यापार सन्तुलन इस प्रकार का न रहे।

भुगतान सन्तुलन का अर्थ—

वर्तमान काल में वस्तुओं के अलावा सेवाओं का भी आवागमन भिन्न-भिन्न देशों के बीच में होता है। वस्तुओं के आयात और निर्यात के अन्तर को, जैसा कि ऊपर समझाया जा चुका है, व्यापार सन्तुलन कहते है, *परन्तु वस्तुओं व सेवाओं आदि तथा देश के कुल निर्यातों व आयातों व उनके मूल्य का एक सम्पूर्ण विवरण बनाया जाता है। यह विवरण बहीखाते के एक पृष्ठ की भाँति प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें बायीं ओर तो समस्त निर्यातों व उनकी कीमतों का ब्यौरा दिया जाता है और दाहिनी ओर आयातों का सविस्तार वर्णन होता है। इस प्रकार एक ओर तो उन शीर्षकों को दिखाया जाता है जिन पर विदेशियों से भुगतान प्राप्त होते हैं और दूसरी ओर उन शीर्षकों को जिनके निमित्त विदेशियों को भुगतान किए जाते हैं। इन दोनों शीर्षकों के कुल अन्तर को भुगतान सन्तुलन (Balance of Payment) कहते हैं।* शीर्षकों के अनुसार भुगतान सन्तुलन का विवरण निम्न प्रकार का होता है :—

लेन	देन
विदेशियों से नीचे लिखे हुये कारणों से भुगतान प्राप्त किये जाते हैं :—	विदेशियों को नीचे लिखे हुए कारणों से भुगतान किए जाते हैं :—
(१) वस्तुओं के निर्यात,	(१) वस्तुओं के आयात,
(२) सेवाओं के निर्यात,	(२) सेवाओं के आयात,
(३) विदेशी ऋणों तथा विनियोगों से प्राप्त होने वाली आय, जिसमें मूलधन का लौटाना, ब्याज तथा लाभ सम्मिलित होते हैं,	(३) विदेशियों को ऋण के चुकाने, ब्याज, लाभ आदि के रूप में किये जाने वाले शोधन,
(४) विदेशी यात्रियों द्वारा देश में किया जाने वाला व्यय,	(४) देश के यात्रियों द्वारा विदेशों में किया जाने वाला व्यय,
(५) विदेशियों से प्राप्त होने वाले मुआवजे, युद्ध व्यय, दान, दण्ड आदि,	(५) विदेशियों को दिये हुये मुआवजे, दान, जुर्माने इत्यादि,
(६) अन्य प्रकार के शोधन, जो विदेशियों से प्राप्त होते हैं।	(६) विदेशियों को दिये जाने वाले अन्य प्रकार के शोधन।

भुगतान सन्तुलन बहुधा वार्षिक आधार पर बनाया जाता है और इसमें आयातों अर्थात् दाहिनी ओर के शीर्षकों की कीमत एक पूर्व निश्चित विनिमय दर के आधार पर लगाई जाती है, क्योंकि वैसे तो उनकी कीमत विभिन्न चलनों (Currencies) में होती है।

भुगतान सन्तुलन और व्यापार सन्तुलन में भेद—

भुगतान संतुलन शब्द से ही मिलता-जुलता शब्द व्यापार सन्तुलन है। यह भी एक ऐसा विवरण होता है जिसमें आयातों व निर्यातों का विस्तृत विवरण रहता है, परन्तु आयात व निर्यात दो प्रकार के होते हैं, अर्थात् दृश्य (Visible) व अदृश्य (Invisible)। भुगतान सन्तुलन में तो इन दोनों ही प्रकार के आयातों व निर्यातों को सम्मिलित किया जाता है, परन्तु व्यापार सन्तुलन में केवल दृश्य निर्यातों व आयातों (Visible Exports and Imports) को ही शामिल किया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि भुगतान सन्तुलन का तो सदा ही सन्तुलन होता है, जबकि व्यापार सन्तुलन का सन्तुलन आवश्यक नहीं होता है। आयातों की मात्रा निर्यातों की तुलना से कम भी हो सकती है और अधिक भी।

व्यापार सन्तुलन प्रतिकूल होने के कारण—

भारतवर्ष के पिछले कुछ वर्षों के विदेशी व्यापार की महत्त्वपूर्ण घटना व्यापार

सन्तुलन का भारत के विपक्ष में होना है। इस व्यापार के सन्तुलन के विपक्ष में होने के निम्नलिखित कारण हैं :—

(१) भारत में मुद्रा प्रसार के कारण भिन्न-भिन्न उद्योगों की उत्पादन दर बढ़ रही है, जिसके कारण भारतीय माल विदेशों को सस्ते मूल्य पर नहीं भेजा जा सका है।

(२) भारतीय माल अधिक मात्रा में विदेशों को नहीं भेजा जा सका है, क्योंकि देश का उत्पादन घट गया है, विशेष तौर पर जूट निर्यातों का।

(३) भारतीय उपभोक्ता विदेशी वस्तुओं का उपभोग अधिक करने लगे हैं, अतः आयात बढ़ गया।

(४) देश की औद्योगिक उन्नति करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की मशीनें आयात की गईं।

(५) पाकिस्तान सरकार ने भारत के द्वारा किये गये लगभग सभी समझौतों को तोड़ा है और भारत से पाकिस्तान जाने वाले माल पर कर लगाये हैं, जिनके कारण भारत का पाकिस्तान को निर्यात कम हुआ।

(६) खाद्य सामग्री भारत में इतनी पैदा न की जा सकी जो भारतवासियों के लिए पर्याप्त होती, अतः इसे भी विदेशों से आयात करना पड़ा है।

(७) भारतीय व्यापारी माल में मिलावट करके विदेशों को भेजते हैं। भारतीयों की इस व इसी प्रकार की अन्य बेईमानियों के कारण विदेशों में भारत के माल की माँग कम हो गई है।

(८) स्वेज नहर (Swez Canal) द्वारा व्यापार कुछ समय के लिए बन्द हो जाने के कारण भी भारत के विदेशी व्यापार को धक्का लगा। इस नहर पर मिस्र की सरकार ने अपना कब्जा किया। नहर के राष्ट्रीयकरण होने के कारण जहाजों का आवागमन इसके द्वारा न हो सका।

(९) देश की औद्योगिक उन्नति के कारण जो कच्चा माल व उत्पादन संबंधी माल और वस्तुयें बाहर भेजी जाती थीं उनकी खपत अब भारत में ही होने लगी है, इसलिये देश के निर्यात कम हो गये हैं।

(१०) कुछ राजनैतिक कारण भी देश के विदेशी व्यापार को प्रतिकूल बनाने के लिए उत्तरदायी है।

प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन को ठीक करने की रीतियाँ—

यदि व्यापार सन्तुलन अनुकूल है तो यह देश के लिए अच्छा ही समझा जाता है, क्योंकि विदेशियों को स्वर्ण अथवा वस्तुओं के निर्यात बढ़ाकर इसका भुगतान करना पड़ता है, परन्तु यदि व्यापार सन्तुलन देश के प्रतिकूल है तो इसके कारण देश के सम्मुख काफी गम्भीर परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। स्वर्ण का निर्यात व विदेशी ऋण एक निश्चित सीमा के परे नहीं हो पाते हैं। ऐसी दशा में प्रतिकूलता को दूर करने के लिए निम्न उपाय किये जाते है :

(१) निर्यातों को बढ़ाना—इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निर्यात व्यापारियों को विदेशों में कम कीमत पर माल बेचने के लिए तथा घाटे को पूरा करने के हेतु अनुदान, ऋण, निर्यात करों की छूट आदि दिए जा सकते हैं और कच्चे माल सस्ते मूल्य पर निर्यात करने वाले उत्पादकों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, ताकि उत्पादक वस्तुओं का लागत मूल्य कम हो और वे विदेशों में प्रतियोगिता करने के योग्य हो सकें।

(२) आयातों पर प्रतिबन्ध—भिन्न-भिन्न रीतियों द्वारा ऐसी वस्तुओं के आयातों पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिए जो भारत में उत्पादित की जाती है और जिनके उपभोग के बिना देशवासियों को कोई विशेष क्षति नहीं पहुँचेगी। देशवासियों में देशी माल प्रयोग करने की भावनाएँ जागृत करने के लिए सभी सम्भव उपाय अपनाने चाहिए।

(३) मूल्य ह्रास—इस रीति के अनुसार सरकार देशी चलन की बाह्य अथवा विदेशी विनिमय की कीमत में कमी करती है। इसका परिणाम यह होता है कि विदेशों में देशी माल की कीमतें गिर जाती हैं और इसके विपरीत आयातों की कीमतें ऊँची हो जाती हैं। देश के निर्यातों की विदेशों में माँग बढ़ने और देश में आयातों की माँग घटने से व्यापाराशेप फिर से सन्तुलित हो जाता है।

(४) मुद्रा-स्फीति (Inflation)—बहुत बार ऐसा होता है कि एक देश अपने चलन की बाह्य कीमत में कमी करना नहीं चाहता। ऐसी दशा में व्यापाराशेप की त्रुटियों को दूर करने के लिए वह देश में मुद्रा संकुचन कर सकता है। इसका परिणाम यह होता है कि देश में वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें घट जाती हैं और इसके विपरीत देशी माल विदेशियों को कम कीमत पर मिल जाता है, जो उसे अधिक मात्रा में मंगाने लगते हैं।

(५) विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control)—यह व्यापार सन्तुलन की प्रतिकूलता को रोकने की एक व्यापक तथा विस्तृत विधि है। साधारणतया मुद्रा संकुचन (Deflation) नीति के फलस्वरूप देशी अर्थ व्यवस्था पर बुरे असर पड़ते हैं। अवमूल्यन तथा ह्रास के कारण देश के सम्मान को ठेस पहुँचती है और प्रशुल्क कर, अभ्यंश (Quotas) आदि प्रतिकार को जन्म देते हैं, इसलिए इन सभी उपायों को सावधानीपूर्वक उपयोग किया जाता है। उपरोक्त नीतियों के दुष्परिणामों से बचने के लिए विनिमय नियन्त्रण किया जाता है। इसके अन्तर्गत आयातों और निर्यातों पर इस प्रकार का नियन्त्रण लगाया जाता है कि वे सरकारी आज्ञा के बिना नहीं किये जा सकते हैं। निर्यातकर्त्ताओं को सारा का सारा विदेशी विनिमय सरकार को सौंपना पड़ता है, जो उसे आयातकर्त्ताओं में बाँट देती है। इसका परिणाम यह होता है कि आयातों की कीमत निर्यातों की कीमत के भीतर ही रहती है।

(६) सन् १९४९ में गोरवाला निर्यात प्रगति समिति (Gorwala Export Promotion Committee) की नियुक्ति भारत सरकार ने की थी।

इस कमेटी ने जो भी सुझाव निर्यात बढ़ाने के लिए भारत सरकार को दिये हैं, उन्हें भारत सरकार ने मान लिया है। इस कमेटी के सुझावों में से कुछ सुझाव नीचे दिये जाते हैं :—

(अ) निर्यात व्यापार में सरकार कम हस्तक्षेप करे।

(ब) जो माल निर्यात किये जाते हैं उन पर कर कम कर दिये जायँ और कुछ कर बिल्कुल नहीं लगने चाहिए, जैसे—बिक्री कर।

(स) देश के खाद्य उत्पादन को बढ़ाना चाहिए, ताकि खाद्य वस्तुओं का आयात कम हो।

(द) जो देश भारत से मनमुटाव रखते हैं उनके साथ भी भारत सरकार को अपने व्यापारिक सम्बन्ध स्थिर रखने चाहियै।

(य) भारतीय वस्तुयें अच्छी किस्म की होनी चाहिए, ताकि विदेशी बाजारों में उन देशों के बने मालों के साथ प्रतियोगिता में ठहर सकें।

(र) उत्पादकों को कच्चे माल प्राप्त करने की सुविधा देनी चाहिए, जिससे देश का उत्पादन बढ़े।

(ल) निर्यात वस्तुओं में किये जाने वाले सट्टों को बन्द करना चाहिए, विशेष तौर पर जूट में।

(व) भारत में कुछ ऐसे संगठनों की भी स्थापना करनी चाहिए जो कि देशवासियों में निर्यात बढ़ाने की भावना पैदा कर सकें।

QUESTIONS

1. व्यापार-संतुलन और पावना लेखा (शोधनाधिक्य) में क्या भेद है? इस भेद का क्या महत्त्व है?
2. What is 'Balance of Payments'? How may disequilibrium arise in a country's balance of payments and how may such disequilibrium be corrected?

अध्याय २३

भारतीय तटकर नीति

(Indian Fiscal Policy)

प्राक्कथन—

विश्व के विभिन्न राष्ट्रों में यह सिद्धान्त मान्य कर लिया गया है कि राष्ट्रीय सरकार औद्योगिक विकास में प्रगतिशील एवं सक्रिय भाग ले। प्रत्येक देश की सरकारी औद्योगिक नीति का यह प्रमुख भाग रहा है कि सरकार अपने राष्ट्रीय साधनों के अनुसार एवं देश की सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक उत्तरदायित्व स्वयं अपने ऊपर लेती है। देश के औद्योगीकरण को गति देने में सरकार की तटकर नीति महत्त्वपूर्ण होती है। इसी दृष्टि से भारतीय औद्योगिक नीति की घोषणा में प्रशुल्क नीति को भी स्पष्ट किया गया है, जिसके अनुसार—"सरकार की प्रशुल्क नीति (Tariff Policy) ऐसी रहेगी, जिससे अनुचित विदेशी प्रतियोगिता का अन्त होकर देश के उपलब्ध स्रोतों का पूर्णतम उपयोग हो सकेगा तथा उपभोक्ताओं पर अनुचित प्रभार भी नहीं रहेगा।" परन्तु इसके पहिले भारत सरकार की नीति क्या थी, यह देखना आवश्यक है।

सन् १९२१ के पूर्व की तटकर नीति—

सन् १९२१ से पूर्व भारत पर विदेशी सत्ता का केवल राजनैतिक ही नहीं, अपितु आर्थिक पंजा भी था। भारत की आर्थिक एवं व्यापारिक नीति का संचालन इङ्गलेंड में बैठकर भारत सचिव करता था। तत्कालीन आर्थिक नीति की विशेषता भारत का आर्थिक शोषण कर अंग्रेजी उद्योगों को बल देने में थी, इसलिए उस समय भारत जैसा विशाल बाजार इङ्गलेंड के उद्योगों को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक था कि भारत केवल कच्चे माल का निर्यात करने वाला देश बना रहे तथा यहाँ का औद्योगिक विकास न हो, फलतः भारतीय शासन की मुक्त-व्यापार नीति रही, जिसमें विदेशी निर्माता मजे से भारतीय उद्योगों का गला घोंट सकते थे। भारत में जिस पूर्णरूपेण मुक्त-व्यापार नीति का अवलम्ब किया गया, वह सन् १८८२ से सन् १८९४ तक रही। इस अवधि में किसी भी प्रकार के आयात अथवा निर्यात-कर नहीं लगाए जाते थे। कारण भारत से अधिकतर कच्चे माल के निर्यात को प्रोत्साहन दिया जाता था तथा अंग्रेजी माल का आयात होता था।

सन् १८९४ में परिस्थिति बदली, एक ओर तो भारतीय रुपए का अवमूल्यन हो रहा था और दूसरी ओर भारत सरकार की आर्थिक आवश्यकताएँ बढ़ रही थीं, अतः सरकार को आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दिसम्बर सन् १८९४ में

५% आयात कर लगाना पड़ा, परन्तु रेल्वे के लिए आवश्यक सामान एवं यन्त्र-सामग्री आयात कर से मुक्त थी और लोहा एवं इस्पात के आयात पर १% आयात कर था। इस आयात कर के लगाते ही लंकाशायर एवं मैनचेस्टर के मिल मालिकों ने हायतोबा मचाया, इसलिए भारत सरकार ने २० नम्बर सूत एवं इससे अच्छी किस्म के सूत पर तथा भारतीय कपड़े के उत्पादन पर ५% उत्पादन कर लगा दिया, जिससे आयात कर का लाभ भारतीय निर्माताओं को न मिले। यह मुक्त-व्यापार नीति सन् १९१६ तक इसी प्रकार चालू रही तथा उसका पालन भी कड़ाई के साथ किया गया था।

सन् १९१४ में प्रथम विश्व युद्ध आरम्भ हुआ, जिससे भारत सरकार की आवश्यकताएँ बढ़ीं। इनकी पूर्ति के लिए सन् १९१६ में आयात कर ५% से ७½% कर दिया गया, परन्तु उत्पादन कर में वृद्धि नहीं हुई। इस प्रकार एक ओर तो आयात करों की वृद्धि तथा युद्ध के कारण विदेशी आयात की कमी तथा दूसरी ओर युद्ध-जन्य माँग की अधिकता से भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन मिला। इसी प्रकार भारत से निर्यात होने वाली वस्तुओं पर भी (जैसे—चमड़ा, चाय, कॉफी पटसन आदि पर) निर्यात कर लगाए गये एवं उनमें वृद्धि की गई।

युद्ध-काल में भारत का पर्याप्त औद्योगिक विकास न होने के कारण शासकों को अनेक कठिनाइयाँ प्रतीत हुईं। दूसरे, भारत में सन् १९०५ से स्वदेशी आन्दोलन की जड़ें मजबूत होनी लगीं, जिससे अंग्रेजों की भारत सम्बन्धी नीति की कड़ी आलोचना हो रही थी। तीसरे, जर्मनी के अनुभव से जहाँ उद्योगों को विदेशी प्रतिस्पर्धा से संरक्षण देकर औद्योगिक विकास हुआ था, उसके आधार पर संरक्षण नीति जापान आदि देशों में अपनाई गई थी। चौथे, युद्ध काल में औद्योगिक दृष्टि से भारत पिछड़ा होने के कारण जो अनुभव शासकों को हुये उससे उनको मुक्त व्यापार नीति के दोषों का अनुभव हुआ। पांचवे, सन् १९१६ के औद्योगिक आयोग ने भारत के औद्योगीकरण के सम्बन्ध में छानबीन कर जो निर्णय दिया, उसमें कहा—"भविष्य में देश के औद्योगिक विकास में सरकार को सक्रिय भाग लेना चाहिए, जिससे भारत मनुष्य एवं सामग्री की दृष्टि से आत्म-निर्भर हो सके।"

भारत में जो राजनैतिक परिवर्तन एवं जागृति हो रही थी उससे अंग्रेज शासकों को भारत के प्रति रुख में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया, अतः अगस्त सन् १९१७ में मॉंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों की घोषणा हुई। इसमें भारतीयों को 'स्वयं-निर्णय' का अधिकार मिला। सन् १९२१ में ब्रिटिश सरकार ने वित्तीय कन्वेन्शन (Fiscal Autonomy Convention, 1921) के सुझाव स्वीकार कर लिए, जिनके अनुसार वित्तीय नीति के निर्धारण में, कुछ सीमाओं के अन्दर, भारत को स्वतन्त्रता दी गई।

तटकर आयोग सन् १६२१
(Fiscal Commission)

आयोग की सिफारिश—विवेचनात्मक संरक्षण—

इस आर्थिक स्वतन्त्रता का परिचय तब मिला, जब ७ अगस्त सन् १६२१ को भारत की तटकर नीति के सम्बन्ध में सिफारिशें करने के लिए तटकर आयोग की नियुक्ति हुई। इस आयोग के सभापति सर अब्राहीम रहिमत उल्ला थे। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट सन् १६२२ में सरकार को प्रस्तुत की, जिसमें भारतीय उद्योगों को विवेकात्मक संरक्षण देने की नीति की सिफारिश थी। आयोग ने भारतीय उद्योगों की जाँच करने के पश्चात् यह निर्णय दिया कि भारत कृषि प्रधान देश होते हुये भी इसमें उद्योगों के विकास के लिए प्राकृतिक सुविधाएँ बहुत हैं। कच्चे माल की विपुलता, सस्ता एवं पर्याप्त श्रम तथा औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक विद्युत-शक्ति के निर्माण के साधन भी उपलब्ध हैं। इसी प्रकार पटसन तथा वस्त्र उद्योग ने जो विकास किया उससे यह स्पष्ट है कि भारत अपने प्राकृतिक साधनों का पूर्ण लाभ उठाने में समर्थ है। ऐसी स्थिति में भारतीय उद्योगों को संरक्षण दिया जाना चाहिए। आयोग ने यह भी सिफारिश की कि उपभोक्ताओं, जन-साधारण, कृषि, औद्योगिक विकास के हित से तथा व्यापार सन्तुलन को अनुकूल रखने के लिए कुछ चुने हुए उद्योगों को संरक्षण देना चाहिए, जिससे संरक्षण का भार जनता पर अधिक न पड़े। सारांश में, उद्योगों में विवेकात्मक संरक्षण की नीति अपनाई गई, जिससे केवल उन्हीं उद्योगों को संरक्षण दिया जा सकता था, जो आवश्यक शर्तें पूरी करते हों। ये शर्तें निम्न प्रकार हैं :—

(१) नैसर्गिक लाभ—उद्योग ऐसा होना चाहिए, जिसको नैसर्गिक लाभ प्राप्त हों, जैसे—कच्चे माल का विपुल प्रदाय, सस्ती शक्ति, श्रम का पर्याप्त प्रदाय अथवा विस्तृत घरेलू बाजार। भारतीय उद्योगों को संरक्षण देने के पूर्व उसे प्राप्त होने वाली नैसर्गिक सुविधाओं का विश्लेषण किया जाय, जिससे किसी भी ऐसे उद्योग को संरक्षण न मिल सके, जो समाज पर स्थायी रूप से भार बन जाय।

(२) आवश्यक सहायता—उद्योग ऐसा होना चाहिये, जिसका विकास संरक्षण के अभाव में होना असम्भव हो अथवा देश के हित की दृष्टि से उसका विकास जितनी शीघ्रता से होना चाहिए वह न हो सके।

(३) विश्व-प्रतियोगिता करने योग्य—संरक्षण ऐसे उद्योग को दिया जाय जो अन्ततः संरक्षण के बिना विश्व-प्रतियोगिता करने योग्य हो।

संरक्षण के इस त्रिमुखी (Triple) सिद्धान्त के अलावा तटकर आयोग ने संरक्षण की अन्य कुछ शर्तों की ओर भी संकेत किया है, जो कम महत्त्वपूर्ण हैं। संरक्षण देते समय जिन उद्योगों का उत्पादन-व्यय कम हो सकता है अथवा जो बहुप्रमाण उत्पादन कर सकते हों तथा देश की सम्पूर्ण माँग की पूर्ति निश्चित समय में कर सकते हों, ऐसे उद्योगों को प्राथमिकता देनी चाहिये। सुरक्षा के लिए आवश्यक उद्योग तथा

आधारभूत उद्योगों को किसी भी दशा में संरक्षण देने की सिफारिश आयोग ने की है। इसी प्रकार आयोग ने ऐसे विदेशी माल पर जिसका राशि-पातन (Dumping) होता हो अथवा जिनके निर्यात को विदेशों से आर्थिक सहायता मिलती हो अथवा जो देश प्रतिस्पर्धात्मक अवमूल्यन (Depreciation) से निर्यात करते हों, ऐसे माल के आयात से होने वाली हानि से सुरक्षा के लिए संरक्षण देने की सिफारिश की। प्रत्येक प्रार्थी उद्योग के संरक्षण के सम्बन्ध में आवश्यक जाँच करने के लिए प्रशुल्क-सभा की नियुक्ति करने की सिफारिश आयोग ने की थी। यह सभा उद्योग के संरक्षण के सम्बन्ध में सरकार को आवश्यक सलाह देगी।

विवेकात्मक संरक्षण नीति कार्य रूप में—

आयोग की सिफारिशों के अनुसार भारत सरकार ने फरबरी सन् १९२३ से संरक्षण की नीति अपनाई। संरक्षण के लिये सबसे पहिले माँग करने वाला लोहा एवं इस्पात-उद्योग था, परन्तु साथ ही अन्य उद्योग भी थे। इस सम्बन्ध में आवश्यक जाँच करने एवं संरक्षण की सिफारिश करने के लिए जुलाई सन् १९२३ में प्रशुल्क-सभा की नियुक्ति की गई।

सन् १९२३ से सन् १९३९ तक प्रशुल्क सभा ने ५१ उद्योगों की जाँच की, जिनमें नए प्रार्थी उद्योग तथा संरक्षण की पुन: प्राप्ति के लिए आवेदन तथा अन्य तान्त्रिक जाँचों का समावेश है। इन विविध जाँचों के फलस्वरूप ३५ वर्तमान उद्योगों को संरक्षण दिया गया, परन्तु १० को संरक्षण नहीं दिया तथा ६ उद्योगों को संरक्षण देने से इन्कार किया गया।

विवेकात्मक संरक्षण नीति की आलोचना—

तटकर आयोग ने विवेकात्मक संरक्षण की जो त्रिमुखी सिद्धान्त प्रस्तुत किया था, उसका हेतु केवल इतना ही था कि तीन में से कोई भी एक शर्त यदि उद्योग पूरी करता है, तो वह संरक्षण प्राप्त करने का अधिकारी है, परन्तु वास्तविक व्यवहार में इस सिद्धान्त का अत्यन्त कठोरता से पालन किया गया, जिससे इस विवेकपूर्ण संरक्षण नीति का उपयोग विवेकहीनता से हुआ। संरक्षण को आर्थिक विकास का साधन न समझते हुए उसे केवल ऐसा साधन समझा गया, जिससे कुछ उद्योगों को संरक्षण द्वारा विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने की शक्ति प्रदान की जाय। अर्थात् उद्योगों का महत्त्व देश के हित की दृष्टि से कभी भी नहीं आँका गया। इस कारण देश का असन्तुलित औद्योगिक विकास हुआ। भारतीय उद्योगों के कच्चे माल की विपुलता के सम्बन्ध में लगाई गई शर्त भी न्यायोचित नहीं है, क्योंकि जब इङ्गलैण्ड और जापान के वस्त्र उद्योग देश में रुई की पर्याप्त उपज न होते हुए भी इतने सुदृढ़ हो सके तो भारतीय उद्योगों पर ही ऐसी शर्तें क्यों लगाई जाय ?

इसी प्रकार तटकर आयोग ने स्थायी प्रशुल्क सभा की नियुक्ति की सिफारिश की थी, परन्तु सरकार ने स्थायी प्रशुल्क सभा नियुक्त न करते हुए प्रत्येक उद्योग के

लिए अलग-अलग सभायें नियुक्त कीं, जिनके सभासदों में भी समय-समय पर परिवर्तन होता रहता था। इस कारण प्रशुल्क सभा कोई भी दीर्घकालीन नीति नहीं अपना सकी, जिसका अस्थायी रूप से अनुकरण होता, जो इस नीति का सबसे बड़ा दोष था।

इस प्रकार विवेकात्मक संरक्षण नीति ने:—"अरुचि तथा अवहेलना से उद्योगों को जो निरुत्साहित सहायता दी जाती थी, उससे उद्योगों को उसके भाग्य पर छोड़ने के अलावा किसी भी प्रकार से उनकी सुरक्षा नहीं की। साधारणतः प्रशुल्क कार्य-प्रणाली तथा सरकार की विलम्बकारी नीति से जो संरक्षण मिलता भी था वह बेकार साबित होता था।"

संरक्षण नीति का मूल्यांकन—

संरक्षण नीति का मूल्यांकन तभी न्यायोचित रीति से हो सकता है, जब देश की आर्थिक स्थिति संरक्षण की अवधि में अबाधित रही हो। भारत की आर्थिक स्थिति पर सन् १९२५ से सन् १९३१ तक मन्दी का प्रभाव रहा और दूसरे प्रत्येक देश में राष्ट्रवाद का विकास तेजी से हो रहा था, जिसका परिणाम भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर हुए बिना नहीं रहा। फिर भी इस नीति के विरोध में जो आक्षेप हैं तथा जिस आर्थिक परिस्थिति से भारत जा रहा था, उसके होते हुए भी भारतीय उद्योगों ने संरक्षण की अवधि में काफी प्रगति की है। भारत का लोहा एवं इस्पात तथा शक्कर उद्योग भारत को स्वयं निर्भर बनाने में सफल हुए हैं, जिसका प्रमुख कारण संरक्षण ही था।

सन् १९२९ की आर्थिक मन्दी में जब अन्य देशों में उत्पादन गिर रहा था, उस समय भी भारत के प्रमुख उद्योगों का उत्पादन स्थिर रहा और कुछ उद्योगों का बढ़ा भी। औद्योगिक उत्पादन की यह स्थिरता संरक्षण के कारण ही रही। इससे मन्दी के दुष्परिणामों से भारतीय उद्योगों की रक्षा हुई तथा विकास तीव्र गति से होता गया। इस्पात, कागज, दियासलाई आदि संरक्षित उद्योगों ने अपनी उत्पादन शक्ति बढ़ाकर देश में होने वाले आयात कम किए। इससे देश के विदेशी विनिमय की बचत हुई। अन्त में, औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक कच्चा माल आदि की पूर्ति (जैसे—रुई, बांस एवं बांस की लुगदी, गन्ना आदि) आवश्यकतायें बढ़ने से कृषकों को लाभ हुआ तथा देश में रोजगारों के अवसर बढ़े। साथ ही, संरक्षित उद्योग-क्षेत्र में नए-नए कारखाने खोले गये तथा उनसे सम्बन्धित सहायक उद्योगों का विकास भी हुआ। ये लाभ विवेकात्मक संरक्षण नीति की सफलता के परिचायक हैं। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यदि सरकार उद्योगों को संरक्षण देने में इतनी कड़ी शर्तें न रखती तो सम्भवतः देश में आधारभूत उद्योगों का विकास तीव्र गति से होता, परन्तु यह साम्राज्यवादी नीति के विरोध में था और भारत सरकार केवल सीमित क्षेत्र में ही कार्य कर सकती थी।

क्या संरक्षण जनता पर एक भार है ?

जनता पर संरक्षण का भार जानने के लिए आयात-कर एवं संरक्षण करों में भेद करना अनिवार्य है। आयात-कर सरकार की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लगाये जाते हैं तो संरक्षण कर उद्योग की सुरक्षा के लिए तथा विदेशी प्रतियोगिता के निवारण के लिए होते हैं। संरक्षण करों से जो वस्तु आज १) में मिलती है, वह जिस परिणाम में संरक्षण कर लगाये जाते हैं, उसी परिणाम में मँहगी हो जाती है। यदि देश में संरक्षित उद्योग का उत्पादन व्यय वही रहता है, अर्थात् संरक्षण करों का भार जनता पर पड़ता है, परन्तु कितना ? इस सम्बन्ध में भारतीय अर्थशास्त्रियों ने अनुमान लगाने के प्रयत्न किए, परन्तु उसका विश्वसनीय परिणाम नहीं निकल सका, क्योंकि "संरक्षण के भार में कुछ ऐसी बातें होती हैं, जिनका सही निर्धारण असम्भव होता है। संरक्षण से संरक्षित उद्योग की उत्पादन कीमतों में क्या परिवर्तन हुआ, यह हम जान सकते हैं, परन्तु जब तक इस बात का अनुमान न लगा लिया जाय कि किस हद तक विदेशी निर्माताओं ने भारतीय बाजार में मूल्यों को कम किया है अथवा संरक्षण के अभाव में भारतीय संरक्षित उद्योग के उत्पादन की क्या कीमतें होंगी, तब तक संरक्षण के भार का हम सही अनुमान नहीं लगा सकते।† फिर भी "भारतीय प्रशुल्क व्यवस्था में जिन उद्योगों को संरक्षण दिया गया है, उनके स्वरूप से यह कहने का साहस किया जा सकता है कि संरक्षण का प्रमुख भार धनी लोगों पर ही पड़ा है।†

फिर भी संरक्षण का प्रभार विशेष रूप से उपभोक्ताओं पर ही पड़ता है, परन्तु वह किस हद तक पड़ेगा, यह संरक्षण की अवधि तथा संरक्षण की राशि पर निर्भर रहेगा। संरक्षण से संरक्षित उद्योग के वस्तुओं के मूल्य तो बढ़ेंगे ही, परन्तु वे कितने बढ़ेंगे, यह विदेशी निर्यातों की मूल्य-नीति तथा संरक्षित उद्योग की उत्पादन क्षमता पर निर्भर रहेगा। साथ ही, संरक्षण से समाज को होने वाले लाभों को भी देखना होगा, जैसे—रोजगारी में वृद्धि, उद्योगों का विकास एवं नवीन उद्योगों की स्थापना, लाभ, आय-कर तथा राष्ट्रीय आय में वृद्धि। इन सब घटकों को देखने से यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि संरक्षण का तत्कालीन भार उपभोक्ताओं पर होता है, परन्तु उद्योग की कार्यक्षमता बढ़ने से धीरे-धीरे वह भार कम हो जाता है। इस दृष्टि से विवेकात्मक संरक्षण नीति से भारत को लाभ ही हुआ है।

द्वितीय-विश्व युद्ध में एवं युद्धोत्तर संरक्षण नीति—

सन् १९३९ में द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ते ही आयात कम हो गये तथा भारतीय उद्योगों पर युद्ध-जन्य माँग की पूर्ति करने की जिम्मेवारी आ गई। इससे युद्ध-काल में तत्कालीन उद्योगों का तो विकास हुआ ही, परन्तु नये उद्योगों की स्थापना भी हुई। युद्ध के कारण आयात बन्द हो जाने से एवं माँग बढ़ जाने से भारतीय उद्योगों को

† Tariffs & Industry—Dr. John Mathai.

प्रोत्साहन मिला, जिससे संरक्षण की कोई आवश्यकता ही नहीं रही। युद्ध-काल में भारतीय उद्योग युद्ध के सफल संचालन में अधिकतम् योग दे सकें, इसलिए भारत ने सन् १६४० में यह आश्वासन दिया कि युद्धोत्तर-काल में वर्तमान उद्योगों तथा युद्ध-काल में स्थापित नये उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता का भय होने पर सरकार संरक्षण प्रदान करेगी, परन्तु जो उद्योग युद्ध के समय संरक्षण पा रहे थे उनका संरक्षण चालू रहा।

द्वितीय विश्व युद्ध के अनुभव ने जिससे सुरक्षा के खतरे बढ़ गये थे तथा युद्ध के स्वरूप में जो परिवर्तन हुआ, उससे देश का औद्योगीकरण अनिवार्य हो गया। इसी दृष्टि से युद्धोत्तर औद्योगिक नीति की घोषणा अप्रैल सन् १६४५ में हुई। इस नीति के अनुसार नवम्बर सन् १६४५ में युद्धकालीन प्रसून उद्योगों की जाँच के लिए २ वर्ष के लिये एक प्रशुल्क सभा का पुनर्गठन किया गया तथा उस पर नई जिम्मेवारियाँ लादी गईं। यह जाँच तीन सूत्रों को ध्यान में रख कर होनी थी :— (१) उद्योग समुचित व्यापारिक नीति पर स्थापित एवं क्रियाशील हैं अथवा नहीं। (२) समुचित समय तक संरक्षण देने के बाद क्या उद्योग सरकारी सहायता अथवा संरक्षण के अभाव में चालू रहेगा? (३) यदि उद्योग राष्ट्रीय हित की दृष्टि से आवश्यक है तो संरक्षण का भार समाज पर अधिक तो नहीं होगा?

इस सभा ने सन् १६४५ से अगस्त सन् १६४७ तक के १½ वर्ष में ४२ उद्योगों की जाँच की,* परन्तु सन् १६४७ में राजनैतिक परिवर्तन हुए, उससे देश का आर्थिक ढाँचा बदल गया, इसलिए अक्टूबर सन् १६४७ में प्रशुल्क सभा का पुनर्निर्माण तीन वर्ष के लिये हुआ, जिससे अन्तरिम अवधि में स्थायी तटकर-नीति को अपनाया जा सके तथा इस नीति को लागू करने की स्थायी-शासन व्यवस्था हो। प्रशुल्क सभा पर पहिले कार्यों के अलावा अन्य निम्न कार्य एवं दायित्व और दिया गया—

(१) ऐसे पूर्व स्थापित उद्योगों को जिनकी संरक्षण अवधि ३१-३-१६४७ को समाप्त होती थी, उन्हें इस तिथि के बाद संरक्षण देने के सम्बन्ध में जांच करना।

(२) देश में निर्मित वस्तुओं के उत्पादन-मूल्यों की जाँच करना तथा उनकी कीमतें निश्चित करना।

(३) संरक्षित उद्योगों की जाँच द्वारा देखरेख करना, जिससे संरक्षण करों अथवा अन्य सहायता का प्रभाव मालूम हो सके। ऐसे संरक्षण करों अथवा सहायता में संशोधन करने की आवश्यकता के सम्बन्ध में सरकार को सलाह देना तथा जिन शर्तों पर संरक्षण दिया है, उनकी पूर्ति पूर्णतः हो रही है एवं उनका प्रबन्ध कार्यक्षम है, यह निश्चित करना।

---

* Hindustan Year Books.

(४) अन्य कार्य, जैसे:—मूल्यानुसार एवं निश्चित करों का विभिन्न वस्तुओं पर लगाये गये प्रशुल्क करों का मूल्यांकन एवं विदेशों को दी गई प्रशुल्क-सुविधाओं का अध्ययन करना। साथ ही, संयोग, प्रन्यास, एकाधिकार तथा अन्य व्यापारिक प्रतिबन्धों का संरक्षित उद्योगों पर होने वाला प्रभाव देखना।

अस्थाई प्रशुल्क सभा की आलोचना—

अस्थाई प्रशुल्क सभा की कार्य नीति से स्पष्ट है कि विभिन्न उद्योगों के संरक्षण का आधार विवेकात्मक संरक्षण नीति से किसी प्रकार अच्छा न था। इस नवीन नीति में संरक्षण पाने वाले उद्योग का संगठन व्यापारिक आधार पर होना आवश्यक था। इससे कोई भी नवीन स्थापित उद्योग प्रशुल्क सभा के विचार क्षेत्र में नहीं आ सकता था और न कोई उद्योग ही संरक्षण की माँग कर सकता था, जिसकी पूर्ण रूप से स्थापना न हुई हो। संरक्षण की दूसरी शर्त के अनुसार उसी उद्योग को संरक्षण दिया जा सकता था, जो प्राकृतिक एवं आर्थिक सुविधाओं तथा लागत की दृष्टि से निश्चित समय में अपना विकास कर सकेगा तथा संरक्षण की आवश्यकता न रहेगी। यह शर्त इतनी विचित्र है कि इस सम्बन्ध में पहिले से ही कोई निश्चित मत नहीं बनाया जा सकता था। इसी प्रकार सुरक्षा तथा राष्ट्रीय हित के लिए आवश्यक उद्योगों को संरक्षण देने के सम्बन्ध में यह शर्त थी कि संरक्षण देते समय यह देखना होगा कि जनता पर संरक्षण का भार अधिक न पड़े, परन्तु किसी भी अवस्था में संरक्षण का भार जनता पर तो पड़ेगा ही और उसके साथ ही संरक्षण से होने वाले लाभों से जनता को भी लाभ होगा, इसलिए ऐसा एकांकी विचार अनुपयुक्त था। तीसरे, अस्थाई प्रशुल्क सभा तीन वर्ष से अधिक अवधि के लिए संरक्षण की सिफारिश नहीं कर सकती थी। इससे उद्योग को संरक्षण से आशातीत लाभ होगा, यह अपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि एक तो संरक्षण के सम्बन्ध में अनिश्चित भविष्य होने से उद्योगों को प्रोत्साहन का अभाव रहता था और साथ ही इतनी थोड़ी अवधि में संरक्षण के परिणामों की जांच भी ठीक रीति से नहीं हो सकती थी, परन्तु सन् १९४७ के पुनर्गठित प्रशुल्क सभा से संरक्षण का क्षेत्र व्यापक हो गया, क्योंकि इस सभा ने आयात सरक्षक करों से संरक्षण देना पर्याप्त नहीं समझा। प्रस्तुत कुछ उद्योगों की सहायता के लिए विकास कोष (Development Funds) के निर्माण से सहायता देने की सिफारिश भी की। इस प्रकार भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् की संरक्षण नीति व्यापक एवं देशी उद्योगों के लिए पोषक है।

भारतीय तटकर-आयोग (Indian Fiscal Commission), १९४९-५०—

सन् १९४८ की औद्योगिक नीति की घोषणा में भारत सरकार ने अपनी तटकर नीति स्पष्ट की थी। इसका उद्देश्य सरकार की आर्थिक नीति, भारत का जनरल एग्रीमेंट ऑन ट्रेड एण्ड टेरिफ (सन् १९४७) तथा हँवाना चार्टर का उत्तर-

दायित्व देखते हुए भावी प्रशुल्क नीति निश्चित करना एवं उसकी कार्यवाही के लिए स्थायी व्यवस्था करना था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार ने अप्रैल सन् १९४९ में भारतीय-तटकर आयोग की नियुक्ति की।

आयोग का कार्य निम्न बातों को ध्यान में रख कर प्रशुल्क नीति निश्चित करना था :—

(१) पिछले आयोग की नीति, उसके परिणाम एवं क्रियाओं की जाँच करना।

(२) भविष्य में उद्योगों को संरक्षण देने की नीति निश्चित करना :—

(अ) इस नीति को व्यवहार में लाने के लिए सुझाव देना।

(ब) इस नीति की कार्यवाही से सम्बन्धित अन्य सुझाव देना।

(३) भारत की विदेशी आर्थिक जिम्मेदारियों के सम्बन्ध में विचार करना।

(४) आयोग को सिफारिशें करते समय यह देखना था कि उसकी सिफारिशें भारतीय संविधान एवं भारत सरकार की सन् १९४८ की औद्योगिक नीति की घोषणा से विसंगत न हों।

इस आयोग ने अपना कार्य २५ जून सन् १९४९ को आरम्भ किया और २५ मई सन् १९५० में अपनी रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत की। आयोग ने सरकारी नीति को ध्यान में रख कर यह मान लिया है कि भारत में योजना-बद्ध अर्थ-व्यवस्था होगी। इसी आधार पर आयोग ने अपनी सिफारिशें की हैं। इस आयोग ने प्रशुल्क संरक्षण को भारत के आर्थिक विकास का प्राथमिक साधन मान लिया है तथा यह संरक्षण आर्थिक विकास की योजना के अनुरूप होगा। संरक्षण के लिए निम्न सिद्धान्तों की सिफारिश की है :—

(१) योजनाबद्ध क्षेत्र के उद्योगों को तीन समूहों में बाँटना चाहिए :—

(अ) सुरक्षा एवं अन्य सुरक्षात्मक (Strategic) उद्योग।

(ब) आधारभूत एवं मूल उद्योग (Basic & Key Industries)।

(स) अन्य उद्योग।

पहिले समूह के उद्योगों को किसी भी स्थिति में राष्ट्रीय महत्त्व की दृष्टि से संरक्षण देना चाहिए, फिर उसका जनता पर भार कितना ही क्यों न हो। दूसरे समूह के उद्योगों के सम्बन्ध में प्रशुल्क अधिकारियों को यह अधिकार होना चाहिए कि वे ऐसे उद्योगों को दिये जाने वाले संरक्षण का स्वरूप एवं उसका परिमाण, ऐसी सहायता अथवा संरक्षण सम्बन्धी शर्तें एवं प्रतिबन्धों का निर्णय करें तथा किस हद तक संरक्षित उद्योग इन शर्तों को पूरा करते हैं, यह देखें। तीसरे समूह के उद्योगों को संरक्षण देते समय निम्न बातों पर ध्यान दिया जाय : (अ) उद्योग को प्राप्त आर्थिक सुविधायें, (आ)

उद्योग की वास्तविक अथवा संभवनीय लागत, (इ) उद्योग का समुचित समय में विकास होने की सम्भावना तथा (ई) संरक्षण के बिना उसके सफल संचालन की सम्भावना। इसके साथ ही यदि उद्योग को राष्ट्रीय हित की दृष्टि से संरक्षण अथवा सहायता देना वाँछनीय है तथा अन्य सुविधाओं को देखते हुए उसके संरक्षण का भार जनता पर अधिक न होता हो तो ऐसे उद्योग को संरक्षण देना चाहिए।

(२) अन्य उद्योग जो किसी मान्य योजना के अंतर्गत नहीं आते, उनके संरक्षण का विचार उपरोक्त सिद्धान्तों के आधार पर करना चाहिये।

(३) आयोग का यह भी मत है कि संरक्षण के लिए किसी एक शर्त को ही आवश्यक न समझा जाय, जैसे—कच्चे माल की स्थानीय प्राप्ति अथवा उद्योग की सम्पूर्ण देशी माँग की पूर्ति करने की शक्ति। यदि उसे अन्य आर्थिक सुविधायें प्राप्त हैं तो उसे संरक्षण दिया जा सकता है, इसलिए आयोग ने सिफारिश की है :—

(अ) कच्चा माल किसी उद्योग को उपलब्ध नहीं है, किन्तु अन्य आर्थिक सुविधायें उपलब्ध हैं, जैसे—देशी बाजार, सस्ता एवं पर्याप्त श्रम।

(ब) किसी भी उद्योग को संरक्षण देते समय वह सम्पूर्ण देशी माँग की पूर्ति करे, यह साधारणतः अपेक्षित नहीं है।

(स) उद्योग के संरक्षण सम्बन्धी विचार करते समय अपेक्षित (Potential) निर्यात बाजार का विचार करना चाहिए।

(द) संरक्षित उद्योगों के उत्पादन का कच्चे माल की भाँति उपयोग करने वाले उद्योग को क्षति-पूरक (Compensatory) संरक्षण मिलना चाहिए। इसका परिमाण निश्चित नहीं किया जा सकता है तथा वह कच्चे माल के स्वरूप, उपभोक्ताओं पर प्रभाव, उत्पादन (Finished-Products) की मांग आदि बातों के अनुसार निश्चित होना चाहिये।

(य) जो उद्योग प्रारम्भिक स्थिति में हैं अथवा नये हैं उनको संरक्षण मिलना चाहिए। विशेषतः ऐसे उद्योगों को जिनके निर्माण की लागत अधिक है अथवा जिनके संचालन के लिए उच्च कोटि के विशेषज्ञों की अधिक आवश्यकता है।

(फ) राष्ट्रीय हित की दृष्टि से कृषि-उत्पादन को संरक्षण दिया जा सकता है, परन्तु इनकी संख्या एवं संरक्षण अवधि यथासम्भव कम होनी चाहिए, जो किसी भी स्थिति में ५ वर्ष से अधिक न हो।

आयोग का यह विचार है कि संरक्षित उद्योग पर उत्पादन कर लगाना उचित नहीं है। ऐसे कर केवल उसी दशा में लगाये जायँ, जब बजट के स्रोतों के लिए आवश्यक हों तथा अन्य साधन उपलब्ध न हों। इसी प्रकार संरक्षित उद्योगों के कच्चे माल की कीमतें भी आवश्यकता के समय विधान द्वारा निश्चित की जा सकती हैं।

उद्योग को संरक्षण देने का स्वरूप एवं पद्धति अधिकांशतः उत्पादित वस्तु के स्वरूप पर निर्भर होना चाहिए।

आयोग की अन्य सिफारिशें ये हैं :—

(१) संरक्षण-करों से जो वार्षिक आय हो, उसके कुछ भाग से एक विकास-कोष बनाया जाय। इस कोष का उपयोग उद्योगों को सहायता (Subsidy) देने के लिए हो।

(२) उद्योगों को तीव्र गति से विकास करने की सुविधायें देने के लिए एक संगठन (After-care Organisation) बनाया जाय।

(३) एक स्थायी प्रशुल्क आयोग का निर्माण किया जाय, जिसके सभापति सहित ५ सदस्य हों। इस सभा का निम्न कार्य हो—

(अ) संरक्षण सम्बन्धी जाँच।

(ब) राशिपातन (Dumping) सम्बन्धी मामलों की जाँच।

(स) संरक्षण कर तथा आयात करों के परिवर्तन सम्बन्धी जाँच।

(द) व्यापार समझौते के अन्तर्गत दी जाने वाली प्रशुल्क-सुविधाओं की जाँच।

जनरल एग्रीमेंट ऑन ट्रेड एन्ड टेरिफ में भारत की सदस्यता के सम्बन्ध में आयोग ने कहा है कि इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित निर्णय नहीं दिया जा सकता। फिर भी जब तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन (I. T. O.) का भविष्य निश्चित नहीं होता, तब तक भारत को जी० ए० टी० टी० की सदस्यता छोड़ना लाभकर न होगा, अतः प्रशुल्क सुविधाओं के आदान-प्रदान सम्बन्धी सरकारी नीति उचित है, यह निर्णय आयोग ने दिया। भावी प्रशुल्क व्यवहारों के सम्बन्ध में आयोग का मत है कि भारत को जो प्रशुल्क सुविधाएँ प्राप्त हों, उनके विषय में सरकार को निम्न बातों की ओर ध्यान देना चाहिये :—

(१) वस्तुएँ ऐसी हों जिनमें तत्सम् वस्तुओं के साथ विश्व-बाजारों में प्रतियोगिता है।

(२) वस्तुएँ ऐसी हैं जिनको विश्व-बाजारों में अन्य देशों की प्रतिवस्तुओं (Substitutes) की प्रतियोगिता का भय है।

(३) कच्चे माल की अपेक्षा निर्मित वस्तुओं को ऐसी सुविधायें मिलती हैं। इसी प्रकार प्रशुल्क सुविधाएँ देते समय भारत का लक्ष्य :—

(i) पूँजीगत वस्तुओं पर,

(ii) अन्य यन्त्र एवं सामग्री पर,

(iii) आवश्यक कच्चे माल पर केन्द्रित होना चाहिए।

स्थायी प्रशुल्क सभा—

इन सिफारिशों के अनुसार स्थायी प्रशुल्क सभा के निर्माण के लिए १२ सितम्बर सन् १९५१ को प्रशुल्क आयोग अधिनियम स्वीकृत हुआ। इसके अनुसार २१

जनवरी सन् १९५२ को स्थाई प्रशुल्क सभा की नियुक्ति हुई, जिसका नाम प्रशुल्क आयोग (फिस्कल कमीशन) है। इस आयोग के तीन सदस्य हैं, जिनमें से एक सभापति है। अधिनियम के अन्तर्गत आयोग में न्यूनतम् एवं अधिकतम् सदस्यों की संख्या ३ व ५ है। विशेष कार्यों के लिए दो अतिरिक्त सदस्यों से अधिक सदस्यों की नियुक्ति नहीं की जा सकती। जनता के लिए आयोग की सभाएँ सामान्यतः खुली हैं, परन्तु विशेष मामलों में उस पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। आयोग के कार्य पहिली प्रशुल्क सभाओं से अधिक व्यापक हैं। इसी प्रकार सरकार को किसी भी उद्योग की जाँच आयोग को सौंपने का तथा उस सम्बन्ध में आयोग से रिपोर्ट माँगने का अधिकार है, जैसे:—

(१) किसी उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिये संरक्षण देना।

(२) किसी उद्योग के संरक्षण के लिये कस्टम तथा अन्य करों में परिवर्तन।

(३) किसी वस्तु के राशिपातन के सम्बन्ध में तथा संरक्षित उद्योग द्वारा संरक्षण का दुरुपयोग होने की दशा में कार्यवाही करने के सम्बन्ध में।

(४) रहन-सहन का व्यय तथा मूल्य-स्तर पर संरक्षण का परिणाम।

(५) व्यापार एवं वाणिज्यिक समझौतों के अन्तर्गत दी जाने वाली सुविधाओं का किसी निश्चित उद्योग के विकास पर होने वाला प्रभाव।

(६) संरक्षण के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाली कोई अव्यवस्था।

आयोग के कार्य—

(१) पूर्व स्थापित उद्योगों के अलावा ऐसे उद्योगों को संरक्षण देने के सम्बन्ध में विचार करना, जिनकी स्थापना न हुई हो, परन्तु संरक्षण मिलने पर उनकी स्थापना हो सकती है।

(२) आयोग अपनी ओर से संरक्षित एवं असंरक्षित उद्योगों की जाँच कर सकता है। इसी प्रकार सरकारी आदेश पर वह किसी उद्योग को प्राथमिक संरक्षण (Initial Protection) देने तथा विशेष वस्तुओं की कीमतों के सम्बन्ध में जाँच कर सकता है। अपनी ओर से आयोग ऐसी जाँच नहीं कर सकता।

(३) संरक्षण की कार्यवाही के सम्बन्ध में सामयिक जाँच कर रिपोर्ट देना।

(४) आयोग को संरक्षण की दरें, संरक्षण अवधि तथा संरक्षित उद्योग के उत्तरदायित्व सम्बन्धी शर्तें निश्चित करने का पूर्ण अधिकार है।

सन् १९५१ में ही सरकार ने इस अधिनियम में संशोधन किये, जिसने सरकार को यह अधिकार मिला कि वह किसी भी स्थिति में उद्योग को संरक्षण देने के लिए तटकर लगा सकती है। इसका उद्देश्य देश की कीमतों तथा विदेशी कीमतों के अन्तर का लाभ उठाने के लिए सट्टेबाजी का जोर न बढ़े, यह है।

जाँच के सिद्धान्त—

किसी भी उद्योग के संरक्षण का विचार करते समय आयोग निम्न बातों की ओर ध्यान देगा :—

(१) भारत एवं प्रतियोगी देशों में उस वस्तु की उत्पादन लागत।
(२) प्रतियोगी वस्तुओं का आयात-मूल्य।
(३) प्रतिनिधिक उचित बिक्री-मूल्य।
(४) माँग, स्थानीय उत्पादन तथा आयात का स्तर।
(५) कुटीर, लघु तथा अन्य उद्योगों पर किसी उद्योग के संरक्षण का प्रभाव।

जिस समय आयोग ने अपना कार्य आरम्भ किया, उस समय कुल ५३ मामले विचारार्थ थे, जिनमें से ५ संरक्षण के, ३ कीमतों के तथा ४२ संरक्षित उद्योगों की जाँच के थे। यह कार्य अधिक होने के कारण सरकार ने २६ संरक्षित उद्योगों के संरक्षण की अवधि एक वर्ष से बढ़ा दी। इस प्रकार आयोग ने संरक्षण सम्बन्धी जो कार्य किया है, उसकी कल्पना अध्याय के अन्त के परिशिष्ट से हो सकती है।

वर्तमान संरक्षण नीति—

वर्तमान संरक्षण नीति तथा युद्ध-पूर्व विवेकात्मक संरक्षण नीति युद्धोत्तर नीति से अधिक अच्छी है, जो देश के औद्योगीकरण के लिये पोषक है। पहिले तो वर्तमान आयोग का कार्य एवं अधिकार दोनों ही व्यापक हैं, जो पहली नीति में नहीं थे, जिस कारण प्रशुल्क सभाएँ चाहते हुए भी कुछ न कर सकती थीं। दूसरे, उद्योग को संरक्षण देने के लिए किसी भी एक शर्त पर जोर देना आवश्यक नहीं रहा, केवल यह देखना है कि वह उद्योग देश के हित में है अथवा नहीं। तीसरे, सुरक्षात्मक एवं आधारभूत उद्योगों को संरक्षण देने के लिये कोई भी शर्त नहीं है। उनको तो संरक्षण मिलेगा ही, जो देश की सुरक्षा, औद्योगीकरण तथा स्वयं निर्भरता की दृष्टि से नीति में अधिक उपयुक्त परिवर्तन है। चौथे, युद्धोत्तर संरक्षण नीति में केवल तीन वर्ष के लिये संरक्षण दिया जायगा, इस सम्बन्ध में निर्णय देने के लिए प्रशुल्क आयोग स्वतन्त्र है, जो प्रत्येक उद्योग की आवश्यकताओं एवं विशेषताओं पर निर्भर रहेगा। पाँचवें, पहिले प्रशुल्क सभा की सिफारिशों पर कार्यवाही करने के सम्बन्ध में कोई समय निश्चित नहीं था, जिससे देर ही होती थी, परन्तु अब सरकार की प्रशुल्क आयोग की सिफारिशों के सम्बन्ध में क्या कार्य किया गया, इसकी रिपोर्ट तीन मास के अन्दर संसद को देनी होगी और यदि विलम्ब होता है तो विलम्ब के कारणों को स्पष्ट करना होगा। इस प्रकार वर्तमान नीति स्वतन्त्र भारत की स्वतन्त्र एवं प्रशुल्क आर्थिक नीति की परिचायक है, जिससे भारत की आर्थिक व्यवस्था की उन्नति तेजी से हो सकेगी।

भारत की व्यापारिक नीति

(Commercial Policy of India)

'शाही अधिमान' की विचारधारा काफी पुरानी है, जिसका भारत में श्रीगणेश सन् १९०२ में हुआ। शाही अधिमान का यह अर्थ है—"साम्राज्य का व्यापार बढ़ाने के हेतु साम्राज्य के विभिन्न सदस्य देशों के बीच प्रशुल्क रुकावटों को यथासम्भव कम करना।" शाही अधिमान को अपनाने वाले देशों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे अपनी स्वतन्त्र प्रशुल्क नीति न अपनावें। कोई भी देश अपनी स्वतन्त्र प्रशुल्क नीति अपना सकता था तथा विदेशी आयात पर संरक्षण कर लगा सकता था, परन्तु साम्राज्य के देशों से होने वाले आयात पर कुछ तटकरों में अधिमान देना होगा, अर्थात् उनसे अन्य देशों की अपेक्षा कम तटकर लिए जायेंगे। इस प्रकार संरक्षण एवं शाही अधिमान दोनों को ही एक साथ कार्यशील रखना सम्भव था। यह नीति सर्व प्रथम कनाडा ने सन् १८९७ में अपनाई तथा ब्रिटिश माल को आयात करों में छूट दी। सन् १८९८ में उसने इसी प्रकार की सुविधाएँ अन्य देशों को देना भी स्वीकार किया, यदि अन्य देशों से कनाडा को समान सुविधाएँ मिलें, परन्तु संयुक्त राज्य (U. K.) से कनाडा को कोई भी सुविधाएँ नहीं मिलती थीं, क्योंकि उस समय इङ्गलैंड में मुक्त-व्यापार-नीति होने से इङ्गलैंड ऐसी सुविधायें किसी भी देश को नहीं दे सकता था। इसके बाद सन् १९०२ में एक औपनिवेशिक (Colonial) परिषद् हुई, जिसमें अधिमान नीति का समर्थन किया गया तथा सामाज्य के उपनिवेशों को सिफारिश की गई कि वे इस नीति को अपनावें। सन् १९१७ में शाही युद्ध सम्मेलन (Imperial War Conference) तथा सन् १९२३ में शाही आर्थिक सम्मेलन (Imperial Economic Conference) में इस नीति का समर्थन किया गया। फलस्वरूप सन् १९२२ में साम्राज्य के लगभग २६ देशों में यह नीति अपनाई जा रही थी। इन सब सम्मेलनों एवं सुविधाओं के कारण तथा इङ्गलैंड में मुक्त-व्यापार नीति का परित्याग सन् १९३२ में होने के कारण, सन् १९३२ के शाही आर्थिक सम्मेलन, ओटावा में इस नीति को साम्राज्य के अधिक देशों ने अपनाया। इस सम्मेलन में ही ओटावा समझौते पर भारत और इङ्गलैंड ने हस्ताक्षर किये तथा परस्पर माल के आयात-निर्यात पर प्रशुल्क सुविधायें देने का प्रस्ताव स्वीकृत किया।

भारत और शाही अधिमान—

सन् १९०३ में जब यह प्रश्न भारत के सामने सर्व प्रथम आया तब भारत ने इस नीति को अपनाने का विरोध किया। सन् १९१७ में यह प्रश्न फिर से उपस्थित हुआ, भारत ने इस नीति को अपनाने से इन्कार किया, परन्तु सन् १९२२ के तटकर आयोग को जब इम्पीरियल प्रीफरेंस को भारत में लागू करने के सम्बन्ध में विचार करने के लिए कहा गया तब इस आयोग ने 'सशर्त शाही अधिमान' (Conditional Preference) अपनाने के सम्बन्ध में सिफारिश की और मत दिया कि भारत की

औद्योगिक प्रगति उसके विशाल साधन एवं जन-संख्या की दृष्टि से बहुत कम है, अतः वह शाही अधिमान नीति सामान्य सिद्धान्तों पर नहीं अपना सकता। 'सशर्त शाही अधिमान' के अन्तर्गत निम्न शर्तें होनी चाहिए :—

(१) किसी वस्तु के सम्बन्ध में प्रशुल्क-सुविधाएँ देने के विषय में भारतीय संसद की राय ली जाय।

(२) भारतीय उद्योगों को दिया हुआ संरक्षण ऐसी प्रशुल्क सुविधाओं से कम न हो और न प्रभावित हो।

(३) भारत को ऐसी सुविधाएँ देने से सम्भावित लाभ की तुलना में किसी प्रकार उल्लेखनीय हानि न हो।

(४) इङ्गलैंड के सम्बन्ध में यह अधिमान ऐच्छिक हो तथा अन्य देशों के लिए परस्पर आधार (Reciprocity) पर हो।

इस सिफारिश के होते हुए भी भारत सरकार को साम्राज्यवादियों की चाल में आना ही पड़ा, जिससे सन् १९२७ में ब्रिटिश इस्पात, सन् १९३० में ब्रिटिश सूती वस्त्र के आयात तथा सन् १९३३ में ब्रिटिश उगम की वस्तुओं के आयात पर प्रशुल्क सुविधाएँ दी गईं। इसके पहले भी भारत से ब्रिटिश माल के आयात पर अन्य देशों के माल की अपेक्षा आयात करों में छूट मिलती थी, जैसे—सन् १९१८ में चाय के निर्यात करों में छूट, सन् १९१९ में चमड़े (Hidest & Skins) के निर्यात करों में १०% की छूट आदि, परन्तु अन्त में सन् १९३२ में भारत और ब्रिटेन में ओटावा समझौता हुआ, जिससे भारत में शाही अधिमान को अपना लिया गया।

वर्तमान स्थिति—

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व की आर्थिक स्थिति में जो महान् परिवर्तन हुए उससे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना बढ़ गई, जिसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणीवि, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक सङ्घ आदि विभिन्न संस्थाओं का विकास हुआ। ऐसी स्थिति में तथा द्वितीय विश्वयुद्ध मे इङ्गलैंड की जो आर्थिक हानि हुई तथा अमरीका का महत्त्व आर्थिक क्षेत्र में बढ़ा, उससे इङ्गलैंड को अमरीकी पूँजीवाद की दासता माननी पड़ी, फलतः शाही अधिमान नीति को धक्का लगा तथा विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के जो अनेक सम्मेलन हुए, उनमें अमरीका ने इस नीति का घोर विरोध किया। यह नीति आज राष्ट्रसंघ-अधिमान (Commonwealth Preference) के रूप में कार्य कर रही है। इसी प्रकार व्यापारिक समझौतों द्वारा भी एक-दूसरे देशों को प्रशुल्क-अधिमान दिए जा सकते है। इस प्रकार के अधिमान भारत ने सन् १९५१-५२ में ५२ करोड़ रुपयों के आयातों पर दिए तथा भारत के २०५ करोड़ के निर्यातों पर अधिमान प्राप्त हुए। इस सम्बन्ध में उद्योग-मन्त्री श्री टी० टी० कृष्णामाचारी ने कहा—"अधिमान सम्बन्धी यह चित्र स्थिर न रहते हुए प्रति वर्ष एवं प्रति मास बदलता रहता है, किन्तु

वर्तमान स्थिति में यह चित्र भारत के लिए हानिकर नहीं है।"* इसी सम्बन्ध में भावी नीति को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा—"वर्तमान समय में हमारा विचार संयुक्त राज्य को अधिमान देने की नीति परित्याग करने का नहीं है, क्योंकि उससे होने वाले लाभ हमारे पक्ष में हैं। ये अधिक न हों, परन्तु निश्चित हैं, इसलिए मैं यह विश्वास दिलाता हूँ कि वर्तमान समय में यदि हम शाही अधिमान नीति को बनाए रखते हैं तो भी भारत के हित बिल्कुल सुरक्षित हैं।" इससे स्पष्ट है कि जब यह नीति भारत के विपक्ष में होगी, उसमें अवश्य ही देश हित में परिवर्तन होगा।

फिर पहले विरोध क्यों ?—

किसी भी देश को शाही अधिमान लाभकर है अथवा हानिकर, यह उस देश में आयात एवं उस देश से निर्यात होने वाली वस्तुओं पर निर्भर रहता है। सन् १९०३ में जिस समय सर्व प्रथम इस नीति को अपनाने का प्रस्ताव रखा गया, उस समय भारत में उद्योगों की बाल्यावस्था थी एवं वे उद्योग अच्छी तरह से संगठित नहीं थे। दूसरे, भारत निर्मित वस्तुओं का आयात तथा कच्चे माल का निर्यात करता था; इस कारण भारत के औद्योगिक विकास के लिए किसी भी प्रकार का अधिमान देना हानिकर था। तीसरे, भारत के आयात-निर्यातों का यदि विश्लेषण किया जाय तो भारत में लगभग ७०% आयात साम्राज्य के देशों से होता था, इसके विपरीत लगभग ६०% निर्यात साम्राज्य के बाहरी देशों को होता था। ऐसी स्थिति में यदि भारत साम्राज्य के देशों को किसी प्रकार का अधिमान देता तो अन्य देश भारत के प्रति विरोधी नीति अपनाते। यह भारत के विदेशी व्यापार, विशेषतः निर्यात व्यापार के लिए हानिकर होता। चौथे, अधिमान से देश की आयात करों से होने वाली आय कम हो जाती तथा अन्त में किसी भी प्रकार का साम्राज्य देशों को अधिमान देने से भारतीय उद्योगों को मिलने वाले संरक्षण का प्रभाव कम हो जाता। भारत यदि अधिमान नीति अपनाता तो निश्चित था कि भारत का विदेशी व्यापार अधिकतर साम्राज्य के देशों से ही होता तथा अन्य देशों से विदेशी व्यापारिक सम्बन्ध न बढ़ते। इन कारणों से उस समय भारत ने विरोध किया और साथ ही इङ्गलैंड स्वयं जब यह नीति नहीं अपना रहा था, भारत को बाध्य न होना पड़ा, परन्तु सन् १९३० में इङ्गलैंड की व्यापारिक नीति में परिवर्तन होते ही भारत को भी साम्राज्यवादी नीति के सामने झुकना ही पड़ा। इसके परिणाम स्पष्ट हैं कि भारतीय मुद्रा का स्टर्लिङ्ग देशों से आज भी गठबन्धन है, जिस कारण उसे रुपये का अवमूल्यन करना पड़ा। यदि ऐसा न होता तो भारत का विदेशी व्यापार जो लगभग ६०% स्टर्लिङ्ग देशों के साथ था, वह प्रभावित होता, परन्तु भारत अब अपनी स्वतन्त्र नीति अपना रहा है तथा द्विपक्षीय समझौते से उस नीति में सुदृढ़ता आती जा रही है तथा हमारा विदेशी व्यापार स्टर्लिंग देशों के अलावा अन्य देशों से पर्याप्त मात्रा में बढ़ रहा है। भविष्य में यदि हमारे निर्यात व्यापार का

---

* Loksabha Debate on 25-9-54.

अनुपात स्टर्लिंग क्षेत्रों की अपेक्षा अन्य क्षेत्र के साथ बढ़ जायगा तब निश्चय ही अधिमान नीति का त्याग होगा।

द्वि-पक्षीय व्यापारिक समझौते (Bilateral Trade Agreements)—

जब दो देशों के बीच में कोई व्यापारिक समझौता अल्पकाल के लिए किया जाता है तो इसे द्वि-पक्षीय व्यापारिक समझौता कहते हैं। अल्प काल से यहाँ आशय एक वर्ष या उससे कम अवधि से है। एक वर्ष या वह समय समाप्त हो जाने के बाद जिसके लिए समझौता किया गया था, समझौते को बढ़ाने या उसमें कुछ परिवर्तन करने का दोनों पक्षों में समझौता होता है। ये समझौते अस्थाई होते हैं। इन्हें करने में अधिक समय नहीं लगता है। इन समझौतों से दुनियाँ के देशों के मध्य स्वतन्त्र व्यापार में बाधा पड़ती है। यही कारण है कि इन समझौतों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रगति में हानिकारक माना जाता है।

भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद अपने व्यापार को बढ़ाने के दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न देशों के साथ द्वि-पक्षीय व्यापारिक समझौते किये हैं, जैसे—भारत व आस्ट्रिया, भारत व जैकोस्लोवेकिया, भारत व मिस्र, भारत व फिनलैंड, भारत व पाकिस्तान, भारत व पश्चिमी जर्मनी, भारत व पोलैंड, भारत व बलगेरिया, भारत व यूगोस्लोविया, भारत व रूस, भारत व नार्वे, भारत व स्वीडन, भारत व ईराक, भारत व इन्डोनेशिया आदि के साथ किए गए द्वि-पक्षीय समझौते।

बहु-पक्षीय व्यापारिक समझौते (Multilateral Trade Agreements)—

जो व्यापारिक समझौते अनेक देशों के मध्य किये जाते हैं और दीर्घ काल के लिए होते हैं, बहु-पक्षीय समझौते कहे जाते हैं। इन समझौतों का महत्त्व उस समय तक बना रहेगा जब तक भिन्न-भिन्न देशों के उत्पादन के साधन असमान रहेंगे। मनुष्य की यह प्रवृत्ति है कि वह अपनी आवश्यकताओं को सस्ते से सस्ते बाजार में पूरा करता है। बहु-पक्षीय व्यापार में मनुष्यों की यह प्रवृत्ति पूरी होगी और ऐसा करने से समाज अपने जीवन-स्तर को ऊँचा करने में सुविधा अनुभव करेगा। इन समझौतों से बहुत से लाभ प्राप्त होते हैं, जिनका विवरण सूक्ष्म में नीचे दिया जाता है:—

(अ) अन्तर्राष्ट्रीय विधान बनाने के लिए द्वि-पक्षीय समझौतों द्वारा काफी सहायता मिलती है।

(ब) इनके द्वारा विदेशी व्यापार की स्थाई नीति बनाई जा सकती है। बहुत सी विदेशी समस्यायें ऐसी हैं जो दो देशों के बीच के व्यापारिक समझौते से हल नहीं हो सकतीं। उन्हें इसी समझौते द्वारा हल किया जा सकता है।

(स) सब देशों के बीच निश्चित् नियमों के साथ व्यापार होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रगति होती है, जिससे सभी देशों को लाभ प्राप्त होता है।

(द) भिन्न-भिन्न देशों में एक दूसरे के प्रति प्रेम व सद्भावना पैदा होती

है और अन्तर्राष्ट्रीय एकता स्थापित होती है, जो कि युद्ध टालने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

(य) वास्तव में द्वि-पक्षीय विदेशी व्यापारिक समझौतों के कारण ही भिन्न-भिन्न देशों में विशिष्टीकरण (Specialisation) व श्रम विभाजन होता है, जिससे विश्व में उत्पादन बढ़ता है।

बहु-पक्षीय व्यापारिक समझौतों में कठिनाइयाँ—

(अ) भिन्न-भिन्न देशों की भाषा, रीति-रिवाज, आर्थिक संगठन व कानूनों आदि में भिन्नता होने के कारण इन समझौतों का किया जाना कठिन है।

(ब) दुनियाँ के भिन्न-भिन्न देशों में राजनैतिक गुटबन्दियाँ हैं। जैसे कुछ देश कम्यूनिस्ट हैं, कुछ सोशलिस्ट हैं, कुछ अन्य प्रकार के गुट बनाये हुए हैं। इन गुटबन्दियों के कारण बहु-पक्षीय व्यापारिक समझौते सम्भव नहीं हैं।

(स) इन समझौतों के करने में काफी समय व्यय होता है, क्योंकि भिन्न-भिन्न देशों के प्रतिनिधि एक स्थान पर जमा होते हैं और अपने-अपने दृष्टिकोण रखते हैं। सब प्रतिनिधियों को एक राय पर पहुँचने में काफी समय लगता है। इतनी मेहनत के बाद किये हुये समझौते का बहुत समय तक चलना भी कठिन है।

(द) बहुत से देशों में पुराना द्वेष चला आ रहा है, अतः ये देश उन समझौतों के होने में अड़चनें डालते हैं।

द्वि-पक्षीय और बहु-पक्षीय समझौतों में अन्तर

द्वि-पक्षीय	बहु-पक्षीय
(१) दो देशों के बीच में व्यापारिक समझौता होता है।	(१) बहुत से देशों के बीच व्यापारिक समझौता होता है।
(२) यह समझौता अल्पकालीन होता है।	(२) यह समझौता दीर्घकालीन होता है।
(३) दो देशों के बीच समझौता शीघ्र सम्भव होता है।	(३) ये समझौते शीघ्र सम्भव नहीं होते हैं।
(४) यह समझौता एक अस्थायी व्यवस्था है।	(४) यह समझौता एक स्थाई नीति के अनुसार होता है।
(५) ये समझौते पक्षपातपूर्ण होते हैं।	(५) ये निष्पक्ष भाव से किये जाते हैं।
(६) इन समझौतों का क्षेत्र सीमित होता है।	(६) इन समझौतों का क्षेत्र ब्यापक होता है।

हैवाना चार्टर—

पिछले दो महायुद्धों के कारण भिन्न-भिन्न देशों को काफी हानियाँ उठानी पड़ीं, परन्तु इन युद्धों से एक लाभ यह हुआ कि सब देशों ने यह अनुभव किया कि सभी देशों

की आर्थिक उन्नति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक संगठनों द्वारा हो सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बहु-पक्षीय समझौते के अनुसार करने के दृष्टिकोण से ब्रेटनवुड्स में एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाने के लिए कई सुझाव दिये गये। इन्हीं सुझावों के अनुसार संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन (International Trade Organisation) के विधान का एक चार्टर बनाया और इसे स्वीकृति प्राप्त करने के लिए भिन्न-भिन्न देशों को भेजा। इस प्रश्न को संयुक्त राष्ट्र संघ, इङ्गलैंड व अमेरिका आदि ने हल करने के अनेक प्रयत्न किये। अन्त में मार्च सन् १९४८ में हैवाना में एक विधान बनाया गया, जिसे हैवाना चार्टर कहा जाता है। इस विधान पर ५३ देशों ने सहमति दी थी, जिसमें से भारत भी एक था।

हैवाना चार्टर के उद्देश्य—

इसका मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन स्थापित करना था, ताकि विश्व के व्यापार को स्वतन्त्रतापूर्वक बड़े पैमाने पर बढ़ाया जा सके और सभी देशों की व्यापारिक व आर्थिक उन्नति हो। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित कठिन समस्याओं को सुविधा से हल करना, विभिन्न देशों को किसी भी ऐसे काम को करने से रोकना जिससे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में अड़चनें आवें, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिबन्धों को हटाना, सभी देशों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अपनी वस्तुयें बेचने का समान अवसर देना, पिछड़े हुए देशों की आर्थिक उन्नति में सहायता करना और अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी की गतिशीलता बढ़ाना आदि कार्य ही हैवाना चार्टर के मुख्य लक्ष्य थे।

इसमें भिन्न-भिन्न देशों की आर्थिक उन्नति के लिए विदेशी विनिमय व विनियोग सम्बन्धी सभी समस्याओं का विस्तारपूर्वक विवरण है। जो भी देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन का सदस्य होगा, अपने यहाँ संरक्षण (Protection) की नीति को तब तक नहीं अपना सकेगा जब तक कि उस देश की सहमति न ले ले जिस पर कि संरक्षण का प्रभाव पड़ेगा। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाने के लिए व सुचारु रूप से चलाने के लिए प्रशुल्क नीति व संरक्षण नीति से सम्बन्धित विदेशी विनियोग तथा आपस के विदेशी भुगतानों आदि से सम्बन्धित लगभग सभी आवश्यक नियम इस चार्टर में बनाये गये हैं। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ाने के लिए हैवाना चार्टर ने जो कार्य किया है वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के इतिहास में अमर रहेगा।

व्यापार और प्रशुल्क सम्बन्धी सामान्य समझौता ('G. A. T. T.' General Agreement on Trade and Tariff)—

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका व २३ अन्य देशों ने मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लगे हुए भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रशुल्क व संरक्षण सम्बन्धी प्रतिबन्धों के हटाने के लिए एक समझौता किया। इस समझौते में यह तय किया गया कि यदि एक देश किसी दूसरे देश को प्रशुल्क में कुछ छूट देता है तो उसे यह छूट अन्य सदस्य देशों को भी देनी पड़ेगी, अर्थात् सदस्य देश किसी भी देश के साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार नहीं कर सकते। अमे-

रिका व अन्य २३ देशों में जो समझौता हुआ उसे G. A. T. T. में समावेश किया गया। इस समझौते के अनुसार निम्नलिखित लक्ष्य रखे गये थे :—

(१) भिन्न-भिन्न देशों में आपस के भेदभाव को हटाकर मित्रता की भावना पैदा करना।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भिन्न-भिन्न देशों द्वारा आयातों पर लगे हुए करों को हटवाकर व्यापार की उन्नति करना।

(३) व्यापार की उन्नति के लिए सभी सम्भव नियमों को बनाना।

(४) G. A. T. T. के बारे में बहुत समय पहिले से विभिन्न देशों के बीच बातचीत होती चली आ रही थी। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन, हैवाना चार्टर व अन्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्मेलनों में एक इस प्रकार के समझौते की बातचीत थी जिससे कि भिन्न-भिन्न देशों की प्रशुल्क-नीतियों में उचित सुधार किया जाय, ताकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उन्नति के शिखर पर पहुँचे।

प्रारम्भ में इस समझौते में २३ सदस्य थे, परन्तु बाद में कुल सदस्यों की संख्या ३९ हो गई। इसके अनुसार भिन्न-भिन्न देशों के बीच १४७ द्वि-पक्षीय समझौते हुए और सभी सदस्यों ने अपने प्रशुल्क में भिन्न-भिन्न प्रतिशत में कमी की। ब्रिटेन, अमेरिका व अन्य देशों ने अपने प्रशुल्क में इतनी कमी की कि अन्त में वह निम्नतम् सीमा पर पहुँच गई। इस समझौते से अन्य समझौतों की अपेक्षा बहुत कम सफलता मिली, परन्तु कुछ भी हो, इस प्रकार के समझौते से यह सिद्ध होता है कि सभी देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ाने के पक्ष में हैं।

१० अप्रैल और ३० अक्टूबर सन् १९४७ के बीच इस समझौते के लिए जिनेवा में वार्ता प्रारम्भ हुई। इसमें भिन्न-भिन्न देशों ने भाग लिया। यह समझौता १ जनवरी सन् १९४८ से लागू हुआ था। २७ अप्रैल सन् १९४९ को अनेकी में इसका दूसरा सम्मेलन हुआ। जो भी देश इस समझौते का सदस्य बनता था वह तीन साल से पहिले अलग नहीं हो सकता था और अलग होने के लिए ६ महीने का नोटिस देना पड़ता था।

भारत और जी० ए० टी० टी० (India and G. A. T. T.)—

९ जुलाई सन् १९४८ से भारत ने इस समझौते के अनुसार करों में छूट देना शुरू किया : भारत को निम्नलिखित वस्तुओं पर कर की छूट इसी समझौते के अनुसार मिली है :—सूती कपड़ा, चमड़ा, नारियल की चटाइयाँ, मसाले, जूट का सामान, अभ्रक, काजू, कालीन आदि। भारत ने निम्न देशों के साथ इसी समझौते के अनुसार व्यापारिक समझौते किये हैं—चीन, जैकोस्लोवेकिया, कनाडा, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, लेबनान, सीरिया, क्यूबा, न्यूजीलैंड, इटली, स्वीडन, फिनलैंड, डेनमार्क आदि।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ ('I. T. O.' International Trade Organisation)—

१४ अगस्त सन् १९४१ को एटलांटिक चार्टर के साथ इस संघ की नींव पड़ी

थी। इस संघ का मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देना है। अमरीका और इङ्गलैंड इस संघ के कर्मठ सदस्य हैं, जो भी देश इसके सदस्य हैं उन्हें अपनी व्यापार सम्बन्धी सूचना व आँकड़े इस संघ के पास भेजने पड़ते हैं। इस संघ के अन्य कार्य निम्नलिखित हैं :—

(१) विदेशी वस्तुओं का विरोध करना।

(२) व्यापार को भिन्न-भिन्न प्रकार के आयात व निर्यात के अनुचित करों से स्वतन्त्र करना।

(३) ऐसे सामान्य नियमों को बनाकर प्रचार करना जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उन्नति हो।

(४) राशिपातन (Dumping) को रोकना।

(५) भिन्न-भिन्न देशों द्वारा लगाए जाने वाले करों की नीति को अधिक सरल बनाना।

(६) देशों के बीच मित्रता की भावनाएँ बढ़ा कर व्यापार को बढ़ाना।

२६ नवम्बर सन् १६४६ को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ से सम्बन्धित विचारों पर विचार-विनिमय करने के लिए लन्दन में एक सभा हुई। फिर २५ जनवरी सन् १६४७ को न्यूयार्क में एक सम्मेलन हुआ। अन्त में, २२ अगस्त सन् १६४७ को जिनेवा में एक महत्त्वपूर्ण सम्मेलन हुआ। इन भिन्न-भिन्न स्थानों पर सम्मेलनों को करके इस बात का प्रयत्न किया गया कि दुनियां के देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ की स्थापना में सहायक हों, ताकि सब देशों की आर्थिक उन्नति हो सके।

सन् १६४८ में इन्हीं बातों पर विचार करने के लिए हैवाना में एक बैठक हुई। इस बैठक में पास हुए प्रस्ताव पर दुनियां के देशों ने हस्ताक्षर किये। आशा की जाती है कि इस प्रकार के संघ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ाने में अत्यन्त सहायक होंगे।

QUESTIONS

1. Discuss the arguments in favour of protection. Do you think India should adopt a policy of protection ? What do you understand by a policy of Discriminating Protection ?
2. Write a note on (a) Imperial Preference, (b) Bilateral Trade Agreements.
3. What do you know of the objectives of the International Trade Organisation ?

अध्याय २४

भारत का विदेशी व्यापार

(The Foreign Trade of India)

वर्तमान संसार में किसी भी देश के आर्थिक विकास और उसकी सम्पन्नता के लिए विदेशी व्यापार की उन्नति आवश्यक है। राष्ट्रीय स्वावलम्बता का युग पहले से ही समाप्त हो चुका है। कितनी ही वस्तुएँ तो ऐसी हैं कि एक देश उन्हें उत्पन्न ही नहीं कर सकता है और बहुत सी वस्तुएँ ऐसी हैं जिन्हें प्राकृतिक अथवा अन्य कारणों से देश में बहुत ही अधिक लागत पर उत्पन्न किया जा सकता है। दोनों ही दशाओं में विदेशी व्यापार लाभदायक होता है, क्योंकि ऐसी वस्तुएँ कम मूल्य पर मिल जाती हैं। विशिष्टीकरण तथा विनिमय दोनों ही के आर्थिक लाभों को प्राप्त करने के लिए विदेशी व्यापार का विकास अत्यन्त ही आवश्यक है। इसके अतिरिक्त विदेशी व्यापार देशों की पारस्परिक मित्रता और सहयोग के लिए आवश्यक है। इसके द्वारा सभी देशों को दूसरों की सहायता से अपनी अर्थव्यवस्था के विकास और उपभोग-स्तर को ऊँचा उठाने का अवसर प्राप्त होता है।

विदेशी व्यापार का प्राचीन इतिहास

(१) प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ तक—

ऐतिहासिक खोज से पता चलता है कि प्राचीन काल में भारत का विदेशी व्यापार पर्याप्त विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण था। अस्मरणीय काल से जल और थल दोनों ही मार्गों से भारत के विदेशियों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध थे। अब से ५,००० वर्ष पूर्व भी भारत का बेबिलोन से व्यापार होता था। ऐसा पता चलता है कि भारतीय व्यापारियों के पास बड़े बड़े जहाजी बेड़े थे और वे सुदूर-पूर्व तथा मध्य-पूर्व के देशों के साथ नियमित रूप में व्यापार करते थे। पश्चिम में मिस्र, यूनान, अरब और ईरान से लेकर पूर्व में चीन तक भारत का माल जाता था। ढाके की मलमल और कालीकट के सूती कपड़े को संसार भर में ख्याति प्राप्त थी। निर्यात् की वस्तुओं में सूती कपड़े, धातु के सामान, हाथी दाँत, रंग, मसाले, हथियार और अनेक कलात्मक सामान सम्मिलित थे और धातुओं, पीतल, टीन, शराब, घोड़े आदि का आयात होता था।

मुसलमानों के निरन्तर आक्रमणों ने देश की राजनैतिक दशाओं में अनिश्चितता उत्पन्न करके व्यापार में भारी कमी कर दी। परिणाम यह हुआ कि समुद्री व्यापार घट गया, परन्तु मुस्लिम काल में थल-मार्गीय व्यापार में पर्याप्त वृद्धि हुई। साथ ही,

आन्तरिक व्यापार की भी उन्नति हुई, जिसका प्रमुख कारण थल मार्गों का विकास था। मोरलैंड (Moreland) के अनुसार लाहौर और काबुल तथा मुल्तान और कन्धार के बीच बराबर नियमित रूप से व्यापार होता रहता था। यही थल मार्ग काबुल और कन्धार से चीन तथा ईरान को जाते थे और इनके द्वारा भारत का माल यूरोप तक पहुँचता था। इस काल में भी आयात और निर्यात की वस्तुएँ पहले जैसी ही थीं।

योरोपीय व्यापारियों ने आते ही देश के विकसित व्यापार से लाभ उठाना आरम्भ किया। डच, फ्रान्सीसी तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने देश के उद्योगों को प्रोत्साहन देकर व्यापार में वृद्धि की, परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक बनी न रह सकी। 'औद्योगिक क्रान्ति' के पश्चात् दशाएँ बदल गईं और १८ वीं शताब्दी में जैसे-जैसे इङ्गलैंड तथा अन्य योरोपियन देशों के उद्योगों का विकास हुआ, उन्होंने भारतीय माल के आयात पर प्रतिबन्ध लगाने आरम्भ कर दिये। इङ्गलैंड ने ऐसा अनुभव किया कि भारत से कच्चा माल मँगाना और अपने उद्योगों की उपज को भारत में बेचना देश के लिए अधिक लाभदायक था। अतः कच्चे मालों के आयातों को प्रोत्साहन दिया गया और भारत में इङ्गलैंड की औद्योगिक उपज के लिए बाजारों का विकास करने का प्रयत्न किया गया। इस काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना स्वेज नहर का निर्माण थी। इसके फलस्वरूप समुद्र के रास्ते से भारत और इङ्गलैंड का अन्तर ५,५०० मील से घट गया और यूरोप के बाजार भारत के लिए खुल गये। मुक्त-व्यापार नीति के फलस्वरूप भी व्यापार के विस्तार में सुविधा हुई। सन् १८६४-६९ तथा सन् १८९९-१९०४ के बीच विदेशी व्यापार का वार्षिक मूल्य ९९ करोड़ रुपये से बढ़कर २१० करोड़ रुपया हो गया और सन् १९०९–१४ में यह ३७६ करोड़ रुपये तक पहुँच गया।

(२) प्रथम महायुद्ध और उसके उपरान्त—

सन् १९१४ में प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ। युद्ध के कारण यातायात सम्बन्धी कठिनाइयाँ बढ़ गईं। साथ ही, यूरोप के देश युद्ध-कार्य में इतने तल्लीन हो गए कि वे अपने विदेशी व्यापार को बनाए न रख सके। युद्ध-काल में भारत में निर्यात और आयात दोनों ही में कमी हुई। सन् १९१३-१४ और सन् १९१८-१९ के बीच निर्यात ३२४ करोड़ रुपए से घट कर केवल १६० करोड़ रुपया रह गये। इसी काल में आयात १९३ करोड़ रुपये के स्थान पर केवल ६३ करोड़ रुपया रह गए थे। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि भारत के विदेशी व्यापार में कुल मिलाकर लगभग ५०% की कमी हो गई थी। शत्रु देशों के साथ तो व्यापार पूर्णतया बन्द हो गया था, परन्तु मित्र देश भी माल मँगाने और भेजने में कठिनाई अनुभव कर रहे थे। आयातों के घटने का परिणाम यह हुआ था कि युद्ध-काल में देश के उद्योगों को प्राकृतिक संरक्षण मिल गया था।

(३) प्रथम महायुद्ध के बाद का काल (द्वितीय महायुद्ध तक)—

युद्धोत्तर काल में भारत के विदेशी व्यापार में एक दम तेजी आई। यूरोप के देशों की अर्थव्यवस्थाएँ युद्ध के कारण चौपट हो गई थीं, इसलिए उन्हें आयातों की भारी आवश्यकता थी। भारत के लिए निर्यातों को बढ़ाने और ऊँची कीमत प्राप्त करने का अच्छा अवसर था, परन्तु यातायात की कठिनाइयों तथा ऊँची विनिमय दर के कारण भारत इस तेजी का पूरा-पूरा लाभ न उठा सका। सन् १९२०-२१ में तेजी का यह क्रम टूट गया और विदेशी व्यापार में फिर मन्दी आ गई, परन्तु २ वर्षों के पश्चात् सन् १९२२-२३ में फिर उद्धार-काल आरम्भ हुआ। सन् १९२४–२५ तक दशाएँ काफी सुधार गईं। अभिवृद्धि का यह क्रम निरन्तर आगे ही बढ़ता रहा, केवल सन् १९२९-३२ के बीच महान् अवसाद के कारण यह टूट गया था। सन् १९१९-२० तथा सन् १९२९-३० के बीच व्यापार की स्थिति निम्न प्रकार थी :—

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	निर्यात	आयात	व्यापाराशेष
१९१९–२०	३३६	२२२	+११४
१९२०–२१	२६७	३४७	— ८०
१९२१–२२	२४८	२८२	— ३४
१९२२–२३	३१६	२४६	+ ७०
१९२९–३०	३१८	२४९	+ ६९

युद्धोत्तर काल में उद्धार का तत्काल कारण यह था कि धीरे-धीरे सभी योरोपीय देशों की मुद्राओं की कीमतों में स्थिरता आ गई थी। इन देशों की साख में वृद्धि हो गई थी और युद्ध के हर्जानों (Reparations) का प्रश्न सुलझ गया था। सन् १९२९ में महान् अवसाद आरम्भ हुआ। इसके प्रथम चिन्ह संयुक्त राज्य अमरीका में दृष्टिगोचर हुए थे, परन्तु धीरे-धीरे संसार के लगभग सभी देश इसकी जकड़ में आ गए। अवसाद का प्रमुख कारण कच्चे मालों और निर्मित वस्तुओं का अति-उत्पादन, संसार के अधिकाँश स्वर्ण का अमरीका में एकत्रित हो जाना, विभिन्न देशों की मुद्रा-संकुचन नीति और कुछ देशों की राजनैतिक अशान्ति थे। युद्धोत्तर काल में आर्थिक राष्ट्रीयवाद की भावना भी तीव्र हो गई थी, जिसके अन्तर्गत सभी देशों ने विदेशी व्यापार पर प्रतिबन्ध लगा दिए थे और विदेशी व्यापार को अधिक संकुचित कर दिया था। विभिन्न देशों के द्वारा स्वर्ण-मान परित्याग, मुद्रा-अवमूल्यन, आयात अभ्यंश नीति आदि ने भी विदेशी व्यापार के मार्ग में अनेक बाधायें उपस्थित कीं। अवसाद का सबसे बुरा प्रभाव कृषि प्रधान देशों पर पड़ा, क्योंकि ऐसे काल में कृषि उपज और कच्चे माल के मूल्यों में ही सबसे अधिक पतन होता है। भारत के निर्यात व्यापार को भारी धक्का लगा। साथ ही, जनता के पास क्रयः शक्ति की कमी, राजनैतिक अशान्ति

तथा देशी उद्योगों के विकास ने जिसे संरक्षण नीति ने प्रोत्साहित किया था, आयातों को भी पर्याप्त मात्रा में घटा दिया था।

भारत में आयातों की तुलना में निर्यातों का पतन अधिक हुआ था, जिसका मुख्य कारण यही था कि देश का निर्यात व्यापार कच्चे मालों से सम्बन्धित था, जिनकी कीमतें बहुत नीचे गिर गई थीं। इस काल में भारत ने काफी अधिक मात्रा में स्वर्ण का निर्यात किया और इसी कारण निर्यातों में कमी होने पर भी व्यापाराशेष अनुकूल ही बना रहा। सन् १९३० तथा सन् १९३८ के बीच भारत ने ३५० करोड़ रुपये की कीमत के सोने का निर्यात किया। अवसाद के सबसे बुरे वर्ष अर्थात् सन् १९३२-३३ में भी हमारा व्यापाराशेष अनुकूल ही था, जिसकी मात्रा ३ करोड़ रुपया थी। यह इसी कारण सम्भव हुआ था कि हम अन्य प्रकार के निर्यातों की कमी को विदेशों को सोना भेज कर पूरी कर रहे थे।

अवसाद सन् १९३३ में समाप्त हुआ और सन् १९३३-३४ से उद्धार की प्रवृत्ति फिर आरम्भ हो गई। भारत के माल की विदेशों में माँग बढ़ने लगी। इस उद्धार के अनेक कारण थे:—सर्वप्रथम तो, अमरीका और फ्रांस ने कृत्रिम उपायों द्वारा उद्धार का क्रम आरम्भ किया था। दूसरे, इसी काल में संसार के देशों ने दूसरे महायुद्ध की तैयारी आरम्भ कर दी थी। तीसरे, ओटावा समझौते के कारण भारत और राष्ट्रमण्डल देशों के विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिला था। इसी काल में सन् १९३४ भारत-जापान समझौता भी हुआ, जिसने भारतीय व्यापार के विस्तार में सहायता दी। सन् १९३५-३६ तक व्यापार का विस्तार होता गया, परन्तु सन् १९३६-३७ में फिर मन्दी आई, जो सन् १९३९ तक चलती रही और अन्त में दूसरे महायुद्ध के आरम्भ होने पर फिर तेजी आरम्भ हुई। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि महान् अवसाद के पश्चात् भारतीय व्यापार का विशेष विस्तार नहीं हो सका था। इसका प्रमुख कारण यह था कि युद्ध का आरम्भ होने के भय के कारण व्यावसायिक वर्ग भयभीत था। इसके अतिरिक्त चीन-जापान युद्ध के कारण पूर्व की मण्डियों से बहुत व्यापार सम्भव न था। सन् १९३९-४० में प्रथम बार तेजी प्रकट रूप में आई, क्योंकि युद्ध की तैयारी के लिए विभिन्न देशों ने शस्त्र उद्योगों के विकास और स्टॉकों के जमा करने पर अधिक व्यय करना आरम्भ कर दिया था, जिससे भारतीय निर्यातों की मांग एवं उसके मूल्य दोनों में वृद्धि हुई थी।

(४) दूसरा महायुद्ध और उसके उपरान्त—

सन् १९३९ में दूसरे महायुद्ध का आरम्भ होते ही विदेशी व्यापार में तेजी के साथ वृद्धि हुई। कच्चे माल और निर्मित वस्तुएँ दोनों ही की विदेशी माँग पर्याप्त बढ़ी और यद्यपि बहुत से देशों को शत्रु घोषित करके उनके साथ व्यापार वर्जित कर दिया गया था, तथापि भारतीय व्यापार निरन्तर विस्तृत ही होता गया। निम्न आँकड़े इस वृद्धि का कुछ अनुमान प्रदान करते हैं, यद्यपि वे पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं हैं,

क्योंकि उनमें ब्रिटिश सरकार द्वारा खरीदे हुए माल तथा उधार-पट्टा (Lend-lease) प्रणाली द्वारा प्राप्त माल की कीमत नहीं दिखाई गई है :—

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	निर्यात	आयात	कुल व्यापार
१९४०–४१	१८७	१५७	३४४
१९४१–४२	२३७	१७३	४१०
१९४२–४३	१८७	११०	२८७
१९४३–४४	१९९	११८	३१७
१९४४–४५	२१०	२०४	४१४

युद्धकाल में सन् १९४२–४३ के वर्ष को छोड़ कर बराबर विदेशी व्यापार का विस्तार ही हुआ है। इस वर्ष में व्यापार की मात्रा के घटने के कई कारण थे :— (i) जापान के युद्ध में सम्मिलित हो जाने के कारण सुदूर-पूर्व (Far east) का व्यापार समाप्त हो गया था। (ii) विनिमय नियन्त्रण प्रणाली को कड़ा कर दिया गया था, जिससे व्यापारियों को भारी असुविधा थी। (iii) आयात तथा निर्यात व्यापारियों को अनुज्ञापित कर दिया गया था। बाद को इन सब बाधाओं ने नियमितता धारण कर ली और इनके रहते हुए भी व्यापार का विस्तार होता रहा। (iv) युद्ध की प्रगति के साथ जलयानों के मिलने में कठिनाई होती गई और इसका विदेशी व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ा। (v) कुछ देशों को तो शत्रु घोषित कर दिया गया था और उनके साथ व्यापार वर्जित था, परन्तु मित्र देश भी युद्ध कार्यों में इतने व्यस्त थे कि वे भी सैनिक सामानों के अतिरिक्त अन्य माल भेजने में असमर्थ थे, (vi) साम्राज्य डालर कोष के कार्यवाहन ने अमरीका से माल मँगाना कठिन बना दिया। (vii) शत्रु की कार्यवाहियों के कारण यातायात में अधिक कठिनाई हुई। (viii) युद्धकाल की प्रमुख विशेषता यह थी कि निर्यातों की अपेक्षा आयातों में अधिक कमी हुई थी।

युद्धोत्तर काल में विदेशी व्यापार—

युद्ध का अन्त होने पर आयात स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ। युद्धकाल में आयातों के रुक जाने तथा मूल्यों के ऊपर उठने पर भी देशी उद्योगों का समुचित विकास न हो सका, जिसका कारण पूँजीगत माल और आवश्यक कच्चे मालों का अभाव था। युद्ध-कालीन तनाव कम होते ही आयातों में वृद्धि हुई, जलयानों की कमी के कारण कठिनाई बनी रही। आरम्भ में सबसे अधिक वृद्धि उन वस्तुओं के आयातों में हुई जिनकी सैनिक कार्यों के लिए आवश्यकता थी, परन्तु तत्पश्चात् खाद्यान्न तथा पूँजीगत माल के भी आयात बढ़े। आयातों में इतनी तेजी के साथ वृद्धि हुई कि युद्धोत्तरकाल व्यापाराशेष भारत के लिए प्रतिकूल हो गया। निम्न आँकड़ों द्वारा स्थिति स्पष्ट हो जाती है :—

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	निर्यात तथा पुनर्निर्यात	आयात	व्यापाराशेष
१९४५	२२९	२३२	— ३
१९४६	२६६	२९२	— २६
१९४७	३२०	२३४	— १४
१९४८	४२८	४५१	— २३
१९४९	४२३	५४३	—१२०

युद्धोत्तर काल में आयातों की अत्यधिक वृद्धि के अनेक कारण थे :—(i) धीरे-धीरे भारत सरकार ने आयात सम्बन्धी प्रतिबन्धों को ढीला कर दिया था, (ii) जलयान यातायात की पूर्ति बढ़ गई थी, (iii) देश में मुद्रा-प्रसार के दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा था, (iv) खाद्यान्न आयातों में अधिक वृद्धि हुई थी, और (v) भारत सरकार ने खुले सामान्य अनुज्ञापन (Open General Licenses) नीति के अन्तर्गत आयातों के सम्बन्ध में उदारता को अपनाया था।

देश का विभाजन—

सन् १९४७ में भारत के दो भाग कर दिये गये—पाकिस्तान और हिन्दुस्तान। इस विभाजन के कई कुप्रभाव हुये—(i) खाद्यान्न की बहुत कमी हो गई और (ii) कच्चा माल बनाने वाले क्षेत्र भारत से निकल गये। फलतः एक ओर तो खाद्यान्न अधिक आयात करना पड़ा और दूसरी ओर रुई व जूट के निर्यात में बहुत कमी आ गई। रुई व जूट के सम्बन्ध में पाकितान से अनेक समझौते किये गये, जिनका उसने पालन नहीं किया। फलतः हमारा निर्यात व्यापार बहुत घट गया और कच्ची सामग्री के लिए हमें विदेशियों पर निर्भर होना पड़ा। इस प्रकार देश के विभाजन ने हमारे विदेशी व्यापार का स्वरूप बदल दिया। व्यापार का सन्तुलन हमारे देश के अधिकाधिक प्रतिकूल होता चला गया और अन्त में इसे ठीक करने के लिए भारत सरकार को कृत्रिम उपाय करने पड़े।

रुपये का अवमूल्यन—

युद्धोत्तर-काल में इङ्गलैण्ड तथा स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के अन्य देशों का व्यापाराशेष डालर क्षेत्र के साथ प्रतिकूल ही बना रहा। कुछ काल तक इङ्गलेंड ने मुद्रा-कोष तथा अमरीका से ऋण लेकर डालर की कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया, परन्तु जब किसी भी प्रकार घाटा पूरा न हो सका तो सितम्बर सन् १९४९ में स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन कर दिया गया। इससे डालर में स्टर्लिङ्ग की कीमत ४·०३ से घटकर २·८० रह गई। इङ्गलेंड का अनुकरण करते हुए पाकिस्तान को छोड़कर स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के सभी देशों ने अपनी-अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन कर दिया। डालर में रुपये की कीमत ३०·२२५ सेन्ट से घट कर केवल २१ सेन्ट रह गई। अवमूल्यन एक आर्थिक आव-

श्यकता थी। सन् १९४५ तक डालर क्षेत्र से भारत का व्यापार अनुकूल था, परन्तु सन् १९४६ में स्थिति बदलने लगी। सन् १९४८-४९ में तो उदार आयात नीति के फलस्वरूप भारत के डालर क्षेत्रीय व्यापार में १२० करोड़ रुपये का घाटा था। भारत में भी 'डालर समस्या' उत्पन्न हो गई थी। अवमूल्यन ने इस स्थिति को कुछ अंश तक सुधार दिया था।

व्यापारिक सन्तुलन—

निम्न तालिका में अवमूल्यन के पश्चात् की व्यापाराशेष स्थिति दिखाई गई है :—

वर्ष	निर्यात तथा पुनर्निर्यात	आयात	व्यापाराशेष
१९४८–४९	४२३	५४३	—१२०
१९४९–५०	४८५	५९४	—१०९
१९५०–५१	६०१	६२३	— २२
१९५१–५२	७३३	९४३	—२१०
१९५२–५३	५७७	६७०	— ९३
१९५३–५४	५३१	५७२	— ४१
१९५४–५५	५९४	६५६	— ६३
१९५५–५६	६०९	७०५	— ९५
१९५६–५७	६३७	१,०६७	—३४०
१९५७–५८ (६ मास)	२६७	६२२	—३५५

व्यापाराशेष (Balance of Trade)—

व्यापाराशेष के इस सुधार के कारण अवमूल्यन के अतिरिक्त और भी थे। (i) सरकार ने डालर आयातों पर प्रतिबन्ध लगाकर देश की आयात मांग को स्टर्लिङ्ग क्षेत्र से ही पूरा करने का प्रयत्न किया था। (ii) कोरिया युद्ध के आरम्भ होने पर सभी देशों ने सैनिक तैयारी तथा स्टॉकों का जमा करना आरम्भ कर दिया था, जिससे देश के पर्याप्त व्यापार को प्रोत्साहन मिला था। (iii) व्यापार की शर्तें भारत के अनुकूल होती गईं। सन् १९५०-५१ तक यही प्रवृत्ति बनी रही, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय तक अवमूल्यन के लाभ समाप्त हो चुके थे। सरकार ने भी अपनी निर्यात नीति में परिवर्तन किया और देशी उपजों को देशी उद्योगों में अधिक मात्रा में उपयोग करना आरम्भ कर दिया था। सन् १९५३ के आरम्भ में व्यापार की शर्तें प्रतिकूलता के पुराने स्तर से भी नीचे पहुँच गई थीं, तत्पश्चात् कुछ सुधार हुआ था और मार्च सन् १९५४ तक व्यापाराशेष का घाटा केवल ४१ करोड़ रुपया रह गया था। सन् १९५४-५५ में स्थिति और भी बिगड़ गई थी और सन् १९५५-५६ में घाटा बढ़कर ९५ करोड़ रुपया हो गया। अगले वर्ष अर्थात् सन् १९५६-५७ में आयातों में

अधिक तीव्रता के साथ वृद्धि हुई और घाटा ३४० करोड़ तक पहुँच गया। चालू वर्ष के ६ महीनों में अर्थात् सितम्बर सन् १९५७ तक ३५५ करोड़ रुपये का घाटा हो चुका है। स्थिति को समझने के लिए शायद यह ज्ञात करना भी आवश्यक है कि प्रथम पंच-वर्षीय योजना काल में हमारी विदेशी विनिमय जमा निरन्तर घटती गई है और दूसरी योजना काल में यह और भी तेजी के साथ घटी है। मार्च सन् १९५६ में रिजर्व बैंक की विदेशी विनिमय जमा ४४६ करोड़ रुपया थी, जो सितम्बर सन् १९५६ तक केवल २४३ करोड़ रुपया रह गई है। ६ महीनों में इस जमा में से २०३ करोड़ रुपये का निकल जाना चिन्ता की बात थी, यद्यपि यह सत्य है कि दूसरी पञ्च-वर्षीय योजना के सञ्चालन के लिए हमारी आयात आवश्यकता बढ़ गई है।

युद्धोत्तर काल में भारत के विदेशी व्यापार की विशेषतायें—

ये विशेषतायें निम्नलिखित हैं :—(१) युद्ध के पूर्व भारत इङ्गलैंड का कर्जदार था, लेकिन युद्ध के बाद वह उसका लेनदार बन गया। उसने इङ्गलैंड पर १,७०० करोड़ रुपए का ऋण (Sterling Balances) चढ़ा दिया। ब्रिटेन की आर्थिक कठिनाइयों के कारण भारत उसका मनचाहा उपयोग नहीं कर सका। (२) डालर की अल्पता के कारण निर्यातों को (विशेषतः डालर क्षेत्र के देशों के लिए) बहुत प्रोत्साहन दिया जा रहा है। (३) विदेशी व्यापार के मूल्य (Value) और मात्रा (Volume) दोनों में धीरे-धीरे बहुत वृद्धि हो गई है। सन् १९४८ में कुल व्यापार ९२६ करोड़ रु० का था, जो सन् १९५६ में बढ़ कर १,४०० करोड़ रु० का हो गया। (४) देश के व्यापारिक संतुलन में बराबर घाटा रहा है। यदि किसी वर्ष कम तो किसी वर्ष अधिक, परन्तु घाटा रहा अवश्य है। स्थिति में सुधार करने के लिये सरकार निरन्तर प्रयत्नशील है। (५) भारत ने सन् १९४९ में अपनी मुद्रा का डालर में ३०·५% अवमूलन कर दिया। (६) आर्थिक योजनाओं के कारण मशीनों व औजारों व कुछ कच्चे मालों का बहुत आयात किया गया है और इन आयातों का भुगतान करने के लिए सरकार निर्यातों को भरसक प्रोत्साहन दे रही है। (७) विदेशी विनिमय की कठिनाई को हल करने के लिये सरकार ने विलम्बित भुगतान (Deferred Payment) की नीति ग्रहण की है तथा विश्व बैंक और अन्य संस्थाओं से उधार लेकर दशा सुधारने का प्रयास किया है। (८) भारत के विदेशी व्यापार पर वैज्ञानिक ढंग से नियन्त्रण करने के लिये सन् १९५६ में स्टेट ट्रेडिंग कॉरपोरेशन की स्थापना भी की गई थी।

विदेशी व्यापार और पंचवर्षीय योजनायें

योजना आयोग की सिफारिशें—

योजना आयोग ने विगत वर्षों में भारतीय व्यापार की दिशाओं और समस्याओं का सविस्तार अध्ययन करने के पश्चात् विदेशी व्यापार नीति के सम्बन्ध में पाँच

सिद्धान्तों का निर्माण किया है :—(१) व्यापार नीति का उद्देश्य पंच-वर्षीय योजनाओं के उत्पत्ति और उपभोग लक्ष्यों को पूरा करना होना चाहिये। (२) निर्यात-स्तर को ऊँचा रखने के लिये निर्यात व्यापार का प्रोत्साहन आवश्यक है। (३) व्यापाराशेष के घाटे को यथासम्भव विदेशी विनिमय कमाई में से ही पूरा करना चाहिये। (४) आयात और निर्यात नीति सरकार की सामान्य वित्त नीति के अनुसार रहनी चाहिए और (५) सरकार की व्यापार नीति स्पष्ट तथा समुचित रहनी चाहिए।

आयोग का अनुमान था कि *प्रथम योजना काल* में आयातों में १०% की वृद्धि होगी, इसके कारण व्यापाराशेष का घाटा और भी बढ़ जायगा और इसी कारण विदेशी व्यापार पर किसी न किसी प्रकार का नियन्त्रण अवश्य रहना चाहिए। ऐसा अनुमान लगाया गया था कि प्रथम योजना-काल में विदेशी विनिमय कमाई में १३३ करोड़ रुपये की वृद्धि होगी और उसकी माँग में १०८ करोड़ रुपये की, परन्तु विदेशी विनिमय आवश्यकता का अनुमान अधूरा था, क्योंकि सभी मदों को सम्मिलित नहीं किया गया था, इसलिए व्यापाराशेष स्थिति में विशेष परिवर्तनों की आशा नहीं थी। आयोग के अनुसार योजनाकाल में विदेशी व्यापार पर दो बातों का प्रभाव पड़ेगा :—(१) देश में कच्चे माल, खाद्यान्न तथा अन्य वस्तुओं का उत्पादन और (२) प्रस्तावित लक्ष्य पूरा करने के लिए मशीनरी तथा आवश्यक कच्चे माल का आयात।

दूसरे पंच-वर्षीय आयोजन के निर्माताओं का विचार है कि इस योजना काल में भी निर्यातों को बढ़ाकर और अधिक विदेशी विनिमय प्राप्त करना कठिन ही होगा, क्योंकि हमारे निर्यात प्रकृति में वेलोच हैं। औद्योगीकरण की योजना की सफलता के लिये भी निर्यातों को बहुत बढ़ाना उपयुक्त न होगा। इसके अतिरिक्त दूसरे आयोजन में पूँजीगत माल के आयात की आवश्यकता बढ़ जाने के कारण आयात बढ़ेंगे। केवल पूँजीगत माल के आयात के लिए १,६०० करोड़ रुपये की कीमत के विदेशी विनिमय की आवश्यकता पड़ेगी। योजना कमीशन का सुझाव है कि इसके लिये निर्यातों को प्रोत्साहन देने, खाद्यान्न, चीनी, रुई और पैट्रोल के उत्पादन को बढ़ाने के लिये विदेशी सहायता और पौंड-पावना भुगतान की अधिक आवश्यकता होगी। कमीशन ने अनुमान लगाया है कि सभी प्रकार के उपाय कर लेने के पश्चात् भी विदेशी व्यापार में योजना के ५ वर्षों में लगभग १,१२० करोड़ रुपये का घाटा रहेगा, इसीलिये कमीशन ने निर्यातों की अधिक से अधिक वृद्धि करने का सुझाव दिया है। निम्न तालिका में दूसरी पंच-वर्षीय योजना के काल में अनुमानित व्यापाराशेष स्थिति दिखाई गई है :—

(करोड़ रुपयों में)

०	१९५६–५७	१९५७–५८	१९५८–५९	१९५९–६०	१९६०–६१	कुल
१. निर्यात	५७३	५८३	५९२	६०२	६१५	२,९६५
२. आयात	७८३	८८६	९९०	८९५	७८६	४,३४०
३. व्यापाराशेष	—२१०	—३०३	—३९८	—२९३	—१७१	—१,३७०
४. अदृश्य व्यापार	+ ६२	+ ५५	+ ५१	+ ४६	+ ४१	+ २५५
५. कुल चालू खाता शेष	—१४८	—२४८	—३४७	—२४७	—१३०	—१,१२०

भारत में विदेशी विनिमय संकट—

पिछले तीन वर्षों के आयातों और निर्यातों के मूल्य एवं व्यापाराशेष के घाटे को देखने से ज्ञात होता है कि देश में विदेशी विनिमय संकट उपस्थित है। आयातों का कार्यक्रम दूसरी योजना में निर्धारित लक्ष्यों से अधिक तीव्रता के साथ बढ़ा है। दूसरी योजना के प्रथम वर्ष अर्थात् सन् १९५६–५७ में ही आयातों की कुल कीमत १,०७३ करोड़ रुपया थी, जबकि दूसरी योजना का अनुमान केवल ७८३ करोड़ रुपये का था। इस कारण इस वर्ष में ३४० करोड़ रु० का घाटा रहा था। सन् १९५७-५८ के पहले ६ महीनों में आयातों की कीमत ६२२ करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी, जबकि योजना का साल भर का अनुमान केवल ८८६ करोड़ रुपया था। पहले ६ महीनों में ही ३५५ करोड़ रुपए का घाटा रहा है, जो अगले ६ महीनों में और भी बढ़ गया है।

दूसरी योजना में शोधनाशेष सम्बन्धी घाटे का अनुमान पाँच वर्षों के लिए १,१०० करोड़ अर्थात् लगभग २२० करोड़ रुपया प्रति वर्ष रखा गया था, जिसमें से २०० करोड़ रुपये का घाटा पौंड पावना शेषों में से पूरा करने की योजना बनाई गई थी। तत्पश्चात् ऐसा ज्ञात हुआ कि एक ओर तो योजना में पूँजीगत माल के आयात के अनुमान नीचे रखे गये थे और दूसरी ओर आयातों के मूल्यों में वृद्धि हो गई थी। इस प्रकार घाटे में ५०० करोड़ रुपये की और वृद्धि हो गई थी। इसके अतिरिक्त खाद्य आयात और रक्षा आवश्यकतायें भी अनुमान से ऊँचे रहे थे। इस कारण यह अनुमान लगाया गया था कि घाटे में २०० करोड़ रुपए की और वृद्धि होने का अनुमान है। इस प्रकार पौंड पावना शेषों के उपयोग के अतिरिक्त ९००+५००+२०० अर्थात् लगभग १,६०० करोड़ रुपये के घाटे का प्रश्न उठ खड़ा हुआ है। इसने निस्सन्देह विदेशी विनिमय संकट उपस्थित कर दिया है।

जनवरी सन् १९५८ से यह निराशाजनक स्थिति कुछ परिवर्तन की ओर दृष्टिगोचर होती है। दिसम्बर सन् १९५७ तक ४८० करोड़ रुपए की विदेशी सहायता दूसरी योजना के लिए प्राप्त हो चुकी थी और सन् १९५८ में लगभग ३२५ करोड़ रु०

और मिल चुकने की आशा है। इसके अतिरिक्त २२० करोड़ रुपया संयुक्त राज्य अमरीका तथा १५० करोड़ रु० विश्व बैंक से मिलने के वचन पूर्ण हो चुके हैं। इस कारण शायद हम संकट का सफलतापूर्वक सामना करने में समर्थ हो सकेंगे। एक आशाजनक बात और भी है। योजना में निर्यातों के अनुमान भी वास्तविक से कम निकले हैं। दूसरी योजना में सन् १९५६-५७ के लिए निर्यातों के मूल्य का लक्ष्य केवल ५७३ करोड़ रुपया था, जबकि उनका वास्तविक मूल्य ६३७ करोड़ रु० रहा है। सन् १९५७-५८ के प्रथम ६ महीनों में निर्यातों का मूल्य २६७ करोड़ रुपया रहा था, जबकि योजना का साल भर का अनुमान केवल ५८३ करोड़ रुपये था। इस प्रकार निर्यातों के बढ़ने के कारण भी स्थिति के सुधरने की कुछ आशा अवश्य है।

भारत में विदेशी व्यापार का रूप—

दूसरे महायुद्ध का प्रभाव सबसे अधिक भारतीय व्यापार के रूप के परिवर्तन में दृष्टिगोचर होता है। इस परिवर्तन का अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है :—

	१९३८-३९ कुल का%	१९४३-४४ कुल का%	१९४४-४५ कुल का%
आयात—			
खाद्यान्न	१५·७	६·०	९·४
कच्चा माल	२१·७	५४·४	५८·३
निर्मित सामान	६०·८	३८·२	३१·८
निर्यात—			
खाद्यान्न	२३·३	२२·९	२०·९
कच्चा माल	४७·१	२५·६	२५·६
निर्मित सामान	३०·०	५०·५	५१·५

व्यापार के रूप के परिवर्तन की यह प्रवृत्ति युद्धोत्तर काल में भी बनी रही है। सन् १९४८ में खाद्यान्न, कच्चे माल और निर्मित सामान कुल आयात के क्रमशः १८·६, २४·३ और ५८·८% रहे थे। निर्यातों में निर्मित वस्तुओं का महत्त्व सन् १९४६ में ४३% से बढ़ कर सन् १९४८ में ४९·२% तक पहुँच गया था। युद्धोत्तर काल में कच्चे माल और तैयार माल के निर्यात की कमी का प्रमुख कारण पाकिस्तान का निर्माण था, जिसने कच्चे माल के निर्यात तथा देशी खपत दोनों में कमी कर दी। सन् १९४९ के पश्चात् भारत सरकार के प्रयत्नों के फ़लस्वरूप खाद्यान्न का आयात घटा है। प्रथम पंच-वर्षीय योजना में सन् १९५६ के अन्त तक ३० लाख टन खाद्यान्न के आयात का अनुमान लगाया गया था, परन्तु अन्तिम दो वर्षों में खाद्य उत्पादन की वृद्धि अनुमान से भी अधिक रही थी, इसलिए आयात और घटे थे। निर्मित माल के आयात की वृद्धि का

प्रमुख कारण मुद्रा-प्रसार विरोधी नीति थी, जिसके अन्तर्गत आयात नियन्त्रण ढीला कर दिया गया था।

व्यापार की दशाएँ (Direction of Trade)—

जहाँ तक भारत के व्यापार में विभिन्न देशों के महत्त्व का प्रश्न है, २० वीं शताब्दी में ब्रिटेन और साम्राज्य तथा राष्ट्रमण्डल देशों के साथ व्यापार में निरन्तर वृद्धि हुई है। सन् १९०९-१४ में इन देशों का भाग केवल ४१% था, जो सन् १९४४-४५ में ६४% तक पहुँच गया था। दूसरे महायुद्ध के पश्चात् देश का व्यापार साम्राज्य तथा अन्य देश के साथ लगभग समान सा रहा है। नीचे के आँकड़े इस सम्बन्ध में उपयोगी होंगे :—

निर्यात-प्रतिशत

	१९०९-१४	१९३८-३९	१९४५	१९४८	१९५४-५५
साम्राज्य देश	४१	५४	६०	५०	३१
अन्य देश	५९	४६	४०	५०	६९

आयात-प्रतिशत

	१९०९-१४	१९३८-३९	१९४५	१९४८	१९५४-५५
साम्राज्य देश	७०	५८	३७	४६	२३
अन्य देश	३०	४१	६३	५४	७७

उपरोक्त आँकड़ों से पता चलता है कि साम्राज्य देशों के बाहर से अधिक मात्रा में आयात लेने की प्रवृत्ति है, यद्यपि देश के आयात व्यापार में अब भी ब्रिटेन का अधिक महत्त्व है। विगत वर्षों में भारत का व्यापार गैर-साम्राज्य देशों के साथ अधिक रहा है। अमरीका, बेल्जियम, चैकोस्लोवेकिया और जापान से पूँजीगत माल आ रहा है और बर्मा, पाकिस्तान, अर्जेनटाइना, रूस और अमेरिका से खाद्यान्न।

भारत की व्यापार नीति

दूसरे महायुद्ध के काल में भारत सरकार ने देश के व्यापार पर कड़ा नियन्त्रण रखा था। इसका उद्देश्य विदेशों से अधिक से अधिक सैनिक सामान खरीदना और देश की विदेशी विनिमय कमाई के उपयोग में बचत करना था। युद्ध का अन्त होने पर भी नियन्त्रण को हटाया न जा सका। युद्धोत्तर काल में देश में अन्न का अभाव था। औद्योगिक विकास के लिए मशीनों की आवश्यकता थी और साथ ही, देश की निर्यात क्षमता भी सीमित थी। खाद्यान्न, आवश्यक कच्चा माल तथा पूँजीगत माल के आयात की व्यवस्था करने के लिए व्यापार नियन्त्रण आवश्यक हो गया। सन् १९४७ के आयात-निर्यात सन्नियम के अन्तर्गत सरकार ने व्यापार नियन्त्रण के विस्तृत अधिकार प्राप्त कर लिये।

(I) आयात नियन्त्रण नीति—वाणिज्य मन्त्री की अध्यक्षता में सन्

१९४८ में एक आयात सलाहकार परिषद् का निर्माण किया गया। परिषद् आयात के लिए अनुज्ञापन प्रदान करती है, जिसके लिये आयात की वस्तुओं को तीन भागों में बाँटा गया है—(१) ऐसा माल जिसके लिए अनुज्ञापन नहीं दिये जा सकते हैं, (२) ऐसा माल जिसके आयात के लिये केवल सीमित अंश तक ही अनुज्ञापन दिये जाते हैं और (३) ऐसा माल जो खुले सामान्य अनुज्ञापन के भीतर आता है। आयात के लिए परिषद् कच्चे माल, मशीन तथा स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के माल को प्राथमिकता देती है।

सन् १९५० में सरकार ने एक आयात नियन्त्रण जाँच समिति नियुक्त की थी। समिति ने सुझाव दिया है कि आयात नियन्त्रण नीति के तीन उद्देश्य होने चाहिये :—(१) आयातों की मात्रा को विदेशी विनिमय कमाई के भीतर रखना, (२) विदेशी विनिमय का इस प्रकार वितरण करना कि उपभोक्ताओं के अधिकतम् सन्तोष के साथ-साथ देश में आयोजित विकास की उन्नति हो और (३) यथासम्भव कीमतों के उच्चावचनों को रोकना। समिति की प्रमुख सिफारिशें निम्न प्रकार हैं :—

(१) केवल वास्तविक उपभोक्ताओं, स्थापित आयातकर्त्ता फर्मों और समुचित नये व्यापारियों को ही अनुज्ञापन दिये जायँ।

(२) अनुज्ञापन प्रदान करने की नीति इतनी उदार होनी चाहिए कि अन्त में सभी वस्तुएँ उसमें आ जायँ।

(३) समिति ने प्रस्तुत प्राथमिकता क्रम में संशोधन का सुझाव दिया था और निम्न क्रम की सिफारिश की थी :—(क) आवश्यक कच्चा माल, (ख) मशीनों के पुर्जे, (ग) कृषि यन्त्र, (घ) प्रस्तुत उद्योगों के लिए मशीनरी, (ङ) आवश्यक उपभोक्ता माल, (च) वर्तमान उद्योगों के विस्तार के लिए मशीनें, (छ) नये उद्योगों के लिए मशीनें और (ज) अन्य आवश्यक सामान।

(४) खुले सामान्य अनुज्ञापन (Open General Licences) की सूची का उस समय तक विस्तार नहीं होना चाहिए जब तक कि इस व्यवस्था को दीर्घकाल तक बनाये रखना सम्भव न हो।

(५) व्यापार नियन्त्रक शासन की कुशलता में वृद्धि होनी चाहिए।

सरकार ने समिति की सिफारिशें मान ली हैं, परन्तु प्राथमिकता का नवीन क्रम निम्न प्रकार निश्चित किया है :—

(१) (क) आवश्यक कच्चा माल।
(ख) पुरानी मशीनों के पुर्जे और भाग।
(ग) वे उपभोग की वस्तुएँ जो जीवन अथवा स्वास्थ्य के लिए आवश्यक हैं।

(२) अन्य कच्चा माल और मशीनरी।

(३) अन्य आवश्यक सामान।

(४) अनावश्यक माल।

समय-समय पर सरकार ने जो आयात नीति अपनाई है उसकी निम्न चनायें की गई हैं—(१) इसमें इतनी जल्दी-जल्दी परिवर्तन होता रहता है कि देश में व्यापारिक अनिश्चितता का वातावरण उत्पन्न हो गया है। इस अनिश्चितता के कारण उत्पादक व उपभोक्ता दोनों को हानि हो रही है। (२) सरकार की आयात नीति का आधार विदेशी विनिमय की उपलब्धता है, जबकि देश की आर्थिक और औद्योगिक आवश्यकताओं को आधार बनाना चाहिए था। (३) आयात सम्बन्धी नियन्त्रणों की कार्यविधि अपनी जटिलता और अवैज्ञानिकता के कारण बेईमानी को जन्म देती है। इधर इस दिशा में कुछ सुधार हुआ है, परन्तु अब भी स्थिति असन्तोष-जनक ही बनी हुई है।

(II) निर्यात नियन्त्रण नीति—भारत सरकार की ओर से अनेक बार यह घोषणा की गई है कि सरकार की निर्यात नीति का आधार निर्यात नियन्त्रण नहीं है, बल्कि निर्यात प्रोत्साहन है। इस उद्देश्य से एक निर्यात सलाहकार परिषद् नियुक्त की गई है। निर्यात की वस्तुओं को *क*, *ख*, *ग* और *घ* चार वर्गों में विभाजित किया गया है। वर्ग *क* में उन वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है जिनकी पूर्ति सीमित है और जिनके लिए निर्यात अनुज्ञापन नहीं दिये जाते हैं। वर्ग *ख* में खाद्य पदार्थों को सम्मिलित किया जाता है, जिन पर खाद्य मन्त्रालय का अधिकार है। वर्ग *ग* में वे सभी माल सम्मिलित हैं जिनकी सरकार अथवा देशी उद्योगों के लिए आवश्यकता है। अन्य सभी वस्तुओं को वर्ग *घ* में सम्मिलित किया जाता है और उन पर वाणिज्य मन्त्रालय का नियन्त्रण रहता है।

(III) व्यापार नियन्त्रण का भविष्य—भारत संयुक्त-राष्ट्र संघ के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन का सदस्य है और यह संगठन व्यापारिक प्रतिबन्धों को ढीला करने के पक्ष में है। भारत सरकार भी धीरे-धीरे प्रतिबन्धों की नीति को समाप्त करने के पक्ष में है। मुद्रा-कोष ने भी केवल संक्रान्ति काल के लिए ही ऐसे प्रतिबन्धों की आज्ञा दी है, परन्तु भारत सरकार हैवाना चार्टर (Havana Charter) और गेट (General Agreement on Trade and Tariffs) की सिफारिशों को पूर्ण रूप में पूरा करने में असमर्थ है। विगत वर्षों में भारत सरकार ने व्यापारिक समझौतों द्वारा अपनी व्यापार नीति को सफल बनाने का प्रयत्न किया है। ऐसे समझौते ब्रिटेन, पाकिस्तान, जापान, जर्मनी, बर्मा, इन्डोनेशिया, रूस, अफगानिस्तान आदि अनेक देशों के साथ हुए हैं।

व्यापाराशेष सम्बन्धी स्थिति—

सन् १९५८ में भारत के विदेशी व्यापार की प्रमुख विशेषता उसकी कमी रही है। मूल्य की दृष्टि से आयात में २२% और निर्यात में १५% की कमी हुई है। गत वर्ष जनवरी से अगस्त तक ५१९·७६ करोड़ रुपये का आयात हुआ और ३५४·८० करोड़ रुपये का कुल निर्यात हुआ, जबकि सन् १९५७ की इसी अवधि में ये आँकड़े

१९४८- ६५९·११ करोड़ रुपये और ४१४·२९ करोड़ रुपए थे। इस प्रकार व्यापार सन्तुलन के घाटे में ८६·८६ करोड़ रुपये की कमी हो गई। इसका प्रमुख कारण सरकार की अधिक कठोर आयात नीति है, जिससे आयात में अपेक्षाकृत अधिक गिरावट आई है। मूल्य के अतिरिक्त व्यापार के परिमाण में भी कमी हुई है। जनवरी-जून सन् १९५८ में निर्यात् का परिमाण सम्बन्धी निर्देशांक (आधार वर्ष १९५२-५३ = १००) ९९ तथा आयात का १२६ रहा, जबकि सन् १९५७ की इसी अवधि में क्रमशः ११७ तथा १५० था। स्थिति निम्न प्रकार रही है :—

(करोड़ रुपयों में)

	जनवरी-अगस्त १९५८	जनवरी-अगस्त १९५७	५७ की अपेक्षा ५८ में हुई शुद्ध घट-बढ़
आयात	५१२·७६	६५९·११	—१४६·३५
निर्यात	३४९·०१	४११·४०	— ६२·३९
पुनर्निर्यात	५·७९	२·८९	+ २·९०
कुल निर्यात	३५४·८०	४१४·२९	— ५९·४९
व्यापार सन्तुलन	१५७·९६	२४४·८२	— ८६·८६

जहाँ तक व्यापार की शिक्षा का प्रश्न है, हमारा लगभग आधा व्यापार तीन देशों अर्थात् ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमरीका तथा पश्चिमी जर्मनी के साथ है, जिनके साथ क्रमशः कुल का २७, १४ और ९% व्यापार रहा है, विगत वर्षों में ब्रिटेन का महत्त्व बराबर घटता जा रहा है और संयुक्त राज्य अमरीका, पश्चिमी जर्मनी, जापान, इटली, रूस तथा पश्चिमी और पूर्वी एशिया के देशों का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। व्यापार के रूप को नीचे की तालिका में दिखाया गया है :—

सन् १९५७ में भारत के व्यापार का रूप

(करोड़ रुपयों में)

शीर्षक	कुल निर्यात	कुल आयात	व्यापाराशेष
खाद्य सामग्री	१७९·३४	९५·८७	+ ८[illegible]·४७
पेय तथा तम्बाकू	१२·८६	२·२८	+ १०·५८
अखाद्य पदार्थ	१२४·६४	११२·१६	+ १२·४८
धातुएँ, ईंधन आदि	१२·९३	१०७·५८	— ९५·५५
चर्बी, तेल, इत्यादि	१२·६९	५·९२	+ ६·७७
रसायनिक पदार्थ	५·९०	७६·९७	— ७१·१७
निर्मित वस्तुएँ	२७२·४३	२८९·५४	—३०५·०७
मशीनरी तथा यातायात सामान	३·७१	३०८·७८	—३०५·०७
विविध निर्मित वस्तुएँ	९·९५	२२·५५	— १२·६०
अन्य वस्तुएँ	९·५८	७·३६	— २·२२
योग	६४२·८५	१,०२५·८२	—३८२·९७

भारत के विदेशी व्यापार का भविष्य—

देश की पंच-वर्षीय योजनाओं को सफल बनाने के लिये भारत सरकार को आजकल की तरह भविष्य में भी आयोजित व्यापार (Planned Trade) की नीति अपनानी पड़ेगी। भविष्य में हमें पहले से अधिक विदेशी विनिमय की आवश्यकता होगी, ताकि आवश्यक पूँजीगत माल व औद्योगिक कच्ची सामग्री का आयात कर सकें। अतः हमें निर्यातों में अधिक से अधिक वृद्धि और आयातों में अधिक से अधिक कमी करनी पड़ेगी, ताकि भुगतान सन्तुलन हमारे अनुकूल रहे। स्टेट ट्रेडिंग कॉरपोरेशन विदेशी व्यापार को बढ़ाने में पर्याप्त योग दे रहा है, किन्तु इसके कार्यक्षेत्र में विस्तार होना चाहिये। निर्यात प्रोत्साहक काउन्सिलों ने निर्यात-बाजार की खोज में विदेशों को प्रतिनिधि मण्डल भेजे हैं। अभी अन्य वस्तुओं के लिये भी निर्यात प्रोत्साहन काउन्सिलें स्थापित करने की आवश्यकता है। भविष्य में सरकार को ऐसी निर्यात नीति ग्रहण करनी पड़ेगी जिससे भारत उन वस्तुओं के निर्यात में विशेषता प्राप्त कर ले जिनमें उसे तुलनात्मक लाभ अधिक है और भारतीय वस्तुयें विदेशी बाजारों में स्पर्धा कर सकें।

QUESTIONS

1. भारतीय विदेशी व्यापार में सन् १९४७ के उपरान्त क्या मुख्य परिवर्तन हुए हैं, स्पष्ट कीजिये और समझाइए कि क्या ये परिवर्तन देश के लिए हितकर सिद्ध हुए हैं? (Agra, B. A., 1958)
2. Describe the changing direction and pattern of India's foreign trade since 1939. (Agra, B. A , 1956 Supp.)
3. हिन्दुस्तान के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सन् १९४७ के बाद और सन् १९३९ से पहले के समय में क्या और क्यों अन्तर हुआ? (Agra, B. A., 1957 Supp.)
4. "In any event, the balance of trade does not tell the whole story." Examine this statement from the point of view of the position of India and England. (Agra, B. A., 1956)
5. सन् १९४७ से भारतीय विदेशी व्यापार की प्रमुख प्रगतियों का वर्णन कीजिये। (Allahabad, B. A., 1955, 1956)
6. Account briefly for the deterioration in India's Balance of Trade after the Second World War. What measures would you suggest to remedy the situation? (Alld , B. A., 1954)

अध्याय २५

विदेशी विनिमय

Foreign Exchange

विदेशी विनिमय का अर्थ—

विदेशी विनिमय शब्द का उपयोग अर्थशास्त्र में कई अर्थों में किया जाता है :—

(१) विस्तृत अर्थ में—कुछ लेखकों का विचार है कि विदेशी विनिमय का अभिप्राय उस सारी क्रिया से होता है जिसके द्वारा दो व्यापारियों द्वारा अपने विदेशी दायित्वों का भुगतान किया जाता है। यह इस शब्द का बड़ा ही विस्तृत अर्थ है, *क्योंकि इस अर्थ में वे सब संस्थाएँ जो विदेशी भुगतानों में सहायता करती हैं, वे सब रीतियाँ जिनके द्वारा विदेशी भुगतान किये जाते हैं, वे सभी उपाय जिनका इस सम्बन्ध में उपयोग किया जाता है तथा वह दर जिस पर एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा में बदला जाता है, सबके सब विदेशी विनिमय में सम्मिलित हो जाते हैं।*

(२) संकुचित अर्थ में—विदेशी विनिमय का उपयोग संकुचित अर्थ में भी किया जाता है। (क) इस सम्बन्ध में कुछ लोग तो विदेशी विनिमय का अर्थ उन सब *सुविधाओं* से लगाते हैं जो विदेशी भुगतानों के चुकाने से सम्बन्धित होती हैं। (ख) कुछ इसका अर्थ *विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय* से लगाते हैं और (ग) कुछ इसके द्वारा उस *अनुपात अथवा दर* को सूचित करते हैं जिस पर विभिन्न देशों की मुद्रा की अदल-बदल होती है।

निष्कर्ष—

आगे के सारे अध्ययन में हम इस शब्द का उपयोग संकुचित अर्थ में ही करेंगे। विदेशी विनिमय की एक सरल परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं कि विदेशी विनिमय का अभिप्राय उन प्रपत्रों, रीतियों अथवा साधनों से होता है जिनके द्वारा विदेशी भुगतान चुकाये जाते हैं।

विदेशी विनिमय की समस्या—

विदेशी विनिमय की समस्या इस कारण उदय होती है कि अलग-अलग देशों के चलन अलग-अलग होते हैं और प्रत्येक देश के निवासी अपने देश के चलन में भुगतान स्वीकार करते हैं। उदाहरणस्वरूप, भारतीय व्यापारी विदेशों को भेजे हुये माल की कीमत रुपयों में चाहते हैं। इसी प्रकार अमरीकन व्यापारी डालर

में ही भुगतान लेंगे, ब्रिटिश व्यापारी पौंड में और जापानी व्यापारी यैन में। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रत्येक व्यवसाय में हमें अपने देश के चलन को अन्य देशों के चलन में बदलना पड़ता है। विदेशी चलनों के क्रय-विक्रय तथा एक देश के चलन के दूसरे देश के चलन में होने वाले विनिमय अनुपात को ही हम विदेशी विनिमय का नाम देते हैं। प्रस्तुत विवेचना में हम विदेशी विनिमय को विदेशी विनिमय दर के अर्थ में उपयोग करेंगे और हमारा प्रयत्न मुख्यतया इसी दर से सम्बन्धित बातों का अध्ययन करना होगा। विदेशी व्यापार में आन्तरिक व्यापार की तुलना में साधारणतया इसी कारण जटिलता आ जाती है कि उसमें देश के चलन को बिना विदेशी चलनों में बदले कोई व्यवसाय नहीं हो सकता है।

विदेशी विनिमय दरों का निर्धारण—

विनिमय दर केवल दो देशों के चलनों के विनिमय अनुपात को सूचित करती है। यदि एक पौंड के बदले में १३'३ रुपये मिल सकते हैं तो रुपया और पौंड की विनिमय दर १ पौंड = १३'३ रुपया होगी। इसी प्रकार यदि विदेशी विनिमय बाजार में १ रुपये के बदले में २१ सेन्ट प्राप्त होते हैं तो रुपये और डालर की विनिमय दर १ रुपया = २१ सेन्ट अथवा १ डालर = ४'७६ रुपया होगी। स्मरण रहे कि विनिमय दर सदा के लिए स्थिर नहीं रहती है। इसमें समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं, जिनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था दोनों पर प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि विनिमय दर तथा उसके परिवर्तनों के अध्ययन का देश के आर्थिक जीवन में भारी महत्त्व होता है।

विनिमय दरों के निर्धारण की समस्या का दो अलग-अलग रूपों में अध्ययन किया जा सकता है:—(I) स्वर्णमान प्रणाली के अन्तर्गत और (II) स्वतन्त्र चलन प्रणाली अथवा पत्र-चलन-मान के अन्तर्गत। इन दोनों प्रणालियों में विनिमय दरों के निर्धारण के सम्बन्ध में कोई मौलिक भेद तो नहीं होता है, परन्तु क्योंकि स्वर्णमान में स्वर्ण के रूप में सभी देशों के लिए कीमतों का एक सामूहिक मापक विद्यमान होता है, इस कारण विनिमय दर के निर्धारण में सरलता रहती है।

(I) स्वर्णमान में विनिमय दर का निर्धारण—

यदि सभी देशों में स्वर्णमान हो और सोने के आयात और निर्यात पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध न हों तो विनिमय दरों का निर्धारण काफी सरल होता है। बात यह है कि प्रत्येक स्वर्णमान देश का चलन सोने की एक निश्चित मात्रा में परिवर्तनीय होता है। हेबरलर (Haberler) ने कहा है कि *यदि व्यापारी देशों में स्वर्णमान है और सोने के आयात-निर्यात अनियन्त्रित हैं तो उनके चलन का सम्बन्ध काफी दृढ़ होगा। ऐसे देशों के बीच की विनिमय दर उनके चलनों की सोना खरीदने की शक्ति में समानता स्थापित करके प्राप्त की जाती है।* उदाहरणस्वरूप, यदि भारत में एक औंस सोने की कीमत २२५ रुपया है और इङ्गलैंड में उसकी कीमत

१५ पौंड है तो रुपये और पौंड की विनिमय दर १५ पौंड=२२५ रुपया अथवा १ पौंड =१५ रुपया होगी। इसी प्रकार यदि अमरीका में ४५ डालर के बदले में १ औंस सोना खरीदा जा सकता है तो रुपये और डालर की विनिमय दर २२५ रुपये=४५ डालर अथवा १ डालर बराबर ५ रुपया होगी। इसी आधार पर पौंड और डालर की विनिमय दर १ पौंड=३ डालर होगी। स्मरण रहे कि उपरोक्त सभी विनिमय दरें प्रत्येक चलन की उसके अपने देश के भीतर स्वर्ण क्रयः शक्ति की समानता द्वारा प्राप्त की गई हैं। १ पौंड के बदले में इङ्गलैंड में ठीक उतनी ही मात्रा में सोना खरीदा जा सकता है जितना कि ३ डालर के बदले में अमरीका में, अथवा १५ रुपये के बदले में भारत में। *स्वर्ण क्रयः शक्ति की समानता द्वारा जो विनिमय दर प्राप्त होती है उसे आर्थिक भाषा में 'विनिमय की टकसाली दर' (Mint Par of Exchange) अथवा 'स्वर्ण मूल्य समानता दर' (Gold Par of Exchange) कहा जाता है। स्वर्णमान देशों के बीच विनिमय दर की दीर्घकालीन प्रवृत्ति इसी की ओर होती है, यद्यपि समय-समय पर वास्तविक विनिमय दर इसके थोड़ी सी भिन्न भी हो सकती है।*

स्वर्णमान में विनिमय दरों के उच्चावचन—

स्वर्णमूल्य समानता दर विनिमय दरों की सामान्य प्रवृत्ति को ही दिखाती है। वास्तविक दर का इसके बराबर होना सदा ही आवश्यक नहीं होता है। *व्यापाराशेष का प्रत्येक परिवर्तन इस दर में भी कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य कर देता है।* मान लीजिये कि इङ्गलैंड और अमरीका दोनों ही स्वर्णमान देश हैं और दोनों के बीच की स्वर्णमूल्य विनिमय दर १ पौंड=३ डालर है, परन्तु मान लीजिए कि किसी एक वर्ष में इङ्गलैंड अमरीका से अधिक माल मँगाता है और उसकी तुलना में अमरीका को कम माल भेजता है। इसका परिणाम यह होगा कि इङ्गलैंड के लिए डालर की माँग बढ़ जायगी, क्योंकि इङ्गलैंड के लिए अपने आयातों की कीमत को डालर में चुकाना आवश्यक होता है। इसके विपरीत अमरीका में ब्रिटिश व्यापारियों को भुगतान करने के लिए पौंड की माँग अपेक्षतन कम होगी। मांग का साधारण नियम हमें यह बताता है कि जिस वस्तु की बाजार में माँग बढ़ जाती है उसकी कीमत ऊपर चढ़ जाती है और इसके विपरीत जिस वस्तु की माँग घट जाती है उसकी कीमत नीचे गिर जाती है। डालर की माँग बढ़ जाने के कारण विदेशी विनिमय बाजार में उसकी कीमत बढ़ जायगी और इसके विपरीत पौंड की कीमत में कमी हो जावगी, अतः १ पौंड की कीमत ३ डालर से कम रह जायगी, अर्थात् एक पौंड के बदले में तीन से कम ही डालर प्राप्त होंगे।

स्मरण रहे कि *स्वर्णमान में एक देश के व्यापारियों के लिये विदेशियों को भुगतान करने के दो उपाय होते हैं :—या तो विदेशी विनिमय बाजार से, जिसकी प्रमुख संस्था विनिमय बैंक होती है, विदेशी चलन को खरीद कर भुगतान किया जा सकता है अथवा सोना विदेश को भेज कर उसके बदले में वहाँ की केन्द्रीय*

बैंक अथवा वहाँ के मुद्रा-संचालक से विदेशी चलन खरीदा जा सकता है। दोनों ही रीतियां उपयोग में लाई जाती हैं, परन्तु समय विशेष में किस रीति द्वारा भुगतान किया जायगा, यह इस बात पर निर्भर होता है कि कौन सी रीति अधिक लाभदायक है। *सोने का निर्यात करने में खर्चा पड़ता है, उसके पैकिंग, यातायात तथा बीमे पर व्यय होता है। इस कारण इस नीति से स्वर्ण-मूल्य दर पर विदेशी विनिमय प्राप्त नहीं होता है।* उदाहरण के लिये, मान लीजिए कि इङ्गलैंड से १ पौंड की कीमत का सोना अमरीका को भेजने के सम्बन्ध में ·०२ डालर का खर्चा बैठता है। इस दशा में १ पौंड का सोना अमरीका को भेज कर केवल २·६८ डालर प्राप्त किये जा सकते हैं, क्योंकि ·०२ डालर तो स्वर्ण निर्यात व्यय के रूप में निकल जाता है। यदि विदेशी विनिमय बाजार में १ पौंड के बदले में २·६८ डालर से अधिक मिल जाता है तो इङ्गलैंड के व्यापारी अमरीका को सोना भेज कर डालर प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करेंगे, परन्तु जब विदेशी विनिमय बाजार से भी एक पौंड के बदले में इतना ही डालर मिलता है तो ब्रिटिश व्यापारी इस सम्बन्ध में तटस्थ रहेंगे कि डालर को विदेशी विनिमय बाजार से खरीदा जाय अथवा स्वर्ण निर्यात द्वारा प्राप्त किया जाय। यदि विनिमय बैंक १ पौंड के बदले में २·६८ डालर से थोड़ा सा भी कम डालर देने का प्रयत्न करती है तो उससे डालर नहीं खरीदा जायगा, बल्कि स्वर्ण निर्यात द्वारा डालर प्राप्त किया जायगा। इस प्रकार १ पौंड के बदले में कम से कम २·६८ डालर अवश्य प्राप्त किये जा सकते हैं। इङ्गलैंड के दृष्टिकोण से विनिमय दर इससे नीचे नहीं गिर सकती है। *इस बिन्दु पर विनिमय दर के आते ही इङ्गलैंड से सोने के निर्यात आरम्भ हो जायेंगे, अतः इस बिन्दु को इङ्गलैंड का 'स्वर्ण निर्यात बिन्दु' (Gold Export Point) कहा जाता है। अमेरिका के दृष्टिकोण से विनिमय दर के इस बिन्दु पर आते ही स्वर्ण आयात आरम्भ हो जायँगे और यह उसके लिए 'स्वर्ण आयात बिन्दु' (Gold Import Point) होगा। स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर में इससे अधिक परिवर्तन नहीं हो सकेंगे।*

अब एक दूसरी स्थिति को लीजिये। मान लीजिये कि किसी वर्ष में इङ्गलैंड अमेरिका को अधिक माल भेजता है और उसकी तुलना में वहाँ से कम माल मँगाता है। इस दशा में व्यापाराशेष इङ्गलैंड के पक्ष में हो जायगा। अमरीका में पौंड की माँग बढ़ेगी और उसके विपरीत इङ्गलैंड में डालर की माँग कम हो जायगी। विदेशी विनिमय बाजार में पौंड की डालर में कीमत बढ़ जायगी और इस प्रकार एक पौंड के बदले में ३ से अधिक डालर प्राप्त हो जायेंगे, परन्तु अमेरिकन व्यापारी भी पौंड को या तो विनिमय बैंक से खरीद कर प्राप्त कर सकते हैं या इङ्गलैंड को सोना भेज कर खरीद सकते हैं। यदि तीन डालर का सोना भेजने पर कुल खर्च ·०२ डालर होता है तो अमेरिकन व्यापारियों को सोने के निर्यात द्वारा ३ डालर के स्थान पर ३·०२ डालर में १ पौंड प्राप्त होगा। जब तक विनिमय बैंक ३·०२ डालर के बदले में १ पौंड से

अधिक देती रहेगी, अमरीका द्वारा स्वर्ण निर्यात का प्रश्न ही नहीं उठेगा, परन्तु यदि बाजार में विनिमय दर १ पौंड = ३·०२ डालर के बराबर हो जाती है तो अमरीका से स्वर्ण निर्यात आरम्भ हो जायगा। यही अमरीका के लिए स्वर्ण निर्यात बिन्दु होगा और इङ्गलैंड के लिए स्वर्ण आयात बिन्दु। पौंड की कीमत ३·०२ डालर से ऊपर नहीं जायगी।

स्वर्ण आयात और स्वर्ण निर्यात बिन्दुओं को सामूहिक रूप में स्वर्ण बिन्दु (Gold Points), धातु बिन्दु (Specie Points) अथवा पाट बिन्दु (Bullion Points) कहा जाता हैं। ये दोनों बिन्दु स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर के चढ़ाव और उसके पतन की सीमायें निश्चित करते हैं। हम ऐसा तो नहीं कह सकते हैं कि स्वर्णमान में विदेशी विनिमय दर पूर्णतया स्थिर रहती है, परन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं कि स्वर्णमान में विनिमय दरों के उच्चावचन स्वर्ण बिन्दुओं द्वारा निश्चित की गई संकुचित सीमाओं के ही भीतर रहते हैं। उनमें अत्याधिक उच्चावचन नहीं हो पाते हैं।

स्मरण रहे कि स्वर्णमान सम्बन्धी उपरोक्त अवस्था तभी सम्भव होती है जबकि स्वर्ण के आवागमन पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं लगाए जाते हैं। यदि कोई देश स्वर्ण के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाता है तो विनिमय दरों के उच्चावचनों का रुक जाना आवश्यक नहीं होता है। उस दशा में विदेशी विनिमय दर में विदेशी विनिमय की माँग और पूर्ति के अनुसार किसी भी अंश तक परिवर्तन हो सकते हैं।

(II) स्वतन्त्र चलन अथवा पत्र-चलन प्रणाली में विनिमय दर—

ऐसी चलन प्रणाली में एक देश के चलन का दूसरे देश के चलन में कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता है। विभिन्न देशों की मुद्राएँ स्वर्ण अथवा अन्य किसी एक धातु में परिवर्तनशील नहीं होती हैं। इसके कारण विभिन्न चलनों के मूल्यों का कोई सामूहिक मापक नहीं होता है। *इस सम्बन्ध में विनिमय दर के निर्धारण का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त क्रयः शक्ति समानता सिद्धान्त (Purchasing Power Parity Theory) है।* सबसे पहले हम उसी की विवेचना करेंगे।

क्रयः शक्ति समानता सिद्धान्त

(1) इस सिद्धान्त का निर्माण स्वीडन के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री गस्टाव कैसल (Gustav Cassel) ने किया था और इसी कारण इसे कैसल का क्रयः शक्ति समानता सिद्धान्त (Cassel's Purchasing Power Parity Theory) कहा जाता है। यह सिद्धान्त एक बड़े अंश तक विनिमय दरों के निर्धारण की ठीक वैसी ही व्याख्या करता है जैसी कि हमने स्वर्णमान के अन्तर्गत की थी। जब दो व्यापारी देशों में स्वर्णमान का चलन नहीं होता तो निस्सन्देह सोने में उनके चलनों की क्रयः शक्ति की समानता द्वारा विनिमय दर का निर्धारण नहीं होता है, परन्तु स्वर्ण के स्थान पर किसी दैनिक उपयोग की वस्तु में दोनों चलनों की क्रयः शक्ति का पता

गाया जा सकता है और इस क्रयः शक्ति की समानता द्वारा विनिमय दर को निश्चित किया जा सकता है। मान लीजिए कि इङ्गलैंड में १ पौंड द्वारा ठीक उतनी ही मात्रा में गेहूँ खरीदा जा सकता है जितना कि अमरीका में ४ डालर के बदले में। ऐसी दशा में पौंड और डालर की गेहूँ खरीदने की शक्ति में समानता उत्पन्न करके पौंड और डालर का विनिमय अनुपात १ : ४ होगा।

(2) परन्तु उपरोक्त रीति बहुत लाभदायक नहीं है, क्योंकि स्वतन्त्र पत्र-चलन प्रणाली में कोई भी एक वस्तु ऐसी नहीं होती है जिसे चलन की क्रयः शक्ति के मापक के रूप उपयोग किया जा सके। *कैसल का विचार है कि विनिमय दर के निर्धारण के लिए हमें किसी एक वस्तु में चलन की क्रयः शक्ति को नहीं नापना चाहिये, परन्तु यदि हम दो मुद्राओं की सामान्य क्रयः शक्ति (General Purchasing Power) में समानता कर देते हैं तो विनिमय दर का पता अवश्य लग जायगा।* मान लीजिये कि इङ्गलैंड में १ पौंड की सामान्य क्रयः शक्ति उतनी ही है जितनी कि अमरीका में ४ डालर की तो इङ्गलैंड और अमरीका के बीच की विनिमय दर १ पौंड = ४ डालर होगी। सामान्य क्रयः शक्ति से हमारा अभिप्राय मुद्रा की साधारण रूप में वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त करने की शक्ति से होता है। एक छोटे से उदाहरण द्वारा उपरोक्त सिद्धान्त को समझने में सहायता मिलेगी। मान लीजिए कि हम १,५६० वस्तुओं और सेवाओं को इङ्गलैंड की वस्तुओं और सेवाओं के प्रतिनिधि के रूप में चुन लेते हैं। मान लीजिये कि वस्तुओं और सेवाओं के इस विशाल समूह की कीमत इङ्गलैंड में ५२० पौंड है, जिसका अर्थ यह होगा कि पौंड की सामान्य क्रयः शक्ति ३ है। अब मान लीजिए कि वस्तुओं और सेवाओं के इसी विशाल समूह की कीमत अमरीका में २,०८० डालर है, जिसके अनुसार डालर की सामान्य क्रयः शक्ति ¾ होगी। इसका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि १ पौंड की सामान्य क्रयः शक्ति ४ डालर की सामान्य क्रयः शक्ति के बराबर होगी, अतः पौंड और डालर का विनिमय अनुपात १ : ४ होगा और यही दोनों के बीच की विनिमय दर होगी।

(3) उपरोक्त विवेचन में हमने केवल यह बताने का प्रयत्न किया है कि कैसल के अनुसार विनिमय दर का निर्धारण किस प्रकार होता है, परन्तु *कैसल का सिद्धान्त वास्तव में तीनों बातों को बताता है—(१) विनिमय दर किस प्रकार निश्चित होती है, (२) विनिमय दर में क्यों परिवर्तन होते हैं और (३) विनिमय दर के परिवर्तनों की दिशा और उनका अंश क्या होता है?* कैसल का विचार है कि (क) दो देशों के चलनों का विनिमय अनुपात उन चलनों की सामान्य क्रयः शक्ति की समानता द्वारा निश्चित होता है, (ख) उसमें इस प्रकार की क्रयः शक्ति के तुलनात्मक परिवर्तनों के कारण परिवर्तन होते हैं और (ग) इन परिवर्तनों की दिशा तथा उनका अंश सामान्य क्रयः शक्ति के तुलनात्मक परिवर्तनों के अनुसार होता है। क्रयः शक्ति समानता सिद्धान्त का यही अन्तिम रूप है।

(6) श्री एस० ई० टॉमस (S. E. Thomas) ने इस सिद्धान्त को इन शब्दों में

व्यक्त किया है—"एक देश की करेन्सी का मूल्य दूसरे देश की करेन्सी के रूप में किसी समय विशेष पर, बाजार की माँग और पूर्ति की दशाओं द्वारा निर्धारित होता है; दीर्घ काल में यह मूल्य उन दोनों देशों की मुद्राओं के सापेक्षिक मूल्यों द्वारा निश्चित होता है, जैसा कि उन देशों की करेंसी की क्रय: शक्ति अपने अपने देशों की वस्तुओं और सेवाओं के रूप में होती है। अन्य शब्दों में, विनिमय दर में उसी बिन्दु पर स्थिर होने की प्रवृत्ति होती है जहाँ दोनों देशों की मुद्राओं की क्रय: शक्ति समान होती है। इस बिन्दु को ही 'क्रय: शक्ति समता' कहते हैं।"*

(२) यहाँ पर यह आवश्यक प्रतीत होता है कि चलन की सामान्य क्रय: शक्ति और उसके तुलनात्मक परिवर्तनों का अर्थ स्पष्ट कर दिया जाय। सामान्य क्रय: शक्ति चलन विशेष की वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदने की औसत क्षमता की ओर संकेत करती है। यह इस बात को सूचित करती है कि एक निश्चित काल में चलन की एक इकाई औसतन कितनी वस्तुएँ और सेवाएँ खरीद सकती है। यदि हम भारत में ५०० प्रतिनिधि वस्तुओं और सेवाओं की औसत कीमत निकालते हैं (इस प्रकार की कीमत इन वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों के योग को इनकी संख्या से भाग देकर निकल आयेगी) और मान लीजिये कि वह २ रुपया निकलती है तो ऐसी दशा में २ रुपए की सामान्य क्रय: शक्ति एक वस्तु होगी अथवा इस प्रकार कहिये कि रुपये की क्रय: शक्ति ½ वस्तु के बराबर होगी। इसी प्रकार सभी चलनों की उनके अपने देश में सामान्य क्रय: शक्ति ज्ञात की जा सकती है।

(३) किसी चलन की सामान्य क्रय: शक्ति के तुलनात्मक परिवर्तन का अभिप्राय यह होता है कि किसी दूसरी चलन की सामान्य क्रय: शक्ति की तुलना में चलन विशेष की क्रय: शक्ति में किस अंश तक परिवर्तन हुआ है। उदाहरणस्वरूप, मान लीजिये कि सन् १९३९=१०० के आधार पर सन् १९४२ में इङ्गलैंड में सामान्य कीमतों का सूचक अंक ३०० हो जाता है अर्थात् पौंड की सामान्य क्रय: शक्ति एक-तिहाई रह जाती है, किन्तु इसी काल में अमरीका में सामान्य कीमतों का सूचक अंक २०० होता है अर्थात् डालर की सामान्य क्रय: शक्ति आधी रह जाती है। निश्चय है कि ऐसी दशा में डालर की तुलना में पौंड की सामान्य क्रय: शक्ति में अधिक कमी हुई है। जब एक चलन की सामान्य क्रय: शक्ति में दूसरे चलन की सामान्य क्रय: शक्ति से कम अथवा अधिक परिवर्तन होते है तो चलनों की क्रय: शक्ति में तुलनात्मक परिवर्तन हो जाते हैं।

* While the value of the unit of one currency in terms of another currency is determined at any particular time by the market conditions of demand and supply, in the long run that value is determined by the relative values of the two currencies as indicated by their relative purchasing power over goods and services (in their respective countries). In other words, the rate of exchange tends to rest at that point which expresses equality between the respective purchasing powers of the two currencies. This point is called the Purchasing Power Parity." —S. E. Thomas.

इस प्रकार सामान्य क्रयः शक्ति के तुलनात्मक परिवर्तनों के फलस्वरूप निश्चित विनिमय दरों में परिवर्तन हो सकते हैं। क्रयः शक्ति के परिवर्तन दो प्रकार के हो सकते हैं—समान तथा तुलनात्मक। समान परिवर्तनों के फलस्वरूप विनिमय दरों में किसी भी प्रकार के परिवर्तन नहीं होंगे, किन्तु यदि परिवर्तन तुलनात्मक हैं अर्थात् यदि एक चलन की क्रयः शक्ति में दूसरी चलन की क्रयः शक्ति की अपेक्षा अधिक परिवर्तन होते हैं तो विनिमय दर में भी उसी अनुपात में तथा उसी दिशा में परिवर्तन हो जायेंगे। यदि पौंड की सामान्य क्रयः शक्ति डालर की क्रयः शक्ति की तुलना में २०% घट जाती है तो पौंड की कीमत भी डालर में ठीक इसी अनुपात में घट जायगी। दूसरे शब्दों में, यदि अमरीका की तुलना में इङ्गलैंड में कीमतों का सामान्य कीमत-स्तर बढ़ जाता है तो पौंड की विदेशी कीमत डालर में उसी अनुपात में बढ़ जायगी। एक उपयुक्त उदाहरण से यह सत्य स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिये कि मुद्रा-प्रसार के कारण इङ्गलैंड और अमरीका दोनों में ही सामान्य कीमतों का सूचक-अंक सन् १९३९ = १०० के आधार पर सन् १९५२ में क्रमशः २१० और २१० हो जाता है तो इस दशा में यद्यपि पौंड तथा डालर दोनों ही की क्रयः शक्ति घट जाती है, परन्तु क्रयः शक्ति में तुलनात्मक परिवर्तन नहीं होते, क्योंकि दोनों ही चलनों की कीमत एक ही अनुपात में घटती है। यह अवस्था क्रयः शक्ति के समान परिवर्तन की है और इसके कारण विनिमय दर में परिवर्तन नहीं होंगे।

इसके विपरीत यदि ऐसा होता है कि इङ्गलैंड में मुद्रा-प्रसार का अंश अमरीका की अपेक्षा अधिक रहता है, जिसके फलस्वरूप वहाँ कीमतों की वृद्धि अमरीका की तुलना में अधिक होती है तो स्थिति बदल जायगी। यदि इङ्गलैंड में सन् १९३९ = १०० के आधार पर कीमतों का सूचक-अङ्क सन् १९५४ में २०० है, परन्तु अमरीका में वह केवल १५० है तो इस दशा में पौंड की क्रयः शक्ति डालर की क्रयः शक्ति की तुलना में अधिक अंश तक घट जायगी। क्रयः शक्ति में तुलनात्मक परिवर्तन होंगे और उन्हीं के अनुसार विनिमय दर भी बदल जायगी। कैसल के अनुसार नई विनिमय दर का पता लगाने के लिए आधार वर्ष की दर में प्रत्येक चलन को देश विशेष के निर्देशांक से गुणा कर देना चाहिए। यदि सन् १९३९ में विनिमय दर १ पौंड = ४ डालर थी तो सन् १९५४ में यह निम्न समीकरण से प्राप्त होगी :—

पौंड × इङ्गलैंड का निर्देशांक = डालर × अमेरिकन निर्देशांक

अर्थात् १ पौंड × २०० = ४ डालर × १५०

अथवा १ पौंड = ३ डालर

स्मरण रहे कि पौंड की क्रयः शक्ति में कमी हो गई थी और इसी कारण उसकी विनिमय दर (डालर खरीदने की शक्ति) भी कम हो गई है। ४ डालर के स्थान पर अब १ पौंड के बदले में केवल ३ डालर ही मिलते हैं। साथ ही, पौंड की क्रयः शक्ति में, डालर की तुलना में, उपरोक्त उदाहरण के अनुसार ~~२००/१००—१५०~~ अर्थात्

२५% की कमी होती है, अतः क्रयः शक्ति का तुलनात्मक परिवर्तन २५% है और ठीक यही परिवर्तन पौंड की विदेशी विनिमय दर में भी हुआ है, क्योंकि १ पौंड ४ डालर के स्थान पर केवल ३ डालर के बराबर रह गया है। इस प्रकार क्रयः शक्ति समानता सिद्धान्त विनिमय दर के निर्धारण तथा उसके परिवर्तन के विषय में समुचित ज्ञान प्रदान करता है।

क्रयः शक्ति समानता सिद्धान्त की आलोचनाएँ—

कैसल के क्रयः शक्ति समानता सिद्धान्त की अनेक आलोचनाएँ हुई हैं। ध्यान-पूर्वक देखने से पता चलता है कि यह सिद्धान्त विनिमय दर के निर्धारण तथा उसके परिवर्तनों की सन्तोषजनक विवेचना नहीं करता है। सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएँ निम्न प्रकार हैं:—

(१) यह मुद्राओं की प्रति माँग का विवेचन नहीं करता, अतः इसका स्पष्टीकरण अधूरा है—यह सिद्धान्त यह तो बताने का प्रयत्न करता है कि विनिमय दरों में क्यों और किस प्रकार परिवर्तन होते हैं, परन्तु इस सिद्धान्त द्वारा किया गया स्पष्टीकरण अधूरा है। *वास्तव में विनिमय दर की समस्या कीमत निर्धारण की ही समस्या है* और जिस प्रकार देश के चलन की आन्तरिक कीमत देश के भीतर चलन की माँग और पूर्ति पर निर्भर होती है, ठीक उसी प्रकार उसकी बाह्य कीमत अथवा विनिमय दर भी विदेशी विनिमय बाजार में उसकी माँग और पूर्ति पर निर्भर होगी। *विनिमय दर का सन्तोषजनक सिद्धान्त वही हो सकता है जो दो मुद्राओं की विदेशी विनिमय बाजार की अन्योन्य माँग और पूर्ति (Reciprocal demand and supply) की समुचित विवेचना करे*, परन्तु क्रयः शक्ति समानता सिद्धान्त का सम्बन्ध तो केवल चलनों की क्रयः शक्ति सम्बन्धी विवेचना से ही है, उनकी प्रति-माँग की विवेचना से नहीं है। यही कारण है कि सिद्धान्त द्वारा की गई विवेचना अधूरी है।

(२) विनिमय दर मान कर चलता है उसका निर्धारण नहीं करता—*यह सिद्धान्त विनिमय दर का निर्धारण नहीं करता है, अपितु उसे मान कर आगे बढ़ता है।* क्रयः शक्ति की समानता दिखाने से पहिले ही एक प्रकार, अदृश्य मान्यता के रूप में, विनिमय दर स्वीकार कर ली जाती है। इसके बिना दो चलनों की क्रयः शक्ति की समानता दिखाने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

(३) क्रयशक्ति के नापने का साधन ठीक नहीं है—*यह विवेचना प्रत्येक देश के कीमत निर्देशांकों (Price Indices) पर आधारित होती है।* इसके दो दोष हैं:—(i) *निर्देशांक सदा ही भूतकाल से सम्बन्धित होते हैं।* वे वर्तमान अथवा भविष्य के सम्बन्ध में पूर्णतया निश्चित अनुमान प्रस्तुत नहीं करते हैं। इस कारण प्रस्तुत तथा भावी विनिमय दर का निर्धारण केवल अनुमानजनक ही रहता है। व्यवहारिक जीवन में सिद्धान्त का यह गम्भीर दोष होता है। (ii) दूसरी कठिनाई

यह है कि *निर्देशांकों में ऐसी वस्तुओं की कीमतों की भी गणना होती है जिनका विदेशी व्यापार से कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता है।* कुछ वस्तुएं ऐसी होती हैं जो देश में ही उत्पन्न की जाती हैं, देश में ही उनका विनिमय होता है और देश में ही उनका उपभोग भी हो जाता है (जैसे लकड़ी, पत्थर, ईंट आदि)। विदेशी व्यापार अथवा विदेशी विनिमय पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। विदेशी विनिमय दरों के निर्धारण के लिए तो उन्हीं वस्तुओं की कीमतों को सम्मिलित करना चाहिए जिनका कि आयात-निर्यात होता रहता है (जैसे गेंहूं, कपास, जूट, मशीनें, आदि)। चूंकि निर्देशांक दोनों ही वर्ग की वस्तुओं के आधार पर बनाये जाते हैं इसीलिये वे एक ऐसी विनिमय दर सूचित करते हैं जो कि वास्तविक विनिमय दर से मेल नहीं रखती है। *किन्तु यदि हम केवल ऐसी वस्तुओं को सूची में सम्मिलित करें, जिनका विदेशों* से सम्बन्ध है, तो भी समस्या हल नहीं होती है, क्योंकि (i) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओं के मूल्य सब देशों में लगभग समान रहते हैं। यदि इनके मूल्यों में परिवर्तन होता भी है, तो तुलनात्मक दृष्टि से बहुत ही कम, जिससे विनिमय दरों में ठीक ठीक परिवर्तन मालूम करना कठिन हो जाता है। (ii) देश में अन्य उत्पादित वस्तुओं के मूल्य का प्रभाव दूसरी वस्तुओं के मूल्यों पर पड़ता है। अतः निश्चित की गई विनिमय दर और वास्तविक विनिमय दर में अन्तर पाया जायेगा।

(४) विनिमय की दर में परिवर्तन का मूल्य-स्तर पर भी प्रभाव पड़ता है—यह सिद्धान्त ऐसा समझता है कि विनिमय दरों के परिवर्तन देशों के आन्तरिक कीमत-स्तरों के परिवर्तनों के परिणाम होते हैं, किन्तु इसके विपरीत यह भी देखा जाता है कि *विनिमय दर के परिवर्तन स्वयं भी कीमत-स्तर में परिवर्तन कर देते हैं।* उदाहरण के लिए, मान लो कि इङ्गलैंड से फ्रांस को बहुत पूंजी जा रही है। इसके कारण पौंड का मूल्य फ्रैंक में कम हो जायगा। यदि इङ्गलैंड फ्रांस से कच्चा माल मँगाया करता है, तो अब कच्चा माल उसे मँहगा मिला करेगा, जिससे इनके द्वारा बनने वाली वस्तुयें मँहगी हो जायेंगी। स्पष्ट है कि विनिमय दर के परिवर्तन से मूल्य-स्तर में भी परिवर्तन हुआ। इसी प्रकार अवमूल्यन में मुद्रा-प्रसार की भी प्रवृत्ति होती है। बहुधा ऐसा देखने में आता है कि जब देश की सरकार देश की चलन की विनिमय दर को घटाती है तो इसके फलस्वरूप देश के भीतर चलन की सामान्य क्रयः शक्ति भी घट जाती है।

(५) विनिमय दर पर प्रभाव डालने वाले अनेक कारणों को छोड़ दिया गया है—इस सिद्धान्त में क्रयः शक्ति के परिवर्तनों को विनिमय दरों के परिवर्तनों का एक मात्र कारण माना गया है, परन्तु विनिमय दरों पर वास्तव में अनेक कारणों का प्रभाव पड़ता है, जैसे—सट्टा, पूंजी का स्थानान्तरण, व्यापार का विस्तार आदि। इससे सिद्धान्त का व्यवहारिक महत्त्व समाप्त हो जाता है, क्योंकि विनिमय दरों के परिवर्तनों का अध्ययन करते समय इन सभी कारणों पर विचार करना चाहिए।

(६) **माँग की लोच सम्बन्धी गलत मान्यता पर आधारित**—यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि देश के माल के लिए विदेशों की माँग की लोच सम (Unity) के बराबर है, अर्थात् कीमतों के परिवर्तनों के ही अनुपात में यह माँग घटती-बढ़ती है, परन्तु यह मान्यता सही नहीं है, क्योंकि यह सम्भव है कि यदि एक देश में कीमतें बढ़ती है तो दूसरे देश में उसके माल की माँग न घटे।

(७) **लगभग सभी प्राचीन सिद्धान्तों की भाँति यह सिद्धान्त भी दीर्घकालीन विवेचना ही करता है**—यह अधिक से अधिक विनिमय दरों की दीर्घकालीन प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है। व्यवहारिक जीवन में मुद्रा अथवा विदेशी विनिमय सम्बन्धी ऐसे सिद्धान्त का कुछ भी महत्त्व नहीं होता है जो कि अल्पकालीन विवेचना न करता हो। कारण यह है कि मौद्रिक कारण अल्प काल में ही इतना उपद्रव मचा देते हैं कि दीर्घकाल की प्रतीक्षा नहीं की जा सकती है।

(८) **सामान्य अनुभव इस सिद्धान्त के विरुद्ध है**—व्यवहार में कोई भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता, जिससे यह पता चल जाय कि विनिमय-दर क्रय शक्ति तुल्यता सिद्धान्त द्वारा तय होती है। अतः व्यवहारिक जीवन में इसका कोई महत्त्व नहीं है। सच तो यह है कि गत कुछ वर्षों में ऐसे उदाहरण सामने आये हैं जिनमें विनिमय दर क्रय शक्ति तुल्यता सिद्धान्त के द्वारा तय नहीं हुई थी। अमेरिका ने भारी संरक्षण नीति अपना कर अपना आयात व्यापार बहुत कम कर दिया, जिसके फलस्वरूप अन्य देशों की मुद्राओं के लिए उसकी माँग बहुत कम होगई, जबकि उसकी मुद्रा (डालर) के लिए अन्य देशों की माँग पूर्ववत बनी रही। अतः डालर का बाह्य मूल्य बहुत ऊँचा हो गया जबकि डालर का आन्तरिक मूल्य लगभग पहले के समान है। यह अनुभव क्रय शक्ति तुल्यता सिद्धान्त के विरुद्ध है।

निष्कर्ष—

अनेक दोष होते हुये भी क्रय शक्ति तुल्यता सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि (i) इस सिद्धान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि देश के आन्तरिक मूल्य-स्तर और उसकी विनिमय दर में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अतः प्रत्येक देश अपनी मुद्रा निर्धारित करते समय इस ज्ञान का लाभ उठा सकता है। (ii) यह सिद्धान्त सब प्रकार की चलन पद्धतियों पर लागू होता है। (iii) इसकी सहायता से यह मालूम कर सकते हैं कि किसी समय व्यापार का रुख क्या होगा। (iv) इसके द्वारा मुद्रा के अवमूल्यन और अधिमूल्यन का विनिमय दर व विदेशी व्यापार पर प्रभाव जाना जा सकता है।

विदेशी विनिमय का भुगतान संतुलन सिद्धान्त (The Equilibrium Theory of Foreign Payments)—

यह सिद्धान्त आन्तरिक व्यापार के सिद्धान्त पर बनाया गया है। इसके अनुसार हम विदेशियों को न तो उससे कम देते हैं और न उससे अधिक जो हमें उनसे

प्राप्त होता है। उदाहरणस्वरूप, यदि क और ख देशों के बीच वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय होता है तो साम्य की दशा में क व्यापार तभी करेगा जबकि उसे ख से खरीदे हुए माल के लिए वही देना पड़े जो कि उसे ख से उसके हाथ अपना माल बेचकर प्राप्त होता है। *इस सिद्धान्त को बहुधा इस प्रकार भी व्यक्त किया जाता है कि आयात निर्यातों का भुगतान करते हैं (Imports pay for the exports)।* परन्तु इस सम्बन्ध में कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि जब तक हमें विनिमय दर का पता न होगा, हम यह कह ही नहीं सकते हैं कि देश क अथवा ख की प्राप्ति और भुगतान बराबर हैं। कारण यह है कि क आयातों की कीमत ख के चलन में चुकाता है और निर्यातों की कीमत अपने चलन में प्राप्त करता है। इस प्रकार लेन और देन दो अलग-अलग मुद्राओं में होती है और जब तक विदेशी विनिमय दर पहले से ही मालूम नहीं है, इन दोनों की तुलना करने अथवा बराबर होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। यदि हमें विनिमय दर पहले से ही ज्ञात है तो हम क के आयातों और निर्यातों की कीमत को क के ही चलन में नाप कर यह देख सकते हैं कि दोनों की कीमत बराबर है या नहीं। जिस विनिमय दर पर यह बराबर होती है, साम्य की दशा में वही विनिमय दर चालू होगी। यदि आयातों और निर्यातों की कीमत समान नहीं है तो यह असन्तुलन की दशा होगी। इसके कारण किसी एक व्यापारी देश को लाभ अथवा हानि हो सकती है और उसके कारण आयात और निर्यात में आवश्यक कमी अथवा वृद्धि भी होगी। *दीर्घकाल में साम्य वहीं पर स्थापित होगा जहाँ पर कि आयातों की कीमत निर्यातों की कीमत के बराबर हो, अतः स्थायी विनिमय दर केवल वही होती है जिस पर आयातों और निर्यातों का सन्तुलन हो जाय।*

इस कथन के सत्य होने में कोई सन्देह नहीं है। वास्तविकता यह है कि *यह केवल एक सत्यता ही है कि आयातों और निर्यातों की कीमत बराबर होती है।* यदि एक देश उससे अधिक कीमत का माल मँगाता है जितना कि उसने बाहर भेजा है तो उसके लिए दो ही उपाय हैं :—या तो वह विदेशी चलन को दूसरे देश से उधार ले या अपने निर्यातों को बढ़ाकर आयातों की कीमत चुकाए। इनमें से दूसरी दशा में तो आयात-निर्यात का सन्तुलन हो ही जाता है, परन्तु पहली दशा में सन्तुलन तुरन्त न होकर कुछ समय पश्चात् होता है। उधार सदा के लिए नहीं मिलता है और फिर उसकी भी एक सीमा होती है। अन्तिम दशा में एक देश के लिए निर्यातों को बढ़ाकर आयातों की पूरी कीमत का चुकाना आवश्यक होता है, अतः इस कथन की सत्यता में सन्देह नहीं है कि आयातों का निर्यातों के बराबर होना आवश्यक है, परन्तु इससे विनिमय दर का पता नहीं चलता है। निर्यातों और आयातों की कीमत उस समय तक तुलना करने का प्रश्न ही नहीं उठता है, जब तक कि विनिमय दर पहले से ही ज्ञात न हो। साथ ही, यह भी निश्चय है कि *आयातों और निर्यातों की मात्राओं में परिवर्तन होने के कारण ही विनिमय दर में परिवर्तन नहीं होते हैं। स्वयं विनिमय दर के परिवर्तन भी आयातों और निर्यातों की मात्रा को घटा-बढ़ा देते हैं।*

शोधनाशेष अथवा चुकती सन्तुलन (The Balance of Payments)—

वर्तमान काल में प्रत्येक देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में संरक्षण नीति को अपनाता है। विभिन्न रीतियों द्वारा आयातों को घटाने तथा निर्यातों को प्रोत्साहित करने का प्रयत्न किया जाता है। इसका उद्देश्य यह होता है कि व्यापाराशेष अथवा चुकती का सन्तुलन स्थापित किया जाय। यदि कोई देश किसी कारण अपने आयात द्वारा निर्यातों का मूल्य नहीं चुका पाता है तो दीर्घकाल में उसके लिये यही आवश्यक होगा कि वह अपने आयातों को घटा कर आयातों और निर्यातों के बीच सन्तुलन स्थापित करे।

शोधनाशेष का अर्थ—

शोधनाशेष से हमारा अभिप्राय किसी देश के आयातों और निर्यातों तथा उनके मूल्य का सम्पूर्ण विवरण (Complete Statement) होता है। यह विवरण बही-खाते के एक पृष्ठ की भाँति प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें बाईं ओर तो सभी निर्यातों और उनकी कीमतों का विस्तारपूर्वक ब्यौरा दिया जाता है और दाहिनी ओर आयातों का सविस्तार विवरण होता है। इस प्रकार एक ओर तो उन शीर्षकों को दिखाया जाता है जिन पर विदेशियों से भुगतान प्राप्त होते हैं और दूसरी ओर उन शीर्षकों को जिनके निमित्त विदेशियों को भुगतान किये जाते हैं। शीर्षकों के अनुसार शोधनाशेष का विवरण निम्न प्रकार होता है :—

लेन	देन
(१) वस्तुओं के निर्यात।	(१) वस्तुओं के आयात।
(२) सेवाओं के निर्यात।	(२) सेवाओं के आयात।
(३) विदेशी ऋणों तथा विनियोगों से प्राप्त होने वाली आय, जिसमें मूल-धन का लौटाना, ब्याज तथा लाभ सम्मिलित होते हैं।	(३) विदेशियों को ऋण के चुकाने, ब्याज, लाभ आदि के रूप में किये जाने वाले शोधन।
(४) विदेशी यात्रियों द्वारा देश में किया जाने वाला व्यय।	(४) देश के यात्रियों द्वारा विदेशों में किया जाने वाला व्यय।
(५) विदेशियों से प्राप्त होने वाले मुआवजे, युद्ध-व्यय, दान, दण्ड आदि।	(५) विदेशियों को दिये हुए मुआवजे, दान, जुर्माने, इत्यादि।
(६) अन्य प्रकार के शोधन, जो विदेशियों से प्राप्त होते हैं।	(६) विदेशियों को किये जाने वाले अन्य प्रकार के शोधन।

व्यापाराशेष बहुधा वार्षिक आधार पर बनाया जाता है और इसमें आयातों अर्थात् दाहिनी ओर के शीर्षकों की कीमत एक पूर्व निश्चित विनिमय दर के आधार

पर लगाई जाती है, क्योंकि वैसे तो उनकी अलग-अलग कीमत विभिन्न चलनों में होती है।

शोधनाशेष और व्यापाराशेष—

शोधनाशेष से ही मिलता-जुलता दूसरा शब्द व्यापाराशेष है। *यह भी एक ऐसा विवरण होता है जिसमें आयातों और निर्यातों का विस्तृत ब्यौरा रहता है, परन्तु आयात और निर्यात दो प्रकार के होते हैं, अर्थात् दृश्य और अदृश्य (Visible and Invisible)। शोधनाशेष में तो इन दोनों ही प्रकार के आयातों और निर्यातों को सम्मिलित किया जाता है, परन्तु व्यापाराशेष में केवल दृश्य निर्यातों और आयातों को ही सम्मिलित किया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि शोधनाशेष का तो सदा ही सन्तुलन हो जाता है, जबकि व्यापाराशेष का सन्तुलन आवश्यक नहीं होता है।* आयातों की मात्रा निर्यातों की तुलना में कम भी हो सकती है और अधिक भी। दूसरे शब्दों में, व्यापाराशेष अनुकूल अथवा धनात्मक (Favourable or Positive) भी हो सकता है और प्रतिकूल अथवा ऋणात्मक (Adverse or Negative) भी। यदि निर्यातों की कीमत आयातों की कीमत से अधिक है तो व्यापाराशेष अनुकूल होगा, परन्तु यदि आयातों की कीमत निर्यातों की कीमत से अधिक है तो व्यापाराशेष प्रतिकूल होगा। शोधनाशेष सदा ही सन्तुलित होता है, परन्तु व्यापाराशेष का सन्तुलित होना आवश्यक नहीं है, यद्यपि संयोग से भले ही वह सन्तुलित हो जाय।

प्रतिकूल व्यापाराशेष को ठीक करने की रीतियाँ—

अभी-अभी हमने यह बताया है कि व्यापाराशेष में भारी असन्तुलन हो सकता है। *यदि व्यापाराशेष अनुकूल है तो यह देश के लिए अच्छा ही समझा जाता है, क्योंकि विदेशियों को स्वर्ण अथवा वस्तुओं के निर्यात बढ़ा कर इसका निस्तारण करना पड़ता है, परन्तु यदि व्यापाराशेष प्रतिकूल है तो इसके कारण देश के सम्मुख काफी गम्भीर परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है।* स्वर्ण का निर्यात तथा विदेशी ऋण एक निश्चित सीमा के परे नहीं हो पाते हैं, जिसके कारण निस्तारण में कठिनाई होती है। ऐसी दशा में *प्रतिकूलता को दूर करने के लिए निम्न उपाय किए जा सकते हैं:—*

(१) निर्यातों को आर्थिक सहायता तथा आयातों पर प्रतिबन्ध—इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निर्यात व्यापारियों को कम कीमत पर विदेशों में माल बेचने के लिए घाटे को पूरा करने हेतु अनुदान, ऋण, निर्यात करों की छूट आदि दिये जा सकते हैं। विभिन्न रीतियों द्वारा, जैसे—आयात प्रशुल्क, अभ्यंश इत्यादि द्वारा आयातों की मात्रा को सीमत किया जाता है।

(२) मूल्य-ह्रास—इस रीति के अनुसार सरकार देशी चलन की बाह्य अथवा विदेशी विनिमय कीमत में कमी करती है। इसका परिणाम यह होता है कि

विदेशों में देशी माल की कीमत गिर जाती है और इसके विपरीत आयातों की कीमतें ऊँची हो जाती हैं। देश के निर्यातों की विदेशों में माँग बढ़ने और देश में आयातों की माँग घटने से व्यापाराशेष फिर से सन्तुलित हो जाता है।

(३) मुद्रा-विस्फीति—बहुत बार ऐसा होता है कि एक देश अपने चलन की बाह्य कीमत में कमी करना नहीं चाहता है। ऐसी दशा में व्यापाराशेष की त्रुटियों को दूर करने के लिए वह देश के भीतर मुद्रा-संकुचन कर सकता है। इसका परिणाम यह होता है कि देश में वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें घट जाती हैं, विदेशी माल मँहगा पड़ता है और इस कारण आयातों की माँग गिर जाती है और इसके विपरीत देशी माल विदेशियों को कम कीमत पर मिल जाता है, जो उसे अधिक मात्रा में मँगाने लगते हैं।

(४) मुद्रा-अवमूल्यन—इसके द्वारा भी देशी मुद्रा की विदेशी विनिमय क्रयः शक्ति को कम कर दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि निर्यात प्रोत्साहित होते हैं और आयातों की माँग घटती है।

(५) विनिमय नियन्त्रण—यह व्यापाराशेष सम्बन्धी असन्तुलन को रोकने की एक व्यापक तथा विस्तृत विधि है। साधारणतया मुद्रा-संकुचन नीति के फलस्वरूप देशी अर्थ-व्यवस्था पर बुरे प्रभाव पड़ते हैं, अवमूल्यन तथा मूल्य-ह्रास के कारण देश के सम्मान को ठेस पहुँचती है और प्रशुल्क कर, अभ्यंश आदि प्रतिकार को जन्म देते हैं, इसलिए इन सभी उपायों का सावधानीपूर्वक उपयोग किया जाता है। उपरोक्त नीतियों के दुष्परिणामों से बचने के लिये विनिमय नियन्त्रण किया जाता है। इसके अन्तर्गत आयातों और निर्यातों पर इस प्रकार का नियन्त्रण लागू किया जाता है कि वे सरकारी आज्ञा के बिना नहीं किये जा सकते हैं। निर्यातकर्त्ताओं को सारा का सारा विदेशी विनिमय सरकार को सौंपना पड़ता है, जो उसे आयातकर्त्ताओं में बाँट देती है। इसका परिणाम यह होता है कि आयातों की कीमत निर्यातों की कीमत के भीतर ही रहती है।

विदेशी विनिमय दरों के उच्चावचन
(Fluctuations in the Rate of Exchange)

यह हम पहले ही देख चुके हैं कि विनिमय दरों की स्थिरता आवश्यक नहीं होती है। स्वर्णमान पद्धति में भी उनमें उच्चावचन होते रहते हैं और स्वतन्त्र पत्र-मुद्रा प्रणाली में तो उच्चावचन काफी गम्भीर होते हैं। *साधारणतया विनिमय दरों की स्थायी अथवा दीर्घकालीन प्रवृत्ति तो स्थिरता की ओर होती है, परन्तु अल्पकालीन विनिमय दर काफी तेजी के साथ घटती-बढ़ती रहती है।* विनिमय दरों के इन परिवर्तनों के देश के विदेशी व्यापार तथा देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था पर काफी गम्भीर प्रभाव पड़ते हैं। उच्चावचन अनिश्चितता को जन्म देते हैं और अनिश्चितता अनेक बुराइयों को उत्पन्न करती है। *प्रत्येक देश यही प्रयत्न करता है कि यथासम्भव*

उच्चावचनों को कम करके एक सीमा के भीतर रखा जाय। इस कारण उन सभी कारणों की व्याख्या का काफी महत्त्व होता है जो विनिमय दरों के उच्चावचनों को उत्पन्न करते हैं। *ये कारण तीन भागों में बाँटे जा सकते हैं :—* (१) विदेशी मुद्राओं की माँग और पूर्ति की स्थिति, (२) चलन सम्बन्धी दशायें और (३) राजनैतिक दशाएँ। इनका विस्तृत वर्णन निम्न प्रकार है :—

(१) विदेशी मुद्राओं की माँग और पूर्ति की स्थिति—विदेशी मुद्राओं की माँग और पूर्ति के परिवर्तनों का विदेशी विनिमय दर पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। *यदि विदेशी विनिमय की माँग उसकी पूर्ति से कम या अधिक होती है तो उसकी कीमतों में भी घटत-बढ़त हो जाती है।* अल्पकाल में तो माँग और पूर्ति के असाम्य की सम्भावना काफी अधिक होती है। इसी कारण अल्पकाल में विनिमय दरों के उच्चावचन काफी विस्तृत होते हैं। *विदेशी मुद्राओं की माँग और पूर्ति पर निम्न तीन बातों का प्रभाव पड़ता है :—*

(क) व्यापार की दशाएँ (Trade Conditions)—*विदेशी विनिमय बाजार में विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति एक बड़े अंश तक आयात और निर्यात की मात्रा पर निर्भर होती है।* यदि हमारे निर्यात हमारे आयातों की तुलना में अधिक हैं तो विदेशों में हमारे देश की चलन की माँग अधिक होगी और इसके विपरीत हमारे लिए विदेशी मुद्राओं की माँग कम रहेगी, जिसके फलस्वरूप विनिमय दर हमारे पक्ष में हो जायगी। इसके विपरीत, यदि आयात निर्यात से अधिक हैं तो विनिमय दर हमारे लिए प्रतिकूल हो जायगी। विदेशी व्यापार में दृश्य और अदृश्य (Visible and Invisible) दोनों प्रकार के आयात-निर्यात सम्मिलित होते हैं।

(ख) सट्टा बाजार का प्रभाव (Stock Exchange Influences)—सट्टा बाजार में विदेशी विनिमय बिलों का क्रय-विक्रय तथा विदेशी मुद्राओं की खरीद और बेच होती रहती है। *यदि किसी समय सट्टेबाज किसी विदेशी मुद्रा को अधिक मात्रा में खरीदते हैं तो उस मुद्रा की माँग के बढ़ जाने के कारण उसकी विनिमय दर ऊपर चढ़ जायगी। इसके विपरीत यदि सट्टेबाज किसी मुद्रा को बेच रहे हैं तो उसकी विनिमय दर काफी नीचे गिर सकती है।* इसी प्रकार ऋणों के भुगतान और प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय के कारण भी विनिमय दरों में उच्चावचन हो सकते हैं।

(ग) अधिकोषण प्रभाव (Banking Influences)—विनिमय दरों पर *बैंकिंग नीति के प्रभाव दो प्रकार पड़ते हैं:—(i) बैंक दर में परिवर्तन करके देश की केन्द्रीय बैंक विदेशी ऋणों को प्रोत्साहित अथवा हतोत्साहित कर सकती है।* यदि बैंक दर ऊँची है तो अधिक ब्याज के लोभ में विदेशी लोग अधिक ऋण देते हैं, जिसके कारण देशी मुद्रा की विदेशी विनिमय बाजार में माँग बढ़ जाती है और उसकी विनिमय दर भी ऊपर उठ जाती है। बैंक दर को नीचा करने का परिणाम

इसके विपरीत होता है। *(ii) बैंक विभिन्न प्रकार के साख-पत्रों की निकासी की मात्रा में परिवर्तन करके भी विनिमय दरों के उच्चावचन उत्पन्न कर देती है।* जब एक बैंक अपनी विदेशी शाखा अथवा किसी विदेशी बैंक के ऊपर ड्राफ्ट अथवा अन्य किसी प्रकार का साख-पत्र निकालती है तो विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ जाती है और विनिमय दर गिर जाती है।

(घ) मध्यस्थों की क्रिया (Arbitrage operations)—*जब प्रतिभूतियाँ संसार के व्यापारिक केन्द्रों में सट्टे लाभ के लिये खरीदी और बेची जाती हैं तो इन क्रियाओं को मध्यस्थों की क्रियायें कहते हैं।* इन क्रियाओं का भी विनिमय दर पर प्रभाव पड़ता है। मान लो कलकत्ते में इस समय स्टर्लिंग का मूल्य १८ पेंस प्रति रुपया और लन्दन में १९ पेंस प्रति रुपया है। यदि कोई बैंक (या व्यक्ति) तार के द्वारा लन्दन में १ रुपये के बदले में १९ पेंस क्रय कर ले और फिर तत्काल ही कलकत्ते में १८ पेंस प्रति रुपये पर विक्रय कर दे तो उसे १ पेंस प्रति रुपया लाभ होगा। इन क्रियाओं से लन्दन में स्टर्लिंग की माँग इसकी पूर्ति से अधिक और कलकत्ते में स्टर्लिंग की पूर्ति उसकी माँग से अधिक हो जायगी। फलस्वरूप लन्दन में १ रुपया के बदले कम पेंस और कलकत्ते में १ रु० के बदले अधिक पेंस मिलने लगेंगे। अर्थात् भारत में विनिमय दर अधिक और इंगलैण्ड में कम हो जायगी।

(२) चलन सम्बन्धी दशायें—*चलन की क्रयः शक्ति के परिवर्तनों का विनिमय दरों के उच्चावचनों पर काफी प्रभाव पड़ता है।* क्रयः शक्ति समानता सिद्धान्त तो प्रत्यक्ष रूप में यही बताता है कि दो विभिन्न देशों के चलन की क्रयः शक्ति के तुलानात्मक परिवर्तनों के कारण ही विनिमय दर में परिवर्तन होते हैं। यदि किसी देश की मुद्रा की अत्यधिक निकासी होती है अथवा होने की सम्भावना है, जिसके कारण उस मुद्रा के मूल्य-ह्रास का भय है तो ऐसी दशा में विदेशी पूँजी का आयात नहीं होगा और पहले से लगाई गई विदेशी पूँजी को भी देश से निकाल लेने का प्रयत्न किया जायगा। ऐसी दशा में यह कहा जाता है कि लोग उस चलन से भाग रहे हैं। इसका परिणाम यह होगा कि उस देश की चलन की बाह्य कीमत कम हो जायगी। इसके अतिरिक्त यदि किसी कारण किसी देश की मुद्रा के मूल्य की वृद्धि होती है तो विनिमय दर देश के लिये अनुकूल हो जाती है।

(३) राजनीतिक दशाएं—*विदेशी विनिमय का सट्टा तथा विदेशी पूंजी का आवागमन एक बड़े अंश तक सरकार की राजनीतिक नीति और उसके राजनीतिक दृष्टिकोण पर निर्भर होते हैं।* यदि सरकार स्थाई तथा टिकाऊ है, शान्ति और सुरक्षा की समुचित व्यवस्था है, व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा की जाती है, सरकारी नीति निर्पक्ष है तथा श्रमिकों और मिल-मालिकों के सम्बन्ध अच्छे हैं तो ऐसे देश में अपनी पूँजी का लगाना, उसके साथ व्यवसाय करना और उस देश की साख पर विश्वास करना अधिक विस्तृत रूप में पाया जायगा। ऐसी दशा में विनिमय दर देश के पक्ष में हो

जायगी। इसके अतिरिक्त संरक्षण, विदेशी पूँजी सम्बन्धी प्रतिबन्ध, प्रशुल्क, परिकल्पना वित्त तथा विदेशी व्यापार सम्बन्धी सरकारी नीति पर भी बड़े अंश तक विनिमय दर और उसके परिवर्तन निर्भर होंगे।

विनिमय दरों के उच्चावचनों की सीमाएँ—

विनिमय दरों में परिवर्तन तो होते रहते हैं, परन्तु देखना यह है कि क्या इन परिवर्तनों की कोई सीमा होती है? *(१) स्वर्णमान के अन्तर्गत उच्चावचनों की सीमाएँ स्वर्ण बिन्दुओं द्वारा निश्चित की जाती हैं।* उच्चावचनों का क्षेत्र सीमित होता है और स्वर्ण के निर्यात द्वारा भुगतान करने की सुविधा के कारण विनिमय दर में अधिक से अधिक स्वर्ण निर्यात व्यय के बराबर अन्तर होता है एक ओर विनिमय दर स्वर्ण निर्यात बिन्दु (Upper Specie Point) (टंक समता+स्वर्ण निर्यात व्यय) से ऊँची नहीं जाती है। क्योंकि इस अवस्था में व्यापारियों को विदेशी मुद्रा या इसके बिल खरीदने के बजाय स्वर्ण क्रय करके विदेशों को भेजना अधिक सस्ता रहेगा। दूसरी ओर विनिमय दर स्वर्ण आयात बिन्दु (Lower Specie Point) (टंक समता—स्वर्ण निर्यात व्यय) से नीचे नहीं गिरती है, क्योंकि इस दशा में विदेशी व्यापारियों को हमारी मुद्रा या इसके बिल खरीदने के बजाय स्वर्ण क्रय करके हमारे देश के व्यापारियों को भेजना अधिक सस्ता रहेगा। अतः स्पष्ट है कि दो स्वर्णमान देशों के बीच विनिमय दर टंक समता के चारों ओर स्वर्ण आयात बिन्दु और स्वर्ण निर्यात बिन्दु के नीचे ही घटती-बढ़ती रहती है। *जितनी ही विनिमय दर स्वर्ण आयात बिन्दुओं के अधिक निकट होगी उतनी ही वह देश के अधिक पक्ष में होगी। इसके विपरीत जितनी विनिमय दर स्वर्ण निर्यात बिन्दु के पास होती है उतनी ही वह देश के विपक्ष में होती है।*

इसके विपरीत यदि देश में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्राओं का चलन है तो विनिमय दर की सामान्य दीर्घकालीन प्रवृत्ति क्रयः शक्ति समानता बिन्दु पर रहने की होगी। इस दशा में स्वर्ण निर्यात द्वारा तो विदेशी मुद्रा को खरीदने का प्रश्न ही नहीं उठता है, इसलिए विनिमय दरों के उच्चावचनों पर कोई प्राकृतिक प्रतिबन्ध नहीं होता है। उनके उच्चावचन इस बात पर निर्भर होते हैं कि सरकार उनकी स्थिरता के लिये क्या-क्या प्रयत्न करती है और किस अंश तक उनमें सफल होती है। यही कारण है कि इस दशा में विनिमय दरों के उच्चावचनों की कोई भी सीमा नहीं होती है।

विनिमय दरों के उच्चावचनों को रोकने के उपाय—

यह हम ऊपर ही देख चुके हैं कि विनिमय दरों के उच्चावचनों पर किन-किन बातों का प्रभाव पड़ता है। इन सब बातों को देखते हुए यह निश्चय करना सरल होता है कि उच्चावचनों को रोकने के क्या-क्या उपाय किए जायँ। *विनिमय दर की स्थिरता सबसे पहले व्यापाराशेष के असन्तुलन पर निर्भर होती है। वे सभी उपाय जिनसे व्यापाराशेष के सन्तुलन को दूर किया जाता है, जैसे—आयात प्रशुल्क,*

मुद्रा-ह्रास, विस्फीति, विनिमय नियन्त्रण, आदि इस दिशा में भी लाभदायक हैं। इनके अतिरिक्त बैंक दर के समुचित नियन्त्रण, समुचित नियमों तथा सुरक्षा की व्यवस्था करके भी बड़े अंश तक विनिमय दर की स्थिरता स्थापित की जा सकती है।

अनुकूल और प्रतिकूल विनिमय दरें—

विनिमय की दर दो प्रकार से व्यक्त की जा सकती हैं—

(i) स्वदेश की मुद्रा में—*जब किसी देश में विनिमय की दर उस देश की अपनी ही मुद्रा में प्रगट की जाती है, तो गिरती हुई (Falling) विनिमय दर उसके अनुकूल या पक्ष में होती है और बढ़ती हुई दर (Rising Rate) उसके प्रतिकूल या विपक्ष में होती है।* उदाहरण के लिये, मान लो, १ पौंड = १५ रुपये है। यदि यह विनिमय दर घट कर १ पौंड = १२ रु० हो जाती है, तो यह हमारे देश के लिये अनुकूल है, क्योंकि अब हमें १ पौंड का सामान क्रय करने के हेतु पहले की तुलना में कम रुपये देने पड़ते हैं। इसके विपरीत यदि विनिमय दर बढ़कर १ पौंड=१८ रु० हो जाय, तो वह हमारे देश के लिये 'प्रतिकूल' कही जावेगी, क्योंकि अब हमें १ पौंड का सामान क्रय करने के हेतु पहले की अपेक्षा अधिक रुपये देने पड़ते हैं।

(ii) विदेश की मुद्रा में—*जब किसी देश में विनिमय की दर विदेश की मुद्रा में प्रगट की जाती है तो बढ़ती हुई दर (Rising Rate) स्वदेश के पक्ष में होती है और गिरती हुई दर (Falling Rate) स्वदेश के विपक्ष में होती है।* जैसे, आज विनिमय की दर है १ रु० = २१ सैंट। यदि विनिमय दर १ रु० = ३०·२२५ सेंट हो जाय, तो यह विनिमय दर स्वदेश के पक्ष में होगी, क्योंकि अब हम १ रु० के बदले में अधिक सेंट (या अधिक विदेशी सामान) क्रय कर सकते हैं। इसके विपरीत यदि विनिमय दर घट कर १ रु० = २० सेंट हो जाय, तो यह हमारे देश के विपक्ष में होगी, क्योंकि अब हम १ रु० के बदले में कम सेंट (या कम विदेशी मान) खरीद सकते हैं।

जब विनिमय दर अनुकूल होती है तो स्वदेश की एक मुद्रा इकाई के बदले में विदेश की मुद्रा पहले से अधिक मात्रा में मिलने लगती है, जिससे आयात को प्रोत्साहन और निर्यात को अप्रोत्साहन होता है। आयातकर्त्ताओं व उपभोक्ताओं को लाभ होगा। निर्यातकर्त्ताओं को हानि होगी। इससे निर्यात उद्योग बन्द हो जायेंगे और धीरे-धीरे देश में बेरोजगारी फैल जायगी। दूसरी ओर, जब विनिमय दर प्रतिकूल होती है तो स्वदेश अपनी एक मुद्रा इकाई के बदले में कम विदेशी मुद्रा प्राप्त कर सकता है। ऐसी दशा में निर्यात को प्रोत्साहन और आयात को अप्रोत्साहन होता है। निर्यातकर्त्ताओं व निर्यात-उद्योगों के उत्पादकों को लाभ तथा आयातकर्त्ताओं व उपभोक्ताओं को नुकसान रहता है। उद्योगों की उन्नति से श्रमिकों को खूब रोजगार मिलता है, लेकिन निश्चित आय वाले लोगों को हानि उठानी पड़ती है।

अतः स्पष्ट है कि यह कहना कि कोई विनिमय दर किसी देश के लिये अनुकूल है या प्रतिकूल, एक विरोधाभास (*Contradiction*) है, क्योंकि प्रत्येक दर में किसी न किसी वर्ग को लाभ और हानि होती है।

भावी विनिमय दर (Forward Exchange)—

विनिमय दर दो प्रकार की होती है—तत्काल अथवा प्रस्तुत दर (Spot Rate) और भावी दर। स्वतन्त्र पत्र-मुद्रा-चलन प्रणालियों में विनिमय दरों के उच्चावचनों की कोई सीमा नहीं रहती है, इस कारण यह सदा ही अनिश्चित रहता कि भविष्य में विनिमय दर क्या होगी। इसका परिणाम यह होता है कि व्यापारियों को विदेशियों से माल मँगाने तथा उनको माल बेचने के वायदे करने में संकोच होता है। *भविष्य में विनिमय दरों के परिवर्तनों के कारण हानि होने का भय रहता है, परन्तु आधुनिक व्यवसायिक जगत में निर्यात व्यापारी विनिमय दरों के परिवर्तनों से सम्बन्धित जोखिम से बच सकते हैं। यह कार्य उनके लिये सट्टेबाज कर देते हैं।* एक आयात अथवा निर्यात व्यापारी जब भविष्य में माल खरीदने अथवा बेचने का वायदा करता है तो इस वायदे के साथ-साथ वह *द्वैध-रक्षण-वायदा (Hedging Contract)* भी कर लेता है, जिसमें वह किसी भावी तिथि पर वर्तमान दरों पर विदेशी विनिमय खरीदने या बेचने का किसी सट्टेबाज से वायदा ले लेता है। अब यदि भविष्य में विनिमय दर में परिवर्तन होते हैं तो उनका प्रभाव व्यापारी पर न पड़ कर सट्टेबाज के ऊपर पड़ता है, क्योंकि व्यापारी को तो एक पूर्व निश्चित दर पर ही विदेशी विनिमय मिल जाता है। यदि भविष्य में विनिमय दर ऊँची हो जाती है तो बेचने का वायदा करने वाले सट्टेबाज को हानि होती है और खरीदने का वायदा करने वाले सट्टेबाज को लाभ होता है। इसके विपरीत यदि विनिमय दर गिरती है तो खरीदने का वायदा करने वाले सट्टेबाज को हानि होती है और बेचने का वायदा करने वाले को लाभ होता है। दोनों ही दशाओं में आयात तथा निर्यात व्यापारी दरों की इस अनिश्चितता के प्रभाव से बच जाते हैं।

इस प्रकार भविष्य में विदेशी विनिमय खरीदने और बेचने का कार्य 'भावी विनिमय' कहलाता है। विदेशी व्यापार में इसका भारी महत्त्व होता है। एक सुसंगठित भावी विनिमय बाजार विनिमय दरों के परिवर्तनों से सम्बन्धित अनिश्चितता को एक बड़े अंश तक दूर कर देता है, परन्तु स्वयं विनिमय दरों के उच्चावचनों पर भी इस व्यवस्था का काफी प्रभाव पड़ता है। यदि भविष्य में विनिमय दर के ऊपर जाने की आशा है तो अभी से विदेशी विनिमय को खरीदना आरम्भ कर दिया जाता है, जिसके कारण उसमें अकस्मात् परिवर्तन नहीं होने पाते हैं। उच्चावचनों की गति नियमित तथा सुगम हो जाती है।

अब हमें यह देखना है कि वर्तमान दर और भावी दर में क्या सम्बन्ध होता

है । *भावी दर सदैव वर्तमान दर पर आधारित होती है ।* विनिमय व्यवसायी विदेशी विनिमय खरीदते और बेचते समय देश के भीतर और विदेश में अल्पकालीन ऋणों के ब्याज की दरों की सावधानीपूर्वक तुलना करता है । यदि विदेशों में ऐसे ऋणों पर ब्याज की दर देश की अपेक्षा अधिक है तो भावी विनिमय वर्तमान से कटौती (Discount) पर बेचा जाता है । इसके विपरीत, यदि विदेश में देश की अपेक्षा ब्याज की दर कम हैं तो भावी विनिमय लाभ (Premium) पर बेचा जाता है । *इसके अतिरिक्त भावी दर इस बात पर भी निर्भर होती है कि भविष्य में विदेशी विनिमय का माँग और पूर्ति सम्बन्धी अनुमान कैसा है और भविष्य में विभिन्न मुद्राओं की मूल्य वृद्धि अथवा मूल्य ह्रास की सम्भावना किस प्रकार है ?*

QUESTIONS

1. क्रय: शक्ति समता सिद्धान्त को समझाइये और स्पष्ट कीजिए कि व्यवहारिक रूप से यह सिद्धान्त कहाँ तक लागू हो सकता है । (Agra, B. A , 1958)
2. What do you understand by the Purchasing Power Parity Theory relating to foreign exchange ? When does the rate deviate from this parity ? (Agra, B. Com., 1958)
3. Discuss the 'Purchasing Power Parity Theory' (सम क्रय: शक्ति सिद्धान्त) and state its defects. (Raj., B. A , 1958)
4. Critically examine the Purchasing Power Parity Theory (सम क्रय: शक्ति सिद्धान्त). (Raj., B. Com , 1958)
5. State and explain the Purchasing Power Parity Theory of Foreign Exchange and indicate its limitations. (Sagar, B. A., 1958 ; Alld., B. A., 1954)
6. Write a note on :—Gold Points. (Agra, B. A., 1956 Supp ; Sagar B. Com., 1957)
7. Write a note on :—Mint Par. (Agra, B. A., 1956 , 1954 ; B. Com , 1955 ; Raj., B. A., 1954 ; Sagar, B. A., 1958)
8. Examine briefly the factors that cause fluctuations in the exchange rates. Are there any limits to these fluctuations ? (Raj., B. Com., 1955 ; Agra, B. Com., 1957)
9. विनिमय की टङ्क समत (Mint Par of Exchange) का क्या अर्थ है ? विदेशी विनिमय दरों में उतार-चढ़ाव रखने वाले कारणों की विवेचना कीजिए । (Sagar, B. Com., 1958)
10. Discuss the main factors which influence the rate of foreign exchanges. (Aligarh, B. A., 1956)
11. Show how the foreign exchange value of a country's currency is determined.
किसी देश के चलार्थ की विनिमय अर्हा किस प्रकार निर्धारित होती है । (Agra, B. A., 1959)

अध्याय २६

विनिमय नियन्त्रण

(Exchange Control)

विनिमय नियन्त्रण का अर्थ—

स्वतन्त्र अथवा अनियन्त्रित विदेशी विनिमय व्यवस्था में एक देश के निवासियों को किसी भी मात्रा में विदेशी विनिमय खरीदने और बेचने का पूरा-पूरा अधिकार होता है, परन्तु *यदि सरकार देश की विदेशी विनिमय कमाई के किसी निश्चित वितरण के लिए अथवा विदेशी विनिमय कोषों द्वारा कुछ निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये हस्तक्षेप करती है तो इसे विनिमय नियन्त्रण कहा जाता है।* विस्तृत अर्थ में विनिमय नियन्त्रण का अभिप्राय अधिकारियों द्वारा किये गये उस सभी प्रकार के प्रत्यक्ष या परोक्ष हस्तक्षेप से होता है जो विनिमय दरों अथवा उनसे सम्बन्धित व्यापार को प्रभावित करने के लिए किया जाता है। इस प्रकार *विस्तृत रूप में विदेशी विनिमय बाजार में किये गये किसी भी सरकारी हस्तक्षेप को विनिमय नियन्त्रण कहा जा सकता है,* जिसमें विनिमय दरों की प्राकृतिक प्रवृत्ति, पूँजी के आवागमन, स्थिरता कोषों के संचालन, व्यापारिक तथा समाशोधन समझौते आदि सभी को सम्मिलित किया जा सकता है। *किन्तु आजकल इस शब्द का अर्थ अधिक निश्चित तथा संकुचित हो गया है और इसका आशय केवल उन हस्तक्षेपों और प्रतिबन्धों से होता है जो निजी विदेशी विनिमय व्यवसाय (Private Foreign Exchange Transaction) के सम्बन्ध में किये जाते हैं।*

विदेशी विनिमय नियन्त्रण की विशेषताएँ—

विनिमय नियन्त्रण का विकास मुख्यतया प्रथम महायुद्ध के पश्चात् हुआ है। स्वर्ण के परित्याग के पश्चात् तो विनिमय दरों के उच्चावचनों के कारण कठिनाई इतनी बढ़ गई थी कि लगभग सभी देशों को इस प्रणाली का प्रयोग करना पड़ा था। एक विकसित विनिमय नियन्त्रण प्रणाली की प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार दी जा सकती हैं :—(i) इस प्रणाली में सभी प्रकार के विदेशी विनिमय व्यवसायों का केन्द्रीयकरण हो जाता है और उनका संचालन देश की केन्द्रीय बैंक अथवा सरकार द्वारा नियुक्त की हुई किसी अन्य संस्था द्वारा किया जाता है। (ii) देशवासियों द्वारा जितना भी विदेशी विनिमय प्राप्त किया जाता है वह सब का सब इसी केन्द्रीय सत्ता को सौंप देना आवश्यक होता है। (iii) सभी प्रकार की विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकतायें एक केन्द्रीय कोष में पूरी की जाती हैं और यही कोष उनके वितरण

तथा व्यय की कार्यविधि निश्चित करता है । (iv) इस प्रकार इस प्रणाली में विदेशी विनिमय व्यवसाय पर सरकारी एकाधिकार होता है ।

'विनिमय नियन्त्रण' व 'सरकारी हस्तक्षेप' में भेद—

इस सम्बन्ध में विनिमय नियन्त्रण तथा विदेशी विनिमय में किये गये सरकारी हस्तक्षेप (Intervention) में भेद करना आवश्यक है । यदि किसी निश्चित विनिमय दर को स्थापित करने अथवा बनाये रखने के लिए सरकार विदेशी विनिमय को खरीदती है अथवा बेचती है तो यह सरकारी हस्तक्षेप होगा । ऐसी दशा में व्यक्तिगत व्यवसायियों द्वारा उनकी इच्छा के अनुसार विदेशी विनिमय खरीदने और बेचने पर किसी प्रकार की बाधा नहीं की जाती है । दोनों महायुद्धों के बीच के काल में स्वर्णमान के परित्याग के पश्चात् इस प्रकार के हस्तक्षेपों का काफी रिवाज था । उदाहरणस्वरूप, इङ्गलैंड ने विनिमय समानीकरण कोष इसी उद्देश्य से स्थापित किया था, परन्तु विनिमय नियन्त्रण इससे बहुत व्यापक होता है, क्योंकि इसमें व्यक्तिगत व्यवसायियों की विदेशी विनिमय खरीदने और बेचने की स्वतन्त्रता भी समाप्त कर दी जाती है ।

विनिमय नियन्त्रण पूर्ण भी हो सकता है और आंशिक भी । पूर्ण विनिमय नियन्त्रण में सभी विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं, परन्तु आंशिक नियन्त्रण में केवल किसी एक अथवा कुछ मुद्राओं के क्रय-विक्रय पर ही इस प्रकार की रुकावटें लगाई जाती हैं । व्यवहारिक जीवन में आंशिक विनिमय नियन्त्रण का ही चलन अधिक रहा है ।

विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य—

विनिमय नियन्त्रण प्रणाली का उपयोग बहुत से उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जा सकता है । प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार हैं—

(१) विनिमय दर की स्थिरता—इसका उद्देश्य विनिमय दर को एक पूर्व निश्चित बिन्दु पर बनाये रखना हो सकता है । यदि देश में अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा चालू है तो अनियन्त्रित विदेशी विनिमय व्यवसाय के कारण विनिमय दरों में अत्यधिक उच्चावचन हो सकते हैं । पूँजी के देश से बाहर जाने को रोक कर विनिमय नियन्त्रण विनिमय दर को गिरने से रोक सकता है, परन्तु साधारणतया पूँजी के आवागमन पर प्रतिबन्ध लगाने से ही काम नहीं चल पाता, क्योंकि पूँजी को अदृश्य रूप में भी बाहर निकाला जा सकता है, इसलिए बहुधा सभी प्रकार के भुगतानों पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक होता है ।

(२) व्यापाराशेष की त्रुटियों को दूर करना—विनिमय नियन्त्रण का दूसरा उद्देश्य व्यापाराशेष के अन्तरों को समायोजित करना होता है । व्यापारिक प्रतिबन्धों तथा संरक्षण के सम्बन्ध में किये गये कार्यों के फलस्वरूप व्यापाराशेष का असन्तुलन इतना बढ़ सकता है कि उसके अन्तरों का समायोजन कठिन हो जाय । ऐसी दशा में विदेशी भुगतानों के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध लगाना तथा विनिमय कमाई का

नियन्त्रित वितरण आवश्यक हो जाता है और विनिमय नियन्त्रण का उपाय किया जाता है।

(३) सरकारी आय—विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य सरकार द्वारा आय प्राप्त करना हो सकता है। यदि नियन्त्रण द्वारा विदेशी विनिमय की बिक्री की कीमत और खरीद की कीमतों में अन्तर रखा जाता है तो विनिमय नियन्त्रण निर्यात करों का स्थान ग्रहण कर लेता है और सरकार को इससे आय प्राप्त होती है।

(४) व्यापार भेद-भाव—विनिमय नियन्त्रण का उपयोग व्यापारिक भेद-भाव के लिए भी किया जा सकता है। किसी एक देश को व्यापार में छूट दी जा सकती है। कुछ देशों के साथ व्यापार के लिए अथवा कुछ वस्तुओं के आयात-निर्यात के सम्बन्ध में विशेष विनिमय दरें रखी जा सकती हैं। इस प्रकार विनिमय नियन्त्रण द्विदेशीय व्यापार विभेद (Bilateral Trade Discrimination) का एक अच्छा साधन हो सकता है।

(५) उद्योग संरक्षण—इसका उपयोग उद्योग संरक्षण के लिए भी किया जा सकता है। विदेशी आयातों को रोकने और विदेशी प्रतियोगिता का अन्त करने के लिए विनिमय नियन्त्रण एक बड़ा सप्रभाविक उपाय है।

(६) निषेध—इसका उद्देश्य कुछ विशेष देशों के आयातों और निर्यातों को पूर्णतया रोक देना भी हो सकता है।

(७) पूँजी का निर्यात रोकना—इसका उद्देश्य देश से पूँजी के निर्यातों को रोकना और विदेशी ऋणों के भुगतानों को रोकना भी हो सकता है।

इस प्रकार विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्यों में काफी भिन्नता होती है। प्रत्येक देश अपनी आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार ही उद्देश्य को निश्चित करता है, परन्तु विनिमय नियन्त्रण का प्रमुख उद्देश्य किसी ऐसी विनिमय दर की स्थापना होता है जो मुक्त बाजार की दर से भिन्न हो।

विनिमय नियन्त्रण के उपाय—

विनिमय नियन्त्रण की सफलता इस बात पर निर्भर ... गया, ... अनुसार
चलन की माँग और पूर्ति की मात्रा को किस अंश तक ... देश की प्राप्त मुद्रा को २४ घन्टे के
है कि उचित फल प्राप्त किये जा सकें। इसके ... दल ले।
प्रत्यक्ष। परोक्ष उपाय केवल सीमित क्षेत्रों ... "मुद्रा अधिकारियों की उन क्रियाओं से है
है, परन्तु प्रत्यक्ष उपाय अधिक सफल ... माँग और पूर्ति को प्रभावित करने के उद्देश्य से
न्नता पूर्णतया समाप्त कर देते हैं। ... न्धित की जाती है।"* इस प्रणाली का आरम्भ
... मलने के कारण हुआ है। यह एक अधिक कठोर, प्रत्यक्ष
परोक्ष उपायों में दो का ... पहले सन् १९३१ में जर्मनी ने इस प्रणाली को ग्रहण
सरे, ब्याज की दरें। प्रशुल्क ... र्जेन्टाइना तथा मध्य यूरोप के देशों ने भी इसे अपनाया था।
की पूर्ति को घटाने तथा विदे...

...य : अर्थशास्त्र के मूलाधार, पृष्ठ ४९८, दूसरा संस्करण।

है। आयातों के घटने के कारण विदेशी भुगतानों में भी कमी होती है, अतः देश के चलन की मूल्य-वृद्धि हो जाती है, परन्तु इस नीति की सफलता इसी बात पर निर्भर होती है कि सभी देश समान अनुपात में प्रशुल्क करों में वृद्धि न करें, अन्यथा सभी चलनों की तुलनात्मक क्रयः शक्ति में समान वृद्धि हो जाने के कारण विनिमय दर में परिवर्तन नहीं होंगे। निर्यात करों का परिणाम इसके विपरीत होता है। इनमें निर्यातों की मात्रा घटती है और देशी चलन की माँग घटने के कारण उसका अवमूल्यन हो जाता है।

ब्याज की दरों का प्रभाव पूँजी के आयात-निर्यात पर पड़ता है। यदि देश में ब्याज की दरें ऊँची कर दी जाती हैं तो पूँजी का आयात होता है, क्योंकि विदेशी ऋण आकर्षित होते हैं और इस प्रकार देशी चलन की माँग बढ़ने के कारण विदेशी बाजार में उसका मूल्य भी बढ़ जाता है। ब्याज की दरों के गिरा देने से पूँजी विदेशों को जाने लगती है और देशी चलन की माँग घटती है।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया था, *परोक्ष उपायों की सफलता का क्षेत्र सीमित होता है, इसलिए सङ्कट काल में शक्तिशाली प्रत्यक्ष उपाय करना आवश्यक हो जाता है।* प्रत्यक्ष उपायों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—(i) हस्तक्षेप (Intervention) और (ii) विनिमय प्रतिबन्ध (Restriction)। हस्तक्षेप अतिमूल्यन, अवमूल्यन अथवा विनिमय दरों की स्थिरता के लिए किया जाता है। इसकी सफलता के लिए मुद्रा नियन्त्रक के पास देशी चलन, विदेशी चलन अथवा सोना पर्याप्त मात्रा में होना चाहिए, ताकि विदेशी विनिमय की माँग और पूर्ति में आवश्यकतानुसार समायोजन (Adjustment) किया जा सके। इस उपाय का सबसे बड़ा गुण इसकी सरलता है। स्वर्णमान परित्याग के पश्चात् इङ्गलैंड ने विनिमय दर की स्थिरता के लिए इसी का उपयोग किया था।

विनिमय समानीकरण कोष (The Exchange Equalisation Account)—

यह कोष ब्रिटेन ने सन् १९३२ में स्थापित किया था, तत्पश्चात् अमरीका,
उच्चावचन हो सकते हैं। पूँजी ...भी ऐसा ही किया था। विनिमय नियन्त्रण की इस रीति
विनिमय दर को गिरने से रोक सकता ...लिए हम ब्रिटिश विनिमय समानीकरण कोष का
पर प्रतिबन्ध लगाने से ही काम नहीं चल ...
बाहर निकाला जा सकता है, इसलिए बहुधा स... ने ऐसा अनुभव किया कि स्टर्लिंग की
लगाना आवश्यक होता है।
रहे थे। इन उच्चावचनों को रोकने

(२) व्यापाराशेष की त्रुटियों को दूर कर... ण खाता खोल दिया। इस कोष
दूसरा उद्देश्य व्यापाराशेष के अन्तरों का समायोजित क... यह कार्य एजेन्ट के रूप में बैंक
प्रतिबन्धों तथा संरक्षण के सम्बन्ध में किये गये कार्यों के ...ों में सरकार द्वारा प्रचलित
असन्तुलन इतना बढ़ सकता है कि उसके अन्तरों का समायोजन... न्द्रीय बैंकों से खरीदा हुआ
दशा में विदेशी भुगतानों के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध लगाना तथा ...को लगभग १७·५ करोड़

पौंड के कोषागार-विपत्र दिए थे, परन्तु सन् १९३७ तक यह राशि ५७·५ करोड़ पौंड तक पहुँच गई थी। कोषागार-विपत्रों को प्रत्येक ३ महीने पीछे नया करा लिया जाता था। आरम्भ में कोष की कोई पूँजी विदेशों में नहीं थी, परन्तु कुछ समय पश्चात् कोष ने विदेशों में पूँजी जमा कर ली थी। कोष का प्रधान उद्देश्य स्टर्लिंग के बदले में विदेशी मुद्राओं को खरीद कर अथवा बेच कर विनिमय दरों की स्थिरता बनाए रखना था। यदि विदेशी विनिमय बाजार में स्टर्लिंग की माँग घटती-बढ़ती थी तो कोष उसे यथेष्ट मात्रा में बेच या खरीदकर विनिमय दर को बढ़ने-घटने से रोकता था।

सरकार इस कोष का उपयोग इस रीति से नहीं करती थी कि विनिमय बाजार की स्थायी और दीर्घकालीन प्रवृत्तियों में हस्तक्षेप करे, परन्तु यह प्रयत्न अवश्य किया जाता था कि पूँजी लगाने वालों की घबराहट और सट्टेबाजों की कार्यवाहियों का विदेशी विनिमय दर पर कोई हानिकारक प्रभाव न पड़ सके। इसका उद्देश्य बैंकिंग व्यवस्था को विदेशी विनिमय बाजार से अलग रखना और साथ ही दीर्घकालीन प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर विनिमय दरों को दृढ़ बनाना था। इस *कोष की कार्य-प्रणाली को गुप्त रखा गया था।* वह बहुत जटिल भी थी। संक्षेप में, केवल इतना कहा जा सकता है कि विदेशी विनिमय और मुद्रा-धातुओं के बाजार पर नियन्त्रण रखने के लिए एक संतोषजनक प्रणाली बना ली गई थी। *इस प्रणाली ने विनिमय दरों के अल्पकालीन उच्चावचनों को भली-भाँति रोक दिया था, परन्तु यह प्रणाली विभिन्न देशों के बीच कीमतों और आय का समायोजन करने का प्रयत्न नहीं करती थी।*

आरम्भ में कोष स्टर्लिंग के बदले में डालर खरीदता था, क्योंकि सन् १९३३ तक डालर स्वर्ण में परिवर्तनशील था, इसलिये उसके द्वारा सभी विनिमय दरों पर नियन्त्रण रखा जाता था। सन् १९३३ में अमरीका द्वारा स्वर्णमान छोड़ देने पर कोष ने फ्रैंक खरीदना आरम्भ कर दिया था, परन्तु सन् १९३६ में फ्रांस द्वारा स्वर्णमान छोड़ देने के पश्चात् कठिनाई हुई। इस कठिनाई को दूर करने के लिये इङ्गलैंड, अमरीका और फ्रांस के बीच एक आपसी मौद्रिक समझौता किया गया, जिसके अनुसार प्रत्येक देश को यह अधिकार मिला कि वह दूसरे देश की प्राप्त मुद्रा को २४ घन्टे के भीतर उस देश की केन्द्रीय बैंक से सोने में बदल ले।

*विनिमय प्रतिबन्ध का तात्पर्य "मुद्रा अधिकारियों की उन क्रियाओं से है जिनके द्वारा विनिमय बाजारों में माँग और पूर्ति को प्रभावित करने के उद्देश्य से विनिमयों की अबाधता प्रतिबन्धित की जाती है।"** इस प्रणाली का आरम्भ हस्तक्षेप से पूर्ण सफलता न मिलने के कारण हुआ है। यह एक अधिक कठोर, प्रत्यक्ष और सार्थक नीति है। सबसे पहले सन् १९३१ में जर्मनी ने इस प्रणाली को ग्रहण किया था और बाद को अर्जेन्टाइना तथा मध्य यूरोप के देशों ने भी इसे अपनाया था।

---

* महता तथा अन्य : अर्थशास्त्र के मूलाधार, पृष्ठ ४९८, दूसरा संस्करण।

सन् १९३९ के पश्चात् भारत तथा बहुत से देशों ने युद्ध-कालीन अर्थ-व्यवस्था की सफलता के लिए इसका काफी उपयोग किया है। इस प्रणाली की कार्य-विधि को समझने के लिए जर्मन प्रणाली का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है।

जर्मनी का विनिमय प्रतिबन्ध—

जर्मनी में यह प्रणाली इस कारण अपनाई गई थी कि सन् १९३१ में जर्मनी में चलन का अवमूल्यन होने के कारण महान् आर्थिक संकट पैदा हो गया था। अपनी युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था को सुधारने के लिए जर्मनी ने बहुत से अल्पकालीन ऋण दिये थे। इन ऋणों को लौटाने के लिए जर्मन मार्क की पूर्ति बहुत बढ़ाई गई थी, परन्तु जर्मनी का निर्यात व्यापार लगभग शून्य के बराबर था, जिसके कारण विदेशों में मार्क की माँग बहुत ही कम थी। ऋणदाताओं को यह आशङ्का थी कि जर्मन अर्थ-व्यवस्था टूट जायगी, इसलिये उन्होंने मार्क में भुगतान लेने से इन्कार कर दिया था। स्थिति इतनी बिगड़ गई थी कि मार्क की बाह्य कीमत के शून्य तक गिर जाने का भय था। इस कठिनाई को दूर करने के लिए जर्मनी ने कृत्रिम अतिमूल्यन की नीति ग्रहण की और जर्मन मार्क की पूर्ति को इस प्रकार नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया कि वह उसकी मांग के बराबर बनी रहे।

इसके लिए जर्मनी ने कठोर उपाय किये—सर्व प्रथम, सारा विदेशी विनिमय एक केन्द्रीय सत्ता द्वारा रोक लिया गया और विदेशी विनिमय व्यवसाय के लिए अनुज्ञापन प्रणाली का आरम्भ किया गया। दूसरा कार्य यह किया गया कि सभी नागरिकों को सभी विदेशी मुद्राएँ, विदेशी प्रतिभूतियाँ तथा बौंड सरकार को सौंपने का आदेश दिया गया और इस प्रकार एक निश्चित दर पर सरकार ने सारी विदेशी विनिमय सम्पत्ति प्राप्त कर ली। इस सम्पत्ति का एक भाग तो सरकार ने स्वयं रख लिया और शेष को खरीदने की दर से ऊँची कीमत पर उन नागरिकों को बेच दिया कि जिन्हें विदेशी विनिमय की आवश्यकता थी। विदेशी यात्राओं के लिये बहुत ही कम मात्रा में जर्मन अथवा विदेशी मुद्रायें दी जाती थीं। आयातों के लिए एक प्राथमिकता का क्रम निश्चित कर दिया गया था और कुछ अनावश्यक वस्तुओं के आयात पूर्णतया बन्द कर दिये गये थे। प्रत्येक आयात व्यापारी को अनुज्ञापन लेना होता था और विदेशी व्यापारी उसे उस समय तक माल नहीं भेजते थे जब तक कि उन्हें यह विश्वास नहीं हो जाता था कि आयातकर्त्ताओं ने आवश्यक सरकारी आज्ञा प्राप्त कर ली है।

अन्त में जर्मनी ने अवरुद्ध खाता (Blocked Account) नीति भी अपनाई थी। इसके अनुसार विदेशियों को अपनी सम्पत्ति, प्रतिभूतियाँ तथा मुद्राएँ जर्मनी से बाहर ले जाने का अधिकार नहीं दिया गया था। यह सब सम्पत्ति सरकार के 'अवरुद्ध खाता' नामक अलग कोष में जमा कर दी जाती थी। प्रत्येक जर्मन ऋणी अपना विदेशी ऋण सरकार को चुकाता था और सरकार इस राशि को विदेशी के नाम पर अवरुद्ध खाते में जमा कर देती थी, परन्तु यह राशि विदेशी मुद्राओं में परिवर्तनशील न

थी। विदेशियों को इस प्रकार अपनी मुद्राओं में भुगतान नहीं मिलता था और वे विवश होकर या तो जर्मनी से माल खरीद कर अपना भुगतान लेते थे या इस राशि को कम दाम पर बेच देते थे। प्रत्येक दशा में जर्मनी को लाभ होता था। इस व्यवस्था ने विदेशी विनिमय में चोर बाजारी को जन्म दिया, जिसे बहुत बार 'ब्लैक बोर्स' (Black Bourse) के नाम से पुकारा जाता है।

जर्मनी की यह नीति महान् आर्थिक जादूगर डा० शाट (Schacht) के मस्तिष्क की उपज थी और इसे 'नयी योजना' कहा जाता था। इन उपायों के परिणामस्वरूप जर्मनी का तेजी के साथ आर्थिक विकास हुआ। क्राउथर के अनुसार—"जर्मनी का उद्योग-धन्धा बाहर से खरीद कर मँगाये गये कच्चे माल पर निर्भर करता है और नाजी सरकार को जर्मन उद्योग-धन्धों पर आवश्यक सामानों के राशनिंग करने के कड़े विनिमय नियन्त्रण के कारण जो अपरिमित शासन शक्ति मिल गई थी, वह उसके हाथ में साधारण औद्योगिक नियन्त्रण का एक जबरदस्त अस्त्र था, परन्तु इसके अतिरिक्त जर्मनी की चेष्टा इस दिशा में लगी हुई थी कि आयातकृत कच्चे माल की अधिक से अधिक पूर्ति करे।"*

विनिमय नियन्त्रण के अन्य रूप—

विनिमय नियन्त्रण तीन अलग-अलग रूपों में देखने में आया है—एक-देशीय, द्वि-देशीय तथा बहु-देशीय। इनमें से दूसरे और तीसरे रूप में तो केवल अंश का ही अन्तर होता है, परन्तु प्रथम रूप अलग ही प्रकार का होता है। एक-देशीय विनिमय नियन्त्रण एक ही देश के व्यक्तिगत कार्यों का परिणाम होता है, द्वि-देशीय नियन्त्रण में दो देश मिल कर अन्योन्य विनिमय प्रबन्ध करते हैं और बहु-देशीय नियन्त्रण में कई देश सम्मिलित होते हैं। एक-देशीय विनिमय नियन्त्रण के प्रमुख रूप विनिमय समानीकरण कोष, अवरुद्ध खाते, विनिमय राशनिंग तथा आयात-अभ्यंश हैं। विनिमय समानीकरण कोष तथा अवरुद्ध खाता प्रणाली का विस्तृत वर्णन ऊपर किया जा चुका है। नीचे अन्य दो प्रणालियों का वर्णन किया जाता है:—

(१) विनिमय राशनिंग—इस प्रणाली का उपयोग स्वतन्त्र रूप में अथवा अवरुद्ध खातों के साथ मिलाकर किया जा सकता है। *इस प्रणाली में विदेशी विनिमय कमाई को इस प्रकार रखा जाता है कि वह आवश्यक आयातों के लिए पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो जाय।* सरकार सभी प्रकार के विदेशी विनिमय के खरीदने और बेचने का कार्य अपने हाथ में ले लेती है और विनिमय दरों को स्वयं निश्चित करती है। विनिमय के स्वतन्त्र व्यवसाय को रोक दिया जाता है। केन्द्रीय बैंक प्राप्त विदेशी विनिमय आय को एक निश्चित प्राथमिकता के क्रम के अनुसार आयातकर्त्ताओं में बाँट देती है। इस प्रकार केवल उन्हीं वस्तुओं का आयात हो पाता है जिन्हें मँगाना आवश्यक समझा जाता है और प्रत्येक के आयात की मात्रा भी निश्चित हो जाती है।

(२) आयात अभ्यंश—विनिमय राशनिंग के साथ-साथ कभी-कभी आयात अभ्यंश तथा अनुज्ञापत्र प्रणाली को भी अपनाया जाता है। विदेशी विनिमय का नियन्त्रण आयातों और निर्यातों की मात्राओं को निश्चित करके किया जाता है। *साधारणतया निर्यातों को तो प्रोत्साहन दिया जाता है, परन्तु अनावश्यक आयातों को या तो कम कर दिया जाता है या पूर्णतया वर्जित कर दिया जाता है।* निर्धारण अभ्यंश प्रणाली के अनुसार ही आयात और निर्यात के अनुज्ञापन प्रदान किये जाते हैं और क्योंकि बिना अनुज्ञापन के कोई माल न तो बाहर भेजा जा सकता है और न बाहर से मँगाया जा सकता है, इसलिए पूरे निर्यात और आयात व्यापार पर समुचित नियन्त्रण स्थापित हो जाता है।

विनिमय उद्बन्धन अथवा पेगिंग (Exchange Pegging)—

यह रीति साधारणतः युद्ध के काल में विनिमय दरों के उच्चावचनों को कम करने के लिए उपयोग की जाती है। मुद्रा-स्फीति अथवा मुद्रा-संकुचन के कारण देश की मुद्रा का आन्तरिक मूल्य नीचे गिर सकता है अथवा ऊपर जा सकता है, परन्तु विदेशी व्यापार की सुविधा के लिए सरकार उसका बाह्य मूल्य एक निश्चित बिन्दु पर बनाये रख सकती है। इस प्रकार विनिमय दर देशी मुद्रा की आन्तरिक क्रयः शक्ति के परिवर्तनों से प्रभावित नहीं हो पाती है। यदि मुद्रा को क्रयः शक्ति समानता स्तर से अधिक मूल्य दिया जाता है तो इसे दर का 'ऊपर टाँकना' (Pegging Up) कहा जाता है और यदि उद्देश्य अवमूल्यन होता है तो देश की मुद्रा का बाह्य मूल्य घटाकर विनिमय दर का नीचे अटकाना (Pegging Down) किया जाता है।

दोनों महायुद्धों के काल में इङ्गलेंड ने इस प्रणाली को अपनाया था। सन् १९१६ और सन् १९१९ के बीच कृत्रिम रीति से स्टर्लिङ्ग का मूल्य ४·७३५ डालर रखा गया था, यद्यपि यह मूल्य वास्तविक मूल्य से ऊँचा था। इसी प्रकार दूसरे महायुद्ध के काल में भारत सरकार ने विनिमय दर १ रुपया = १ शिलिंग ६ पेंस ही बनाये रखी, यद्यपि क्रयः शक्ति समानता के आधार पर यह बहुत नीचे होनी चाहिए थी। इस प्रणाली में विनिमय दर को एक खूँटे से बाँध कर रखा जाता है, इसलिए इसका यह नाम पड़ा है।

द्वि-देशीय विनिमय नियन्त्रण की रीतियाँ—

द्वि-देशीय विनिमय नियन्त्रण का प्रचलन भी काफी रहा है, परन्तु अपेक्षतन बहु-देशीय नियन्त्रण का रिवाज कम ही रहा है। बहु-देशीय नियन्त्रण का प्रमुख उदाहरण विनिमय समानीकरण कोषों के सहयोग के रूप में प्रकट हुआ है। द्वि-देशीय नियन्त्रण के दो रूप महत्वपूर्ण हैं :—

(१) **शोधन समझौते (Payments Agreements)**—इस प्रकार का समझौता विनिमय राशनिंग का ही एक रूप होता है। *समझौता करने वाले एक देश को विदेशी विनिमय के राशनिंग की व्यवस्था करनी पड़ती है, जिससे दूसरे*

देश को आवश्यक भुगतान किये जा सकें। शोधन समझौते में एक ऋणी देश ऋणदाता देश के लिए मूलधन चुकाने, ब्याज देने तथा लाभांश बांटने की व्यवस्था करता है। साधारणतया ऋणी देश ऋणदाता देश को यह धमकी देकर कि वह उससे माल खरीदना बन्द करेगा, विनिमय राशनिंग व्यवस्था लागू करने पर बाध्य करता है।

(२) निकासी समझौते (Clearing Agreements)—*जब दो देश कोई ऐसा समझौता कर लेते हैं जिसके अनुसार अन्योन्य भुगतानों को इस प्रकार एक दूसरे के द्वारा चुकती कर दिया जाता है कि उन्हें विदेशी विनिमय बाजार में जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती तो इसे निकासी समझौता कहते हैं।* इन समझौतों के अनुसार दो देश ऐसी व्यवस्था करते हैं कि प्रत्येक अपने निर्यातकर्त्ताओं को अपने ही चलन में उन शोधनों में से भुगतान करना तय कर लेता है जो देश के आयातकर्त्ताओं को प्राप्त होते है। ऐसे समझौते द्वारा विदेशी विनिमय बाजार का साधारण कार्यवाहन पूर्णतया स्थगित कर दिया जाता है। विदेशी मुद्राओं का उपयोग किये बिना ही भुगतान हो जाते हैं। निकासी समझौते दो देशों के व्यापार का समानीकरण कर देते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को एक प्रकार का वस्तु-विनिमय रूप दे देते हैं।

इन दो रूपों के अतिरिक्त इस प्रकार के विनिमय नियन्त्रण के दो रूप और भी देखने में आये हैं, जो निम्न प्रकार हैं :—

(३) विलम्ब-काल हस्तान्तरण (Transfer Moratoria)—*इसका उद्देश्य यह होता है कि विदेशियों को उनके द्वारा भेजे हुए माल अथवा पूँजी का भुगतान तत्काल न करके कुछ समय पश्चात् किया जाय।* आयातकर्त्ताओं को अपने ऋणों का भुगतान देश ही की मुद्रा में किसी अधिकृत बैंक में जमा करने का आदेश दे दिया जाता है। यह जमा राशि सुरक्षित रखी जाती है और विदेशियों को निश्चित अवधि पश्चात् भुगतान किया जाता है। विलम्ब काल (Moratorium) की समाप्ति पर यह राशि विदेशियों को भेज दी जाती है। इस काल में देश की सरकार को विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यक समायोजन करने का अवसर मिल जाता है। साधारणतया विदेशियों पर इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता है कि विदेशी प्राप्त राशि का किस प्रकार उपयोग करेंगे, किन्तु कुछ समझौतों में इस सम्बन्ध में भी विदेशियों को आदेश दे दिये जाते हैं।

(४) यथास्थिर अथवा निश्चित समझौते (Standstill Agreements)—इस पद्धति का उपयोग सन् १९३१ की आर्थिक मन्दी के पश्चात् जर्मनी में हुआ था। *इसमें समझौता करने वाले देशों के बीच पूँजी के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं और विदेशी ऋणों को धीरे-धीरे किश्तों में चुकाने का समझौता किया जाता है।* साधारणतया अल्पकालीन ऋणों का भुगतान स्थगित कर दिया जाता है और उनका दीर्घकालीन ऋणों में परिवर्तन कर लिया जाता है।

उपरोक्त व्यवस्था का परिणाम यह होता है कि ऋणी देश को अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार करने तथा पूँजी के आवागमन को रोक कर विनिमय दर पर नियन्त्रण लगाने के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है।

भारत में विनिमय नियन्त्रण

युद्धकालीन विनिमय नियन्त्रण—

भारत में भी संसार के बहुत से दूसरे देशों की भाँति विनिमय नियन्त्रण लागू है। यह नियन्त्रण दूसरे महायुद्ध के काल में आवश्यक हो गया था। महायुद्ध के काल में भारतीय सुरक्षा विधान के अन्तर्गत ऐसी व्यवस्था की गई थी कि रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की आज्ञा के बिना विदेशी विनिमय का उपयोग नहीं किया जा सकता था और बैंक केवल कुछ स्वीकृत कार्यों के लिए ही उसके उपयोग की आज्ञा देती थी। विनिमय नियन्त्रण का कार्य आरम्भ से रिजर्व बैंक को सौंपा गया था और इसका संचालन बैंक का विनिमय नियन्त्रण विभाग (Exchange Control Department) करता था। वैसे विदेशी विनिमय व्यवसाय बैंकों द्वारा किया जाता था, परन्तु वे रिजर्व बैंक से अनुज्ञापन प्राप्त करते थे और उसी के नियन्त्रण में कार्य करते थे।

सन् १९४७ का विनिमय नियन्त्रण विधान—

मार्च सन् १९४७ में भारतीय सुरक्षा विधान समाप्त कर दिया गया था और उसके स्थान पर सन् १९४७ का विनिमय नियन्त्रण अधिनियम (Foreign Exchange Regulation Act, 1947) जो उस वर्ष के फरवरी मास में पास किया गया था, लागू किया गया था। अधिनियम के अनुसार केवल रिजर्व बैंक द्वारा अधिकृत विनिमय बैंक ही विदेशी विनिमय व्यवसाय कर सकती है और कोई भी व्यक्ति अथवा संस्था केवल रिजर्व बैंक के आज्ञा-पत्र (Permit) पर ही विदेशी विनिमय खरीद सकती है। इस सम्बन्ध में स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के लोगों को कुछ छूट दी गई है। उनके लिए आज्ञा-पत्र आवश्यक नहीं है और इसके अतिरिक्त वे १५० पौंड प्रति मास तक अपने कुटुम्ब के व्यय के लिए भी भेज सकते हैं। विनिमय नियन्त्रण का प्रमुख उद्देश्य यह है कि देश से सोने के निर्यात, विदेशी पूँजी के आयात तथा विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय पर नियन्त्रण रखा जाय। नियम की अन्य व्यवस्थायें निम्न प्रकार हैं:—

(१) भारत में रहने वाले विदेशी एक सीमा तक ही मुद्रा देश से बाहर भेज सकते हैं। साधारणतया जीवन निर्वाह व्यय की उचित मात्रा को कुल आय में से घटाकर केवल शेष को ही बाहर भेजने की आज्ञा दी जाती है। इसीलिए यदि कोई फर्म, व्यक्ति अथवा संस्था किसी विदेशी व्यक्ति की सेवायें प्राप्त करना चाहती है तो उसे रिजर्व बैंक से आज्ञा लेनी पड़ती है।

(२) अंशों, प्रतिभूतियों तथा जमा के स्वामी को लाभांश और ब्याज की राशि देश से बाहर भेजने की पूरी स्वतन्त्रता है और इसी प्रकार विदेशी मुद्राओं में बीमे की किश्तें भी बिना किसी प्रतिबन्ध के भेजी जा सकती हैं।

(३) स्वदेश लौटने वाले विदेशी व्यक्ति को वेतन की बचत, प्रावधान कोष राशि तथा निजी सम्पत्ति की कीमत देश से बाहर ले जाने की पूरी स्वतन्त्रता है, यदि यह ५,००० पौंड से अधिक नहीं है।

(४) यदि आयात-कर्त्ता ने आयात अनुज्ञापन प्राप्त कर रखा है तो वह विदेशों से मंगाई गई वस्तुओं की कीमत स्वतन्त्रतापूर्वक चुका सकता है। बिना अनुज्ञापन के मंगाई हुई वस्तुओं के लिए (यदि वे खुले सामान्य अनुज्ञापन के अन्तर्गत नहीं आती हैं) विदेशी विनिमय नहीं दिया जाता है।

(५) विदेशी व्यापार संस्थायें अपने लाभ को प्रधान कार्यालयों को भेज सकती हैं।

(६) कुछ विशेष परिस्थितियों के अतिरिक्त पूँजी का स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के बाहर निर्यात नहीं किया जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा विनिमय स्थायित्व—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना के पश्चात् भारत भी कोष के सदस्यों में सम्मिलित हो गया है। इस कोष ने भारत तथा अन्य सदस्य देशों की मुद्राओं की कीमत स्वर्ण अथवा अमरीकन डालर में परिभाषित करके और सदस्य देशों को व्यापाराशेष के घाटों को पूरा करने के लिए ऋण देकर विनिमय दरों की स्थिरता स्थापित करने का प्रयत्न किया है। कोष विदेशी विनिमय तथा विदेशी व्यापार सम्बन्धी प्रतिबन्धों के विरुद्ध है। सदस्य होने के नाते भारत को भी मुद्रा-कोष के आदेशों का पालन करना पड़ता है।

QUESTIONS

1. विनिमय नियन्त्रण के क्या उद्देश्य हैं? विनिमय नियंत्रण के साधनों का वर्णन कीजिए। (Agra, B. A., 1957)
2. आप 'विनिमय नियंत्रण' का क्या तात्पर्य समझते हैं? वह क्यों आवश्यक हो गया है। (Sagar, B. Com., 1954)
3. What should be the object of exchange control? Describe the various methods of exchange control. Do you support them? (Bihar, B. A., 1957 ; Patna, B. A., 1957)

4. Explain the chief aims and methods of exchange control illustrating the same from its working in India.
(Raj., B. Com., 1954, 1957)

5. Write short note on :—Exchange Control.
(Agra, B. A., 1958, 1956 Supp. ; Agra, B. Com , 1958 ; Alld, B. A., 1956)

6. Write a note on :—Exchange Equalisation Account.
(Agra, B. A., 1956 ; Raj., B. Com., 1957, 1955)

7. Explain the objectives, nature and limitations of Exchange Equalisation Account. (Agra, B. A., 1955)

8. Write a note on :—Exchange Pegging.
(Agra, B. Com., 1957)

9. Discuss the objects and methods of exchange control, with special reference to methods employed in India.
भारत में प्रयुक्त पद्धतियों का विशेष उल्लेख करते हुए विनिमय नियमन के उद्देश्यों और पद्धतियों का विवेचन करिये। (Agra, B. Com., 1959)

अध्याय २७

भारतीय चलन का इतिहास

(सन् १९२५ से पूर्व)

(The History of Indian Currency)

प्राचीन भारत में मुद्रा एवं चलन (द्विधातुमान पद्धति)—

भारत में मुद्रा का उपयोग अतीत काल से होता आया है। सभी प्राचीन ग्रन्थों से इसका प्रमाण मिलता है। वेद, मनुस्मृति तथा बौद्ध साहित्य में अनेक स्थानों पर मुद्रा तथा चलन के उपयोग का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त अनेक पुराने सिक्के, शिला लेख तथा ऐतिहासिक प्रमाण ऐसे प्राप्त होते हैं जिनसे मुद्रा के उपयोग की प्राचीनता सिद्ध होती है। ऋगवेद में गाय को मूल्य की सामूहिक माप के रूप में उपयोग करने का वर्णन अनेक स्थानों पर पाया जाता है। मुस्लिम काल में तो सम्राट द्वारा सिक्कों और मुहरों का निकालना और चालू करना एक साधारण सी घटना बन गई थी।

मुस्लिम-काल में मुहम्मद तुगलक ने सांकेतिक सिक्के तथा पत्र-मुद्रा का निर्गमन करके एक अनुपम तथा महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया, परन्तु यह प्रयोग सफल न हो सका। १७ वीं शताब्दी में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी अपनी शिल्पशालाओं तथा अपनी आधीन बस्तियों के लिए सिक्कों का ढालना आरम्भ कर दिया था। इसके पश्चात् जैसे-जैसे कम्पनी का अधिकार अधिक भू-भाग पर होता गया, इन सिक्कों का प्रचलन बढ़ता ही गया, परन्तु इस काल में सबसे बड़ी कठिनाई सिक्कों की भारी विविधता ही थी। अनेक धातुओं के सिक्के प्रचलित थे और स्वयं एक ही धातु के सिक्कों में भी रूप, मूल्य वजन तथा शुद्धता में अत्यधिक अन्तर होता था। ऐसी दशा में व्यापार में असुविधा होती थी, क्योंकि सिक्कों की परख आवश्यक होती थी और विभिन्न सिक्कों का विनिमय उनकी शुद्धता की परख के पश्चात् तोल कर किया जाता था। सन् १८३५ तक द्वि-धातुमान पद्धति चालू थी तथा सोने और चाँदी दोनों के सिक्के विधि ग्राह्य थे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का आवगमन एवं इसके पश्चात् (रजत मान की स्थापना)—

सन् १८३५ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सर्वप्रथम अपने आधीन क्षेत्रों में प्रचलित सिक्कों में अनुरूपता स्थापित करने का प्रयत्न किया। कम्पनी की राज्य सीमाओं के भीतर चाँदी के रुपये को, जिसका भार एक तोला अथवा १८० ग्रेन होता था और जिसमें चाँदी की मात्रा १६५ ग्रेन थी, प्रामाणिक सिक्का घोषित कर दिया गया और यह भी आदेश निकाला गया कि भविष्य में कम्पनी के राज्य क्षेत्र में सोने का सिक्का कहीं भी विधि-ग्राह्य नहीं होगा। इस प्रकार रजतमान के रूप में देश में एक-धातुमान स्थापित किया गया। चाँदी को स्वतन्त्र मुद्रण प्रदान किया गया और उसकी ढलाई अपरिमित रखी गई। सोने में रुपये की कीमत चाँदी के स्वर्ण मूल्य पर निर्भर होने लगी। सन् १८६४ में भारतीय रुपए का स्वर्ण मूल्य सावरेन में दस रुपया प्रति सावरेन अथवा १ रुपया =२ शिलिंग रखा गया, परन्तु इस समय तक चाँदी की बहुत सी नई खानों का पता लग जाने तथा अधिकाँश देशों द्वारा चाँदी के विमुद्रीकरण के कारण स्वर्ण में चाँदी की कीमत भी अधिक घट चुकी थी। सन् १८७३ में लेटिन संघ (Latin Union) देशों ने फ्रांस का अनुकरण करके द्वि-धातुमान को समाप्त कर दिया और चाँदी के सिक्कों को चलन से निकाल कर स्वर्ण मुद्रा तथा एक-धातुमान को स्वीकार किया और यूरोप के देशों में स्वर्णमान पद्धति का प्रचार हुआ। सन् १८७४ में फ्रांस, इटली तथा स्विटजरलैंड ने चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण स्थगित कर दिया। जर्मनी, डेनमार्क, स्वीडन, नार्वे तथा हालैंड ने पहले से ही चाँदी का विमुद्रीकरण कर दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि स्वर्ण की कीमत निरन्तर गिरती ही रही। सन् १८७१ में यह २ शिलिंग के बराबर थी, परन्तु सन् १८९२ में यह केवल १ शिलिंग ३ पेंस रह गई थी।

चाँदी की कीमतों के इस भारी पतन का कारण यह था कि माँग की तुलना में चाँदी की पूर्ति अधिक बढ़ गई थी। अधिकाँश यूरोपीय देशों द्वारा स्वर्णमान ग्रहण करने के कारण चाँदी के सिक्कों को गला कर धातु के रूप में बेचा जाने लगा था।

चाँदी की नई खानों की खोज तथा चाँदी निकालने की विधियों के सुधार ने भी चाँदी के उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि की। सन् १८६१ में चाँदी की उत्पत्ति सन् १८७६ की अपेक्षा दूनी हो गई थी। इसके विपरीत स्वर्णमान की ग्राह्यता के कारण सोने की मांग अधिक बढ़ गई थी, यद्यपि उसका उत्पादन घट रहा था।

परिणाम—

(१) चाँदी की स्वर्ण में कीमतों के गिर जाने का परिणाम यह हुआ कि भारत में चाँदी के आयातों में पर्याप्त वृद्धि हुई, जिसके कारण मुद्रा-प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो गई और कीमतें बढ़ने लगीं। सन् १८७३ और सन् १८६३ के बीच कीमतों में २६% की वृद्धि हो गई थी।

(२) इसके अतिरिक्त सोने में चाँदी की कीमतों के गिर जाने का देश के विदेशी व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ा और विदेशी पूँजी की सहायता से भारत के आर्थिक जीवन का विकास करने में कठिनाई होने लगी, क्योंकि पूँजी के आयात अधिक घट गये थे।

(३) साथ ही, गृह खर्चों का भार बढ़ गया और ब्रिटिश अफसरों के वेतन तथा उत्तर-वेतन चुकाने के लिए धन भेजने में भारत सरकार को भारी कठिनाई होने लगी। इन सबकी कीमत स्टर्लिंग में निश्चित की जाती थी और रुपये की कीमत के प्रत्येक पतन के साथ इन दायित्त्वों को चुकाने के लिए अधिक मात्रा में रुपयों की आवश्यकता पड़ने लगी थी।

(४) सरकार को करों में भारी वृद्धि करनी पड़ी और बजटों के सन्तुलन में भारी कठिनाई अनुभव होने लगी।

कई वर्षों तक भारत सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय द्वि-धातुमान की स्थापना का प्रयत्न किया। सन् १८६७ तथा सन् १८६२ के बीच इस कार्य के लिए चार बड़े-बड़े अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन भी हुए, परन्तु जब सफलता प्राप्त न हो सकी तो भारत सरकार ने स्थिति की जाँच करने के लिए एक समिति नियुक्ति की।

हरशैल समिति (The Herschell Committee)—

यह समिति सन् १८६२ में लार्ड हरशैल की अध्यक्षता में नियुक्त की गई थी और समिति को भारत सरकार द्वारा प्रस्तुत *निम्न प्रस्तावों पर विचार प्रकट करने का आदेश* दिया गया था :—(१) क्या भारत में चाँदी का स्ततन्त्र मुद्रण समाप्त कर दिया जाय और स्वर्णमान ग्रहण कर लिया जाय, (२) क्या भारत में सोने के सिक्के चालू किए जायें और (३) क्या रुपया की स्टर्लिंग विनिमय दर घटा कर १ रु० =१ शिलिंग ६ पेंस कर दी जाय ?

समिति का विचार था कि भारत में सोने के सिक्कों का चालू करना अनावश्यक तथा अनुपयुक्त था, क्योंकि बिना सोने के सिक्कों को चलाये भी स्वर्णमान स्थापित हो सकता था। साथ ही, यह भी कहा गया कि इसके ग्रहण करने से सोने में चाँदी की

क़ीमतों के और अधिक गिर जाने की सम्भावना थी। समिति ने १ शिलिंग ६ पेंस की विनिमय दर को भी इस कारण अनुपयुक्त बताया कि इसका देश के व्यापार, उद्योग तथा आर्थिक जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। *समिति ने दो सुझाव दिए :—*(१) चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण बन्द होना चाहिये, परन्तु सरकार यह घोषणा करे कि यद्यपि जनता का यह अधिकार नहीं रहेगा कि वे चाँदी की सिलों को रुपयों में ढलवा सके, परन्तु सरकार अपनी टकसालों में १ शिलिंग ४ पेंस प्रति रुपया की कीमत पर चाँदी के रुपयों को ढालने का काम बराबर करती रहेगी। (२) सरकारी खजानों में सभी प्रकार के लोक दायित्वों के भुगतान में सोना इसी दर पर स्वीकार होता रहेगा।

इन सिफारिशों के तीन परिणाम हुए :—

(१) सोना तथा चाँदी दोनों का स्वतन्त्र मुद्रण समाप्त कर दिया गया।

(२) रुपया एक सांकेतिक सिक्का बन गया, क्योंकि एक ओर तो इसकी विनिमय कीमत इसकी निहित कीमत से अधिक रखी गई थी और दूसरी ओर उसका मुद्रण समिति और प्रतिबन्धित था।

(३) इन सिफारिशों में स्वर्णमान की स्थापना की कोई निश्चित व्यवस्था नहीं की गई थी, यद्यपि यह विचार प्रकट किया गया था कि भविष्य में स्वर्णमान स्थापित किया जायगा।

भारत सरकार ने हरशैल समिति की सिफारिशों को स्वीकार करके *भारतीय मुद्रण एक्ट सन् १८९३ पास कर दिया।* तत्पश्चात रुपये की विनिमय दर चाँदी की कीमतों के प्रभाव से विमुक्त हो गई और चांदी का मूल्य के मान के रूप में उपयोग बन्द हो गया, यद्यपि चलन हेतु प्रमुख धातु अभी भी चांदी ही रही। स्वर्ण को अब भी विधि-ग्राह्य स्थान प्रदान नहीं किया गया था। *अतः हरशैल समिति की सिफारिशों के आधार पर भारत में एक अपूर्ण द्वि-धातुमान अपनाया गया, जिसमें चाँदी और सोने के सिक्कों का मुद्रण जनता द्वारा नहीं कराया जा सकता था और केवल चाँदी के रुपये ही असीमित विधि ग्राह्य थे।*

चाँदी के स्वतन्त्र मुद्रण को समाप्त करने का उद्देश्य रुपये की विदेशी विनिमय दरों को ऊँचा करना था। सन् १८९३ में रुपये की विनिमय दर केवल १ शिलिंग २½ पेंस थी और सरकार ने उसे बढ़ा कर १ शिलिंग ४ पेंस कर देने का प्रयत्न किया। इसके लिए रुपयों की कुल मात्रा में कमी की गई। मुद्रा-संकुचन ने लोगों को भयभीत कर दिया। गाढ़ कर रखे हुए रुपये चलन के लिए निकलने लगे और जेवरात बनाने में रुपयों का उपयोग घटने लगा। परिणाम यह हुआ कि रुपयों का प्रचलन घटने के स्थान पर बढ़ गया। १ शिलिंग ४ पेंस की विनिमय दर बनी न रह सकी और सरकार को १ शिलिंग १¾ पेंस की दर पर रुपये बेचने पड़े। जनवरी सन् १८९६ में यह दर गिर कर १ शिलिंग ½ पेंस ही रह गई, परन्तु तत्पश्चात् यह धीरे-धीरे बढ़ कर सन् १८९८ में १ शिलिंग ४ पेंस हो गई, क्योंकि अब चाँदी की कीमतों का विनिमय

दर पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता था। रुपये की यह कीमत सन् १९१६ तक स्थि
तथा स्थायी रही। केवल सन् १९०७-०८ में कुछ आर्थिक संकटों के कारण यह थो
समय के लिए नीचे गिर गई थी।

भारत में स्वर्ण-विनिमय मान (सन् १८९६-१९१९)—

विनिमय दर के १ शिलिंग ४ पैंस पर स्थिर हो जाने के पश्चात् भारत सरका
ने मार्च सन् १८९८ में भारत सचिव से भारत में पूर्ण स्वर्णमान स्थापित करने क
फिर प्रार्थना की, अतः सर हेनरी फाऊलर (Sir Henry Fowler) की अध्यक्षत
में एक और समिति नियुक्त की गई। *फाऊलर समिति के प्रमुख सुझाव निम्न
प्रकार थे :—*

(१) भारतीय टकसालों में चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण नहीं होना चाहिए
क्योंकि भारत का ४/५ व्यापार स्वर्णमान देशों के साथ ही था।

(२) ब्रिटिश सावरेन को भारत में अपरिमित विधि-ग्राह्य मुद्रा घोषित क
देना चाहिए और उसका भारत में प्रचलन होना चाहिए। भारत
सोने की स्वतन्त्र ढलाई होनी चाहिए। सावरेन की ढलाई और उस
प्रचलन इङ्गलैंड और भारत दोनों देशों में होना चाहिए।

(३) रुपया सांकेतिक सिक्का रहते हुए भी अपरिमित विधि-ग्राह्य बन
रहना चाहिए।

(४) रुपये और स्टर्लिङ्ग की विनिमय दर १ शिलिंग ४ पैंस प्रति रुपय
रहनी चाहिये।

(५) क्योंकि स्वर्ण कोष का सबसे महत्त्वपूर्ण उपयोग यही था कि विदेश
भुगतानों के लिये वे स्वतन्त्रतापूर्वक प्राप्त होते रहें, इस कारण भार
सरकार को स्वर्ण निर्यात के लिये सोने का संचित कोष रखन
चाहिए, जिससे कि विनिमय दर की स्थिरता स्थापित की जा सके।

(६) भारत सरकार को सोने के बदले में रुपये देने की प्रथा को बना
रखना चाहिये, परन्तु नये रुपये के सिक्कों की ढलाई उस समय त
बन्द रहनी चाहिये जब तक कि चलन में स्वर्ण का अनुपात जनत
की स्वर्ण आवश्यकता से अधिक न हो जाय।

(७) निर्यात के लिये जनता को पर्याप्त स्वर्ण देने के लिए सरकार क
स्वर्ण कोष रखने चाहिये। रुपयों के मुद्रण पर जो भी लाभ प्राप्त ह
उसे सरकार की साधारण आय में हस्तान्तरण नहीं करना चाहि
और न ही उसे सरकार की साधारण जमा (Balances) के रू
में रखना चाहिए। इस लाभ को सोने में एक विशेष सुरक्षित कोष व
रूप में रखना चाहिए और यह सुरक्षित कोष साधारण पत्र-मुद्र
निधि तथा सरकार की साधारण कोषागार जमा (Treasur
Balances) से पूर्णतया अलग होना चाहिये।

परिणाम—

भारत सरकार ने इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और इन्हें कार्य रूप देने का प्रयत्न किया। सितम्बर सन् १८९९ में सावरेन को विधि-ग्राह्य मुद्रा घोषित किया गया, परन्तु रुपया भी अपरिमित विधि-ग्राह्य बना रहा। ब्रिटिश कोषागार की स्वीकृति न मिलने के कारण भारत में सोने के सिक्कों की ढलाई के लिये शाही टकसाल की शाखा खोलने की योजना रद्द कर दी गई। *इस प्रकार देश में जो मौद्रिक मान स्थापित हुआ उसे स्वर्ण-विनिमय-मान कहा गया।* यह एक ऐसा स्वर्णमान था जिसमें सोने के सिक्कों का प्रचलन न था। इस मान की चार प्रमुख विशेषताएँ थीं :—(१) इसमें देश के भीतर सोने के सिक्कों का प्रचलन न था। (२) देश की भीतरी आवश्यकताओं के लिए रुपये को सोने में परिवर्तन करना आवश्यक न था। (३) केन्द्रीय सरकार द्वारा देशी मुद्रा के बदले में एक निश्चित अधिकतम् विनिमय दर पर विदेशी विप्रेषों (Remittances) को सोने में भेजने की व्यवस्था की गई थी। (४) इन विप्रेषों के लिये सुरक्षित कोषों का एक आवश्यक भाग इङ्गलैंड में रखा जाता था।

इस मौद्रिक मान की देश में कड़ी आलोचना हुई :—

(१) यद्यपि इसके अन्तर्गत विनिमय दरों की स्थिरता तो प्राप्त हो गई थी, परन्तु कीमतों की स्थिरता प्राप्त न हो सकी। सन् १८९३ और सन् १९२३ के बीच संसार के अन्य देशों की तुलना में भारत में ही कीमतों के सबसे अधिक उच्चावचन हो रहे थे। सन् १९०७-०८ के सङ्कटकालीन वर्षों में यह मुद्रा प्रणाली टूटते-टूटते बची और सन् १९१९-२० में तो यह एक दम टूट ही गई।

(२) कीमतों के इन भारी उच्चावचनों ने आर्थिक जीवन में अनिश्चितता उत्पन्न करके देश के व्यापार और पूँजी विकास के मार्ग में बाधाएँ उपस्थित कर दीं।

(३) इसके अतिरिक्त यह मौद्रिक मान प्रबन्धित मान था और इसके सफल संचालन के लिए पग-पग पर सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता पड़ती थी। यह एक जटिल प्रणाली थी और कैनन के शब्दों में मूर्ख-सिद्ध तथा मक्कार-सिद्ध न थी।

चैम्बरलेन आयोग (The Chamberlain Commission)—

सन् १८९९ के पश्चात् भारत में जो मौद्रिक प्रणाली स्थापित हुई थी उसकी भारत में कड़ी आलोचना हुई थी। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली की स्थापना के सम्बन्ध में भारत सरकार तथा भारत सचिव के बीच भी भारी मतभेद था। इन आलोचनाओं तथा इस मतभेद की जाँच करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने अप्रैल सन् १९१३ में मिस्टर चैम्बरलेन की अध्यक्षता में एक शाही आयोग नियुक्त किया। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट फरवरी सन् १९१४ में प्रस्तुत की, जिसके *प्रमुख सुझाव निम्न प्रकार थे :—*

(१) आयोग ने स्वर्ण-विनिमय-मान को चालू रखने की सिफारिश की, क्योंकि आयोग का विचार था कि इस मान ने सन् १९०७-०८ के आर्थिक संकट का सफलतापूर्वक सामना किया था और वैसे भी इसका विकास अनेक प्रकार के प्रयोगों के पश्चात् हुआ था ।

(२) सोने के सिक्कों की ढलाई के लिए भारत में टकसाल का खोलना अनावश्यक था । इसके विपरीत भारत में बम्बई की टकसाल को रुपये देकर बराबर सोना खरीदना चाहिए ।

(३) स्वर्णमान निधि में वृद्धि होनी चाहिए और इन कोषों को लन्दन में ही रखा जाना चाहिए । सिक्कों की ढलाई पर जो भी लाभ हो वह सबका सब इसी निधि कोष में जाना चाहिए ।

(४) भारत सरकार को यह गारन्टी देनी चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर, विशेष रूप से विनिमय दरों के गिरने की दशा में, वह १ शिलिंग ३$\frac{२९}{३२}$ पेंस प्रति रुपया की दर पर भारत में लन्दन पर बिल बेच देगी।

(५) पत्र-मुद्रा प्रणाली को अधिक लोचदार बना देना चाहिए और स्वर्ण-मुद्रा के स्थान पर सोने के उपयोग को अधिक प्रोत्साहन मिलना चाहिए ।

(६) स्वर्णमान की रजत शाखा (Silver Branch) को बन्द कर देना चाहिए ।

अभी चैम्बरलेन आयोग की सिफारिशों को कार्यरूप देने का अवसर भी न आया था कि प्रथम महायुद्ध आरम्भ हो गया ।

प्रथम महायुद्ध और भारतीय चलन—

युद्ध के आरम्भ में अन्य देशों की भाँति *भारतीय मुद्रा-प्रणाली पर युद्धकाल की परिस्थितियों का जो असर पड़ा तथा बिगड़ती हुई दशा के सुधार के लिए सरकार द्वारा जो प्रयत्न किये गये थे उनका संक्षिप्त ब्यौरा इस प्रकार है :—*

(१) भारत में भी भय की स्थिति उत्पन्न कर दी, जिसके कारण व्यापार और व्यवसायों में भारी अस्थिरता तथा अनिश्चितता आ गई । इस भयपूर्ण स्थिति के लक्षण विनिमय दरों के पतन, सेविङ्ग बैंक जमा निकालने, कागज के नोटों को रुपये के सिक्कों अथवा सोने में बदलने तथा भारत सरकार के स्वर्ण-कोषों से सोना माँगने के रूप में प्रकट हुए ।

(२) विनिमय दर के पतन को रोकने के लिए ६ अगस्त सन् १९१४ तथा २८ जनवरी सन् १९१५ के बीच भारत सचिव को ८७,०७,००० पौंड की कीमत के

प्रति परिषद् विपत्र (Reverse Council Bills)[1] बेचने पड़े। लोगों का पत्र-मुद्रा पर से विश्वास उठने लगा और १० करोड़ रुपये की कीमत के कागजी नोट कोषागार को लौटा दिये गये। लोगों ने रुपयों और सोने के सिक्कों को जमा करके रखना आरम्भ कर दिया और कागज के नोटों को रुपयें के सिक्कों और सोने में बदलने की माँग बहुत बढ़ गई। बैंकों में से भी भारी मात्रा में जमा का निकालना आरम्भ हो गया।

(३) नोटों को सोने में बदलने की माँग इतनी बढ़ गई कि पहिली और चौथी अगस्त सन् १९१४ के बीच में ही भारत सरकार को १८,००,००० पौंड की कीमत का सोना देना पड़ा। ५ अगस्त सन् १९१४ को भारत सरकार ने प्राइवेट व्यक्तियों को सोना देना बन्द करने की घोषणा कर दी। इस प्रकार कुछ काल के लिए स्वर्णमान स्थगित कर दिया गया।

(४) सन् १९१५ के अन्त तक भारत का निर्यात व्यापार फिर उन्नति करने लगा, जिसका कारण यह था कि विदेशों में अच्छी कीमतों पर भारतीय माल की माँग अधिक बढ़ गई थी। इसके विपरीत भारत के आयात व्यापार का संकुचन हुआ, क्योंकि बाहर के देश युद्धकालीन परिस्थितियों के कारण भारत को पर्याप्त मात्रा में माल भेजने में असमर्थ थे। इस प्रकार व्यापाराशेष काफी अंश तक भारत के पक्ष में हो गया।

(५) साधारण परिस्थितियों में भारत के अनुकूल व्यापाराशेष का निस्तारण विदेशों द्वारा भारत को सोना भेजकर तथा भारत सचिव द्वारा परिषद् विपत्र[2] (Council Bills) बेच कर किया जाता था, परन्तु युद्धकाल में सुरक्षा की कमी तथा यातायात सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण बहुमूल्य धातुओं के निर्यात सम्भव न हो सके। इसके विपरीत भारत सचिव की परिषद् विपत्र बेचने की क्षमता इस बात पर निर्भर होती थी कि वह भारत सरकार के लिए रुपयों की मात्रा बढ़ाने के लिए कितनी चाँदी खरीद सकता था। इस सम्बन्ध में भारत सचिव को यह कठिनाई अनुभव हुई कि युद्धकाल में चाँदी की माँग बढ़ने और उसकी पूर्ति के घट जाने के कारण चाँदी की कीमतें निरन्तर बढ़ती गईं और अन्त में ऐसी स्थिति आ गई कि १ शिलिंग ४$\frac{1}{2}$ पैंस प्रति रुपया के भाव पर भारत सचिव के लिए परिषद् विपत्र बेचना लाभदायक

---

१. प्रति परिषद् विपत्र इङ्गलैंड में स्टर्लिंग में बेचे जाते थे। इनका उद्देश्य यह होता था कि स्टर्लिङ्ग में ऋण प्राप्त करके विदेशी विनिमय बाजार में स्टर्लिङ्ग की मात्रा को बढ़ाया जाय, ताकि स्टर्लिङ्ग की पूर्ति कम होने से रुपयों में उनकी कीमत बढ़ने न पाये। यह भारत सचिव की ओर से जारी किये हुये ऋण-पत्र थे।

२. परिषद् विपत्र प्रति परिषद् विपत्र के विपरीत भारत में रुपयों के बदले में बेचे जाते थे, ताकि रुपयों की पूर्ति बढ़ाकर विनिमय बाजार में रुपये की कीमत को बढ़ने से रोका जाय।

न रह सका। अगस्त सन् १९१९ तक चाँदी की कीमत बढ़ कर ४३ पैंस प्रति औंस हो गई और दिसम्बर सन् १९१९ में तो यह बढ़ते-बढ़ते ७८ पैंस प्रति औंस तक पहुँच गई। चाँदी की कीमतों की वृद्धि के साथ-साथ परिषद् विपत्रों की बिक्री दर भी बराबर बढ़ाई गई और दिसम्बर सन् १९१९ में वह १ शिलिंग ४ पैंस प्रति रुपया कर दी गई।

(६) *उक्त स्थिति को सुधारने के लिए सरकार ने निम्न उपाय किये*—(अ) निजी व्यक्तियों द्वारा चाँदी के आयात बन्द कर दिये गये और रुपये के सिक्कों की माँग को पूरा करने के लिए सरकार ने भारी मात्रा में चाँदी खरीदी। अकेले अमरीका से ही २० करोड़ औंस चाँदी खरीदी गई। (ब) इसी काल में भारत सरकार ने एक और दो रुपए के नोट भी चालू किये तथा गिलट के और अधिक सिक्के ढाले, जिससे कि चाँदी के उपयोग में बचत की जा सके। नोटों को रुपयों में बदलने पर भी प्रतिबन्ध लगाये गये। (स) इस काल में जितने सोने का आयात हुआ उसे सरकार ने खरीद लिया। इसके आधार पर नोटों का प्रकाशन किया, जिससे नोटों के प्रचलन में भारी वृद्धि हुई। (द) युद्धकाल में स्वयं इङ्गलैंड ने भी स्वर्णमान का संचालन स्थगित कर दिया था, जिसके कारण स्टर्लिङ्ग का भी स्वर्ण में मूल्य-ह्रास हो गया था, इसलिए परिषद् विपत्रों की दर थोड़ी अधिक ऊँची रखी गई, जिससे कि स्टर्लिङ्ग के इस मूल्य-ह्रास के लिये भी गुञ्जायश हो सके। *इस प्रकार युद्धकालीन परिस्थितियों की गहरी चोट के कारण स्वर्ण-विनिमय-मान पूर्णतया टूट गया।*

बैबिंगटन-स्मिथ समिति (The Babington-Smith Committee)—

सन् १९१९ में लड़ाई तो समाप्त हो गई, परन्तु युद्धकालीन कठिनाइयां बराबर बनी रहीं। व्यापाराशेष की अनुकूलता भारत के लिए अभी तक भी काफी रही, यद्यपि युद्ध कार्यों के लिए भारतीय माल की मांग अब शेष नहीं रही थी, परन्तु शान्ति स्थापना के पश्चात् यूरोप के युद्ध विध्वंश देशों में भारतीय माल की माँग पर्याप्त मात्रा में अभी तक भी बनी रही। इस कारण चाँदी की कीमतें बराबर बढ़ती रहीं और नोटों को चाँदी में बदलना कठिन हो गया। भारत सरकार ने ऐसा अनुभव किया कि सम्पूर्ण स्थिति की जाँच करने के लिए एक और समिति नियुक्त की जाय, अतः मई सन् १९१९ में बैबिंगटन-स्मिथ की अध्यक्षता में एक नई समिति नियुक्त की गई, जिसे उसके अध्यक्ष के नाम के पीछे बैबिंगटन-स्मिथ समिति कहा जाता है।

सुझाव—

इस समिति ने १ रुपया = २ शिलिंग की विनिमय दर को स्थापित करने का सुझाव दिया। समिति का विचार था कि स्वर्ण में रुपये की कीमत २ शिलिंग के बराबर रखने से कई प्रकार के लाभ होने की आशा थी:—

(अ) चाँदी की कीमतें अभी कुछ और वर्षों तक ऊँची ही रहने का अनुमान लगाया गया था और समिति का विचार था कि ऊँची दर नियत किये बिना रुपये की सांकेतिक प्रकृति को बनाये रखना सम्भव न था।

(ब) समिति का यह भी विचार था कि एक ऊँची विनिमय दर इस कारण भी उपयुक्त थी कि उसके द्वारा कीमतों की ऊपर उठने की प्रवृत्ति रुक जायगी।

(स) गृह-खर्चों (Home Charges) में भी बचत हो जायगी।

(द) समिति का मत था कि इस नीति द्वारा भारतीय व्यापार के घटने का भय न था, क्योंकि संसार में कच्चे मालों और खाद्य पदार्थों की माँग बहुत अधिक होने के कारण ऊँची विनिमय दर पर भी भारतीय निर्यातों की अच्छी कीमत मिल सकेगी। इसके अतिरिक्त युद्धकालीन विनाश के कारण विदेशों में उत्पादन व्यय इतना ऊँचा बना रहेगा कि वे ऊँची विनिमय दर का कुछ भी लाभ नहीं उठा सकेंगे। समिति ने यह भी सुझाव दिया कि विनिमय दरों के पतन की दशा में भारत सरकार को प्रति परिषद् विपत्र बेचने चाहिए। *समिति के अन्य सुझाव निम्न प्रकार थे :—*

(१) सावरेन के बदले में रुपये देने की सरकारी जिम्मेदारी बन्द होनी चाहिए।

(२) भारत में स्वर्ण के आयात और निर्यात स्वतन्त्र होने चाहिए और सरकारी नियन्त्रण का अन्त होना चाहिए।

(३) स्वर्ण कोषों का अधिक से अधिक आधा भाग भारत में रखा जाय और शेष ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर रखा जाय।

(४) भारतीय पत्र-मुद्रा प्रणाली में लोच उत्पन्न करने के लिए देश में अनुपातिक निधि प्रणाली ग्रहण की जाय।

(५) पत्र-चलन का विश्वासाश्रित भाग कुल चलन के ६०% से अधिक नहीं रहना चाहिए।

(६) रुपये की विनिमय दर स्टर्लिङ्ग के स्थान पर स्वर्ण में नियत की जाय और भारत सरकार को भारत सचिव की आज्ञा के बिना भी प्रति परिषद् बिल जारी करने का अधिकार दिया जाय।

सर दादीबा दलाल, जो आयोग के एक मात्र भारतीय सदस्य थे, समिति के बहुमतीय विचारों से सहमत न थे। उन्होंने समिति के सामूहिक वृत्तलेख (Report) में अपने विरोधी विचार प्रकट किये, जिसमें उन्होंने भारत सचिव की चलन तथा विदेशी विनिमय नीति की कड़ी आलोचना की। उनका विचार था कि विनिमय दर स्वर्ण में १ शिलिंग ४ पैंस ही रहनी चाहिए थी और भारत में स्वर्ण विनिमय मान के स्थान पर पूर्ण स्वर्णमान स्थापित होना चाहिए था। उन्होंने बताया कि विनिमय दरों को ऊँचा उठाने का भारतीय व्यापार, उद्योग तथा समस्त आर्थिक जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ने का भय था।

परिणाम—

(१) समिति की बहुमतीय सिफारिशें भारत सचिव ने स्वीकार कर लीं और श्री दलाल के विरोध पर ध्यान नहीं दिया गया।

(२) सन् १९२० के भारतीय मुद्रण (संशोधन) एक्ट के अनुसार भारत सावरेन को १०) की दर पर विधि-ग्राह्य घोषित कर दिया गया।

(३) परन्तु समिति की रिपोर्ट के प्रकाशित होते ही लन्दन को विप्रेष भेजने की माँग एक दम बढ़ गई। भारत सरकार ने विनिमय दर को १ रुपया = २ शिलिंग पर बनाए रखने का प्रयत्न किया, परन्तु इससे सरकार को भारी हानि हुई और प्रयत्न सफल न हो सका।

(४) ब्रिटिश सरकार ने डालर और स्टर्लिंग की विनिमय दर पर से नियन्त्रण उठा लिया और क्योंकि बाजार में चाँदी की कीमत २ शिलिंग सोने से अधिक थी, सरकार ने बाजारी दर पर प्रति परिषद विपत्र बेच कर विनिमय दर को स्थिर रखने का प्रयत्न किया, परन्तु सट्टे के विकास तथा सरकारी और वास्तविक दर के अन्तर के कारण प्रति परिषद विपत्रों की माँग इतनी अधिक हो गई कि उनकी सरकारी तथा बाजारी दर में भारी अन्तर हो गया। इसके कारण मुद्रा बाजार में अत्यधिक उथल-पुथल होने लगी।

(५) भारतीय आयात व्यापारियों ने विदेशों से माल मँगाने के भारी आदेश भेजे, जिससे प्रति परिषद विपत्रों की माँग और भी बढ़ गई।

(६) निर्यात व्यापार का भारी संकुचन हुआ और भारत का व्यापाराशेष प्रतिकूल हो गया। इसके कारण तुरन्त ही विनिमय दरें नीचे गिर गईं और जून सन् १९२० के अन्त तक वे १ शिलिंग ८ पैंस पर आ गईं। कुछ समय तक भारत सरकार ने विनिमय दर को २ शिलिंग (स्टर्लिंग) पर बनाये रखने का प्रयत्न किया, परन्तु इससे सरकारी कोषागार को और भी हानि हुई। भारतीय जनता की ओर से इस प्रकार देश के साधनों का अपव्यय करने के विरुद्ध काफी आन्दोलन किया गया। भारत सरकार भी ५·३ करोड़ पौंड की कीमत के प्रति परिषद् विपत्र बेच चुकी थी, परन्तु विनिमय दर स्थिर नहीं हो सकी थी। भारत सरकार ने विनिमय दर को ऊपर चढ़ाने के लिए मुद्रा-संकुचन का भी प्रयत्न किया, परन्तु यह प्रयोग भी असफल रहा। जब सभी प्रयत्न असफल रहे तो सरकार ने विनिमय दर के नियन्त्रण की नीति ही छोड़ दी और उसका स्वतन्त्र निर्धारण होने दिया। जून सन् १९२० तक विनिमय दर गिर कर १ शिलिंग ५ पैंस रह गई।

(७) वैधानिक दृष्टिकोण से तो विनिमय दर २ शिलिंग ही बनी रही, परन्तु सितम्बर सन् १९२० के पश्चात् यह वैधानिक दर कभी भी सप्रभाविक न रह सकी। सन् १९२३ से परिस्थितियों ने दूसरा ही रुख पलटा और विनिमय दर बढ़ कर १ शिलिंग ४ पैंस (स्टर्लिङ्ग) हो गई। अक्टूबर सन् १९२४ में यह बढ़ कर १ शिलिंग ६ पैंस (स्टर्लिङ्ग) अथवा १ शिलिंग ४ पैंस (स्वर्ण) हो गई। इस काल से मार्च सन् १९२६ तक विनिमय दर ऊपर को ही चढ़ती रही। इसी बीच में सन् १९२५ में इङ्गलैण्ड ने स्वर्णमान ग्रहण करके स्टर्लिङ्ग और स्वर्ण की कीमतों में

समानता उत्पन्न कर दी थी और तब से रुपये की कीमत निरन्तर १ शिलिंग ६ पैंस के आस-पास ही बनी रही। संसार की आर्थिक दशाओं में भी अधिक निश्चितता और स्थिरता उत्पन्न हो गई। वास्तविकता यह है कि सन् १९१९ और सन् १९२५ के बीच का काल समायोजन का काल था। इस काल में युद्धकालीन वैभव का अन्त होने के पश्चात् मन्दी का आना आवश्यक था और अन्त में आर्थिक जीवन की सामान्यता एक एक बार फिर स्थापित हो गई। भारत सरकार ने बहुत समझ से काम नहीं लिया था और उसकी मौद्रिक नीति के कारण देश को अधिक हानि हुई थी।

वास्तव में भारत सरकार ने जल्दी में बैबिंगटन स्मिथ-समिति की सिफारिशों को स्वीकार करने में भारी भूल की थी। जिस समय समिति की सिफारिशों को कार्य-रूप दिया गया था, संसार की आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ बहुत ही अनिश्चित थीं। सरकारी नीति के फलस्वरूप व्यापारी तथा व्यवसायी वर्ग को भारी हानि हुई। "एक ऐसी नीति ने, जिसका उद्देश्य विनिमय दरों की स्थिरता थी, एक आरोग्य अर्थ-व्यवस्था में विनिमय दरों के भारी उच्चावचन उत्पन्न कर दिये, व्यापार में उथल-पुथल पैदा की, सरकार को भारी आर्थिक हानि पहुँचाई और सैकड़ों बड़े बड़े व्यापारियों का दिवाला निकाल दिया।"

QUESTIONS

1. Give an account of the working of Gold Exchange Standard in India. (Agra, B. Com, 1950)
2. Describe briefly the history of Indian Currency from the closing of the mint till 1914. (Agra, B. Com., 1949)
3. Describe the main features of the Gold Exchange Standard. Trace the circumstances that led to its adoption. Indicate the causes of its break down during the first World War. (Raj., B. Com., 1952)
4. Examine critically the working of the Gold Exchange Standard in India before the first World War. (Agra, B. Com., 1957)
5. Give a critical estimate of the findings of the Fowler Committee. (Sagar, B. Com., 1950)

अध्याय २८

भारतीय चलन का इतिहास (क्रमशः)

(सन् १६२५-३६)

(The History of Indian Currency Contd.)

प्रारम्भिक—

प्रथम महायुद्ध के बाद का काल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारी आर्थिक अस्थिरता और अनिश्चितता का काल था। वह संक्रान्ति काल (Transitional Period) था, जिसमें युद्ध-कालीन अर्थ-व्यवस्था शान्ति-कालीन अर्थ-व्यवस्था में बदल रही थी। संसार की आर्थिक दशाओं के विषय में किसी भी प्रकार का निश्चित अनुमान सम्भव न था। इस कारण भारत सरकार ने २ शिलिंग प्रति रुपया की विनिमय दर स्थगित करके अच्छा ही किया था। रुपए को अपनी सही विनिमय दर ढूंढ़ने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया गया। साथ ही, युद्ध-काल में स्टर्लिंग का स्वर्ण सम्बन्ध टूट गया था और इङ्गलैंड द्वारा मुद्रा-विस्तार के कारण स्टर्लिंग की कीमत गिर गई थी। सन् १६२५ के अन्त तक इङ्गलैंड ने स्वर्णमान फिर ग्रहण कर लिया था। इसके कारण रुपए की कीमत स्टर्लिंग तथा स्वर्ण दोनों में समान ही हो गई, अर्थात् १ शिलिंग ६ पेंस के बराबर हो गई थी। संसार की आर्थिक दशाओं में भी स्थिरता आ गई थी। संक्रान्ति-काल समाप्त हो चुका था और युद्धोत्तर कालीन उद्धार (Recovery) ने काफी उन्नति कर ली थी। भारत सरकार ने भी ऐसा अनुभव किया कि ऐसी दशा में रुपये की नई स्थिति के निर्धारण की आवश्यकता थी।

हिल्टन-यङ्ग आयोग (The Hilton-Young Commission)—

सन् १६२५ के अन्तिम काल में श्री हिल्टन-यंग की अध्यक्षता में एक नया शाही आयोग नियुक्त किया गया। इसका *उद्देश्य* :—"भारतीय चलन और विनिमय प्रणाली तथा व्यवहार की जांच करना और उस पर अपना मत प्रकट करना था।" आयोग ने सम्पूर्ण मौद्रिक तथा विदेशी विनिमय प्रणाली की विस्तृत जाँच करके जुलाई सन् १६२६ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। यह एक बहुमतीय रिपोर्ट थी, क्योंकि आयोग के एक मात्र भारतीय सदस्य श्री पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास इससे सहमत न थे। *रिपोर्ट की प्रमुख सिफारिशें* निम्न प्रकार थीं :—

(१) अब तक भारत सरकार जिस स्वर्ण-विनिमय-मान को चला रही थी वह समाप्त होना चाहिए और चलन के प्रति जनता का विश्वास प्राप्त करने के लिये मुद्रा का स्वर्ण से ऐसा सम्बन्ध स्थापित होना चाहिए जो वास्तविक और

प्रदृश्य (Visible) हो। इस उद्देश्य से स्वर्ण पाटमान को ग्रहण करना उपयुक्त होगा। इस मान की विशेषताएँ निम्न प्रकार होती हैं :—

(अ) सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता है।

(ब) मुद्रा-संचालक का यह उत्तरदायित्व होता है कि वह नियत कीमतों पर असीमित मात्रा में सोना खरीदे और बेचे।

(स) सरकार प्रत्येक व्यक्ति को अपरिमित मात्रा में नोटों के बदले में सोना देने की गारन्टी देती है।

(द) इस सम्बन्ध में कोई भी शर्त नहीं लगाई जाती है कि मुद्रा-संचालक से सोना किस उद्देश्य के लिए खरीदा जायगा।

(२) रुपए तथा स्टर्लिङ्ग अथवा रुपये और स्वर्ण की विनिमय दर को १ शिलिंग ६ पैंस पर स्थिर रहना चाहिए।

(३) भारत में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना होनी चाहिए, जिसका प्रमुख कार्य देश में चलन और साख पर नियन्त्रण रखना हो तथा जो रुपए की विदेशी विनिमय दर का भी प्रबन्ध करे। इस बैंक के कार्य निम्न होंगे :—

(अ) इसे २५ वर्ष के लिए नोट निर्गमन का एकाधिकार होगा।

(ब) बैंक के द्वारा निकाले हुए नोट अपरिमित विधि-ग्राह्य होंगे और उन पर भारत सरकार की गारन्टी होगी।

(स) वर्तमान नोट तो रुपयों में परिवर्तनीय रहेंगे लेकिन जनता को आगे के लिए नए नोटों के बदले में रुपये के सिक्के प्राप्त करने का वैधानिक अधिकार न होगा। इसके विपरीत मुद्रा-संचालक के रूप में केन्द्रीय बैंक का यह कर्त्तव्य होगा कि वह नोटों को विधि-ग्राह्य मुद्रा अर्थात् छोटी कीमतों के नोटों और रुपयों के सिक्कों में बदल दे।

(४) अब तक स्वर्णमान निधि तथा पत्र-चलन निधि को अलग-अलग रखने की जो प्रथा थी वह समाप्त की जाय और इन दोनों कोषों को मिला कर एक कर दिया जाय। इस निधि में स्वर्ण तथा स्वर्ण प्रतिभूतियाँ ४०% से कम नहीं हों और बाकी ६०% भारत सरकार की रुपये प्रतिभूतियों में तथा व्यापारिक बिलों में होना चाहिए।

(५) भारत सरकार द्वारा एक रुपये के जो नोट निकाले गये थे उनका केन्द्रीय बैंक अर्थात् रिजर्व बैंक द्वारा पुनः निर्गमन होना चाहिए।

(६) देश में निश्चित असुरक्षित नोट निर्गम प्रणाली (Fixed Fiduciary System) के स्थान पर *आनुपातिक पद्धति (Proportional Reserve System) अपनाने की सिफारिश की थी।*

ये आयोग के बहुमत की सिफारिशें थीं। *श्री पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास,* जो *आयोग के एक सदस्य थे, इनसे सहमत नहीं थे। उनका विरोध दो बातों के विषय*

में था :—(१) उनका मत था कि देश में खण्डवान स्वर्ण विनिमय-मान के स्थान पर पूर्ण स्वर्णमान स्थापित किया जाय, जिसमें सोने के सिक्के प्रचलन में हों। (२) वे चाहते थे कि विनिमय दर १ शिलिंग ६ पेंस के स्थान पर १ शिलिंग ४ पेंस होनी चाहिये। उनका तर्क इस बात पर आधारित था कि १ शिलिंग ६ पेंस की विनिमय दर अवास्तविक थी, क्योंकि यह उस सम्पन्नता के कारण स्थापित हुई थी जो एक कृषि प्रधान देश होने के कारण भारत में लगातार चार अच्छी फसलों के होने से उत्पन्न हो गई थी, परन्तु यह सम्पन्नता बहुत समय तक बनी नहीं रह सकती थी। यदि फसलें अच्छी न हुईं तो रुपये का अतिमूल्यन होने का भय था, जिसका भारत पर बुरा प्रभाव पड़ना आवश्यक था। श्री ठाकुरदास का यह भी मत था कि क्योंकि आयोग की सुझाई हुई दर वास्तविक न थी, देश के उद्योगों को उसके अनुसार समायोजन करना आवश्यक था और यह कार्य काफी दुखदाई तथा कठिन होता है। ऊँची दर के कारण विदेशी स्पर्धा के बढ़ने और देश के उद्योग-धन्धे ठप्प हो जाने, बेरोजगारी फैलने और देश के सोने का निर्यात होने का भी भय था।

आयोग के बहुमतीय सुझाव भारतीय धारा-सभा ने स्वीकार कर लिए और मार्च सन् १९२७ में करेंसी बिल पास कर दिया गया। इस बिल ने विनिमय दर को १ शिलिंग ६ पेंस नियत किया। इसने भारत सरकार का यह भी उत्तरदायित्व रखा कि वह प्रत्येक बेचने वाले से २१ रुपया ७ आना १० पाई प्रति तोला की दर से सोना खरीदे और इसी प्रकार ४०-४० तोले की छड़ों में प्रत्येक खरीदने वाले को सोना बेचे। सोना बेचने के बदले में सरकार ऐसा भी कर सकती थी कि विदेशी व्यापार के लिए १ शिलिंग ६ पेंस की दर पर विदेशी विनिमय प्रदान कर दे। साथ ही साथ सावरेन तथा अर्द्ध-सावरेन का, जिन्हें पहले विधि-ग्राह्य घोषित किया था, विमुद्रीकरण (Demonetisation) कर दिया गया। इस प्रकार *आरम्भ में भारत सरकार ने आयोग के सुझावों को केवल विनिमय दर तथा स्वर्ण-पाटमान के सम्बन्ध में ही स्वीकार किया। रिजर्व बैंक की स्थापना के प्रश्न को कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया गया।*

विनिमय दर सम्बन्धी वाद-विवाद—

विनिमय दर के प्रश्न ने एक लम्बे वाद-विवाद को जन्म दिया। यह वाद-विवाद आयोग की सिफारिशों के प्रकाशित होते ही आरम्भ हो गया था और दूसरे महायुद्ध के बाद तक भी चलता रहा था। सन् १९२७ में भारत सरकार के वित्त-सदस्य *सर बासिल ब्लैकेट (Sir Basil Blackett) ने १ शिलिंग ६ पेंस की विनिमय दर के पक्ष में निम्न तर्क रखे थे* :—

(१) यह कि इस दर पर रुपया पिछले दो वर्षों से स्थिर था, जिससे स्पष्ट था कि यही प्राकृतिक दर थी, जो भारत तथा संसार की आर्थिक दशाओं के समायोजन ने उत्पन्न की थी।

(२) यह कि कीमतों, उत्पादन व्यय और लगभग सारी ही अर्थ-व्यवस्था का इस दर से समायोजन हो चुका था। इस कारण इसमें परिवर्तन करने की दशा में फिर से समायोजन की आवश्यकता पड़ेगी, जिससे उद्योग और व्यवसायों को कठिनाई होगी।

(३) यह कि केन्द्रीय और प्रान्तीय (राज्य) बजट इस दर के आधार पर पहले से ही बनाये जा चुके थे। दर को बदलने का अर्थ था कि बजटों का सन्तुलन भंग हो तथा बजटों के घाटों को पूरा करने के लिए और अधिक करारोपण की आवश्यकता पड़े।

(४) यह कि यदि १ शिलिंग ४ पेंस की दर स्वीकार की गई तो दूसरे देशों की तुलना में भारत में कीमतें नीची हो जायेंगी, जिन्हें ऊपर उठाने के लिए मुद्रा-प्रसार आवश्यक हो जायगा।

(५) यह कि क्योंकि १ शिलिंग ४ पेंस की दर कृत्रिम होगी, इसका बनाये रखना केवल मुद्रा-प्रसार द्वारा ही सम्भव होगा, जिससे श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी घटेगी और औद्योगिक अशान्ति फैलेगी।

सरकारी दृष्टिकोण के विरुद्ध गैर-सरकारी वर्गों ने भी बहुत से तर्क रखे। इनमें से मुख्य-मुख्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) यह कि पिछले २० वर्षों से रुपए की कीमत १ शिलिंग ४ पेंस पर बनी हुई थी।

(२) यह कि भारत में सन् १९२६ तथा सन् १९१४ के तुलनात्मक कीमत-स्तर समान ही थे। इससे स्पष्ट था कि सन् १९२७ में भी सन् १९१४ की भाँति विनिमय दर १ शिलिंग ४ पेंस ही रहनी चाहिए।

(३) १ शिलिंग ६ पेंस की दर कृत्रिम थी और पिछले २ वर्षों की चार अच्छी फसलों पर आधारित थी और कीमतों, उत्पादन व्यय तथा आर्थिक जीवन का अभी तक इसी दर से समायोजन नहीं हो पाया था।

(४) इस नीति का परिणाम यह होगा कि सरकार ने विवेचनात्मक उद्योग संरक्षण (Discriminating Protection) की जो नीति अपनाई है उसका आर्थिक जीवन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ पायेगा, क्योंकि ऊँची विनिमय दर एक प्रकार विदेशी उद्योगपतियों के लिए आर्थिक सहायता होगी, अतः विदेशी स्पर्धा के कारण देश के उद्योग नष्ट हो जायेंगे।

(५) क्योंकि भारतीय निर्यातों की कीमत उसके आयातों की कीमत से अधिक थी, ऊँची दर के ग्रहण करने से यह स्थिति बदल जायगी और देश को हानि होगी।

(६) १ शिलिंग ६ पेंस की नई दर को बनाए रखने के लिए पर्याप्त मुद्रा-संकुचन की आवश्यकता पड़ेगी, जिसके कारण मजदूरी, उत्पादन तथा आर्थिक उन्नति का वेग कम हो जायगा।

(७) संसार में सोने की कीमतों के नीचे गिरने की सम्भावना के कारण १ शिलिंग ६ पेंस की दर को बनाए रखना कठिन होगा।

(८) इस बात का अधिक भय था कि इस दर को केवल स्वर्ण का निर्यात करके ही स्थिर किया जा सकता था और इस प्रकार देश के स्वर्ण कोषों में भारी कमी की आशंका थी।

(९) ऊँची विनिमय दर का अभिप्राय एक प्रकार का अदृश्य मुद्रा-प्रसार होता है, जो परोक्ष और अदृश्य करारोपण होगा।

जैसा कि पीछे बताया जा चुका है कि *सरकार ने गैर-सरकारी दृष्टिकोण पर ध्यान नहीं दिया और मार्च सन् १९२७ में ही एक बिल के द्वारा १ शिलिंग ६ पैंस विनिमय दर को लागू कर दिया। तब से दिखाने को तो यह दर स्थिर रही थी, परन्तु वास्तव में इसे बनाये रखने के लिए अधिक मात्रा में मुद्रा-संकुचन किया गया था और मुद्रा-बाजार को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। दर को बनाये रखने के लिए भारत सरकार को स्टर्लिङ्ग ऋण भी लेना पड़ा था।*

भारत में स्वर्ण-पाट-मान
(सन् १९२७ से सन् १९३१ तक)

हिल्टन-यङ्ग आयोग ने भारत के सम्बन्ध में लगभग सभी मौद्रिक मानों की जाँच की थी। आयोग को स्वर्ण-विनिमय-मान, स्टर्लिङ्ग-विनिमय-मान, स्वर्ण-मान मुख्य तथा स्वर्ण-पाट-मान में से किसी एक को चुनना था। *सभी मानों के गुण और दोषों की जाँच करने के पश्चात् आयोग ने स्वर्ण-पाट-मान के ग्रहण करने का सुझाव दिया था।*

स्वर्ण-विनिमय-मान के सम्बन्ध में आयोग का विचार था कि यद्यपि यह मान स्वर्ण में रुपये की कीमत की स्थिरता ला सकता था, परन्तु इसमें कई गम्भीर दोष थे :—

(i) इसकी कार्य-विधि जटिल थी और जन-साधारण की समझ से परे थी।

(ii) इस प्रणाली में मुद्रा का विस्तार तथा संकुचन मौद्रिक कारणों द्वारा स्वयं ही नहीं हो जाता था, उसे परिषद् तथा प्रति परिषद् विपत्रों के क्रय-विक्रय द्वारा घटाया-बढ़ाया जाता था।

(iii) इस प्रणाली में लोच का अभाव था और यह विनिमय दरों के लिए प्राकृतिक सुधारक (Curatives) उपलब्ध नहीं करती थी।

(iv) इस प्रणाली में मुद्रा और साख के नियन्त्रण की विभाजित जिम्मेदारी थी, जिससे यह कार्य ठीक प्रकार से नहीं होने पाता था।

(v) रिजर्व किसी एक जगह न रखा जाने से यह प्रणाली व्ययपूर्ण और अदूरदर्शी थी। यद्यपि इस प्रणाली में सोने का उपयोग कुछ मितव्ययिता के साथ होता था तथापि फिर भी बहुत सा सोना व्यर्थ बँधा पड़ा रहता था।

(vi) यह प्रणाली रुपये के मूल्य में स्थिरता लाने में असफल रही है।

(vii) यह प्रणाली इङ्गलैण्ड पर निर्भर है, जिससे उस देश के परिवर्तनों का प्रभाव भारत पर भी पड़ता था।

इसी प्रकार आयोग ने स्टर्लिङ्ग-विनिमय की भी जाँच की, परन्तु आयोग इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि यह भी देश के लिये उपयुक्त नहीं है। उस प्रणाली के अन्तर्गत मुद्रा अधिकारी रुपयों को स्टर्लिङ्ग के बदले बेचते हैं और स्टर्लिङ्ग को रुपयों के बदले खरीदते-बेचते हैं। इस तरह इसमें स्वर्ण विनिमय मान के तो सब दोष विद्यमान हैं ही किन्तु साथ में यह प्रणाली इङ्गलैण्ड की मुद्रा-प्रणाली पर अपेक्षतः अधिक निर्भर थी, जिससे यह भारत के लिये अधिक हानिकारक प्रमाणित हो सकती है।

स्वर्णमान मुख्य के विरुद्ध आयोग ने दो तर्क रखे थे :—(i) यह कि भारत के लिए इसके संचालन हेतु पर्याप्त मात्रा में स्वर्ण प्राप्त करना लगभग असम्भव था। (ii) इसमें यह भय था कि स्वर्ण में चाँदी की कीमतें गिरेंगी, जिसके कारण भारतवासियों को भारी हानि होगी, क्योंकि उनके रजत कोषों की कीमत रखे-रखे गिर जायगी।

इन सभी कारणों से आयोग ने स्वर्ण-पाट-मान की स्थापना का सुझाव दिया। यहाँ पर यह कहना असंगत न होगा कि यद्यपि हिल्टन-यङ्ग आयोग ने स्वर्ण-विनिमय-मान को समाप्त करने और भारतीय रुपये का प्रत्यक्ष रूप में स्वर्ण से सम्बन्ध स्थापित करने का सुझाव दिया था, परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं किया गया था। अब भी रुपये का सम्बन्ध विदेशी मुद्राओं से स्वर्ण के स्थान पर स्टर्लिङ्ग के माध्यम से ही बना रहा था। यहाँ तक कि जब स्टर्लिङ्ग का स्वर्ण में अवमूल्यन भी हो गया तो रुपए और स्टर्लिङ्ग की विनिमय दर ज्यों की त्यों बनी रही। चूंकि वास्तव में कमीशन की सिफारिशों के अनुसार जनता को सोना तो नहीं मिला वरन् स्वर्ण मिलना या स्टर्लिङ्ग मिलना सरकार की मर्जी पर निर्भर था, इसलिये इसे स्वर्ण-पाट-मान न कह कर स्टर्लिङ्ग विनिमय मान कहना अधिक उपयुक्त न होगा। इस प्रकार जिस स्टर्लिङ्ग विनिमय मान को दोषयुक्त बता कर कमीशन ने रद्द कर दिया था उसी को दूसरे शब्दों में अपनाया गया।

प्रत्यक्ष स्टर्लिंग विनिमय मान
(सन् १९३१ से सन् १९४७ तक)

भारत में स्टर्लिङ्ग विनिमय-मान की प्रत्यक्ष रूप से स्थापना—

सन् १९२७ और सन् १९२८ के वर्ष भारत तथा अन्य देशों के लिए आर्थिक

स्थिरता और सन्तुलन के वर्ष थे, परन्तु सन् १९२९ के अन्तिम महीनों में विश्वव्यापी अवसाद (Depression) आरम्भ हुआ। इस मन्दी का सबसे बुरा प्रभाव कृषक देशों पर पड़ा। भारत में इसके दुष्परिणाम सन् १९३० में प्रथम बार दृष्टिगोचर हुए। भारतीय निर्यातों में कमी होने लगी और उसके व्यापाराशेष की अनुकूलता घटने लगी। इस कारण विनिमय दर की स्थिरता को बनाये रखना कठिन हो गया। सन् १९३३ के मध्यकाल तक यूरोप के देशों की आर्थिक अवस्थाएं अधिक बिगड़ गई थीं। जिन विदेशियों ने भारतीय कोषागार विपत्रों में अपना रुपया लगा रखा था उन्होंने उसे वापस लेना आरम्भ कर दिया। इसके कारण भारत में विदेशी मुद्राओं की माँग काफी बढ़ गई और इसके विपरीत विदेशी विनिमय बाजारों में रुपये की माँग में कमी आ गई। परिस्थितियों के रूप में २१ सितम्बर सन् १९३१ के पश्चात्, जबकि इङ्गलैण्ड ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया, और भी परिवर्तन हो गया। २२ सितम्बर सन् १९३१ को भारत सरकार ने सन् १९२७ के करेन्सी एक्ट के कार्यवाहन को स्थगित कर दिया, परन्तु इसके तीन ही दिन पश्चात् अर्थात् २५ सितम्बर सन् १९३१ को रुपये का स्टर्लिङ्ग से सम्बन्ध पुनः स्थापित कर दिया गया। भारतीय रुपये की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता समाप्त कर दी गई, क्योंकि स्टर्लिङ्ग का अब स्वर्ण से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहा था। भारत का मौद्रिक मान स्वर्ण-पाट-मान तो क्या स्वर्ण-विनिमय-मान भी न रह सका। रुपये की केवल स्टर्लिङ्ग में ही परिवर्तनशीलता रखी गई थी, इसलिए हमारा मौद्रिक मान केवल स्टर्लिङ्ग विनिमय-मान ही रह गया।

रुपये का स्टर्लिंग से जो सम्बन्ध जोड़ा गया था उसके पक्ष-विपक्ष में इस प्रकार तर्क दिये गये थे :—

पक्ष में—

(i) इससे विनिमय दर में बहुत घट-बढ़ न हो पावेगी, जिससे विदेशी व्यापार को लाभ पहुँचेगा ;

(ii) इङ्गलैंड में स्वर्णमान टूट गया था और स्टर्लिंग का अन्य स्वर्णमान वाले देशों की मुद्राओं के सम्बन्ध में अवमूल्यन हो गया था। यदि रुपये का स्टर्लिंग से सम्बन्ध रखा गया, तो रुपये का अवमूल्यन भी करना पड़ेगा, जिससे विदेशी व्यापार को लाभ होगा ; तथा

(iii) भारत को प्रति वर्ष इङ्गलैंड एक बड़ी राशि गृह खर्चों के रूप में भेजनी पड़ती है। इस दृष्टि से भी रुपये और स्टर्लिंग का गठबन्धन लाभप्रद रहेगा।

विपक्ष में—

(i) इस गठबन्धन से भारत सदा के लिए राजनैतिक दासता के साथ-साथ आर्थिक पराधीनता में भी फँस जायगा, क्योंकि स्टर्लिंग के मूल्य के परिवर्तनों के साथ-साथ रुपये के मूल्य में भी परिवर्तन हुआ करेंगे।

(ii) स्वर्णमान देशों से आयात का हमें अधिक मूल्य चुकाना पड़ेगा, क्योंकि स्टर्लिंग का ३०% अवमूल्यन हो गया है।

(iii) इस गठबन्धन के कारण रुपये का स्वर्ण मूल्य कम हो जायेगा, जिससे भारत से स्वर्ण का भारी मात्रा में निर्यात होने लगेगा। ऐसा ही वास्तव में हुआ भी।

(iv) यह गठबन्धन हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशों के विरुद्ध था। कमीशन रुपये को किसी भी विदेशी मुद्रा से गठबन्धित करने के पक्ष में न था।

सन् १९३१ और सन् १९३९ के मध्य मुद्रा प्रणाली के क्षेत्र में जो अन्य घटनायें हुई वे संक्षेप में इस प्रकार हैं :—

(१) विनिमय नियन्त्रण—स्वर्णमान के स्थगित करने का तत्काल परिणाम यह हुआ कि स्वर्ण में स्टर्लिंग की कीमत घटने लगी और साथ ही साथ भारतीय रुपये का स्वर्ण मूल्य भी तेजी के साथ गिरने लगा। इस *मूल्य पतन को रोकने के लिए भारत सरकार ने विनिमय नियन्त्रण लागू कर दिया।* इसका परिणाम यह हुआ कि कोई भी व्यक्ति भारत के साथ विदेशी विनिमय व्यवसाय केवल भारत सरकार द्वारा ही कर सकता था। भारत में विनिमय-नियन्त्रण का प्रमुख उद्देश्य विनिमय दरों में होने वाले सट्टे को रोकना था, *परन्तु अनुभव से यह सिद्ध हुआ कि विनिमय नियन्त्रण अनावश्यक था और इसलिए जनवरी सन् १९३२ के अन्त तक इसे समाप्त कर दिया गया।* वास्तविकता यह है कि सितम्बर सन् १९३१ और मार्च सन् १९३८ के बीच रुपया स्टर्लिंग विनिमय दर में साधारणतया काफी स्थिरता रही थी। केवल सन् १९३८ में कुछ उथल-पुथल हुई थी। अन्त में सन् १९३९ में दूसरे महायुद्ध के आरम्भ हो जाने पर भारत सरकार ने देश में कड़ा विनिमय नियन्त्रण लागू कर दिया, जिसके फलस्वरूप देश में भारी मुद्रा-प्रसार के फैलने पर भी विनिमय दर की स्थिरता बराबर बनी रही।

(२) स्वर्ण-निर्यात—इसका अर्थ यह नहीं है कि सन् १९३८ तक विनिमय दर की स्थिरता का कारण यह था कि १ शिलिंग ६ पेंस को विनिमय दर समुचित तथा वास्तविक थी। यथार्थ में सन् १९३१ और सन् १९३८ के बीच के काल में इस विनिमय दर को ग्रहण करने की बुद्धिहीनता पूर्ण रूप से स्पष्ट हुई थी। इस स्थिरता का प्रमुख कारण यह था कि भारत बराबर भारी मात्राओं में सोने का निर्यात कर रहा था, क्योंकि :—

(i) महान् अवसाद (The Great Depression) के काल में हमारे व्यापाराशेष की अनुकूलता पहले ही कम हो गई थी। केवल इसी के कारण विनिमय दरों की स्थिरता को बनाये रखना कठिन हो सकता था, यदि वस्तुओं के निर्यात की कमी स्वर्ण निर्यात द्वारा पूरी न की जाती ;

(ii) सन् १९३१ के मध्य में सोने का भाव २१ रुपये १३ आने ३ पाई प्रति तोला था, जो उसी वर्ष के अन्त तक २९ रुपए २ आने हो गया था। सोने की

कीमतों के बढ़ने के कारण लोगों ने उसे संचित कोषों तथा जेवरात में से निकाल कर बेचना आरम्भ कर दिया ;

(iii) इसके अतिरिक्त अवसाद के काल में कीमतों के गिरने के कारण देश में उत्पादकों और व्यापारियों को काफी हानि हुई थी और उनके पास पैसे की कमी थी। इस कमी को उन्होंने भी सोना बेच कर पूरा करने का प्रयत्न किया। सितम्बर सन् १९३१ और दिसम्बर सन् १९३२ के बीच लगभग ५० करोड़ रुपये का सोना देश से बाहर भेजा गया। सन् १९३५ में सोने का भाव ३५ रुपये प्रति तोला हो गया और सोने का निर्यात और भी बढ़ा। सन् १९३८ के मध्य तक लगभग ३५० करोड़ रुपये का सोना भारत से बाहर चला गया था। इस प्रकार विदेशी सरकार की घृणित तथा बुद्धिहीन नीति के कारण भारतीय जनता की युगों की कमाई कुछ ही वर्षों में समाप्त हो गई।

यह ऐसा समय था जबकि संसार का प्रत्येक देश सोने का संचय करने में लगा हुआ था, परन्तु भारत सरकार सोने का निर्यात करके ही प्रसन्न थी। भारतीय जनता की सोने के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने की प्रार्थना ठुकराई जाती थी और उत्तर में यह कहा जाता था कि (i) सोने का निर्यात इसलिए हो रहा था कि एक ओर तो भारतवासियों के पास सोना बहुत था और दूसरी ओर उन्हें उसकी अच्छी कीमत मिल रही थी ; (ii) स्वर्ण निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा देने से कृषकों को बहुत कठिनाई उठानी पड़ती, क्योंकि स्वर्ण बेच कर ही वे अपने सङ्कट के दिनों का सामना कर सके ; (iii) देश से जितना सोना बाहर गया, स्टर्लिंग की पूर्ति में उतनी ही वृद्धि हो गई, जिससे देश अपने स्टर्लिंग दायित्वों को सरलता से चुका सका ; (iv) स्वर्ण के निर्यात द्वारा भारतीय विदेशों से अधिक वस्तुएँ खरीदने में समर्थ हो गया और इस प्रकार देश का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पहले से काफी बढ़ गया ; (v) स्वर्ण को बेच कर लोगों ने अपना संचित धन व्यापार में लगाया, जिससे देश का आर्थिक विकास हुआ।

इस काल में भारत सरकार ने सोने को स्वयं खरीदने का काम भी नहीं किया, क्योंकि इसका वैधानिक मूल्य २१ रु० ३ आने १० पा० था, जबकि बाजार मूल्य बढ़ता ही जा रहा था। सरकार इस अन्तर के आधार पर सोना स्वयं खरीद कर 'सट्टा' करने को तैयार न थी। स्वर्ण-पाट-मान तथा १ शिलिंग ६ पैंस की विनिमय दर ने, जिसे हमने स्थिर रखने का प्रयत्न किया था, हमें कितने सुन्दर फल प्रदान किये थे।

स्वर्ण-निर्यात के विरोध में जन-नेताओं के तर्क इस प्रकार थे:—(i) स्वर्ण के निर्यात से देश के स्वर्ण साधनों का लाभहीन प्रयोग हुआ ; (ii) युगों की कमाई बाहर चली गई, जिससे स्वर्णमान अपनाना असम्भव हो गया ; तथा (iii) अन्य देश स्वर्ण का आयात करके अपने स्वर्ण साधनों को मजबूत बना रहे थे, किन्तु भारत उन्हें कमजोर बना रहा था।

(३) रिजर्व बैंक की स्थापना—हिल्टन-यङ्ग आयोग की एक सिफारिश रिजर्व बैंक की स्थापना के सम्बन्ध में थी, जिसे केन्द्रीय बैंक का रूप देने का सुझाव दिया गया था। सन् १९२७ में इसकी स्थापना को स्थगित कर दिया गया था, परन्तु केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (सन् १९३१) ने फिर इसकी स्थापना पर जोर दिया, अतः ६ अगस्त सन् १९३४ को भारत सरकार ने रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट पास किया, जिसके अनुसार १ अप्रैल सन् १९३५ को रिजर्व बैंक की स्थापना हुई। इस बैंक की स्थापना से भारतीय चलन प्रणाली में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए :—(i) नोटों की निकासी का एकाधिकार इसी बैंक को प्रदान किया गया ; (ii) पहली बार भारतीय चलन पद्धति, साख नियन्त्रण एवं मुद्रा-संचालन सभी कार्य एक ही मौद्रिक संस्था को सौंपे गये ; (iii) पत्र-मुद्रा चलन कोष, स्वर्ण कोष तथा अधिकोषण कोष इन तीनों का केन्द्रीयकरण कर दिया गया और (iv) रुपये की विनिमय दर का प्रबन्ध करने का उत्तरदायित्व केन्द्रीय बैंक को सौंपा गया।

(४) चाँदी का निर्यात—सन् १९३१ और सन् १९३९ के बीच सोने के निर्यात के साथ-साथ भारत सरकार ने भारी मात्रा में चाँदी भी विदेशों को बेची। चांदी के निर्यातों के भी कई प्रमुख कारण थे :—

(i) विदेशों में चांदी की कीमत भारत की अपेक्षा ऊँची थी।

(ii) हिल्टन-यंग आयोग की सिफारिशों पर भारत सरकार ने नोटों को रुपयों में बदलने का दायित्व हटा लिया था, जिससे रजत कोषों की अब कोई आवश्यकता नहीं रह गई थी। सरकार ने भी चाँदी के निर्यातों के विरोध का कोई प्रयत्न नहीं किया था और ३१ मार्च सन् १९३४ तक लगभग २ करोड़ औंस चाँदी बाहर भेज दी गई।

(iii) जुलाई सन् १९३३ में एक अन्तर्राष्ट्रीय रजत समझौता हुआ था, जिसके अनुसार अमरीका, आस्ट्रेलिया, कनाडा, मैक्सिको तथा पीरू की सरकारों ने प्रति वर्ष ३·५ करोड़ औंस चाँदी खरीदने का निर्णय किया था। इस प्रकार सोना ही नहीं, चाँदी भी भारत से बराबर बाहर जाती रही। इन निर्यातों के दुष्परिणाम दूसरे महायुद्ध के काल में भारत सरकार के सम्मुख आये, जबकि उसे चाँदी को फिर से खरीदने पर बाध्य होना पड़ा।

(iv) सन् १९३५ में अमरीका ने बहुत ही अधिक मात्रा में चाँदी खरीदना आरम्भ कर दिया, जिसके फलस्वरूप चाँदी की कीमतें बढ़ कर ३६$\frac{3}{4}$ पेंस प्रति औंस तक पहुँच गईं। भारत से चाँदी के निर्यात को और भी प्रोत्साहन मिला, परन्तु चाँदी की कीमतों की इस अत्यधिक वृद्धि का परिणाम यह हुआ कि चीन के लिए रजतमान का सञ्चालन कठिन हो गया और उसने भी रजतमान का परित्याग कर दिया। भारत सरकार ने भी ऐसा अनुभव किया कि संकट का समय दूर न था और उसने एक-एक रुपये के नोट छाप कर रख लिए, ताकि आवश्यकता पड़ने पर रुपयों की मांग को

पूरा करने में कठिनाई न हो, किन्तु चीन द्वारा रजतमान के परित्याग करने का परिणाम यह हुआ कि अमरीका ने भी अपनी चांदी खरीदने की नीति बदल दी और चाँदी की कीमतें फिर गिरने लगीं। भारत सरकार को एक एक रुपये के नोटों को प्रचलन में लाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। सन् १९३६ में चांदी के भाव १६ पैंस और २२ पैंस प्रति औंस के बीच रहे, परन्तु फिर भी सन् १९३९ तक चांदी का निर्यात होता ही रहा। चांदी का अधिक निर्यात हो जाने से ही भारत सरकार को द्वितीय महायुद्ध काल में चांदी का अभाव अनुभव हुआ और उसे मुद्रण के लिये चांदी खरीदनी पड़ी।

क्या भारतीय चलन पद्धति का विकास हिल्टन-यंग आयोग की सिफारिशों के अनुसार हुआ है ?—

इस प्रश्न का उत्तर थोड़ा कठिन है कि भारतीय चलन पद्धति का विकास हिल्टन-यंग आयोग की सिफारिशों के अनुसार किस अंश तक हुआ है। इसमें तो *सन्देह नहीं कि भारत सरकार ने आयोग की सभी सिफारिशें स्वीकार कर ली थीं और उनके अनुसार चलन पद्धति का संचालन करने का भी पूरा प्रयत्न किया था।*

(१) भारत में सैद्धान्तिक रूप में स्वर्ण-पाट-मान की स्थापना भी कर दी गई थी।

(२) विनिमय दर को १ शिलिंग ६ पैंस पर बनाये रखने के पीछे सरकार ने देश का सम्पूर्ण सोना-चांदी विदेशों को भेज दिया था तथा देश के आर्थिक जीवन को विदेशी स्पर्धा से बचाने का कोई महत्त्वपूर्ण प्रयत्न नहीं किया था।

(३) सन् १९३५ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना करके साख, चलन और विदेशी विनिमय के नियन्त्रण की एकाकी संस्था भी स्थापित कर दी गई। इस प्रकार सभी दिशाओं में आयोग की सिफारिशों को कार्य-रूप देने का प्रयत्न किया गया था।

परन्तु यह समझना भूल होगी कि आयोग की सिफारिशों का वास्तविक उद्देश्य पूरा हो गया था—(१) आयोग ने स्वर्णमान की स्थापना का सुझाव देकर रुपये और स्वर्ण के बीच स्पष्ट और प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने की सिफारिश की थी, परन्तु व्यवहार में भारत सरकार ने रुपये का सोने से सम्बन्ध परोक्ष रूप में स्टर्लिंग के माध्यम से ही रखा। विदेशी बाजार में रुपये को कोई स्वतन्त्र स्थिति प्राप्त न थी। उसे सभी लोग केवल स्टर्लिङ्ग के माध्यम द्वारा ही जानते थे। यही कारण है कि जिस मान को भारत में स्वर्ण-पाट-मान का नाम दिया गया था वह वास्तव में स्टर्लिङ्ग विनिमय-मान ही था, क्योंकि जब स्टर्लिङ्ग का मूल्य-ह्रास भी होता था तो तब भी रुपये और स्टर्लिङ्ग की विनिमय दर स्थिर ही रखी जाती थी। सन् १९३१ के पश्चात् तो यह मान प्रत्यक्ष रूप में ही स्टर्लिङ्ग-विनिमय-मान रह गया था। सच्चे अर्थ में भारत में स्वर्ण-पाट-मान कभी स्थापित ही नहीं हुआ था। (२) जहाँ तक विनिमय दर का प्रश्न है, आयोग ने १ शिलिंग ६ पैंस की दर को स्थापित करने तथा

उसके बनाये रखने का सुझाव अवश्य दिया था, परन्तु आयोग ने यह नहीं सोचा कि निकट भविष्य में ही इङ्गलैंड स्वर्णमान का परित्याग कर देगा। आयोग का यह भी विचार न था कि स्टर्लिङ्ग के मूल्य-ह्रास की दशा में भी रुपये और स्टर्लिङ्ग की विनिमय दर में परिवर्तन नहीं होने चाहिए। आयोग ने तो रुपये का सम्बन्ध स्वर्ण में स्थापित करने की सलाह दी थी। वह रुपये और स्टर्लिङ्ग की विनिमय दर को स्थायी रखने के पक्ष में न था। इस प्रकार भारत की चलन पद्धति यथार्थ में आयोग के सुझावों के अनुसार विकसित न हो सकी। इस प्रकार आयोग के सुझाव केवल आंशिक रूप में कार्यरूप में परिणित किए जा सके।

QUESTIONS

1. Enumerate the principal recommendations of the Hilton–Young Commission. Did the currency system of India after 1926 develop along the lines indicated in the report of the Commission ? (Agra, B. A., 1950)
2. Explain the case for 18d. exchange value of the rupee as against 12 d. exchange value. (Agra, B. Com., 1949)
3. Discuss the main recommendations of Hilton-Young Commission and indicate the extent to which the same were accepted by the Government. (Raj, B, Com., 1956)
4. Give a brief history of the Indian currency system since 1926. What difficulties were experienced during the last Great War. (Bombay, B. Com., 1951)
5. Trace the history of Indian currency system since 1926. (Agra, B. Com., 1948)

अध्याय २६

भारतीय चलन का इतिहास (क्रमशः)

(सन् १६३६—१६६०)

(The History of Indian Currency Contd.)

प्रारम्भिक—

३ सितम्बर सन् १६३६ को द्वितीय महायुद्ध की घोषणा की गई। उस समय भारत में स्टर्लिङ्ग विनिमय मान प्रचलित था। भारत की प्रामाणिक मुद्रा रुपया था और रुपए के सिक्के, अठन्नी तथा नोटों को असीमित विधिग्राह्यता प्राप्त थी। रुपए की स्टर्लिङ्ग में विनिमय दर १ रुपया = १ शिलिंग ६ पैंस थी और सरकार इस दर पर स्टर्लिङ्ग खरीदने और बेचने के लिए उत्तरदायी थी। रुपये के सिक्के, अठन्नी तथा कागज के नोटों के अतिरिक्त देश में चाँदी और गिलट की चवन्नी, दुअन्नी, इकन्नी और ताँबे के पैसे प्रचलित थे। देश का व्यापाराशेष साधारणतया अनुकूल रहता आया था। यद्यपि भारतीय रुपये को कोई स्वतन्त्र बाजार प्राप्त न था, किन्तु स्टर्लिङ्ग के माध्यम से संसार के सभी देश उससे परिचित थे। ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग होने के कारण भारत को भी मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में भाग लेना पड़ा। युद्ध में सम्मिलित अन्य देशों की भाँति भारत सरकार को भी युद्धकालीन स्थिति का सामना करने के लिए समय-समय पर देश की अर्थ-व्यवस्था में आवश्यक समायोजन करने पड़े। युद्ध के काल में देश की अर्थ-व्यवस्था में अधिक तनाव रहा। अधिक मुद्रा-प्रसार के कारण जनता को कष्ट हुआ और अविश्वास के कारण मुद्रा-प्रणाली टूटते-टूटते बची।

द्वितीय महायुद्ध में भारतीय मुद्रा-प्रणाली

ऐसा प्रतीत होता है कि युद्ध के आघात के आरम्भिक प्रभाव अर्थ-व्यवस्था के लिए हितकारी सिद्ध हुए थे। देश में उत्पादन तथा व्यापार का विस्तार हुआ, वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें बढ़ीं और वर्षों के पश्चात् कृषकों की आर्थिक दशा में सुधार दृष्टिगोचर हुआ। आरम्भ में ऐसा प्रतीत हुआ कि देश की अर्थ-व्यवस्था ने युद्ध की टक्कर को बिना किसी विशेष आतंक के सह लिया था। रुपया स्टर्लिङ्ग की विनिमय दर १ शिलिंग ६ पैंस पर ही जमी रही और इसी दर पर रिजर्व बैंक ने देश की विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारी मात्रा में स्टर्लिङ्ग खरीदा, परन्तु डालर तथा येन (Yen) में रुपए का मूल्य-पतन हो गया। ब्रिटिश सरकार ने स्टर्लिङ्ग और डालर की विनिमय दर १ पौण्ड = ४·२०३ डालर रखी और इस आधार पर रुपए तथा डालर की दर १ डालर = ३·३२ रुपया हो गई। युद्ध काल

में व्यापार की तेजी तथा कीमतों के बढ़ने के कारण चलन की माँग में काफी वृद्धि हुई। इस माँग की सन्तुष्टि के लिए सिक्कों तथा कागज के नोटों का प्रचलन बढ़ाया गया। कागज के नोटों का प्रचलन सितम्बर सन् १९३९ में १८०·६ करोड़ रुपए से बढ़ाकर जून सन् १९४५ में १,०३४ करोड़ रुपया हो गया। पत्र-मुद्रा का यह अत्यधिक विस्तार भारत सरकार ने स्टर्लिंग प्रतिभूतियों तथा कोषागार विपत्रों की सहायता से किया था।

द्वितीय महायुद्ध के भारतीय मुद्रा पर जो विशेष प्रभाव पड़े उनमें से कुछ मुख्य इस प्रकार हैं :—(१) नोटों को परिवर्तित करने की दौड़, (२) रुपए के सिक्कों का नियन्त्रित वितरण, (३) एक रुपये के नोट का प्रकाशन, (४) कम चाँदी की अठन्नी, चवन्नी व रुपए के सिक्कों का टंकन, (५) पुराने सिक्कों का प्रचलन बन्द करना, (६) नई रेजगारी का टंकन, (७) मुद्रा प्रसार व कीमतों में वृद्धि। प्रत्येक का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है :—

(१) नोटों को परिवर्तित करने की दौड़—दूसरे महायुद्ध के काल में भारतीय चलन पद्धति की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि रुपए के सिक्कों में प्रचलन से निकलने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई और एक-एक रुपये के नोट चालू किए गए। युद्ध के आरम्भ काल में पत्र-मुद्रा के प्रति जनता का विश्वास बना रहा था, परन्तु फ्राँस के पतन के पश्चात् मई और जून सन् १९४० में कागज के नोटों को रुपये के सिक्कों में बदलने की माँग बहुत बढ़ गई और क्योंकि रिजर्व बैंक का यह वैधानिक उत्तरदायित्व था कि वह नोटों के बदले में रुपये के सिक्के उपलब्ध करे, जनता ने नोटों को रुपयों में तेजी के साथ भुनाना आरम्भ कर दिया। साधारणतया नोटों को रुपयों में बदलने की माँग एक करोड़ रुपया प्रति सप्ताह से भी कम रहती थी, परन्तु मई सन् १९४० में यह एकदम ४·५ करोड़ रुपया प्रति सप्ताह तक पहुँच गई। जून सन् १९४० के प्रथम सप्ताह तक रिजर्व बैंक का संचित रुपया कोष युद्ध के आरम्भ में ७५·४७ करोड़ रुपया से घट कर केवल ३२ करोड़ रुपया रह गया। भारतीय टकसालों के लिए रुपयों के सिक्कों को उतनी तेजी के साथ ढालना असम्भव था जितनी तेजी से कि वे प्रचलन से निकल कर संचित कोषों में एकत्रित हो रहे थे, यद्यपि भारत सरकार के पास चाँदी के स्टॉकों का अभाव न था।

(२) रुपये के सिक्कों का नियन्त्रित वितरण—इस कारण १५ जून सन् १९४० को भारत सरकार ने एक अध्यादेश द्वारा रुपयों का व्यक्तिगत तथा व्यवसायिक आवश्यकता से अधिक मात्रा में जमा करना दण्डनीय बना दिया। कुछ समय तक रुपये के सिक्के की कीमत नोटों से अधिक रही और रुपये के सिक्कों और रेजगारी के छोटे-छोटे सिक्कों की भारी कमी अनुभव हुई।

(३) एक रुपये के नोट का प्रकाशन—इस परिस्थिति का सामना रिजर्व बैंक ने एक रुपये का नोट निकाल कर किया, जिसे अपरिमित विधि-ग्राह्य घोषित

किया, परन्तु इसे चाँदी के रुपयों में बदलने का किसी भी प्रकार का उत्तरदायित्व न था।

(४) कम चाँदी की चवन्नी, अठन्नी व रुपये के सिक्कों का मुद्रण—चाँदी के उपयोग में बचत करने का दूसरा उपाय भारत सरकार ने यह किया कि सभी चाँदी के सिक्कों की प्रमाणित शुद्धता (Fineness) में कमी कर दी। अप्रैल सन् १९४० में केन्द्रीय धारा सभा ने भारत सरकार को यह अधिकार प्रदान किया कि वह चवन्नी की शुद्धता $\frac{११}{१२}$ से घटा कर $\frac{१}{२}$ कर दे। तत्पश्चात् २६ जुलाई सन् १९४० को अठन्नी की शुद्धता भी $\frac{११}{१२}$ से घटा कर $\frac{१}{२}$ कर दी गई। २३ दिसम्बर सन् १९४० को यह कमी रुपये के सिक्के पर भी लागू कर दी गई। ये सभी उपाय इसलिए किये गये थे कि भारत सरकार चाँदी के प्रस्तुत स्टॉकों से अधिक काम लेना चाहती थी।

(५) पुराने सिक्कों का प्रचलन बन्द करना—सरकार ने चाँदी के पुराने रुपयों का प्रचलन भी बन्द कर दिया। ११ अक्टूबर सन् १९४० को एक आदेश निकाला गया, जिसके द्वारा महारानी विक्टोरिया के छापे के रुपयों और अठन्नियों का विमुद्रीकरण कर दिया गया तथा सरकार ने १ अप्रैल सन् १९४१ तक उन्हें वापस माँग लिया। ४ नवम्बर सन् १९४१ को एडवर्ड के छापे वाले रुपये और अठन्नियां भी बन्द कर दी गईं और ये सिक्के ३० सितम्बर सन् १९४२ तक सरकारी खजाने तथा रेलवे स्टेशनों पर वापिस माँगे गये। १ नवम्बर सन् १९४३ से जार्ज पंचम तथा जार्ज षष्ठम के वे रुपये और अठन्नियाँ भी बन्द कर दिए गए जिनकी शुद्धता $\frac{११}{१२}$ थी। इस प्रकार पुराने सिक्कों को बन्द करके तथा नये सिक्के चला कर, जिनमें चाँदी की मात्रा कम रखी गई थी, चाँदी के उपयोग में बचत की गई।

(६) नई रेजगारी का टंकन—सन् १९४२–४३ में छोटे-छोटे सिक्कों का भी अभाव अधिक अनुभव हुआ। लोगों ने ताँबे के पैसों तथा अन्य छोटे-छोटे सिक्कों को गलाना और जोड़कर रखना आरम्भ कर दिया था। बड़े-बड़े शहरों में छोटे-छोटे सिक्कों के स्थान पर डाकखाने के टिकट खेरीज के रूप में चलने लगे। भारत सरकार ने भारत सुरक्षा विधान के अन्तर्गत रेजगारी का सचय दण्डनीय घोषित कर दिया। रेजगारी की कमी को दूर करने के लिए बम्बई और कलकत्ते की टकसालों ने पैसा ढालना आरम्भ कर दिया। छोटे सिक्कों की ढलाई के लिए लाहौर में भी एक नई टकसाल खोली गई। जनवरी सन् १९४२ में गिलट का अधन्ना चालू किया गया। इकन्नी और दुअन्नी में भी गिलट की मात्रा बढ़ा दी गई। सन् १९४३ में छेद वाला पैसा निकाला गया, परन्तु इसका वाशर (Washer) के रूप में इतना अधिक उपयोग होने लगा कि थोड़े ही समय में सरकार को इसकी ढलाई बन्द करनी पड़ी। सरकार ने तेजी के साथ छोटी कीमत के सिक्के निकालने आरम्भ कर दिये और सन् १९४४ में ऐसे सिक्कों का उत्पादन २१ करोड़ ६० लाख प्रति मास तक पहुँच गया। इस प्रकार धीरे-धीरे रेजगारी की कमी दूर हो गई।

(७) मुद्रा-विस्तार, मुद्रा-स्फीति तथा कीमतों की वृद्धि—भारतीय चलन के इतिहास में दूसरे महायुद्ध के काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना चलन और साख-मुद्रा का अत्यधिक विस्तार और उसके कारण उत्पन्न होने वाली कीमत-वृद्धि थी। इस काल में सरकार की सामान्य नीति अधिक से अधिक पत्र-मुद्रा निकाल कर युद्ध-व्यय को पूरा करना थी। सन् १९३९ और सन् १९४५ के बीच नोटों का प्रचलन १८० करोड़ रुपये से बढ़कर १,०३४ करोड़ रुपए तक पहुँच गया। इसी काल में साख-मुद्रा की मात्रा भी दुगुनी से ऊपर पहुँच गई थी। पत्र-मुद्रा की इस वृद्धि के साथ कीमत-स्तर भी बराबर ऊपर उठता गया। निम्न आँकड़े स्थिति का अच्छा अनुमान प्रदान करते हैं :—

वर्ष	नोटों की संख्या (करोड़ रुपयों में)	आर्थिक सलाहकार का मूल्यांक (१९३९ = १००)
१९३९	१८०	१००
१९४०	२३८	१३३
१९४१	२४५	११४
१९४२	३५३	१४५
१९४३	५९३	१९५
१९४४	८८२	२३२
१९४५	१,०३४	२५०

आर्थिक सलाहकार के मूल्यांक से स्थिति का वास्तविक अनुमान नहीं मिलता है, क्योंकि ये केवल सरकार द्वारा नियन्त्रित कीमतों के आधार पर बनाये गये हैं। वास्तव में अनियन्त्रित वस्तुओं और चोर-बाजार की कीमतें बहुत ऊँची थीं और सन् १९४५ का मूल्यांक ४०० से भी ऊपर होना चाहिए था।

कीमतों की इस अत्यधिक वृद्धि ने सन् १९४३ से ही मुद्रा-स्फीति की दशाएँ उत्पन्न कर दी थीं। रिजर्व बैंक ने भी यह स्वीकार किया कि मुद्रा-स्फीति बढ़ रही थी, परन्तु रिजर्व बैंक ने इसे रोकने का कोई प्रयत्न नहीं किया। सन् १९४३ की वार्षिक रिपोर्ट में रिजर्व बैंक ने यह स्वीकार कर लिया था कि जीवन-रक्षक वस्तुओं की कीमतों के बढ़ने के कारण स्फीति को और भी अधिक प्रोत्साहन मिला था। बैंक की सन् १९४४ की वार्षिक रिपोर्ट में बताया गया था :—"मुद्रा-स्फीति को दूर करने के लिए सरकार ने जनता से ऋण लेना आरम्भ कर दिया है और नये-नये कर लगाये हैं। यदि इन दोनों कामों में सरकार को सफलता न मिली तो देश में कीमतों को बढ़ने से रोकना और जीवन निर्वाह व्यय को कम करना असम्भव हो जायगा।"

कीमतों की इस भारी वृद्धि के अनेक कारण थे, परन्तु प्रमुख कारण चलन और साख-मुद्रा का अत्यधिक विस्तार था। युद्ध-काल में चलन की कुल वृद्धि

१,१९८·६४ करोड़ रुपया थी, जिसका ८२·५% पत्र-मुद्रा की वृद्धि, ११·८% रुपए के सिक्कों की वृद्धि तथा ५·६% छोटे सिक्कों की मात्रा की वृद्धि के कारण हुआ था।

अनुकूल व्यापाराशेष—

युद्ध के काल में भारत का व्यापाराशेष भी निरन्तर अनुकूल ही बना रहा। युद्धकालीन व्यापाराशेष की स्थिति निम्न प्रकार थी :—

वर्ष	व्यापाराशेष की अनुकूलता (करोड़ रुपयों में)
१९३८—३९	+ १७·५९
१९३९—४०	+ ४८·८१
१९४०—४१	+ ४१·९९
१९४१—४२	+ ७९·६०
१९४२—४३	+ ८४·२५
१९४३—४४	+ ९१·३२
१९४४—४५	+ २६·०८

इस अनुकूल व्यापाराशेष के बदले में न तो भारत को सोना ही प्राप्त हुआ और न वस्तुयें ही। ब्रिटिश सरकार ने इसके बदले में हमें केवल स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियाँ[1] ही दीं, जिनको रिजर्व बैंक ने निधि के रूप में उपयोग करके कागज के और अधिक नोट छाप दिये। युद्ध के काल में सोना तो देश से बाहर भी भेजा गया। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि अकेले सन् १९४० में लगभग ३४ करोड़ रुपये का सोना देश के बाहर भेजा गया।[2] इस सोने के बदले में भी हमें स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियाँ ही प्राप्त हुईं तथा उनके आधार पर पत्र-मुद्रा में और भी वृद्धि की गई। इस काल में भारत सरकार का रक्षा व्यय भी बहुत अधिक रहा था। स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियों के अतिरिक्त भारत सरकार ने कोषागार विपत्रों के आधार पर भी नोट छापे। सन् १९३९-४० में ऐसे कोषागार विपत्रों की मात्रा, जिनके आधार पर नोट छापे गये थे, केवल ३७ करोड़ रुपया थी, परन्तु सन् १९४१-४२ में यह ७५ करोड़ रुपया हो गई थी और सन् १९४२-४३ में १३९ करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी।

द्वितीय महायुद्ध काल में भारत में विनिमय नियन्त्रण

युद्ध का आरम्भ होते ही भारत रक्षा अध्यादेश (Defence of India Ordinance) के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार ने रिजर्व बैंक को सिक्कों, धातुओं, प्रति-

१. स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ उन हुण्डियों को कहते हैं जो ब्रिटिश सरकार ने उस माल की कीमत के रूप में लिखकर दी थीं जो भारत से उधार खरीदा गया था।

2. *See The 14th Annual Report*, Federation of Indian Chamber of Commerce and Industries, 1940.

भूतियों तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धी व्यवसायों के नियन्त्रण और इस नियन्त्रण के शासन का काम सौंप दिया। आरम्भ से ही देश में कड़ा विनिमय नियन्त्रण लागू किया गया। विदेशी विनिमय सम्बन्धी व्यवसाय केवल कुछ स्वीकृत फर्मों तथा संस्थाओं द्वारा ही किये जा सकते थे और इस उद्देश्य से कुछ भारतीय सम्मिलित पूँजी बैंकों तथा विदेशी विनिमय बैंकों को अनुज्ञापन (Licenses) प्रदान कर दिये गये थे। विनिमय नियन्त्रण की सामान्य नीति यह थी कि साधारणतया साम्राज्य देशों की मुद्राओं के क्रय-विक्रय पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता था, परन्तु साम्राज्य से बाहर के देशों की मुद्राओं के क्रय-विक्रय को वास्तविक व्यापार आवश्यकताओं के अनुसार सीमित रखा जाता था। फिर भी यात्रा-व्यय तथा व्यक्तिगत विप्रेषों (Personal Remittances) के लिए कुछ अवकाश रखा जाता था। भारतीय विनिमय नियन्त्रण अधिकारियों की नीति यही थी कि भारत में सभी प्रकार के विदेशी विनिमय व्यवसाय उन विनिमय दरों के आधार पर किये जायें जो समय-समय पर लन्दन विनिमय नियन्त्रण द्वारा घोषित की जाती थीं और साथ ही रुपये और स्टर्लिङ्ग की विनिमय दर १८ पेंस पर स्थिर रखी जाय। बिना रिजर्व बैंक से आज्ञा प्राप्त किये कोई भी व्यक्ति न तो विदेशियों से प्रतिभूतियाँ खरीद सकता था और न उनका निर्यात ही कर सकता था। प्रतिबन्धों का प्रमुख उद्देश्य पूँजी के निर्यात और विदेशी दरों में होने वाले सट्टे को रोकना था। विनिमय नियन्त्रण के दृष्टिकोण से साम्राज्य तथा समधन (Commonwealth) देशों को एक ही चलन इकाई अर्थात् स्टर्लिङ्ग का क्षेत्र मान लिया गया था। इस क्षेत्र के भीतर कोषों के हस्तान्तरण पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं लगाये गये थे, परन्तु इस क्षेत्र के बाहर चलनों के क्रय-विक्रय पर कड़ा नियन्त्रण रखा जाता था। इन विनिमय नियन्त्रणों को तीन वर्गों में इस प्रकार रखा जा सकता है :—

(१) आयात नियन्त्रण—आरम्भ में तो बैंकों को विदेशी विनिमय के बेचने के विषय में काफी छूट दी गई थी, परन्तु जैसे-जैसे युद्ध बढ़ता गया, बैंकों के अधिकारों में निरन्तर कमी की गई। अन्त में ऐसी व्यवस्था की गई कि बैंक रिजर्व बैंक से आज्ञा प्राप्त करके ही कुछ अनुज्ञापित आयातों तथा व्यक्तिक विप्रेषों का भुगतान करने के लिये विदेशी विनिमय बेच सकती थीं। इस प्रकार एक कड़ा आयात नियन्त्रण स्थापित किया गया और बिना अनुज्ञापन के स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के बाहर के देशों अर्थात् दुर्लभ मुद्रा देशों (Hard Currency Countries) से कोई भी माल नहीं मँगाया जा सकता था। इस नियन्त्रण के दो उद्देश्य थे :—प्रथम, विदेशी व्यापार के असन्तुलन को रोकना और दूसरे, ऐसे आयातों को प्राथमिकता (Priority) देना जिनका युद्ध अथवा अन्य आवश्यक कार्यों के लिए अधिक महत्त्व था।

(२) निर्यात नियन्त्रण—विनिमय नियन्त्रण के साथ ही साथ यह भी आवश्यक समझा गया कि स्टर्लिङ्ग क्षेत्र से बाहर भारत से जो भी माल भेजा जाय उससे प्राप्त कीमत पर भी नियन्त्रण रखा जाय। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए

रिजर्व बैंक ने एक निर्यात नियन्त्रण योजना भी लागू की। इस योजना के भी दो उद्देश्य थे :—प्रथम, यह कि निर्यातों की कीमत विदेशों में न रहे, प्रत्युत भारत में आ जाय। दूसरे, यह कि निर्यातों की कीमतों का भुगतान एक निश्चित रीति से हो, जिससे उनका अधिकतम् मूल्य प्राप्त हो सके। भारत द्वारा अमरीका को किये जाने वाले निर्यातों से जो भी मूल्य प्राप्त किया जाता था वह ब्रिटिश सरकार को दे दिया जाता था, जो उसे साम्राज्य डालर कोष में रखकर उसका उपयोग युद्ध सम्बन्धी सामानों के खरीदने के लिए करती थी। इस योजना का उद्देश्य युद्ध का सफल संचालन था।

(३) अन्य नियन्त्रण—विदेशी विनियय के नियन्त्रण की नीति को सफल बनाने के लिये भारत में निम्न नियन्त्रण व प्रतिबन्ध लगाये गये :—(i) नवम्बर सन् १९४० से भारतीय मुद्रा को रिजर्व बैंक के लाइसेन्स बिना बाहर भेजने का निषेध कर दिया गया। सन् १९४३-४४ से भारतीय मुद्रा, ईरानी, रायल, अफगानी, तथा लङ्का की मुद्राओं को छोड़ कर अन्य मुद्राओं के आयात पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। (ii) सन् १९४१ से विदेशी मुद्रा में भुगतान करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। (iii) शत्रु राष्ट्रों के भारतीय बैंकों में जमा धन के भुगतान पर भी रोक लगा दी गई। (iv) स्वर्ण के आयात-निर्यात के लिये लाइसेन्स लेना आवश्यक हो गया। (v) भारत से बाहर रहने वाले व्यक्ति से प्रतिभूति खरीदना मना कर दिया गया।

साम्राज्य डालर कोष (The Empire Dollar Pool)—

सन् १९३९ में ही ब्रिटिश सरकार ने स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के विदेशी विनिमय कोषों का नियन्त्रण अपने हाथ में ले लिया था। क्षेत्र के किसी देश का ब्रिटेन के साथ व्यापाराशेष जितना भी अनुकूल होता था उसका निस्तारण ब्रिटेन स्टर्लिङ्ग देकर किया करता था। इसके अतिरिक्त प्रत्येक देश के स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के बाहर के देशों के व्यापाराशेष का निस्तारण भी ब्रिटेन ने इसी प्रकार करना प्रारम्भ कर दिया। ९ मार्च सन् १९४० को भारत में एक नई योजना चालू की गई, जिसका उद्देश्य दुर्लभ मुद्रा देशों को भेजे जाने वाले निर्यातों से प्राप्त कीमत को सुरक्षित रखना था। इन देशों में संयुक्त राज्य अमरीका, स्विटजरलैंड, हॉलैंड, बेलजियम आदि सम्मिलित थे, जिनकी मुद्राएं मांग की तुलना में दुर्लभ हो गई थीं। योजना के दो उद्देश्य थे :—प्रथम, दुर्लभ मुद्राओं की प्राप्त मात्राओं पर नियन्त्रण रखना, ताकि युद्ध के सफल संचालन के लिए उनका समुचित उपयोग किया जा सके और दूसरे, दुर्लभ मुद्राओं को नियत दरों पर खरीदने और बेचने की योजना को सफल बनाना।

युद्ध से पूर्व यह प्रथा प्रचलित थी कि स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के अधिकांश देश अपने लगभग सभी विदेशी विनिमय कोषों को लन्दन में स्टर्लिङ्ग के रूप में रखते थे। उस समय स्टर्लिङ्ग को अन्य सभी मुद्राओं में स्वतन्त्र परिवर्तनशीलता प्राप्त थी,

जिसके फलस्वरूप उसके बदले में कोई भी मुद्रा प्राप्त की जा सकती थी। युद्ध का आरम्भ होते ही स्टर्लिङ्ग की यह परिवर्तनशीलता कठिन हो गई। इस कारण स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के कुछ देशों ने अपनी विदेशी विनिमय आय को अपने ही संरक्षण में रखना आरम्भ कर दिया। क्षेत्र के कुछ देशों ने युद्ध के सफल संचालन हेतु अपनी विदेशी विनिमय आय के व्यय पर प्रतिबन्ध लगाने आरम्भ कर दिये। स्टर्लिङ्ग क्षेत्र की सारी की सारी विदेशी विनिमय आय एक सामूहिक कोष में रखी गई, जो बैंक ऑफ इङ्गलैंड तथा ब्रिटिश कोषागार के संरक्षण में रखा गया था। इस कोष की सबसे महत्त्वपूर्ण मुद्रा अमरीकन डालर थी। इसी कारण इस व्यवस्था का नाम साम्राज्य डालर कोष (Empire Dollar Pool) पड़ा। इस कोष में से स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के अलग-अलग देशों को व्यय के लिए कोई निश्चित अभ्यंश (Quota) नहीं दिया जाता था। क्षेत्र के सभी देशों ने यह स्वीकार किया था कि उनमें से कोई भी विदेशी विनिमय का अनावश्यक व्यय नहीं करेगा। काफी समय तक कोष ने विदेशी विनिमय देने के लिए युद्ध का संचालन तथा नागरिक अर्थ-व्यवस्था को युद्ध-कालीन आधार पर बनाये रखना ही समुचित उद्देश्य स्वीकार किया, परन्तु आवश्यकता का निर्णय सदस्य देश के ऊपर ही छोड़ा गया था और यदि सदस्य देश यह प्रमाणित कर देता था कि व्यय आवश्यक था तो कोष कभी भी उसके निर्णय का विरोध नहीं करता था। युद्ध का अन्त हो जाने के पश्चात् कोष ने अपनी नीति को अधिक उदार बना दिया था।

ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि सन् १९३९ और सन् १९४६ के बीच भारत ने लगभग ४०.५ करोड़ रुपये की कीमत का डालर प्राप्त किया था, जो सारा का सारा इस कोष में जमा कर दिया गया था, परन्तु इस काल में भारत का डालर व्यय केवल २०४ करोड़ रुपये की कीमत का था और इसके अतिरिक्त भारत द्वारा ५१ करोड़ रुपये की कीमत का अन्य दुर्लभ मुद्राओं का व्यय किया गया था। इस प्रकार सब कुछ देखते हुए भारत की ओर से कोष को ११४ करोड़ रुपये का डालर अधिक दिया गया था।

मई सन् १९४० में भारत सरकार ने आयातों के अनुज्ञापन की एक नई प्रणाली ग्रहण की, जिससे कि विदेशी विनिमय के उपयोग में बचत हो सके और कुछ प्रकार के मालों के आयात बन्द हो जायें। आरम्भ में तो वस्तुओं की एक छोटी सी सूची पर ही प्रतिबन्ध लगाये गये थे, परन्तु सन् १९४१ में वस्तुओं की सूची का इस प्रकार विस्तार किया गया कि उसमें विदेशों से आने वाली सभी वस्तुओं को सम्मिलित किया गया। केवल कनाडा से आने वाले कुछ प्रकार के मालों को इस सम्बन्ध में छूट दी गई थी। ऐसा करने का केवल यही उद्देश्य न था कि विदेशी विनिमय के व्यय को कम किया जाय, बल्कि इसके द्वारा जहाजों के भीतर के स्थान (Tonnage) में बचत करने का तथा अमरीका की उत्पादन शक्ति की रक्षा करने का भी प्रयत्न किया गया था। जापान के युद्ध में सम्मिलित होने के पश्चात् जलयानों के यातायात में और भी

अधिक कठिनाई अनुभव होने लगी, परन्तु सन् १९४२--४३ में उधार-पट्टा प्रणाली (Lend-lease System) के विकास ने डालर में भुगतान करने की आवश्यकता काफी कम कर दी। इस प्रणाली के अन्तर्गत भारत में भारी मात्रा में मशीनरी, इस्पात तथा अन्य सामानों का आयात किया गया, परन्तु इनकी कीमत आयात व्यापारियों ने भारत सरकार को केवल रुपयों में ही चुकाई और क्योंकि भारत सरकार के लिए डालर में भुगतान करने की आवश्यकता ही नहीं थी, इसलिये विदेशी विनिमय खरीदने का प्रश्न ही नहीं उठता था। जैसे-जैसे युद्धकालीन स्थिति का तनाव कम होता गया, आयातों के अनुज्ञापन प्रदान करने में अधिक उदारता दिखाई गई। देश में मुद्रा-स्फीति को रोकने तथा अनाज की कमी को दूर करने के लिये भारत सरकार ने अमरीका से भारी मात्रा में खाद्यान्न तथा उपभोगीय वस्तुओं के आयात किये, जिसके कारण अमरीका के साथ हमारा व्यापाराशेष प्रतिकूल हो गया। अन्त में भारत सरकार ने स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के सम्बन्ध में प्रतिबन्धों को ढीला किया और डालर के उपयोग में मितव्ययिता लाने के लिए डालर क्षेत्र के आयातों पर और भी कड़े नियन्त्रण लगाये।

सोने के सम्बन्ध में ब्रिटिश भारत के भीतर इसके हस्तान्तरण पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं लगाये गये थे, परन्तु बिना रिजर्व बैंक से आज्ञा-पत्र प्राप्त किये सोने के निर्यात नहीं हो सकते थे। स्वर्ण आयात के आज्ञा-पत्र तो सरलतापूर्वक प्रदान कर दिये जाते थे, परन्तु निर्यात अनुज्ञापन तभी दिये जाते थे जबकि सोना या तो बैंक ऑफ इङ्गलैंड को भेजा जाता था, अथवा बैंक ऑफ इङ्गलैंड द्वारा माल खरीदने के लिए उपयोग किया जाता था। युद्धकालीन परिस्थितियों के कारण यह आवश्यक था कि भारत तथा ब्रिटेन के उपयोग के लिए सभी स्वर्ण कोषों की बचत की जाय।

हमारे पौण्ड पावने
(The Sterling Balances)

भारतीय चलन के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना हमारे पौंड पावना ऋणों का जमा होना भी था। युद्ध से पूर्व भारत के ऊपर इङ्गलैंड का साम्राज्यवादी ऋण लदा हुआ था, परन्तु युद्ध के काल में यह सब ऋण चुका दिया गया और इसके अतिरिक्त भारत का इङ्गलैंड पर अरबों रुपयों का ऋण चढ़ गया। इस ऋण के चढ़ने की कहानी बड़ी मर्मस्पर्शी है, क्योंकि यह ऋण भारतवासियों के आधा-पेट खाने तथा नंगे तन रहने का परिणाम था। भारत ने इङ्गलैंड के युद्ध व्यय को चलाने और इङ्गलैंड को आवश्यक माल भेजने में भारी सहायता पहुँचाई, जिसके लिए भारी मात्रा में इगलैंड को ऋण दिया गया। भारत के इस ऋण की माप स्टर्लिंग में की जाती थी और इसी कारण इसका नाम पौंड पावना अथवा स्टर्लिंग पावना पड़ा।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट सन् १९३४ की धारा ३३ के अनुसार रिजर्व बैंक को स्टर्लिंग प्रतिभूतियों की आड़ पर नोट निकालने का अधिकार था। युद्ध-काल में भारत सरकार ने इस धारा की व्यवस्थाओं का पूरा-पूरा लाभ उठाया। इङ्गलैंड

भारत से जो भी माल खरीदता था उसके बदले में ब्रिटिश सरकार रिजर्व बैंक को स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ दे देती थी और इन प्रतिभूतियों को निधि के रूप में उपयोग करके रिजर्व बैंक बराबर नोट छापती रहती थी, जिनके द्वारा भारत में भुगतान दे दिए जाते थे। पहले तो भारत सरकार ने इन प्रतिभूतियों का उपयोग अपने स्टर्लिंग ऋणों के चुकाने के लिए किया, परन्तु धीरे-धीरे जब उस ऋण का भुगतान हो गया तो पौंड पावने ब्रिटिश ऋणों के रूप में जमा होते गये। ये पावने उस व्यय का फल हैं जो भारत ने इङ्गलैंड की ओर से किया था। इनकी वृद्धि के तीन कारण उल्लेखनीय है—

(१) भारत सरकार ने इङ्गलैंड की ओर से भारत में जो सामग्री खरीदी उसकी कीमत स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में चुकाई गई और इस प्रकार पौंड पावनों की मात्रा बढ़ती गई। सरकार ने यह सभी माल नियन्त्रित कीमतों पर खरीदा था और भारतवासियों के लिए इसका बेचना बहुधा अनिवार्य होता था। परिणामस्वरूप देश में सन् १९४३ का बंगाल दुर्भिक्ष आया था और मुद्रा-प्रसार के कारण जनता को घोर कष्ट उठाने पड़े थे।

(२) भारत ने युद्ध के सफल संचालन के लिए अन्य मित्र राष्ट्रों को भी माल भेजा। उन्होंने भी भुगतान स्टर्लिंग में किया, जो कि इङ्गलैंड में जमा हो जाता था।

(३) भारत सरकार ने ब्रिटिश सरकार के खाते पर मुद्रा-संचालन के लिये जो व्यय किया था उसकी राशि ने भी पौंड पावनों को बढ़ाया, क्योंकि इसके बदले में भी हमें स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ ही मिली थीं।

(४) युद्ध काल में अमेरिकी सेनायें भी भारत में रही थीं। इन पर होने वाले व्यय के बदले जो डालर प्राप्त हुए वे भी साम्राज्य डालर कोष में जमा कर दिए जाते थे और इङ्गलैंड बदले में भारत सरकार के खाते में स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ जमा कर देता था, जिससे पौंड पावनों में वृद्धि होती गई।

(५) यही नहीं, भारत के अनुकूल व्यापाराशेष तथा डालर कोष में जमा किए हुए विदेशी विनिमय के बदले में भी स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ ही दी गई थीं और उन्होंने भी ऋण की मात्रा को बढ़ाया था।

सन् १९४७ में ये पौंड पावने लगभग १,७०० करोड़ रुपये की कीमत के आँके गये थे। युद्ध के विभिन्न वर्षों में ये निम्न प्रकार जमा हुए थे :—

वर्ष	राशि (करोड़ रुपयों में)
१९३९-४०	१४५
१९४०-४१	१४८
१९४१-४२	२८४

१६४२-४३	५११
१६४३-४४	६८४
१६४४-४५	१,४७२
१६४५-४६	१,६८०

पौंड पावनों के भुगतान के सम्बन्ध में वाद-विवाद—

पौंड पावनों के भुगतान के सम्बन्ध में युद्धकाल से ही बात चीत चल रही थी। इङ्गलैंड की ओर से बहुत बार यह कहा गया था कि ब्रिटिश सरकार द्वारा या तो इन ऋणों को पूर्णतया रद्द कर दिया जाय, अथवा इनकी मात्रा में भारी कमी कर दी जाय।

इस विचार के पक्ष में बहुधा यह कहा जाता था कि (१) युद्ध के सफल संचालन और शत्रु को परास्त करने में भारत का भी उतना ही हित था जितना कि इङ्गलैंड का। इङ्गलैंड द्वारा किया गया व्यय भारत की रक्षा से भी सम्बन्धित था, इसलिए इसके चुकाने का प्रश्न ही नहीं उठता था। (२) कुछ व्यक्तियों ने यह तर्क रखा कि इतने बड़े ऋणों का चुकाना इङ्गलैंड की शोधनक्षमता से बाहर था, जिसके कारण इसमें कमी करना आवश्यक था। (३) पौंड पावनों को युद्ध सम्बन्धी ऋण समझते हुए भारत को चाहिए कि इन्हें अमेरिका की भाँति माफ कर दे। (४) युद्ध काल में रुपये की विनिमय दर कृत्रिम रूप से ऊँची रखी गई थी, जिससे पौंड पावनों में इतनी वृद्धि हो गई है।

इन तर्कों में कटु सत्यता थी, परन्तु भारत की ओर से यह कहा गया था कि (१) भारत ने यह ऋण स्वेच्छा से नहीं दिया था। यह उससे जबरदस्ती लिया गया था। अन्यथा इतने बड़े ऋणों का देना भारत की क्षमता से बाहर था। (२) इसके अतिरिक्त इस ऋण के पीछे भारतवासियों का महान् त्याग तथा उनके घोर आर्थिक कष्ट छिपे हुए थे, इसलिये इसका रद्द करना अथवा कम कर देना न्यायपूर्ण नहीं था। (३) भारत को अमेरिका की तरह इङ्गलैंड से पौंड पावनों का भुगतान नहीं मांगना चाहिए। यह तर्क भी न्यायरहित है, क्योंकि भारत और अमेरिका की आर्थिक स्थिति में जमीन आसमान का अन्तर है। (४) रुपये का मूल्य भले ही ऊँचा रखा गया हो, लेकिन इङ्गलैंड व मित्र राष्ट्रों को तो सामान नियन्त्रित मूल्यों पर ही सप्लाई किया गया था। (५) पौंड पावने हमारी सबसे बड़ी पूँजी है, क्योंकि इसके आधार पर हम स्टर्लिंग क्षेत्र से मशीनें आदि मँगा सकते हैं, जो कि हमारे आर्थिक विकास के लिए बहुत आवश्यक हैं।

काफी लम्बे काल तक इस विषय पर तर्क-वितर्क चलता रहा और अनेक रीतियों से इङ्गलैंड इस ऋण के भुगतान को टालता रहा। भारत ने पौंड पावनों का प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिषद् (International Monetary Conference) के सम्मुख भी प्रस्तुत किया, परन्तु उसने इस पर विचार करने से इन्कार कर दिया। इसी

परिषद् में इङ्गलैंड के प्रतिनिधि लार्ड कीन्ज ने बड़े स्पष्ट शब्दों में यह विश्वास दिलाया था कि इङ्गलैंड अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप में निभाने को तैयार था और पौंड पावनों के घटाने अथवा रद्द करने का प्रश्न ही नहीं उठता था। इङ्गलैंड ने इस दायित्व को भली-भांति निभाया है और अब हमारे पौंड पावने धीरे-धीरे समाप्त हो रहे हैं।

युद्धोत्तर काल सन् १९४५-४६—१९५८-५९

भारतीय चलन पद्धति की युद्धकालीन प्रवृत्तियाँ युद्धोत्तर काल में भी बनी रहीं और इस काल का इतिहास साधारणतया पुराने ही इतिहास का एक अगला पृष्ठ है। चलन पद्धति के सम्बन्ध में भारत की प्रमुख घटनाएँ मुद्रा-कोष की सदस्यता, भारत सरकार की मुद्रा-प्रसार विरोधी नीति, रुपये का अवमूल्यन, रिजर्व बैंक और इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण, व्यापाराशेष का सन्तुलन, कीमतों में कमी की प्रवृत्ति और हीनार्थ प्रबन्ध (Deficit Financing) है। इसी काल में दो और भी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुई हैं, अर्थात् पौंड पावनों का भुगतान और भारत की पंच-वर्षीय योजनाएँ। प्रथम योजना के आरम्भ में यह अनुमान लगाया गया था कि इस मद से २९० करोड़ रुपये निकाले जायँगे। वास्तव में पौंड पावनों का उपयोग बहुत कम हो पाया है और दूसरी योजना में इस मद से लगभग २०० करोड़ रुपया निकाल लेने का अनुमान है। प्रमुख घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है :—

(I) रुपये का अवमूल्यन और उसके प्रभाव—

भारतीय रुपए के अवमूल्यन का संक्षिप्त अध्ययन अध्याय ८ में किया जा चुका है। प्रस्तुत अध्याय में इसके परिणामों का विस्तृत अध्ययन किया जायगा। १८ सितम्बर सन् १९४९ को ब्रिटिश सरकार ने अकस्मात् ही स्टर्लिंग का अवमूल्यन कर दिया, जिसके कारण उसका डालर मूल्य ४·०३ डालर प्रति पौंड से घटकर केवल २·८० डालर रह गया। ब्रिटेन ने यह निर्णय इतनी शीघ्रतापूर्वक किया था कि राष्ट्रमण्डल (Commonwealth) देशों को इसका पहले से कुछ पता नहीं लग पाया था। ब्रिटेन ने अवमूल्यन प्रधानतया इस कारण किया था कि डालर देशों के साथ उसके व्यापाराशेष का घाटा बहुत ही अधिक था। सन् १९४९ में इस घाटे का अनुमान ६० करोड़ पौंड प्रति वर्ष लगाया गया था। इस घाटे को पूरा करने के लिये लगभग सभी प्रयत्न असफल रहे थे। विवश होकर इङ्गलैंड ने घाटे को दूर करने के लिए एक मात्र उपाय के रूप में स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन कर दिया।

स्टर्लिंग के अवमूल्यन ने भारत सरकार के सम्मुख एक बड़ी जटिल समस्या उपस्थित कर दी, जिसने उसे शीघ्रतापूर्वक अवमूल्यन के सम्बन्ध में निर्णय करने पर बाध्य किया। रुपये और स्टर्लिङ्ग का सम्बन्ध इतना पुराना हो चुका था कि उसे अकस्मात् ही तोड़ देना सरल न था। भारत सरकार को यह भय था कि अवमूल्यन न करने का उसके विदेशी व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ेगा, क्योंकि भारतीय रुपये को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में कोई स्वतन्त्र स्थिति प्राप्त न थी। दूसरे, अवमूल्यन न करने से

यह भी भय था कि इससे हमारे पौंड पावना ऋण की कीमत में अधिक कमी आ जायगी। इसके विपरीत अवमूल्यन कर देना भी भय से स्वतन्त्र न था, विशेषकर ऐसी दशा में जब कि देश में पहले से ही मुद्रा-प्रसार था। अवमूल्यन के कारण वस्तुओं और सेवाओं के निर्यात बढ़ जाते हैं, जिससे देश में वस्तुओं और सेवाओं की कमी और भी बढ़ जाती। बहुत सोच-विचार के पश्चात् भारत सरकार ने अवमूल्यन का ही निर्णय किया, यद्यपि पड़ौसी देश पाकिस्तान ने यह निश्चय किया कि अवमूल्यन नहीं किया जायगा।

बाद की घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि भारत का निर्णय ठीक ही था:—

(१) व्यापाराशेष की स्थिति में सुधार—श्री चिन्तामणि देशमुख का विचार है कि सन् १९४९ के पश्चात् हमारे व्यापाराशेष में जो सुधार हुआ उसका प्रमुख कारण अवमूल्यन ही है। सितम्बर सन् १९४९ और जून सन् १९५० के बीच के काल में व्यापाराशेष का घाटा १७२ करोड़ रुपया कम हो गया था, परन्तु वास्तविकता यह है कि इस सुधार का एकमात्र कारण अवमूल्यन ही नहीं था, प्रत्युत आयातों पर लगाये हुए प्रतिबन्ध भी थे। सन् १९५०-५१ में तो व्यापाराशेष का घाटा केवल ४ करोड़ रुपया ही रह गया, परन्तु अगले वर्षों में घाटे में फिर वृद्धि हुई और सन् १९५२-५३ में यह २३२·६२ करोड़ रुपये तक पहुँच गया। हाल के वर्षों में घाटे की वृद्धि का प्रमुख कारण यह रहा है कि कोरिया की लड़ाई के उपरान्त व्यवसायिक मन्दी आरम्भ हो गई और कच्चे मालों की कीमतों के गिरने के कारण हमारा निर्यात व्यापार अधिक कम हो गया। सन् १९५६-५७ के वर्ष में व्यापाराशेष का घाटा २४० करोड़ रुपया रहा था। सम्पूर्ण स्टर्लिङ्ग क्षेत्र को तो अवमूल्यन से लाभ ही हुआ है। भारत के व्यापाराशेष का घाटा डालर देशों के साथ सन् १९४९ में ५३ करोड़ के बराबर था, परन्तु सन् १९५० में इसके विपरीत उसे २९ करोड़ रुपये की बचत रही थी।

(२) आन्तरिक मूल्य-स्तर में उठान—अवमूल्यन के पश्चात् कीमतें ऊपर उठनी शुरू हुईं। सितम्बर में सन् १९४९ में थोक कीमतों का निर्देशांक ३९० था, जो अप्रैल सन् १९५१ में ४५८ तक पहुँच गया था, परन्तु अप्रैल सन् १९५३ में यह गिर कर फिर ३४३ पर आ गया था और तब से फिर इसकी प्रवृत्ति गिरने की ओर ही रही थी। यद्यपि सितम्बर सन् १९५६ से अब तक कीमतें फिर निरन्तर बढ़ रही हैं।

(३) भारत और पाकिस्तान के व्यापारिक सम्बन्धों में खिचाव—अवमूल्यन का एक बड़ा परिणाम भारत और पाकिस्तान के व्यापारिक सम्बन्धों के खिचाव के रूप में भी प्रकट हुआ। अवमूल्यन न करने के कारण पाकिस्तानी रुपये की कीमत २ शिलिंग १·९ पेंस या १·४४ भारतीय रुपये के बराबर हो गई। भारत सरकार ने पाकिस्तानी रुपये की इस नई दर को स्वीकार करने से अस्वीकार कर

दिया, जिसके फलस्वरूप दोनों देशों के बीच व्यापार स्थगित हो गया, परन्तु जब अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने पाकिस्तानी रुपये की इस नई दर को स्वीकार कर लिया तो भारत सरकार ने भी सन् १९५१ में इस दर पर पाकिस्तान से एक लम्बा-चौड़ा व्यापार समझौता कर लिया। सब कुछ होते हुए भी दोनों देशों का पारस्परिक व्यापार उन्नति न कर सका। यह स्थिति अब तक भी बनी हुई है, यद्यपि अब पाकिस्तान ने भी अपने रुपये का अवमूल्यन कर दिया है।

(४) डालर देशों से निर्यात व्यापार में वृद्धि—विगत वर्षों में डालर देशों से हमारा निर्यात व्यापार बराबर बढ़ता गया है और व्यापाराक्षेप में सन्तुलन ही नहीं, आधिक्य की भी थोड़ी सी प्रवृत्ति है। एक बड़े अंश तक यह स्थिति अवमूल्यन का ही परिणाम है, यद्यपि इस पर अन्य बातों का भी प्रभाव पड़ा है।

(५) पौंड पावने के मूल्य में कमी—भारत ने अवमूल्यन के पश्चात् अपने पौंड पावनों का जितना भाग डालर क्षेत्र में व्यय किया उसका मूल्य ०·५% कम हो गया।

(६) विदेशी ऋणों के भार में वृद्धि—भारत ने विश्व बैंक से जो ऋण लिया है उसका रुपया-मूल्य अवमूल्यन के कारण बढ़ गया है।

(७) आर्थिक विकास में बाधा – देश के आर्थिक विकास के लिए हम डालर क्षेत्र से मुख्यतः पूँजीगत वस्तुयें मँगाते हैं। इनके लिये हमें अब ३०·५% अधिक देना पड़ता है। इस प्रकार हमें विवश होकर अपनी कुछ विकास योजनायें स्थगित करनी पड़ी हैं।

यद्यपि अब अवमूल्यन और उसकी वांछनीयता से सम्बन्धित वाद-विवाद पुराना पड़ चुका है, किन्तु फिर भी कभी-कभी रुपए के पुनर्मूल्यन के प्रश्न को उठा कर इसे फिर से जीवित कर दिया जाता है।

(II) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना और रुपया-स्टर्लिङ्ग का सम्बन्ध विच्छेद—

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में युद्धोत्तर काल की सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण मौद्रिक घटनाएँ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक की स्थापना है। मुद्रा-कोष ने मार्च सन् १९४७ से अपना कार्य आरम्भ कर दिया। भारत सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-परिषद् के सम्मुख, जिसकी सिफारिशों के फलस्वरूप उपरोक्त दोनों संस्थाएँ स्थापित हुई थीं, दो प्रस्ताव रखे थे :—एक तो, यह कि उसे मुद्रा-कोष की कार्यकारिणी में एक स्थाई जगह दी जाय और दूसरी, यह कि पौंड-पावना ऋण का भुगतान मुद्रा-कोष के कार्यों में सम्मिलित कर लिया जाय। परिषद् ने दोनों ही प्रस्ताव अस्वीकार कर दिये थे, अतः भारत में काफी लम्बे समय तक वाद-विवाद चलता रहा है कि मुद्रा-कोष की सदस्यता ग्रहण करना कहाँ तक उपयुक्त था, परन्तु अन्त में भारत सरकार ने मुद्रा-कोष की योजना में सम्मिलित होकर उसकी प्रारम्भिक सदस्यता प्राप्त

कर ली । भारतीय निर्णय पर सबसे बड़ा प्रभाव इस बात का पड़ा था कि मुद्रा कोष की सदस्यता के द्वारा विश्व बैंक की सदस्यता का अवसर मिलता था ।

मुद्रा-कोष की सदस्यता के कारण भारत सरकार को रुपये की कीमत स्वर्ण में घोषित करनी पड़ी । ८ अप्रैल सन् १९४७ को रुपये और स्टर्लिंग का वैधानिक सम्बन्ध विच्छेद कर दिया गया और रुपए की कीमत स्वतन्त्र रूप में ०.२६८६०१ ग्राम सोना रखी गई । परन्तु स्मरण रहे कि स्वर्ण में रुपए की यह कीमत १ शिलिंग ६ पैंस प्रति रुपया की विनिमय दर के आधार पर ही निर्धारित की गई थी । व्यवहार में रुपये और स्टर्लिङ्ग का पुराना गठबन्धन पहले की भाँति ही बना रहा है ।

(III) रिजर्व बैंक और इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण—

रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण की माँग बहुत पुरानी है । जब इस बैंक की स्थापना पर विचार ही किया जा रहा था तो उस समय भी कुछ लोगों ने आरम्भ से ही इसे एक सरकारी बैंक के रूप में खोलने के सुझाव दिये थे, परन्तु सन् १९३४ के एक्ट में बैंक को एक व्यक्तिगत बैंक के रूप में स्थापित करने का निश्चय किया गया। सन् १९४६-४७ में इसके राष्ट्रीयकरण की माँग फिर रखी गई और अन्त में सन् १९४७-४८ के बजट में राष्ट्रीयकरण की व्यवस्था को सम्मिलित कर लिया गया और १ जनवरी सन् १९४९ से रिजर्व बैंक एक राष्ट्रीय संस्था बन गई । अंशधारियों के अंश सरकार ने खरीद लिए और प्रत्येक १०० रुपये के अंश के बदले ११८ रुपये १० आने देना स्वीकार किया । इस राशि का भुगतान इस प्रकार किया गया कि १८ रुपये १० आने तो नकद दे दिये गये और अगले १०० रुपये के लिए ३% ब्याज का सरकारी बाँड (Bond) दे दिया गया । राष्ट्रीयकरण के साथ ही साथ बैंक सम्बन्धी नियमों में भी आवश्यक संशोधन कर दिये गये ।

पहले रिजर्व बैंक का यह कर्त्तव्य था कि वह निश्चित दरों पर रुपये के बदले में स्टर्लिङ्ग खरीदा और बेचा करती थी, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की सदस्यता के पश्चात् यह स्थिति बदल गई और बैंक सम्बन्धी नियमों में ऐसा परिवर्तन कर दिया गया है कि मुद्रा-कोष द्वारा निश्चित दरों पर रिजर्व बैंक रुपये के बदले में कोई भी विदेशी मुद्रा खरीद और बेच सकती है ।

इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण की माँग भी अन्त में स्वीकार कर ली गई और उसे १ जुलाई सन् १९५५ से सरकारी अधिकार में ले लिया गया है । अब उसका नया नाम स्टेट बैङ्क ऑफ इण्डिया है । राष्ट्रीयकरण के पश्चात् इसका सङ्गठन एक नये आधार पर किया गया है ।

(IV) व्यापाराशेष का सन्तुलन और कीमतों की कमी—

सन् १९४८ तथा उसके पहले काल में भारत का व्यापाराशेष अधिक असन्तुलित रहा है । युद्धोत्तर काल में देश में खाद्यान्न की भारी कमी को दूर करने और मुद्रा प्रसार की स्थिति को सुधारने के लिए आयातों के सम्बन्ध में उदारता की नीति

अपनाई गई थी । साथ ही, देश के आर्थिक जीवन की उन्नति तथा चालू विकास योजनाओं की सफलता के लिए भी सरकार को मशीनरी, आवश्यक कच्चे माल तथा अन्य वस्तुएँ विदेशों से मँगानी पड़ी थीं । यही कारण है कि भारत को व्यापाराशेष पर घाटा होने लगा, यद्यपि युद्ध-काल में बराबर बचत हो रही थी । सन् १६४६ में अवमूल्यन के पश्चात् इस स्थिति में कुछ सुधार हुआ और अगले वर्ष अर्थात् सन् १६५० में डालर देशों के साथ होने वाले व्यापार में थोड़ी सी बचत हुई । भारत सरकार ने आयातों पर प्रतिबन्ध लगाना तथा निर्यातों को प्रोत्साहन देना आरम्भ कर दिया । वर्तमान स्थिति यह है कि कोरिया युद्ध समाप्त होने के पश्चात् कीमतें फिर गिरी हैं और सन् १६५३ में हमारा व्यापाराशेष फिर प्रतिकूल हो गया था । सन् १६५३-५४ में भी स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं हो पाया है । बाद के वर्षों में यह घाटा कम होता गया है । मार्च सन् १६५६ में इसका अनुमान केवल ६२ लाख रुपया था । सितम्बर सन् १६५८ का अनुमान यह है कि घाटे की मात्रा बहुत बढ़ गई है और ६ महीने में ३५५ करोड़ रुपये हैं । दूसरी योजना के काल में घाटा फिर बराबर बढ़ रहा है ।

विगत वर्षों की एक महत्त्वपूर्ण घटना कीमतों में बढ़ने की एक सामान्य प्रवृत्ति रही है । सन् १६५०-५१ में बचत का बजट बनाने का कार्य आरम्भ हो गया था और अमरीका से प्राप्त हुआ गेहूँ भारत ने बेच दिया था । इसके अतिरिक्त सन् १६५१ में रिजर्व बैंक ने बैंक दर को ३% से बढ़ा कर ३½% कर दिया था । इन सबका परिणाम यह हुआ था कि सोने और चाँदी की कीमतों में भारी परिवर्तन हुए । मार्च सन् १६५२ में सोने की कीमत ११४ रुपये प्रति तोला से घट कर ७७ रुपए पर पहुँच गई । इसी प्रकार मार्च सन् १६५१ और सन् १६५२ के बीच चाँदी की कीमतें १·६८ रुपया प्रति तोला से गिरकर १·३६ रुपया प्रति तोला रह गईं । राष्ट्रीयकरण के पश्चात् रिजर्व बैंक साख तथा कीमतों के नियन्त्रण का कार्य अधिक सप्रभाविक रीति से कर रही है । दूसरी पंच-वर्षीय योजना में सरकार ने कीमतों की स्थिरता बनाये रखने की नीति अपनाई है । योजना में हीनार्थ प्रबन्ध के कारण मुद्रा-प्रसार का भय है । भारत सरकार की नीति यह भी है कि योजना काल में कृषि उपज की कीमतों को घटने न दिया जाय, चाहे इसके लिए कृत्रिम उपाय ही क्यों न किए जाएँ । दूसरी योजना के काल में कीमतें निरन्तर ऊपर की ओर जा रही हैं और मुद्रा-प्रसार का भय पुनः सम्मुख है ।

(V) पौण्ड पावना ऋण का भुगतान—

युद्धोत्तर काल की एक महत्त्वपूर्ण घटना ब्रिटिश सरकार द्वारा पौण्ड पावना ऋण का भुगतान भी है । समय-समय पर किये गये समझौते इस प्रकार हैं:—

(अ) जनवरी सन् १६४७ का समझौता—आरम्भ में भारत और ब्रिटेन

के बीच जनवरी सन् १९४७ में यह समझौता हुआ कि भारत अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ स्टर्लिङ्ग क्षेत्र से खरीद सकता था और यदि उसे डालर क्षेत्र से भी वस्तुएँ मँगाने की आवश्यकता पड़े, तो वह पौंड पावनों को डालर में परिवर्तित कर सकता था। परन्तु शीघ्र ही इङ्गलैंड और अमरीका के बीच एक नवीन आर्थिक समझौता हो गया, जिसने स्थिति में इतना परिवर्तन कर दिया कि उपरोक्त समझौते के अनुसार कार्य न हो सका।

(आ) अगस्त सन् १९४७ का समझौता—१४ अगस्त सन् १९४७ को भारत और इङ्गलैंड के बीच एक नया समझौता हुआ, जिसके अनुसार हमारे पौंड पावनों के दो खाते खोले गये :—प्रथम, चालू, खाता और दूसरा स्थिर खाता। चालू खाता ८६·६ करोड़ रुपए से खोला गया, जिसमें से केवल ३ करोड़ रुपए दुर्लभ मुद्रा की प्राप्ति के लिए किया जा सकता था। नये पौण्ड पावनों की कमाई भी इसी में जमा होनी थी। स्थिर खाते में शेष १,४९६·६ करोड़ रुपए जमा किये गये। इसका उपयोग विदेशी पूँजी, प्रॉवीडेन्ट फण्ड और पेंशन आदि का भुगतान करने के लिए किया जायगा। परन्तु कोई निश्चित आयात योजना न होने के कारण भारत इस काल में पूरी राशि को निकालने में असमर्थ ही रहा।

(इ) जुलाई सन् १९४८ का समझौता—पहिले समझौते का अन्त होते ही एक नवीन समझौता किया गया, जिसकी शर्तें १५ जुलाई सन् १९४८ को प्रकाशित की गईं। इस समझौते की प्रमुख व्यवस्थाएँ इस प्रकार थीं :—

(१) अप्रैल सन् १९४७ को भारत सरकार ने इङ्गलैंड द्वारा छोड़े हुए कुल फौजी सामान को अपने अधिकार में ले लिया। इसकी कीमत १३३·३ करोड़ रुपया तय की गई और यह राशि हमारे पौंड पावनों में से घटा दी गई। इस प्रकार इस माल की कीमत का भुगतान हमने अपने पौंड-पावना ऋण में समायोजन करके कर दिया।

(२) भारत सरकार द्वारा इङ्गलैंड को पुराने अंगरेज अधिकारियों के उत्तर-वेतन के रूप में जो राशि दी जाती थी उसके चुकाने के लिए भारत सरकार ने इङ्गलैंड की सरकार से एक वार्षिकी (Annuity) खरीद ली। इस प्रकार वार्षिकी के रूप में इन उत्तर-वेतनों का मूल्य १९७ करोड़ रुपया निश्चित किया गया। यह राशि भी पौंड पावनों में से निकाल दी गई। इसी प्रकार प्रान्तीय सरकारों के अधिकारियों के उत्तर-वेतनों की वार्षिकी की कीमत २७ करोड़ रुपया तय हुई, अतः २२४ करोड़ रुपया इस मद पर पौण्ड पावनों में से कम किया गया।

(३) पिछले समझौते के अनुसार भारत को १११ करोड़ रुपयों के पौंड पावने लेने का अधिकार मिला था, परन्तु वास्तव में केवल ४ करोड़ रुपयों का ही माल लिया गया। नये समझौते में भारत सरकार को

शेष १०७ करोड़ रुपये के पौंड-पावने निकालने का अधिकार फिर से दे दिया गया। इनके अतिरिक्त अगले ३ वर्षों अर्थात् ३० जून सन् १९५१ तक इङ्गलैंड ने इतनी ही कीमत के पौंड-पावने और देने का वचन दिया। इस प्रकार हमें तीन साल के भीतर कुल मिला कर २१४ करोड़ रुपए निकालने का अधिकार दिया गया। इस समझौते के समय पौण्ड पावना ऋण की कुल कीमत १,५५० करोड़ रुपया आँकी गई थी, जिसमें से १३३ करोड़ रुपया फौजी सामानों, २१४ करोड़ रुपया उत्तर-वेतनों की वार्षिकी तथा १३६ करोड़ रुपया पाकिस्तान के हिस्से के रूप में निकाल दिया गया था। इस प्रकार कुल १,०६७ करोड़ रुपए के पौंड-पावने बचे थे, जिसमें से २१४ करोड़ रुपए की राशि अगले तीन वर्षों में निकाली जा सकती थी।

समझौते में यह भी तय किया गया कि एक वर्ष में केवल २० करोड़ रुपए की राशि ही डालर तथा दूसरी दुर्लभ मुद्राओं में ली जा सकती थी।

(ई) जुलाई सन् १९४९ का समझौता—उपरोक्त समझौते के जीवन-काल में ही एक नए समझौते की आवश्यकता अनुभव हुई, क्योंकि ब्रिटेन के पास डालर का अभाव अधिक था। इस समझौते में भारत को सन् १९४८-४९ के लिए ८·१० करोड़ पौंड दिए गये और सन् १९४९-५० तथा सन् १९५०-५१ के लिए प्रति वर्ष ५ करोड़ पौंड मिलना निश्चित हुआ। इसके अतिरिक्त खुली अनुज्ञापन व्यवस्था (Open General License) के अन्तर्गत मंगाये गये पिछले माल की कीमत चुकाने के लिए ५ करोड़ पौंड और दिये गये। डालर की कमी को दूर करने के लिए भारत को केन्द्रीय कोष (Central Reserves) में से १४ या १५ करोड़ डालर लेने का अधिकार दिया गया और यह भी आज्ञा मिली कि वह विश्व बैंक से डालर ऋण लेकर कितना भी माल खरीद सकता था, परन्तु भारत सरकार से यह वचन ले लिया गया कि अगले वर्षों में भारत सरकार अपने डालर आयातों में २५% की कमी कर देगी। इस समझौते की शर्तें भारत के दृष्टिकोण से काफी उदार थीं, जिसके कारण इङ्गलैंड में वहाँ की लेबर सरकार की आलोचना भी हुई थी।

(उ) सन् १९५२ का समझौता—८ फरवरी सन् १९५२ की अन्तिम जाँच के पश्चात् यह ज्ञात हुआ था कि उस समय हमारे पास ५७ करोड़ पौंड अथवा ७६१ करोड़ रुपयों के पौंड-पावने शेष रहे थे। उस समय ब्रिटिश सरकार से एक नया समझौता किया गया, जिसके अनुसार यह निश्चय हुआ कि ३० जून सन् १९५७ तक ब्रिटिश सरकार प्रति वर्ष ३·५ करोड़ पौंड चुकायेगी। इसके अतिरिक्त यह भी व्यवस्था की गई है कि ३१ करोड़ पौंड की एक ऐसी राशि खाता नं० १ में रखी जायगी जिसे भारत केवल संकट-काल में ब्रिटिश सरकार की पूर्व स्वीकृति प्राप्त करके निकाल सकेगा। व्यवस्था इस प्रकार थी कि इस समझौते की अवधि समाप्त होते ही सन्

१९५७ में शेष राशि के लिए नया समझौता किया जाय। प्रथम पंच-वर्षीय योजना में भारत सरकार ने पौंड-पावना खाते से २९० करोड़ की राशि निकाल कर योजना-काल अर्थात् सन् १९५१-५६ में योजना पर व्यय करने का निश्चय किया था। वास्तव में बहुत ही कम राशि प्रथम योजना काल में इस मद में से निकाली गई थी। जून सन् १९५४ में ७४४ करोड़ रुपए के पौंड-पावने शेष थे, जिसके आधार पर सन् १९५५-५६ में भी कोई ७४८ करोड़ रुपए की राशि इस मद में बची हुई थी। दूसरे पंच-वर्षीय आयोजन में इस मद से २०० करोड़ रुपए की राशि निकाल लेने का अनुमान है।

पिछले वर्षों में रिजर्व बैंक के पास पौंड-पावने की रकम के खाते में निम्न शेष रहे हैं :—

मार्च	सन्	१९५२	७२३	करोड़	रुपये
मार्च	सन्	१९५३	७२५	,,	,,
जून	सन्	१९५४	७४४	,,	,,
दिसम्बर	सन्	१९५५	७३५	,,	,,
मार्च	सन्	१९५६	७४६	,,	,,
नवम्बर	सन्	१९५६	५४३	,,	,,
जनवरी	सन्	१९५७	५२३	,,	,,
मई	सन्	१९५७	४६६	,,	,,

इस प्रकार अभी तक हमारे पौंड-पावना खाते में काफी रकम शेष है। स्मरण रहे कि दूसरी पंच-वर्षीय योजना के काल में पाँच वर्षों में इस खाते में २०० करोड़ रुपये की राशि को निकालने का प्रस्ताव है, जिस आधार पर लगभग ४० करोड़ रुपये की राशि प्रति वर्ष निकाली जायगी। वास्तविकता यह है कि हम अपने पौंड-पावने शेषों का भली-भाँति उपयोग नहीं कर पाये हैं। प्रथम योजना काल में निर्धारित २९० करोड़ रुपये की राशि निकालने के स्थान पर केवल ४३ करोड़ रुपये की राशि निकाली गई थी। दूसरी योजना के प्रथम ३ वर्षों का अनुभव भी कुछ इसी प्रकार का है।

(VI) भारत विभाजन का मुद्रा व चलन पर प्रभाव—

१५ अगस्त सन् १९४७ को स्वतन्त्रता के साथ-साथ भारत का भारतीय संघ तथा पाकिस्तान में बँटवारा हो गया। इस बँटवारे में देश की चलन का भारत और पाकिस्तान में १३ और ३ के अनुपात में विभाजन किया गया। विदेशी ऋणों के भुगतान की समस्त जिम्मेदारी भारत ने अपने ऊपर ली और पाकिस्तान ने अपने हिस्से की राशि भारत को किश्तों में चुकाने का वचन दिया, परन्तु पाकिस्तान से वायदा पूरा करने की अभी तक तो कोई आशा नहीं हो पाई है, उस देश का सामान्य व्यवहार शत्रुता का है और वह उचित तथा अनुचित रीति से भारत को हानि पहुँचाना चाहता है। अविभाजित भारत के ऋण को चुकाने का उत्तरदायित्व भारत ने अपने

ऊपर लिया था, परन्तु पाकिस्तान ने अभी तक भी अपने हिस्से की किश्त नहीं चुकाई है। इसके अतिरिक्त पाकिस्तान को जो पानी और बिजली सप्लाई की गई है उसकी कीमत भी उसने नहीं चुकाई है।

(VII) भारतीय रुपये के पुनर्मूल्यन का प्रश्न (Revaluation)—

१८ सितम्बर १९४९ को स्टर्लिंग और रुपये का तथा अन्य स्टर्लिंग क्षेत्रीय मुद्राओं का अवमूल्यन किया गया था। इसके एक वर्ष बाद ही रुपये के पुनर्मूल्यन की चर्चा होने लगी। पुनर्मूल्यन के पक्ष एवं विपक्ष में निम्न तर्क दिये गये थे:—

पुनर्मूल्यन के पक्ष में तर्क—

पिछले कुछ दिनों से कुछ व्यक्तियों ने यह विचार प्रकट किया है कि भारतीय रुपये का पुनर्मूल्यन करके उसकी विदेशी कीमत में वृद्धि करनी चाहिए। इस मत के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) आयात वस्तुओं के मूल्य में कमी होगी—इसके द्वारा आवश्यक आयातों, जैसे—खाद्यान्न, मशीनों और जरूरी कच्चे मालों की कीमत घट जायगी।

(२) निर्यात व्यवहार बढ़ेगा—इससे हमारे निर्यातों का पहले से अधिक मूल्य प्राप्त होगा। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि हमारे अधिकांश निर्यात ऐसे हैं कि उनकी मांग लगभग बेलोच है और कीमतों की वृद्धि के कारण उनकी माँग में कोई विशेष कमी हो जाने का भय नहीं है।

(३) आन्तरिक मूल्य-स्तर में कमी—यह कहा जाता है कि सन् १९४९ में रुपये के अवमूल्यन के कारण देश में कीमतें ऊपर चढ़ गई थीं। पुनर्मूल्यन द्वारा ये कीमतें फिर नीचे गिर जायेंगी।

(४) पाकिस्तान से सम्बन्धों में सुधार—इससे भारत और पाकिस्तान के व्यापारिक, आर्थिक तथा राजनैतिक सम्बन्ध सुधर जायेंगे और दोनों को आर्थिक विकास का अच्छा अवसर प्राप्त होगा।

(५) मुद्रा प्रसार पर रोक—ऐसा कहा जाता है कि यदि देश में मुद्रा-प्रसार को नहीं रोका जाता है तो हमारी आर्थिक विकास योजनाओं के संचालन में कठिनता होगी, क्योंकि इसके कारण एक ओर तो देश के भीतर औद्योगिक सम्बन्धों में तनाव बना रहेगा और दूसरे, इसके कारण मशीनों, स्थिर यन्त्रों तथा कच्चे मालों की कीमत ऊँची हो जायगी, जिससे सरकारी तथा व्यक्तिगत योजनाओं का संचालन कठिन हो जायगा। साथ ही, यह भी कहा जाता है कि कीमतों की स्थिरता को बनाये रखना स्वयं योजना की सफलता के लिए भी आवश्यक है। योजना के अन्तर्गत जो व्यय किया जा रहा है वह स्वयं ही स्फीतिक प्रवृत्तियाँ रखता है।

संक्षेप में, हम इस प्रकार कह सकते हैं कि रुपये का पुनर्मूल्यन देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था की रक्षा हेतु उपयुक्त बताया जाता है और मान्यता यह है कि इसका देश की बाह्य अर्थ-व्यवस्था पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा।

पुनर्मूल्यन के विपक्ष में तर्क—

पुनर्मूल्यन के आलोचकों के तर्क भी महत्त्वपूर्ण हैं, जोकि निम्न प्रकार हैं:—

(१) आयात वस्तुओं के मूल्य में कमी आना आवश्यक नहीं है—रुपये की मूल्य वृद्धि के फलस्वरूप आयात की वस्तुओं में जो कमी होने की आशा की जाती है उसका होना आवश्यक नहीं हैं, क्योंकि विदेशी निर्यातकर्त्ता उनकी कीमतों में वृद्धि कर सकते हैं अथवा देशी आयातकर्त्ता ऐसा कर सकते हैं। जिन अधिकांश आवश्यक वस्तुओं का भारत द्वारा आयात किया जाता है (जैसे खाद्यान्न, मशीनरी आदि) उनकी पूर्ति माँग से कम है और उनकी बिक्री साधारणतया एकाधिकारी संघों द्वारा की जाती है। भारत के साथ मूल्य-विभेद सम्भव है। यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि हमारे आयातों की समस्या उनकी ऊँची कीमत की समस्या नहीं है, बल्कि उनके मिल जाने की समस्या है।

(२) अन्य देशों के प्रतिरोध का भय—भारत द्वारा पुनर्मूल्यन का परिणाम यह हो सकता है कि प्रतिरोध में पाकिस्तान, लङ्का, बर्मा आदि भी ऐसा ही करें।

(३) निर्यात में कमी होने का भय—यह समझना भी भूल होगी कि हमारे अधिकांश निर्यातों की माँग बेलोच है। कुछ वस्तुओं, जैसे मैंगनीज और अबरक मे तो हमें एक बड़े अंश तक एकाधिकार अवश्य प्राप्त है, परन्तु अन्य सभी में काफी प्रतियोगिता है। जूट के माल की कीमतों को भी बहुत ऊँचा कर देना सम्भव नहीं है, क्योंकि पाकिस्तानी प्रतियोगिता के अतिरिक्त स्थानापन्नों का प्रचलन बढ़ जाने का भय है। चाय के विषय में भी ऐसा ही कहा जा सकता है।

(४) व्यापाराशेष का घाटा—भारत के भूतपूर्व वित्त मन्त्री श्री चिन्तामणि देशमुख ने लोक सभा में बताया था कि उनके अनुमानों के अनुसार यदि रुपये की कीमत में १५% की भी वृद्धि की गई तो इसके कारण देश के व्यापाराशेष का घाटा ५० करोड़ रुपया हो जायगा और यदि वृद्धि ३०% होती है तो घाटे की मात्रा १३५ करोड़ रुपये तक पहुँच जायगी।

(५) राष्ट्रीय सम्मान को चोट—समय-समय पर थोड़ा सा लाभ उठाने के लिए विनिमय दर में परिवर्तन करना दीर्घकालीन दृष्टिकोण से बुद्धिमानी नहीं है, क्योंकि इससे राष्ट्रीय सम्मान को चोट लगती है। जहाँ तक पूनर्मूल्यन द्वारा निर्यात से लाभ प्राप्ति का प्रश्न है, वह तो निर्यात कर से भी प्राप्त किया जा सकता है।

(६) स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के देशों से स्पर्धा में वृद्धि—यदि केवल भारत ही रुपये का पूनर्मूल्यन करता है, तो वह निर्यात व्यापार में स्टर्लिङ्ग के क्षेत्र के अन्य देशों के साथ स्पर्धा नहीं कर सकेगा। इससे उसका निर्यात व्यापार स्टर्लिङ्ग क्षेत्र में व अमेरिका में भी कम हो जायगा।

(७) मुद्रा-प्रसार रोकने के अन्य साधन भी हैं—मुद्रा-प्रसार के दुष्प्रभावों को दूर करने का एक मात्र उपाय रुपये का पुनर्मूल्यन हो, ऐसी बात नहीं है। वरन् इसके अन्य उपाय भी हैं, जैसे बचत को विकसित करना, करों में वृद्धि, मूल्य नियन्त्रण आदि। अतः जब चाहे तब विनिमय दर से खिलवाड़ करना नहीं चाहिए।

श्री देशमुख ने कड़े शब्दों में पुनर्मूल्यन का विरोध किया था। उनका विचार था कि हमारे लिए इस समय विदेशी मुद्राओं का प्राप्त करना आवश्यक है, ताकि हमारे व्यापाराशेष के सन्तुलन के अतिरिक्त आवश्यक आयातों का अभाव भी दूर हो जाय, परन्तु विदेशी विनिमय प्राप्त करने का एक मात्र उपाय यही है कि निर्यात बढ़ाये जायें और इसके लिए पुनर्मूल्यन वाँछनीय नहीं है। पिछले कुछ समय से तो देश में वस्तुओं की कीमतें फिर बढ़ने लगी हैं और इसलिये पुनर्मूल्यन का महत्त्व बहुत ही कम रह गया। श्री देशमुख ने सरकारी नीति को स्पष्ट करते हुए कहा था :—"अभी हम पुनर्मूल्यन न करने का निश्चय कर चुके हैं, क्योंकि देश का हित इसी में है, परन्तु इस निर्णय को अन्तिम तथा स्थाई नहीं कहा जा सकता है। यदि परिस्थितियों में अनुकूल परिवर्तन होते हैं तो सम्भव है, भविष्य में हमें इस पर विचार करना पड़े।"

इस समय तो स्थिति बिल्कुल ही बदल गई है। अब तो सरकार की नीति कृषि उपज की कीमतों में कमी रोकने की है। पाकिस्तान ने अपने रुपये का पुनर्मूल्यन करके भारतीय रुपये के पुनर्मूल्यन की आवश्यकता लगभग समाप्त ही कर दी है।

(VIII) आर्थिक नियोजन और हीनार्थ-प्रबन्धन (Economic Planning and Deficit Financing)—

सन् १९५१ से भारत में आर्थिक नियोजन को कार्यशील किया गया है। प्रथम पंच-वर्षीय आयोजन में कुल विकास व्यय २,२४९ करोड़ रुपया रखा गया था। सरकार का ऐसा अनुमान था कि इस व्यय का अधिकाँश भाग तो करारोपण, सरकारी और व्यक्तिगत बचत तथा इसी प्रकार के दूसरे शीर्षकों से पूरा हो जायगा, परन्तु कुछ अंश तक घाटे के बजटों और विदेशी सहायता पर निर्भर रहना पड़ेगा। अनुमान यह था कि २९० करोड़ रुपये के हीनार्थ-प्रबन्धन से काम चल जायगा और लगभग १६५ करोड़ रुपये की विदेशी सहायता की आवश्यकता पड़ेगी। इस हीनार्थ-प्रबन्धन के कारण किसी विशेष कठिनाई अथवा भय का अनुमान नहीं लगाया गया था, क्योंकि इस राशि के पौंड पावना मद से प्राप्त होने की आशा थी। बाद के अनुभव से सिद्ध हुआ है कि अनुमान गलत थे। आशा के अनुसार आय प्राप्त न होने के कारण घाटा अधिक रहा है। सन् १९५४ के अन्त में ही घाटे का सरकारी अनुमान २५० करोड़ रुपये के लगभग था, यद्यपि गैर सरकारी अनुमान ४००-५०० करोड़ रुपए के आस-पास था। प्रथम पञ्च-वर्षीय योजना काल में ४०० करोड़ रुपए के आस-पास हीनार्थ-प्रबन्धन हुआ है।

दूसरे पंच-वर्षीय आयोजन में सार्वजनिक क्षेत्र में ४,८०० करोड़ रुपए के व्यय का प्रस्ताव रखा गया है, जिसमें से ८०० करोड़ रुपया विदेशी सहायता के रूप में मिलने का अनुमान लगाया गया है। १,२०० करोड़ रुपए के हीनार्थ-प्रबन्धन का अनुमान है और ४०० करोड़ रुपये के लिए किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं हो पाई है। इस राशि पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि शायद हीनार्थ-प्रबन्धन १,६०० करोड़ रुपए से भी ऊपर रहेगा। इसमें से कोई २०० करोड़ रुपए की राशि तो पौंड-पावना मद से प्राप्त होने का अनुमान है और यदि ४०० करोड़ रुपए का घाटा अन्य सूत्रों से पूरा भी हो जाय तो पाँच वर्ष में फिर भी १,००० करोड़ रुपये के हीनार्थ-प्रबन्धन की आवश्यकता होगी।

यह विषय विवादग्रस्त है कि हीनार्थ-प्रबन्धन के फलस्वरूप कीमतों में किस हद तक वृद्धि हुई है। १५ अगस्त सन् १९४७ से ३१ मार्च सन् १९५४ तक ६८१ करोड़ रुपयों का हीनार्थ-प्रबन्धन हुआ था। इसमें से २५२ करोड़ रुपया ऐसा था कि उसके कारण मुद्रा की मात्रा में वृद्धि नहीं हुई थी। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि इस प्रकार की मदों को निकाल देने के बाद भी इस काल में कोई ५० करोड़ रुपए का प्रति वर्ष हीनार्थ-प्रबन्धन रहा है। निम्न तालिका हीनार्थ-प्रबन्धन के प्रभाव को स्पष्ट करती है :—

वर्ष	बजट घाटा (—) बचत (+)	हीनार्थ-प्रबन्धन	मुद्रा की पूर्ति	थोक कीमतों का निर्देशांक अगस्त १९३९ = १००
१९४७–४८	—११०·६८	—१६०·१७	१९·६४	३०८·२
१९४८–४९	— ८१·५७	—१४७·६६	१८·८४	३७६·२
१९४९–५०	— ४३·८०	— ६६·३२	१८·६५	३८५·४
१९५०–५१	+ १२·४४	— ४७·४५	१८·३४	४०९·७
१९५१–५२	+ ०·९१	+ २०·०१	१७·६३	४३४·६
१९५२–५३	— ६३·५४	— ४२·७६	१६·८३	३८०·६
१९५३–५४	— ४८·२९	— १०·१९	१७·१५	३९७·५
१९५४–५५	—	—	—	३५७·४
१९५५–५६	—	—	१०·८	३४५·०
१९५६–५७	—	—	—	४१९·८

इस प्रकार इसमें तो सन्देह नहीं है कि हीनार्थ-प्रबन्धन नीति के फलस्वरूप मुद्रा की मात्रा तथा कीमतों में वृद्धि है, परन्तु इस प्रकार हमारे देश में इसकी सम्भावना अधिक नहीं है। योजना कमीशन का अनुमान है कि प्रथम पंच-वर्षीय आयोजन में पाँच वर्षों में ५० करोड़ रुपया प्रति वर्ष का हीनार्थ प्रबन्धन हुआ है, जिसमें से ३५ से ४७ करोड़ रुपए तक के हीनार्थ-प्रबन्धन में मुद्रा-प्रसार की प्रवृत्ति न थी। रिजर्व बेंक की एक नई रिपोर्ट के अनुसार प्रथम पंच-वर्षीय आयोजन में घाटा लगभग २५० करोड़ रुपए का ही रहा है। दूसरी पंच वर्षीय योजना के लगभग २०० करोड रुपया

प्रति वर्ष के हीनार्थ-प्रबन्धन की आवश्यकता दिखलाई गई है। यह घाटा और भी बढ़ सकता है, यदि योजना व्यय में ४०० करोड़ रुपए के घाटे को पूर्ण करने का कोई दूसरा उपाय सफल नहीं होता।

दूसरी योजना में हीनार्थ-प्रबन्धन—

दूसरी पंच-वर्षीय योजना के आरम्भ में ही कीमतों ने ऊपर उठना आरम्भ किया। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि दूसरी योजना के प्रस्तावित लक्ष्यों को पूरा करने के लिए अब ४,८०० करोड़ रुपये के स्थान पर लगभग ५,५०० करोड़ रुपये की आवश्यकता पड़ेगी। इस प्रकार वित्तीय घाटा और भी बढ़ जायगा। उधर हीनार्थ-प्रबन्धन नीति के फलस्वरूप मुद्रा-प्रसार का भय भी पैदा हो गया है, जिसकी गम्भीरता इस कारण और भी बढ़ गई है कि हमारा खाद्यान्न उत्पादन कार्यक्रम आवश्यकतानुसार सफल नहीं हो पाया है। दिसम्बर सन् १९५६ में राष्ट्रीय विकास परिषद् ने हीनार्थ-प्रबन्धन को घटाने का सुझाव दिया था। परिषद् का विचार था कि दूसरी योजना के पहले तीन वर्षों में शायद २५० करोड़ रुपए प्रति वर्ष के हिसाब से हीनार्थ-प्रबन्धन निभ जाय, किन्तु तत्पश्चात् मुद्रा-प्रसार का दबाव इतना बढ़ जायगा कि और अधिक हीनार्थ-प्रबन्धन शायद उचित न रहे। वास्तविकता यह है कि मार्च सन् १९५८ तक, अर्थात् योजना के पहले दो वर्षों में लगभग ६०० करोड़ रुपये का हीनार्थ-प्रबन्ध हो चुका है। सन् १९५८-५९ के लिए २०५ करोड़ रुपए के हीनार्थ-प्रबन्ध की व्यवस्था की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि हीनार्थ-प्रबन्ध से उत्पन्न मुद्रा-प्रसार का आरम्भिक दबाव अपना वेग समाप्त कर चुका है। आशा यह है कि शायद भविष्य में नियन्त्रित तथा सीमित हीनार्थ-प्रबन्ध दुखदायी न हो, किन्तु यह आशा इस विश्वास पर आधारित है कि सरकार दूसरी योजना के लिए अन्य सूत्रों से आवश्यक वित्त प्राप्त करने में सफल रहेगी। अब तक योजना की जो प्रगति हुई है उससे तो यही स्पष्ट है कि अन्य सूत्रों से आवश्यक मात्रा में आय प्राप्त न होने के कारण हीनार्थ-प्रबन्धन की और अधिक सहायता ली गई है। यही कारण है कि कीमतें भी निरन्तर ऊपर की ओर उठ रही हैं।

QUESTIONS

What difficulties were experienced by the Government of India in respect of currency and exchange during the last Great War? How did the Government meet the situation?

(Agra, B. Com, 1958)

2. Discuss the effects of World War II on the Indian Currency System. (Agra, B. Com., 1955 Supp., 1957 Supp.)
3. Trace the history of Indian Currency System since the establishment of the Reserve Bank of India. (Agra, B. Com., 1958)
4. Examine critically the present currency system in India. Does it meet the needs of economic expansion that is taking place in the country ? Discuss. (Raj., B. Com., 1955)
5. नोट लिखिए—घाटे की अर्थ-पूर्ति (Deficit-Financing)। (Sagar, B. Com., 1958)
6. द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के भारतीय मुद्रा पर पड़ने वाले प्रभावों का पूर्ण विवेचन कीजिए। (Sagar, B. Com., 1957)
7. भारत की वर्तमान चलार्थ पद्धति की तर्क सहित परीक्षा (Critically Examine) कीजिए। (Sagar, B. Com., 1954)
8. सितम्बर सन् १९४९ में किन कारणों से भारतीय रुपये का अवमूल्यन हुआ ? इस अवमूल्यन से भारतीय आर्थिक स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ा, स्पष्टतया समझाइये। (Agra, B. Com., 1958)
9. Write a note on—Devaluation of Currency. (Agra, B. Com., 1954, 56, 58)
10. How is the exchange value of the rupee determined ? Was the devaluation of the Indian rupee in September 1949 justified ? Give reasons for your answer. (Raj., B. A., 1954)
11. Indicate the circumstances leading to the devaluation of the Indian rupee in 1949 and discuss its economic effects. (Raj., B. Com., 1956 ; Sagar, B. Com., 1955)
12. मुद्रा का अवमूल्यन क्या है ? वर्तमान परिस्थितियों में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के पक्ष एवं विपक्ष के तर्कों की परीक्षा कीजिए। (Sagar, B. Com., 1958)

अध्याय ३०

भारतीय पत्र-चलन का इतिहास

(The History of Indian Paper Currency)

प्रारम्भिक—

भारतीय पत्र चलन के इतिहास को तीन कालों (Pericds) में बाँट कर अध्ययन किया जा सकता है। ये काल निम्नलिखित हैं :—(I) प्रेसीडेन्सी बैंकों द्वारा नोट प्रकाशन (सन् १८०६ से सन् १८६१ तक); (II) सरकार द्वारा निश्चित असुरक्षित नोट चलन पद्धति के अनुसार नोटों का प्रकाशन (सन् १८६१ से सन् १९३४ तक); (III) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा आनुपातिक कोष-निधि-प्रणाली की स्थापना (सन् १९३४ से सन् १९५६ तक); (IV) न्यूनतम् मुद्रा-कोष-प्रणाली की स्थापना (सन् १९५६ से सन् १९५९ तक); (V) वर्तमान नोट निर्गम प्रणाली।

(I) प्रेसीडेन्सी बैंकों द्वारा नोट प्रकाशन (१८०६-१८६१)—

इस काल की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं :—

(१) १९ वीं शताब्दी से पूर्व भारत में पत्र-मुद्रा चलन का प्रचलन नहीं था।

(२) सबसे पहले बैंक ऑफ बङ्गाल ने, जिसकी स्थापना सन् १८०६ में हुई थी, सरकारी आज्ञानुसार नोटों की निकासी आरम्भ की। तत्पश्चात् सन् १८४० में बैंक ऑफ बम्बई तथा सन् १८४३ में बैंक ऑफ मद्रास को भी यह अधिकार दिया गया। इस प्रकार सन् १८६१ के पूर्व इन तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को नोट निकालने का अधिकार था।

(३) इन बैंकों द्वारा नोटों का वाहक की मांग पर भुगतान करना आवश्यक होता था। इन नोटों के प्रचलन का क्षेत्र भी साधारणतया कलकत्ते, बम्बई तथा मद्रास के शहरों तक ही सीमित था। सरकार द्वारा प्रत्येक बैंक के लिए नोट निर्गमन की अधिकतम् सीमा निश्चित की गई थी और प्रत्येक बैंक को नोट निर्गम का एक-तिहाई (जो बाद को $\frac{1}{4}$ कर दिया गया था) धातु-निधि के रूप में रखना पड़ता था। इन बैंकों द्वारा निकाले हुए नोटों को विधि-ग्राह्यता भी प्राप्त न थी।

(४) तीनों प्रेसीडेन्सी बैंक अंशधारियों की बैंक थीं और व्यक्तिगत संस्थायें थीं, परन्तु इनमें सरकार के भी अंश रहते थे और इनके प्रबन्ध में भी सरकार का हाथ रहता था।

(II) सरकार द्वारा निश्चित, असुरक्षित नोट चलन पद्धति के अनुसार नोट प्रकाशन (सन् १८६१-१६३६)—

सन् १८६१ में सरकार ने इन नोटों के प्रचलन को बन्द कर दिया और नोट निर्गमन का कार्य अपने हाथ में ले लिया। उपरोक्त वर्ष में पत्र-चलन एक्ट (Paper Currency Act) पास किया गया। इसकी मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित थीं :—

(१) सरकार ने १०, २०, ५०, १००, ५००, १,००० तथा १०,००० रुपए के नोट चालू किए।

(२) आरम्भ में देश को कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास के तीन निर्गम क्षेत्रों (Issue Circles) में विभाजित किया गया और प्रत्येक क्षेत्र में निकाले हुए नोट केवल उसी क्षेत्र के भीतर विधि-ग्राह्य होते थे। सन् १६१० तक क्षेत्रों की संख्या बढ़ा कर ७ कर दी गई। क्षेत्र विशेष के भीतर ये नोट अपरिमित विधि-ग्राह्य होते थे। ऐसे नोटों को प्रत्येक क्षेत्र के केवल प्रधान कार्यालय पर ही रुपयों के सिक्कों में बदला जा सकता था, परन्तु सरकारी भुगतानों को चुकाने के लिए किसी भी क्षेत्र के नोटों में भुगतान किया जा सकता था। इस क्षेत्रवर्ती प्रणाली ने नोटों की लोकप्रियता में कमी कर दी, अतः शनैः-शनैः इसे तोड़ने का प्रयत्न किया गया।

(३) सन् १६०३ में ५ रुपये का नोट सभी क्षेत्रों में अपरिमित विधि-ग्राह्य बनाया गया। तत्पश्चात् सन् १६१० में १० तथा ५० रुपये के नोटों और सन् १६११ में १०० रुपए के नोटों को सभी क्षेत्रों में विधि-ग्राह्य कर दिया गया।

(४) इङ्गलैंड की नोट निर्गमन प्रणाली के आधार पर सन् १८६१ के नियम में निश्चित विश्वासाश्रित निर्गम प्रणाली (Fixed Fiduciary System of Note Issue) की स्थापना की गई थी। ४ करोड़ रुपये की कीमत तक के नोट सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर निकाले जा सकते थे, परन्तु इससे ऊपर के प्रत्येक नोट के पीछे रुपये के सिक्कों, धातुओं अथवा भारत सरकार की रुपया प्रतिभूतियों की १००% निधि आवश्यक होती थी। आगे चल कर विभिन्न संशोधनों द्वारा धीरे-धीरे विश्वासाश्रित निर्गम की मात्रा बढ़ा दी गई थी और सन् १६१६ में यह २० करोड़ रुपया हो गई थी। सन् १८६८ के एक नियम के अनुसार भारत सरकार को यह अधिकार दे दिया गया था कि वह निधि का एक भाग सोने में रख ले। इसी प्रकार सन् १६०० के एक नियम के अनुसार सरकार निधि का कोई भी भाग लन्दन में रखने की अधिकारी हो गई थी, परन्तु रुपये के सिक्कों को लन्दन में रखने का अधिकार नहीं दिया गया था। विश्वासाश्रित सीमा के परे १००% निधि की जो व्यवस्था की गई थी उसने पत्र-मुद्रा प्रणाली को अत्यधिक सुरक्षा तो अवश्य दे दी, परन्तु इसके कारण यह प्रणाली व्ययपूर्ण हो गई, क्योंकि निधि के अधिकांश भाग को अनुत्पादक रूप में रखना आवश्यक था।

भारत में सन् १८६१ से सन् १९३६ तक अपनाई गई निश्चित असुरक्षित नोट निर्गम प्रणाली के गुण-दोष—

इस प्रणाली के प्रमुख गुण—(१) सुरक्षा, (२) परिवर्तनशीलता तथा (३) अति-निर्गमन विरोधी रोक थी। साथ ही, इस प्रणाली में कुछ गम्भीर दोष भी थे।

(१) स्व-चालकता का अभाव—इसमें स्व-चालकता का गुण न था और समय-समय पर विश्वासाश्रित निर्गमन की मात्रा में वृद्धि करने के लिए नये-नये कानूनों की आवश्यकता पड़ती थी।

(२) निधि में धातु का भाग अधिक—इसमें धातु निधि का अंश काफी अधिक था और उसका अधिकाँश भाग देश के बाहर ही रखा जाता था।

(३) कोष-निधि का कोषागार में व्यर्थ पड़े रहना—केन्द्रीय बैंक के न होने के कारण सरकार को अपनी कोष-निधि कोषागारों में बन्द करके रखनी पड़ती थी, जिसके कारण व्यस्त व्यवसायिक काल में धन की कमी अनुभव होने लगती थी।

(४) बेलोच चलन—इसने देश की चलन प्रणाली को पूर्णतया बेलोच बना दिया था। भारत में बैंकिंग विकास, मौद्रिक बाजार तथा बिल बाजार के अभाव के कारण यह प्रणाली विशेष रूप में असुविधाजनक थी और आवश्यकता के काल में चलन की मात्रा में परिवर्तन करना कठिन होता था। चैम्बरलेन आयोग ने अपनी रिपोर्ट में पत्र-मुद्रा चलन की लोच तथा लोकप्रियता को बढ़ाने के कुछ सुझाव रखे थे, परन्तु इस दिशा में बहुत सुधार नहीं हो पाया था।

प्रथम महायुद्ध का पत्र-मुद्रा-चलन पर प्रभाव—

प्रथम महायुद्ध काल में भारतीय मुद्रा प्रणाली ने अत्यधिक आकर्षण का अनुभव किया। पहले से ही कागजी नोट बहुत लोकप्रिय न थे। युद्ध का आरम्भ होते ही विश्वास में और भी अधिक कमी होने लगी। लड़ाई के पहले ८ महीनों में ही १० करोड़ रुपये की कीमत के नोट खजाने को लौटा दिये गये थे, क्योंकि नोटों को रुपये के सिक्कों में बदलने की मांग में भी वृद्धि हुई थी। सन् १९१४ में सरकार ने विश्वा-साश्रित निर्गमन की मात्रा को बढ़ा कर १४ करोड़ रुपया कर दिया और सन् १९१९ में वह २० करोड़ रुपया कर दी गई। इसी काल में रुपये के सिक्कों के स्थान पर एक तथा दो रुपए के नोट निकाले गये और सरकार ने नोटों को रुपयों में परिवर्तित करने के उत्तरदायित्व को स्थगित कर दिया।

सन् १९१९ की बैबिंगटन-स्मिथ कमेटी की सिफारिशें—

युद्ध के पश्चात् बैबिंगटन-स्मिथ समिति ने भारतीय चलन प्रणाली की फिर जाँच की। इस समिति का विचार था कि भारतीय पत्र-मुद्रा चलन में लोच का भारी अभाव था। समिति ने इस कमी को दूर करने के लिए दो सुझाव रखे—प्रथम, यह

कि विश्वासाश्रित निर्गमन के ऊपर ५ करोड़ रुपए के नोटों की और अधिक व्यवस्था होनी चाहिए और यह राशि प्रेसीडैन्सी बैंकों को निर्यात बिलों की आड़ पर ऋणों के रूप में मिलनी चाहिए और दूसरे, यह कि निधि का धातु भाग कुल पत्र-मुद्रा चलन का कम से कम ४०% रहना चाहिए। समिति के सुझाव सरकार ने स्वीकार कर लिए और उनके आधार पर नोटों को रुपयों में परिवर्तन सम्बन्धी प्रतिबन्ध भी हटा दिये।

पत्र-चलन एक्ट सन् १९२३—

सन् १९२० के कई छोटे-छोटे नियमों द्वारा भारत की पत्र-मुद्रा प्रणाली में कुछ परिवर्तन किये गये थे। इन सभी संशोधनों को एक सामूहिक बिल में सम्मिलित करके भारत सरकार ने सन् १९२३ का एक्ट पास किया। इस एक्ट ने पत्र-मुद्रा निधि सम्बन्धी नियमों में निम्नलिखित परिवर्तन किए :—

(१) कुछ निधि का कम से कम ५०% धातु-निधि के रूप में रखना आवश्यक बनाया गया।

(२) शेष निधि को २० करोड़ रुपए की प्रतिभूतियों के रूप में भारत में रखा जा सकता था और इससे ऊपर की सारी निधि को अल्पकालीन प्रतिभूतियों में, जिनकी समय अवधि १२ मास से अधिक न हो, लन्दन में रखना आवश्यक कर दिया गया।

(३) सरकार को यह अधिकार मिला कि ५ करोड़ रुपए की कीमत तक के नोट ऐसे भुनाये हुए विनिमय बिलों की आड़ पर निकाल दे, जिनकी परिपक्वता (Maturity) ९० दिन से अधिक न हो।

(४) भारत सचिव लन्दन में ५० लाख पौंड के मूल्य से अधिक स्वर्ण नहीं रख सकता था।

सन् १९२१ में तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिला कर इम्पीरियल बैंक बना दिया गया और इसे ही इस प्रकार की (विनिमय बिलों की आड़ पर) मुद्रा के निर्गम का अधिकार दिया गया। यह स्मरण रहे कि बाद में यह एक्ट संशोधित रूप में ही कार्यान्वित किया गया।

हिल्टन-यंग कमीशन (सन् १९२६)—

हिल्टन-यंग आयोग ने भी पत्र-मुद्रा-प्रणाली में सुधार के कुछ सुझाव रखे थे। आयोग के सुझाव चार प्रकार के थे :—(१) एक केन्द्रीय बैंक स्थापित की जाय, जिसे नोट निर्गमन का एकाधिकार प्राप्त हो, (२) नोटों को रुपयों में बदलने की जिम्मेदारी का अन्त होना चाहिए। (३) पत्र-चलन निधि तथा स्वर्णमान निधि का संवनन (Consolidation) होना चाहिए और (४) भारत में अनुपातिक निधि निर्गम प्रणाली की स्थापना होनी चाहिए।

सन् १९२७ का करेन्सी एक्ट—

सन् १९२७ के करेन्सी एक्ट में सरकार ने इनमें से कुछ सुझावों को कार्य रूप

दे दिया :—(१) देश में स्वर्ण-धातुमान स्थापित किया गया, (२) रुपये की विनिमय दर १ शिलिंग ६ पैंस तय की गई, (३) इङ्गलैण्ड ने सन् १६३१ में स्वर्णमान छोड़ दिया, तब से देश में स्टर्लिङ्ग विनिमय मान कायम हो गया और नोटों के बदले स्वर्ण-पाट देना बन्द कर दिया, (५) किन्तु केन्द्रीय बैंक की स्थापना का प्रश्न स्थगित कर दिया गया, और (६) देश में अब भी निश्चित अनुरक्षित नोट निर्गम प्रणाली से ही काम चलता रहा, उसे बदला नहीं गया।

(III) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा अनुपातिक कोष निधि प्रणाली की स्थापना (सन् १६३४–१६५६)—

सन् १६३४ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट पास हुआ, जिसने १ अप्रैल सन् १६३५ से कार्य आरम्भ किया। इस अवधि के नोट निर्गम की निम्न मुख्य विशेषतायें हैं:—(१) आनुपातिक कोष निधि प्रणाली का जन्म सन् १६३४ के रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट पर आधारित था। (२) एक्ट के अनुसार नोट निर्गमन का एकाधिकार केवल रिजर्व बैंक के ही पास है। अन्य किसी व्यक्ति अथवा बैंक को ऐसे नोटों के निकालने का अधिकार नहीं है जो वाहक (Bearer) की माँग पर शोधनीय हों। रिजर्व बैंक द्वारा निकाले हुए नोट अपरिमित विधि-ग्राह्य होते हैं और इन पर भारत सरकार की गारन्टी रहती है। दो रुपए के ऊपर के सभी नोटों को रिजर्व बैंक रुपए के सिक्कों अथवा छोटो कीमत के नोटों में बदलने की गारन्टी देती थी। बैंक के दो विभाग हैं :—अधिकोषण विभाग तथा निर्गमन विभाग। दोनों विभागों को एक-दूसरे से पूर्णतया अलग-अलग रखा जाता है और नोटों की निकासी केवल निर्गमन विभाग ही करता है। १ अप्रेल सन् १६३५ से भारत सरकार ने नोटों का प्रकाशन बन्द कर दिया है। (३) सन् १६५६ तक निर्गमन विभाग के लिए यह आवश्यक था कि वह कुल नोटों की कीमत की ४०% निधि सोने के सिक्कों, सोने अथवा विदेशी प्रतिभूतियों या विदेशी मुद्राओं के रूप में रखे। सन् १६४८ के संशोधन के पूर्व विदेशी मुद्राओं का अभिप्राय केवल स्टर्लिङ्ग से होता था, परन्तु तत्पश्चात् मुद्रा-कोष के किसी भी सदस्य देश की मुद्रा को निधि के रूप में रखा जाने लगा। कुल निधि में से कम से कम ४० करोड़ रुपये के मूल्य का स्वर्ण रखना आवश्यक है। शेष ६०% पत्र-चलन के पीछे निम्न प्रकार की आड़ हो सकती है :—

(१) रुपये के सिक्के तथा सरकारी प्रतिभूतियाँ।
(२) स्वीकृत विनिमय बिल तथा प्रतिज्ञा-पत्र।

विधान के अनुसार सरकारी प्रतिभूतियों की मात्रा कुल आदेयों के २५% अथवा ५० करोड़ रुपये की कीमत से अधिक नहीं हो सकती है, परन्तु विशेष परि-स्थितियों के लिए यह व्यवस्था की गई है कि भारतीय गणराज्य के राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति से इस मात्रा में १० करोड़ रुपए की वृद्धि की जा सकती है। जहाँ तक विनिमय बिलों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों का प्रश्न है, रिजर्व बैंक केवल उन्हीं बिलों अथवा

पत्रों को खरीद सकता था जिन पर किसी अनुसूचित बैंक (Scheduled Bank) की गारन्टी हो और कम से कम एक और आदरणीय पार्टी के हस्ताक्षर हों। अतः रिजर्व बैंक ने करेन्सी सिद्धान्त के स्थान में बैंकिंग सिद्धान्त को अपनाया और सन् १९५६ तक आनुपातिक कोष निधि प्रणाली के अनुसार नोटों का निर्गम किया।

व्यवस्था इस प्रकार की गई कि विशेष परिस्थितियों में रिजर्व बैंक के निर्गम सम्बन्धी नियमों में ढील दी जा सकती है, परन्तु यह केवल निम्न दशाओं में किया जा सकता था :—(i) राष्ट्रपति से आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक है। (ii) नियमों को केवल ३० दिन तक के लिए तोड़ा जा सकता है, यद्यपि इसमें राष्ट्रपति की आज्ञा से १५ दिन की और वृद्धि की जा सकती है और (iii) नियत निर्गम के ऊपर के प्रत्येक निर्गम पर बैंक को एक विशेष कर देना होता है, जिसकी दर ऐसे निर्गमन की प्रत्येक वृद्धि के साथ बढ़ती रहती है। (iv) जहाँ तक भारत में प्रचलित कागज के नोटों का प्रश्न है, इस समय १ रुपया, २ रुपया, ५ रुपया, १० रुपया, १०० रुपया और १,००० रुपए के नोट चालू हैं। १,०००, ५,००० और १०,००० रुपए के नोट भी अधिक समय तक स्थगित रहने के पश्चात् १ अप्रैल सन् १९५६ से फिर आरम्भ किये गये हैं।

आनुपातिक कोष प्रणाली के गुण—

भारत की यह पत्र-मुद्रा चलन प्रणाली अमरीका के संघ निधि बैंक एक्ट (Federal Reserve Bank Act) पर आधारित थी। इस प्रणाली के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार थे—

(१) देश में अनुपातिक निधि निर्गमन प्रणाली प्रचलित है, क्योंकि कुल निर्गमन का कम से कम ४०% सोने, सोने के सिक्कों अथवा विदेशी प्रतिभूतियों में रखा जाता है।

(२) विदेशी प्रतिभूतियों को निधि के रूप में उपयोग करने की व्यवस्था ने प्रणाली में अधिक लोच उत्पन्न कर दी है। इस व्यवस्था के कारण विनिमय नियन्त्रण भी सरल हो जाता है।

(३) देश की चलन निधि को एक ही कोष में एकत्रित कर दिया गया है। कई प्रकार के कोषों को रखने की पुरानी अपव्ययी प्रणाली समाप्त कर दी गई है, जिसमें कई प्रकार के सुरक्षित कोष रखे जाते थे।

(४) स्वीकृत विनिमय बिलों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों की आड़ पर नोट निर्गमन की व्यवस्था करके नोट निर्गमन प्रणाली में और भी अधिक लोच उत्पन्न कर दी गई है। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में इस व्यवस्था का महत्त्व अधिक है, क्योंकि इसके कारण कृषि की फसलों के बेचने के अर्थ-प्रबन्ध के लिए सामाजिक वित्त (Seasonal Finance) मिलता रहता है।

(५) निधि सम्बन्धी नियमों में छूट मिल जाने की सम्भावना के कारण संकटकालीन परिस्थितियों के लिए समुचित व्यवस्था हो जाती है, परन्तु अतिरिक्त निर्गमन पर बढ़ती हुई दरों में कर लगाने की व्यवस्था की गई है, जिसके कारण एक सीमा के परे रिजर्व बैंक के लिए नोट निर्गमन अधिक मँहगा हो जाता है।

प्रणाली के दोष—

यह प्रणाली दोषों से विमुक्त हो, ऐसी बात नहीं है :—

(१) नोट निर्गमन में अत्यधिक प्रसार का भय—इसका एक दोष तो यही है कि भारत सरकार अस्थायी प्रतिभूतियाँ उत्पन्न करके नोट निर्गमन को बढ़ा सकती है, जिसके विरुद्ध कोई समुचित उपचार भी प्राप्त नहीं है।

(२) परिवर्तनशीलता का अभाव—साथ ही, नोटों की परिवर्तनशीलता स्टर्लिङ्ग पर निर्भर है। स्टर्लिङ्ग की कीमतों के उच्चावचनों का रुपए की कीमत पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता है। इसके अतिरिक्त क्योंकि स्वयं स्टर्लिङ्ग की भी सोने-चाँदी में परिवर्तनशीलता नहीं है, इसलिए भारतीय कागजी नोट अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा मात्र हैं।

(३) स्वयं संचालन का अभाव—इस प्रणाली में व्यवसायिक आवश्यकताओं और विकास की अर्थ-व्यवस्था के अनुसार विस्तृत होने तथा सिकुड़ने का गुण नहीं है। सभी दृष्टिकोणों से यह एक कृत्रिम तथा प्रबन्धित प्रणाली है, जिसके सँचालन के लिए सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक है।

(४) आन्तरिक मूल्य-स्तर में स्थिरता नहीं रहती—हमारी पत्र-मुद्रा प्रणाली का उद्देश्य केवल विदेशी विनिमय में स्थिरता ही रहा है। यह प्रणाली आन्तरिक कीमतों में स्थिरता स्थापित करने में सफल नहीं रही है।

(५) समुचित लोच का अभाव—इस प्रणाली में समुचित लोच का भी अभाव है। निधि व्यवस्थाएँ बहुत ही कड़ी हैं। प्रणाली का देश की आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार सम्बन्धी मौद्रिक आवश्यकताओं से कोई भी प्रत्यक्ष तथा घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है। स्टर्लिङ्ग ही इस प्रणाली का प्राण है। इसमें देशी अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकता के अनुसार मुद्रा की मात्रा को घटाने-बढ़ाने का गुण नहीं है।

(६) आर्थिक विकास के लिए अनुपयुक्त—यह प्रणाली इस प्रकार संचालित है कि इसमें देश की समस्त प्रचलित मुद्रा तथा देश की आर्थिक आवश्यकता, उत्पादन शक्ति एवं वितरण सम्बन्धी आवश्यकताओं में किसी प्रकार का भी समन्वय नहीं रहता है। इस दृष्टिकोण से आर्थिक विकास के हेतु यह प्रणाली बहुत उपयुक्त नहीं हो सकती है।

(IV) न्यूनतम निधि प्रणाली की स्थापना (सन् १९५६—१९५९)—

भारतीय पत्र-मुद्रा चलन पद्धति के सम्बन्ध में विगत वर्षों में कुछ आधारभूत परिवर्तन किये गये हैं। नई प्रणाली की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :—(१) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (संशोधन) सन्नियम सन् १९५६ ने भारत में नोट निर्गमन की प्रचलित अनुपातिक निधि पद्धति को समाप्त करके उसके स्थान पर न्यूनतम् निधि प्रणाली की स्थापना की है। (२) इस व्यवस्था के अनुसार बैंक को अपने नोट निर्गम विभाग में नोट निर्गम के विरुद्ध कम से कम ४०० करोड़ रुपए विदेशी प्रतिभूतियों में तथा ११५ करोड़ रुपये सोने के सिक्के या सोने के रूप में संचित करना पड़ता था। इस अधिनियम की कार्यशीलता से पूर्व रिजर्व बैंक के लिए निर्गमित नोटों के कुल मूल्य का ४० प्रतिशत विदेशी प्रतिभूतियों, स्वर्ण एवं स्वर्ण टंकों में रखना अनिवार्य था तथा शेष के लिए चाँदी, चाँदी के सिक्के एवं देशी बिल रखे जा सकते थे। अब तक नोट निर्गमन विभाग में रक्षित स्वर्ण का मूल्य १ रुपया=८·४७५१२ ग्रेनस् (स्वर्ण) अर्थात् २१ रुपए १३ आने १० पाई प्रति तोला की दर से लगाया जाता था। संशोधित नियम के लागू होने के समय इस दर पर रिजर्व बैंक के पास ४०·०२ करोड़ रुपयों के मूल्य का स्वर्ण था। संशोधन इस प्रकार हुआ है कि अब उक्त स्वर्ण का मूल्यांकन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा निर्धारित दर अर्थात् ३५ डालर प्रति औंस [१ रुपया=२·८८ ग्रेनस् (स्वर्ण)] अथवा ६२·५० रुपया प्रति तोला की दर से किया गया। इस दर पर बैंक के पत्र-मुद्रा कोष में स्थित सोने का मूल्य ४०·०२ करोड़ रुपए से बढ़कर ११५ करोड़ रुपए हो गया। (३) सन् १९५६ के रिजर्व बैंक एक्ट संशोधन के अनुसार बैंक के नोट निर्गम विभाग द्वारा रखे जाने वाले सोने के सिक्के व सोना तथा विदेशी प्रतिभूतियों की अनुमानित राशि कभी भी २०० करोड़ रुपए से कम नहीं होनी चाहिए और इसमें भी सोने के सिक्के व सोने के कोष की कीमत ११५ करोड़ से कम नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार अब विदेशी प्रतिभूतियों की मात्रा ४०० करोड़ रुपए से घटाकर १५ करोड़ रुपए कर दी गई है। इसका कारण यह था कि दूसरी योजना के आरम्भ होने से विदेशी विनिमय की अधिक आवश्यकता हुई, जिससे बैंक के विदेशी कोषों में कमी होने की प्रवृत्ति रही। संक्षेप में, इस नई प्रणाली का उद्देश्य भारतीय मुद्रा प्रणाली में लोच और मितव्ययिता लाना तथा विदेशी विनिमय के संकट को दूर करना था।

(V) वर्तमान नोट निर्गम प्रणाली के गुण-दोष—

वर्तमान नोट निर्गम प्रणाली में एक अच्छी मुद्रा-प्रणाली के कई गुण पाये जाते हैं :—

(१) लोच—यह अनुपातिक प्रणाली की तुलना में अधिक लोचदार है, क्योंकि इसके अन्तर्गत विदेशी प्रतिभूतियों की मात्रा ४०० करोड़ रुपये से घटा कर ८५ करोड़ रुपये कर दी गई है।

(२) विदेशी मूल्य की स्थिरता—भारत का अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से संबंध स्थापित हो जाने से भारतीय मुद्रा का विदेशी मूल्य स्थिर रहने लगा है, जिससे विदेशी विनिमय कार्य में सुगमता हो गई है।

(३) मितव्ययिता—जब कि पुरानी प्रणाली में कई प्रकार के सुरक्षित कोष रखे जाते थे किन्तु इसमें सबको मिला कर एक कर दिया गया है, जिससे बड़ी मितव्ययिता हो गई है।

(४) परिवर्तनशीलता—इस प्रणाली में न्यूनाधिक परिवर्तनशीलता है, जिससे जनता का इसमें दृढ़ विश्वास बना रहता है।

(५) संकट-काल में ढील—भारत के गणराज्य के राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति से इस प्रणाली में संकट-काल में कोष सम्बन्धी नियमों में छूट मिल सकती है, किन्तु इस छूट के लिये बैंक को बढ़ती हुई दरों पर 'कर' देना पड़ता है। इससे एक सीमा के पश्चात् बैंक के लिये नोट निर्गम करना मँहगा रहता है।

इस प्रणाली के निम्न दोष पाये जाते हैं :—

(१) आन्तरिक मूल्य-स्तर में अस्थिरता—यह प्रणाली रुपये के आन्तरिक मूल्य को स्थिर रखने में असफल रही है।

(२) सांकेतिक मुद्रा—इस व्यवस्था के अन्तर्गत तमाम मुद्रा सांकेतिक है।

(३) स्वयं-संचालकता का अभाव—यह एक कृत्रिम प्रणाली है, जिसके संचालन के लिये सरकारी हस्तक्षेप अति आवश्यक रहता है।

(४) एक स्पष्ट मान का अभाव—यह प्रणाली सभी देशों के पारस्परिक समझौते पर निर्भर है; अतः एक स्वतन्त्र प्रणाली नहीं है। इसे प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-मान, स्वर्ण समता मान और बहु मुद्रा मान के नाम से सम्बोधित करते हैं।

(५) जटिलता—एक कृत्रिम व प्रबन्धित प्रणाली होने के कारण जन साधारण इसे सरलता से नहीं समझ सकता।

(६) परिवर्तनशीलता की कमी—नोटों के बदले में वास्तव में सोना-चांदी नहीं मिलता, अतः इसमें वास्तविक परिवर्तनशीलता का अभाव पाया जाता है।

QUESTIONS

1. What principles should govern the note-issue in a country? In this connection, examine the provisions of the Reserve Bank of India Act. (Agra, B. A., 1956)

2. Explain the various systems of note-issue. Which of these systems has been adopted in India ?
(Agra, B. Com., 1954 and 57)

3. Explain the characteristics of an ideal system of note-issue and indicate how far does the Indian paper money possess the same ? (Raj., B. Com., 1958)

4. Examine critically the present paper currency system in India. Does it meet the needs of the economic expansion that is taking place in the country ? Discuss.
(Raj., B. Com., 1955)

5. What are the essentials of a good currency system ? How far does the Indian Currency System satisfy the requirements of a good system ? (Agra, B. Com., 1953, 56)

6. Point out the salient features of Indian Paper Currency System as it exists at present. (Raj., B. Com., 1952)

7. Discuss clearly the main features of the Fiduciary issue system and the minimum reserve method of note issue as adopted by India. Give your arguments in support of them.
भारत की विश्वासाश्रित पत्र-मुद्रा संचालन एवं न्यूनतम कोष-पद्धति की विशेषताओं का विवेचन करिए। उनकी पुष्टि के लिए अपनी युक्तियाँ दीजिए।
(Agra, B. Com., 1959)

अध्याय ३१

भारत में दशमिक मुद्रण की समस्या

(The Problem of Decimal Coinage in India)

प्रारम्भिक—

स्वतन्त्रता के पश्चात् हमारे देश के सामने अनेक समस्यायें उपस्थित हुई हैं, जिन्हें हमने धीरे-धीरे सुलझाने का प्रयास किया है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् का काल राजनीतिज्ञों, अर्थ-शास्त्रियों तथा वैज्ञानिकों के लिए इतना अधिक व्यस्त काल रहा है कि छोटी-छोटी समस्याओं की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है, परन्तु देश की अनेक समस्याएँ ऐसी हैं जो देखने में साधारण ज्ञात होती हुई भी देश के आर्थिक और सामाजिक जीवन में भारी महत्त्व रखती हैं। दशमलवीय मुद्रण की समस्या ऐसी ही समस्याओं में से एक है। लम्बे काल तक देश की मुद्रण प्रणाली में रुपया, आना और पाई का चलन रहा है। जैसा कि विदित है कि एक रुपये में १६ आने होते हैं और एक आने में १२ पाई। विद्यार्थियों, विशेषकर छोटे-छोटे विद्यार्थियों के लिए, रुपये, आने और पाई का हिसाब कितना कठिन होता है, इसका अनुभव तो स्वयं पाठकों को भी होगा, परन्तु हममें से बहुत ने किंचित यह कभी न सोचा होगा कि इस कठिनाई को मुद्रा प्रणाली में थोड़ा सा ही सुधार करके दूर किया जा सकता है। यह भी हमने कभी न सोचा होगा कि रुपये, आने और पाई की वर्तमान प्रणाली में कितना राष्ट्रीय श्रम और कितनी राष्ट्रीय शक्ति बेकार व्यय होते हैं। कठिनाई को दूर करने का सबसे सरल उपाय यही था कि देश में दशमिक मुद्रण क्रम (Decimal Coinage System) स्थापित किया जाता, अतः १ अप्रैल सन् १९५७ से भारत में दशमिक मुद्रा प्रणाली को अपनाया गया। दशमिक क्रम से हमारा अभिप्राय एक ऐसी मुद्रा प्रणाली से होता है जिसमें प्रत्येक मुद्रा इकाई अपने से ऊपर की मुद्रा इकाई का दसवां भाग होती है। ऐसी प्रणाली फ्रान्स में काफी लम्बे काल से प्रचलित है। इस प्रणाली में एक मुद्रा इकाई को १० से गुणा करके या १० से भाग देकर दूसरी मुद्रा इकाई निकाली जा सकती है। उदाहरणस्वरूप, यदि एक रुपया १० आने के बराबर बना दिया जाय और १ आना १० पैसे के बराबर तो किसी दी हुई रुपये की संख्या के आगे केवल बिन्दी लगा देने से आने निकल आयेंगे और एक और बिन्दी लगाने से पैसे। नये पैसे चालू करके भारत सरकार ने देश की मुद्रा-प्रणाली में एक ऐसा ही सुधार किया है। संसार में १४० प्रकार के मुद्रामान हैं, जिनमें १०५ दशमलव प्रणाली पर आधारित हैं। अन्य देशों में मुद्रा के सौवें भाग को सैन्ट (Cent) कहते हैं, जो कि

स्राममेंसितांग (संस्कृत के शतांश शब्द का अपभ्रंश) कहलाता है। पर भारत में सौवें भाग को नया पैसा कहा गया है।

भारत में दशमिक क्रम की आवश्यकता—

ऐसे विद्वानों का अभाव नहीं है जो यह कहते हैं कि भारत में प्राचीन रुपए, मन, गज आदि के आधार पर प्रमापीकरण (Standardisation) सम्भव था और यद्यपि दशमिक क्रम इस काम के लिए अधिक उपयुक्त है, परन्तु इस समय इसके ग्रहण करने से भारी असुविधा हुई है। इसलिए यही अच्छा बताया जाता है कि प्राचीन प्रणाली को ही प्रमापीकृत आधार पर बनाये रखा जाता, क्योंकि उससे सभी लोग भली-भाँति परिचित थे, जबकि नई प्रणाली को समझने और उसके अनुसार काम करने में अधिक समय लगेगा। यह बात तो सत्य है, परन्तु इस समय देश के विभिन्न भागों में वजन और लम्बाई आदि की नाप के पैमानों में इतने अन्तर हैं कि प्राचीन आधार पर प्रमापीकरण करने में भी कुछ कम असुविधा न होगी। तो फिर दशमिक क्रम पर ही प्रमापीकरण क्यों न किया जाय, जिसकी श्रेष्ठता को सभी स्वीकार करते हैं। यदि प्राचीन प्रणाली में परिवर्तन ही करना था तो ऐसा परिवर्तन क्यों न किया जाता कि जो स्थाई हो तथा जिससे कुशलता और सुविधा बढ़ सके। निम्न कारणों से भारत में दशमिक क्रम की आवश्यकता रही है :—

(१) संसार के सभी सभ्य देशों में गणित के चिन्ह (Notations) दशमलवीय आधार पर ही बनाये गये हैं। नाप और तोल की कोई भी ऐसी इकाई सुविधाजनक न होगी जिसमें इस दशमलवीय आधार को ग्रहण न किया जाय। संसार के लगभग सभी देशों में बहुमत दशमिक क्रम के ही पक्ष में हैं, क्योंकि इसकी श्रेष्ठता को सभी मानते हैं। यह निश्चय है कि यदि इस समय हम इस क्रम को ग्रहण न भी करते तो भविष्य में ऐसा अवश्य करना पड़ता। फिर इसको अभी से क्यों न आरम्भ किया जाय।

(२) संसार के ५० देशों ने, जिनमें सारे संसार की तीन-चौथाई जन-संख्या रहती है और जिनमें विभिन्न जलवायु और संस्कृति के लोग शामिल हैं, इस क्रम को पहिले से ही ग्रहण कर लिया था। व्यवहारिक अनुभव इस क्रम के ही पक्ष में है, क्योंकि यह भी निश्चय है कि जिस देश ने इस प्रणाली को एक बार ग्रहण कर लिया है उसने आगे चलकर इसे छोड़ना आवश्यक नहीं समझा है। कुछ समय पश्चात् भारत को भी अन्य देशों का अनुकरण करना ही पड़ता।

(३) भारत में दशमिक क्रम के पक्ष में यह भी कहा जा सकता है कि इस क्रम का अन्तर्राष्ट्रीय आधार होने के कारण देश के सभी भागों में इसे बिना विरोध ग्रहण कर लिया गया है। किसी दूसरी प्रणाली को ग्रहण करने का परिणाम यह हो सकता था कि कुछ क्षेत्रों में भारी असन्तोष रहता, क्योंकि उत्तर और दक्षिण में पैमाने एक ही आधार पर नहीं हैं।

(४) दशमिक क्रम को ग्रहण करके भारत भी उन देशों की उस लम्बी सूची में शामिल हो गया है जिन्होंने नाप के सामूहिक आधार को मान लिया है। ऐसा करने से भारत अपनी अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं को कार्य रूप दे सकेगा और साथ ही उन जञ्जीरों को भी तोड़ सकेगा जिन्होंने अब तक उसकी उन्नति में रुकावटें उपस्थित की हैं।

क्या भारत के लिये दशमिक मुद्रा व्यवस्था को स्थगित करना उपयुक्त होता ?—

इस सम्बन्ध में एक और प्रश्न का उत्तर भी आवश्यक प्रतीत होता है। दशमिक क्रम के कुछ आलोचक ऐसे भी हैं जो भारत के लिए इसकी उपयुक्तता को स्वीकार करते हैं, परन्तु उनका विचार है कि इसका कार्यरोपण १५–२० वर्ष के लिए स्थगित रखा जाना चाहिए था। यह कहा जाता है कि हमने आर्थिक नियोजन का मार्ग अपनाया है। सरकार और जनता दोनों ही निर्माण-कार्यों में व्यस्त हैं। अभी कुछ समय तक और रुके रहने की आवश्यकता थी, क्योंकि इस प्रणाली को ग्रहण करके हम इङ्गलैंड जैसे देश से अलग हो जाते हैं, जिससे हमारा वाणिज्यिक सम्बन्ध बड़ा ही घनिष्ट है। ऐसे आलोचकों को जानना चाहिए कि अब समय आ गया था कि इस क्रम के लागू करने में और अधिक विलम्ब न किया जाय। क्रम को तत्काल ग्रहण करने के पक्ष में अनेक तर्क रखे जा सकते हैं:—(i) इस समस्या को इतने लम्बे काल तक टाला गया है कि अब इसको और अधिक टालना किसी भी प्रकार उचित नहीं हो सकता है। राष्ट्रीय हित इसी में है कि अन्तर्स्थानीय व्यापार और वाणिज्य की उलझन को और अधिक समय तक न बना न रहने दिया जाय। जितनी जल्दी इसे दूर किया जायगा उतना ही अच्छा होगा। (ii) यह कहना असङ्गत प्रतीत होता है कि जब तक इङ्गलैंड में यह प्रणाली नहीं अपनाई जाती है, भारत में भी इसके ग्रहण करने का विचार स्थगित किया जाय। बात यह है कि इस देश को काफी लम्बे काल से पैमानों के प्रमापीकरण का लाभ प्राप्त है, जबकि भारत में मुद्रा के सम्बन्ध में हमने इसे अभी-अभी स्थापित किया है और दूसरी दिशाओं में हम अभी तक भी स्थापित नहीं कर पाये हैं। इस सम्बन्ध में सन् १९५४ में सर एडवर्ड बुलर्ड (Sir Edward Bullard) ने, जो इङ्गलैंड की नेशनल फिजीकल लेबोरेट्री (National Physical Laboratory) के संचालक हैं, ठीक ही कहा था—"यदि निर्णय यही है कि भारत में दशमिक क्रम को ग्रहण किया जाय तो इसे तुरन्त ही किया जाय, पहिले इसके कि औद्योगीकरण इस सीमा तक आगे बढ़ जाय कि इस प्रकार का परिवर्तन करना कठिन हो जाय।" अतः यह आवश्यक था कि औद्योगीकरण की समुचित प्रगति के पूर्व ही इस आवश्यक परिवर्तन को सम्पन्न कर दिया जाय। (iii) स्थगित करने से किसी समस्या या कठिनाई के सुलझ जाने की भी कोई आशा नहीं हो सकती थी। जैसे-जैसे समय व्यतीत होता जायगा, इस प्रकार का परिवर्तन करने का व्यय बढ़ता ही जायगा, क्योंकि सभी प्रकार की शिल्पिक, औद्योगिक और व्यवसायिक शिक्षा, जो

प्राचीन प्रणाली के आधार पर दी जाती, बेकार हो जायगी। (iv) अनिश्चितता उन्नति के मार्ग में बाधक होती है। यदि अनिश्चितता बनी रहती है तो उद्योगों को अपनी दीर्घकालीन योजनाएँ बनाने में कठिनाई होती है। (v) यह तर्क भी बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है कि क्योंकि भारत का दो-तिहाई व्यापार ऐसे देशों से है जिनमें यह प्रणाली प्रचलित नहीं है, इसलिए अभी कुछ समय तक भारत में भी इसे लागू न किया जाय। बात यह है कि स्वयं इङ्गलैंड और अमरीका का आधा-आधा व्यापार दशमिक क्रम तथा अन्य देशों से होता है और इन्हें इसमें कोई कठिनाई भी नहीं है, अतः यही अच्छा था कि यदि हम इस प्रणाली को ग्रहण करना चाहते थे तो इसे शीघ्र ही ग्रहण करते। मुद्रा के सम्बन्ध में तो सरकार ने इसे लागू करने का निर्णय कर ही लिया है, अन्य दिशाओं में भी इसकी आवश्यकता है।

भारत में दशमिक क्रम का इतिहास—

भारत में दशमिक क्रम की स्थापना के प्रयत्न का इतिहास अधिक प्राचीन है। इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयत्न सन् १८६७ और सन् १८७१ के बीच के काल में किया गया था। सम्पूर्ण सम्भावनाओं की जांच के पश्चात् भारत सरकार इस निष्कर्ष पर पहुँची थी कि सभी कठिनाइयों का एक मात्र हल दशमिक क्रम की स्थापना थी, यद्यपि यह स्थापना धीरे-धीरे होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में सन् १८७० में दशमिक एक्ट (Metric Act of 1870) पास किया गया, जिसकी व्यवस्थाओं में भारत सचिव के आदेश पर कुछ संशोधन किए गए। तब से अब तक ९० वर्ष बीत चुके हैं, परन्तु एक्ट को लागू नहीं किया जा सका है। सन् १९३९ में भारत सरकार ने वजन प्रतिमान सन्नियम (Standard of Weight Act) को पास करके तो सन् १८७० के एक्ट की व्यवस्थाओं को समाप्त ही कर दिया। इसके बाद सन् १९४० में भारतीय दशमिक सभा (Indian Decimal Society) स्थापित हुई। इस संस्था ने बराबर दशमिक क्रम की स्थापना पर जोर दिया है और सरकार तथा समाज को इसके विषय में उपयुक्त ज्ञान प्रदान किया है।

दशमिक मुद्रा विधेयक, सन् १९४६—

फरवरी सन् १९४६ में भारत सरकार ने धारा सभा के सामने एक बिल प्रस्तुत किया, जिसमें दशमिक मुद्रा प्रणाली के लागू करने की व्यवस्था की गई थी और रुपए को प्रामाणिक सिक्का मान कर उसे १०० सेंट में विभाजित करने का सुझाव दिया गया था। जन मत प्राप्त करने के लिए बिल पर जनता की राय माँगी गई। सभी ओर से बिल के पक्ष में ही राय आई। फरवरी सन् १९४७ में भारत सरकार ने राज्य सरकारों को आदेश दिया कि वे दशमिक नाप और तोल के ग्रहण करने के प्रश्न पर विचार करें। वाणिज्य और व्यापार संघों तथा वैज्ञानिक संस्थाओं ने सरकारी नीति का समर्थन किया और इस आवश्यक सुधार को लागू करने का अनुरोध किया।

भारतीय प्रतिमान संस्था विशेष समिति की सिफारिश—

तत्पश्चात् सन् १६४८ में भारतीय प्रतिमान संस्था विशेष समिति (Indian Standards Institution Special Committee, 1949) की स्थापना की गई, जिसकी रिपोर्ट सन् १६४९ में प्रकाशित हुई। इस समिति ने देश में दशमिक क्रम की स्थापना सम्बन्धी सभी समस्याओं की जांच की। समिति ने देश के विभिन्न हितों और देश की विभिन्न संस्थाओं की राय जमा की। समिति अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँची कि दशमिक क्रम की सभी ओर माँग थी, परन्तु इस प्रणाली को धीरे-धीरे स्थापित किया जाय। विभिन्न राज्य सरकारों ने क्रम को धीरे-धीरे लागू करने के लिये ५ से लेकर १५ वर्ष तक की समय अवधि रखी थी। केवल बिहार और मध्य-प्रदेश दशमिक क्रम के ग्रहण करने के पक्ष में न थे। समिति ने खर्च और असुविधा को ध्यान में रखते हुये यह सुझाव दिया था कि दशमिक क्रम को धीरे-धीरे १०-१५ वर्ष में सभी दिशाओं में लागू कर दिया जाय। समिति के प्रमुख सुझाव निम्न प्रकार थे :—

(१) पहिले ३ से लेकर ५ वर्षों तक कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन न किया जाय। इस काल में लोगों को समुचित सूचना और शिक्षा दी जाय। फिर धीरे-धीरे दशमिक क्रम अपनाया जाय।

(२) भारत सरकार दशमिक मुद्रा-प्रणाली स्थापित करे, जिसमें मुद्रा की प्रत्येक इकाई उससे पहिली इकाई का दसवाँ अंश हो।

(३) इस सम्बन्ध में गहरा प्रचार होना चाहिए और शिक्षा संस्थाओं और प्रचार की अनेक विधियों का पूरा-पूरा उपयोग किया जाय।

(४) केन्द्रीय तथा राज्य सरकार प्रारम्भिक तैयारी आरम्भ कर दें और नई प्रणाली को लागू करने के खर्च का अनुमान लगायें।

(५) सरकार नियमित बाजारों (Regulated Markets) के दैनिक कार्यों में यथासम्भव दशमिक क्रम के उपयोग को प्रोत्साहन दें, इत्यादि।

समिति की रिपोर्ट से सिद्ध होता है कि अन्य दिशाओं में दशमिक क्रम को लागू करने में, चाहे कठिनाई रही हो, मुद्रा के सम्बन्ध में कोई महत्वपूर्ण कठिनाई न थी, क्योंकि मुद्रा की इकाइयों का प्रमापीकरण बहुत पहिले से ही हो चुका है। समिति ने सिफारिश की थी कि भारत सरकार शीघ्र ही लोक सभा में दशमिक मुद्रण सम्बन्धी नियम प्रस्तुत करे और दशमिक क्रम की स्थापना का आरम्भ मुद्रण प्रणाली के परिवर्तन द्वारा करे।

भारतीय मुद्रण संशोधन प्रस्ताव—

भारतीय मुद्रण एक्ट, सन् १६०६ में संशोधन करने का ठोस प्रस्ताव एक नये बिल के रूप में सन् १६४९ में रखा गया था। प्रस्ताव यह था कि भारत में दशमिक

प्रणाली लागू की जाय, जिसमें एक रुपए को १९२ पाई में विभाजित करने के स्थान पर १०० सेंट (Cents) में विभाजित किया जाय। प्रस्ताव निम्न प्रकार था :—

	वर्तमान रुपये के अनुसार
१ रुपया	रुपया
५० सेंट ,,	½ रुपया
२५ ,, ,,	¼ रुपया
१० ,,	वर्तमान ¼ रुपये से कम कीमत के सिक्कों के स्थान पर
५ ,,	
२ ,,	
१ ,, (पीतल)	
½ ,, (सम्भावित)	

यह विभाजन क्रम श्री लङ्का की मुद्रा प्रणाली के आधार पर बनाया गया था। रुपए का सिक्का, अठन्नी और चवन्नी की शक्ल, वजन और आकार ज्यों का त्यों रहेगा, परन्तु इससे नीचे के सिक्के नये रहेंगे और उनके पुनः मुद्रण की आवश्यकता पड़ेगी।

दशमलव प्रणाली के लाभ—

भारत सरकार के वित्त विभाग ने दशमलवीय प्रणाली के स्थाई लाभ की गणना निम्न प्रकार कराई है :—

(१) एक सरल तथा शीघ्र लेखा विधि का निर्माण।

(२) व्यय तथा मूल्य निर्धारण की एक सही और सप्रभाविक रीति।

(३) घरेलू कामों और उपभोगीय वस्तुओं की कीमतों को नापने का एक सरल उपाय।

(४) अनावश्यक तथा विविध प्रकार की मुद्रा इकाइयों को समाप्त करना और नई इकाइयों को दशमलवीय आधार पर परिभाषित करना।

(५) कीमतों के छोटे-छोटे परिवर्तनों की अधिक सही नाप करना, जिससे कि मुद्रा का व्यय अधिक उपयुक्त रीति से किया जा सके।

(६) शिक्षा संस्थाओं में समय और परिश्रम की बचत करना।

दशमलव प्रणाली को कार्यान्वित करने में कठिनाइयाँ—

भारत सरकार नई मुद्रा के चालू करने के सम्बन्ध में होने वाली कठिनाइयों को भी भली-भाँति समझती थी। तीन कठिनाइयाँ विशेष रूप में महत्त्वपूर्ण हैं :—

(१) आरम्भ में यह नई प्रणाली अरुचिकर तथा जटिल प्रतीत होगी। वर्तमान प्रणाली लम्बे काल से एक परम्परागत प्रणाली के रूप में चालू है और लोग भावनायुक्त रूप में नई प्रणाली का विरोध करेंगे, परन्तु सरकार ने इस कठिनाई को दूर करने के लिए रुपया, अठन्नी और चवन्नी के सिक्कों में परिवर्तन न करने का निश्चय किया है।

(२) कुछ काल तक नवीन एवं प्राचीन मुद्राएं साथ ही साथ चालू रहेंगी। इससे अनावश्यक उलझन होगी। और भोले-भाले लोगों के ठगे जाने की सम्भावना

अधिक रहेगी, परन्तु यदि नई प्रणाली चालू करनी है तो यह कठिनाई बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। गड़बड़ चवन्नी से नीचे के ही सिक्कों में होगी और वह भी थोड़े ही समय तक।

(३) वर्तमान दशा में सभी दरें जिस आधार पर है वह आधार ही बदल जायगा, जिससे असुविधा होगी। रेल्वे और डाकखाने की नई दरें कुछ और ही रहेंगी, परन्तु यह कठिनाई भी अस्थाई होगी। अन्त में तो नई मुद्रा ही स्थाई रूप में चालू रहेगी।

भारतीय मुद्रा (संशोधन) नियम सन् १९५६—

भारत सरकार द्वारा विचार-परामर्श तथा सोच-विचार के बाद सन् १९५५ का भारतीय मुद्रा (संशोधन) नियम सन् १९५६ में पास किया गया है। नियम की प्रमुख व्यवस्थायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) इस एक्ट का नाम भारतीय मुद्रा (संशोधन) सन्नियम (Indian Currency Amendment Act) रखा गया है।

(२) एक्ट के अनुसार भारत की मुख्य मुद्रा इकाई रुपया रहेगी। सबसे छोटी मुद्रा इकाई का नाम पैसा रहेगा, परन्तु उसे कुछ समय तक (उस समय तक जब तक कि वर्तमान पैसा भी चालू रहेगा) नया पैसा कहा जायगा। एक रुपया १०० नये पैसों के बराबर होगा।

(३) रुपए और पैसे के अतिरिक्त ५० पैसे और २५ पैसे के दो सिक्के और होंगे। वर्तमान अठन्नी और चवन्नी की कीमत क्रमशः ५० और २५ नये पैसों के बराबर होगी।

(४) इन सिक्कों के अतिरिक्त वर्तमान दुअन्नी, इकन्नी, दो पैसे और एक पैसे के सिक्कों के स्थान पर १०, ५, २ और एक नये पैसे के सिक्के बनाये जायेंगे।

(५) वर्तमान दो आने, एक आने, दो पैसे और एक पैसे के सिक्के भी साथ-साथ चालू रहेंगे, परन्तु धीरे-धीरे इनका विमुद्रीकरण होगा। तीन वर्ष के पश्चात् अन्त में पूर्ण रूप में नई मुद्रा चालू हो जायगी, यद्यपि आवश्यकता पड़ने पर इस अवधि को बढ़ाया जा सकता है।

(६) एक्ट की व्यवस्थाओं को १ अप्रैल सन् १९५७ से लागू किया गया है। रुपया, अठन्नी और चवन्नी के सिक्के गिलट (Nickle) के हैं, एक नया पैसा ताँबे का है और अन्य सिक्के ताँबे और गिलट की मिलावट के।

मुद्रा प्रणाली का नया रूप—

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, १ अप्रैल सन् १९५७ से सरकार ने नये सिक्कों को चालू कर दिया है। ३ वर्ष तक, अथवा यदि आवश्यकता समझी गई तो और आगे तक, नये और पुराने दोनों ही प्रकार के सिक्के साथ-साथ चलेंगे। कुल मिलाकर सात नये सिक्के होंगे, जिनमें रुपये का वर्तमान रूप ज्यों का त्यों रहेगा।

अन्तर केवल इतना होगा कि रुपए की पीठ पर "सौ नये पैसे" लिखा रहेगा। रुपए के अतिरिक्त ५० पैसे (रुपए का आधा भाग), २५ पैसे (रुपए का चौथा भाग), १० पैसे (रुपए का दसवाँ भाग), ५ पैसे (रुपये का बीसवाँ भाग), दो पैसे (रुपए का पचासवाँ भाग) और १ पैसे (रुपए का सौवां भाग) के भी सिक्के होंगे। कुछ काल के लिए भारत सरकार ने रुपये के नये सिक्कों और ५० तथा २५ नए पैसों के सिक्कों को न निकालने का फैसला किया है। रुपए का वर्तमान सिक्का तथा अठन्नी और चवन्नी इसके स्थान पर चालू रहेंगे। वर्तमान और नये दोनों ही सिक्कों में लेन-देन हो सकेगा। इन सिक्कों को ग्रहण करने को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता है। कोई व्यक्ति नए, पुराने अथवा नए और पुराने सिक्के मिलाकर, जो भी उसके पास हों, भुगतान कर सकता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि रुपए के आधारभूत मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। उसके नीचे के सिक्के ही मूल्य में बदल गये हैं। निम्न तालिका में नए और पुराने सिक्कों की परिवर्तन दर दिखाई गई है :—

आने	पाई	नये पैसे	आने	पाई	नये पैसे	आने	पाई	नये पैसे	आने	पाई	नये पैसे
०	३	२	४	३	२७	८	३	५२	१२	३	७७
०	६	३	४	६	२८	८	६	५३	१२	६	७८
०	९	५	४	९	३०	८	९	५५	१२	९	८०
१	०	६	५	०	३१	९	०	५६	१३	०	८१
१	३	८	५	३	३३	९	३	५८	१३	३	८३
१	६	९	५	६	३४	९	६	५९	१३	६	८४
१	९	११	५	९	३६	९	९	६१	१३	९	८६
२	०	१२	६	०	३७	१०	०	६२	१४	०	८७
२	३	१४	६	३	३९	१०	३	६४	१४	३	८९
२	६	१६	६	६	४१	१०	६	६६	१४	६	९१
२	९	१७	६	९	४२	१०	९	६७	१४	९	९२
३	०	१९	७	०	४४	११	०	६९	१५	०	९४
३	३	२०	७	३	४५	११	३	७०	१५	३	९५
३	६	२२	७	६	४७	११	६	७२	१५	६	९७
३	९	२३	७	९	४८	११	९	७३	१५	९	९८
४	०	२५	८	०	५०	१२	०	७५	१६	०	१००

अधिक संक्षिप्त रूप में परिवर्तन सारिणी निम्न प्रकार दी जा सकती है :—

१ रुपया	१०० नए पैसे	२ आने	१२ नये पैसे
८ आने	५० ,, ,,	१ आना	६ ,,
४ ,,	२५ ,, ,,	२ पैसे	३ ,,
३ ,,	१९ ,, ,,	१ पैसा	२ ,,

नवीन सिक्कों को चलते हुए अब तीन वर्ष बीत चुके हैं। आशा यह की जाती थी कि एक साल में नये सिक्कों की लोकप्रियता इतनी बढ़ जायगी कि पुराने सिक्के किसी विशेष सीमा तक समाप्त हो जायेंगे, किन्तु अनुभव इसके विपरीत है, क्योंकि अभी तक पुराने सिक्कों के प्रचलन में कोई कमी दिखाई नहीं पड़ती है।

तोल की दशमलवीय प्रणाली (The Metric System of Weights)—

इस समय भारत में तोल और माप की कोई भी एक प्रणाली देशव्यापी नहीं है। देश में कम से कम १४३ प्रणालियाँ प्रचलित हैं। इतनी अधिक प्रणालियों के कारण धोखे का अवकाश भी पर्याप्त रहता है। यदि देश में माप और तोल की दशमलवीय प्रणाली आरम्भ कर दी जाय तो हिसाब लगाने में अधिक आसानी हो जायगी, मुख्यतया जबकि देश में दशमलवीय मुद्रण प्रणाली पहले से ही चालू है। इस दिशा में सन् १९५६ के तोल और माप परिमान सन्नियम ने दशमलवीय प्रणाली की आधारभूत इकाइयाँ निश्चित कर दी हैं। भारत सरकार ने अक्तूबर सन् १९५८ से माप और तोल की दशमलवीय प्रणाली चालू करने का निश्चय किया है। नई प्रणाली को धीरे-धीरे लागू किया जायगा और ३ साल तक नई और पुरानी माप-तोल साथ-साथ चलेगी। तोल की नई आधारभूत इकाई किलोग्राम (Kilogram) रखी गई है, जिसकी तोल १ सेर ६ तोला अथवा ८६ तोला अथवा २ पौंड ३ औंस होगी। पूरी प्रणाली निम्न प्रकार रहेगी :—

१० मिलीग्राम	१ सेन्टीग्राम
१० सेन्टीग्राम	१ डेसीग्राम
१० डेसीग्राम	१ ग्राम
१० ग्राम	१ डेकाग्राम
१० डेकाग्राम	१ हैक्टोग्राम
१० हैक्ट्रोग्राम	१ किलोग्राम
१०० किलोग्राम	१ कुइन्टल
१०० कुइन्टल अथवा १,००० किलोग्राम	१ मेट्रिक टन

QUESTIONS

1. दशमिक मुद्रा पर नोट लिखिए। (Agra, B. A., 1956, 58)
2. What is 'decimal coinage'? Give the advantages and disadvantages of this system under Indian conditions. (Raj., B. A., 1956)

3. नोट लिखिए—दशमिक टंकन (Decimal Coinage).

(Jabalpur, B. A., 1958)

4. Briefly explain the main provisions of the Indian Coinage (Amendment) Act, 1955.

5. Why has decimal coinage been introduced in the Indian Currency System ? What are its advantages and disadvantages to the country ?
भारतीय मुद्रा प्रणाली में दशमलव-प्रणाली का क्यों समावेश किया गया है ? हमारे समाज को इसके क्या लाभालाभ हैं ? (Agra, B. Com., 1959)

Kamlesh Kumar Goyal

अध्याय ३२

भारतीय बैंकिंग—उसका विकास एवं उसकी समस्यायें

(Indian Banking—its Development and Problems)

भारतीय बैंकिंग का आरम्भिक इतिहास—

प्राचीन ग्रन्थों से इस बात का पर्याप्त प्रमाण मिलता है कि भारतवर्ष में बैंक प्रथा बहुत लम्बे काल से प्रचलित रही है। वैदिक काल में भी रुपया उधार लेने और देने की प्रथा थी और चाणक्य के अर्थशास्त्र से तो ऐसा स्पष्ट होता है कि उस काल में बैंकिंग व्यवस्था का विस्तृत महत्त्व था। महाजन लोग जनता के रुपये को जमा भी करते थे और उधार रुपया भी देते थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के काल में भारत की देशी बैंकिंग प्रथा टूटने लगी, क्योंकि देशी बैंकर अंग्रेजी भाषा तथा विदेशी बैंकिंग प्रणाली से परिचित न थे। वैसे भी अंग्रेजों ने भारतीय बैंकरों की सेवाओं का लाभ उठाने का प्रयत्न नहीं किया था, बल्कि अपना काम चलाने के लिए इङ्गलिश एजेन्सी-गृह स्थापित किये थे। भारत की आधुनिक बैंकिंग प्रणाली का इतिहास वास्तव में इन्हीं एजेन्सी गृहों की स्थापना से आरम्भ होता है। ये गृह अपने अन्य व्यवसायों के साथ-साथ जनता से निक्षेप भी स्वीकार करने का कार्य भी करते थे और उनकी ऋण सम्बन्धी व्यापारिक तथा औद्योगिक आवश्यकताओं को भी पूरा करते थे। इन गृहों के पास आरम्भ में कोई निजी पूँजी न थी और वे कम्पनी के नौकरों द्वारा जमा की हुई राशि से ही व्यवसाय करते थे, यद्यपि आगे चलकर इन्होंने धीरे-धीरे अपनी निजी पूँजी भी

प्राप्त कर ली थी। भारत में सम्मिलित पूँजी बैंक प्रणाली का आरम्भ इन्हीं एजेन्सी गृहों द्वारा हुआ।

सन् १८१३ में भारत के विदेशी व्यापार पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एकाधिकार समाप्त हो गया, जिससे एजेन्सी गृहों को गहरी चोट पहुँची और सन् १८३२ तक उनका अन्त हो गया। इनमें से दो एजेन्सी गृहों ने अपने रूप में परिवर्तन करके सम्मिलित पूँजी के आधार पर अपने को संगठित करने का प्रयत्न किया और इस प्रकार सर्वप्रथम सन् १७७० में 'दी बैंक ऑफ हिन्दुस्तान' के नाम से भारत में सबसे पहली योरोपियन बैंक स्थापित हुई, जो सन् १८३२ में ठप्प हो गई। इसी प्रकार बंगाल बैंक भी स्थापित की गई थी, जो एजेन्सी गृहों से भिन्न थी और पत्र-मुद्रा का निर्गम भी करती थी। सन् १८८६ में 'दी जनरल बैंक ऑफ इण्डिया' स्थापित की गई थी, परन्तु आरम्भिक काल की सभी बैंक आगे चलकर डूब गईं और इस दिशा में किये गये पहले सभी प्रयत्न असफल ही रहे।

तत्पश्चात् प्रेसीडेन्सी बैंकों की स्थापना के साथ भारत में आधुनिक बैंकिंग विकास के जीवन का दूसरा युग आरम्भ हुआ। सन् १८०६ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आज्ञा-पत्र के अनुसार 'बैंक ऑफ कलकत्ता' नाम की पहली बैंक स्थापित की गई, जिसका प्रमुख उद्देश्य अवमूल्यन चलन पद्धति के दोषों को दूर करना था। इसके पश्चात् सन् १८४० में 'बैंक ऑफ बम्बई' एवं सन् १८४३ में 'बैंक ऑफ मद्रास' की स्थापना हुई। ये तीनों 'प्रेसीडेन्सी बैंक' ईस्ट इण्डिया कम्पनी की वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने तथा आन्तरिक व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध करने के लिए स्थापित की गई थीं और इन्हें नोट निर्गम का अधिकार भी दिया गया था, जो सन् १८६२ में छीन लिया गया था। कठिनाइयों के होते हुये भी ये तीनों बैंक सन् १९२० तक सफलतापूर्वक चालू रहीं। सन् १९२१ में इन तीनों को मिलाकर 'इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया' स्थापित किया गया, जिसका अब 'स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया' के रूप में फिर से पुनर्संङ्गठन किया गया है।

सन् १८६० से भारतीय बैंकिंग के इतिहास का तीसरा युग आरम्भ होता है। इस वर्ष से योरोपियन प्रबन्ध के अन्तर्गत अनेक बैंकों की स्थापना हुई और सन् १८७४ तक सीमित उत्तरदायित्व बैंकों की संख्या १४ तक पहुँच गई। भारतीय प्रबन्ध के अन्तर्गत संचालित सबसे पहली बैंक 'अवध कॉमर्शियल बैंक' थी, जो सन् १८८१ में स्थापित की गई थी। तत्पश्चात् और भी कई बैंक, जिनमें 'पंजाब नेशनल बैंक' (१८९४) भी सम्मिलित है, स्थापित हुईं। सन् १९०५ के स्वदेशी आन्दोलन ने तो इस प्रवृत्ति को और भी प्रोत्साहन दिया।

सन् १९०५ और सन् १९१३ के बीच ऐसी बैंकों की संख्या, जिनकी परिदत्त पूँजी तथा सुरक्षित निधि मिलकर ५ लाख रुपये से ऊपर थी, ९ से बढ़कर १८ हो गई। इन १८ बैंकों की परिदत्त पूँजी और निधि ४ करोड़ रुपये तक पहुँच गई और

जमाधन २२ करोड़ रुपए के आस-पास पहुँच गया। इस काल में स्थापित होने वाली बड़ी-बड़ी बैंक दी बैंक ऑफ इन्डिया, सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया, इलाहाबाद बैंक, पंजाब नेशनल बैंक, बैंक ऑफ बड़ौदा, बैंक ऑफ मैसूर तथा दी इण्डियन बैंक हैं। इनमें से प्रथम ५ अभी तक भी भारत की पाँच महान् बैंकों में से गिनी जाती हैं। इन बड़ी-बड़ी बैंकों के अतिरिक्त इस काल में बहुत सी छोटी-छोटी बैंक भी खोली गईं, जिनकी संख्या सन् १९१३ में ५०० तक पहुँच गई थी। अधिकांश बैंक बिना समुचित और दृढ़ आर्थिक आधार के ही खोल दी गई थीं, जिसका परिणाम यह हुआ कि सन् १९१३-१७ के बैंकिंग संकट के काल में वे अधिक संख्या में फेल हो गईं। इस संकट में फेल होने वाली प्रमुख बैंक निम्न प्रकार थीं—दी इण्डियन स्वीशी बैंक, दी बंगाल नेशनल बैंक, क्रेडिट बैंक ऑफ इण्डिया, दी स्टैंडर्ड बैंक, दी बॉम्बे मर्चेन्ट्स बैंक और बैंक ऑफ अपर इण्डिया लिमिटेड।

सन् १९१३-१७ का बैंकिंग संकट—

बैंक का जीवन जनता के विश्वास पर निर्भर रहता है। यह तो एक साधारण सत्य है कि प्रत्येक बैंक की देन उसके कोष में उपस्थित धन की तुलना में बहुत अधिक होती है। किसी भी बैंक के लिए अपने सभी जमाधारियों को एक ही साथ नकदी में भुगतान करना सम्भव नहीं होता है, यद्यपि बैंक अपने प्रत्येक जमाधारी को माँग पर तत्काल नकदी में भुगतान करने का विश्वास देती है। कभी-कभी साधारण नकदी सम्बन्धी माँग की तुलना में कम नकदी अपने पास रखने के कारण बैंक को जमाधारियों को नकदी में भुगतान करने में कठिनाई होती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी-किसी बैंक के दिवालिया हो जाने की निराधार अफवाहें फैल जाती हैं, जिसके कारण सभी जमाधारी तुरन्त नकदी की माँग करने लगते हैं और बैंक के लिए इस माँग को पूरा करना असम्भव हो जाता है। कुछ दशाओं में आर्थिक परिस्थितियाँ ही इस प्रकार की उत्पन्न हो जाती हैं कि लोग बैंक से नकदी में भुगतान लेने के लिए दौड़ते हैं। ऐसा काल बैंक के लिए बड़ी कठिनाई का काल होता है। यदि बैंक के आदेय अतरल हैं और उसे केन्द्रीय बैंक अथवा अन्य बैंकों से यथासमय सहायता नहीं मिलती है तो उसके लिए जमाधारियों की नकदी की माँग को पूरा करना असम्भव हो जाता है। स्थिति कुछ इस प्रकार की है कि यदि कोई बैंक जमाधारियों को नकदी में भुगतान करने से इन्कार करती है अथवा असमर्थ रहती है तो उस पर से जनता का विश्वास उठ जाता है। सभी जमाधारी एक दम नकदी की माँग करने लगते हैं और ऐसी दशा में बैंक पर दौड़ होती है (There is a run on the bank)। अब तो बैंक की स्थिति चिन्ताजनक हो जाती है। यदि इधर-उधर से धन प्राप्त करके वह नकदी की माँग को पूरा कर देती है तो धीरे-धीरे उस पर विश्वास फिर से जम जाता है, परन्तु यदि ऐसा सम्भव नहीं होता है तो बैंक को अपने फाटक बन्द करके दिवालिया हो जाने पर बाध्य होना पड़ता है। व्यवसायिक भाषा में ऐसी स्थिति को बैंकिंग संकट कहते हैं। व्यवहारिक जीवन में ऐसा देखने में आता है कि एक बैंक पर से विश्वास

उठने के कारण अन्य बैंकों के प्रति भी विश्वास में कमी आ जाती है और बैंकिंग संकट एक सामान्य रूप धारण कर लेता है।

भारत में इस प्रकार के बैंकिंग संकट अनेक बार आये है। सन् १९०५ के पश्चात् देश में बैंकिंग का विकास इतनी तेजी के साथ हुआ था कि उसमें किसी प्रकार का स्थायित्व न आ सका था। वैसे भी भारतीय मुद्रा-बाजार की अस्थायी प्रकृति के कारण बैंकिंग संकट के लिए उपयुक्त दशायें विद्यमान थीं। सन् १९१२-१३ में ही संकट के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगे थे। शीघ्रतापूर्वक स्थापित होने वाली बैंक युद्धकालीन परिस्थितियों का आघात न सह सकीं। भारतीय मुद्रा-बाजार के विभिन्न अंगों के बीच संगठन का अभाव था, जो एक बड़ी भारी दुर्बलता थी। इसके अतिरिक्त भारत की साख प्रणाली में लोच का भी अभाव था। परिणाम यह हुआ कि भारतीय बैंकों के लिए एक दूसरे से सहायता प्राप्त कर लेना और आवश्यकता के अनुसार निक्षेपों को घटाना-बढ़ाना कठिन हो गया।

प्रथम महायुद्ध के आरम्भ में ही प्रेसीडेन्सी बैंकों की ब्याज की दर ७–८% थी। युद्ध का आरम्भ होते ही सरकार ने ऋण लेना प्रारम्भ कर दिया। देश मे मुद्रा का विस्तार हुआ और एक प्रकार की सामान्य अभिवृद्धि दृष्टिगोचर हुई। व्यापारियों तथा उद्योगपतियों ने भी ऋण प्राप्त करके अपने व्यवसायों का विस्तार किया। सभी ओर से ऋणों की माँग बढ़ने लगी। परिणामस्वरूप मुद्रा और साख की कमी हुई और ब्याज की दर ऊपर चढ़ने लगी। बैंकों ने ऊँचे ब्याज का लाभ उठाने के लिए साख-मुद्रा का विस्तार करना प्रारम्भ कर दिया। निक्षेप बढ़ने लगे और उनकी तुलना में नकद कोष कम रह गये। यह सब एक ऐसे काल में हो रहा था जबकि युद्धकालीन अनिश्चितता के कारण लोगों का बैंकों के प्रति विश्वास घट रहा था और निक्षेपों को निकालने की मांग बढ़ रही थी। सबसे पहले 'पीपुल्स बैंक ऑफ इण्डिया' पर संकट आया और सितम्बर सन् १९१३ में ही वह दिवालिया हो गई। इसका सारी बैंकिंग प्रणाली पर बुरा प्रभाव पड़ा और धीरे-धीरे एक-एक करके बहुत बैंक फेल होने लगीं। सन् १९१७-१८ तक बैंकों के डूबने का क्रम बराबर चलता रहा और इस काल में ८७ बैंक, जिनकी सामूहिक परिदत्त पूँजी और निधि १७५ लाख रुपया थी, डूब गईं। यह पूँजी इस समय की कुल बैंकों की पूँजी का ५०% थी। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि सन् १९१३ और सन् १९२४ के बीच १६१ बैंकों का विलीयन हुआ है। तत्पश्चात् सन् १९३१ और सन् १९३६ के बीच के काल में औसत रूप में प्रति वर्ष ६४ बैंक ठप्प होती रही हैं। सन् १९३८ में 'ट्रावनकोर कोचीन एण्ड किलों बैंक' के निस्तारण ने तो समस्त दक्षिणी भारत में आतंक मचा दिया था।

बैंक विलीयन के कारण—

इस संकट के काल में बैंकों के फेल होने के अनेक कारण थे। इन कारणों में

से कुछ तो इस प्रकार के थे जो उसी काल से सम्बन्धित थे, परन्तु कुछ कारण ऐसे भी थे जो भारतीय बैंकिंग प्रणाली के दोषों के रूप में अभी तक विद्यमान हैं और भविष्य के लिए भी संकट से खाली नहीं हैं। प्रमुख कारण निम्न प्रकार थे :—

(१) अति शीघ्र विकास—स्वदेशी आन्दोलन के फलस्वरूप बैंक घास की भाँति उगने लगी थीं। बहुत सी बैंक ऐसे व्यक्तियों द्वारा खोली गई थीं और चलाई गई थीं जिन्हें न तो इस व्यवसाय में किसी प्रकार का अनुभव था और न ही बैंक संकटों का ज्ञान था। ऐसा कहा जाता है कि 'क्रेडिट बैंक ऑफ इण्डिया' का मैनेजर 'बिल' शब्द का अर्थ तक नहीं जानता था। ऐसी बैंकों का फेल हो जाना स्वभाविक ही था।

(२) धोखेबाजी—बहुत सी बैंकों ने धोखेबाजी की नीति अपनाई थी। वे अपनी अधिकृत पूँजी को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाती थीं और प्रार्थित पूँजी तथा परिदत्त पूँजी को, जो अनुपात में बहुत कम रहती थी, छुपा कर रखती थीं। वास्तव में उनके पास कार्यवाहक पूँजी की भारी कमी रहती थी, जिसके कारण संकट की छोटी सी चोट भी उन्हें डुबा देती थी। प्रो० मुरञ्जन ने पता लगाया है कि 'पूना बैंक, पूना' ने अपनी अधिकृत पूँजी १० करोड़ रुपया दिखाई थी, जबकि उसकी प्रार्थित पूँजी केवल ५० लाख रुपया थी और इसमें से भी प्रत्येक १०० रुपया के अंश पर केवल १५ रुपये लिये गये थे और इस प्रकार परिदत्त पूँजी केवल ७·५ लाख रुपया थी।* इसी प्रकार अमृतसर बैंक, पायोनियर बैंक तथा हिन्दुस्तान बैंक जैसी छोटी-छोटी बैंकों ने थोड़े से ही काल में अनावश्यक रूप में अनेक शाखायें खोली थीं।

(३) निक्षेपों की अधिक वृद्धि—इन बैंकों को पूँजी प्राप्त करने के लिये निक्षेपों पर निर्भर रहना पड़ता था और इसी कारण ये निक्षेपों पर ऊँचा ब्याज देकर उन्हें अधिक मात्रा में आकर्षित करने का प्रयत्न करती थीं। इस प्रकार इनके ऋण लेने और ऋण देने की ब्याज की दरों का अन्तर कम रहता था। अधिक लाभ कमाने के लिए उन्होने नकद कोषों पर समुचित ध्यान दिए बिना निक्षेपों को बढ़ाना आरम्भ किया। बहुत-सी दशाओं में निक्षेपों के पीछे केवल १०–११% नकद कोष रखे गये थे।

(४) अतरल आदेय—कुछ बैंकों ने दीर्घकालीन विनियोगों में रुपया लगाने की नीति अपनाई थी। इनके आदेयों में तरलता नहीं रह पाई थी, इस कारण जब निक्षेप-धारियों ने नकदी में माँग की तो बहुत सी बैंक उसे पूरा करने में असमर्थ रहीं। पीपुल्स बैंक ऑफ लाहौर, टाटा इण्डस्ट्रियल तथा अमृतसर बैंक के फेल होने का प्रमुख कारण यही था।

(५) सट्टा व्यवसाय—बहुत सी बैंकों ने सट्टा व्यवसाय में भी अपना धन लगाया और व्यापार तथा वाणिज्य सम्बन्धी अनेक ऐसे कार्य किए जो किसी भी बैंक

---

* *See* S. K. Muranjan : *Modern Banking in India*, 358-62.

के लिए अवाँछनीय होते हैं। इण्डियन स्पीशी बैंक के फेल होने का प्रमुख कारण सोने, चाँदी और मोती में सट्टेवाजी करना था। इस बैंक ने और भी बहुत से अनुपयुक्त ऋण दिए थे। प्रो० मुरञ्जन के अनुसार इस बैंक को निम्न प्रकार हानि हुई थी* :—

	(लाख रुपयों में)
चांदी में सट्टा करने से हानि	१११
मोती व्यवसाय के सट्टे से हानि	३६
बदला व्यवसाय से हानि	१४
अवांछनीय ऋणों से हानि	४
कुल हानि	१६५

प्रो० मुरञ्जन ने पता लगाया है कि इस बैंक ने अपने सट्टा व्यवसाय को बराबर गुप्त रखा और यद्यपि इसे सन् १९०९ के पश्चात् लाभ बिलकुल नहीं हुआ था, परन्तु इसने अपनी पूँजी में से २२ लाख रुपये की राशि लाभ के रूप में बाँटी, जो एक बहुत ही अनुचित कार्यवाही थी।

(६) अनुपयुक्त संचालक—बहुत सी बैंक अनुभवहीन, स्वार्थी तथा धोखे-बाज संचालकों के हाथों में थीं। संचालक अपने लिए तथा ऐसे उद्योगों के लिए ऋण प्राप्त करते रहते थे जिनमें उन्हें रुचि थी अथवा जिनमें उनका निजी स्वार्थ था। झूठे लेखों को तैयार करना, अंकेक्षण की झूठी रिपोर्ट तैयार करना आदि अनेक अनियमित तथा धोखेबाजी के कार्य किये जाते थे। उदाहरण के लिए, काठियावाड़ एण्ड अहमदाबाद कॉरपोरेशन की लेखा पुस्तकें भी नहीं थीं। पायनियर बैंक की तो परिदत्त पूँजी भी कल्पनात्मक थी, क्योंकि अंश पूँजी अंशधारियों को ऋण के रूप में दी हुई दिखाई गई थी।

(७) दुर्भाग्य—कम से कम दो बैंक केवल अपने दुर्भाग्य के कारण फेल हुईं। किसी न किसी कारण इन पर से जनता का विश्वास उठ गया और इन्हें अपने द्वार बन्द करने पड़े। ऐसी बैंकों में बैंक ऑफ अपर इण्डिया, मेरठ का नाम उल्लेखनीय है। इस बैंक पर पर पीपुल्स बैंक के फेल होते ही सङ्कट आया और इसे ८७ लाख रुपये की निक्षेपों का नकदी में भुगतान करना पड़ा, परन्तु बैंक सङ्कट को झेल गई। सन् १९१४ में फिर सङ्कट आया और बैंक डूब गई। ऐसा पता लगा था कि इस बैंक द्वारा दिए हुए सभी ऋण सुरक्षित थे और विलीयन के पश्चात् भी इसके अंशधारियों तथा निक्षेपधारियों को पूरी राशि मिली थी। इसी प्रकार की दूसरी बैंक एलायंस बैंक ऑफ शिमला थी। यह बैंक इस कारण फेल हुई कि इसकी बदनामी की झूठी अफवाहें फैल गई थीं और नकदी की माँग असाधारण रूप में इतनी अधिक हुई थी कि उसे किसी भी बैंक द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता था।

बैंकों के विलीयन से सम्बन्धित उपरोक्त सभी कारण समय विशेष से

* Ibid, p. 353.

सम्बन्धित थे, परन्तु कुछ कारण भारतीय बैंकिंग के आधारभूत दोषों के रूप में भी कार्यशील रहे हैं, जो निम्न प्रकार हैं :—

(१) नकद कोषों का कम अनुपात में रखना—बहुत सी भारतीय बैंक नकद कोष कम अनुपात में रखती हैं। १०–११% नकद कोष रखने पर थोड़ा सा भी संकट आने पर नकदी की माँग को पूरा करना कठिन हो जाता है। ऐसी बैंक की सुरक्षा सदैव सन्देहपूर्ण रहती है।

(२) अपर्याप्त पूँजी—भारतीय बैंकों में अधिकृत तथा स्वीकृत पूँजी की तुलना में परिदत्त पूँजी बहुत ही कम रहती है।

(३) योग्य प्रबन्धकों तथा निपुण संचालकों की कमी—यह कमी इतनी अधिक है कि बहुत सी बैंकों को विदेशी प्रबन्धक और कर्मचारी रखने पड़ते हैं।

(४) अव्यवसायिक व्यवहार—ऐसे अनेक व्यवहार प्रचलित हैं जो व्यवसायिक दृष्टिकोण से अनुचित हैं, जैसे—निक्षेपों पर ऊँचे ब्याज देना, पूँजी में से लाभांश बाँटना, इत्यादि। इस सबका परिणाम यह होता है कि दीर्घकाल में बैंक को घाटा होता है। कृत्रिम लाभों द्वारा निक्षेपदाताओं तथा अंशधारियों को कुछ ही काल तक धोखा दिया जा सकता है। अन्त में पोल खुल ही जाती है।

(५) आदेयों में तरलता का अभाव—कभी-कभी बैंक को कार्यग्राहक पूँजी का काफी बड़ा भाग अतरल आदेयों तथा ऐसी प्रतिभूतियों में लगा दिया जाता है जो न तो बहुत विश्वासजनक होती हैं और न शीघ्र बेची जा सकती हैं, जैसे—भूमि, बिल्डिङ्ग आदि।

(६) प्रबन्ध की स्वार्थी नीति—बहुत सी दशाओं में मैनेजरों और संचालकों के धोखेपूर्ण व्यवहार के कारण भी बैंक फेल हुई हैं। भूतकाल में मैनेजिंग एजेन्ट इस सम्बन्ध में काफी गड़बड़ किया करते थे।

(७) बैंकिंग विधान का अभाव—देश में समुचित बैंकिंग विधान का अभाव रहा है, जिसके कारण बैंकों को मनमानी कार्यवाहियाँ करने का अवसर मिल जाता था। सन् १९४९ के बैंकिंग विधान से यह कमी काफी अंश तक दूर हो गई है।

(८) केन्द्रीय बैंक का अभाव—देश में केन्द्रीय बैंक के न होने से भी विलीयन प्रवृत्ति को रोकना सम्भव न हो सका। प्रतियोगिता के भय से तथा अपना सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए बैंक सङ्कट के काल में एक दूसरी को सहायता नहीं देती हैं। अब रिजर्व बैंक की स्थापना ने यह दोष दूर कर दिया है।

बैंकिंग संकटों का परिणाम—

प्रथम महायुद्ध के प्रथम अर्द्ध भाग में बैंकिंग संकट के कारण बैंकों पर से जनता का विश्वास हट गया था, परन्तु दूसरे अर्द्ध भाग में स्थिति सुधरने लगी थी।

सबसे अच्छा परिणाम यह हुआ था कि सरकार और जनता दोनों के सम्मुख यह स्पष्ट हो गया कि देश में बैंकिंग के समुचित विकास के लिए उस पर नियन्त्रण आवश्यक था। यह सत्य तो स्वीकार कर लिया गया था, किन्तु फिर भी सरकार इस समस्या के प्रति उदासीन ही बनी रही। सन् १९२९ तक इस दिशा में लगभग कुछ भी कार्य नहीं किया गया था। महान अवसाद के प्रारम्भ होने पर सन् १९३० में सरकार ने केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति नियुक्त की। इस समिति को देश के बैंकिंग संगठन की जाँच करने के पश्चात् सुधार के सुझाव देने का आदेश दिया गया था। समिति ने दो महत्त्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किये—प्रथम, इसने केन्द्रीय बैंक की स्थापना पर जोर दिया और दूसरे, इसने बैंकिंग विधान बनाने और लागू करने की सिफारिश की। परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो १ अप्रैल सन् १९३५ से रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की गई और दूसरी ओर सन् १९३६ में सन् १९१३ के भारतीय कम्पनीज एक्ट में संशोधन किये गये, जिससे कि बैंकिंग कम्पनियों से सम्बन्धित नियमों में सुधार हो जाय।

प्रथम महायुद्ध के अन्तिम भागों में युद्ध-कालीन मुद्रा-स्फीति के कारण जनता के पास अधिक धन पहुँच गया था। फलतः बैंकों के निक्षेपों में भी वृद्धि होने लगी। इसके कारण बैंकों पर फिर से विश्वास जमने लगा। पहले से स्थापित बैंकों ने अपने व्यवसाय का विस्तार करना आरम्भ कर दिया और कितनी ही नई बैंक खुलने लगीं। इस काल में औद्योगिक बैंकों की स्थापना पर अधिक जोर दिया गया और यह क्रम सन् १९२३ तक चलता रहा, जिस वर्ष 'टाटा इण्डस्ट्रियल बैंक' फेल हो गई। सन् १९२१ तक ऐसी बैंकों की संख्या जिनकी परिदत्त पूँजी और सुरक्षित निधि ५ लाख रुपये से बाहर थी, २५ हो गई थी। सभी बैंकों की परिदत्त पूँजी और निधि बढ़कर क्रमशः ११ और ७१ करोड़ रुपये हो गई थी। इसी काल में सन् १९२१ में तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिला कर इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई, जिसकी परिदत्त पूँजी और निधि उस समय ९·७ करोड़ रुपया थी और जिसके निक्षेपों की कुल राशि ७३ करोड़ रुपया थी। सन् १९५५ में इस बैंक का राष्ट्रीयकरण हो गया है और इसका नया नाम स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया है।

सन् १९२१ के बाद फिर एक मन्दी का काल आया। सरकार ने भी विस्फीतिक नीति ग्रहण की। एक बार फिर बैंकों की स्थिति डाँवाडोल हो गई और विलीयन का क्रम आरम्भ हो गया। जनता की आय के घट जाने के कारण बैंकों के जमाधन में भी कमी आने लगी। सन् १९२१ और सन् १९२४ के बीच में बैंकों का जमाधन ८० करोड़ रुपये से घट कर केवल ५५ करोड़ रुपया रह गया। इस काल में कुल मिला कर छोटी-बड़ी ४४७ बैंकों का दिवाला निकल गया। फेल होने वाली बैंकों की कुल परिदत्त पूँजी ८ करोड़ रुपया थी। सन् १९२४ के पश्चात् स्थिति फिर सुधरने लगी और सन् १९२५ में आर्थिक जीवन में सामान्यता आ गई, परन्तु सन् १९३० तक

कोई विशेष प्रगति दृष्टिगोचर न हो सकी। सन् १६३० के पश्चात् बैंकों के विलीयन का क्रम फिर आरम्भ हुआ, जो सन् १६३८ तक चलता रहा। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि यद्यपि सन् १६२२ और सन् १६३६ के बीच बैंक भारी संख्या में फेल हुई थीं परन्तु इस काल में बैंकों की कुल शाखाएँ मिल कर तीन गुनी हो गई थीं। सन् १६३७ में दूसरा बैंकिग सङ्कट आया था, परन्तु उसका प्रभाव दक्षिणी भारत की बैंकों पर ही अधिक पड़ा। अब तक यह स्पष्ट हो गया था कि सन् १६३६ का विधान भी विलियन प्रवृत्ति को रोकने में असफल ही रहा था। इसी कारण सन् १६४२ तथा सन् १६४४ के युद्धकालीन वर्षों में विशेष उपाय किये गये और अन्त में सन् १६४६ में विस्तृत बैंकिग विधान लागू किया गया।

दोनों महायुद्धों के बीच बैंकिग विकास की विशेषताएँ—

दोनों महायुद्धों के बीच के काल में भारतीय बैंकिग में एक ही साथ दो बातें स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ती हैं। इस काल में नई बैंकों के खुलने और पूर्व स्थापित बैंकों के फेल होने का क्रम बराबर चलता रहा है। साधारणतया मन्दी के आते ही बैंक फेल होने लगती थीं और सामान्यता के आते ही उनकी फिर से स्थापना होने लगती थी। बहुत सी दशाओं में तो एक ही साथ बैंकों के खुलने और ठप्प होने का कार्य चलता रहता था था। इस काल के विषय में शायद ऐसा कहना अनुपयुक्त न होगा कि भारत का बैंकिग विकास सब कुछ देखते हुए बड़ा ही अव्यवस्थित रहा है। देश में यथेष्ठ अनुभव, पूँजी तथा साहस को अभाव था। अधिकाँश बैंक बिना भावी विकास की सम्भावनाओं पर विचार किये ही खोल दी जाती थीं। शाखाएँ खोलने के विषय में तो प्रत्येक बैंक उसी स्थान पर शाखा खोलने का प्रयत्न करती थी जहाँ पहले से ही किसी न किसी बैंक की शाखा खुली हुई थी। इस सम्बन्ध में सभी बैंक देश की पाँच बड़ी-बड़ी बैंकों का अनुकरण करती थीं। जहाँ तक इन पाँच बड़ी-बड़ी बैंकों का प्रश्न थीं, ये भी शाखा खोलने में इम्पीरियल बैंक का अनुकरण करती थी और इस बात की जाँच नहीं करती थीं कि स्थान विशेष में व्यवसाय का अवकाश कितना था। आधुनिक बैंकों के साथ-साथ देशी बैंकर भी अपने कार्यों में व्यस्त थे। इनका आधुनिक बैंकों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहा है। आधुनिक बैंकों ने उन्हें अपने साथ मिलाने का कोई प्रयत्न भी नहीं किया था और अधिकांश बैंकों ने बड़े-बड़े औद्योगिक और व्यापारिक केन्द्रों पर ही अपनी शाखाएँ खोली थीं।

इस अव्यवस्थित विकास के कारण देश के विभिन्न भागों के बीच बैंकिग सेवाओं का समुचित वितरण न हो सका। उत्तर-प्रदेश, बम्बई, मद्रास, बङ्गाल और पंजाब में बैंकों की संख्या बराबर बढ़ती गई, परन्तु बिहार, उड़ीसा और मध्य-प्रदेश को इनकी सेवाओं से लाभ प्राप्त न हो सके। श्री पनानडिकर का विचार है कि लगभग सभी बैंक देशी राज्यों में शाखाएँ खोलने में संकोच करती थीं और यदि इम्पीरियल बैंक ने विशेष सुविधा न दी होती तो शायद ये क्षेत्र बैंकिग सेवाओं से वंचित ही

रहते ।* शाखायें खोलने का कार्य इतनी अनियमित तथा आधारहीन रीति से हुआ कि बहुत से छोटे-छोटे नगरों में अनावश्यक ही अनेक शाखाएँ खुल गईं और कितने ही महत्त्वपूर्ण स्थानों को बैंकिंग सेवाएँ प्राप्त न हो सकीं ।

इस प्रकार के अव्यवस्थित विकास का दूसरा परिणाम निक्षेपों के केन्द्रीयकरण के रूप में दृष्टिगोचर होता है । सन् १९२२ और सन् १९३६ के बीच बैंकों की निक्षेप राशि ७० करोड़ रुपए से बढ़कर ११० करोड़ रुपया हो गई थी, परन्तु कुल जमाधन का ८३% इम्पीरियल बैंक, विनिमय बैंक तथा सात अन्य बड़ी-बड़ी बैंकों के पास था । ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि सात महान् बैंकों के पास कुल जमाधन का ७१% था, जिसमें से ६७% केवल पाँच बैंकों के पास था । इससे स्पष्ट होता है कि छोटी-छोटी बैंक निक्षेपों को आकर्षित करने में सफल नहीं हो पाई थीं । इस स्थिति के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं :—

(१) छोटी-छोटी बैंकों ने अपना व्यवसाय छोटे-छोटे नगरों में आरम्भ किया था और शाखाएँ भी ऐसे ही नगरों में खोली थीं । इन स्थानों में व्यवसाय की कमी थी और लोगों के पास धन का भी अभाव था । इस कारण इन बैंकों के पास निक्षेप राशि सदा ही कम रही ।

(२) बड़ी-बड़ी बैंकों की शाखाएँ छोटी बैंकों से प्रतियोगिता करती थीं । वे केवल उनका व्यवसाय ही छीनने में सफल नहीं होती थीं, वरन् अपनी ऊँची साख के कारण नीची ब्याज की दरों पर भी अधिक निक्षेप प्राप्त कर लेती थीं ।

(३) बड़े-बड़े औद्योगिक और व्यापारिक केन्द्रों में शाखाएँ खोलने के कारण बड़ी बैंकों को धनी लोगों का संरक्षण मिलता था और इसी कारण छोटी बैंकों की तुलना में उनकी निक्षेप राशि अधिक रहती थी ।

(४) इम्पीरियल बैंक की प्रतियोगिता के कारण बड़ी-बड़ी बैंकों को ऐसे व्यापार केन्द्रों से दूर भागना पड़ता था जहां इम्पीरियल बैंक की शाखाएँ थीं । उन्होंने देश के सभी भागों में शाखाएँ खोल कर छोटी बैंकों से प्रतियोगिता की और उनका व्यवसाय छीनने का प्रयत्न किया ।

(५) जिन क्षेत्रों में ब्याज की दरें ऊँची रहने के कारण छोटी-छोटी बैंक लाभ कमाने में सफल हो जाती थीं वहाँ भी बड़ी बैंकों ने शाखाएँ खोल कर उनके व्यवसाय को चौपट कर दिया ।

(६) भारत में शाखा बैंकिंग प्रणाली अपनाई गई थी, जिसने निक्षेपों के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को और भी बलवान बना दिया ।

---

* See G. S. Panandikar : *Banking in India*.

द्वितीय महायुद्ध और भारतीय बैंकिंग

द्वितीय महायुद्ध का भारतीय बैंकिंग पर प्रभाव—

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, सन् १९३८ में भारतीय बैंकिंग प्रणाली एक संकट के काल से गुजर रही थी। सितम्बर सन् १९३९ में दूसरा महायुद्ध आरम्भ हुआ। इस महायुद्ध के भारतीय बैंकिंग पर निम्न प्रभाव पड़े :—

(i) निक्षेपों में वृद्धि—तत्काल परिणाम यह हुआ कि जनता ने भारी मात्रा में निक्षेपों को निकाला, क्योंकि युद्ध के आरम्भ ने भय की स्थिति उत्पन्न कर दी थी। थोड़े ही काल में ५·१२ करोड़ रुपये का जमाधन निकाल लिया गया, परन्तु धीरे-धीरे विश्वास का अभाव दूर हुआ और निक्षेपों में वृद्धि होने लगी। युद्धकाल में केवल सन् १९३९ और सन् १९४३ के बीच निक्षेपों की मात्रा २४९·४५ करोड़ से बढ़ कर ६५५·०१ रुपया हो गई।

(ii) शाखाओं का विस्तार व नई बैंकों की स्थापना—युद्धकाल के प्रथम दो वर्षों में तो बैंकिंग की प्रगति धीमी रही, परन्तु तत्पश्चात् बैंकों ने अपनी शाखाओं का विस्तार किया और अनेक नई बैंक भी खोली गईं। सन् १९४२ और सन् १९४६ के बीच तो बड़ी तेजी के साथ विकास हुआ। सन् १९३९ और सन् १९४६ के बीच के काल में बैंकों की कुल संख्या १,९५१ से बढ़ कर ५,५२१ हो गई। इस काल में खुलने वाली बैंकों में यूनाइटेड कॉमर्शियल बैंक, हिन्दुस्तान कॉमर्शियल बैंक, हबीब बैंक तथा हिन्दुस्तान मर्केनटायल बैंक के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सभी दृष्टिकोणों से इस काल में उन्नति हुई थी। परिगणित बैंकों की संख्या सन् १९४६ में ९३ हो गई थी और बैंकों के कार्यालयों की संख्या ३,१०६ तक पहुँच गई थी। जमाधन में भी अधिक वृद्धि हुई और सन् १९४६ में इसकी मात्रा १,०९७ करोड़ रुपया हो गई।

(iii) महायुद्ध का बैंकों के आदेयों और उनकी लेनों पर प्रभाव—युद्धकाल में बैंकों की स्थिर निक्षेपों (Fixed Deposits) में कमी हुई थी। व्यापार ऋणों की अधिक मांग के कारण याचना ऋणों पर ब्याज की दर ऊँची रही थी। सोने-चाँदी की कीमतों में अत्यधिक परिवर्तन होते रहने के कारण चालू खातों की जमा का विस्तार हुआ था। इसके अतिरिक्त बैंकों द्वारा दिए जाने वाले विभिन्न प्रकार के ऋणों के अनुपात में भी कमी हुई थी। युद्ध से पहले सम्पत्ति का ६२% तक ऋणों में दे दिया जाता था, जो युद्धकाल में घट कर २५% रह गया था। इम्पीरियल बैंक में तो यह अनुपात ५५% से घट कर २०% रह गया था। बैंकों के आदेयों में तरलता का अंश भी बढ़ गया था। सरकारी प्रतिभूतियों में धन का विनियोग बढ़ा था। सभी परिगणित बैंकों के ऐसे विनियोगों का प्रतिशत ५४ से बढ़ कर ६१ हो गया और इम्पीरियल बैंक का ४३ से बढ़ कर ५१, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस परिवर्तन के कारण बैंकों की लाभ स्थिति में किसी प्रकार की कमी आई थी।

(iv) व्यापार और व्यवसाय की उन्नति के कारण लाभ का सामान्य स्तर ऊँचा ही बना रहा।

(v) युद्धकाल में बैंकों के नकद कोष भी अधिक दृढ़ हो गए। परिगणित बैंकों के नकद कोष ११% से बढ़कर २५% हो गए और इम्पीरियल बैंक के १५% से बढ़कर २४%। सभी दृष्टिकोणों से युद्धकालीन विकास की स्थिति अधिक सन्तोष-जनक दिखाई पड़ती है। युद्धकाल में बैंकों की दशा इतनी अच्छी हो गई थी कि उन्हें रिजर्व बैंक से सहायता की भी कम ही आवश्यकता पड़ी थी, परन्तु माँगने पर सहायता भी मिल जाती थी। इस काल में रिजर्व बैंक ने १ करोड़ से लेकर ४ करोड़ रुपये तक की वार्षिक सहायता दी थी।

(vi) देश में बैंकिंग का विकास इतनी तेजी से हुआ था कि अनुभवी और योग्य कर्मचारियों की कमी अनुभव हुई। यह कमी एक अंश तक अभी तक भी दूर नहीं हो पाई है।

युद्धकालीन बैंकिंग प्रसार के कारण—

(१) मुद्रा-प्रसार—सरकार ने मुद्रा-प्रसार की नीति ग्रहण की थी। युद्ध-काल में पत्र-मुद्रा की कुल मात्रा लगभग साड़े छः गुनी हो गई थी। जनता के पास धन था। व्यापारियों और उद्योगपतियों ने अधिक लाभ कमाया था। इस धन में से बैंकों को भी जमाधन प्राप्त हुआ और उनके नकद कोषों का पर्याप्त विस्तार हुआ, जिनके कारण उनकी साख निर्माण शक्ति बहुत बढ़ गई।

(२) कीमतों के अत्यधिक परिवर्तन—युद्धकाल में सोने-चाँदी और स्थायी सम्पत्ति की कीमत में घोर उच्चावचन हो रहे थे। इनमें रुपया लगाने में जोखिम थी, इसलिए जनता ने फालतू धन को बैंकों में जमा करना ही अधिक उपयुक्त समझा।

(३) ऋणों की माँग में वृद्धि—युद्धकाल में ऋणों की माँग में भारी वृद्धि हुई। स्वयं भारत सरकार अपनी और ब्रिटिश सरकार की ओर से ऋण ले रही थी। सरकार की सामान्य नीति यही थी कि पत्र-मुद्रा के साथ-साथ साख-मुद्रा का भी विस्तार हो, ताकि युद्धकालीन वित्त सुगमता से प्राप्त हो जाय।

(४) अभिवृद्धि—युद्धकालीन अभिवृद्धि ने व्यापार तथा उद्योगों को भी प्रोत्साहन दिया था। कीमतों के निरन्तर बढ़ते रहने तथा युद्धकालीन माँग के कारण लाभ अधिक था। इसने विनियोगों को प्रोत्साहन दिया और ऋणों की माँग को बढ़ा दिया। ऐसी दशा में बैंकिंग व्यवसाय की उन्नति स्वभाविक ही थी।

(५) मुद्रा के प्रचलन-वेग में वृद्धि—व्यवसायिक तेजी के कारण रुपए का प्रचलन वेग बढ़ गया था और बैंकों के पास बराबर रुपया आता-जाता रहता था। इसने आदेयों में तरलता उत्पन्न कर दी और बैंकों को साख का अधिक विस्तार करने का अवसर दिया।

(६) रिजर्व बैंक की उदार नीति—रिजर्व बैंक ने भी साख विस्तार को प्रोत्साहन देने की नीति अपनाई और बैंकों द्वारा नई शाखाएँ खोलने तथा नई बैंकों की स्थापना का विरोध नहीं किया, बल्कि उल्टा प्रोत्साहन दिया।

इस काल में परिगणित बैंकों के विकास के साथ-साथ अपरिगणित बैंकों की भी उन्नति हुई और सन् १९३९ तथा सन् १९४६ के बीच उनकी भी संख्या २३१ से बढ़ कर २८८ हो गई, परन्तु इस सारी उन्नति का अर्थ यह नहीं होता है कि इस विकास में किसी प्रकार का दोष नहीं था। यद्यपि रिजर्व बैंक के खुल जाने तथा सन् १९३६ के कम्पनीज एक्ट में किए गए संशोधनों ने बैंकों के विलीयन का भय काफी अंश तक दूर कर दिया था, परन्तु फिर भी सन् १९३९ और सन् १९४० में कुछ बैंक फेल हो गई थीं। सन् १९४१ में लड़ाई सुदूरपूर्व के क्षेत्र में फैल गई थी, जिसके कारण विनिमय बैंकों के प्रति अविश्वास उत्पन्न हुआ और उसके निक्षेप घटने लगे, यद्यपि अन्य बैंकों के निक्षेप बराबर बढ़ रहे थे।

भारत में युद्धकालीन बैंकिंग विकास के दोष—

साधारणतया द्वितीय महायुद्ध के काल में भारतीय बैंकिंग का आधार सुदृढ़ रहा है, परन्तु यह भी पूर्णतया दोषरहित नहीं रह पाया है। इस काल में बैंकों की संख्या में और उनकी शाखाओं में भारी वृद्धि हुई है। अधिकांश शाखाएँ ऐसे स्थानों में खुली हैं जहां पहले से ही बैंकिंग सेवाएँ विद्यमान थीं। इसका परिणाम यह हुआ है कि बैंकों के बीच पारस्परिक प्रतियोगिता बढ़ी है, जो बहुत सी दशाओं में अनार्थिक हो गई है। यह स्वयं बैंकों के लिए नहीं, बल्कि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के लिए भी अहितकर है। इस विकास के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) देश में अधिकोष सेवाओं का असमान तथा अनार्थिक वितरण हुआ है। कितने ही स्थान ऐसे हैं जहाँ आवश्यकता होते हुए भी बैंकिंग सेवाएँ स्थापित नहीं हो पाई हैं। इसके विपरीत बहुत से स्थानों पर इन सेवाओं की अनावश्यक दोबारगी हुई है।

(२) अनार्थिक प्रतियोगिता बढ़ी है और सेवाओं की दोबारगी के कारण संचालन व्यय भी बढ़ा है।

(३) युद्धकाल में अधिकोषण लाभ और लाभांश इतने बढ़े थे कि बैंकों के अंशों तथा अन्य प्रतिभूतियों में सट्टा होने लगा था।

(४) सहकारी हुण्डियों की कीमत बढ़ जाने के कारण लाभों का उपयोग सुरक्षित कोष को बढ़ाने के स्थान पर लाभाँश बाँटने के लिये अधिक हुआ था।

(५) युद्धकालीन विकास का सबसे बड़ा दोष यह है कि बैंकिंग व्यवसाय का संचालन ऐसे व्यक्तियों के हाथ में चला गया है जिनका मुख्य व्यवसाय व्यापार अथवा उद्योग है। यूनाइटेड कॉमर्शियल बैंक बिड़ला ब्रादर्स ने खोली है। इसी प्रकार हिन्दुस्तान कॉमर्शियल बैंक सिंघानिया ने और भारत बैंक, जिसका अब पंजाब नेशनल बैंक में

विलय हो चुका है, डालमिया ने। यह एक अत्यधिक दोषपूर्ण प्रवृत्ति है, जो बैंकिंग व्यवसाय को अन्य व्यवसायों पर आश्रित कर देती है और उसके समुचित आधार को समाप्त कर देती है।

(६) जितनी तेजी के साथ बैंकिंग का विस्तार हुआ है उसकी तुलना में योग्य और अनुभवी कर्मचारी बहुत ही कम संख्या में उत्पन्न हुए हैं।

(७) शाखायें खोलने में बहुधा अव्यवसायिक दृष्टिकोण अपनाया गया है। कुछ बैंकों ने ऐसे क्षेत्रों में शाखायें खोली हैं जिनसे उनका व्यवसायिक सम्बन्ध बिलकुल नहीं था। शाखा खोलने में व्यवसाय खोजने के स्थान पर अन्य बैंकों से प्रतियोगिता करने का दृष्टिकोण अधिक महत्त्वपूर्ण रहा है।

(८) लेखों में हेर-फेर करने और व्यवसाय की सही स्थिति को छिपाने की प्रवृत्ति बलवान हो गई है। युद्धकालीन अभिवृद्धि का लाभ उठाने के लिए अनुचित रीतियों का भी उपयोग बढ़ा है।

(९) विलीयन का क्रम युद्धकाल में भी चलता रहा है। सन् १९३९ में ९० और सन् १९४० में १०२ बैंक फेल हुई थीं। उसके पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि युद्ध की प्रगति के साथ इस प्रवृत्ति का बल घटता गया है, यद्यपि कुछ बैंक बराबर दिवालिया होती गई हैं। सन् १९४१ में ७७, सन् १९४२ में ४९, सन् १९४३ में ५१, सन् १९४४ में २२, सन् १९४५ में २६ और सन् १९४६ में २७ बैंक फेल हुई हैं। इस प्रकार सन् १९३९-४६ के काल में ४४४ बैंक फेल हुई हैं, जिनमें कुछ छोटी-छोटी बैंक सम्मिलित नहीं हैं, जो इनके अतिरिक्त हैं।

भारत के बँटवारे का प्रभाव—

युद्ध का अन्त होने पर भी भारतीय बैंकिंग का सुदृढ़ आधार बना ही रहा है। युद्धोत्तर काल में बैंकों की ऋणदान शक्ति में वृद्धि हुई है और उनके नकद कोषों का अनुपात घटा है। कीमतों की वृद्धि हो जाने के कारण कार्य-व्यय भी बढ़ा है, परन्तु बैंकों के लाभ में कोई विशेष कमी नहीं आई है। इस काल में चालू निक्षेपों में कमी आई है और स्थायी निक्षेप बढ़े हैं। उपयुक्त कर्मचारियों की कमी के कारण सन् १९४६ के अन्त में एक छोटा सा बैंकिंग संकट फिर आया था, जिसका मुख्य प्रभाव बंगाल में दृष्टिगोचर हुआ था। बंगाल की कुछ बैंकों ने अंशों की आड़ पर अधिक ऋण दिये थे, जिसके कारण रोक निधि का अभाव हो गया और उन्हें भुगतान रोकने पड़े। इससे बहुत सी छोटी-छोटी बैंक दिवालिया हो गईं। रिजर्व बैंक को एक ऐसा आदेश भी निकालना पड़ा है कि सट्टा व्यवहार के लिए ऋण न दिए जायें। सन् १९४६ में ही रिजर्व बैंक ने शाखा विस्तार पर नियन्त्रण रखने के लिए सरकार से नियम पास करा लिए थे।

१५ अगस्त सन् १९४७ को देश का विभाजन हुआ। विभाजन के साथ ही साम्प्रदायिक झगड़े हुए और पंजाब तथा बंगाल में पूरी अराजकता रही। देश में

आयात-निर्यात, उत्पादन तथा सम्पत्ति का भारी विनाश हुआ। पंजाब की बैंकों को हानि अधिक हुई, जिसका सही अनुमान अभी तक भी नहीं लगाया जा सका है। विभाजन के फलस्वरूप करोड़ों की संख्या में लोगों को अपने घर-बार छोड़ने पड़े। इसके अतिरिक्त अनिश्चितता ने सट्टा व्यवसाय को भी प्रोत्साहन दिया। सन् १९४७ में ३० अपरिगणित बैंकों का विलीयन हुआ और इस विलीयन के कारण अन्य बैंकों के लिए भी कठिनाई हो गई। विभाजन होने से पहले ही पंजाब की कुछ बैंकों ने अपने कार्यालयों को दिल्ली तथा पूर्वी पंजाब को स्थान्तरित करना और पश्चिमी पंजाब में ऋणों का कम मात्रा में प्रदान करना आरम्भ कर दिया था, परन्तु व्यवहार में ऐसा कम ही हो पाया था। विभाजन के होते ही बहुत सी बैंकों को अपनी पश्चिमी पंजाब की शाखाएँ बन्द करनी पड़ीं। ऋण वसूल न हो सके और आदेयों का भारत को हस्तान्तरण असम्भव हो गया। तुरन्त ही रिजर्व बैंक ने सहायता की योजना लागू की और अन्य बैंकों को विलीयन प्रभाव से बचाने का प्रयत्न किया। इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक ने निम्न कार्य किए :—

(१) रिजर्व बैंक एक्ट में ऐसा संशोधन किया गया कि उपयुक्त प्रतिभूतियों की आड़ पर अपरिगणित बैंकों को भी रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त करने का अधिकार दिया गया।

(२) एक ऐसा आदेश निकाला गया जिसके अनुसार दिल्ली तथा पूर्वी पंजाब राज्यों में स्थित बैंकों के विरुद्ध तीन मास तक कोई भी कार्यवाही नहीं हो सकती थी। यह नियम बनाया गया कि स्थगित शोधन काल में ये बैंक अपने भारत स्थित चल निक्षेपों का केवल १०% अथवा २५० रुपये का (जो भी कम हो) भुगतान कर सकती थीं।

(३) ऐसी बैंकों के पुनर्वास के लिए सरकार ने १ करोड़ रुपये की सहायता दी।

(४) रिजर्व बैंक ने अन्य बैंकों के निरीक्षण और उसके सम्बन्ध में सरकार को रिपोर्ट देने का भी अधिकार प्राप्त किया।

इस प्रकार बँटवारे के दुष्परिणामों से बैंकिंग प्रणाली की रक्षा करने का प्रयत्न किया गया। आगे की घटनाओं में सन् १९४९ का बैंकिंग विधान तथा सन् १९५५ का संशोधन नियम महत्वपूर्ण हैं। इनका विस्तृत अध्ययन अगले अध्याय में किया जायगा।

विलीयन प्रवृत्ति को रोकने के उपाय—

बैंकों की विलीयन प्रवृत्ति को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि बैंकों के संचालन के सामान्य मान को ऊपर उठाया जाय। छोटी बैंकों के सम्बन्ध में तो यह बहुत ही आवश्यक है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं—

(क) शिक्षा—बैंकिंग सिद्धान्त तथा व्यवहार सम्बन्धी शिक्षा इस सम्बन्ध

में काफी लाभदायक हो सकती है। साथ ही साथ, यह भी आवश्यक है कि बैंकों में पारस्परिक सहयोग की भावना उत्पन्न की जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सन् १६२८ में 'इण्डिया इन्स्टीट्यूट ऑफ बैंकर्स' स्थापित की गई थी। यह इन्स्टीट्यूट भाषणों की व्यवस्था करती है, परीक्षायें लेती है और अपनी एक पत्रिका भी निकालती है। इसके अतिरिक्त कुछ राज्य सरकारें भी बैंकिंग शिक्षण की व्यवस्था करती हैं, परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि ऐसी संस्थाओं की क्रियाओं का विस्तार किया जाय। देश में योग्य प्रबन्धकों और कर्मचारियों का आज भी बहुत अभाव है।

(ख) वैधानिक व्यवस्थायें—बैंकों के समुचित संचालन के लिए समय-समय पर भारत सरकार वैधानिक व्यवस्थाएँ करती रही है। सन् १६३६ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट में इस सम्बन्ध में कुछ प्रकार की व्यवस्थायें की गई थी। बिना समुचित पूँजी के कार्य करने और अशिक्षित संचालकों तथा मैनेजिंग एजेन्टों के प्रभाव को दूर करने के लिए सन् १६४६ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट में काफी विस्तृत व्यवस्थायें की गई हैं। इन व्यवस्थाओं द्वारा बैंकों के विलीयन का भय बहुत कुछ दूर हो जाने की आशा है।

(ग) रिजर्व बैंक का नियन्त्रण—यह आवश्यक है कि सभी बैंकों पर कड़ा नियन्त्रण रहे, जिसके कारण उनके अनुचित व्यवहार रुके रहें। इन कार्य के लिए सन् १६४६ के एक्ट में रिजर्व बैंक को महत्त्वपूर्ण अधिकार दिये गये है। पिछले वर्षों में सभी बैंकों के लिए रिजर्व बैंक ने ऋणों, अग्रिमों तथा व्यवसायों के सम्बन्ध में आदेश निकाले हैं, जिनका पालन वास्तव में बैंकों को फेल होने से रोक सकता है, परन्तु इस सम्बन्ध में इस महत्त्वपूर्ण कथन को याद रखना आवश्यक है कि अच्छे नियम एक अच्छी बैंकिंग प्रणाली का निर्माण नहीं कर सकते हैं। ऐसा तो केवल अच्छे बैंकरों द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

भारतीय बैंकिंग व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के उपाय—

समय-समय पर रिजर्व बैंक भारतीय बैंकिंग को स्थिति की जाँच करती रहती है और इस सम्बन्ध में वार्षिक रिपोर्ट भी प्रकाशित करती है। जो दोष सामने आये हैं उन्हें दूर करने के लिए रिजर्व बैंक ने कुछ सुझाव रखे है। विभिन्न विषयों से सम्बन्धित सुझाव निम्न प्रकार है :—

(१) प्रबन्ध के विषय में—भारत की बैंकों को कुशल, शिक्षण प्राप्त तथा अनुभवशाली प्रबन्धकों की सेवाओं के बहुत ही कम लाभ प्राप्त हैं। इसी प्रकार बहुत सी बैंकों में भीतरी निरीक्षण तथा अंकेक्षण प्रणाली भी दोषपूर्ण होती है। संचालकों को न तो अपने कार्य का ज्ञान होता है और न उसके करने की योग्यता। बैंक के कुशल संचालन के लिए यह आवश्यक होता है कि संचालक न केवल उसके कार्य में रुचि लें बल्कि समय-समय पर सप्रभाविक निरीक्षण भी करते रहें। इस कारण रिजर्व बैंक ने

कर्मचारियों के शिक्षण, उनकी नियुक्ति में सावधानी तथा उनकी कार्य-विधि में सुधार के सुझाव दिये हैं।

(२) विनियोग नीति—इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक द्वारा किये गये अध्ययन से पता चलता है कि बैंक सरकारी प्रतिभूतियों में कम धन को लगाती हैं और उनके विनियोगों का तरलता अनुपात कम रहता है। अपरिगणित (Non-Scheduled) बैंकों में ऋणों की मात्रा तो अधिक रहती है, परन्तु कुल निक्षेपों की तुलना में सरकारी प्रतिभूतियों में उनका विनियोग बहुत कम रहता है। ऐसा पता लगाया गया था कि १२३ बैंकिंग कम्पनियाँ या तो सरकारी प्रतिभूतियों में धन लगाती ही नहीं थीं या उनका ऐसी प्रतिभूतियों में विनियोग कुल निक्षेपों के १% से भी कम था। सन् १९५१ से रिजर्व बैंक प्रत्येक बैंक से ऐसा विवरण मांग रही है कि उसने सरकारी प्रतिभूतियों में कितना धन लगा रखा है। बैंकों को यह समझाने का भी प्रयत्न किया जा रहा है कि वे ऐसी प्रतिभूतियों में विनियोग की मात्रा को बढ़ावें, ताकि उनके आदेयों की तरलता बढ़े और उन्हें जन-साधारण से अधिक विश्वास प्राप्त हो सके।

(३) ऋण नीति—इसमें भी सुधार की आवश्यकता है। बहुत सी बैंक अपनी क्षमता के बाहर भी ऋण दे देती हैं और ऋण लेने वाले की साख की समुचित जांच किये बिना तथा बिना उपयुक्त प्रतिभूतियों के भी ऋण दे दिए जाते हैं। अधिकतम् लाभ कमाने के लिए बैंक अपने ऋणों की मात्रा को बढ़ाती जाती है। सन् १९४९ के नियम में समय और मांग देन के २०% को तरल आदेयों में रखने की व्यवस्था की गई है, जो बहुत लाभदायक हो सकती है, परन्तु यह आवश्यक है कि ऋण देने से पहले लेने वाले की शोधनक्षमता की समुचित जाँच की जाय। अचल सम्पत्ति की आड़ पर कम ऋण दिये जायें और जोखिम में विविधता प्राप्त करने के लिए यथासम्भव विभिन्न प्रकार के ऋण दिये जाएँ।

(४) लाभाँश नीति—लाभांश घोषित करने से पहले बैंकों को अविक्री साध्य आदेयों, अशोध्य ऋणों तथा विनियोगों के अवमूल्यन के लिए समुचित व्यवस्था करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में नकद शेषों का भी पर्याप्त मात्रा में रखना आवश्यक है। इस विषय में सन् १९४९ के एक्ट की व्यवस्थाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। कोई भी बैंक अपने लाभों के २०% से अधिक को उस समय तक नहीं बांट सकती है जब तक कि उसका सुरक्षित कोष परिदत्त पूँजी के बराबर न हो जाय, परन्तु और अधिक कोषों की व्यवस्था से स्थिति और भी सुधर सकती है। इसलिए बैंकों को केवल न्यूनतम् वैधानिक सीमा पर संतोष नहीं करना चाहिए, बल्कि अपने नक़द कोषों को और अधिक बढ़ाना चाहिए।

(५) शाखा नीति—बिना सोचे-विचारे शाखाओं के बढ़ाने से बैंक, बैंकिंग प्रणाली तथा राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को काफी हानि हो सकती है। ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति ने इस बात का अनुरोध किया है कि नई शाखाएँ खोलने के स्थान पर

वर्तमान दशाओं के प्रस्तुत व्यवसाय के आधार को सुदृढ़ बनाना अधिक उपयुक्त होगा। यद्यपि यह आवश्यक है कि अच्छी-अच्छी बैंक ग्रामीण क्षेत्रों तथा छोटे-छोटे नगरों में शाखाएँ खोलें, परन्तु शाखायें इस प्रकार न खोली जायँ कि पारस्परिक प्रतियोगिता बढ़े। रिजर्व बैंक का यह कर्त्तव्य है कि वह इस दिशा में सतर्क रहे।

(६) बैंकिंग रीतियों में सुधार—यह भी आवश्यक है कि कार्य-विधियों में सुधार हों और समुचित बैंकिंग सिद्धान्तों के आधार पर कार्य को चलाया जाय। भूत काल में अनेक बैंकों ने समुचित बैंकिंग सिद्धान्तों के अनुसार कार्य नहीं किया है।

बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण
(Nationalisation of Banking)

आधुनिक संसार में बैंकों के राष्ट्रीयकरण के समर्थक बहुत है। ऐसा कहा जाता है कि ये महत्त्वपूर्ण संस्थायें सरकार के हाथ में रहनी चाहिए, जिससे कि इनका संचालन राष्ट्रीय हितों को उन्नत करने के लिए किया जा सके। इसके अतिरिक्त यह भी अनुभव किया गया है कि बैंकिंग सेवाओं के उपयुक्त नियन्त्रण का सबसे महत्त्वपूर्ण उपाय उनका राष्ट्रीयकरण ही है।

बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता—

बैंकों की प्रकृति ऐसी है कि उनका राष्ट्र के आर्थिक और सामाजिक जीवन में भारी महत्त्व रहता है। बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता निम्न प्रकार बताई जाती है :—

(१) समुचित साख नियन्त्रण—बैंकों का प्रमुख व्यवसाय साख-निर्माण होता है, जो वर्तमान आर्थिक जीवन की प्रमुख आवश्यकता है, परन्तु साख एक ऐसा अस्त्र है जिसका कल्याण तथा विनाश दोनों ही उद्देश्यों के लिए उपयोग किया जा सकता है। साख का नियन्त्रण बहुत ही आवश्यक है, जिससे कि उसका उपयोग व्यक्तिगत लाभ बढ़ाने के लिए न होकर राष्ट्रीय कल्याण के लिए हो सके। अनुभव बताता है कि साख तथा राष्ट्रीय आवश्यकताओं का ठीक-ठीक समायोजन केवल बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

(२) व्यापार चक्रों से बचाव—व्यापार चक्रों के काल में बैंक-मुद्रा तथा बैंकिंग नीति का भारी महत्त्व होता है। बैंकों की बुद्धिहीनता के कारण तो व्यापार चक्र उत्पन्न होते ही हैं, परन्तु यदि कोई समुचित बैंकिंग नीति अपनाई जाय तो आर्थिक संकटों की क्रूरता बहुत अंश तक दूर की जा सकती है। यद्यपि व्यापार-चक्रों को पूर्णतया समाप्त करना तो कठिन होता है, परन्तु साख-मुद्रा के समायोजनों द्वारा उनकी क्रूरता एक बड़े अंश तक घटाई जा सकती है। समाजवादी देशों में, जहां बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण ही एक सामान्य नियम है, व्यापार-चक्र दृष्टिगोचर ही नहीं होते हैं।

(३) बैंकिंग सेवाओं का पर्याप्त विकास—आधुनिक युग में राष्ट्रीय व्यापार

तथा वाणिज्य के अर्थ-प्रबन्ध के लिए बैंकों का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। इस कारण यह उचित होगा कि बैंकिंग सेवाएँ ऐसे उद्देश्यों के लिए तथा उस अंश तक उपलब्ध की जायँ कि राष्ट्रीय हितों तथा आवश्यकताओं की पूर्ति हो। इस कार्य के लिए राष्ट्रीयकरण ही एक मात्र उपाय है।

(४) लाभों का लोक कल्याण हेतु उपयोग—बैंक लोक-धन तथा जनता के विश्वास में व्यवसाय करती हैं, इसलिए अच्छा यही है कि उनके लाभ भी जनता को प्राप्त हों, न कि निजी व्यक्तियों को। राष्ट्रीयकरण द्वारा ये लाभ सरकारी कोष में पहुँचते है और इनका उपयोग लोक कल्याण की उन्नति के लिए किया जा सकता है। भारत में तो बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता कई कारणों से और भी बढ़ गई है।

(५) भारतीय पूँजी परम्परा से ही शर्मीली है—इस दोष को दूर करना देश के भावी विकास के लिए बहुत आवश्यक है। देश में एक ओर तो बचत ही कम हो पाती है और दूसरी ओर बचत का अधिकांश भाग आसंचित कोषों में चला जाता है, जिससे पूँजी के निर्माण में बाधा पड़ती है।

(६) देश में बैंकों का विकास कुछ इस प्रकार हुआ है कि कुछ स्थानों में बैंकों की संख्या आवश्यकता से बहुत अधिक है और उनके बीच हानिपूर्ण और अनुचित प्रतियोगिता है, जबकि सामान्य रूप में देश के भीतर बैंङ्किग सेवाओं की कमी है।

इसी प्रकार कई अन्य कारणों से भी भारतीय बैंङ्किग जनता में विश्वास उत्पन्न नहीं कर पाई है। आरम्भ में अनेक बैंकों का प्रबन्ध विदेशियों के हाथ में था, जिसके कारण बैंक बराबर विदेशी संस्थाएँ समझी जाती थीं। दूसरे, भारत में बैंकिंग का विकास भी आयोजित रीति से नहीं हुआ है। तीसरे, बैंकों के विलीयन की संख्या बहुत अधिक रही है। सन् १६१३ मे ५०-५५ बैंक फेल हो गई थीं। सन् १६१३ और सन् १६३६ के बीच २३८ बैंक ठप्प हो गईं, सन् १६३६ और सन् १६३८ के बीच ६४ बैंक प्रति वर्ष फेल होने का औसत रहा है और सन् १६४१ तथा सन् १६५१ के बीच में भी ४८ बड़ी बैंक फेल हो गई थीं।

हमारी बैंकिंग प्रणाली की एक विशेषता यह है कि आर्थिक दृष्टिकोण से रिजर्व बैंक साख नीति के नियन्त्रण में ढीली रही है। यद्यपि आवश्यकता पड़ने पर सरकार रिजर्व बैंक को आवश्यक अधिकार दे देती है, परन्तु इसमें विलम्ब होता है। इस समस्या का महत्त्व इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि युद्धोत्तर-काल में सरकार सभी साख नियन्त्रण उपायों का उपयोग करने पर भी कीमतों में स्थायित्त्व लाने में सफल नहीं हो पाई है। पिछले कुछ दिनों से दशाएँ कुछ बदलती हुई अवश्य दीख रही हैं।

भारतीय बैंकिंग प्रणाली की दो 'और भी विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम, देश में साधारणतया व्यापार बैंकों की ही प्रधानता है और औद्योगिक तथा कृषक वित्त का भारी अभाव है। यह एक-दिशाई विकास ठीक नहीं है। दूसरे, भार-

तीय बैंकिंग का एक महत्त्वपूर्ण भाग अभी तक भी विदेशियों द्वारा चलाया जाता है। लगभग सभी विनिमय बैंक विदेशी हैं।

उपरोक्त विवेचन से पता चलता है कि भारतीय बैंक का समुचित नियन्त्रण आवश्यक है। दूसरे महायुद्ध के काल में यह भी सिद्ध हो गया है कि समुचित नियन्त्रण द्वारा भारतीय बैंकिंग प्रणाली का किसी भी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपयोग करना सम्भव है। इस नियन्त्रण के लिए तथा बैंकिंग के अन्य दोषों को दूर करने के लिए राष्ट्रीयकरण ही उपयुक्त है।

जहाँ तक भारत में बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण के व्यवहारिक रूप का प्रश्न है, प्रथम जनवरी सन् १९४९ से भारत सरकार ने रिजर्व बैंक का तो राष्ट्रीयकरण कर ही लिया है और साथ ही में इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण को भी सम्पन्न किया है। सारी बैंकिंग प्रणाली के राष्ट्रीयकरण का कोई विचार ज्ञात नहीं होता है। राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध हम केवल इतना कह सकते हैं कि सरकारी व्यवसायों में व्यक्तिगत सम्पर्क, लोच, मितव्ययिता, शासन की कुशलता, समायोजन आदि गुण कम अंश तक प्राप्त हो पाते हैं। इधर भारत सरकार ने जीवन बीमा व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण करके बैंकों के राष्ट्रीयकरण की सम्भावना को बढ़ा दिया है।

राष्ट्रीयकरण के विरोध में—

राष्ट्रीयकरण के विरोध में भी बहुत कुछ कहा जा सकता है। भारत में विरोधी पक्ष ने तीन महत्त्वपूर्ण तर्कों को अपने दृष्टिकोण का आधार बनाया है—(१) यह कि भारत में सरकारी उद्योगों का कार्य बहुत सराहनीय नहीं रहा है। इनका कार्य अकुशल, विलम्बपूर्ण तथा बहुधा अपव्ययी रहा है। भय यही है कि राष्ट्रीयकरण के द्वारा बैंकिंग सेवाओं की कुशलता मारी जायगी। (२) उद्योगपतियों और व्यवसायिओं को यह भय है कि उनके व्यवसायों की गोपनीयता समाप्त हो जायगी। राष्ट्रीयकृत बैंकिंग सभी के साथ मन-मानी कर सकती है। (३) राष्ट्रीयकृत बैंकिंग व्यवसाय को चलाने के लिए सरकार के पास योग्य और निपुण कर्मचारी नहीं है, जिससे व्यवसाय का समुचित संचालन कठिन हो जायगा।

इन सभी तर्कों को देखने से पता चलता है कि ये बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इसमें तो सन्देह नहीं है कि राष्ट्रीयकरण की भी अपनी समस्याएँ होती है, परन्तु यह कहना उचित न होगा कि राष्ट्रीयकृत उद्योगों की कुशलता अवश्य ही व्यक्तिगत उद्योगों से कम रहती है। इसी प्रकार कर्मचारियों की कमी तो व्यक्तिगत स्वामित्व के अन्तर्गत भी रहेगी।

भारतीय बैंकिंग की नवीन प्रवृत्तियाँ—

भारतीय बैंकिंग का वर्तमान स्वरूप उन सरकारी नीतियों द्वारा निश्चित होता है जो स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने ग्रहण की हैं। इस काल में सरकार ने

बैंकिंग व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के अनेक उपाय किये हैं। इस दिशा में प्रमुख सरकारी कार्य निम्न प्रकार हैं:—

(१) रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण—यह इस दिशा में सबसे पहला महत्त्वपूर्ण कार्य था। प्रथम जनवरी सन् १९४९ से रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया है। उद्देश्य यह था कि देश की केन्द्रीय बैंक की शक्ति और सप्रभाविकता में वृद्धि की जाय। राष्ट्रीयकरण द्वारा यह आशा की गई है कि रिजर्व बैंक सरकार की आर्थिक नीति और देश के आर्थिक विकास में अधिक सहयोग दे सकेगी। वास्तव में आर्थिक नियोजन को आरम्भ करने से पहले यह राष्ट्रीयकरण उपयुक्त ही था। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् का अनुभव भी यह स्पष्ट कर देता है कि राष्ट्रीयकरण लाभदायक ही रहा है।

(२) नया बैंकिंग कम्पनी विधान—मार्च सन् १९४९ से देश में बैंकिंग कम्पनी विधान लागू कर दिया गया है। उद्देश्य यह है कि देश की बैंकिंग व्यवस्था का समुचित वैधानिक नियमन किया जा सके और उसका विकास आरोग्य रूप में हो। इस विधान में रिजर्व बैंक के अधिकारों में अधिक वृद्धि की गई है। अब केन्द्रीय बैंक देश की बैंकों का समय-समय पर निरीक्षण कर सकती हैं, बिना अनुज्ञापन प्राप्त किये कोई नई बैंक नहीं खोली जा सकती है, जन-साधारण के हित में रिजर्व बैंक बैंकों की किसी भी अनुचित कार्यवाही को रोक सकती है और निक्षेपधारियों के हितों की रक्षा का विशेष उत्तरदायित्व केन्द्रीय बैंक के ऊपर रखा गया है।

(३) एकीकरण को प्रोत्साहन—ऐसा अनुभव किया गया है कि बैंकिंग व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने का उपाय उनका एकीकरण भी है। एकीकरण की नीति को सरकार और केन्द्रीय बैंक दोनों ने स्वीकार किया है। यह क्रम सन् १९५० में बङ्गाल की चार बैंकों को मिला कर आरम्भ किया गया और तत्पश्चात् सन् १९५१ में भारत बैंक का पंजाब नेशनल बैंक में विलय किया गया। स्टेट बैंक की पुनर्संगठन योजना के अन्तर्गत ऐसी दस बैंकों को जो राज्य सरकारों के अधिकार में थीं, स्टेट बैंक में मिलाया जा रहा है।

(४) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का निर्माण—१ जुलाई सन् १९५५ से इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया है और उसे स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के नाम से एक नये आधार पर संगठित किया गया है। उद्देश्य यह है कि ग्रामीण और पिछड़े हुए क्षेत्रों को अधिक बैंकिंग सेवाएँ उपलब्ध की जायें। इसके अतिरिक्त सहकारी बैंकिंग के विकास में भी इससे काफी सहायता मिलेगी। स्टेट बैंक को सन् १९६० तक ४०० नई शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्रों तथा छोटे-छोटे नगरों में खोलने का भी आदेश दिया गया है।

(५) निस्तारण विधि में सरलता—सन् १९५० में प्रथम बार यह अनुभव किया गया था कि भारत में बैंकों की निस्तारण व्यवस्था (Process of

Liquidation) बहुत जटिल और विलम्बपूर्ण थी। एक नियम द्वारा इसको सरल और शीघ्रगामी बनाने का प्रयत्न किया गया है।

(६) बैंक शिक्षा का आयोजन—बैंकिंग शिक्षा की कमी हमारे देश के समुचित बैंकिंग विकास के मार्ग में एक भारी बाधा है। विगत वर्षों में रिजर्व बैंक ने इस ओर भी ध्यान दिया है। इण्डिया इन्स्टीट्यूट ऑफ बैंकर्स के कार्यों का विस्तार किया गया है। साथ ही, रिजर्व बैंक द्वारा एक ऐसा कॉलिज स्थापित किया जा रहा है जहाँ बैंकों के प्रबन्धकों और कर्मचारियों को आवश्यक सैद्धान्तिक और व्यवहारिक शिक्षा दी जायगी।

बैंकों का एकीकरण

एकीकरण का अर्थ—

एकीकरण का अभिप्राय विलय अथवा मिल जाने से होता है। जब दो या दो से अधिक बैंक इस प्रकार एक दूसरे से मिल जाती हैं कि इन सबका व्यक्तिगत अस्तित्व मिट जाता है और एक ऐसी संस्था का निर्माण हो जाता है जो सामूहिक रूप में सबका काम करती है तो हम कहते हैं कि इन बैंकों का एकीकरण हो गया है। इसी प्रकार जब एक बैंक का दूसरी में इस प्रकार विलय हो जाता है कि दोनों मिलकर एक हो जाती हैं तो इसे भी हम एकीकरण ही कहते हैं। उद्योग और व्यवसायों सभी में आधुनिक युग में एकीकरण की प्रवृत्ति का अधिक जोर है। एकीकरण द्वारा एक ओर तो पारस्परिक प्रतियोगिता को समाप्त किया जा सकता है और दूसरी ओर बड़े पैमाने के संगठन के लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं।

एकीकरण के कारण—

भारत में बैंकों का एकीकरण थोड़े ही काल से अधिक प्रचलित हुआ है। इसके कई कारण हैं :—

(i) दूसरे महायुद्ध के काल में भारतीय बैंकों और उनकी शाखाओं का भारी विस्तार हुआ, जिसके कारण यह विकास आरोग्यहीन न रह सका। अधिकांश बैंकों ने अनावश्यक शाखाएँ खोलीं और वे अपने कार्यालय की कुशलता तथा शोधनक्षमता की सुदृढ़ता प्राप्त करने में असमर्थ ही रहीं। सेवाओं की कुशलता बढ़ाने के लिए बहुत सी बैंकों ने ऊँचे वेतनों का लोभ देकर योग्य और अनुभवी कर्मचारियों को, जिनका देश में भारी अभाव है, अपने पास खींचने का प्रयत्न किया, जिससे उनका कार्य-व्यय बढ़ गया है। बहुत सी बैंकों ने शीघ्र लाभ कमाने के लिए सट्टा व्यवसाय में भी धन लगाया है।

(ii) युद्धकालीन अभिवृद्धि का अन्त होते ही बहुत सी बैंकों ने ऐसा अनुभव किया कि व्यवसाय का संकुचन हो रहा था और उन्होंने अपनी शाखाओं को बन्द करना आरम्भ किया। फिर भी सन् १९४६ और सन् १९५१ के पाँच वर्षों में १८३ बैंकों का विलीयन हुआ।

(iii) व्यवसाय की मन्दी के फलस्वरूप बैंकों ने अपनी आर्थिक नींव दृढ़ करने का प्रयत्न किया।

(iv) रिजर्व बैंक ने भी विलीयन प्रवृत्ति को रोकने के प्रयत्न आरम्भ किये। ऐसा अनुभव किया गया है कि बलहीन और अव्यवस्थित बैंकों को बड़ी और शक्तिशाली बैंकों के साथ जोड़ देने से हानिकारक प्रतियोगिता समाप्त हो जायगी, कार्यक्षमता बढ़ेगी और बैंकों के फेल होने का भय घट जायगा।

(v) सन् १९४९ के बैंकिंग विधान में एकीकरण का आयोजन किया गया है।

बैंकों के एकीकरण के लाभ—

उद्योग और व्यवसाय के एकीकरण की भाँति बैंकों के एकीकरण से भी अनेक लाभ प्राप्त होते हैं। प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं:—

(१) प्रबन्ध का केन्द्रीयकरण हो जाने के कारण उसकी कुशलता बढ़ती है और व्यय कम हो जाता है।

(२) इसके द्वारा बैंकों के आर्थिक साधन दृढ़ हो जाते हैं और ऐसे साधनों का आकार भी बढ़ जाता है।

(३) छोटी बैंकों के बड़ी बैंकों में मिल जाने के कारण छोटी बैंकों को भी कुशल और अनुभवी कर्मचारियों की सेवाओं के लाभ प्राप्त हो जाते हैं। इसके द्वारा बड़ी बैंकों को शाखा बैंकिंग प्रणाली के सभी लाभ प्राप्त हो जाते हैं और उनमें आर्थिक संकटों का सामना करने के लिए अधिक शक्ति आ जाती है।

(४) एकीकरण निक्षेप प्राप्त करने के लिए ब्याज की दरों को बढ़ाने की प्रवृत्ति को रोकता है और विलीयन की सम्भावना कम कर देता है।

(५) इसके द्वारा बैंक को बड़े पैमाने के व्यवसाय के सभी लाभ प्राप्त हो जाते हैं।

(६) विशाल संगठन के कारण बैंक के लिए विशेषज्ञों का रखना सम्भव हो जाता है, जिससे व्यावसायिक कुशलता और लाभ दोनों ही बढ़ते हैं।

(७) नकद कोषों के उपयोग में मितव्ययिता आती है, क्योंकि एक शाखा से दूसरी को धन का हस्तान्तरण होता रहता है।

(८) बैंकिंग सम्बन्धी जोखिम का प्रादेशिक वितरण हो जाता है और किसी क्षेत्र विशेष के सङ्कटों का सारे बैंकिंग व्यवसाय पर बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है।

(९) एकीकरण केन्द्रीय बैंक की निरीक्षण तथा नियन्त्रण क्षमता को बढ़ा देता है, जिससे मुद्रा-बाजार में अनुरूपता आ जाती है और बैंकिंग व्यवसाय की कार्य-कुशलता भी बढ़ती है।

(१०) एकीकरण एकाधिकार से सम्बन्धित सभी लाभों को उत्पन्न करता है।

एकीकरण की हानियाँ—

उपरोक्त अनेक लाभों के साथ-साथ एकीकरण के दोष भी निम्न प्रकार हैं :—

(१) एकीकरण बैंकों की सेवाओं और साधनों का केन्द्रीकरण करता है, जिससे विशाल आर्थिक शक्ति थोड़े से व्यक्तियों के पास आ जाती है और जनता के शोषण की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। इसमें एकाधिकार के सभी दोष पाये जाते हैं।

(२) इससे बैंकिंग कलेवर में अत्यधिक विस्तार, भ्रष्टाचार तथा सट्टा-व्यवहार के दोष आ जाते हैं।

(३) इससे बहुधा रोजगार का संकुचन होता है और कर्मचारियों की छटनी होती है। एकीकरण के पश्चात् पहले की तुलना में कम कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ती है।

(४) एकीकरण में बड़े पैमाने तथा शाखा बैंकिंग प्रणाली के सभी दोष पाये जाते हैं।

(५) इसके द्वारा बैंक सेवाओं और स्थानीय व्यापार तथा वाणिज्य दशाओं के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता है, क्योंकि बड़ी बैंकों की शाखाएँ व्यक्तिगत छोटी-छोटी स्थानीय बैंकों की भाँति स्थानीय हितों से घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकती हैं।

भारत में बैंकों का एकीकरण—

इङ्गलैंड में एकीकरण की प्रवृत्ति प्रथम महायुद्ध के पश्चात् आने वाली मन्दी के काल में आरम्भ हुई थी। (i) भारत में इसका सबसे पहला उदाहरण सन् १९२१ में तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिलाकर इम्पीरियल बैंक की स्थापना द्वारा प्रस्तुत किया गया है। (ii) दूसरे महायुद्ध के पश्चात् भारत में भी एकीकरण के लिए उपयुक्त दशाएँ उत्पन्न हो गईं। (iii) भारत सरकार ने सन् १९५० में बैंकिंग विधान में इस प्रकार के संशोधन किए कि समुचित तथा वांछित एकीकरण को प्रोत्साहन मिले। (iv) इससे पहले रिजर्व बैंक ने सन् १९३७ और सन् १९४५ में दो बार एकीकरण क्रिया में सहायता दी थी। (v) सन् १९५० में बङ्गाल की चार बैंकों को, जिनका देश के विभाजन के कारण विलीयन का भय था, एकीकरण की सलाह दी गई। फलतः कोमिल्ला बैंकिंग कॉर्पोरेशन, कोमिल्ला यूनियन बैंक, हुगली बैंक तथा बङ्गाल सेन्ट्रल बैंक को मिलाकर यूनाटेड बैंक ऑफ इण्डिया लिमिटेड का निर्माण हुआ। (vi) सन् १९५१ में भारत बैंक का पंजाब नेशनल बैंक में विलय हुआ। (vii) इसी प्रकार राजस्थान की तीन बैंकों अर्थात् दी बैंक ऑफ जयपुर, दी बैंक ऑफ बीकानेर, दी बैंक ऑफ राजस्थान को मिलाकर राजस्थान बैंक लिमिटेड में परिवर्तित किया गया है। (viii) सरकार की नई योजना के अनुसार लगभग ४०० छोटी-छोटी बैंकों को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया में मिला दिया जायगा।

भारतीय बैंक की वर्तमान स्थिति—

इस समय भारत में अनुसूचित बैंकों की कुल संख्या ९१ है, जिनमें से १५ विनिमय बैंक हैं। सन् १९५५ के अन्त में कुल संख्या ८९ थी। इन ८९ बैंकों की कुल पूँजी और निधि ६३·१० करोड़ रुपये की थी। इन बैंकों की कुल देय (Liabilities) १,०३४·६७ करोड़ रुपए थी और कुल सम्पत्ति ७४०·२० करोड़ रुपया। सन् १९५६ के आरम्भ में सभी प्रकार की कुल बैंकों की संख्या ४७२ थी, जिनकी पूँजी और निधि १,२४६·६७ करोड़ रुपया थी। सभी बैंकों के पास नकदी, ऋण, अग्रिम, विनियोग, बिल आदि के रूप में १,२११·६३ करोड़ रुपये थे।

सन् १९५८ के सम्बन्ध में बैंकिंग की प्रगति की जो रिपोर्ट रिजर्व बैंक द्वारा मई सन् १९५९ में प्रकाशित की गई है उससे पता चलता है कि सन् १९५८ के वर्ष में देश में विस्फीतिक प्रवृत्तियाँ ही बलवान रही हैं। इस वर्ष में साख के विस्तार के क्रम में शिथिलता रही है। वर्ष विशेष में साख की कुल मात्रा ८३०·६ करोड़ रुपया रही है। वर्ष विशेष में बैंक साख की मात्रा को कुल वृद्धि केवल ११·१ करोड़ रुपये की हुई, जब कि सन् १९५७ में यह वृद्धि ७४·६ करोड़ रुपया और सन् १९५६ में १५१·३ करोड़ रुपया थी। इस वर्ष में बैंकों के जमाधन में संतोषजनक वृद्धि हुई है और उनके आदेयों की तरलता भी बढ़ी है। जमाधन की कुल वृद्धि २१९ करोड़ रुपये की रही है। इस वर्ष में सरकारी प्रतिभूतियों में २०२ करोड़ रुपये की राशि लगाई गई हैं। बैंकिंग प्रणाली के संगठन में भी इस प्रकार के सुधार हुए हैं कि बैंक देश की विकासशील अर्थ-व्यवस्था में अधिक योग देने के योग्य हो गये हैं। इस वर्ष में उद्योगों को दिये जाने वाले ऋणों की मात्रा में भी वृद्धि हुई है। रिपोर्ट के अनुसार भारतीय बैंकिंग की स्थिति आशाप्रद है और भविष्य में और अधिक प्रगति की आशा की जा सकती है।

जनवरी सन् १९५१ और नवम्बर सन् १९५८ के बीच भारत में परिगणित और गैर अनुसूचित (Non-scheduled) सभी प्रकार की बैंकों के कार्यालयों की संख्या ४,११९ से बढ़कर ४,५१८ हो गई है। इस काल में स्टेट बैंक के कार्यालय ५९१ से बढ़कर ६९६, विनिमय बैंकों के कार्यालय ६४ से ६७ और भारतीय परिगणित बैंकों के २,१९१ से २,८४१ हो गये हैं, जबकि गैर अनुसूचित बैंकों की संख्या १,४७३ से घट कर केवल ९१४ रह गई है।

यद्यपि इस बात का निरन्तर प्रयत्न किया जा रहा है कि भारत में बैंकिंग सेवाओं का विकेन्द्रीयकरण हो, किन्तु बैंकिंग सेवाओं का फिर भी कुछ विशेष क्षेत्रों में ही केन्द्रीयकरण होता दिखाई दे रहा है। ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सेवाओं का विकास नहीं हो रहा है। इन क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं के विस्तार के अभाव के दो कारण हैं–(१) जोखिम की समस्या और (२) जनता में बैंकिंग आदत का अभाव। सम्मिलित पूँजी बैंक, जिनका संचालन लाभ के उद्देश्य से किया जाता है, ग्रामीण क्षेत्रों में

शाखाएँ खोलने को तैयार नहीं हैं। किन्तु यह निश्चय है कि देश के आर्थिक विकास की नवीन प्रवृत्तियाँ इन कारणों की शक्ति को घटा रही हैं।

भारतीय बैंकिंग का भविष्य—

इस अध्याय में भारतीय बैंकिंग के विकास और उसकी समस्याओं का विवेचन किया गया है। देश में बैंकिंग का भविष्य उज्जवल प्रतीत होता है, क्योंकि अभी विकास की सम्भावनाएँ बहुत हैं। रिजर्व बैंक की स्थापना, इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण तथा समुचित बैंकिंग विकास द्वारा सुदृढ़ उन्नति की आशा और भी बढ़ जाती है। आवश्यकता इस बात की है कि कर्मचारियों के शिक्षण की समुचित व्यवस्था की जाय और प्रबन्ध में कुशलता प्राप्त की जाय। औद्योगिक वित्त की कमी को पूरा करने के लिए हमने विशेष प्रयत्न किया है। धीरे-धीरे उन सेवाओं का भी विकास होता जा रहा है जो बैंकिंग कार्यों में सहायक होती हैं। ऐसी आशा की जाती है कि आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत बैंकिंग सेवाओं का भी समुचित विकास एवं सुधार होगा। डा० जॉन मथाई ने, जो स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के नये गवर्नर बनाए गए थे, कहा है—"शक्ति और कार्यक्षमता में भारतीय बैंकिंग प्रणाली इङ्गलैंड एवं अमरीका से कम नहीं है।.........उसकी वर्तमान स्थिति आशावर्द्धक है।"

सन् १९५८ की बैंकिंग प्रगति सम्बन्धी रिपोर्ट में रिजर्व बैंक ने देश में बैंकिंग विकास और बैंकों के कार्यों के विस्तार पर संतोष प्रकट किया है। रिपोर्ट के अनुसार भविष्य आशाजनक है, किन्तु रिपोर्ट में इस बात पर जोर दिया गया है कि बैंकों को जन-साधारण में बैंकिंग आदत (Banking habit) को बढ़ाने का अधिक प्रयत्न करना चाहिए और अपनी कार्य-विधि में इस प्रकार के परिवर्तन करने चाहिए कि विकासशील अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताएँ पूरी हो सकें।

"इस समय भारतीय बैंकिंग व्यवस्था निश्चय ही चौराहे पर है। इसके लिए यह सम्भव नहीं है कि भूतकाल की भाँति अपना प्रधान कार्य वाणिज्य साख की पूर्ति ही रख सके। एक ऐसे देश में जिसका शीघ्रता के साथ आर्थिक विकास हो रहा है, यह आवश्यक ही है कि बैंक अपनी ऋण-दान नीति में ऐसा परिवतन करें कि विवेकशील तथा उपयुक्त निर्वाचन के अन्तर्गत उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण दिये जा सकें।"*

भारतीय बैंकिंग का भावी स्वरूप—

यह प्रश्न अभी अनिश्चित सा ही है कि भारतीय बैंकिंग का भावी स्वरूप क्या

---

* "The Indian Banking System is clearly at the cross-roads. It cannot cling to the traditional pattern of supplying commercial credit as its predominant activity. Employment of its funds in term loans to industry by a prudent and careful selection of applicants emerges as a reasonable and essential change in its policy of employment of funds in a rapidly industrialising economy."—*The Eastern Economist.*

रहेगा ? भविष्य के बारे में दो विचारधारायें महत्त्वपूर्ण हैं–प्रथम, क्या भारतीय बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण किया जाय और दूसरे, क्या भावी प्रगति एकीकरण के अन्तर्गत हो ? एकीकरण के गुणों और दोषों का सविस्तार अध्ययन तो हम पहले कर ही चुके हैं, अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि भारतीय बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण कहाँ तक उचित होगा। इस सम्बन्ध में यह समझना आवश्यक है कि राष्ट्रीयकरण बैंकों की केवल अंशधारियों के लाभ के लिए काम करने की प्रवृत्ति को रोक देगा और बैंकिंग को जन-साधारण के हितों की उन्नति का साधन बनाने में भी सफल होगा। राष्ट्रीयकरण के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं :—

(१) क्योंकि हमने समाजवादी ढंग की समाज स्थापना का लक्ष्य निश्चित किया है, इसलिए राष्ट्रीयकरण आवश्यक ही होगा।

(२) साख निर्माण ही बैंकों का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है और साख का उपयोग जन-साधारण के हितों को उन्नत करने के लिए भी किया जा सकता है और समाज का शोषण करने के लिए भी। राष्ट्रीयकरण इस सम्भावना को बढ़ा सकता है कि साख एक राष्ट्रीय-सेविका ही बनकर रहे। साख और राष्ट्रीय आवश्यकताओं का समायोजन सबसे अच्छी प्रकार राष्ट्रीयकरण द्वारा ही हो सकता है।

(३) राष्ट्रीयकृत बैंकिंग व्यापार चक्रों के विरुद्ध एक शक्तिशाली प्रतिबन्ध है।

(४) आर्थिक नियोजन की सफलता बड़े अंश तक इस बात पर निर्भर होगी कि बैंकिंग नीति का उद्देश्य आर्थिक विकास में सहायता देना हो। राष्ट्रीयकरण समुचित वित्त प्रदान करने के अतिरिक्त मुद्रा-प्रसार के विरुद्ध भी अच्छा उपचार रहेगा।

(५) बैंकों के लाभ लोक धन और लोक विश्वास के कारण पैदा होते हैं, इसलिए वे व्यक्तियों के स्थान पर राज्य जैसी लोक संस्था को ही प्राप्त होने चाहिए।

(६) बैंकिंग सेवाओं के रोगहीन विकास के लिए राष्ट्रीयकरण ही अधिक उपयुक्त है।

(७) राष्ट्रीयकरण सरकारी नियन्त्रण का सबसे सप्रभाविक उपाय है।

(८) व्यक्तिगत बैंकिंग के सभी दोष राष्ट्रीयकरण द्वारा दूर किए जा सकते हैं।

इसमें तो सन्देह नहीं है कि राष्ट्रीयकरण हमारे बैंकिंग कलेवर की लगभग सारी कठिनाइयों को दूर कर देता है, परन्तु राष्ट्रीयकरण के मार्ग में कुछ व्यवहारिक कठिनाइयाँ अवश्य हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीयकरण बैंकिंग प्रणाली की लोच को समाप्त कर देता है और व्यक्तिगत रुचि के अभाव के कारण उत्साह और कार्य-कुशलता को कम कर देता है। भारत में राष्ट्रीयकृत उद्योगों का अनुभव बहुत उत्साहवर्द्धक नहीं है, यद्यपि सरकार द्वारा जीवन बीमा व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण की सम्भावना अधिक बढ़ गई है।

QUESTIONS

1. What are the defects of the Indian Banking Organisation? Suggest lines of improvement. (Agra, B. Com, 1950)
2. Discuss the main trends in the development of Indian Banking since 1947 and point out their lesson for the future. (Raj., B. A, 1956)
3. Point out the main defects of the present banking organisation in India. Indicate further lines of improvement. (Bombay, B. Com., 1948)
4. What were the issues involved in the nationalisation of the Imperial Bank of India? Do you favour nationalisation of commercial banking in India? (Agra. B. A., 1956 Supp.)
5. Examine the case for the nationalisation of Commercial banking in India. (Raj., B. Com., 1957)
6. What important changes have taken place in the banking organisation in India during recent years and why? (Agra, B. Com., 1956 Supp)
7. Describe the developments that have taken place in the banking system in India since 1926 and discuss their effects. (Agra, B. Com., 1955 Supp)

अध्याय ३३

भारतीय मुद्रा बाजार

(The Indian Money Market)

मुद्रा बाजार का अर्थ—

साधारण भाषा में बाजार अथवा मन्डी का अभिप्राय उस स्थान से होता है जहाँ पर वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है। आर्थिक दृष्टिकोण से बाजार शब्द ऐसी वस्तु की ओर संकेत करता है जिसके ग्राहकों और विक्रेताओं के बीच इस प्रकार की प्रतियोगिता रहे कि सभी स्थानों पर वस्तु विशेष के दामों के समान रहने की ही प्रवृत्ति रहे। कुछ भी सही, बाजार शब्द सदा ही क्रय-विक्रय से ही सम्बन्धित होता है, परन्तु क्या इस सम्बन्ध में मुद्रा बाजार* भी हो सकता है? क्या-मुद्रा का भी क्रय-विक्रय होता है? सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि क्रय-विक्रय के अन्तर्गत प्रत्येक वस्तु की कीमत मुद्रा में चुकाई जाती है, परन्तु यदि मुद्रा का क्रय-विक्रय होता है तो उसकी कीमत किस वस्तु में चुकाई जायगी ?यह कहना थोड़ा विचित्र सा लगता है कि मुद्रा को भी खरीदा अथवा बेचा जा सकता है, परन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसा दिन प्रति दिन ही होता रहता है। मुद्रा को बेच कर बदले में जो कुछ प्राप्त किया जाता है वह केवल भविष्य में उसके लौटाने का वचन ही होता है। दूसरे शब्दों में, हम इस प्रकार कह सकते हैं कि क्रय-विक्रय का अर्थ केवल मुद्रा के उधार लेने तथा उधार देने से होता है। अब हमें मुद्रा की कीमत का अर्थ समझने में भी कठिनाई नहीं होगी, क्योंकि मुद्रा की कीमत केवल उस पारितोषण की ओर संकेत करती है जो मुद्रा को भविष्य में उसके लौटाने के वायदे में बदलने के लिए प्राप्त होती है। इस प्रकार मुद्रा की कीमत उसके ऋणों पर मिलने वाली ब्याज की दर को कहते हैं। अतः मुद्रा-बाजार से हमारा अभिप्राय मुद्रा के उधार लेने-देने तथा इस उधार से सम्बन्धित अन्य क्रियाओं से होता है। प्रस्तुत अध्याय में मुद्रा-बाजार से हमारा अभिप्राय यही होगा।

इस सम्बन्ध में मुद्रा बाजार (Money Market) तथा पूँजी बाजार (Capital Market) का भेद समझ लेना भी आवश्यक है। दोनों ही बाजारों का मुद्रा के उधार लेने-देने से सम्बन्ध होता है। अन्तर केवल इतना है कि मुद्रा-बाजार शब्द का उपयोग केवल अल्पकालीन ऋण बाजार के लिए किया जाता है, जबकि पूँजी बाजार दीर्घकालीन ऋणों की लेन-देन की ओर संकेत करता है। मुद्रा-बाजार में काम करने वाली संस्थायें भी साधारणतया पूँजी बाजार से भिन्न होती हैं, परन्तु विस्तृत

---

* मुद्रा बाजार के स्थान पर मुद्रा-विपणि शब्द का भी उपयोग हो सकता है।

अर्थ में मुद्रा-बाजार में पूँजी को सम्मिलित किया जाता है और सभी प्रकार के ऋणों का बाजार मुद्रा-बाजार कहलाता है। वैसे भी मुद्रा-बाजार और पूँजी बाजार में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, क्योंकि अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ऋणों को एक दूसरे से पूर्णतया अलग नहीं किया जा सकता है। दोनों ही बाजारों में व्यापारिक तथा आर्थिक आवश्यकताओं अथवा माँग की सन्तुष्टि के लिए मुद्रा और साख की पूर्ति होती है। अन्तर केवल उस समय अवधि का होता है, जिसके लिए ऋण दिए जाते हैं।

भारतीय मुद्रा-बाजार के अङ्ग (The Constituents of the Indian Money Market)—

भारतीय मुद्रा-बाजार को दो भागों अर्थात् भारतीय अंग तथा यूरोपियन अंग में बाँटने की प्रथा चली आई है। योरोपियन भाग में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा विदेशी विनिमय बैंकों को सम्मिलित किया जाता था और भारतीय भाग में स्वदेशी अधिकोष (देशी बैंकर), सहकारी बैंकों तथा संयुक्त-स्कन्ध बैंकों (Joint-stock Banks) को सम्मिलित किया जाता था। देश के आर्थिक जीवन में अधिक महत्त्व देशी बैंकरों तथा सहकारी बैंकों का ही होता है। योरोपियन भाग को आरम्भ से ही सरकारी नियन्त्रण तथा संरक्षण के लाभ प्राप्त रहे हैं, परन्तु भारतीय भाग प्रायः अनियन्त्रित तथा अनियमित ही रहा है। सन् १९३५ तक अर्थात् रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व दोनों अंगों में किसी प्रकार का सम्बन्ध भी नहीं था, परन्तु तत्पश्चात् सम्पर्क को स्थापित करने का भारी प्रयत्न किया गया है। स्वतन्त्रता के पश्चात् इस स्थिति में काफी परिवर्तन हो गया है और इस समय रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो चुका है तथा इम्पीरियल बैंक जैसी विशाल संस्था का भारतीयकरण (Indianisation) हो चुका है। भारत सरकार ने उसका भी राष्ट्रीयकरण कर लिया है और उसका 'स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया' के रूप में पुनर्सङ्गठन कर दिया है, अतः भारतीय और योरोपियन अंगों का अलग-अलग महत्त्व बहुत ही कम रह गया है। इस समय तो हम भारतीय मुद्रा-बाजार का वर्गीकरण एक दूसरी ही रीति से कर सकते हैं, अर्थात् (१) देशी बैंकर (Indigenous Bankers) और (२) आधुनिक बैंक (Modern Bank)। प्रथम प्रकार के बैंक भारत में लम्बे काल से चलते आ रहे हैं और भारतीय पद्धति के आधार पर कार्य करते हैं। आधुनिक बैंक ब्रिटिश शासन काल अथवा उसके पश्चात् स्थापित हुए हैं और उनकी कार्य विधि योरोपियन बैंकों की भाँति है। इनका कार्य भी भारतीय भाषाओं में न होकर इङ्गलिश भाषा में होता है।

हमारे देश में यूरोप के देशों की भाँति कोई सुसंगठित मुद्रा-बाजार नहीं है। मुद्रा-बाजार के भी छोटे-छोटे टुकड़े हैं और उनमें से अधिकांश केवल स्थानीय बाजार हैं, जैसे— कलकत्ता तथा बम्बई के महान् मुद्रा-बाजार तथा दिल्ली, कानपुर आदि के छोटे मुद्रा-बाजार। अभी तक भी हमारे देश में कोई अखिल भारतीय मुद्रा-बाजार उत्पन्न नहीं हो पाया है। भारतीय मुद्रा-बाजार के प्रमुख अंग निम्न प्रकार हैं :—

(१) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, (२) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, (३) संयुक्त स्कन्ध बैंक, (४) औद्योगिक बैंक, (५) सहकारी बैंक, (६) भू-प्राधि बैंक, (७) विनिमय बैंक और (८) स्वदेशी अधिकोष अथवा देशी बैंकर। भारतीय मुद्रा-बाजार के इन अलग-अलग अंगों का विस्तृत अध्ययन आगे चल कर किया जायगा। प्रस्तुत अध्याय में तो मुद्रा-बाजार सम्बन्धी सामान्य परिस्थितियों तथा सामान्य समस्याओं का ही अध्ययन पर्याप्त होगा। संगठन तथा नियन्त्रण के दृष्टिकोण से भारतीय मुद्रा-बाजार स्वयं एक समस्या है। इसके विभिन्न अंगों के बीच समचय न होने के कारण नियन्त्रण का कार्य कठिन ही होता है।

भारतीय मुद्रा बाजार के दोष (Defects of the Indian Money Market)—

भारतीय मुद्रा-बाजार के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) संगठन का अभाव—यह एक गम्भीर दोष है। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, देश में कोई अखिल भारतीय मुद्रा-बाजार है ही नहीं। अधिकांश मुद्रा-बाजार स्थानीय हैं, जिनके बीच सम्पर्क तथा समचय का भारी अभाव है। अभी तक भी भारतीय मुद्रा-बाजार के दो लगभग पूर्णतया स्वतन्त्र भाग अर्थात् आधुनिक मुद्रा-बाजार तथा देशी मुद्रा-बाजार विद्यमान हैं। प्रथम भाग में रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक, व्यापार बैंक, विनिमय बैंक, सहकारी बैंक आदि सम्मिलित हैं और दूसरे में साहूकार, महाजन, देशी बैंकर आदि। मुद्रा-बाजार के इन विभिन्न अंगों के बीच सहयोग तो दूर रहा, सम्पर्क भी नहीं है। आधुनिक बैंकिंग प्रणाली तथा देशी मुद्रा-बाजार के बीच निरन्तर हानिकारक और अपव्ययी प्रतियोगिता होती रहती है, परन्तु स्वयं आधुनिक मुद्रा-बाजार के विभिन्न सदस्यों में भी सहयोग और समचय की भारी कमी है। स्टेट बैंक, व्यापार बैंक तथा विदेशी विनिमय बैंक एक दूसरी को अपना प्रतिद्वन्दी समझती हैं और ठीक यही दशा विभिन्न देशी महाजनों और बैंकरों की भी है। प्रत्येक एक दूसरे का व्यवसाय छीन लेने का प्रयत्न करती है। इस दोष की गम्भीरता इस कारण और भी बढ़ जाती है कि भारत में बैंकिंग सेवाओं की सामान्य कमी है। कुछ समय से रिजर्व बैंक इस दोष को दूर करने में लगी हुई है, परन्तु अभी तक सफलता बहुत ही कम मिल पाई है। इस दोष के कारण देश में बैंकिंग के समुचित विकास में बाधा पड़ती है और केन्द्रीय बैंक की साख नियन्त्रण नीति को कम सफलता मिल पाई है।

(२) ब्याज की दरों में भिन्नता—यह दोष मुख्यतया संगठन तथा समचय के अभाव से ही उत्पन्न होता है। इङ्गलैंड में मुद्रा-बाजार का समुचित संगठन होने के कारण सभी प्रकार के ब्याजों की दरें बैंक दर पर निर्भर होती हैं, परन्तु भारतीय मुद्रा-बाजार के विभिन्न अंगों में समुचित नियन्त्रण, समचय तथा घनिष्ठ सम्बन्ध न होने के कारण बैंक दर, बाजारी ब्याज की दर, स्टेट बैंक की दर तथा बट्टा

दर (Discount Rate) में भारी अन्तर होते हैं। अलग-अलग स्थानों पर ब्याज की दरों में भारी अन्तर होते हैं और इन दरों की सामान्य प्रवृत्ति ऊँचा रहने की ओर होती है। बैंक दर की असफलता का मुख्य कारण यही है और इसी कारण रिजर्व बैंक को नियन्त्रण कार्य में भारी कठिनाई होती है। अधिक जमा आकर्षित करने के लिए बैंक अपनी-अपनी ब्याज दरों को बढ़ाती रहती हैं। ब्याज की दरों की इस भिन्नता के कारण देश के मुद्रा-बाजार में विचित्र परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के अनुसार ब्याज की दर ३/४% से लेकर १०% तक रहती है।

(३) एक अच्छे बिल बाजार का अभाव—देश के मुद्रा-बाजार का एक बहुत बड़ा दोष व्यापारिक बिलों अथवा हुण्डियों के बाजार का अभाव है। लन्दन के मुद्रा-बाजार में बैंकों के आदेयों का एक महत्त्वपूर्ण भाग बिलों के रूप में होता है और विदेशों में तो वे अपने कोषों का अधिकांश भाग बिलों में ही लगाती हैं। भारतीय मिश्रित पूँजी बैंक अपनी कुल निक्षेपों का केवल २ से ६% तक ही बिलों के भुनाने में लगाती हैं। लगभग सभी केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समितियों तथा बैंकिंग विशेषज्ञों का मत है कि भारतीय बैंकिंग प्रणाली सुदृढ़ तथा सुव्यवस्थित बनाने के लिए व्यापारिक बिलों के उपयोग में वृद्धि तथा सुसंगठित सट्टे बाजार की स्थापना आवश्यक है।

बिलों के उपयोग के अभाव के अनेक कारण हैं, यद्यपि धीरे-धीरे अब इन कारणों में भी कमी होती जा रही है। प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं :—

(क) अधिकांश विनियोग परम प्रतिभूतियों में करना—आरम्भ से ही भारतीय बैंकों को नकद कोष अधिक मात्रा में रखने पड़े हैं और इसी कारण वे अपने अधिकांश विनियोग परम प्रतिभूतियों (Guilt-edged Securities) में ही करती आई हैं, ताकि आदेयों की तरलता बनी रहे। परन्तु क्योंकि आय के दृष्टिकोण से बिलों का अपहरण (Discounting) परम प्रतिभूतियों की अपेक्षा अधिक लाभदायक होता है, इसलिए अब धीरे-धीरे यह परिस्थिति बदल रही है।

(ख) निर्गम गृहों का अभाव—बिलों के उपयोग की कमी का एक कारण यह भी है कि देश में निर्गम गृहों (Issue Houses) जैसी वित्तीय संस्थाओं का अभाव है, जो बिलों को स्वीकार (Accept) करके लिखने वाले को ग्राहक की आर्थिक स्थिति का सही ज्ञान दे सकती है। इस कारण बैंक बिलों का अपहरण करने में संकोच करती हैं, क्योंकि बहुत सी दशाओं में स्वीकार करने वाले की साख सन्देहपूर्ण हो सकती है।

(ग) बिलों को पुनः भुनाने वाली संस्था का अभाव—सन् १९३५ से पूर्व देश में कोई ऐसी संस्था नहीं थी जिससे बिलों को फिर से भुनाया जा सके। इम्पीरियल बैंक इस कार्य को अवश्य करती थी, परन्तु वह अन्य बैंकों से प्रतियोगिता करती थी, जिस कारण दूसरी बैंक इसे संदेह की दृष्टि से देखती थीं।

(घ) व्यापारिक तथा अर्थ बिलों में स्पष्ट भेद का अभाव—भूतकाल में भारत में व्यापार बिलों तथा अर्थ-बिलों में भी कोई अन्तर नहीं होता था और सन्देह के कारण बैंक बिलों के अपहरण में संकोच करती थीं, क्योंकि भुनाने वाली बैंक के लिए बिल की सही प्रकृति का पता लगाना कठिन होता था।

(ङ) हुन्डियों में विविधता—भारत में हुन्डियों की भाषा, रूप तथा प्रकृति में स्थानान्तर के अनुसार इतने गम्भीर अन्तर होते हैं कि बैंक उलझन में पड़ जाती है कि कौनसी हुण्डी ठीक है और कौनसी नहीं।

(च) नगद ऋण देने को अच्छा मानना—बिलों को भुनाने की अपेक्षा भारतीय बैंक नकद ऋणों का देना अधिक पसन्द करती हैं, क्योंकि ऐसे ऋणों को बैंक कभी भी रद्द कर सकती है और ग्राहक को भी ब्याज कम देना पड़ता है।

(छ) कोषागार नियमों का निर्गमन—लम्बे काल से केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें अपनी वित्तीय आवश्यकताओं को कोषागार-विपत्रों द्वारा पूरा करती आई हैं। इनमें विनियोग अधिक सुरक्षित समझा जाता है और बिलों का उपयोग कम होता है। यही कारण है कि पूर्णतया विश्वासजनक बिल कम ही मात्रा में रहते आये हैं।

(ज) अत्यधिक मुद्रांक कर—बहुत काल तक भारत में मुद्रांक करों (Stamp Duties) की दर भी अधिक ऊँची रही है। इन ऊँची दरों के कारण बिलों के अपहरण की लाभदायकता कम हो जाती थी। सन् १९४० के पश्चात् इनमें कुछ कमी अवश्य हुई थी।

(४) धन की कमी—यह भी एक गम्भीर दोष है। उद्योग-धन्धों और व्यापार के लिए आवश्यक पूँजी उपलब्ध करने तथा साख की मांग पूर्ति करने के लिए भारत में पर्याप्त धन की कमी है। इस अभाव के तीन मुख्य कारण हैं:—पर्याप्त विनियोग के साधनों की कमी, बैंक प्रणाली का अपर्याप्त विकास तथा बैंकों के बराबर टूटते रहने के कारण उनके प्रति अविश्वास। इसके अतिरिक्त देश में आय तथा बचत की कमी, बचतों को गाड़ कर रखने की प्रवृत्ति, आय के वितरण की असमानता और जन-साधारण की अशिक्षा भी बैंकों के पास धन की कमी उत्पन्न कर देती है। देहातों

में तो ऐसी संस्थाओं की भी भारी कमी है जो बचत को एकत्रित कर सकें। आज-कल बचतों को प्रोत्साहन देने तथा एकत्रित करने की दिशा में विशेष प्रयत्न किया जा रहा है। इस कारण निकट भविष्य में इस दोष के दूर हो जाने की काफी सम्भावना है।

(५) मुद्रा बाजार में लोच तथा स्थायित्त्व का अभाव—रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व साख पर तो इम्पीरियल बैंक नियन्त्रण रखती थी, जो एक बहुत ही अनुपयुक्त साधन थी और मुद्रा पर सरकारी नियन्त्रण रहता था। उस दशा में मुद्रा बाजार में लोच तथा स्थायित्त्व का प्रश्न कम ही उठता था, परन्तु नोट निर्गम के एकाधिकार तथा खुले बाजार व्यवसाय नीति की सहायता से रिजर्व बैंक ने एक अंश तक इस कमी को दूर कर दिया है। फिर भी भारतीय बैंकों के साधन आज भी बहुत सीमित हैं, उनके कोष भी सीमित हैं। और देश में चैक प्रथा का प्रचार भी बहुत कम है। इस कारण मुद्रा बाजार देश की बढ़ती हुई मुद्रा और साख की आवश्यकता को पूरा करने में असमर्थ रहता है।

(६) ब्याज की दरों के मौसमी परिवर्तन—देश की कृषि प्रधानता के कारण देश में विभिन्न मौसमों की ब्याज की दरों में भारी अन्तर होते हैं। नवम्बर से जून तक के मौसम में धन की आवश्यकता अधिक रहती है और ब्याज की दरें ऊपर चढ़ जाती हैं। शेष काल में वे नीची रहती हैं। यह परिस्थिति अभी तक भी ठीक नहीं हो पाई है।

(७) साहूकारों तथा देशी बैंकरों का प्रभाव—आधुनिक बैंकिंग का विकास भी इनके महत्त्व को कम नहीं कर पाया है। कृषि वित्त तथा आन्तरिक व्यापार में आज भी साहूकारों और देशी बैंकरों का ही बोलबाला है। इनके बीच समन्वय तथा सहयोग का भारी अभाव है और इसके कारण मुद्रा-बाजार में काफी उथल-पुथल होती रहती है। कठिनाई यह भी है कि इन पर समुचित नियन्त्रण रखना कठिन है। देश के विभिन्न भागों में इनकी कार्य विधियाँ अलग-अलग हैं और ये बैंकिंग के साथ-साथ और भी कार्य करते हैं।

(८) बैंकिंग सुविधाओं की सामान्य कमी—यह कमी ग्रामीण क्षेत्रों में तो बहुत ही अधिक है। जन-संख्या के आधार पर हमारे देश में प्रत्येक १ लाख ३० हजार व्यक्तियों के पीछे एक बैंक है, जब कि अमरीका में प्रत्येक ३,७३७ व्यक्तियों के पीछे एक बैंक है। परिणाम यह होता है कि न तो बचत प्रोत्साहित होती है, न वह एकत्रित हो पाती है और न ही देश के विभिन्न भागों की आर्थिक दशाओं में समानता आने पाती है। निम्न तालिका में यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि बैंकिंग सुविधाओं के दृष्टिकोण से संसार के कुछ महत्त्वपूर्ण देशों की तुलना में भारत कितना पीछे है। आँकड़े सन् १९४९ से सम्बन्धित है :—

देश	क्षेत्र (हजार वर्ग मील मे)	जन-संख्या (करोड़ में)	बैंकिंग कार्यालियों की संख्या	एक लाख जन-संख्या के पीछे कार्यालियों की संख्या	प्रत्येक बैंकिंग कार्यालय का औसत क्षेत्र (वर्ग मील में)
ब्रिटेन	८९	५	११,४६१	२२·९	८
संयुक्त राज्य अमरीका	३,६७४	१४·७	१८,९७५	१२·९	१९४
कनाडा	३,६९०	१·३	३,३२३	२५·६	१,११०
आस्ट्रेलिया	२,९७५	·८	३,५९९	४५·०	८२७
भारत	१,२२१	३४२	५,२७७	१५·५	२३१

(९) देशी बैंकरों और साहूकारों की समस्या—भारत में अधिकाँश बैंकिंग व्यवसाय देशी बैंकरों और साहूकारों के हाथ में रहा है। मुख्यतया कृषि और आन्तरिक व्यापार के अर्थ प्रबन्ध में तो इन्हीं का बोल-बाला रहा है। किन्तु इनका न तो आधुनिक बैंकों से किसी प्रकार का सम्बन्ध है और न इन पर रिजर्व बैंक का ही किसी प्रकार का नियन्त्रण है ये बैंकर और साहूकार अपनी-अपनी बांसुरी अलग-अलग बजाते हैं और अपनी कार्यवाहियों से कभी-कभी मुद्रा-बाजार में काफी उथल-पुथल मचा देते हैं।

(१०) शाखाएँ खोलने की दोषपूर्ण नीति—अतीत में भारतीय बैंकों की शाखाएँ बहुत कम थीं। छोटे-छोटे नगरों, कस्बों और ग्रामीण क्षेत्रों में तो बैंकिंग सुविधाओं का अभी तक भी भारी अभाव है। दूसरे महायुद्ध के काल में तथा उससे उपरान्त बैंकों ने तेजी के साथ शाखाओं का खोलना आरम्भ किया है। किन्तु ये शाखायें अधिकतर बड़े-बड़े नगरों तथा मुख्य व्यापार केन्द्रों में ही खोली जाती हैं। परिणाम यह हुआ है कि कुछ स्थानों पर तो लगभग सभी बैंकों की शाखायें हैं और कुछ स्थानों पर किसी भी बैंक की शाखा नहीं है। शाखाएँ खोलने का उद्देश्य साधारणतया अविकसित क्षेत्रों का विकास करना न होकर दूसरी बैंकों से प्रतियोगिता करना रहा है। वैसे भी उपयुक्त कर्मचारियों की कमी के कारण अनेक शाखाओं का कार्यवाहन संतोषजनक नहीं रहा है। यह एक आशाजनक बात है कि स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ने सन् १९६० तक ग्रामीण तथा अर्द्ध ग्रामीण (Semi-urban) क्षेत्रों में ४०० नई शाखाएँ खोलने का संकल्प किया है।

दोषों को दूर करने के उपाय—

रिजर्व बैंक की स्थापना, उसके राष्ट्रीयकरण तथा सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनी विधान द्वारा भारतीय मुद्रा बाजार के बहुत से दोष दूर हो गये हैं और बैंकिंग सेवाओं के विकास, सरकारी बचत प्रोत्साहन नीति तथा वैधानिक उपायों द्वारा शेष दोषों को धीरे-धीरे दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है। हमारे मुद्रा-बाजार का सबसे गम्भीर दोष उसका असंगठन है, जो उसी दशा में दूर हो सकता है जबकि देशी

बैंकरों का रिजर्व बैंक से सीधा सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाय, जैसा कि केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने भी सुझाव दिया है। परन्तु इसके लिए देशी बैंकरों की कार्य-विधि में महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों की आवश्यकता है। मुद्रा बाजार के विभिन्न अंगों मे सम्बन्धित दोषों को दूर करने के उपायों का सविस्तार अध्ययन आगे के अध्यायों में किया जायगा। सामान्य रूप में केवल इतना कहा जा सकता है कि देश में बैंकिंग सुविधाओं के विस्तार की भारी आवश्यकता है, परन्तु यह विकास एक निर्धारित योजना क्रम के अनुसार होना चाहिए, जिससे कि समचय स्थापित हो जाय, सेवाओं की दोबारगी समाप्त हो जाय और हानिकारक प्रतियोगिता दूर हो सके। बिल-बाजार के विकास की आवश्यकता बहुत है और इस दिशा में विशेष प्रयत्न होने चाहिए। इनके बिना बैंकिंग प्रणाली का समुचित विकास भी कठिन होगा। सामान्य रूप में भारतीय मुद्रा-बाजार के दोषों को दूर करने के निम्न सुझाव दिये जा सकते है :—

(१) हुँडियों का प्रमापीकरण (Standardisation of Hundis)—यह अत्यन्त आवश्यक है कि देश भर में हुण्डियों की भाषा, रूप, लेखन-विधि आदि में अनुरूपता लाई जाय। यदि हुण्डियों का कोई प्रमापीकृत रूप निकाला जाय तो अधिक अच्छा होगा। इससे एक ओर तो हुण्डी के समझने के लिए समय की बचत होगी और दूसरी ओर बैंकों के लिए हुण्डी की सही प्रकृति को समझने में भी सुविधा होगी।

(२) साख-पत्रों के पुनर्अपहरण की सुविधाओं का विस्तार (Increase of Rediscounting Facilities)—इस प्रकार की सुविधायें रिजर्व बैंक द्वारा प्रदान की जाती हैं। स्टेट बैंक भी कुछ प्रकार की सुविधायें देती है। इन सुविधाओं के और बढ़ाने की भारी आवश्यकता है। मुख्यतया मुद्दती हुण्डियों के पुनर्अपहरण की सुविधायें बढ़नी चाहिए।

(३) अनुज्ञापित भण्डार-गृहों की स्थापना (Establishment of Licensed Warehouses)—माल की आड़ पर ऋण देने में भारतीय बैंकों की एक महान् कठिनाई यह है कि अधिकाँश बैंकों के पास अपने निजी गोदाम नहीं हैं और अन्य भण्डार बहुत विश्वसनीय नहीं कहे जा सकते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि केन्द्रीय बैंक अनुज्ञापित भण्डार-गृह स्थापित करने में सहायता दे और राज्य सरकारें भी ऐसे भण्डार खोलें। पिछले कुछ वर्षों से सहकार भण्डार-गृह योजना लागू की गई है, जिससे काफी लाभ की आशा की जा सकती है।

(४) विप्रेष सुविधाओं की वृद्धि (Increase in the Remittances Facilities)—देश में धन का एक स्थान से दूसरे स्थान को हस्तांतरण करने की सुविधायें बहुत मंहगी हैं। डाकखाना और कोषागार दोनों ही इस कार्य के लिए अनुपयुक्त संस्थायें हैं। रिजर्व बैंक को सस्ती विप्रेष सुविधाओं का आयोजन करना चाहिए।

(५) देशी बैंकरों पर नियन्त्रण (Control over Indigenous Bankers)—देशी बैङ्कर भारतीय मुद्रा-बाजार में काफी उथल-पुथल मचाते रहते हैं। साहूकारों की तो कार्यविधि भी काफी दोषपूर्ण है। ऐसे बैङ्करों और साहूकारों का पंजीयन होना चाहिए और उन्हें उचित शर्तों पर रिजर्व बैङ्क से जोड़ देना चाहिए।

(६) समाशोधन गृहों का पुनर्सङ्गठन (Reorganisation of Clearing Houses) बैंकिंग सेवाओं के समुचित विकास के लिए यह भी आवश्यक है कि समाशोधन सम्बन्धी सुविधायें बढ़ाई जायँ। इसके लिये एक ओर तो ऐसे गृहों की संख्या में वृद्धि होनी चाहिए और दूसरी ओर इन गृहों का नवीन रीति से संगठन होना चाहिए, ताकि वे उतनी कुशलता प्राप्त कर सकें जितनी कि योरुप के समाशोधन गृहों को प्राप्त है।

(७) अखिल भारतीय बैंकर्स संघ के कार्यों का विकास (Expansion of the Activities of the All-India Bankers Association)—यह संघ सन् १६४६ में बम्बई में स्थापित हुआ था, यद्यपि इसकी स्थापना का सुझाव सन् १६२६ की केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने दिया था। यह विभिन्न बैङ्करों के लिए मिल-जुलकर काम करने और सुझाव देने का महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। आवश्यकता इस बात की है कि संघ के कार्यों का अधिक विस्तार हो, ताकि वह मुद्रा-बाजार के संगठन में अधिक योग दे सके।

बिल बाजार नियोजन के सुझाव—

इस सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के सुझाव निम्न प्रकार हैं :—

(१) केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जाय। (यह सुझाव सन् १६३५ में कार्य-रूपित किया जा चुका था)।

(२) बैंकों को व्यापारियों की आर्थिक स्थिति का पूरा-पूरा ज्ञान हो, जिसके लिए ऐसी संस्थायें स्थापित की जायँ जो इस प्रकार का ज्ञान दे सकें।

(३) बट्टा अथवा अपहरण दर (Discount Rate) यथासम्भव कम रखी जाय।

(४) राज्यों में बिलों के पारस्परिक भुगतान के लिए समाशोधन-गृहों (Clearing Houses) स्थापित किये जायँ, जो बिलों के भुगतान में उसी प्रकार की सहायता दें जैसी कि धनादेशों के भुगतान में दी जाती है। इस समय देश में २६ ऐसी संस्थायें हैं, परन्तु उनसे यथेष्ठ लाभ प्राप्त नहीं हो रहा है, क्योंकि वे बिलों के भुगतान का काम कम करती है।

(५) विपत्रों के मुद्रांक कर (Stamp Duty) में कमी की जाय। सन् १६४० में इस प्रकार की कमी की भी गई थी।

(६) एकरूपता लाने के लिए बिलों की भाषा और लिपि सम्बन्धी भिन्नतायें

दूर की जायें। देशी हुण्डियों में भी इसी प्रकार के सुधार किए जायँ।

(७) खड़ी फसलों की आड़ पर बिलों की स्वीकृति और उनका उपयोग बढ़ाया जाय और ऐसे बिलों के आधार पर ऋण दिए जायँ जो खड़ी फसलों की आड़ पर लिखे गये हों।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक सुझाव दिए जा सकते है, जो निम्न प्रकार हैं :—

(क) भण्डार गृहों (Warehouses) की स्थापना—ऐसे गोदामों में जमा किए हुए माल की रसीद बिलों के साथ लगा देने से उनकी साख बढ़ जायगी। इसी प्रकार राज्य सरकारें भी राज्यों में गोदामों की स्थापना कर सकती हैं।

(ख) भारत जैसे कृषि प्रधान देश में कृषिज वस्तुओं की प्रतिभूति पर लिखे हुए बिलों में भी व्यवसाय होना चाहिए। इस सम्बन्ध में यूरोप के अर्थ बिलों (Finance Bills) का उपयोग लाभदायक रहेगा।

(ग) यह अच्छा होगा कि बिल अनादरण पर उनका आलोकन (Noting) तथा प्रमाणन (Protesting) सरकारी संस्थाओं के स्थान पर बैंकों के संघों द्वारा ही किए जायँ।

रिजर्व बैंक की बिल बाजार संगठन की योजना—

बिल बाजार के नियोजन के अधिकांश सुझाव रिजर्व बैंक ने मान लिए हैं। जनवरी सन् १९५२ में बिल बाजार के निर्माण हेतु एक योजना को कार्य-रूप दिया गया था। योजना के अन्तर्गत रिजर्व बैंक ने बैंकों की सावधि बिलों (Time Bills) पर ऋण देने में $\frac{1}{2}\%$ ब्याज की छूट दी थी और माँग बिल (Demand Bill) को सावधि बिल में परिवर्तित करने के आधे मुद्रांक कर को स्वयं चुकाने की सुविधा दी थी। यह योजना प्रयोगात्मक आधार पर चलाई गई थी। सन् १९५३ में योजना को और अधिक विस्तृत किया गया था और जुलाई सन् १९५४ में ऋण की निश्चित सीमा का भी विस्तार किया गया था। योजना ४ साल तक चालू रही और इसे १ मार्च सन् १९५६ से समाप्त कर दिया गया है।

चार वर्ष की अवधि में योजना में भाग लेने वाली बैंकों की संख्या २७ से बढ़कर ४५ हो गई थी। प्रदान किए गये अग्रिमों की राशि भी सन् १९५२ में ८१ करोड़ रुपये से बढ़कर सन् १९५५ में २२५ करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी। इससे सिद्ध होता है कि योजना को पर्याप्त सफलता मिली थी। इस काल में बंकों के साधन, जो ३१ दिसम्बर सन् १९५१ में ९१८ करोड़ रुपये जमा और ३४९ करोड़ रुपये के विनियोग के थे, बढ़कर अक्टूबर सन् १९५५ को क्रमशः १,०७४ और ४४४ करोड़ रुपये हो गये थे।

भारतीय पूँजी बाजार (The Indian Capital Market)—

पूँजी बाजार से हमारा अभिप्राय दीर्घकालीन ऋणों के बाजार से होता है। इस बाजार का सम्बन्ध राष्ट्रीय पूँजी को दीर्घकालीन प्रतिभूतियों, बाँडों और अंशों आदि में विनियोग करने से होता है और तत्पश्चात् इस बाजार में इसी प्रकार की प्रतिभूतियों का व्यवसाय होता है। सरकार तथा उद्योगों की दीर्घकालीन वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति इसी बाजार द्वारा की जाती है। ऐसे बाजार में एक ओर तो जनता, बीमा कम्पनियाँ तथा ट्रस्ट संघ होते हैं, जो ऋणदाता का कार्य करते हैं और दूसरी ओर उद्योग और व्यवसाय होते हैं, जो ऋण लेने का काम करते हैं। अधिकांश ऋण अंशों और ऋण-पत्रों को खरीदने के रूप में दिए जाते हैं। ऋणदाताओं तथा ऋणियों के बीच अंशों के दलाल तथा अभिगोपन गृह (Underwriting Houses) होते हैं। दलाल लोग उद्योगों और विनियोगियों के बीच सम्पर्क स्थापित करते हैं और अभिगोपन गृह अंशों और ऋण-पत्रों पर हस्ताक्षर करके उनके प्रति विश्वास को बढ़ाते हैं तथा उनकी बिक्री का प्रबन्ध करते हैं। ये सबके सब पूँजी बाजार के ही अङ्ग होते हैं।

भारत में पूँजी का निर्माण

प्राक्कथन—

भारत में भूतकालीन पूँजी निर्माण के सम्बन्ध में कोई सही तथा निश्चित् आंकड़े प्राप्त नहीं है। इस सम्बन्ध में डा० लोकनाथन का यह अनुमान है कि सन् १९१३ तथा सन् १९३२ के बीच वार्षिक राष्ट्रीय बचत ७५ करोड़ रुपया रही है। इसके विपरीत डा० जैन (L. C. Jain) के अनुसार सन् १९२६ और सन् १९३२ के बीच राष्ट्रीय बचत में लगभग २१० करोड़ रुपये की वृद्धि हुई है और इस प्रकार वार्षिक राष्ट्रीय बचत २३ करोड़ रुपये के आस पास बैठती है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि दूसरे महायुद्ध के काल में बचत में काफी वृद्धि हुई, क्योंकि गृह निर्माण तथा स्वर्ण आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिए गये थे। युद्धोत्तर के काल के विषय में ईस्टर्न इकॉनॉमिस्ट (Eastern Economist) ने जो अनुमान लगाये हैं वे बहुत ही निराशाजनक हैं। उपरोक्त पत्रिका के अनुसार सन् १९४६-४७, १९४७-४८ तथा सन् १९४८-४९ में बचत अधिक नहीं हुई है और इन वर्षों में वह केवल १·८% की दर पर हो पाई है। योजना कमीशन के अनुसार प्रथम पंच-वर्षीय योजना के काल में कुल व्यक्तिगत बचत का अनुमान ५१५·८ करोड़ रुपये का लगाया गया है, जिसमें से ११५·० करोड़ रुपया जनता से ऋण के रूप में प्राप्त करने का अनुमान लगाया गया है, २७०·० करोड़ रुपया छोटी बचतों तथा अन्य ऋणों के रूप में मिलने और शेष १३०·८ करोड़ रुपया जमाधन कोष तथा अन्य विविध साधनों से प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया है। योजना की प्रगति की रिपोर्ट से यह पता चलता है कि वास्तविक बचत अनुमान से बहुत कम रही है। यह सन्देहपूर्ण है कि क्या दूसरी

योजना से सम्बन्धित कमीशन द्वारा निर्धारित लक्ष्य पूरा हो सकेगा ? वास्तविकता यह है कि पूँजी निर्माण की समस्या भारत की इस समय एक बड़ी कठिन परन्तु महत्त्वपूर्ण समस्या है। सन् १९५०-५१ में पूँजी निर्माण कुल राष्ट्रीय आय का ५·२% था, जो बढ़कर सन् १९५३-५४ में ६·८% हो गया था। सन् १९५५-५६ के लिए इसका अनुमान ७% है। योजना कमीशन का अनुमान है कि दूसरे पंच-वर्षीय आयोजन के अन्त तक यह १२% हो जायगा। इससे देश में पूँजी के निर्माण की गति पर्याप्त हो जायगी।

पूँजी का निर्माण यथार्थ में एक दीर्घकालीन क्रिया है और इसकी तीन बड़ी-बड़ी अवस्थायें होती हैं। सर्वप्रथम तो, बचत होनी चाहिए, जो मुख्यतया जनता की बचत करने की शक्ति, बचत करने की इच्छा तथा बचत करने की सुविधाओं पर निर्भर होती है। दूसरे, इन बचतों को विनियोग साध्य कोषों में परिवर्तित किया जाता है। यह कार्य बैंकिंग संस्थाओं द्वारा सम्पन्न किया जाता है। अन्त में, इस प्रकार के कोषों से पूँजीगत वस्तुएँ प्राप्त की जाती हैं, जो देश के औद्योगिक विकास की स्थिति पर निर्भर होता है। सारी की सारी बचत पूँजी का निर्माण नहीं करती है। उसका एक भाग आसंचित कोषों (Hoards) अथवा विदेशी निर्यातों में चला जाता है। इसके अतिरिक्त पूँजीगत माल को खरीदने में समय लगता है और इस प्रकार बचत तत्काल ही पूँजी का निर्माण नहीं कर सकती है। पूँजी निर्माण का कार्य तभी पूरा होता है जबकि एक निश्चित योजना के अनुसार एकत्रित बचतों को उपयुक्त विनियोगों में लगा दिया जाता है।

वर्तमान संसार में यह भी एक सन्तोषजनक स्थिति समझी जाती है, यदि किसी देश के निवासी अपनी आय का ५% भी बचा सकते हैं, यद्यपि कुछ देशों ने विभिन्न कालों में राष्ट्रीय आय का १५-२०% भी बचाया है। शायद वर्तमान दशाओं में हमारे लिए इतनी अधिक बचत सम्भव न हो सके, परन्तु यदि हम राष्ट्रीय आय का ५% भी बचाने में सफल हो जाते हैं तब भी हमारी वार्षिक बचत कम से कम ४५० करोड़ रुपया होनी चाहिए। वर्तमान स्थिति यह है कि हमारी बचत इससे भी बहुत कम है। अनुमान इस प्रकार है कि दूसरे पंच-वर्षीय आयोजन के अन्त तक यह बढ़कर ४०० करोड़ रुपया प्रति वर्ष तक हो जायगी।

भारत में पूँजी निर्माण की धीमी प्रगति के कारण—

पूँजी निर्माण की शिथिलता के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं :—

(१) नीचा आय-स्तर एवं विनियोग सुविधाओं का अभाव—देश में आय-स्तर काफी नीचा है और यद्यपि जनता की बचत करने की इच्छा काफी बलवान है, परन्तु बैंकिंग सेवाओं तथा उद्योगों के समुचित विकास के अभाव के कारण बचत करने की सुविधा बहुत कम है। यही कारण है कि बचत, जो कि पूँजी निर्माण का

(२) देश-विभाजन, जमींदारों व राजाओं का अन्त—देश के विभाजन ने पूँजी निर्माण की गति को काफी शिथिल कर दिया है और इसी प्रकार युद्धोत्तर काल की दूसरी घटनाओं ने, जिनमें देशी राज्यों का अन्त तथा जमींदारी उन्मूलन भी सम्मिलित हैं, बचत तथा पूँजी निर्माण दोनों की प्रगति धीमी कर दी है। पञ्जाब के हिन्दू व्यापारी, देशी राज्यों के राजा तथा जमींदार बचत करने वाले वर्गों में सबसे महत्त्वपूर्ण लोग थे और इनका अन्त होने से बचत में भारी कमी हो गई है।

(३) करारोपण की ऊंची दर—कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि युद्धोत्तर काल में करारोपण स्तर के ऊँचा रहने के कारण विनियोग हतोत्साहित हुए हैं। सन् १९४७-४८ के बजट ने पूँजी निर्माण पर सबसे बड़ा आघात किया था। उसके पश्चात् विभिन्न प्रकार की छूट देकर सरकार ने स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया है और अब इस सम्बन्ध में कोई विशेष शिकायत शेष नहीं रह गई है।

(४) राष्ट्रीयकरण का भय—उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के भय ने पूँजीपतियों को भयभीत कर दिया है। सन् १९४८ में सरकार ने राष्ट्रीयकरण को देश की औद्योगिक नीति का आधार घोषित कर दिया था। तत्पश्चात् सरकार ने १० वर्ष के लिए राष्ट्रीयकरण को स्थगित रखने का वचन दिया और संविधान में यह स्पष्ट किया गया कि सरकार बिना मुआवजा दिए किसी उद्योग को अपने अधिकार में नहीं लेगी, परन्तु सरकार की उद्योग राष्ट्रीयकरण घोषणा ने भारी अनिश्चितता उत्पन्न कर दी और पूँजी निर्माण के मार्ग में बाधायें खड़ी कर दीं।

(५) सट्टे बाजार की कार्यवाहियाँ—भारत में सट्टे बाजार का संचालन कुछ इस प्रकार हुआ कि उसने विनियोग साध्य कोषों के स्वतन्त्र प्रवाह को रोका है। सट्टे बाजार में जुआरी प्रकृति का जोर रहा है, जिसके कारण कीमतों में अकारण ही भारी उच्चावचन हुए हैं और वास्तविक विनियोगी हतोत्साहित हुए हैं।

(६) मैनेजिंग एजेन्टों की दोषपूर्ण तथा धोखेबाजी की नीति के कारण कितने ही उद्योग या तो चौपट हो गए हैं या अंशधारियों के लिए किसी प्रकार का लाभ नहीं कमा पाए हैं। इन एजेन्टों ने अपने स्वार्थ हेतु विनियोगियों को हानि पहुँचाई है और पूँजी निर्माण के मार्ग में कठिनाई उत्पन्न कर दी है।

(७) धन का दोषपूर्ण वितरण—द्वितीय महायुद्ध काल तथा युद्धोत्तर काल में देश के भीतर आय के वितरण में इस प्रकार के परिवर्तन हुए है कि राष्ट्रीय आय का अधिक बड़ा भाग उन वर्गों के पास चला गया है जो बचत तथा विनियोग करना जानते ही नहीं हैं। साथ ही, उद्योगों में रुपया लगाने वाले वर्गों की बचत बराबर घटती जा रही है।

(८) मृत्यु कर, निर्यात कर एवं बिक्री-कर—ऐसा कहा जाता है कि मृत्यु-करों में बचत तथा पूंजी निर्माण को हतोत्साहित करने की प्रवृत्ति होती है,

विदेशों के अनुभव से यह बात सिद्ध तो नहीं होती है, परन्तु इन करों का बचत करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव अवश्य पड़ता है। इसके अतिरिक्त भारत में निर्यात करों और बिक्री करों ने औद्योगिक विनियोगों से प्राप्त होने वाली आय घटा दी है और इस प्रकार पूँजी के निर्माण को हतोत्साहित किया है। उपरोक्त तीनों प्रकार के कर बचत और विनियोग दोनों को ही घटाने की प्रवृत्ति रखते है।

(९) युद्धोत्तरकालीन तनाव—युद्धोत्तर काल में भी युद्धकालीन तनाव समाप्त नहीं हो पाया है। लगभग सभी देशों ने आवश्यक मालों को जमा करने तथा सशस्त्रीकरण की नीति अपनाई है। इसके अतिरिक्त भारत सरकार को तो बहुत से मुद्रा प्रसार विरोधी उपाय भी करने पड़े है। परिणामस्वरूप पूँजी के निर्माण में शिथिलता आई है।

(१०) पूँजी निर्गम नियन्त्रण—भारत में पूँजी निर्गम नियन्त्रण (Capital Issue Control) का कार्यवाहन कुछ इस प्रकार हुआ है कि कोष लाभदायक विनियोगों की ओर प्रवाहित नहीं हो पाये हैं।

(११) उद्योग (विकास तथा नियन्त्रण) एक्ट—बहुत से अर्थशास्त्रियों का मत है कि सन् १९५१ का उद्योग (विकास तथा नियन्त्रण) एक्ट व्यक्तिगत विनियोगों को हतोत्साहित करने की प्रवृत्ति रखता है।

(१२) लाभ का विदेशों को निर्यात—भारतीय उद्योगों के लाभों का एक बहुत बड़ा भाग, जिसका साधारणतया पूँजी के रूप में उपयोग होना चाहिए था, विदेशी पूँजी के ब्याज और लाभ के रूप में देश से बाहर चला जाता है। ऐसी राशि का वार्षिक अनुमान लगभग ३६ करोड़ रुपया है।

(१३) निजी क्षेत्र पर प्रतिबन्ध—ऐसा कहा जाता है कि आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत निजी क्षेत्र पर जो प्रतिबन्ध लगाए जा रहे हैं उन्होंने पूँजी के विनियोग को घटाया है।

भारत में पूँजी निर्माण प्रोत्साहन के सुझाव—

भारत में देश के औद्योगिक विकास के लिए इस समय घोर प्रयत्न किया जा रहा है। प्रथम पंच-वर्षीय योजना अपना जीवन-काल समाप्त कर चुकी है और दूसरी योजना के तीन वर्ष पूरे हो चुके हैं, परन्तु देश का औद्योगिक तथा सामान्य आर्थिक विकास अभी बहुत पीछे है। इस विकास के मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं, परन्तु सबसे बड़ी बाधा वित्तीय कमी है। यह निश्चय है कि जब तक देश की बचतों में वृद्धि न होगी और यह बचत उद्योगों में नहीं लगाई जायेंगी तब तक कोई महत्त्वपूर्ण प्रगति सम्भव नहीं है। इस कारण इस समय हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता पूँजी निर्माण को प्रोत्साहन देना है। इसमें सन्देह नहीं है कि सरकार इस दिशा में भरसक प्रयत्न कर रही है, परन्तु अभी तक स्थिति सन्तोषजनक नहीं हो पाई है। भविष्य तो आशाजनक दिखाई पड़ता है, क्योंकि औद्योगीकरण राष्ट्रीय आय को बढ़ा कर स्वयं बचत तथा

पूँजी निर्माण को उन्नत करता है, परन्तु आरम्भ में तो पूँजी निर्माण की उन्नति करके ही औद्योगिक विकास सम्पन्न किया जा सकता है। यह तो सत्य है कि कुछ अंश तक हम विदेशी सहायता और हीनार्थ-प्रबन्धन का सहारा ले सकते हैं, परन्तु इनकी भी एक सीमा होती है। अन्तिम दशा में देश में पूँजी का निर्माण ही एक मात्र उपाय है। इस निर्माण को प्रोत्साहित करने के सुझाव निम्न प्रकार हो सकते हैं :—

(१) सरकारी व्यय में बचत—सबसे पहली आवश्यकता यह है कि देश में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की शासन-व्यवस्था में इस प्रकार के सुधार किये जाएं कि अपव्यय समाप्त हो और व्यय में बचत हो सके। इस सम्बन्ध में सन् १९४९-५० की सरकारी व्यय बचत समिति की सिफारिशें महत्त्वपूर्ण हैं। इसके साथ ही सरकार के व्यय में जो बचत की जाय उससे प्राप्त राशि का इस प्रकार उपयोग किया जाय कि वर्तमान काल में औद्योगिक विकास हो और भविष्य के लिए पूँजी के निर्माण की नींव पड़े।

(२) आसंचित कोषों को तोड़ना—इस बात की भारी आवश्यकता है कि आसंचित कोषों को तोड़ा जाय, जिससे कि उनका लाभदायक उपयोग हो सके। इसके लिए दो बातों की आवश्यकता है :—प्रथम, इस सम्बन्ध में सप्रभाविक प्रचार करके लोगों को गढ़े हुए धन के उपयोग का महत्त्व समझाया जाय और दूसरे, विनियोगों के लाभ अथवा ऋणों के ब्याज की दरें आकर्षक रखी जायँ। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि यदि स्वर्ण आसंचित कोषों को ही निकाल देने में सफलता मिल जाती है तो पाँच वर्ष तक राष्ट्रीय आय का लगभग २% पूँजी के रूप में प्राप्त हो सकता है। पिछले दिनों सरकार ने स्वर्ण तथा बहुमूल्य जेवरात की आड़ पर ऋण देने का जो आदेश बैंकों को दिया है उससे काफी लाभ की आशा है।

(३) अल्प बचत को प्रोत्साहन—छोटी आय वर्गों को तथा ग्रामीण क्षेत्रों में बचत को प्रोत्साहन देने के लिए प्रचार की अधिक आवश्यकता है और यह भी आवश्यक है कि बैंकिंग सेवाओं तथा सेविंग बैंकों का विकास किया जाय। इस सम्बन्ध में ब्याज की दरों में वृद्धि करना लाभदायक हो सकता है। वर्तमान दरें बहुत आकर्षक नहीं हैं।

(४) स्टॉक एक्सचेन्ज सुविधायें—अधिक आय वर्ग के व्यक्तियों के लिए बचत प्रोत्साहित करने वाली संस्थाओं का अभाव नहीं है। उनके लिए तो केवल यही पर्याप्त है कि उन्हें उपभोग घटाने तथा बचत को लाभदायक कार्यों में लगाने को प्रोत्साहित किया जाय। मध्यम आय वर्गों की बचत उनके लिए स्टाक् एक्सचेन्ज सुविधाएं उपलब्ध करके बढ़ाई जा सकती है। छोटी आय वर्गों में प्रचार की भारी आवश्यकता है।

(५) लाभ पर करों में छूट—उद्योगों तथा कम्पनियों की बचत को प्रोत्साहन देने के लिए यह उपयुक्त होगा कि लाभ पर लगाये जाने वाले करों में

छूट दी जाय और मशीनों की घिसावट आदि के लिए अधिक छूट की व्यवस्था की जाय। ऐसी बचत औद्योगिक विकास का एक महत्वपूर्ण साधन बन सकती है।

(६) पूँजी के निर्यात पर प्रतिबन्ध और आयात को प्रोत्साहन—यह आवश्यक है कि पूँजी के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाये जायँ और विदेशी पूँजीपतियों से यह अनुरोध किया जाय तथा उन्हें ऐसी सुविधायें दी जायँ कि वे लाभ का अधिकांश भाग भारतीय विनियोगों में लगायें। विदेशी पूँजी के आयात के लिए अधिक प्रयत्न किया जाय।

सरकारी उपायों का संक्षिप्त वर्णन—

उपरोक्त सभी दिशाओं में भारत की राष्ट्रीय सरकार प्रयत्नशील है। योजना कमीशन ने प्रथम पञ्च-वर्षीय योजना के लिए २,२५० करोड़ रुपये के व्यय की व्यवस्था की थी। योजना कमीशन के अनुसार इस राशि में से १,२५८ करोड़ रुपया बचत द्वारा प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया था, जिसमें से ७३८ करोड़ रुपया लोक बचतों से और शेष ५२० करोड़ रुपया व्यक्तिगत बचत से प्राप्त होने का अनुमान था। १५६ करोड़ रुपया विदेशी ऋणों के रूप में मिल चुका है तथा भविष्य में और भी ऐसे ऋणों के मिलने की आशा है। २९० करोड़ रुपये की राशि पौंड पावना मद से प्राप्त हो सकती थी। शेष वित्तीय आवश्यकता करों की वृद्धि, ऋण तथा हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit Financing) द्वारा पूरा होने की सम्भावना थी। वास्तविक व्यय २,००० करोड़ रुपये से भी कम रहा है। हीनार्थ प्रबन्ध की आवश्यकता अनुमान से अधिक रही है, क्योंकि पौंड पावना मद से तो नाम मात्र राशि ही निकाली गई है। बचत के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सरकारी उपाय छोटी बचतों से सम्बन्धित हैं।

छोटी बचत योजना—

इस सम्बन्ध में भारत सरकार ने एक छोटी बचत योजना (Small Saving Scheme) का निर्माण किया है, जिसके अन्तर्गत इस प्रकार की पहले से चालू योजनाओं के विस्तार के अतिरिक्त कुछ नई योजनाएँ भी चालू की गई हैं। इस प्रकार की योजनाएँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) डाकखानों के सेविंग बैंक—यह योजना काफी लम्बे काल से चालू है, परन्तु इसमें विगत वर्षों में कुछ महत्वपूर्ण सुधार तथा संशोधन किये गये हैं। ये बैंक सभी डाकखानों में खोली गई हैं। इनमें कोई भी वयस्क रुपया जमा कर सकता है। किसी भी अल्पवयस्क की ओर से भी उसके संरक्षक द्वारा खाता खोला जा सकता है। जमा करने वाले को एक सप्ताह में एक बार खाते में से कभी भी रुपया निकालने का अधिकार होता है; कम से कम २ रुपया जमा करके खाता खोला जा सकता है और इस प्रकार के खाते में अधिक से अधिक १५,००० रुपये तक जमा किया जा सकता है। जमा की हुई राशि पर २% प्रति वर्ष की दर पर ब्याज दिया जाता है, परन्तु १०,००० रुपये से ऊपर की राशि पर ब्याज की दर केवल १½% है, शर्त यह

है कि यदि किसी महीने में जमा की रकम २५ रुपये से कम होती है तो उस महीने का ब्याज नहीं दिया जाता है। ऐसी जमा से प्राप्त ब्याज आय-कर तथा अति-कर से मुक्त है।

(२) बारह-वर्षीय राष्ट्रीय बचत प्रमाण-पत्र (The 12-Years National Savings Certificates)—इस प्रकार के प्रमाण-पत्र भी डाकखानों द्वारा ही बेचे जाते हैं। ये प्रमाण-पत्र ५, १०, ५०, १००, ५००, १,००० तथा ५,००० रुपये के होते हैं और उन जमा करने वालों के लिए अधिक उपयुक्त होते हैं जो मूलधन तथा ब्याज की प्राप्ति के लिए कुछ साल तक प्रतीक्षा कर सकते हैं। एक व्यक्ति अपनी ओर से अथवा बच्चों की ओर से प्रमाण-पत्र खरीद सकता है, परन्तु इस प्रकार के प्रमाण-पत्रों में एक व्यक्ति अधिक से अधिक २५,००० रुपये तक लगा सकता है, जिसमें वह राशि भी सम्मिलित की जाती है जो व्यक्ति विशेष ने पहले चालू किये गये पञ्च-वर्षीय तथा सप्त-वर्षीय राष्ट्रीय बचत प्रमाण-पत्रों में लगा रखी है। दो व्यक्ति सम्मिलित रूप में अधिक से अधिक ५०,००० रुपया ऐसे प्रमाण-पत्रों में लगा सकते हैं। इन पत्रों में ब्याज की दर इस प्रकार रखी गई है कि परिपक्वता पर अर्थात् १२ वर्ष पश्चात् १०० रुपये के १६५ रुपये मिल जाते हैं। इस प्रकार ब्याज की औसत वार्षिक दर ५·४२% निकलती है, परन्तु इनमें रुपया लगाने वालों को परिपक्वता से पूर्व भी रुपया निकाल लेने का अधिकार दिया गया है। कम से कम एक वर्ष पीछे रुपया निकाला जा सकता है, परन्तु उस दशा में ५ रुपये के प्रमाण-पत्र के अतिरिक्त अन्य किसी भी राशि के प्रमाण-पत्र पर ब्याज नहीं मिलता है। जैसे-जैसे समय अवधि बढ़ती जाती है, ब्याज की दर भी बढ़ती है। ब्याज से प्राप्त राशि आय-कर तथा अति-कर से विमुक्त है और आय-कर की दर निर्धारित करने के लिए भी उसे कुल आय में सम्मिलित नहीं किया जाता है।

(३) पञ्च-वर्षीय तथा सप्त-वर्षीय राष्ट्रीय बचत प्रमाण-पत्र—इन प्रमाण-पत्रों के नियम १२-वर्षीय प्रमाण-पत्रों की ही भाँति हैं, अन्तर केवल इतना है कि इन पर ब्याज की दर कम होती है। पञ्च-वर्षीय प्रमाण-पत्रों पर ३% तथा ७-वर्षीय पत्रों पर ३·५७% ब्याज की दर रहती है। इनसे प्राप्त ब्याज पर भी करों में छूट दी गई है।

(४) बचत मुद्राङ्क (Saving Stamps)—यह सबसे छोटी बचतों की योजना है। जो लोग ५ रुपये के भी प्रमाण-पत्र नहीं खरीद सकते हैं उनके लिए यह व्यवस्था की गई है कि वे समय-समय पर डाकखाने से ४ आने, ८ आने अथवा एक रुपये के बचत-मुद्रांक खरीद लें। ऐसी टिकटें डाकखाने से दी गई एक पास-बुक पर चिपका दी जाती हैं और जब उसकी कीमत ५ रुपये अथवा १० रुपये तक हो जाती है तो उनके बदले में बचत प्रमाण-पत्र खरीदने का अधिकार दे दिया जाता है।

लगभग सभी प्रकार के प्रमाण-पत्रों के सम्बन्ध में कुछ विशेष रूप में सुविधा-

जनक नियम बनाये गये है, जैसे—खोये हुए प्रमाण-पत्र के स्थान पर स्वामी की घोषणा को स्वीकार कर लिया जाता है, सरकारी करों को चुकाने में इन्हें स्वीकार कर लिया जाता है और उपकारी संस्थाओं, सघों आदि को इनमें अधिक धन लगाने का अधिकार दिया गया है। इसके अतिरिक्त प्रतिभूति के रूप में सरकार इन्हें स्वीकार कर लेती है और नकद प्रतिभूति पर अनुरोध नहीं करती है।

(५) दस-वर्षीय कोषागार बचत निक्षेप (The 10-Years Treasury Savings Deposits)—यह जमा १०० रुपये से कम की नहीं हो सकती है और इसके लिए १००-१०० रुपये के ही प्रमाण-पत्र होने है। एक व्यक्ति अधिक से अधिक २५,००० रुपया इस जमा में लगा सकता है। दो व्यक्ति मिलकर ५०,००० रुपये लगा सकते हैं और दानी संस्थायें १ लाख रुपये तक लगा सकती है। इन निक्षेपों की विशेषता यह होती है कि जमा करने वाले की पूँजी ज्यों की त्यों बनी रहती है, परन्तु उसे नियमित रूप में प्रति वर्ष ३½% की दर पर ब्याज मिलता रहता है, इस कारण यह योजना उन लोगों के लिए अधिक उपयुक्त है जो अपनी बचत से एक नियमित आय प्राप्त करना चाहते है। रुपया रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक अथवा सरकारी कोषागार में जमा किया जा सकता है। अल्प-वयस्कों की ओर से भी संरक्षकों को रुपया जमा करने का अधिकार दिया गया है। एक साल पश्चात् कभी भी जमा की राशि को निकाला जा सकता है, परन्तु १० वर्ष से पूर्व रुपया निकालने की दशा में विभिन्न दरों पर बट्टा लगाया जाता है। ब्याज की शुद्ध दर प्रति वर्ष इस प्रकार बढ़ती जाती है कि १० वर्ष पीछे वह ३·५% हो जाती है। ऐसी जमा के प्रमाण-पत्र भी प्रतिभूतियों के रूप में स्वीकार किये जाते हैं और इनके ब्याज की राशि भी सरकारी करों से मुक्त होती है और आय-कर की दरों के निर्धारण में भी उसे कुल आय में सम्मिलित नहीं किया जाता है।

(६) वेतन बचत योजना (Salary Savings Scheme)—यह योजना सन् १९५८ में चालू की गई है और विशेषतया उन व्यक्तियों के लिए लाभदायक है जिन्हें निश्चित रूप में प्रति मास आय प्राप्त होती है। कोई भी व्यक्ति प्रति मास १०, २०, २५, ५० अथवा १०० रुपये प्रति मास डाकखाने में जमा कर सकता है और ५ अथवा १० वर्ष तक इस प्रकार की जमा को चालू रख सकता है। जमा की राशि को जमा करने वाले द्वारा घोषित जमा के अनुसार ५ अथवा १० वर्ष पश्चात् निकाला जा सकता है। जमा पर ब्याज मिलता है और निर्धारित अवधि के पश्चात् ब्याज और मूलधन की राशि निकालने का जमाधारी को अधिकार होता है, यद्यपि कुछ निश्चित व्यवस्थाओं के अन्तर्गत समय अवधि के पूरा होने से पूर्व भी धन निकाला जा सकता है। ब्याज की राशि आय-कर से विमुक्त होती है।

विगत वर्षों में सरकार ने एक नई योजना बनाई है, जिसके अनुसार सोने, चाँदी, हीरे, जवाहरात, आभूषण आदि की आड़ पर राष्ट्रीय ऋणों में धन लगाने के

लिए बैंकों को ऋण देने का अधिकार दिया गया है। इसका परिणाम अधिक महत्त्व-पूर्ण होगा, क्योंकि इस योजना के अनुसार देश के अनुत्पादक आसंचित कोषों का भी लाभदायक उपयोग हो सकेगा। १५ अक्टूबर सन् १९५३ से भू-सम्पत्ति कर (Estate Duties) के रूप में भारत सरकार ने मृत्यु-कर भी लागू कर दिया है, जिससे प्राप्त होने वाली समस्त आय को पूँजी के रूप में आर्थिक योजनाओं की वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उपयोग करने का निश्चय किया गया है। प्रचार द्वारा बचत को प्रोत्साहन देने का भी काफी प्रयत्न किया जा रहा है और काफी मात्रा में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें बार-बार लोक ऋणों को जारी करती रहती हैं। विदेशों से पूँजी प्राप्त करने के भी प्रयत्न किये जा रहे हैं और इस सम्बन्ध में कुछ विशेष प्रकार की छूटें भी दी गई हैं।

सन् १९५७ के अन्त में देश के पूँजी बाजार की स्थिति निम्न तालिका द्वारा सूचित की जाती है :—

(करोड़ रुपयों में)

अन्तिम शुक्रवार	सभी अनुसूचित बैंकों के निक्षेप (१)	चलन (२)	कोषागार विपत्र बकाया (३)	(१) का (३) से % अनुपात	(३) का (२) से % अनुपात
जनवरी	१,१२८·२६	१,४८५·५२	७०७·२५	७५·७२	४७·६१
फरवरी	१,१५१·९४	१,५०६·२५	७३८·५७	७६·४८	४९·०३
मार्च	१,१७५·३०	१,५२६·०९	८३५·७०	७७·०१	५४·७६
अप्रैल	१,२२०·५२	१,५६१·९१	८५१·८६	७८·१४	५४·५४
मई	१,२३८·७१	१,५७०·००	९१४·७२	७८·९०	५८·२७
जून	१,२६२·३१	१,५४२·१७	९४१·७५	८१·८५	६१·०७
जुलाई	१,२८८·०८	१,४८९·८३	९७३·२५	८५·९४	६४·९३
अगस्त	१,२८८·०४	१,४७०·६३	९१२·४२	८७·५८	६२·०४
सितम्बर	१,३१०·६५	१,४७१·११	९४३·७३	८९·०९	६४·१५
अक्टूबर	१,३६५·४०	१,४८६·२०	१,००१·२७	९१·८७	६७·३७
नवम्बर	१,३६५·१९	१,४७८·६६	१,०५८·२६	९२·३३	७१·५७
दिसम्बर	१,३६९·०४	१,५०६·७९	१,०५८·२६	९०·८६	६९·६१

QUESTIONS

1. What are the main constituents of the Indian Money

Market ? What control does the Reserve Bank exercise over them ? (Agra, B. Com., 1956 Supp & 1954)

2. Are you convinced that an organised Money Market does not exist in India ? If so, discuss the conditions under which it can come into existence.
(Agra, B. Com., 1951 & 1945)

3. What are the defects of the Indian Money Market ? Suggest any measures of reform you consider necessary.
(Agra, B. Com., 1957 Supp)

4. Discuss the salient features of the Indian Money Market and show to what extent its main defects have been remedied since independence. (Raj., B Com., 1956)

5. Discuss the causes responsible for the absence of a bill market in India. Suggest measures to remove them.
(Raj., B. Com , 1952)

6. Discuss the impurtance of a well-organised Bill Market as an instrument of economic progress. Account for the absence of a bill market in India. What steps have been taken in this respect in recent times ? (Raj., B. Com., 1954)

7. भारतीय मुद्रा-बाजार के मुख्य दोषों का उल्लेख कीजिए और उन्हें दूर करने के लिए निश्चित सुझाव दीजिए। (Sagar, B. Com., 1954)

8. Write note on—Main features of the Indian Money Market.
(Raj., B. Com., 1956)

Indian Money Market—its defects and the way out.
(Raj., B. Com , 1957)

अध्याय ३४

रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया

(The Reserve Bank of India)

प्रारम्भ—

भारत में १ अप्रैल सन् १९३५ में एक अंशधारियों की बैंक के रूप में रिजर्व बैंक ने अपना कार्य आरम्भ किया। इससे पहले सन् १९३४ में रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया एक्ट पास हो चुका था। ऐसी बैंक की स्थापना की सिफारिश हिल्टन-यंग आयोग ने की थी, जिसका विचार था कि भारत में एक केन्द्रीय बैंक की अधिक आवश्यकता थी और ऐसी बैंक का नाम भी रिजर्व बैंक होना चाहिए, परन्तु कुछ दिनों तक सरकार ने इस समस्या पर विचार करना स्थगित करके रखा। सन् १९३४ का एक्ट पास होने से पहले बहुत समय तक यह वाद-विवाद चलता रहा था कि क्या इम्पीरियल बैंक को ही केन्द्रीय बैंक नहीं बनाया जा सकता था, क्योंकि पहले से ही वह बैंक केन्द्रीय बैंक सम्बन्धी कुछ कार्य करती चली आ रही थी। इसके अतिरिक्त इस बात पर भी बहुत सोच-विचार किया गया कि क्या रिजर्व बैंक को अंशधारियों की बैंक बनाया जाय, अथवा उसे आरम्भ से ही सरकारी स्वामित्व में रखा जाय।

बैंक की आवश्यकता

मुद्रा व साख का समुचित प्रबन्ध—

ऐसा अनुभव किया गया था कि केन्द्रीय बैङ्क के रूप में इम्पीरियल बैंक का कार्य सन्तोषजनक नहीं था और मुद्रा पर सरकार और इम्पीरियल बैंक का दोहरा नियन्त्रण रहता था, इसलिए यह आवश्यक था कि इन दोषों को दूर करने के लिये एक केन्द्रीय बैंक स्थापित की जाय। हिल्टन-यंग आयोग ने यह स्पष्ट कर दिया था कि एक ऐसी प्रणाली में दोषों का रहना आवश्यक था जिसमें मुद्रा तथा साख पर दो अलग-अलग संस्थाओं का नियन्त्रण रहता हो, क्योंकि दोनों की नीतियों में भारी अन्तर का रहना सम्भव है। आयोग का विचार था कि केन्द्रीय बैंक की व्यवस्था द्वारा यह कमजोरी दूर हो जायगी। साथ ही, यह भी अनुभव किया गया था कि सन् १९३५ के नये विधान की सफलता एक बड़े अंश तक इस बात पर निर्भर थी कि देश की वित्तीय स्थिति सुदृढ़ रहे और उसकी साख भी बनी रहे। इसके लिए भी केन्द्रीय बैंक की स्थापना आवश्यक समझी गई।

इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक बनाना इस कारण उपयुक्त नहीं समझा गया था कि पहले से ही इम्पीरियल बैंक देश की अन्य बैंकों से प्रतियोगिता करती चली आ

रही थी, इसलिए अन्य बैंकों का उस पर पूरा विश्वास न रहने के कारण उसके लिए केन्द्रीय बैंकिंग के कार्य को सन्तोषजनक रीति से चलाना कठिन था। केन्द्रीय बैंक के अधिकार मिल जाने का अर्थ यह था कि इम्पीरियल बैंक अन्य बैंकों की संरक्षक तथा ऋण का अन्तिम सहारा बन जाती, जिससे वह अपने साधारण बैंकिंग व्यवसाय को चालू नहीं रख सकती थी। अन्य बैंकों पर उसका प्रभाव न होने के कारण उसकी कार्यक्षमता पर कम विश्वास रहने का भी भय था। वैसे भी इम्पीरियल बैंक का संचालक-मण्डल बैंक द्वारा साधारण बैंकिंग व्यवसाय को छोड़ने के पक्ष में नहीं था। अतएव यह निश्चित किया गया कि भारत में एक रिजर्व बैंक स्थापित की जाय जो नये सिरे से अपना कार्य आरम्भ करके अपनी नई परम्परा बनाये।

रिजर्व बैंक को राजकीय संस्था बनाने के पक्ष और विपक्ष में भी बहुत कुछ कहा गया था। ऐसा विचार था कि अंशधारियों की संस्था के रूप में यह बैंक देश के हित में कार्य नहीं कर पायगी, क्योंकि अंशधारी अपने अधिकारों का उपयोग निहित हितों (Vested Interests) को उत्पन्न करने के लिए कर सकते हैं और इस प्रकार प्राप्त शक्ति का उपयोग राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा उनकी अपनी स्वार्थ पूर्ति में किया जा सकता है। इसी प्रकार यह भी कहा गया था कि एक अविकसित देश होने के कारण भारत में जनता को अपनी बचत उत्पादक कार्यों में लगाने का अभ्यास नहीं है, इसलिए ऐसी दशाओं में कोई भी अंशधारियों की बैंक बचत को प्रोत्साहित करने में सफल नहीं हो सकती थी। इस बैंक को एक राजकीय संस्था बनाने के विरुद्ध भी कुछ गम्भीर तर्क रखे गये थे, क्योंकि उस समय सरकार विदेशी थी, इसलिए यह कहा गया था कि सरकार द्वारा इस संस्था का एक भेद-भाव के साधन के रूप में विदेशी हितों को लाभ पहुँचाने के लिए उपयोग किया जा सकता था। यह भी प्रकट किया गया था कि राजकीय संस्था बन जाने पर रिजर्व बैंक भारतीय व्यापारियों के अनुभवों और उनकी सलाहों के लाभ से बंचित रहेगी। केवल अंशधारियों की बैंक रहने की दशा में ही ये लाभ उसे प्राप्त हो सकते हैं। अतः यह निश्चय हुआ कि रिजर्व बैंक को एक अंशधारियों की बैंक बनाया जाय और १ अप्रैल सन् १९३५ तथा ३१ दिसम्बर सन् १९४८ के बीच यही व्यवस्था बनी भी रही। १ जनवरी सन् १९४९ से रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो गया है। अब यह पूर्णतया एक सरकारी बैंक है, क्योंकि मुआवजा देकर अंशधारियों को समाप्त कर दिया गया है।

बैंक का विधान—

आरम्भ में रिजर्व बैंक ने अंशधारियों की बैंक के रूप में कार्य शुरु किया। इसकी कुल अंश पूँजी ५ करोड़ रु० रखी गई थी, जिसे १००-१०० रुपये के पूर्णतया तथा शोधित (Fully paid-up) अंशों में बाँटा गया था, परन्तु प्रयत्न यह किया गया था कि रिजर्व बैंक की संचालक शक्ति कुछ थोड़े से हाथों में केन्द्रित न होने पाये। इसके लिए एक योजना बनाई गई थी, जिसके अनुसार देश को कलकत्ता, बम्बई,

मद्रास, दिल्ली तथा रंगून के पांच क्षेत्रों में बाँटा गया और प्रत्येक क्षेत्र के अंशधारियों को निश्चित कीमत के अंश बेचे गये, परन्तु धीरे-धीरे हस्तान्तरण द्वारा अधिकांश अंश बम्बई क्षेत्र में केन्द्रित होने लगे। इसके कारण सन् १९४० में सरकार को यह नियम बनाना पड़ा कि यदि किसी व्यक्ति के पास २० हजार रुपये की कीमत से अधिक अंश हो जायें तो उसका नाम अंशधारियों की सूची में प्रविष्ट नहीं हो सकता था, परन्तु यह नियम भी अंशों को बम्बई क्षेत्र में केन्द्रित होने से रोक न सका। केवल राष्ट्रीयकरण द्वारा ही यह दोष दूर हो सका है।

वर्तमान विधान—

सन् १९४८ के रिजर्व बैंक (लोक स्वामित्व हस्तान्तरण) एक्ट द्वारा रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण किया गया। बैंक के सभी अंशों को प्रत्येक १०० रुपये के अंश की ११८ रुपये १० आने कीमत चुका कर सरकार ने प्राप्त कर लिया है। बैंक का वर्तमान विधान निम्न प्रकार है—

(क) पूँजी—बैंक की वर्तमान पूँजी पहले की ही भाँति ५ करोड़ रुपया है, परन्तु अब उसके सभी अंश सरकार के पास हैं।

(ख) प्रबन्ध—बैंक का प्रबन्ध एक केन्द्रीय संचालक समिति द्वारा किया जाता है, जिसमें १४ सदस्य होते हैं। इन १४ सदस्यों में से एक गवर्नर तथा २ उप-गवर्नर सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते हैं, ७ संचालक केन्द्रीय सरकार द्वारा नामजद किये जाते हैं और ४ सञ्चालक स्थानीय समितियों (Local Boards) से छाँटे जाते हैं।

गवर्नर तथा उप-गवर्नर वेतनभोगी कर्मचारी होते हैं। ये पाँच साल की अवधि के लिए नियुक्त किये जाते हैं और इनका वेतन केन्द्रीय सरकार से परामर्श लेकर केन्द्रीय बोर्ड निश्चित करता है। स्थानीय बोर्डों द्वारा नियुक्त संचालक भी पांच वर्ष तक के लिए नियुक्त किये जाते हैं, यद्यपि उनकी पुनः नियुक्ति हो सकती है। अन्य संचालक बारी-बारी से एक, दो तथा तीन वर्ष पश्चात् निवृत्त (Retire) होते रहते हैं।

इनके अतिरिक्त केन्द्रीय बोर्ड में सरकार द्वारा एक सरकारी कर्मचारी भी नियुक्त किया जाता है, जो केन्द्रीय सरकार की इच्छानुसार काम करता है। इस कर्मचारी को बोर्ड की बैठकों में सम्मिलित होने तथा उसकी कार्यवाहियों में भाग लेने का तो अधिकार होता है, परन्तु इसे मतदान का अधिकार नहीं होता।

विधानानुसार केन्द्रीय बोर्ड की एक वर्ष में कम से कम छः और तीन मास में कम से कम एक बैठक अवश्य होनी चाहिए। गवर्नर को बोर्ड की बैठक बुलाने का अधिकार है और किन्हीं तीन संचालकों की माँग पर भी बैठक बुलाना आवश्यक होता है।

(ग) कार्यालय—इस समय बैंक के पाँच मुख्य कार्यालय हैं, जो बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास और कानपुर में हैं। बैंक का प्रधान कार्यालय स्थाई रूप से

बम्बई है। रिजर्व बैंक की विदेशी शाखायें करांची, लाहौर और लन्दन में हैं। केन्द्रीय सरकार की आज्ञा पर रिजर्व बैंक को किसी भी स्थान पर शाखा खोलने का अधिकार है। इस समय यह व्यवस्था की गई है कि जिन स्थानों पर रिजर्व बैंक की शाखा नहीं है, परन्तु स्टेट बैंक की शाखायें हैं, स्टेट बैङ्क रिजर्व बैंक की अभिकर्त्ता (Agent) का कार्य करती है।

स्थानीय समितियों के ३-३ सदस्य होते हैं, जो विभिन्न प्रादेशिक तथा आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं और इन हितों में सरकारी बैंक तथा देशी बैङ्करों को भी सम्मिलित किया जाता है।

राष्ट्रीयकरण से पूर्व केन्द्रीय संचालक मण्डल में १६ सदस्य होते थे, जिनमें से १ गवर्नर तथा १ उप-गवर्नर सरकार नामजद करती थी, ४ संचालक सरकार नामजद करती थी, ८ संचालक विभिन्न क्षेत्रों के अंशधारी निर्वाचित करते थे और एक सरकारी अधिकारी सरकार द्वारा नामजद किया जाता था। इसी प्रकार स्थानीय मण्डलों में ८-८ सदस्य होते थे, जिनमें से ५ वहाँ के अंशधारी निर्वाचित करते थे और ३ सदस्य केन्द्रीय सरकार नामजद करती थी।

(घ) नीति—रिजर्व बैंक की नीति तथा कार्यवाहन पूर्णतया केन्द्रीय सरकार के हाथ में है, जो समय-समय पर गवर्नर से सलाह करके बैंक को आदेश देती रहती है।

(ङ) विभाग—बैङ्क के दो प्रमुख विभाग हैं :—निर्गम विभाग तथा अधिकोषण विभाग। यही व्यवस्था बैंक ऑफ इङ्गलैंड में भी है। निर्गम विभाग का सम्बन्ध केवल नोट निर्गम से है, अन्य सभी कार्य अधिकोषण विभाग द्वारा किये जाते हैं।

निर्गम विभाग के दो उप-विभाग हैं—(१) कोषाध्यक्ष विभाग तथा (२) साधारण विभाग। प्रथम उपविभाग नोटों के निर्गम तथा पत्र-मुद्रा को प्रधान तथा गौण मुद्राओं में बदलने का कार्य करता है। साधारण उप-विभाग चलन विभाग की व्यवस्था करता है। स्वर्ण निधि का संरक्षण इसी के पास है। इसके अतिरिक्त यह उप-विभाग नोटों को जाँचने, नोटों को रद्द करने, नोटों के हिसाब रखने तथा आंतरिक अंकेक्षण (Internal audit) का भी कार्य करता है।

अधिकोषण विभाग के भी कई उप-विभाग हैं, जो निम्न प्रकार हैं :—

(१) कृषि साख विभाग—(Agricultural Credit Department)—यह विभाग कृषि तथा ग्रामीण वित्त सम्बन्धी सभी प्रकार के कार्य करता है। देश में कृषि वित्त की कमी को दूर करने के लिए आरम्भ से ही इस विभाग का निर्माण किया गया था।

(२) विनिमय नियन्त्रण विभाग (The Exchange Control Department)—इस विभाग का कार्य विनिमय नियन्त्रण नियमन सम्बन्धी शासन को चलाना होता है।

(३) बैंकिंग कार्य विभाग (The Department of Banking Operations)—यह विभाग अन्य बैंकों के नियन्त्रण तथा निरीक्षण का कार्य करता है। यह विभाग १ अगस्त सन् १९४५ को खोला गया था और इसके तीन उप-भाग हैं :—(अ) संचालन विभाग (Operation Division), (ब) निरीक्षण विभाग (Inspection Division) तथा (स) निस्तारण विभाग (Liquidation Divsion)। प्रथम विभाग उन सब कार्यों को करता है जो रिजर्व बैंक को एक बैंक होने के नाते करने पड़ते हैं। निरीक्षण विभाग यह देखता है कि अन्य बैंक समुचित बैंकिंग कार्यवाहन के लिए सरकार तथा रिजर्व बैंक द्वारा निकाले हुए आदेशों का कहाँ तक पालन करती हैं। निस्तारण विभाग का कार्य बैंकों को बन्द कर देने से सम्बन्धित आवश्यक कार्यवाही का करना होता है।

इनके अतिरिक्त बैंक का एक और भी विभाग है अर्थात् अन्वेषण तथा समांक विभाग (Department of Research and Statistics)। इस विभाग का कार्य मौद्रिक, साख और वित्तीय समस्याओं के अन्वेषण तथा अनुसन्धान से सम्बन्धित है। यह इन विषयों से सम्बन्धित आंकड़ों का भी प्रकाशन करता है। यह विभाग मुद्रा और वित्त के सम्बन्ध में एक वार्षिक रिपोर्ट भी निकालता है।

रिजर्व बैंक के कार्य (The Functions of the Reserve Bank)—

रिजर्व बैंक भारत की केन्द्रीय बैंक है, इसलिए वह उन सभी कार्यों को सम्पन्न करती है जो एक साधारण केन्द्रीय बैंक द्वारा किए जाते हैं। इन कार्यों का विस्तृत वर्णन एक पिछले अध्याय में किया जा चुका है। प्रस्तुत अध्याय में रिजर्व बैंक के कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यों का संक्षिप्त वर्णन किया जायगा। बैंक के कार्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) सरकारी बैंकर का कार्य—केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की सभी नकद शेष (Cash Balances) रिजर्व बैंक में रखी जाती हैं और इन शेषों पर किसी प्रकार का ब्याज नहीं दिया जाता है। भारत के लोक ऋण (Public Debts) का प्रबन्ध भी यही बैंक करती है। ऋणों का हिसाब, उनका जमा करना तथा उनका चुकाना रिजर्व बैंक के ही कार्य हैं। इसके अतिरिक्त सरकारी बैंकिंग व्यवसाय, जिनमें सरकारी करों आदि से प्राप्त आय को जमा करना, सरकारी कोषों का एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजना, सरकारी आदेशानुसार भुगतान करना आदि कार्य शामिल हैं, भी यही बैंक करती है। यह बैंक स्वयं भी सरकार को ऋण दे सकती है, परन्तु ऐसे ऋण या तो माँग पर तुरन्त शोधनीय होते हैं अथवा मार्गोपाय अग्रिमों (Ways and Means Advances) के रूप में होते हैं, जो एक निश्चित अवधि के भीतर, जो अधिक से अधिक ९० दिन हो सकती है, शोधनीय होते हैं। बैंक को विदेशी सर-

कारों की ओर से भी कार्य करने का अधिकार है। यह बैंक सरकार को सलाह भी देती है। सरकार की ओर से रिजर्व बैंक जो कार्य करती है उसके लिए उसे किसी प्रकार का पारितोषण नहीं दिया जाता है, क्योंकि बैंक को सरकारी शेषें बिना ब्याज के प्राप्त होती हैं। केवल सरकारी हुण्डियों की बिक्री का कमीशन इसे मिलता है। इस कमीशन की दर प्रति एक लाख के बिल पर दो हजार रुपया होती है। रिजर्व बैंक सदा ही समुचित प्रतिभूति के आधार पर देती है।

(२) नोटों का निर्गम—रिजर्व बैंक को भारत में नोट निर्गम का एकाधिकार प्राप्त है। इस कार्य के लिए बैंक का एक पृथक विभाग है, जिसे निर्गम विभाग कहा जाता है। कारण यह है कि नोट निर्गम को एक प्रकार से बैंकिंग कार्य नहीं कहा जा सकता है, परन्तु आधुनिक विचारधारा ऐसी व्यवस्था के विरुद्ध है। वर्तमान काल में करैंसी नोट तथा बैंक के जमाधन में कोई आधारभूत भेद नहीं होता है और दोनों ही मुद्रा होते हैं। इस कारण दोनों विभागों के भेद का कोई सैद्धान्तिक आधार नहीं रह जाता है। केन्द्रीय बैंक को नोट निर्गम तथा बैंकिंग व्यवसाय दोनों में ही प्रतियोगिता का कोई भय नहीं होता है।

भारत में नोट निर्गम प्रणाली पर जनता का विश्वास बनाये रखने के लिए यह व्यवस्था की गई थी कि जितने नोटों का निर्गम हो उसके ४०% के बराबर सोने के सिक्के, स्वर्ण-पाट अथवा स्टर्लिङ्ग होने चाहिए, जिसमें २१ रुपया ३ आना १० पाई प्रति तोला की दर पर किसी भी समय ४० करोड़ रुपये से कम कीमत का सोना नहीं रहना चाहिए। शेष ६०% नोटों के पीछे रुपया प्रतिभूतियाँ, विनिमय बिल आदि हो सकते हैं, परन्तु भारत सरकार ने रुपया प्रतिभूतियों की अधिकतम् मात्रा ५० करोड़ रुपया अथवा कुल की एक-चौथाई (जो भी अधिक हो) रखी थी, परन्तु बाद के संशोधनों द्वारा यह प्रतिबन्ध हटा दिया गया है, जिसके कारण रुपया प्रतिभूतियों की राशि बराबर बढ़ती गई है। यह संशोधन सन् १९४९ में हुआ था।

सन् १९५६ में यह पुरानी व्यवस्थायें समाप्त कर दी गई हैं। नये नियम के अनुसार नोट निर्गमन विभाग में सोने और सोने सिक्के अब न्यूनतम् ११५ करोड़ रुपये के मूल्य में रखे जा सकेंगे। इसके अतिरिक्त नोट निगम विभाग में कम से कम ४०० करोड़ रुपये (जो विशेष परिस्थितियों में ३०० करोड़ रुपये तक घटाई जा सकती है) के मूल्य की विदेशी प्रतिभूतियाँ रहेंगी। इस प्रकार कुल मिलाकर कम से कम ५१५ करोड़ रुपये का कोष इस विभाग में रखना आवश्यक है। रिजर्व बैंक के पास जो सोना है उसका मूल्यांकन अब २१ रुपये ३ आने १० पाई प्रति तोला के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा निर्धारित दर अर्थात् ३५ डालर प्रति औंस [१ रुपया = २·८८ ग्रेन (स्वर्ण)] अथवा ६२·५० रुपया प्रति तोला की दर पर किया जाता है।

(३) विनिमय दर के स्थायित्त्व को बनाये रखना—सन् १९३४ के एक्ट के अनुसार यह रिजर्व बैंक का एक वैधानिक कार्य है कि वह रुपये की बाह्य

कीमत को एक निश्चित बिन्दु पर बनाये रखे। मुद्रा-कोष (I. M. F.) की स्थापना से पूर्व रिजर्व बैंक की निर्धारित रुपए की कीमत १ शिलिंग ६ पैंस के बराबर थी। सन् १९४७ से इस नियम में संशोधन किया गया है। अब रिजर्व बैङ्क विदेशी विनिमय केवल उन दरों पर खरीद तथा बेच सकती है जिनको सरकार समय-समय पर निर्धारित करती है। पहले की भाँति अब एक निश्चित दर पर स्टर्लिंग का क्रय-विक्रय करना अनिवार्य नहीं रहा है। मुद्रा-कोष द्वारा निश्चित दरों पर रिजर्व बैङ्क कोई भी विदेशी मुद्रा खरीद सकती है।

(४) बैङ्किंग कार्य—रिजर्व बैङ्क सरकारों के निक्षेपों को स्वीकार करती है, परन्तु इन निक्षेपों पर ब्याज दिया जा सकता है। बैङ्क को विनिमय बिलों, प्रतिज्ञा-पत्रों आदि के क्रय-विक्रय तथा फिर से भुनाने का भी अधिकार है, परन्तु इसमें यह शर्त लगाई गई है कि ऐसे साख-पत्रों पर दो हस्ताक्षर होने चाहिए, जिनमें से एक किसी अनुसूचित अथवा राज्य सहकारी बैङ्क का हो और इनकी परिपक्वता अवधि ९० दिन से अधिक नहीं होनी चाहिए। ऐसे कृषक बिलों पर जो कृषि के मौसमी व्यवसायों की वित्तीय व्यवस्था के लिए लिखे जाते हैं, परिपक्वता अवधि १५ महीने की रखी गई है। परन्तु रिजर्व बैंक द्वारा अपहरण के लिए ऐसे बिलों पर भी दो अच्छे हस्ताक्षर होने चाहिए, जिसमें से एक अनुसूचित बैंक अथवा राज्य सहकारी बैंक का होना चाहिए। बैंक को विदेशी विनिमय खरीदने और बेचने का भी अधिकार है और वह किसी भी ऐसे देश पर लिखे हुये विदेशी विनिमय बिल का भी क्रय-विक्रय कर सकती है जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का सदस्य हो। बैङ्क राज्यों, स्थानीय सरकारों, अनुसूचित बैङ्कों तथा राज्य सहकारी बैङ्कों को ऋण भी दे सकती है, यदि ऐसे ऋण माँग पर तुरन्त शोधनीय हैं अथवा ९० दिन के भीतर शोधनीय हैं और प्रसंविदित प्रतिभूति (Trustee Security), स्वर्ण अथवा चाँदी, स्वीकृत विपत्र तथा प्रतिज्ञा-पत्रों पर दिये गये हैं अथवा अनुसूचित या राज्य सहकारी बैङ्कों द्वारा लिए गये हैं और माल के अधिकार-पत्रों के रहन (Pledge) द्वारा सुरक्षित हैं। रिजर्व बैङ्क विदेशी केन्द्रीय बैङ्क के साथ एजेन्सी व्यवस्था भी कर सकती है।

(५) बैङ्कों की बैङ्क—रिजर्व बैङ्क का यह कर्त्तव्य है कि वह भारत में समुचित बैंकिंग प्रणाली को बनाये रखे। सन् १९४९ के विधान में उसे महत्त्वपूर्ण अधिकार दिये गये है। देश की बैंक-निधि का केन्द्रीयकरण करने तथा निक्षेपदाताओं के हितों की रक्षा करने के लिए यह निश्चित किया गया है कि सभी अनुज्ञापित बैंक अपने माँग दायित्त्वों का ५% तथा समय दायित्त्वों का २% रिजर्व बैंक में रखें। समय-समय पर प्रत्येक बैंक को रिजर्व बैंक के पास अनेक प्रकार की रिपोर्टें भेजनी पड़ती हैं और प्रत्येक सप्ताह अपनी लेन-देन का विस्तृत विवरण भी भेजना पड़ता है। रिजर्व बैंक किसी भी अनुज्ञापित बैंक के लेखों का निरीक्षण कर सकती है, यह बैंकों को ऋण दे सकती है, उन्हें उनकी ऋण नीति के सम्बन्ध में आदेश दे सकती है और

उनके अनुचित व्यवहारों को वर्जित कर सकती है। इसके अतिरिक्त समाशोधन-गृहों की सेवाएँ उपलब्ध करके वह बैंकों के पारस्परिक भुगतानों को चुकाने में सुविधा देती है।

(६) साख नियन्त्रण—साख नियन्त्रण का उद्देश्य यह होता है कि साख की मात्रा का व्यवसायों को साख सम्बन्धी माँग के साथ समायोजन किया जाय। साख की मात्रा बहुधा बैंकों की ऋण नीति पर निर्भर होती है। इस कारण साख नियन्त्रण का अर्थ बैंकों की ऋण नीति पर नियन्त्रण करने से होता है। रिजर्व बैंक इस कार्य के लिए बैंक दर के परिवर्तनों, खुले बाजार व्यवसाय तथा वैधानिक अधिकारों का उपयोग करती है। साधारणतया, रिजर्व बैंक को जनता के साथ सीधे-सीधे व्यवसाय करने का अधिकार नहीं है, परन्तु यदि केन्द्रीय मण्डल की कोई विशेष समिति अथवा गवर्नर ऐसा अनुभव करता है कि विशेष परिस्थिति अथवा संकट का काल उत्पन्न हो गया है और वाणिज्य तथा व्यापार के हितों की रक्षा के लिए साख पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है तो अनुसूचित बैंक के हस्ताक्षर बिना भी रिजर्व बैंक बिलों को भुनाने तथा खरीदने और बेचने का कार्य कर सकती है। साख नियन्त्रण की इस प्रभावशाली रीति का रिजर्व बैंक ने पूरा-पूरा लाभ उठाया है, परन्तु इस अधिकार की भी कुछ सीमायें हैं। भारतीय मुद्रा-बाजार के असंगठित तथा अविकसित होने के कारण यह नीति बहुत सफल नहीं हो पाती है। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक केवल कुछ विशेष प्रकार के ही साख-पत्रों का क्रय-विक्रय कर सकती है और क्योंकि ये साख-पत्र सरकारी होते हैं, इसलिए इनके सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता भी नहीं होती है। सरकार की साख नष्ट हो जाने के भय से उन्हें भारी मात्रा में नहीं बेचा जा सकता है।

(७) कृषि वित्त व्यवस्था—रिजर्व बैंक कृषि साख से सम्बन्धित सभी समस्याओं का अध्ययन करने के लिए विशेषज्ञों को रखती है। बैंक का एक पृथक विभाग ही ऐसा है जिसका कार्य कृषि वित्त की उन्नति और सुविधाओं के लिए उपाय करना होता है। इसके अतिरिक्त यह विभाग राज्य सरकारों तथा राज्य सहकारी बैंकों को सलाह भी देता है। आरम्भ में यह विभाग केवल रिपोर्ट प्रकाशित करता था और कृषि साख के पुनर्संगठन के सम्बन्ध में अन्य कोई भी कार्य नहीं करता था। पिछले तीन वर्षों से बैंक ने इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया है। सन् १९४९-५० की ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति की सिफारिशों पर इसने देश भर में कृषि साख व्यवसाय की जांच का काम पूरा किया है।

रिजर्व बैंक के वर्जित कार्य—

सन् १९३४ के रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट के अनुसार, जिसमें तत्पश्चात् संशोधन भी किये गये हैं, इस समय रिजर्व बैंक को निम्न कार्यों के करने से वर्जित किया गया है :—

(१) कुछ निश्चित काल के लिए अपनी लेन को वसूल करने के लिए ही

रिजर्व बैंक व्यापार, वाणिज्य अथवा उद्योग में भाग ले सकती है, अन्यथा सामान्य रूप में उसे इन कार्यों के करने से वर्जित किया गया है।

(२) वह किसी बैंक अथवा कम्पनी के अंश नहीं खरीद सकती है और ऐसे अंशों की आड़ पर ऋण भी नहीं दे सकती है।

(३) वह अचल सम्पत्ति की प्रतिभूति पर ऋण नहीं दे सकती है और अपने व्यवसायिक कार्यालयों के निर्माण के अतिरिक्त किसी अन्य उद्देश्य से ऐसी सम्पत्ति प्राप्त भी नहीं कर सकती है।

(४) वह उसमें जमा की गई राशि पर ब्याज नहीं दे सकती है।

(५) वह न तो ऐसे बिल लिख सकती है और न भुना सकती है जो माँग पर शोधनीय न हों।

स्मरण रहे कि रिजर्व बैंक के कार्यों की ये सीमायें इस कारण निश्चित की गई हैं कि एक ओर तो रिजर्व बैंक अन्य बैंकों से प्रतियोगिता न कर सके और दूसरी ओर बैंक का व्यवसायिक आधार दृढ़ रहे।

रिज़र्व बैंक व्यवहार में (The Reserve Bank in Action)—

रिजर्व बैंक इस समय अपने जीवन-काल का २५ वाँ वर्ष व्यतीत कर रही है और बहुत बार यह प्रश्न रखा जाता है कि क्या यह अपने उद्देश्य में सफल रही है? रिजर्व बैंक के कार्यवाहन को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि दोषों के रहते हुए भी इस संस्था ने देश की भारी सेवा की है और देश की मुद्रा तथा साख नीति को एक समुचित आधार प्रदान किया है।

नोट के निर्गम का कार्य पूर्णतया सन्तोषजनक रहा है। बैंक ने सोने के सिक्कों तथा स्वर्णपाट की मात्रा कभी भी ४० करोड़ रुपये से कम कीमत की नहीं होने दी है, बल्कि सन् १९४८-४९ तक यह इससे अधिक रही है। इसी प्रकार रुपया प्रतिभूतियाँ भी कुल देयधन के ¼ से अधिक नहीं रही हैं। केवल सन् १९४९ में इनसे सम्बन्धित नियम में संशोधन के पश्चात् ही यह अनुपात घटा है।

नोट निर्गम के सम्बन्ध में सबसे बड़ा दोष यही रहा है कि दूसरे महायुद्ध के काल में उनकी मात्रा में अत्यधिक वृद्धि हुई है। सन् १९३८-३९ में २११ करोड़ रुपयों से बढ़ कर सन् १९४५-४६ में उनकी मात्रा १,१७९ करोड़ रुपया हो गई थी। यह परिस्थिति रिजर्व बैंक की भूल के कारण उत्पन्न नहीं हुई थी, बल्कि ब्रिटिश सरकार की उस नीति का परिणाम है जिसके अन्तर्गत उसने रिजर्व बैंक विधान की उस व्यवस्था से लाभ उठाया था जिसके अनुसार रिजर्व बैंक को स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियों की आड़ पर नोट निर्गम का अधिकार दिया गया था। रिजर्व बैंक का दोष यही था कि उसने जनता को ब्रिटिश सरकार की इस नीति की यथासमय सूचना नहीं दी थी।

स्वतन्त्रता के उपरान्त मुद्रा-प्रसार का रोकने के लिए चलन में आए हुए नोटों की संख्या को आवश्यकतानुसार घटाने में भी रिजर्व बैंक असफल रही है।

सरकारी बैंकर के दृष्टिकोण से रिजर्व बैंक ने जिस प्रकार कार्य किया है उसके प्रति भी सरकार अथवा जनता को कभी असन्तोष प्रकट करने का अवसर नहीं मिला है। यही बात रिजर्व बैंक द्वारा विदेशी विनिमय दर के स्थायित्व को बनाए रखने के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

रिजर्व बैंक की सबसे बड़ी आलोचना इस सम्बन्ध में हुई है कि वह अन्य बैंकों को फेल होने से बचाने में असमर्थ रही है। अन्य बैंकों की संरक्षण तथा ऋणों का अन्तिम सहारा होने के कारण रिजर्व बैंक का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह आवश्यक सहायता देकर बैंकों के विलीयन की सम्भावना को कम करे। इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक के अधिकारियों का कहना है कि अधिकांश दशाओं में फेल होने वाली संस्थाओं को बिगड़ती हुई दशा का उसे पता नहीं चलता था। भूतकाल में ऐसी बैंकों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने का उसे अधिकार न था और फेल होने वाली बहुत सी संस्थाओं की सम्पत्ति ब्रिटिश भारत के बाहर थी, जिसके कारण उन्हें सहायता नहीं दी जा सकती थी। परन्तु ये तर्क सारहीन हैं, क्योंकि एक ओर तो आवश्यकता पड़ने पर रिजर्व बैंक सरकार द्वारा आवश्यक नियम बनवा सकती थी और दूसरी ओर सही सूचनाएँ प्राप्त करने के लिए एक अंश तक रिजर्व बैंक स्वयं भी दोषी थी।

सन् १९४९ के बैंकिंग विधान ने निरीक्षण, जानकारी तथा नियन्त्रण के विस्तृत अधिकार रिजर्व बैंक को दिए हैं। इन अधिकारों का वर्णन एक पिछले अध्याय में किया जा चुका है। बिना रिजर्व बैंक की आज्ञा के कोई भी न्यायालय अब किसी बैंक के विलीयन की योजना स्वीकार नहीं कर सकता है। अब रिजर्व बैंक अन्य बैंकों का नियमित रूप से निरीक्षण करती है। इस सम्बन्ध में मार्च सन् १९५१ से एक विस्तृत योजना लागू की गई थी और सन् १९५२ के अन्त तक ही २५१ बैंकों का निरीक्षण समाप्त कर दिया गया था। इस कारण स्थिति में सुधार दृष्टिगोचर हो रहा है। 'भारत बैंक' तथा बङ्गाल की चार बैंकों को डूबने से बचाकर रिजर्व बैंक ने प्रशंसनीय कार्य किया है। बैंकिंग प्रणाली के सुधार का कार्य दीर्घकालीन कार्य है, परन्तु समुचित निरीक्षण द्वारा इस दिशा में काफी उन्नति होती दिखाई पड़ रही है।

रिजर्व बैंक और साख नियन्त्रण—

सन् १९४९ के विधान में सभी प्रकार की बैंकों के लिए रिजर्व बैंक में जमा का रखना आवश्यक बना दिया गया है और सन् १९५१ से यह अनिवार्य कर दिया गया है कि सभी बैंकिंग कम्पनियाँ अपने चालू तथा निश्चितकालीन देयधन (Demand and Time Liabilities) का २०% नकदी, स्वर्ण अथवा अन्य स्वीकृत प्रतिभूतियों में रखे। तत्पश्चात् संशोधनों द्वारा रिजर्व बैंक को अन्य बैंकों को कुछ छूटें देने का भी अधिकार दिया गया है। विधान में रिजर्व बैंक को विस्तृत अधि-

कार प्रदान किए गए हैं, परन्तु यह अधिक अच्छा होगा कि आवश्यकता पड़ने पर देय-धन के उपरोक्त प्रतिशत को तुरन्त बदला जा सके। रिजर्व बैंक को खुले बाजार में व्यवसाय करने का भी अधिकार दिया गया है, जो साख-नियन्त्रण का एक महत्त्वपूर्ण साधन है, परन्तु अभी तक इस अधिकार का पूर्ण उपयोग नहीं किया गया है। भारतीय मुद्रा-बाजार की अविकसित तथा असंगठित प्रकृति और उन प्रतिभूतियों की सीमितता, जो कि रिजर्व बैंक द्वारा खरीदी और बेची जा सकती हैं, इस कार्य में भारी बाधा उत्पन्न करती हैं। इस दिशा में रिजर्व बैंक को आशानुकूल सफलता नहीं मिली है।

भारत में बैंक दर—

आरम्भ में बैंक दर नीति सफल न हो सकी थी, क्योंकि परिस्थितियों के कारण रिजर्व बैंक को ही बैंक दर ३% बनाए रखनी पड़ी थी। इस कारण इस साधन का लाभपूर्ण उपयोग न हो सका। वास्तविकता यह है कि बैंक की कमजोर आर्थिक स्थिति तथा असंगठित मुद्रा बाजार के कारण शायद यह नीति बहुत लाभदायक हो भी नहीं सकती थी।

युद्धोत्तर-काल में सभी देशों में बैंक दर के परिवर्तनों की एक सामान्य लहर सी आई थी। इस कारण साख-संकुचन नीति के अन्तर्गत १५ नवम्बर सन् १९५१ को रिजर्व बैंक ने बैंक दर ३% से बढ़ा कर ३½% कर दी। मार्च सन् १९५७ में यह बढ़ा कर ४% कर दी गई है। बैंक दर को सप्रभाविक बनाने के लिए रिजर्व बैंक द्वारा व्यापार बैंकों को वित्तीय सहायता देने की नीति में भी भारी परिवर्तन किया गया है। पहले यह रीति अपनाई जाती थी कि रिजर्व बैंक बाजार भाव पर अनुसूचित बैंकों तथा सहकारी बैंकों से ऋण-पत्र आदि खरीद लिया करती थी। इससे इन बैंकों को सरलतापूर्वक तथा सस्ते ब्याज पर ऋण मिल जाता था। इसके अतिरिक्त कोई बैंक सरकारी ऋण-पत्रों तथा अन्य स्वीकृत बिलों को भुना कर भी ऋण प्राप्त कर लेती थी, परन्तु इस प्रकार लिए जाने वाले ऋण कम ही रहते थे। बैंक दर को बढ़ाते ही रिजर्व बैंक ने यह घोषणा की कि वह बैंकों को सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऋण-पत्र नहीं खरीदेगी, परन्तु सरकारी तथा अन्य स्वीकृत ऋण-पत्रों पर बैंक दर के अनुसार ऋण देगी। सन् १९५० में अनुसूचित बैंकों तथा सहकारी बैंकों ने रिजर्व बैंक से क्रमशः १३½ करोड़ रुपया तथा २½ करोड़ रुपया उधार लिया था। सन् १९५१ में ये राशियाँ ७६½ करोड़ रुपया तथा ५¼ करोड़ रुपया हो गई थीं और नीति में परिवर्तन करने से यह बढ़कर सन् १९५२ में १६¼ करोड़ रुपया तथा ३½ करोड़ रुपया हो गई थीं। नीचे की तालिका द्वारा ऋण के अन्तिम साधन के रूप में रिजर्व बैंक का महत्त्व स्पष्ट होता है :—

अनुसूचित तथा सहकारी बैंकों द्वारा प्राप्त ऋण

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	अनुसूचित बैंक	राज्य सहकारी बैंक	योग
१९४८-४९	२१·२६	१·१७	२२·४२
१९४९-५०	३४·७६	५·७३	४०·४९
१९५०-५१	१४·३२	२·३०	१५·७१
१९५१-५२	७६·५७	५·२९	८१·८६
१९५२-५३	१६४·२५	३·५९	१६७·८१
१९५५-५६	१२३·००	५·००	२२८·००

ऋण देने के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक ने अपनी नीति में जो परिवर्तन किये हैं उनके तीन लाभ बताये जाते हैं :—(१) यह कहा जाता है कि इसमे बैंक दर की सुप्रभाविकता बढ़ जाती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण इस बात से मिलता है कि नीति का परिवर्तन होते ही इम्पीरियल बैंक ने तुरन्त अपनी सभी प्रकार की ब्याज की दरों में सामान्य रूप में ½% की वृद्धि कर दी थी। (२) यह रीति ऐसी है कि मुद्रा की पूर्ति में लोच रहती है। व्यवस्त व्यवसायिक काल में पूर्ति बढ़ती है, परन्तु इस काल के पश्चात् ऋण पत्र लौट आते हैं और इस प्रकार मुद्रा की पूर्ति स्वयं ही घट जाती है। (३) इस रीति से रिजर्व बैंक का अन्य बैंकों पर अच्छा नियन्त्रण स्थापित हो जाता है।

उपरोक्त परिवर्तन की कई हानियाँ भी हैं :—(१) समुचित फल प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि खुले बाजार व्यवसाय की नीति को गुप्त रखा जाय, परन्तु इस रीति के कारण यह नीति गोपनीय नहीं रह पाती है। (२) पहले ऋण-पत्रों की कीमत में काफी स्थायित्त्व रहता था, क्योंकि रिजर्व बैंक उनका क्रय-विक्रय करती रहती थी, परन्तु इस नीति के फलस्वरूप इन पत्रों की कीमत गिरी है। नीति का परिवर्तन होते ही तीन सप्ताह के भीतर इन ऋण-पत्रों की कीमत में ५·३% की कमी हो गई थी। सरकारी ऋण-पत्रों की कीमत में ऐसा परिवर्तन उचित नहीं होता है। (३) यह रीति बैंकों के लिए मंहगी तथा कष्टदायक है। इससे वित्त की प्रगति तथा मुद्रा-बाजार के विकास के मार्ग में बाधा पड़ती है।

जनवरी सन् १९५२ से रिजर्व बैंक ने हुण्डियों के क्रय-विक्रय की भी एक योजना चालू की थी। इस योजना के अनुसार रिजर्व बैंक ने अकेले सन् १९५२ में कुल मिलाकर ८७·६५ करोड़ रुपये के ऋण दिये थे, जिनमें से ८१·५५ करोड़ रुपया अनुसूचित बैंकों को दिया गया था और शेष ६·५० करोड़ रुपया सहकारी बैंकों को। लम्बे काल से रिजर्व बैंक के विरुद्ध यह कड़ी आलोचना की जा रही थी कि वह देश में हुंडी बाजार का विकास नहीं कर रही थी। उपरोक्त कार्यवाही द्वारा शीघ्र ही यह भी दोष

दूर हो जायगा। इस प्रणाली को लोकप्रिय बनाने तथा हुण्डी बाजार का शीघ्र विकास करने के लिए रिजर्व बैंक द्वारा इस योजना के अनुसार अनुसूचित बैंकों को बैंक दर से ½% कम दर पर ऋण दिये जाते हैं। ऋण को मुद्दती हुण्डी में बदलने के लिए जितने रुपये के मुद्राँक लगाये जाते हैं उनका आधा व्यय स्वयं रिजर्व बैंक द्वारा दिया जाता है।

जून सन् १९५४ से नवीन बिल योजना रिजर्व बैङ्क ने सभी अनुसूचित बैङ्कों पर लागू कर दी है। वर्तमान रूप में इस योजना के अन्तर्गत ऋण प्राप्ति की न्यूनतम् रकम १० लाख रुपया रखी गई है और प्रत्येक ऐसे बिल की रकम जो रिजर्व बैङ्क से भुनवाया जा सकता है, १ लाख रुपये घटाकर ५० हजार रुपया कर दी गई है। योजना के कार्यवाहन का ग्यारहवाँ वर्ष आरम्भ हो गया है, क्योंकि यह जनवरी सन् १९५२ से चालू है। योजना की सफलता काफी रही है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायगा :—

रिजर्व बैंक के अग्रिम

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर	कुल का प्रतिशत	बिलों के आधार पर	कुल का प्रतिशत	कुल
१९५२–५३	१६४	६६·८	८२	३३·२	२४६
१९५३–५४	३०	६६·३	६६	३३·७	१९६
१९५४–५५	१८९	५६·२	१४७	४३·८	३३६
१९५५–५६	२६९	५४·१	२२८	४५·९	४९७

यह निश्चय है कि अब रिजर्व बैंक बिलों के आधार पर अधिक ऋण दे रही है। इससे दो स्पष्ट लाभ हैं–प्रथम, रिजर्व बैंक को बैंकों को साख नीति को नियन्त्रित करने का अधिक अच्छा अवसर मिल रहा है और दूसरे, रिजर्व बैंक के लिए यह अधिकार सरल हो गया है कि व्यापार की आवश्यकता के लिए अधिक साख का निर्माण कर सके।

देशी बैंकिग प्रणाली पर नियन्त्रण रखने में भी रिजर्व बैंक अभी तक असफल ही रही है। यह प्रयत्न काफी वर्षों से चल रहा है कि इस प्रणाली पर भी रिजर्व बैंक का आधिपत्य स्थापित किया जाय। इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक वही सुविधाएँ देने को तैयार है जो साधारण अनुसूचित बैंकों को दी जाती हैं, परन्तु यह अनुरोध किया जाता है कि सहायता प्राप्त करने के लिए देशी बैंकरों को अपना व्यापार व्यवसाय छोड़ना पड़ेगा। यह शर्त किसी भी देशी बैंकर को मान्य नहीं है और अभी तक केवल ७ देशी बेंकिंग संस्थाएँ ही योजना में सम्मिलित हो पाई हैं।

रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण—

सन् १९४८ के रिजर्व बैंक (लोक स्वामित्त्व हस्तान्तरण) नियम द्वारा रिजर्व

बैंक का राष्ट्रीयकरण हो गया है और अब यह एक सरकारी संस्था है। रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व ही यह वाद-विवाद चला था कि क्या इस संस्था को एक सरकारी संस्था के रूप में स्थापित किया जाय, परन्तु इस समय इसे एक अंशधारियों की बैंक बनाना ही अधिक उपयुक्त समझा गया था। कालान्तर में इस व्यवस्था के पक्ष में दिये जाने वाले तर्कों का महत्त्व शेष नहीं रह पाया है। इस समय निम्न कारणों पर राष्ट्रीयकरण का समर्थन हुआ है:—

(१) अन्य देशों की केन्द्रीय बैंकों के भी राष्ट्रीयकरण का तर्क—युद्धोत्तर-काल में संसार के अनेकों देशों में केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण हो चुका है और यह एक विश्वव्यापी आन्दोलन बन चुका है। रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण का भी यही आधार है।

(२) युद्धकालीन अनुभव यही है कि उस काल में रिजर्व बैंक की स्वतन्त्रता की वास्तविकता खुल गई थी और वह एक सरकारी विभाग की भांति कार्य कर रही थी। राष्ट्रीयकरण ने इस स्थिति को केवल वैधानिकता ही प्रदान की है।

(३) रिजर्व बैंक के अंशों का केन्द्रीयकरण होता जा रहा था और व्यक्तिक अधिकारों के दुरुपयोग का काफी भय था। सन् १९४९ के नियम ने तो रिजर्व बैंक को इतने विस्तृत अधिकार दे दिये हैं कि अब इसका निजी संस्था रहना अनुचित ही था।

(४) आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए भी यह आवश्यक है कि सरकार तथा रिजर्व बैंक का निकटतम् सम्बन्ध रहे। बिना राष्ट्रीयकरण के इसकी आशा कम ही थी।

इसके विपरीत राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध भी अनेक तर्क हैं—(१) यह कहा जा सकता है कि यह भारत सरकार की वर्तमान सामान्य औद्योगिक नीति के विरुद्ध है। सन् १९४८ में उद्योग राष्ट्रीयकरण की जिस नीति की घोषणा की गई थी उसे सरकार बदल चुकी है और इसलिए केवल रिजर्व बैंक को ही राष्ट्रीयकरण के लिए चुनना उचित नहीं कहा जा सकता है। आर्थिक नियोजन की पूरी सफलता के लिए तो समस्त बैंकिंग प्रणाली का राष्ट्रीयकरण अधिक उपयुक्त होगा। (२) राष्ट्रीयकरण के कारण अब रिजर्व बैंक योग्य और अनुभवी व्यापारियों की सेवाओं के लाभ से वंचित है, क्योंकि इसकी परिषदों के सभी सदस्य सरकार नामजद करती है और उनमें कोई भी वित्त सम्बन्धी विशेष अनुभव प्राप्त गैर-सरकारी व्यक्ति नहीं है। (३) अब यह भय काफी बढ़ गया है कि बैंक के संचालन पर राजनीतिक दलों तथा सरकार की वित्तीय नीति का अनुचित प्रभाव पड़ सकता है। इस समय रिजर्व बैंक पूर्णतया वित्त मन्त्रालय के हाथों में है, जो उसका किसी भी प्रकार उपयोग कर सकता है।

जैसा कि ऊपर भी बताया जा चुका है, १ जनवरी सन् १९४९ से रिजर्व बैंक

को सरकारी अधिकार में ले लिया गया और इसके पुराने सभी अंशधारियों को १०० रुपये के लिए ११८ रुपये १० आने मुआवजे के रूप में दे दिये गए हैं। मु. की यह दर अंशों की मार्च सन् १९४७ और फरवरी सन् १९४८ के बीच के काल की औसत मासिक कीमत के बराबर रखी गई है। मुआवजे का एक भाग नकदी में चुकाया गया है और शेष के लिए ३% ब्याज के प्रतिज्ञा-पत्र दे दिये गये हैं। राष्ट्रीय-करण के पश्चात् अब तक बहुत समय नहीं हो पाया है, जिसके कारण यह निर्णय कठिन है कि इस व्यवस्था द्वारा कितना लाभ हुआ है, परन्तु सरकारी अधिकारियों का मत है कि इसके कारण रिजर्व बैंक की उपयोगिता तथा सप्रभाविकता बढ़ गई है।

ऐसा अनुभव किया गया है कि कृषि साख के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक समुचित सेवा नहीं कर पाई है। इन सम्बन्ध में एक ग्राम्य साख जाँच समिति नियुक्त की गई थी, जिसने मार्च सन् १९५५ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की है। यह रिपोर्ट सरकार ने स्वीकार कर ली है। १९ अप्रैल सन् १९५५ को वित्त मन्त्री ने एक बिल लोक-सभा के सम्मुख प्रस्तुत किया था, जिसके द्वारा रिजर्व बैंक एक्ट सन् १९३४ में संशोधन किया गया है। इस संशोधन का उद्देश्य एक राष्ट्रीय कृषक साख कोष (National Agricultural Credit 'Long Term Operations' Fund) स्थापित करना है। इस कोष का उपयोग निम्न कार्यों के लिए किया जायगा—

(१) राज्य सरकारों को सहकारी साख समितियों के अंश खरीदने के लिए ऋण दिये जायँगे, जिससे कि इन समितियों की अंश पूँजी में वृद्धि की जा सके।

(२) राज्य सहकारी बैङ्कों को मध्यकालीन ऋण दिये जायँगे, जिनका वे कृषि वित्त की व्यवस्था करने के लिए उपयोग करेंगी।

(३) केन्द्रीय भू-प्राधि बैङ्कों को दीर्घकालीन ऋण और अग्रिम दिए जायेंगे।

बिल में यह भी व्यवस्था की गई है कि एक और भी कोष अर्थात् राष्ट्रीय साख (स्थिरता) कोष (National Agricultural Credit 'Stabilization' Fund) स्थापित किया जाय। इस कोष में जो धन रखा जायगा उसका उपयोग केवल मध्यकालीन ऋणों और अग्रिमों के प्रदान करने के लिए किया जायगा। ये ऋण राज्य सहकारी बैङ्कों को मिल सकेंगे और इन बैंकों को यह अधिकार होगा कि यदि अकाल, बाढ़, सूखा तथा अन्य प्राकृतिक आपत्तियों के कारण मध्यकालीन वित्त की कमी पड़ती है तो वे अपने अल्पकालीन ऋणों को भी मध्यकालीन ऋणों में बदल लें।

रिजर्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष—

भारत ने मुद्रा-कोष की प्रारम्भिक सदस्यता प्राप्त की थी। मुद्रा-कोष के आदेश पर भारत ने रुपए का मूल्य स्वर्ण में ८·४७५१२ ग्रेन के बराबर निर्धारित किया था, परन्तु सितम्बर सन् १९४९ में रुपए का अवमूल्यन किया गया और डालर (अथवा स्वर्ण) में रुपए के मूल्य में ३०·५% की कमी कर दी गई है। मुद्रा-कोष की सदस्यता

से पहले रिजर्व बैंक स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियाँ रखती थी और विदेशी विनिमय के रूप में उसी का क्रय-विक्रय करती थी। अब रिजर्व बैंक मुद्रा-कोष के सभी सदस्य देशों की मुद्राओं का क्रय-विक्रय कर सकती है। इन मुद्राओं को बेचने की दर सरकार अपने मुद्रा-कोष सम्बन्धी दायित्वों को ध्यान में रखकर समय-समय पर निश्चित करती है।

रिजर्व बैंक की लेन और देन—

निम्न तालिकाओं में रिजर्व बैंक की लेन और देन सम्बन्धी स्थिति दिखाई गई है। निर्गम और अधिकोषण विभागों की अलग-अलग स्थिति निम्न प्रकार है—

निर्गम विभाग

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	नोट प्रचलन में	कुल नोट निर्गम	धातु	विदेशी प्रतिभूतियाँ	रुपया प्रतिभूतियाँ
१९३८–३९	१८२·३६	२१०·६४	४४·२२	६६·९५	३२·१६
१९४७–४८	१,२२७·४८	१,२७४·९५	४४·२२	१,१३५·२२	६२·[illegible]४
१९५१–५२	१,१८९·८४	१,२१७·२२	४०·०२	६२५·१७	४८८·३६
१९५३–५४	१,१३३·९५	१,१५६·९७	४०·०२	५९४·०२	४३०·११
१९५४–५५	१,१९६·१९	१,२१९·१८	४०·०२	६८४·८१	४२८·०९
१९५५–५६	१,३३९·३९	१,३५६·४७	४०·०२	६५६·५२	५३३·२०
१९५६–५७	१,४७५·७७	१,४९४·५२	४०·०२	५४५·६१	७५५·२२

अधिकोषण विभाग

वर्ष	निक्षेप	अन्य देन	नोट	विदेशों मे शेष	विनियोग
१९३८–३९	३१·८४	१·२८	२८·३८	४·२१	६·३६
१९४७–४८	५२०·४०	१४·५५	४७·२४	४०६·९५	८१·५३
१९५१–५२	३३५·१५	१८·६२	२७·९२	१८७·१४	९५·१०
१९५२–५३	२९५·०२	२३·६९	२८·०३	१३३·५६	८९·७७
१९५३–५४	२३२·८०	२३·९१	२३·२२	१२३·२१	८१·५८
१९५४–५५	२०१·२८	२३·६२	२३·२४	८७·५३	८०·५२
१९५५–५६	१५२·२३	३५·५९	१७·२१	६६·९६	४९·३६
१९५६–५७	१४३·३८	९१·२१	१८·९१	६४·७७	५१·८२

रिजर्व बैंक का महत्त्व—

सन् १९३५ में रिजर्व बैंक ने अपना कार्य आरम्भ किया था। अब इस संस्था को काम करते हुए २५ वर्ष से भी ऊपर हो चुके हैं। अब तक का कार्य काफी सराहनीय रहा है। इस बैंक ने भारत की बैंकिंग व्यवस्था को सुदृढ़ और समुचित आधार

प्रदान करने का प्रयत्न किया है। बैङ्क की सफलताओं की सूची काफी लम्बी है। बैङ्क के कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यों को निम्न प्रकार गिनवाया जा सकता है :—

(१) सुलभ मुद्रा नीति—आरम्भ से ही बैङ्क ने सुलभ मुद्रा नीति (Cheap Money Policy) अपनाई थी। बैङ्क दर को नीचा रखकर रिजर्व बैंक ने व्यापार, उद्योग और कृषि सम्बन्धी वित्तीय आवश्यकताओं की अधिक से अधिक पूर्ति करने का प्रयत्न किया है। नवम्बर सन् १६५१ तक बैंक दर ३% रही है, परन्तु उपरोक्त मास से वह बढ़ा कर ३ १/२% कर दी गई है और सन् १६५७ में ४%। भारतीय मुद्रा-बाजार में ब्याज की दरों को नीचे गिराने का प्रमुख श्रेय रिजर्व बैंक को ही है।

(२) ब्याज की दरों में परिवर्तन—रिजर्व बैंक ने देश में प्रचलित ब्याज की सामयिक दरों के उच्चावचनों को भी कम करने में सफलता प्राप्त की है। बैंकों की तत्कालीन ब्याज की पारस्परिक दरें साधारणतया १/४ और १/२ के ही बीच रही हैं।

(३) विप्रेष सुविधाओं में वृद्धि—विप्रेष सुविधाओं (Remittances Facilities) में भारी वृद्धि की गई है। इस समय ये दरें मुद्रा-बाजार की स्थिति को देखते हुए बहुत कम हैं। ५,००० रुपये तक यह दर १/३२% (न्यूनतम् एक रुपया) और ५,००० रुपये से ऊपर १/६४% (१ रुपया ६ आने, नई मुद्रा १ रुपया ५६ नये पैसे) है।

(४) सार्वजनिक ऋणों का प्रबन्ध—लोक ऋणों के प्रबन्ध और केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को सस्ते ऋण प्रदान करने में बैंक ने ख्याति प्राप्त की है।

(५) बैंकिंग विधान का निर्माण—बैंकिंग विधान के निर्माण में रिजर्व बैंक का कार्य काफी सराहनीय रहा है।

(६) बैंकों को आर्थिक सहायता—आर्थिक संकटों के काल में रिजर्व बैंक ने दूसरी बैंकों की काफी सहायता की है। कितनी ही बैंकों को केवल रिजर्व बैंक के ही ऋणों ने डूबने से बचाया है।

(७) विनिमय दर में स्थिरता—देश की विनिमय दर की स्थिरता बनाये रखने का प्रमुख श्रेय इसी को है।

(८) औद्योगिक वित्त—औद्योगिक वित्त की उन्नति में भी औद्योगिक वित्त प्रमण्डल को रिजर्व बैंक से काफी सहायता मिली है।

(६) कृषि अर्थ-व्यवस्था—बैंक के कृषि साख विभाग के कार्य की सभी ने प्रशंसा की है।

(१०) रिजर्व बैंक का खोज और अनुसन्धान विभाग बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य करता रहा है।

(११) मुद्रा, साख व बैंकिंग पर उचित नियन्त्रण—विभिन्न अधिकारों के द्वारा रिजर्व बैंक ने मुद्रा, साख और बैंकिंग व्यवस्था पर अच्छा नियन्त्रण रखा है।

देश की बैंकिंग व्यवस्था के युद्धकालीन संचालन में रिजर्व बैंक का ऊँचा स्थान रहा है।

(१२) आँकड़ों का संग्रह व प्रकाशन—आँकड़ों के जमा करने और उपयुक्त सलाह देने में रिजर्व बैंक का भारी महत्त्व है।

रिजर्व बैंक द्वारा मुद्रा पर नियन्त्रण—

केन्द्रीय बैंक होने के कारण रिजर्व बैंक का यह कर्त्तव्य है कि मुद्रा और साख दोनों की निकासी पर समुचित नियन्त्रण रखे। मुद्रा के नियन्त्रण में साधारणतया सिक्कों और पत्र-मुद्रा का नियमन किया जाता है। कागज के नोटों की निकासी तो रिजर्व बैंक का ही एकाधिकार है और उनकी निकासी के सम्बन्ध में समुचित नियम भी बनाये जा चुके हैं, जिनका अध्ययन पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। नोटों के निर्गमन के लिए रिजर्व बैंक का एक अलग ही विभाग है। कागज के नोटों के पीछे रिजर्व बैंक सोने, सोने के सिक्कों, रुपये के सिक्कों, विदेशी मुद्राएँ, स्टर्लिंग प्रतिभूतियों, रुपयों की प्रतिभूतियों तथा सरकारी हुण्डियों की आड़ रखती है। इस आड़ की मात्रा को घटा-बढ़ाकर रिजर्व बैंक पत्र-मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन कर सकती है। यदि रिजर्व बैंक पत्र-मुद्रा की मात्रा को बढ़ाना चाहती है तो वह अपने अधिकोषण विभाग में से रुपये की प्रतिभूतियाँ अथवा विदेशी प्रतिभूतियाँ अथवा दोनों निर्गम विभाग को हस्तान्तरित कर देती है और तब निर्गम विभाग हस्तान्तरित प्रतिभूतियों के मूल्य के बराबर पत्र-मुद्रा का निर्गमन कर देता है। इसके विपरीत यदि रिजर्व बैंक पत्र-मुद्रा की मात्रा कम करना चाहती है तो प्रतिभूतियों को निर्गम विभाग से अधिकोषण विभाग को हस्तान्तरित कर दिया जाता है और उनके मूल्य के बराबर पत्र-मुद्रा को रद्द कर देती है। इस सम्बन्ध में बहुधा यह कहा जाता है कि रिजर्व बैंक मुद्रा पर नियन्त्रण रखने में पर्याप्त अंश तक सफल रही है, किन्तु वास्तविकता यह है कि यद्यपि आवश्यक अंश तक चलन की मात्रा का विस्तार तो रिजर्व बैंक करती रही है, परन्तु देश में प्रचलित नोटों की मात्रा को घटाकर मुद्रा-प्रसार को दूर करने में वह पूर्णतया असफल रही है।

रिजर्व बैंक द्वारा साख नियन्त्रण—

रिजर्व बैंक का यह एक महत्त्वपूर्ण कार्य है कि देश में साख की मात्रा पर नियन्त्रण रखे। इसके लिए रिजर्व बैंक वे सभी उपाय करती है जो प्रत्येक केन्द्रीय बैंक को करने पड़ते हैं। विधानानुसार यह अनिवार्य है कि प्रत्येक बैंक अपनी समय देन (Time Liabilities) का २% और माँग देन (Demand Liabilities) का ५% रिजर्व बैंक में जमा करे। इससे रिजर्व बैंक को बैंकों की जमा सम्बन्धी आवश्यक सूचना मिलती रहती है। साख नियन्त्रण की दिशा में रिजर्व बैंक के प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) नकद कोषों सम्बन्धी नियम—सन् १९४९ के बैंकिंग विधान के

अनुसार देश की प्रत्येक बैंक को अपने कुल निक्षेपों का २०% अपने पास नकदी, स्वर्ण अथवा स्वीकृत प्रतिभूतियों के रूप में रखना होता है। रिजर्व बैंक का यह कर्त्तव्य है कि वह इस बात का ध्यान रखे कि अन्य बैंक इस नियम का उलंघन न करें। यद्यपि, यदि आवश्यक हो, रिजर्व बैंक किसी भी बैंक को इस सम्बन्ध में छूट दे सकती है। इससे साख का निर्माण एक निश्चित सीमा के ही भीतर रहता है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, प्रत्येक बैंक को अपनी मांग तथा समय देन का क्रमशः ५ और २% रिजर्व बैंक में जमा करना होता है। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि रिजर्व बैंक को इन प्रतिशतों में परिवर्तन करने का अधिकार नहीं है। व्यवहार में इन व्यवस्थाओं से अधिक लाभ नहीं हो पाता है, क्योंकि सब कुछ होते पर बैंक के लिए साख निर्माण के लिए पर्याप्त सामग्री रहती है।

(२) बैंक दर—अन्य केन्द्रीय बैंकों की भाँति रिजर्व बैंक भी बिलों को फिर से भुनाने (Rediscounting) और आवश्यकता के काल में अन्य बैंकों को ऋण देने का कार्य करती है। किन्तु भारत में रिजर्व बैंक की बैंक दर नीति बहुत सफल नहीं रही है, क्योंकि (i) अन्य बैंक रिजर्व बैंक से कम मात्रा में ही ऋण लेती हैं और (ii) स्वयं रिजर्व बैंक के साधन भी तथा (iii) वे प्रतिभूतियाँ जिनकी आड़ पर ऋण दिए जाते हैं, भी सीमित हैं। आरम्भ में रिजर्व बैंक ने सुलभ मुद्रा नीति (Cheap Money Policy) अपनाई थी। मुद्रा-प्रसार को रोकने के लिए सन् १९५१ से नीति में परिवर्तन किया गया है। सन् १९५१ से पहले बैंक दर ३% रहती थी। उस वर्ष उसे बढ़ाकर ३½% किया गया था और फरवरी सन् १९५७ में ४%। यहाँ पर यह कहना असंगत न होगा कि बैंक दर नीति को आवश्यक सफलता नहीं मिली है।

(३) खुले बाजार क्रियायें—खुले बाजार क्रियाओं का अभिप्राय यह होता है कि केन्द्रीय बैंक जनता को सरकारी प्रतिभूतियों का क्रय:-विक्रय करने लगती है और उस पर से जनता के साथ प्रत्यक्ष व्यवसाय न करने का प्रतिबन्ध हटा लिया जाता है। रिजर्व बैंक के सम्बन्ध मे यह नीति भी बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं रही है। सन् १९५१ तक सदस्य बैंकों को यह अधिकार था कि वे आवश्यकता के समय रिजर्व बैंक को असीमित मात्रा में स्वीकृत प्रतिभूतियाँ बेच कर धन प्राप्त कर सकती थीं। सन् १९५१ से इस नीति में भी परिवर्तन किया गया है। अब रिजर्व बैंक केवल विशेष परिस्थितियों मे ही इस प्रकार की प्रतिभूतियों को खरीदती है, अन्यथा स्वीकृत प्रतिभूतियों की आड़ पर बैंक दर के अनुसार ऋण देने तक ही सीमित रहती है। नीति के परिवर्तन का यह परिणाम हुआ है कि (i) अब बैंक दर अधिक सप्रभाविक हो गई है, (ii) मुद्रा की पूर्ति में पहले से अधिक लोच आ गई है और (iii) साख नियन्त्रण की सप्रभाविकता बढ़ गई है। किन्तु इससे बैंकों की असुविधा बढ़ गई है।

(४) बिल बाजार योजना - देश में बिल बाजार का विकास करने के लिए सन् १९५१ और सन् १९५६ के बीच रिजर्व बैंक ने एक बिल बाजार योजना

लागू की थी। इस योजना और इसके परिणामों का सविस्तार वर्णन पीछे किया जा चुका है।

(५) अन्य उपाय—अन्य उपायों में रिजर्व बैंक के दृष्टिकोण से दो का महत्त्व अधिक है :—(१) प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct Action) और (२) साख का राशनिग (Rationing of Credit)। इन दिशाओं में सन् १९४९ के विधान ने रिजर्व बैंक को अधिकार दिए हैं। नये विधान के अनुसार रिजर्व बैंक अन्य बैंकों को किसी भी विशेष प्रकार की लेन-देन से रोक सकती है। उसे बैंक के निरीक्षण का अधिकार है। वह किसी भी बैंक के व्यवसाय को कुछ काल के लिए स्थगित कर सकती है। उसे यह भी अधिकार है कि किसी बैंक के विलय अथवा निस्तारण की सिफारिश करे। ये सब साख नियन्त्रण सम्बन्धी प्रत्यक्ष कार्यवाहियाँ हैं। साख राशनिंग के अन्तर्गत रिजर्व बैंक बैंकों की नीति निर्धारित कर सकती है और उन्हें कुछ विशेष प्रकार के ऋण देने या न देने के आदेश दे सकती है।

रिजर्व बैंक की विफलताएँ—

इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि रिजर्व बैंक की सफलताओं की सूची काफी लम्बी है और इधर कुछ समय से इस सूची का विस्तार और भी बढ़ता जा रहा है, परन्तु कुछ दशाओं में इसका कार्य अभी सन्तोषजनक नहीं रह पाया है। वास्तविकता यह है कि रिजर्व बैंक की सफलता बड़े अंश तक सरकार द्वारा यथासमय आवश्यक कार्यवाहियाँ कर देने पर निर्भर रही है। विफलता की प्रमुख दिशाएँ निम्न प्रकार हैं :—

प्रथम, रिजर्व बैंक अभी तक भी देश की देशी बैंकिंग प्रणाली से ऐसा सप्रभाविक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाई है जिससे कि लाभदायक फल प्राप्त हो सकें।

दूसरे, यद्यपि रिजर्व बैंक ने यथासमय सहायता देकर कितनी ही बैंकों को फेल होने से बचाया है, परन्तु यह अभी तक बैंकिंग संकटों को पूर्णतया दूर नहीं कर पाई है।

तीसरे, अभी तक भी रिजर्व बैंक भारतीय सम्मिलित पूँजी बैंकों को विदेशी विनिमय व्यवसाय में उनका समुचित हिस्सा प्रदान नहीं कर पाई है। यद्यपि विदेशों में कुछ शाखाएँ खुली हैं और कुछ प्रगति भी हुई है।

चौथे, रिजर्व बैंक भारतीय चलन के आन्तरिक मूल्य में स्थिरता स्थापित नहीं कर पाई है। भूतकाल में इसका कारण शायद यह रहा है कि विदेशी शासनकाल में रिजर्व बैंक को इतनी स्वतन्त्रता न थी। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् इस दिशा में अधिक सफलता प्राप्त हुई है।

पाँचवें, रिजर्व बैंक देश में समुचित बिल-बाजार के विकास में असमर्थ ही रही है। सन् १९५४ से कुछ सुविधाएँ अवश्य बढ़ा दी गई हैं।

छठे, भारतीय मुद्रा बाजार में प्रचलित ब्याज की दरों में भी बैंक को अनुरूपता स्थापित करने में कम सफलता मिली है।

निष्कर्ष—

इन सब विफलताओं के रहते हुए भी इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि रिजर्व बैंक की स्थापना ने देश में वित्तीय स्थिरता और बैंकिंग सुधार के एक नये युग का आरम्भ किया है। इसने संकट के दो भयंकर कालों, अर्थात् द्वितीय महायुद्ध काल तथा देश के विभाजन के समय देश की बैंकिंग प्रणाली की अनुपम सेवा की है। बैंक ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि आर्थिक नियोजन और ग्राम्य वित्त के दृष्टिकोण से इसकी सेवाओं का भारी महत्त्व है। दूसरी योजना के काल में १,२०० करोड़ रुपए के हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit Financing) और विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकताओं के कारण देश की अर्थव्यवस्था पर जो खिचाव पड़ेगा उसमें रिजर्व बैंक की उपयोगिता और भी स्पष्ट हो जायगी।

रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया (संशोधन) एक्ट सन् १९५६ (Reserve Bank of India (Amendment) Act, 1956)—

नोट निर्गमन पद्धति में परिवर्तन—

द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के लिए आवश्यक धन-राशि व्यवस्थित करते समय आयोजकों ने १,०००–१,२०० करोड़ रुपयों के हीनार्थ प्रबन्ध (Deficit Financing) का उल्लेख किया था। स्वभावतः रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया पर दायित्व आ गया कि वह उक्त राशि की व्यवस्था नोट निर्गमित करके करे और इस प्रकार जो साख प्रसार हो, उसके लिए भी उचित नियमन करे, अतः बैंक को इस दिशा में कुछ विशेषाधिकार सौंपने आवश्यक हुए और इसलिए रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया एक्ट में संशोधन करने पड़े। संशोधन इस प्रकार हैं :—

(१) बैंक अपने नोट-निर्गमन विभाग में विदेशी प्रतिभूतियाँ अब कम से कम ४०० करोड़ रुपए के मूल्य की रख सकेगी और यदि आवश्यक हुआ तो इसकी न्यूनातिन्यून राशि ३०० करोड़ रुपये भी की जा सकेगी। उस स्थिति में केन्द्रीय सरकार बैंक से दण्ड स्वरूप कोई कर नहीं वसूल करेगी।

(२) नोट-निर्गमन विभाग में सोना तथा सोने के सिक्के अब न्यूनातिन्यून ११५ करोड़ रुपए के मूल्य में रखे जा सकेंगे।

इस प्रकार बैंक द्वारा चलाए जाने वाले नोटों के लिए पत्र-मुद्रा कोष में अब कम से कम ४०० करोड़ रुपए के मूल्य की विदेशी प्रतिभूतियाँ तथा ११५ करोड़ रुपए का सोना व सोने के सिक्के रखना अनिवार्य होगा। कुल मिलाकर ५१५ करोड़ रुपए का न्यूनातिन्यून कोष नोट निर्गमन विभाग में रखा जा सकेगा।

स्मरण रहे कि अब तक हमारे देश में पत्र-मुद्रा का चलन अनुपातिक निधि पद्धति (Proportional Reserve Method) के अनुसार होता था, जिसके

अन्तर्गत निर्गमित नोटों के कुल मूल्य का ४०% विदेशी प्रतिभूतियें, सोना व सोने के सिक्कों में रखना अनिवार्य था तथा शेष के लिए चांदी व चाँदी के सिक्के व देशी बिल रखे जा सकते थे। इस संशोधन के द्वारा देश की अनुपातिक कोष प्रणाली को हटाकर उसके स्थान पर न्यूनातिन्यून कोष प्रणाली को अपना लिया गया है।

(३) अब तक नोट-निर्गमन विभाग में रक्षित सोने का मूल्य १ रुपया =८'४७५१२ ग्रेनस् (स्वर्ण) अर्थात् २१ रु० १३ आना १० पाई प्रति तोला की दर से लगाया जाता था। इस दर पर बैंक के पास अब ४०'०२ करोड़ रुपए के मूल्य का सोना था। संशोधन किया गया कि अब से बाद उक्त सोने का मूल्याङ्कन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा निर्धारित दर अर्थात् ३५ डालर प्रति औंस [१ रु० =२'८८ ग्रेनस् (स्वर्ण)] या ६२ रु० ८ आने प्रति तोले की दर से किया जायगा। इस दर पर बैंक के पत्र-मुद्रा कोष में स्थित सोने का मूल्य वर्तमान ४०'०२ करोड़ रुपए से बढ़कर ११५ करोड़ रुपए हो गया।

(४) रिजर्व बैंक को अधिकार मिला है कि वह अनुसूचित बैंकों द्वारा उसके पास जमा की जाने वाली राशि में बढ़ोत्तरी कर सकेगी। अब तक सभी तालिकाबद्ध बैंक अपनी-अपनी मांग-देनदारी का ५% और काल-देनदारी का २% रिजर्व बैंक के पास जमा रखती हैं। संशोधन के अनुसार रिजर्व बैंक अब तालिकाबद्ध बैंकों से उनकी माँग देनदारी का ५% से २०% तक और काल देनदारी का २% से ८% तक राशि जमा ले सकती है।

इस प्रकार रिजर्व बैंक को तालिकाबद्ध बैंकों की साख नीति का समुचित नियमन करने का विशेषाधिकार प्राप्त हो गया है।

(५) रिजर्व बैंक को यह भी अधिकार सौंप दिया गया है कि वह अपने राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन कोष) में से सहकारी बैंकों को ऋण दे सकेगी, ताकि वे सहकारी बैंक उस राशि को छोटे तथा मध्यम कृषकों को उधार दे सकें और फिर वे उससे सहकारी संस्थाओं के अंश खरीद सकें।

इस प्रकार रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया एक्ट में संशोधन करके देश की नोट-निर्गमन पद्धति में आमूल परिवर्तन कर दिया गया है। सोने के मूल्याङ्कन का आधार बदल दिया गया है तथा बैंक को साख नियन्त्रण का एक विशेषाधिकार भी सौंप दिया गया है।

रिजर्व बैंक और भारत की विदेशी विनिमय दर—

भारत की केन्द्रीय बैंक होने के नाते रिजर्व बैंक को भारतीय रुपए की विदेशी विनिमय दर का भी प्रबन्ध करना पड़ता है। ८ अप्रैल सन् १९४७ तक रिजर्व बैंक का यह वैधानिक उत्तरदायित्व था कि वह निश्चित दरों पर, यदि प्रस्तुत किया जाता है, असीमित मात्रा में स्टर्लिंग खरीदे और, यदि मांगा जाता है तो, स्टर्लिंग बेचे कारण यह था कि भारत में स्टर्लिंग विनिमय मान (Sterling Exchange

Standard) कार्यशील था और भारतीय रुपये का केवल स्टर्लिङ्ग के माध्यम द्वारा ही अन्य चलनों से सम्बन्ध स्थापित होता था। मुद्रा-कोष (I. M. F.) की सदस्यता के पश्चात् भारतीय रुपये का मुद्रा-कोष के सदस्य देशों के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो गया है। विनिमय दरें मुद्रा-कोष द्वारा निश्चित की जाती हैं और रिजर्व बैंक का यह कर्त्तव्य है कि इन विनिमय दरों को बनाये रखे। निश्चित दरों पर रिजर्व बैंक विदेशी मुद्राओं को खरीद कर अथवा बेचकर विनिमय दरों के स्थायित्व को बनाये रखने का प्रयत्न करती है। इस समय विभिन्न देशों की मुद्राओं में भारतीय रुपये की विनिमय दरें निम्न प्रकार हैं :—

भारतीय रुपये का मूल्य : विभिन्न देशों की मुद्राओं में—

देश	भारतीय मुद्रा	विदेशी मुद्रा
१. पाकिस्तान	१०० रु० ३५ न० पै०	१०० पाकिस्तानी रु०
२. लंका	१०० रु० ४५ न० पै०	१०० लंका के रु०
३. बर्मा	१०० रु० ३० न० पै०	१०० क्यात
४. अमेरिका	४७६ रु० ४१ न० पै०	१०० डालर
५. कनाडा	४९० रु० ४ न० पै०	१०० डालर
६. मलाया	१५६ रु० ५५ न० पै०	१०० डालर
७. हांगकांग	८२ रु० ९० न० पै०	१०० डालर
८. ब्रिटेन	१ रु०	१ शि० ५ ३१/३२ पेंस
९. न्यूजीलैण्ड	१ रु०	१ शि० ५ ३१/३२ पेंस
१०. आस्ट्रेलिया	१ रु०	१ शि० १० ५/१६ पेंस
११. दक्षिणी अफ्रीका	१ रु०	१ शि० ५ १५/१६ पेंस
१२. पूर्वी अफ्रीका	६७ रु० १३ न० पै०	१०० शि०
१३. मिस्र	१३ रु० ८१ न० पै०	१ पौंड
१४. फ्रांस	१०० रु०	१०२ १/२ हैवी फ्रांक
१५. बेलजियम	१०० रु०	१०४५ ३/३२ फ्रांक
१६. स्विटजरलैण्ड	१०० रु०	९० ३/८ फ्रांक
१७. पश्चिमी जर्मनी	१०० रु०	८७ ६/१६ मार्क
१८. नीदरलैण्ड	१०० रु०	७९ १/१६ गिल्डर
१९. नार्वे	१०० रु०	१४९ १७/३२ क्रोनर
२०. स्वीडन	१-० रु०	१०८ ७/१६ क्रोनर
२१. डेनमार्क	१०० रु०	१४४ ५/८ डेनमार्क क्रोनर
२२. इटली	१०० रु०	१२९९२ १/२ लीरा
२३. जापान	१ रु०	७५·३ यैन

२४. फिलिपाइन	२३८ रु० ७८ न० पै०	१०० पीसो
२५. ईराक	१,३३८ रु०	१०० दीनार

(ये विनिमय दरें फरवरी सन् १९५९ में भारतीय रिजर्व बैंक के अनुसार हैं।)

सन् १९५७ में रिजर्व बैंक एक्ट में संशोधन—

तीन संशोधन महत्त्वपूर्ण हैं :—(१) रिजर्व बैंक ऐसी संस्थाओं की पूंजी में अभिदान दे सकती है जो मध्यकालीन ऋण देंगी, (२) सन् १९४६ में जिन पत्र-मुद्राओं का विमुद्रीकरण किया गया था उनकी बिना भुनाई राशि के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक की देनदारी समाप्त कर दी गई है, और (३) रिजर्व बैंक की धारा ४२ में संशोधन किया गया है और बैंक की दूसरी सूची में कुछ नई संस्थायें शामिल की गई हैं।

QUESTIONS

1. रिजर्व बैंक एक्ट पर आलोचनात्मक टिप्पणी दीजिए। सन् १९५६ के रिजर्व बैंक संशोधन एक्ट के क्या उद्देश्य हैं ? (Agra, B. A., 1957 Supp.)
2. रिजर्व बैंक के कार्यों पर प्रकाश डालिए। (Alld, B. A., 1957)
3. What part does the Reserve Bank of India play in the banking system of this country? How does it control currency and credit ? (Agra, B. Com., 1956)
4. भारतीय रिजर्व बैंक के कार्यों की विवेचना कीजिए। (Alld., B. A., 1956)
5. What is credit? How does the Reserve Bank of India control it. (Alld., B. A., 1954)
6. How does the Reserve Bank of India control and regulate the supply of currency and credit. (Raj., B. Com., 1957)
7. Describe the central banking functions of the Reserve Bank of India. How does it control the volume of currency and credit in the country and maintain the exchange value of the ruppe ? (Agra, B. Com., 1955 Supp.)
8. How does the Reserve Bank of India control and regulate the supply of currency and credit ? Indicate your answer in the light of the recent ordinance. (Raj, B. Com., 1958)
9. Explain briefly the constitution and functions of the Reserve

Bank of India. How does it exercise control over currency and credit in the country? (Agra, B. Com., 1954)

10. Give a critical estimate of the working of the Reserve Bank of India during the last decade of its working. (Raj., B. Com., 1955)

11. Write short notes on: Open Market Operations of the Reserve Bank of India. (Agra, B. Com., 1957)

    Agricultural Credit Department of the Reserve Bank. (Agra, B. Com., 1955)

    Nationalisation of the Reserve Bank of India. (Raj., B. Com., 1954)

    Rebate on Bills discounted. (Agra, B Com., 1954)

12. Indicate the chief defects in the working of the Reserve Bank of India and suggest methods of over-coming them. (Raj., B. Com., 1951)

अध्याय ३५

समाशोधन-गृह अथवा निकासी गृह

(The Clearing Houses)

अर्थ—

समाशोधन-गृह ऐसी संस्था अथवा संगठन है जो बैंकों को पारस्परिक भुगतान की सुविधा प्रदान करती है। टाउजिग के शब्दों में—"समाशोधन-गृह किसी एक स्थान की बैंकों का एक सामान्य संगठन है, जिसका आधारभूत उद्देश्य धनादेशों द्वारा निर्मित पारस्परिक दायित्त्वों का प्रतिसाद अथवा भुगतान करना होता है।"* यह साधारणतया एक महान् बैङ्क होती है, जो विभिन्न बैङ्कों की लेन-देन का इस प्रकार हिसाब करती है कि पारस्परिक लेन-देन की चुकती कम से कम नकदी देकर केवल खातों में आवश्यक परिवर्तन करके ही की जा सके।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से समाशोधन-गृहों का आरम्भ सर्वप्रथम इङ्गलैंड में हुआ था, क्योंकि उस देश में धनादेशों द्वारा भुगतान करने की प्रथा अधिक लम्बे काल से महत्त्वपूर्ण रही है। सबसे पहला समाशोधन-गृह लन्दन में सन् १७७५ ई० में स्थापित किया गया था। अमरीका में यह संस्था सर्वप्रथम सन् १८५३ में खोली गई थी और धनादेशों के उपयोग के बढ़ने के साथ-साथ इसका महत्त्व और विस्तार बराबर बढ़ते गये हैं। समाशोधन-गृहों की स्थापना देश की बैङ्किग प्रणाली की एक भारी कमी को पूरा करती है। धनादेशों के उपयोग की विस्तृत सामान्य प्रथा न होने के कारण भारत में ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता काफी देर में अनुभव हुई है, क्योंकि यहाँ बैङ्किग प्रणाली का विकास ही देर में हुआ है और धनादेश का उपयोग अभी तक भी बहुत कम है, परन्तु सन् १९२० में इम्पीरियल बैङ्क ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई, जिसने देश की अधिकोष प्रणाली को एक समुचित आधार प्रदान कर दिया। कलकत्ता बम्बई, दिल्ली और मद्रास में समाशोधन-गृह स्थापित हुए, जो इम्पीरियल बैङ्क के निरीक्षण में कार्य करने लगे। सदस्य बैङ्कों का पारस्परिक भुगतान इम्पीरियल बैङ्क की स्थानीय शाखाओं पर लिखे हुए धनादेशों द्वारा होने लगा। रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् सन् १९३५ से अनुसूचित बेंकों को रिजर्व बैंक में अपने खाते खोलने पड़े और उनका पारस्परिक भुगतान इन खातों पर लिखे हुए धनादेशों द्वारा होने लगा। साथ ही, रिजर्व बैङ्क को यह भी अधिकार दिया गया कि वह समाशोधन गृहों के समुचित कार्य-

* "Clearing House is a general organisation of banks of a given place having for its main purpose the off-setting of cross obligations in the form of cheques."—Taussig.

वाहन के लिए नियम बनाये। रिजर्व बैंक इन गृहों की व्यवस्था करती है, यद्यपि उनके सम्बन्ध में समुचित विधान अभी तक भी नहीं बन पाया है। इस समय भारत में कुल २७ समाशोधन-गृह हैं।

समाशोधन-गृह की कार्य प्रणाली—

समाशोधन-गृहों के सदस्यों में बहुत सी बैंक होती हैं, जिन्हें समाशोधन बैंक (Clearing Banks) कहा जाता है। एक निश्चित समय पर प्रति दिन प्रत्येक सदस्य बैंक के लिपिक (Clerk) समाशोधन-गृह में एकत्रित होते हैं। समाशोधन-गृह में एक विशेष प्रकार के प्रपत्रों पर प्रत्येक सदस्य बैंक का प्रतिनिधि बैंक विशेष की लेन-देन का हिसाब बनाता है। तैयार किये हुए प्रपत्रों को वहिर्पुस्त (Out Book) तथा उन्हें तैयार करने वाले लिपिकों को वहिर्शोधक (Out Clearers) कहा जाता है, परन्तु उपरोक्त प्रपत्रों के अतिरिक्त 'अन्तर्पुस्त' (In Book) भी होती है और उनसे सम्बन्धित अन्तर्शोधक (In Clearers) भी होते हैं। समाशोधन गृह के अन्य कर्मचारियों में संधावक (Runners) भी होते हैं। इनका कार्य प्रत्येक बैंक के छँटे हुए धनादेशों को लाना तथा उनका वर्गीकरण करके यथास्थान रखना होता है। वहिर्पुस्त तथा अन्तर्पुस्त की लिखाई के पश्चात् दोनों की तुलना करके प्रत्येक बैंक का लेन-देन निकाली जाती है। इस लेन-देन का ब्यौरा विशेष छपे हुए प्रपत्रों पर लिखा जाता है और इनमें सदस्य बैंक की समस्त लेन-देन को सविस्तार दिखाया जाता है। इस विस्तृत लेखे से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक बैंक को कितना लेना-देना है। भुगतान को विधि यही होती है कि जिस बैंक को देना है वह लेने वाली बैंक के नाम अपने केन्द्रीय बैंक के समाशोधन-गृह पर देन राशि का धनादेश लिखती है और फलस्वरूप सदस्य बैंकों के समाशोधन-गृह खातों में आवश्यक समायोजन हो जाते हैं। इस प्रकार दिन के अन्त में प्रत्येक बैंक के समाशोधन-गृह लेखे की लेन-देन सन्तुलित हो जाती है और सदस्य बैंक में से एक-दूसरे पर कुछ भी शेष नहीं रहता है। समाशोधन-गृह एक बैंक से प्राप्त राशि दूसरे को चुकती दे देता है। वास्तविकता यह है कि समाशोधन-गृह प्रणाली व्यक्तिगत व्यवहार के स्थान पर सामूहिक व्यवहार प्रणाली को प्रतिपादित करती है। नीचे की तालिका में यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि समाशोधन-गृह किस प्रकार विभिन्न बैंकों की लेन-देन को छाँटता है :—

सदस्य बैंक	कुल देन	कुल देन			
		क	ख	ग	घ
क	५०,०००	२०,०००	२५,०००	१०,०००	१५,०००
ख	४०,०००	५,०००	१५,०००	४,०००	३,०००
ग	३०,०००	१५,०००	६,०००	११,०००	४,०००
घ	२०,०००	४,०००	१२,०००	७,०००	—
कुल	१,४०,०००	४४,०००	६१,०००	३२,०००	२२,०००

इस तालिका से प्रत्येक सदस्य बैंक की लेन-देन साफ साफ अलग-अलग दिखाई पड़ जाती है।

समाशोधन-गृह के लाभ—

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, समाशोधन-गृह बैंकिंग प्रणाली की एक महान् आवश्यकता को पूरा करते हैं। उनके प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—

(१) बैंकों के पारस्परिक भुगतान में सरलता—सभी सदस्य बैंकों की लेन-देन का भुगतान व्यक्तिगत रूप से न होकर सामुदायिक अथवा सामूहिक रूप में होता है, जिसके कारण पारस्परिक भुगतान शीघ्रतापूर्वक तथा सुविधाजनक रीति से हो जाते हैं। समाशोधन-गृह की सेवाओं का लाभ केवल सदस्य बैंकों को ही नहीं, वरन् अन्य बैंकों को भी प्राप्त होता है। ऐसी दशा में सेवायें प्रदान करने के लिए गैर-सदस्य बैंकों से शुल्क लिया जाता है।

(२) मुद्रा के उपयोग में मितव्ययिता—सभी सदस्य बैंकों के पारस्परिक दायित्वों का आपसी निबटारा होने के कारण एक बैंक पर लिखे गए तथा दूसरी बैंक में जमा किए गए सभी चैकों का भुगतान नकदी में करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। केवल लेन और देन के अन्तर का ही इस प्रकार भुगतान आवश्यक होता है। अन्तर का भुगतान भी बैंक विशेष की केन्द्रीय बैंक में जमा की हुई राशि पर धनादेश लिखकर किया जा सकता है। इस प्रकार नकदी के उपयोग में बचत होती है।

(३) नकद कोष कम रखने की सुविधा—समाशोधन-गृहों की स्थापना के कारण बैंकों को नकद कोष कम मात्रा में रखने पड़ते हैं और वे अधिक मात्रा में साख का निर्माण कर सकती हैं। इस प्रकार इनके द्वारा देश के व्यापार, वाणिज्य तथा उद्योग की उन्नति होती है।

भारतीय समाशोधन-गृह—

भारतीय समाशोधन-गृह स्वतन्त्र रूप में कार्य करते हैं और उनके नियम भी स्वतन्त्र हैं। सभी प्रकार की अनुसूचित बैंक (Scheduled Banks) इनकी सदस्य होती हैं। नई सदस्यता प्रस्तुत सदस्यों के $\frac{3}{4}$ बहुमत से ही प्रदान की जाती है और इसे प्रदान करने से पूर्व प्रार्थी बैंक के स्थिति-विवरण की सावधानीपूर्वक और सविस्तार जाँच की जाती है। कुछ समाशोधन-गृहों की सदस्यता प्राप्त करने के लिए परिदत्त पूँजी की एक न्यूनतम् सीमा भी रखी जाती है। कलकत्ते और बम्बई के समाशोधन-गृहों की सदस्यता प्राप्त करने के लिए प्रार्थी बैंक के पास कम से कम ५ लाख रुपये की परिदत्त पूँजी होनी चाहिए। इससे कम पूँजी वाली बैंक सदस्यों की सिफारिश पर केवल उप-सदस्य ही बनाई जा सकती हैं और उनकी गारन्टी उनकी सिफारिश करने वाले सदस्य को देनी पड़ती है। सिफारिश करने वाली बैंकों को प्रवेशक बैंक (Sponsorer Bank) कहा जाता है। भारत में विभिन्न स्थानों के समाशोधन-गृहों की सदस्यता सम्बन्धी नियमों में काफी अन्तर होते हैं।

समाशोधन-गृहों का प्रबन्ध व्यवस्थापक समितियों (Management Committees) द्वारा किया जाता है, जिसमें रिजर्व बैंक और स्टेट बैंक की स्थानीय शाखाओं का एक-एक प्रतिनिधि होता है और अन्य सदस्यों के निर्वाचित प्रतिनिधि रहते हैं। इन गृहों का निरीक्षण रिजर्व बैंक की स्थानीय शाखा द्वारा किया जाता है और प्रत्येक सदस्य को इस प्रकार की निरीक्षक बैंक के पास एक निश्चित राशि जमा करनी पड़ती है, जिस पर धनादेश लिखकर पारस्परिक भुगतान चुकाये जाते हैं। जिन स्थानों पर समाशोधन-गृह नहीं हैं वहाँ उनका कार्य स्टेट बैंक करती है। ऐसे गृह कलकत्ते और बम्बई में काफी उन्नति कर चुके हैं। कलकत्ते में दो समाशोधन-गृह हैं—एक कलकत्ता समाशोधन बैंक-संघ (Calcutta Clearing Banks Association) और दूसरा मेट्रोपोलिटन समाशोधन-गृह। प्रथम गृह केवल उन बड़ी-बड़ी बैंकों को ही पारस्परिक भुगतान सुविधायें प्रदान करता है जिनकी परिदत्त पूँजी १० लाख रुपया अथवा उसके ऊपर है। दूसरा गृह सन् १९३९ से कार्यशील है और उन बैंकों द्वारा खोला गया है जो अनुसूचित बैंक नहीं हैं। इसके अतिरिक्त कलकत्ते में पिछले १०-१२ वर्षों से एक और भी समाशोधन प्रणाली प्रचलित है, जिसे हम अग्रगामी समाशोधन प्रणाली (Pioneer Clearing System) कहते हैं, जिसमें पारस्परिक भुगतानों को समझौतों द्वारा चुकाया जाता है। वास्तविकता यह है कि भारत में समाशोधन-गृहों की कार्य विधि में किसी प्रकार की अनुरूपता नहीं है और उनके सम्बन्ध में कोई समुचित विधान भी नहीं है।

इस समय भारत में निम्न स्थानों पर समाशोधन-गृह स्थापित हो चुके हैं:—

बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, कानपुर, मद्रास, अहमदाबाद, अमृतसर, कोयम्बटूर, कोझीकर, लखनऊ, बंगलौर, मदुरा, नागपुर, शिमला, पटना, इलाहाबाद, मंगलौर, जालन्धर, आगरा, देहरादून, अम्रैला, राजकोट, गया, पूना, नई दिल्ली और मुजफ्फरपुर।

भारत के समाशोधन-गृह स्वतन्त्र रूप में कार्य करते हैं और उनके नियम भी स्वतन्त्र हैं। विनिमय बैंकों, अनुसूचित संयुक्त स्कन्ध बैंकों को समाशोधन-गृहों की सदस्यता प्राप्त होती है। अन्य बैंक सदस्यों के ¾ बहुमत की सिफारिश पर सदस्य बनाई जा सकती है, यदि वह पूँजी सम्बन्धी नियमों को पूरा करती है। सदस्यता प्रदान करने से पहले प्रार्थी बैंक के स्थिति-विवरण की विशेषज्ञों द्वारा जाँच करा ली जाती है। पूँजी सम्बन्धी शर्तें अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग है। कलकत्ते और बम्बई के समाशोधन-गृह ५ या १० लाख रुपये की चुकती पूँजी पर अनुरोध करते हैं। इससे कम पूँजी वाली बैंक सदस्य बैंकों की सिफारिश पर केवल उप-सदस्य बनाई जा सकती हैं।

प्रबन्ध—

प्रत्येक समाशोधन-गृह का प्रबन्ध एक प्रबन्ध समिति करती है, जिसमें रिजर्व बैंक तथा स्टेट बैंक की स्थानीय शाखा का एक-एक सदस्य होता है और अन्य सदस्य

बैंकों के निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं। नवीन सदस्यों के प्रवेश की आज्ञा यह प्रबन्ध समिति ही देती है। समाशोधन-गृहों का निरीक्षण रिजर्व बैंक करती है, यदि उसकी वहाँ शाखा है, अन्यथा यह कार्य स्टेट बैंक द्वारा किया जाता है। प्रत्येक सदस्य बैंक को समाशोधन-गृह के संचालन के लिए निरीक्षक बैंक के पास एक निश्चित राशि जमा करनी होती है, जिस पर समाशोधन-गृह के धनादेश आदि लिखकर भुगतान किया जाता है। जिन स्थानों पर समाशोधन-गृह नहीं है वहाँ पारस्परिक भुगतान स्टेट बैंक के माध्यम से धनादेशों द्वारा किया जाता है। समाशोधन-गृहों के लिए लिपिकों की पूर्ति स्टेट बैंक तथा रिजर्व बैंक द्वारा की जाती है।

भारतीय समाशोधन-गृह प्रणाली के दोष—

यह कहना अनुचित न होगा कि भारत में अभी तक भी बैंकों की पारस्परिक लेन-देन के भुगतान को सुलझाने की व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं है। इसके प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) बाह्य धनादेश का भुगतान प्राप्त करने में कठिनाई—वर्तमान व्यवस्था में ऐसे भुगतान केवल स्थानीय धनादेशों के सम्बन्ध में निबटाये जा सकते हैं। बाहर के स्थानों के धनादेशों का भुगतान स्थानीय रूप में प्राप्त नहीं हो पाता है, जिसके कारण अनावश्यक विलम्ब और व्यय होता है तथा इस प्रणाली में असुविधा भी काफी रहती है।

(२) समाशोधन-गृहों की कमी—ऐसे अनेक बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्र हैं जहाँ पर काफी बैंकों के रहते हुए भी अभी तक समाशोधन-गृह स्थापित नहीं हो पाये हैं। इससे व्यापारिक उन्नति में भारी बाधा पड़ती है।

(३) नियमों में अन्तर—देश के विभिन्न स्थानों के समाशोधन-गृहों के नियमों तथा उनकी कार्य-प्रणालियों में भी भारी अन्तर है, जिसके कारण बहुधा काफी उलझन उत्पन्न होती है।

(४) सदस्यता के कड़े नियम—देश में समाशोधन-गृहों की सदस्यता के नियम बहुत कड़े हैं, जिसके कारण बहुत सी अच्छी बैंकों को भी उनकी सदस्यता का अवसर नहीं मिल पाता है।

(५) रिजर्व बैंक की उपेक्षा—हम यह भी कह सकते हैं कि समाशोधन-गृहों के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक ने अपने वैधानिक उत्तरदायित्व को भली-भाँति निभाने का प्रयत्न नहीं किया है। इस दिशा में अभी बहुत कुछ करना शेष है।

QUESTIONS

1. What is a clearing house? Describe its mechanism and

operation and point out its advantage to the banker and the community. (Agra, B. Com., 1945)

2. Describe the working of the Clearing House System and point out its advantages. Will the growing popularity of the clearing house, other things being equal, lead to the expansion or contraction money ? (Nag., B. Com., 1945)

3. Write a note :—
The Clearing House System. (Agra, B. A., 1955 & 1954 ; Raj., B, A., 1955 ; Raj., B. Com., 1955 & 1954 ; Sagar, B. A., 1958 & 1957)

4. नोट लिखिए—समाशोधन गृह (Clearing House)
(Sagar, B. Com., 1957)

अध्याय ३६

भारत में मिश्रित पूँजी बैंक

(Joint-Stock Banks in India)

इतिहास—

भारत में व्यापारिक बैंकों का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के समय देश में आधुनिक प्रकार की बैंकिंग संस्थायें नहीं थीं। सबसे पहले देश में कुछ एजेन्सी गृह स्थापित किए गए थे, जो देशी व्यापार के अर्थ-प्रबन्ध के साथ-साथ कुछ प्रकार के बैंकिंग कार्य भी करते थे। सन् १८३० के बाद धीरे-धीरे ये संस्थायें समाप्त हो गईं, क्योंकि इनका कार्यवाहन लगभग कभी भी सन्तोषजनक नहीं रहा था। एजेन्सी गृह साधारणतया कलकत्ता और उसके आस-पास खोले गये थे। सन् १७९२ में इनकी संख्या १६ थी, जो सन् १८३४ तक ५० हो गई थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी से व्यापार का एकाधिकार छिन जाने के पश्चात् इनकी आर्थिक दशा काफी खराब हो गई थी। सन् १८३० के पश्चात् कुछ व्यापारिक बैंक भी खुली थीं, परन्तु इनकी संख्या बहुत कम थी। व्यापारिक बैंक मिश्रित पूँजी आधार पर खोली गई थीं, इसलिए व्यापारिक बैंकों का अध्ययन हम मिश्रित पूँजी बैंक शीर्षक के ही अन्तर्गत करेंगे।

इस प्रकार की बैंकों के खुलने का आरम्भ प्रेसीडेण्सी बैंकों के खुलने से हुआ। सन् १८०६ में 'बैंक ऑफ बङ्गाल', सन् १८४० में 'बैंक ऑफ बम्बई' और सन् १८४३ में 'बैंक ऑफ मद्रास' की स्थापना हुई। सन् १८२३ से इन प्रेसीडेन्सी बैंकों को पत्र-मुद्रा नोट निकालने का अधिकार दिया गया था, जो सन् १८६२ में समाप्त कर दिया। सन् १८६० के आस-पास वास्तविक अर्थ में भारत में मिश्रित पूँजी आधार पर व्यापारिक बैंक खुलनी आरम्भ हुईं। सन् १८६३ में 'अपर इण्डिया बैंक' तथा सन् १८६५ में 'इलाहाबाद बैंक' स्थापित हुईं। सन् १८६८ तक बैंकों की संख्या २५ तक पहुँच गई, परन्तु सन् १९०० तक बैंकिंग विकास की प्रगति धीमी रही। इसके कई कारण थे—प्रथम, अमरीकन गृह युद्ध के कारण सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिला था और बैंकों ने सट्टेबाजी में भाग लेकर अपने व्यवसाय को चौपट कर लिया था। दूसरे, इस काल में विनिमय दर की घोर अस्थिरता के कारण प्रगति में बाधा पड़ी थी। बहुत सी बैंक ठप्प हो गई थीं और सन् १८९४ तक मिश्रित पूँजी बैंकों की संख्या घटकर केवल ६४ रह गई थी, परन्तु इसी काल में तीन बड़ी-बड़ी बैंक स्थापित हुईं—सन् १८७४ में 'एलायन्स बैंक', सन् १८८१ में 'अवध कॉमर्शियल बैंक' और सन् १८९४ में 'पंजाब

नैशनल बैंक'। ये सब मिश्रित पूँजी बैंक थीं और इनमें से 'अवध कॉमर्शियल बैंक' पूर्णतया भारतीय बैंक थी।

बीसवीं शताब्दी का आरम्भ होते ही बैंक तेजी के साथ खुलने लगीं। सन् १९०५ के स्वदेशी आन्दोलन ने तो भारतीय मिश्रित पूँजी बैंकों की स्थापना को बहुत ही प्रोत्साहन दिया और पश्चिमी-भारत, पंजाब और उत्तर-प्रदेश में तो बैंकों की बाढ़-सी आ गई। सन् १९०५ और सन् १९१३ के बीच ऐसी बैंकों के निक्षेपों में ११ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। प्रथम महायुद्ध का आरम्भ होते ही कितनी ही और बैंक खोली गईं, परन्तु अधिकांश बैंक युद्ध का आघात न सह सकीं और युद्ध का अन्त होने से पहले ही समाप्त हो गईं। सन् १९१३ और सन् १९१७ के बीच ही ९५ बैंक फेल हो गईं और युद्धोत्तरकालीन मन्दी ने तो हालत और भी खराब कर दी। सन् १९१७ और सन् १९२४ के बीच ६६ बैंक और बैठ गईं। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि सन् १९१३-३६ के बीच के काल में कुल मिलकर ४८१ बैंक फेल हो गई थीं। सन् १९३९ में दूसरे महायुद्ध के आरम्भ ने बैंकों की स्थापना और पुरानी बैंकों द्वारा शाखा खोलने के क्रम को फिर प्रोत्साहन दिया, परन्तु युद्ध का अन्त होने पर देश के विभाजन के कारण पंजाब और बंगाल की बहुत सी बैंक ठप्प हो गईं।

मिश्रित पूँजी (व्यापारिक) बैंकों के कार्य—

एक व्यापारिक बैंक एक साधारण बैंक के लगभग सभी प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करती है। इनके प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) निश्चितकालीन, चालू अथवा सेविंग बैंक निक्षेपों का स्वीकार करना। इन निक्षेपों पर साधारणतया ब्याज दिया जाता है।

(२) देशी व्यापार से सम्बन्धित विनिमय बिलों का भुनाना, स्वीकार करना, खरीदना और बेचना।

(३) देश के आयात-निर्यात व्यापार के अर्थ-प्रबन्ध में सहायता देना।

(४) अंशों, समुचित प्रतिभूतियों, कृषि उपज और तैयार तथा अर्द्ध तैयार माल की जमानत पर ऋण देना।

(५) व्यक्तिगत जमानत तथा प्रतिज्ञा-पत्रों पर ऋण देना।

(६) नकद साख तथा अधि-विकर्ष की सुविधाएँ प्रदान करना।

(७) विप्रेषों का भेजना, धन का एक स्थान से दूसरे स्थान को हस्तान्तरण करना और कमीशन के आधार पर बहुमूल्य वस्तुओं का संरक्षण करना।

(८) ग्राहकों के अभिकर्त्ता के रूप में कार्य करना।

(९) बैंकिंग व्यवसाय सम्बन्धी विभिन्न प्रकार की सेवाएँ सम्पन्न करना।

(१०) अपने ग्राहकों की आर्थिक स्थिति का संदर्भ (Reference) देना और उसकी अन्य बैंकों को गुप्त सूचना देना।

व्यापारिक वैंकों के प्रकार—

भारतीय व्यापारिक वैंकों को चार भागों में बाँटा जा सकता है—(१) वे जिनकी पूँजी और सुरक्षित कोष मिला कर ५०,००० रुपये से कम है, (२) वे जिनकी पूँजी और सुरक्षित कोष ५० हजार और १ लाख रुपये के भीतर है, (३) वे जिनकी इस प्रकार की पूँजी १ लाख तथा ५ लाख रुपये के भीतर है और (४) वे जिनकी पूँजी ५ लाख रुपये से ऊपर है। प्रथम प्रकार की बैंक सन् १९३६ से पहले स्थापित हुई थीं। नवीन कम्पनी एक्ट के अनुसार अब ५०,००० रुपये से कम पूँजी वाली बैंक नहीं खोली जा सकती है। इनकी संख्या सन् १९४५ में १४८ थी, जो बराबर घट रही है। इनमें से अधिकाँश की आर्थिक स्थिति भी इतनी कमजोर है कि उन्हें बैंक कहना उचित न होगा। ऐसी वैंकों को रिजर्व वैंक की भी सदस्यता प्राप्त नहीं है। सन् १९५४ में उनकी संख्या घट कर ८९ रह गई थी।

परिगणित वैंक (Scheduled Banks) अथवा अनुसूचित वैंक और अपरिगणित वैंक (Non-Scheduled Banks)—

देश की व्यापारिक बैंकों पर रिजर्व बैंक का नियन्त्रण रहता है। नियन्त्रण की सरलता के लिए ऐसी बेंकों को परिगणित और अपरिगणित वर्गों में बाँट दिया गया है। ऐसी वैंकों को जिनकी परिदत्त पूँजी और सुरक्षित कोष मिलाकर ५ लाख रुपया या इससे अधिक है, रिजर्व बैंक की दूसरी सूची (Second Schedule) में सम्मिलित कर दिया गया है और इसी कारण इन्हें परिगणित वैंक कहा जाता है। ऐसी बैकों को अपनी तत्कालीन देन (Demand Liability) का ५% और समय देन (Time Liability) का २% रिजर्व बैंक के पास रखना पड़ता है, जिसमें सन् १९५६ में वृद्धि कर दी गई है। ऐसी बैंकों के लिए प्रति सप्ताह रिजर्व बैंक के पास रिपोर्ट भेजना आवश्यक है। जमा की राशि में कमी हो जाने अथवा समय पर रिपोर्ट न भेजने की दशा में रिजर्व बैंक इनसे जुर्माना वसूल करती है। इन प्रतिबन्धों के साथ-साथ रिजर्व बैक ने इन्हें कुछ विशेष सुविधाएँ दे रखी हैं। आवश्यकता पड़ने पर ये समुचित प्रतिभूति देकर रिजर्व बैक से ऋण प्राप्त कर सकती हैं अथवा अपनी खरीदी और भुनाई हुई हुण्डियों को फिर से भुना सकती हैं। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक इनसे ऐसे प्रतिज्ञा-पत्रों और विनिमय बिलों को खरीद लेती है जिनकी परिपक्वता अवधि ९० दिन से अधिक नहीं है। रिजर्व बैंक ऐसी बैंकों के रुपये को एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँचाने की भी सुविधा देती है।

उन वैंकों को भी जिन्हें रिजर्व बैंक की दूसरी सूची में सम्मिलित नहीं किया जाता है, रिजर्व बैंक कुछ प्रकार की सुविधाएँ देती है। यदि कोई बैंक रिजर्व बैंक में कम से कम १० हजार रुपया जमा करके खाता खोलती है तो इसे अपरिगणित बैंक कहा जाता है। ऐसी बैंकों को भी कुछ निर्धारित सुविधाएँ दी जाती हैं।

•]

व्यापारिक बैंकों के ऋण—

इन बैंकों के ऋण प्रदान करने की रीति सरल होती है। ऋण लेने वाले से एक प्रतिज्ञा-पत्र लिखवा लिया जाता है और समुचित जमानत लेकर ऋण दे दिया जाता है। नकदी में ऋण देने की प्रथा नहीं है, बल्कि ऋण की राशि के लिये ऋणी के नाम खाता खोल दिया जाता है, जिसमें से वह चैक द्वारा रुपया निकालता रहता है। चालू खाते के निक्षेपधारियों को अधि-विकर्ष की भी सुविधाएँ दी जाती हैं। ऋण की शोधनावधि साधारणतया कम रखी जाती है। व्यापारिक बैंक दीर्घकालीन ऋण बहुत ही कम देती हैं। अल्पकालीन ऋणों में तरलता अधिक होती है, ब्याज की दर ऊँची रहती है और रुपया जल्दी-जल्दी वसूल होता रहता है, जिससे कि धन की कमी मालूम नहीं होती है। वैसे भी व्यापारिक बैंकों की अधिकांश जमा चालू खाते की जमा होती है, जिसके आधार पर अल्पकालीन ऋणों का दान देना ही अधिक उपयुक्त होता है।

जहाँ तक जमानतों का प्रश्न है, व्यापारिक बैंक तरल जमानत ही अधिक पसन्द करती हैं। भूमि, मकान तथा अन्य अचल सम्पत्तियों की जमानत साधारणतया अच्छी नहीं समझी जाती है। यह प्रसिद्ध है कि एक कुशल बैंकर वही है जो विनिमय बिल तथा प्राधि (Mortgage) का भेद स्पष्टता के साथ जानता है। बात यह है कि अचल सम्पत्ति को बेच कर धन प्राप्त करने में भारी कठिनाई होती है और यथासमय धन प्राप्त कर लेना कठिन होता है, जिससे बैंक के डूब जाने का भय रहता है। इसी कारण वे प्रतिभूतियाँ पसन्द की जाती हैं जो तुरन्त बिक्री साध्य होती हैं।

भारतीय व्यापारिक बैंक सावधि जमा को प्राप्त करने का विशेष प्रयत्न करती हैं, जिसके लिए ऐसी जमा पर अधिक ब्याज दिया जाता है। चालू खाते में जमा रुपए पर साधारणतया या तो नाम-मात्र ब्याज दिया जाता है या बिना ब्याज की जमा स्वीकार की जाती है। विनियोग के दृष्टिकोण से सरकारी हुण्डियाँ अधिक पसन्द की जाती हैं, जिसका प्रमुख कारण बिल व्यवसाय की कमी है।

भारत में व्यापारिक बैंकों के विकास की शिथिलता के कारण—

भारत में बैंकिंग का विकास अभी बहुत पीछे है। प्रत्येक २,७६,००० व्यक्तियों के पीछे एक बैंक है, जबकि इङ्गलैण्ड में प्रत्येक ३,९०० और स्विटजरलैन्ड में १,३३३ व्यक्तियों के पीछे एक बैंक है। बैंकिंग विकास की इस धीमी प्रगति के कारण निम्न प्रकार हैं :—

(१) भारत में बचत कम हो पाती है, क्योंकि लोगों की आय कम है, परन्तु बचत को जमीन में गाढ़ कर रखने का रिवाज भी काफी अधिक है। परिणाम यह होता है कि बैंकों में कम रुपया जमा हो पाता है।

(२) सन् १९०५ और सन् १९३६ के बीच बैंक नियमित रूप में भारी संख्या मे फेल हुई हैं, जिसने जनता के विश्वास पर गहरा आघात किया है।

(३) धीमी प्रगति का एक कारण बैंकिग शिक्षण का अभाव है । इसके कारण लाभ कम होते हैं और जनता के विश्वास में बैंकों के फेल होते रहने के कारण कमी आ जाती है ।

(४) भारत सरकार ने बैंकिंग के प्रोत्साहन का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया है ।

(५) भारत का विदेशी व्यापार अधिकतर विदेशियों के हाथ में रहा है, जिन्होंने भारतीय बैंकिंग के साथ अनुचित व्यवहार किया है और उनके विकास में बाधा डाली है।

(६) विदेशी विनिमय बैंकों ने, जो विदेशी संस्थाएँ हैं, भारतीय बैंकों के साथ देशी व्यापार, साधारण बैंकिंग तथा निक्षेप प्राप्ति में भी प्रतियोगिता की है, जिससे व्यवसाय की कमी रहती आई है।

(७) बैंकिंग के प्रति जनता की उदासीनता रही है, जिसके कारण अधिकाँश बैंकों के पास पूँजी की कमी रही है । इसी कमी के कारण न तो बैंकिंग व्यवसाय लाभदायक ही रहा है और न उसमें कुशलता तथा संकटों के आघात सहने की शक्ति ही आई है ।

(८) व्यापारिक बैंकों का उद्देश्य ऊँचे लाभांश बाँट कर अंशधारियों को सन्तुष्ट करना रहा है । इन्होंने सुरक्षित कोष जमा करके अपनी स्थिति को दृढ़ करने का प्रयत्न कम ही किया है ।

(९) अँग्रेजी भाषा के उपयोग तथा पाश्चात्य लेखा-विधि के कारण देशी व्यवसायियों से बहुत निकट सम्बन्ध नहीं बन पाया है । यही कारण है कि देशी बैंकरों की भी प्रतियोगिता बराबर बनी रही है ।

(१०) अधिकांश दशाओं में ऊँचे पदों पर विदेशियों को रखने की प्रथा चलती आई है । ये लोग न तो देशी व्यापारियों से निकट सम्बन्ध ही स्थापित कर सके हैं, न उनका विश्वास ही प्राप्त कर सके हैं।

(११) इम्पीरियल बैंक की प्रतियोगिता ने अन्य बैंकों को पनपने का मौका कम ही दिया है । यह दोष अब स्टेट बैंक के निर्माण ने दूर कर दिया है ।

(१२) पूर्व विकसित बिल बाजार के न होने के कारण बैंकिंग के विकास में बाधा पड़ी है, क्योंकि सुरक्षित विनियोग के साधन कम रहे हैं ।

(१३) बैंकों की शाखाओं की कमी के कारण जोखिम का प्रादेशिक वितरण नहीं हो पाया है और जनता में बैंकिंग आदत भी पैदा नहीं हो सकी है ।

(१४) वैधानिक प्रतिबन्ध कुछ इस प्रकार के रहे हैं कि बैंकों को धन वसूल करने में भारी कठिनाई रही है। अचल सम्पत्ति की आड़ पर ऋण देने में तो झंझट बहुत ही रहता है । इसने ऋण व्यवसाय के समुचित विकास में बाधा डाली है ।

(१५) भारतीय व्यापारिक बैंकों के जमानत सम्बन्धी नियम कड़े हैं, जिनके कारण देशी बैंकर और साहूकार उनके व्यवसाय को छीनने में सफल हो जाते हैं।

(१६) सरकारी सहायता की काफी कमी रही है।

सुधार के सुझाव—

व्यापारिक बैंकों के दोषों को दूर करना आवश्यक है, जिससे कि बैंकिंग के समुचित विकास द्वारा देश की आर्थिक उन्नति सम्भव हो सके। सुधार के प्रमुख सुझाव निम्न प्रकार हैं :—

(१) सरकारी नीति में परिवर्तन करने की आवश्यकता है, जिससे कि सरकार बैंकिंग के विकास को प्रोत्साहन दे सके।

(२) पारस्परिक प्रतियोगिता को मिटाने के लिए बैंकों का अखिल भारतीय संघ बनना चाहिए।

(३) विदेशी विनिमय बैंकों की अनुसूचित कार्यवाहियों को रोकना चाहिए और उनका कार्य-क्षेत्र इस प्रकार निश्चित होना चाहिए कि वे व्यापारिक बैंकों के साथ प्रतियोगिता न कर सकें।

(४) सहकारी बैंकों की भांति छोटी-छोटी बैंकों को भी आय-कर और मुद्रांक करों में छूट मिलनी चाहिए।

(५) छोटे नगरों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में शाखा खोलने के लिए रिजर्व बैंक द्वारा सहायता मिलनी चाहिए।

(६) बैंकों के प्रबन्ध और उनकी कार्य-विधि में सुधार की भारी आवश्यकता है।

(७) बैंकिंग सम्बन्धी शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

(८) भूमि बन्धक बैंकों, औद्योगिक बैंकों और सहकारी बैंकों का विकास होना चाहिए और उनका व्यापारिक बैंकों से निकट का सम्बन्ध रहना चाहिए।

(९) अंग्रेजी के स्थान पर प्रादेशिक भाषाओं का उपयोग होना चाहिए।

(१०) ऐसी संस्थाओं की स्थापना की भारी आवश्यकता है जो बैंकों और व्यापारियों के सम्बन्ध में गुप्त, परन्तु विश्वनीय सूचनाएँ एकत्रित करती रहें।

(११) हिसाब रखने की रीतियों में सुधार होना चाहिए।

(१२) देशी बैंकरों तथा छोटी-छोटी बैंकों को मिला कर परिगणित बैंकों में परिवर्तित कर देना चाहिए।

(१३) संकट के समय सहायता देने के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक की नीति अधिक उदार होनी चाहिए।

(१४) स्टेट बैंक को प्रतियोगिता के स्थान पर सहायता और प्रोत्साहन की नीति अपनानी चाहिए। राष्ट्रीयकरण द्वारा इसकी सम्भावना बढ़ जाती है।

(१५) बैंक के ऋण साधारणतया उत्पादक कार्यों के लिए होने चाहिए और जमानत सम्बन्धी नियम भी अधिक उदार होने चाहिये।

वर्तमान स्थिति—

सन् १९५४–५५ में अनुसूचित बैंकों की कुल संख्या ८८ थी, जो सन् १९५६–५७ में ८९ तक पहुँच गई थी। सन् १९५४–५५ के वर्ष में शाखाओं की कुल संख्या २,०८७ तक पहुँच गई थी। योजना के अन्तर्गत लोक-क्षेत्र में व्यय की जो वृद्धि हुई है उसका बैंकों के साधनों पर भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। सन् १९५७ में अनुसूचित बैंकों की संख्या ९१ थी, जो सन् १९५८ में ९३ हो गई थी। वास्तविकता यह है कि सन् १९५८ में ५ नई बैंकों को परिगणित बैंकों की सूची में सम्मिलित किया गया था, परन्तु ३ बैंकों को सूची में से निकाल दिया गया था। इसी वर्ष में उनकी शाखाओं की कुल वृद्धि २०८ थी, जिसमें ६९ शाखाएँ स्टेट बैंक की थीं। इस वर्ष में सभी अनुसूचित बैंकों की शाखाएँ कुल मिला कर ३,५७० तक पहुँच गई थीं। सन् १९५६–५७ में इन बैंकों की कुल जमा १,१४८ करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी। इसके फलस्वरूप बैंकों की साख सुविधाओं में ६६ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई थी। सन् १९५८ के वर्ष में बैंकों के जमाधन में पर्याप्त वृद्धि हुई है। परिगणित बैंकों की कुल शुद्ध जमा देन (Net deposit liability) में २०६·८ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई है। समय देन में २१४ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई, किन्तु माँग देन में ७·२ करोड़ रुपये की कमी रही। २ वर्ष के काल में ही परिगणित बैंकों की जमा में ४३% की वृद्धि हुई है और समय देन में तो लगभग १००% वृद्धि हो गई है। यद्यपि साख के विस्तार का क्रम इस वर्ष भी चलता रहा, किन्तु उसकी वृद्धि केवल ८·७ करोड़ रुपया थी। निम्न तालिका में अनुसूचित बैंकों की सन् १९५६–५७ तक की सम्पूर्ण स्थिति दिखाई गई है :—

सभी अनुसूचित बैंकों की लेन और देन

वर्ष	बैंकों की संख्या	परिदत्त पूंजी	सुरक्षित कोष	कुल जमा	नकदी हाथ में	नकदी बैंकों में	सरकारी हुण्डियों में विनियोग
१९५०-५१	९१	३५·८५	२६·६५	९२८·२३	४९·७५	८८·७२	३६४·५१
१९५१-५२	९२	३४·४५	२७·३३	९१८·०९	४६·८२	९३·३३	२९९·१५
१९५२-५३	९१	३३·७१	२६·६५	८९१·८७	३९·५३	८६·१७	३१९·११
१९५३-५४	८९	३२·७५	२६·७२	९०५·८५	३९·६७	७४·९७	३२८·२०
१९५४-५५	८८	३२·६६	२६·६९	९९५·७०	३८·८०	१००·७३	३४६·६३
१९५५-५६	८९	३२·८५	२६·७३	१,०७१·७३	४२·१३	९३·८५	३८२·८१
१९५६-५७	८९	३२·९९	२७·१६	१,१४८·०७	४३·१५	९२·००	३६३·७२

वर्ष	अन्य विनियोग	याचना राशि	ऋण और अग्रिम	खरीदे और भुनाये बिल	शुद्ध लाभ	कार्यालयों की संख्या
१९५०-५१	४६·४०	....	४४०·४०	६५·०४	७·४३	२,७६५
१९५१-५२	४९·५८	....	४४५·१४	७३·७७	८·९५	२,६४६
१९५२ ५३	४९·३०	....	४७४·००	६०·७७	७·२९	२,६४६
१९५३-५४	४७·६६	....	४४७·५०	८२·३९	६·८५	२,६८७
१९५४-५५	५१·७२	....	४९८·८३	८७·५९	७·१७	२,७६५
१९५५-५६	५३·६६	११·६६	५३३·८३	१,३१·२९	८·२८	२,८५८
१९५६-५७	५५·६४	१४·३६	६४०·९०	१,७९·४१	९·९२	२,९६६

जैसा कि पीछे बताया जा चुका है, सन् १९५८ में परिगणित बैंकों द्वारा साख का निर्माण नाम-मात्र ही रहा है। आयातों पर लगाये जाने वाले प्रतिबन्धों तथा रिजर्व बैंक की साख संकुचन नीति के कारण ऋणों की माँग ही कम रही है। यही कारण है कि बैंकों को सरकारी प्रतिभूतियों में अधिक धन लगाना पड़ा है। ऐसे विनियोगों में २०४·१ करोड़ रुपये, अर्थात् ४७% की वृद्धि हुई है। इस काल में बैंकों के साधनों में भी दृढ़ता आई है और उन्होंने रिजर्व बैंक से पहले की तुलना में कम ऋण लिए हैं। निम्न तालिका में सन् १९५६, ५७ और ५८ की स्थिति दिखाई गई है :—

परिगणित बैंक—देन और लेन

(करोड़ रुपयों में)

	१९५६ के अन्त में	१९५७ के अन्त में	१९५८ के अन्त में	परिवर्तन १९५७ में	परिवर्तन १९५८ में
कुल देन	१,१००·७३	१,३६७·५१	१,५७४·२९	२६६·७८	+ २०६·७८
मांग देन	६४३·५७	७०१·८२	६९४·६६	+ ५८·२५	— ७·१६
समय देन	४५७·१८	६६५·६९	८७९·६४	+ २०८·५३	+ २१३·९५
बैंकों के पारस्परिक ऋण	११·८७	३८·४५	५३·७१	+ २६·५८	+ १५·२६
रिजर्व बैंक से ऋण	७९·०६	२३·६३	१०·९५	— ५५·४३	— १२·६८
स्टेट बैंक से ऋण	७·७६	६·७७	७·३५	— ०·९९	+ ०·५८
रिजर्व बैंक के पास नकद शेष	९०·५३	१०७·५१	११९·१५	+ १६·९८	+ ११·६४
सरकारी हुण्डियों में विनियोग	३६४·४४	४३३·४३	६३७·५७	+ ६८·९९	+ २१४·१४
बैंक साख	७८८·४३	८५७·१०	८६५·७८	+ ६८·६७	+ ८·६८

गैर अनुसूचित बैंक (Non-Scheduled Banks)—

गैर अनुसूचित बैंकों में ऐसी सभी बैंकों को शामिल किया जाता है जिनकी परिदत्त पूंजी (Paid-up Capital) और सुरक्षित कोष मिलकर ५ लाख रुपये से कम होते हैं। ऐसी बैंकों को चार वर्गों में बाँटा जाता है— (१) ऐसी बैंक जिनकी परिदत्त पूँजी तथा सुरक्षित कोष मिलकर ५ लाख रुपये से अधिक होते हैं, किन्तु जिन्हें अन्य कारणों से अनुसूचित बैंकों में शामिल नहीं किया जाता है। (२) ऐसी बैंक जिनकी परिदत्त पूँजी और सुरक्षित निधि मिलकर १ और ५ लाख रुपये के भीतर है। (३) ऐसी बैंक जिनकी परिदत्त पूँजी और निधि ५० हजार और १ लाख रुपये के भीतर है और (४) ऐसी बैंक जिनकी परिदत्त पूँजी और निधि ५० हजार रुपये से कम है। ऐसी बैंकों की कुल संख्या सन् १९५६-५७ में ३३४ थी और कुल जमा ७३·७५ करोड़ रुपया। गैर अनुसूचित बैंकों की संख्या विगत वर्षों में

बराबर घटी है, यद्यपि जमा में कोई विशेष कमी नहीं हुई है। सन् १९५१ और सन् १९५८ के बीच इनकी संख्या १,४७३ से घटकर ९१४ रह गई है। निम्न तालिका सम्पूर्ण स्थिति को दिखाती है :—

गैर-अनुसूचित बैंकों की लेन और देन

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	बैंकों की संख्या	परिदत्त पूँजी	सुरक्षित कोष	कुल जमा	नकदी हाथ में	नकदी बैंकों में
१९५०-५१	५१४	१०·२६	३·९१	७३·६७	६·८८	४·६८
१९५१-५२	४७४	९·३९	३·९८	६९·९९	७·७१	३·५५
१९५२-५३	४४०	९·४९	४·६१	७२·७८	६·२८	३·८६
१९५३-५४	४३२	९·०७	४·६८	६३·५४	६·१४	३·९३
१९५४-५५	४१०	८·८०	४·८१	६६·८३	६·१७	४·४३
१९५५-५६	३६६	८·११	४·६७	७०·१३	६·४८	३·७९
१९५६-५७	२३४	७·६४	४·४४	७३·७५	६·६०	३·४६

वर्ष	सरकारी हुण्डियों में विनियोग	अन्य विनियोग	ऋण तथा अग्रिम	बिल अपहरण	शुद्ध लाभ	कार्यालयों की संख्या
१९५०-५१	२४·४४	४·४०	४५·७७	१·८७	६८	१,५४५
१९५१-५२	२२·७९	३·८३	४१·७९	१·६९	६२	१,४६९
१९५२-५३	२०·६७	३·६९	४२·०१	१·६८	५२	१,३३०
१९५३-५४	२०·४९	४·१५	४१·९०	१·६४	६२	१,२६२
१९५४-५५	२१·६९	४·९९	४०·७९	१·६५	६२	१,१९९
१९५५-५६	२५·२४	१·६१	३७·३२	१·०९	६३	१,१४२
१९५६-५७	२५·६७	६·२८	३९·८२	२·७२	७१	१,१०१

व्यापार बैंकों का भविष्य—

इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि भारतीय व्यापारिक बैंकों के कार्यवाहन में अनेक त्रुटियाँ हैं और सुधार की आवश्यकता तथा गुंजायश भी बहुत काफी है, परन्तु विगत वर्षों में सुधार के अनेक प्रयत्न हुए हैं। आशा यही है कि भविष्य में बैंकिंग का आधार अधिक दृढ़ हो सकेगा। इस सम्बन्ध में प्रमुख सुधार निम्न प्रकार रहे हैं :—

(१) सन् १९३६ के कम्पनी एक्ट के अनुसार कोई भी बैंक बिना ५०,००० रुपये की पूँजी के नहीं खोली जा सकती है।

(२) सन् १९४९ के विधान के अनुसार कोई बैंक गैर बैंकिंग कार्य नहीं कर सकती है ।

(३) नये विधान के अनुसार रिजर्व बैंक से आज्ञा प्राप्त किये बिना कोई बैंक न तो कई शाखा खोल सकती है और न अपने कार्य का कुछ विशेष दशाओं में विस्तार ही कर सकती है । प्रत्येक बैंक को अपने कार्य-संचालन के लिए रिजर्व बैंक से अनुज्ञापन प्राप्त करना होता है ।

(४) रिजर्व बैंक की नीति अब अधिक उदार तथा सहानुभूतिपूर्ण है और वह समय पर सहायता देने में संकोच नहीं करती है ।

(५) दूसरे महायुद्ध का बैंकों की आर्थिक स्थिति तथा जमा राशि पर अच्छा प्रभाव पड़ा है ।

(६) सभी बैंकों को अपनी देन का एक निश्चित भाग रिजर्व बैंक में रखना पड़ता है । इससे आदेयों की तरलता बनी रहती है और जनता का विश्वास भी बना रहता है ।

QUESTIONS

1. What are the main points of difference between a joint-stock bank and cooperative bank. (Agra, B. Com., 1957)

2. Discuss briefly the functions of commercial banks. How far Indian Commercial Banks perform these functions ? (Raj., B. A., 1957)

3. Examine the case for the nationalisation of commercial banking in India. (Raj., B. Com., 1957)

4. Examine the recent trends in the organisation, capital structure and investment of Indian Joint-stock banks. (Raj., B. Com., 1952)

5. Discuss the functions performed by joint-stock banks in India. Do you agree that the joint-stock banks in India are conservative in their dealings ? If so, what suggestions would you offer to make them useful to trade and industry ? (Agra, B. Com., 1950)

अध्याय ३७

इम्पीरियल बैंक एवं स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया

(The Imperial Bank and The State Bank of India)

इम्पीरियल बैंक का प्रारम्भ—

इम्पीरियल बैंक ऑफ इन्डिया एक्ट सन् १९२० के अनुसार तीनों प्रेसीडेन्सी बैंक का विलय करके इम्पीरियल बैंक की स्थापना की गई थी। इस बैंक की अधिकृत पूँजी ११·२५ करोड़ रुपया रखी गई थी, जिसमें से आधी पूँजी परिदत्त पूँजी थी और शेष अंशधारियों के निधि देयधन (Reserve Liability) के रूप में थी। इस बैंक का सुरक्षित कोष (Reserve Fund) ६·३३ करोड़ रुपया था और इसका लाभांश १% से ऊपर रहता था। वर्तमान स्टेट बैंक का पुराना नाम इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया ही था।

सन् १९२० के नियम के अनुसार इस संस्था का प्रबन्ध एक केन्द्रीय गवर्नर मण्डल तथा कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के तीन स्थानीय मण्डलों द्वारा किया जाता था। दो संचालक गवर्नर सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते थे और चलन नियन्त्रक (Controller of Currency) भी अपने पदाधिकार द्वारा इसका सदस्य होता था। सरकार को यह भी अधिकार था कि वह ऐसे सभी मामलों में इम्पीरियल बैंक को आदेश दे जो कि सरकार की वित्तीय नीति तथा सरकारी कोषों की सुरक्षा पर प्रभाव डालते हों। इस प्रकार आरम्भ में इम्पीरियल बैंक का दोहरा कार्य था। देश की केन्द्रीय बैंक के रूप में यह सरकारी शेषों का संरक्षण करती थी, देश के लोक ऋण का प्रबन्ध करती थी, बैंकों की बैंक का कार्य करती थी, समाशोधन-गृहों का प्रबन्ध करती थी, कोषों का एक स्थान से दूसरे स्थान को हस्तान्तरण करती थी और अपने लन्दन कार्यालय द्वारा भारत सरकार के लिए अन्य बैंङ्किग सेवाएँ प्रसादित करती थी। एक साधारण अंशधारियों की बैंक के रूप में यह व्यापार बैंकों के सभी कार्यों को भी सम्पन्न करती थी, परन्तु ऋण देने के सम्बन्ध में स्वीकृत प्रतिभूति सम्बन्धी कुछ प्रतिबन्ध लगाये गये थे। भूमि, बांधों तथा विदेशी विनिमय के व्यवसाय इसके लिए वर्जित थे। आरम्भ में इसे यह भी आदेश दिया गया था कि देश में बैंकिग सुविधाओं के विकास के लिए यह कम से कम १०० नई शाखाएँ खोले।

इम्पीरियल बैंक की इन व्यवस्थाओं की काफी आलोचनाएँ की गई हैं। केन्द्रीय बैंक के रूप में इसका कार्य सदा ही दोषपूर्ण रहा है। स्थापना के समय इसका सारा प्रबन्ध योरोपियनों के हाथ में था, जो साधारणतया भारत विरोधी भावनाएँ

रखते थे और संकट काल में भारतीय बैंकों को किसी प्रकार की सहायता नहीं देते थे। भारतीयों के शिक्षण के लिए भी यह किसी प्रकार की सुविधाएँ नहीं देती थी। ऐसा भी कहा जाता है कि इसने अपनी नई शाखाएँ ऐसे स्थानों पर खोली थीं जहाँ पर पहले से अन्य बैंकों की शाखाएँ मौजूद थीं और इस प्रकार बैंकिंग सेवाओं के विस्तार के स्थान पर भारतीय बैंकों से प्रतियोगिता करने का प्रयत्न किया था।

रिजर्व बैंक की स्थापना पर सन् १९३४ के इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया (संशोधन) एक्ट द्वारा इस बैंक के केन्द्रीय बैंकिंग कार्यों को समाप्त कर दिया गया और इसके दूसरे कार्यों पर से प्रतिबन्ध हटा लिये गये। प्रबन्ध पर से सरकारी नियन्त्रण हटा लिया गया था, परन्तु फिर भी सरकार को केन्द्रीय मण्डल में दो गवर्नर नामजद करने का अधिकार था।

इम्पीरियल बैंक का रिजर्व बैंक तथा अन्य बैंकों से सम्बन्ध—

यद्यपि सन् १९३४ के बाद इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक का कार्य नहीं करती थी, परन्तु एक समझौते द्वारा वह ऐसे सब स्थानों पर जहाँ रिजर्व बैंक की शाखाएँ नहीं थीं, परन्तु इम्पीरियल बैंक की शाखाएँ मौजूद थीं, रिजर्व बैंक की अभिकर्त्ता का कार्य करती थी। समझौते के अनुसार इम्पीरियल बैंक को इन अभिकर्त्ता सेवाओं के लिए कमीशन देना निश्चय हुआ। प्रथम दस वर्षों में इस कमीशन की दर २५० करोड़ रुपये तक के सरकारी व्यवसाय के लिए $\frac{१}{१६}\%$ रखी गई थी और शेष के लिए $\frac{१}{३२}\%$। सरकारी व्यवसाय में सरकार की ओर से एकत्रित किये हुए तथा सरकार की ओर से चुकाये हुए दोनों ही प्रकार के शोधनों को सम्मिलित किया जाता था। अगले ५ वर्ष के लिए कमीशन की दर इम्पीरियल बैंक द्वारा किये गये वास्तविक व्यवसाय के आधार पर निश्चित होनी तय हुई थी।

सन् १९५१-५२ के नए समझौते के अनुसार जून सन् १९५३ के अन्त तक इम्पीरियल बैंक ने ३० नई शाखाएँ खोलने तथा अपने कोषागार शोधन कार्यालयों को शाखाओं में परिवर्तित करने का वायदा किया था। ऐसी व्यवस्था की गई थी कि जून सन् १९५१ के बाद खोली गई शाखाओं के सरकारी व्यवसाय पर इम्पीरियल बैंक को $\frac{१}{१६}\%$ की दर पर कमीशन मिलता।

इम्पीरियल बैंक देश की सबसे बड़ी व्यापार बैंक थी। इसकी साख भी बहुत थी, इस कारण इसे स्थानीय सरकारों से बिना ब्याज निक्षेप प्राप्त हो जाते थे। इसके अतिरिक्त यह अन्य बैंकों को ऋण देती थी और विनिमय बिलों को फिर से भुनाने का भी कार्य करती थी। देश में साख नियन्त्रण की सफलता भी एक बड़े अंश तक इम्पीरियल बैंक के सहयोग पर निर्भर रहती थी। इस बैंक का महत्त्व इसी बात से स्पष्ट है कि सन् १९४९ में भारत में इसकी ३७० शाखाएँ थीं और इसके कुल निक्षेप ७०० करोड़ रुपये के थे, जब कि अन्य सभी बैंकों के निक्षेप, जिनमें विनिमय बैंक भी सम्मिलित है, सामूहिक रूप में ६३३ करोड़ रुपये की कीमत के थे। अभी तक भी

देश में बहुत से ऐसे स्थान हैं जहाँ पर इम्पीरियल बैंक (स्टेट बैंक) की शाखा ही एक मात्र बैंकिग संस्था है ।

इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न—

यद्यपि भारतीय बैंकिग प्रणाली में इम्पीरियल बैंक का भारी महत्त्व था, परन्तु काफी समय से इसके कार्य-संचालन की कड़ी आलोचना की गई थी । इन आलोचनाओं के दो प्रमुख आधार थे । एक ओर तो यह बुरा बताया जाता था कि इम्पीरियल बैंक स्वतन्त्रतापूर्वक सरकार के कोषों का उपयोग करती रहती थी । किसी भी एक व्यापार बैंक के हाथ में सारे सरकारी धन को दे देना उचित नहीं हो सकता था, क्योंकि इससे एक ऐसा शक्तिशाली एकाधिकार उत्पन्न हो जाता है जो बैंकों तथा जनता के हितों की आलोचना करता रहे, इसलिए बहुधा यह कहा जाता था कि इम्पीरियल बैंकों के उन सब विशेष अधिकारों और सुविधाओं का अन्त होना चाहिए जो रिजर्व बैंक के स्थापित हो जाने पर भी उसको प्राप्त थे । दूसरी ओर यह कहा जाता था कि आरम्भ से ही इम्पीरियल बैंक भारत विराधी नीति का पालन करती रही है । विदेशियों के प्रबन्ध में होने के कारण इसने भारतीय कर्मचारियों को ऊँचे स्थानों पर नियुक्त करने तथा शिक्षण प्रदान करने का कभी प्रयत्न भी नहीं किया था। व्यवहार में भी वह भारतीयों के साथ बराबर भेद-भाव करती चली आई है। भारत में ब्रिटिश व्यापार हितों का तथा इम्पीरियल बैंक का गठबन्धन बराबर बना रहा है ।

उपरोक्त आलोचनाओं के अतिरिक्त यह भी कहा जाता था कि इस बैंक ने भारी मात्रा में नकद साख प्रदान करके देश में बिल बाजार के विकास में बाधायें उत्पन्न की हैं और देश के दूर-दूर के भागों से निक्षेप एकत्रित करके बड़े-बड़े व्यापार केन्द्रों का विकास किया है ।

इन सभी आलोचनाओं की ग्रामीण बैंकिग जांच समिति सन् १९५१-५२ ने विस्तृत जाँच की थी । इस समिति का विचार था कि इम्पीरियल बैंक में दोष अवश्य थे, परन्तु उनके कारण उसका राष्ट्रीयकरण उचित न था । समिति ने सुधार के निम्न सुझाव दिये थे :—

(१) यह कि इम्पीरियल बैंक पर लगाये गये वर्तमान प्रतिबन्ध पर्याप्त थे और वह अन्य व्यापार बैंकों से किसी प्रकार की अनुचित प्रतियोगिता नहीं कर रही थी ।

(२) बैङ्क में शीघ्रतापूर्वक भारतीय अधिकारियों की संख्या बढ़नी चाहिए । इम्पीरियल बैङ्क ने सन् १९५५ के अन्त तक ऐसा करने का विश्वास भी दिलाया था।

(३) बैङ्क के विशेष अधिकारों का रहना उचित नहीं था और उनका अन्त होना चाहिए ।

(४) सभी बैङ्कों को कोषागारों द्वारा सस्ते दामों पर विप्रेष भेजने की सुविधा मिलनी चाहिए, जिससे इम्पीरियल बैङ्क के विशेष लाभ का अन्त हो जाय।

रिजर्व बैङ्क के राष्ट्रीयकरण के साथ-साथ इम्पीरियल बैङ्क के राष्ट्रीयकरण का भी प्रश्न उठाया गया। इम्पीरियल बैङ्क का देश के आर्थिक जीवन में इतना भारी महत्त्व और बैङ्क द्वारा अपने अधिकारों का दुरुपयोग देखकर सरकार ने सैद्धान्तिक रूप में उसके राष्ट्रीयकरण की वांछनीयता स्वीकार कर ली थी, परन्तु राष्ट्रीयकरण को व्यवहारिक रूप देने के कार्य को भविष्य के लिए स्थगित कर दिया था। दो कारणों से सरकार ने बैङ्क के तुरन्त राष्ट्रीयकरण को उचित नहीं समझा था :—प्रथम, विदेशों में भी इसकी शाखायें थी, जिनकी संख्या सन् १९५० के अन्त में ४८ थी। ये शाखायें जटिल समस्या उत्पन्न करती थीं। दूसरे, सरकार का विचार था कि राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंक वाणिज्य कार्य नहीं कर सकेगी और ऐसी दशा में बैंकिंग सेवाओं के अभाव और इम्पीरियल बैंक के भारी महत्व के कारण राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को काफी हानि पहुँचने का भय था। सरकार ने यह पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि जब कभी भी इसका राष्ट्रीयकरण किया जायगा, अंशधारियों को मुआवजा अवश्य दिया जायगा। इस प्रकार उस समय अनिश्चित काल के लिए राष्ट्रीयकरण का प्रश्न स्थगित कर दिया गया था। वैसे भी अन्य बैंकों के सम्बन्ध में सरकारी नीति राष्ट्रीयकरण की ओर नहीं थी। सन् १९५५ में सरकार ने नीति को बदल दिया। इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीय-करण करके उसे स्टेट बैंक के रूप में संगठित किया गया है।

स्टेट बैंक के कार्यों का विस्तृत अध्ययन—

स्टेट बैंक के कार्यों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—केन्द्रीय बैंक के रूप में कार्य और व्यापार बैंक के कार्य। सन् १९२१ से सन् १९३५ तक इम्पीरियल बैंक दोनों ही प्रकार के कार्यों को एक ही साथ करती रही है। सन् १९३५ के पश्चात् केन्द्रीय बैंक के अधिकांश कार्य रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को सौंप दिये गये, परन्तु कुछ केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धित कार्य ऐसे अवश्य रहे जिन्हें इम्पीरियल बैंक द्वारा सम्पन्न किया जाता है। बाद को उसके व्यापार बैंकिंग सम्बन्धी कार्य ही अधिक महत्वपूर्ण रहे हैं। प्रमुख केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्य निम्न प्रकार थे :—

(१) यह बैंकों की बैंक के रूप में कार्य करती रही है। आवश्यकता पड़ने पर इम्पीरियल बैंक व्यापार बैंकों को ऋण देती रही है। और उनके द्वारा भुनाये हुए बिलों को फिर से भुनाती रही है। इसके अतिरिक्त यह बैंक भूतकाल में बैंकों की देख-भाल करती थी और देश में बैंकिंग की उन्नति का प्रयत्न करती थी। देश की अन्य व्यापार बैंक तथा विनिमय बैंक इम्पीरियल बैंक में अपना खाता खोलती थीं। इसी कारण दूसरी बैंक इसका निकासी अथवा समाशोधन-गृह (Clearing House) के रूप में भी उपयोग करती रही हैं। इस कार्य का महत्व अभी तक शेष है। साथ ही,

इम्पीरियल बैंक अन्य बैंकों के धन को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने का कार्य भी करती रही है। इसका प्रमुख कारण यह रहा है कि देश भर में इम्पीरियल बैंक की शाखाओं का जाल सा बिछा हुआ था। इम्पीरियल बैंक ने देश की बैंकों को उनके बैंकिंग कार्यों में सहायता पहुँचाने का भी कार्य किया है। यह काम स्टेट बैंक भी करती है।

(२) स्टेट बैंक सरकारी बैंक का कार्य करती रही है। रिजर्व बैंक की स्थापना से पहले तो यह कार्य केवल इम्पीरियल बैंक ही करती थी, परन्तु बाद में भी उन सभी स्थानों में जहाँ पर रिजर्व बैंक की शाखा नहीं है, अभिकर्त्ता के रूप में स्टेट बैंक ही राज्य बैंक (State Bank) का कार्य करती रही है। भारत सरकार और राज्य सरकारों का सारा बैंकिंग सम्बन्धी कार्य इम्पीरियल बैंक ही करती रही है। सरकार की ओर से रुपया वसूल करने और रुपये का भुगतान करने का कार्य यही बैंक करती थी और एक अंश तक अभी भी करती है। कर आदि की रकम इसमें जमा की जाती हैं। लोक ऋणों का एकत्रण, हिसाब और शोधन भी पहले यही बैंक करती थी। अभी तक भी सरकारी शेष इसी बैंक में रहती है, यद्यपि अब अधिकाँश दशाओं में रिजर्व बैंक इस कार्य को सम्पन्न करती है।

(३) विप्रेषों (Remittances) अर्थात् धन को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने का कार्य स्टेट बैंक आरम्भ से ही करती रही है। अब भी इस कार्य का महत्त्व कम नहीं हुआ है। केन्द्रीय बैंक की भाँति स्टेट बैंक को सरकारी खजाने के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को रुपया भेजने की सुविधा दी गई है, जो काफी महत्त्वपूर्ण है।

(४) सन् १९२१ से पहले भारत सरकार के लन्दन सम्बन्धी सभी बैंकिंग, विनिमय तथा अन्य मौद्रिक कार्य बैंक ऑफ इङ्गलैण्ड द्वारा किये जाते थे। सन् १९२१ और सन् १९३५ के बीच ये कार्य इम्पीरियल बैंक द्वारा किये जाते थे। रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् अब ये कार्य रिजर्व बैंक द्वारा किये जाते हैं। इन कार्यों में लन्दन को रुपया भेजना, शोधन करना आदि सम्मिलित होते हैं।

व्यापार बैंक सम्बन्धी कार्य—

जैसा कि विदित है कि इम्पीरियल बैंक तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों के विलय से बनी थी। ये तीनों बैंक व्यापार बैंक थीं, इस कारण इनके कार्यों को इम्पीरियल बैंक ने करना आरम्भ कर दिया था। व्यापार बैंक के रूप में इम्पीरियल बैंक (स्टेट बैंक) के प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) भारत सरकार की प्रतिभूतियों, रेल्वे प्रतिभूतियों, राज्य सरकारों की प्रतिभूतियों, स्थानीय सरकारों की प्रतिभूतियों, लोक सत्ताओं, जैसे—पोर्ट ट्रस्ट (Port Trust), कॉरपोरेशन आदि की प्रतिभूतियों पर कोषागार विपत्रों में धन का विनियोग करना और उसकी आड़ पर

ऋण देना। ये कार्य बिल्कुल व्यापारिक बैंकों के कार्य हैं और लगभग सभी बेंकों द्वारा किये जाते हैं, परन्तु स्टेट बैंक की प्रमुख विशेषता सरकारी और अर्द्ध-सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोजन और व्यवसाय करना है।

(२) तैयार माल, माल के अधिकार-पत्रों तथा अन्य उपयुक्त पत्रों और प्रति-भूतियों पर ऋण देना।

(३) स्वीकृत प्रतिज्ञा-पत्रों, बॉंड्स तथा-विनिमय बिलों पर ऋण देना।

(४) चल सम्पत्ति की आड़ पर ऋण देना और ऐसी कम्पनियों के अंशों की जमानत पर ऋण देना जिसमें अंशधारियों का दायित्व सीमित है।

(५) ऐसे बिलों का निकालना, बेचना और स्वीकार करना जो भारत में पहले भी भुनाये जा चुके हों।

(६) अपने ग्राहकों को साख प्रमाण-पत्र प्रदान करना।

(७) बहुमूल्य धातुयें और सोने-चाँदी के सिक्के खरीदना और बेचना।

(८) जनता से निक्षेप प्राप्त करना।

(९) जनता की बहुमूल्य वस्तुओं के सुरक्षित संरक्षण की व्यवस्था करना।

(१०) अपने व्यवसाय के लिये भारत में ऋण लेना।

(११) ऐसी चल और अचल सम्पत्ति को बेचना जिस पर बैंक ने अधिकार प्राप्त कर लिया हो।

(१२) पारितोषण के आधार पर ग्राहकों के अभिकर्त्ता का कार्य करना।

(१३) बैंक की लन्दन शाखा अपनी व्यवसायिक आवश्यकताओं के लिए लन्दन में ऋण प्राप्त कर सकती है।

(१४) साधारण व्यापारिक बैंकों सम्बन्धी अन्य प्रकार के कार्य करना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्टेट बैंक देश के आर्थिक जीवन में तीन रूपों में आती रही है—(१) केन्द्रीय बैंक, (२) राज्य बैंक और (३) व्यापार बैंक। इसमें सन्देह नहीं कि सरकारी संरक्षण के कारण स्टेट बैंक की साख और प्रतियोगिता शक्ति अन्य व्यापार बैंकों की तुलना में बहुत अधिक रही है। सरकारी धन के जमा रहने के कारण स्टेट बैंक की आर्थिक स्थिति भी अधिक दृढ़ रही है। इस बात का आरम्भ से ही भय था कि कहीं अन्य बैंकों से होड़ करके इम्पीरियल बैंक देश में बैंकिग के विकास के मार्ग में बाधा न बन जाय। यही कारण है कि आरम्भ से ही इसके कार्यों पर कुछ प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं।

स्टेट बैंक पर लगाये हुए प्रतिबन्ध—

स्टेट बैंक के कार्य पर प्रमुख प्रतिबन्ध निम्न प्रकार हैं :—

(१) पहिले इम्पीरियल बैंक ६ माह से अधिक काल के लिए ऋण नहीं दे

सकती थी, परन्तु कृषि साख की उन्नति के लिए अब स्टेट बैंक पर से यह प्रतिबन्ध हटा लिया गया है।

(२) इस बैंक को स्वयं अपने अंशों और अचल सम्पत्ति की जमानत पर ऋण देने का अधिकार नहीं है।

(३) किसी व्यक्ति अथवा संस्था को दिये जाने वाले ऋण की अधिकतम् सीमा निश्चित कर दी गई है।

(४) इस बैंक को ऐसे बिलों को भुनाने तथा उनकी आड़ पर ऋण देने की अनुमति नहीं थी जिनकी परिपक्वता अवधि ६ मास से अधिक हो, परन्तु कृषि साख की उन्नति के लिए अब इसमें छूट दी जा सकती है।

(५) बैंक को विदेशी विनिमय व्यवसाय की आज्ञा नहीं है।

(६) बैंक द्वारा अचल सम्पत्ति खरीदने पर भी प्रतिबन्ध है।

वैसे तो इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक का कार्य करती रही है, परन्तु इसे पत्र-मुद्रा निर्गम का अधिकार नहीं दिया गया था। आरम्भ में इस बात पर भी विचार किया गया था कि इम्पीरियल बैंक को पूर्ण रूप में केन्द्रीय बैंक ही क्यों न बना दिया जाय, परन्तु कुछ कारणों से ऐसा उपयुक्त नहीं समझा गया था:—प्रथम, यह कहा गया था कि कोई भी केन्द्रीय बैंक इतनी शाखायें नहीं खोल सकती है जितनी कि इम्पीरियल बैंक ने खोल रखी थीं। यदि इम्पीरियल बैंक को और अधिक शाखायें खोलने का अधिकार न दिया जाता अथवा कुछ शाखायें बन्द करने की आज्ञा दी जाती तो इसका देश की बैंकिंग व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ने का भय था। दूसरे, केन्द्रीय बैंक के नाते देश के चलन का प्रबन्ध भी इम्पीरियल बैंक के पास रहता, जिस दिशा में अधिकारों के दुरुपयोग का भारी भय था। तीसरे, केन्द्रीय बैंक बन जाने की दशा में इम्पीरियल बैंक एक साधारण व्यापार बैंक की भाँति लाभ के ही उद्देश्य से काम नहीं कर सकती थी, क्योंकि ऐसी दशा में उससे केन्द्रीय बैंकिंग में सफलता की आशा नहीं हो सकती थी। अन्त में, बैंक के अंशधारी व्यापारिक बैंक सम्बन्धी कार्यों को पूर्णतया बन्द करने के पक्ष में न थे। स्टेट बैंक के निर्माण के पश्चात् भी यह पुरानी व्यवस्था बनाये रखी गई है।

बैंक की स्थापना से भारत को लाभ—

इम्पीरियल बैंक का देश के आर्थिक जीवन में भारी महत्व रहा है। बैंकिंग जगत में तो इसका अपना विशेष स्थान है। देश को इसकी स्थापना से निम्न प्रकार लाभ हुए हैं:—

(१) इसने देश में बैंकिंग सुविधाओं का प्रसार किया है। इस समय बैंक की ५०० से भी ऊपर शाखायें है, जो देश के कौने-कौने में फैली हुई हैं। बहुत से स्थानों पर तो स्टेट बैंक की शाखा के अतिरिक्त कोई बैंक है ही नहीं।

(२) इस बैंक ने देश में ब्याज की दर को कम किया है। बैंक के पास काफी धन रहा है, जिसके कारण यह काफी मात्रा में नीची दर पर ऋण देने में सफल रही है। साहूकारों और दूसरी बैंकों को भी ब्याज की दरों को घटाने पर बाध्य होना पड़ा है।

(३) बहुत सी शाखायें होने के कारण इसने एक स्थान से दूसरे स्थान को धन हस्तान्तरित करने की सस्ती और सुविधाजनक सेवाएं उपलब्ध की हैं।

(४) इस बैंक की डिस्कान्उट दर में काफी स्थिरता रही है, जिसके कारण देश भर में ऐसी दर स्थिर रहती है।

(५) यह बैंक कृषि की उपज की आड़ पर ऋण देती रही है। परिणाम यह हुआ है कि ऐसे माल की बिक्री और यातायात में काफी सुविधा रही है।

(६) यह बैंक सहकारी बैंकों को अधि-विकर्ष की सुविधा देकर काफी महत्त्वपूर्ण कार्य करती रही है।

(७) इसने आर्थिक संकट के काल में सहायता देकर बहुत सी बैंकों को डूबने से बचाया है।

(८) देशी बैंकरों और साधारण बैंकों को इससे ऋण प्राप्ति की भारी सुविधायें मिली हैं।

(९) इस बैंक ने समाशोधन गृहों को आयोजित करके देश की बैंकिंग प्रणाली की काफी सेवा की है।

इम्पीरियल बैंक के कार्यवाहन में दोष—

इन सब लाभों के साथ-साथ बैंक के कार्यवाहन में कुछ गम्भीर दोष भी रहे हैं। इम्पीरियल बैंक के विरुद्ध अनेक शिकायतें रही हैं :—

(i) इसने अपने उच्च पदों पर गैर भारतीयों को ही नियुक्त किया है। भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् धीरे-धीरे पदों का भारतीयकरण आरम्भ हुआ है।

(ii) इसके अंशधारियों में विदेशियों की संख्या अधिक रही है और उन्हीं का इसकी नीति और कार्यवाहन पर अधिक सप्रभाविक नियन्त्रण रहा है।

(iii) इसने भारतीय व्यापारियों के प्रति भेद-भाव किया है और विदेशियों के हितों को प्रधानता दी है।

(iv) इसने देश में व्यापार बैंकों के विकास में बाधा डाली है। यह उनकी घोर प्रतियोगी रही है और बहुत बार तो इसने व्यापार बैंकों को अना-

र्थिक दरों पर ऋण देने पर बाध्य किया है। सम्मानित बैंक होने के कारण इसने निक्षेप प्राप्त करने में भी अन्य बैंकों से होड़ की है।

(v) इस बैंक ने व्यापार बैंकों की अपेक्षा विनिमय बैंकों के प्रति अधिक उदारता की नीति अपनाई है, मुख्यतया इस कारण कि वे विदेशी बैंक थीं। विनिमय बैंकों ने सदा ही भारतीय हितों की अवहेलना की है और भारतीय व्यापारियों के साथ घृणित व्यवहार किया है।

सन् १९५५ में इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण और स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का निर्माण—

१६ अप्रैल सन् १९५५ को सरकार ने लोक-सभा में एक बिल प्रस्तुत किया था, जिसे स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया बिल का नाम दिया गया था। इस बिल का उद्देश्य इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण था। इस प्रकार बिल को प्रस्तुत करने का विचार सरकार काफी दिन पहले से कर रही थी, परन्तु अखिल भारतीय ग्राम्य साख जाँच समिति (Rural Credit Survey Committee) की सिफारिशों ने राष्ट्रीय-करण की विचारधारा को काफी बल प्रदान किया है। वित्त मन्त्री ने बिल को प्रस्तुत करते समय बताया था कि सरकार का ऐसा इरादा नहीं है कि व्यक्तिगत वाणिज्य और व्यवसाय में अनुचित हस्तक्षेप करे। इसी कारण इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का यह अर्थ नहीं होता है कि सभी व्यापारिक बैंकों को सरकारी अधिकार में ले लिया जायगा। इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का उद्देश्य उन सब शिकायतों को दूर करना जो कि लम्बे काल से भारतीयों को इसके विरुद्ध थीं तथा ग्राम्य साख की समुचित व्यवस्था करना बताया गया है। सबसे पहले वित्त मन्त्री ने २० दिसम्बर सन् १९५४ को इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का विचार प्रकट किया था। बिल की प्रमुख व्यवस्थाएँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) बैंक के अंशधारियों को मुआवजा देने का सिद्धान्त मान लिया गया है। मुआवजे की दर निश्चित करने के लिए इम्पीरियल बैंक के लिए इम्पीरियल बैंक के अंशों की २० दिसम्बर सन् १९५३ और २० दिसम्बर सन् १९५४ के १२ मास के बीच की औसत मासिक कीमत निकाली गई है। इस आधार पर एक ५०० रुपए के पूर्णतया शोधित अंश की कीमत १,७६५ रुपये और आँशिक शोधित की ४३१ रुपया १२ आने ४ पाई होती है और यही रकम मुआवजे के रूप में दी जायगी।

(२) मुआवजे की रकम में से १०,००० रुपए तक का भुगतान नकदी में किया गया है और शेष के लिये सरकार ने बाँड दी हैं, जिनके सम्बन्ध में ब्याज की दर और परिपक्कता अवधि सम्बन्धी बातें बाद को निश्चित की जायँगी।

(३) ऐसी व्यवस्था की गई है कि कम से कम ५५% अंश रिजर्व बैंक द्वारा लिये जायँगे और शेष ४५% जनता द्वारा प्राप्त किये जायेंगे। इस सम्बन्ध में इम्पी-

रियल बैंक के पुराने अंशधारियों को नई संस्था के अंश खरीदने का पूर्व अधिकार दिया गया है।

(४) राष्ट्रीयकरण के पश्चात् इम्पीरियल बैंक का नया नाम स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया रखा गया है।

(५) सरकार का उद्देश्य राष्ट्रीयकरण के साथ-साथ एक नये ग्राम्य साख संगठन का निर्माण करना है, जिसके लिए रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में भी आवश्यक संशोधन किये गये हैं।

(६) इस बात की व्यवस्था की गई है कि स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना के पश्चात् खण्ड ख राज्यों की १० ऐसी बैंकों को जो राज्य सरकारों के नियन्त्रण और संरक्षण में कार्य कर रही हैं, इस बैंक के साथ मिला दिया जायगा। साथ ही, सरकार का यह भी विचार है कि ग्राम्य साख जाँच समिति की सिफारिशों को कार्य रूप देने के लिए कुछ गैर-अनुसूचित (Non-Scheduled) बैंकों को भी समुचित जाँच के पश्चात् स्टेट बैंक में सम्मिलित कर लिया जायगा।

(७) बिल के पास होने पर इम्पीरियल बैंक के सभी अंशों को रिजर्व बैंक को हस्तान्तिरत कर दिया गया है, परन्तु इन अंशों के अधिक से अधिक ४५% धीरे-धीरे प्राइवेट व्यक्तियों को बेच दिये जायँगे।

(८) सरकार व्यक्तिगत व्यवसायियों और वाणिज्य हितों को भी स्टेट बैंक से सम्बन्धित रखेगी, परन्तु इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है कि बैंक पर सरकार का ही पूर्ण रूप में नियन्त्रण रहे।

(९) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का प्रबन्ध २० संचालकों के एक मण्डल द्वारा किया जाता है, जिसमें से १४ सरकार द्वारा नामजद किये जाते हैं और शेष ६ व्यक्तिगत अंशधारी निर्वाचित करते हैं। लोक सभा अथवा धारा सभा के सदस्य बैंक के संचालक नहीं बन सकते हैं।

(१०) राष्ट्रीयकरण के पश्चात् इम्पीरियल बैंक के व्यापारिक बैंकिंग कार्य बन्द नहीं हुए हैं। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया देश की सबसे बड़ी व्यापार बैंक के रूप में कार्य करेगी और देश की अनुसूचित बैंकों को बराबर सहायता देती रहेगी।

(११) इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का यह आशय नहीं है कि धीरे-धीरे अन्य व्यापार बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया जायगा। इस सम्बन्ध में सरकारी नीति सामान्य रूप में बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण की नहीं है।

(१२) स्टेट बैंक की अधिकृत पूँजी २० करोड़ रुपया रहेगी।

आलोचनात्मक अध्ययन—

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट का धारा सभा तथा जन-साधारण ने साधारणतया स्वागत ही किया है। देश में ग्राम्य साख की समुचित व्यवस्था की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण पग है। सरकार ने ऐसा भी आश्वासन दिलाया है कि शीघ्र ही ५ वर्ष के

भीतर स्टेट बैंक की ४०० नई शाखायें खोली जायेंगी, जो उन ४७२ शाखाओं के अतिरिक्त होंगी जो इम्पीरियल बैंक ने पहले से ही खोल रखी थीं। ये शाखाएँ साधारणतया ग्रामीण अथवा अर्द्ध-नागरिक (Semi-urban) क्षेत्रों में खोली जायेंगी, जहाँ पहले से बैंकिंग सेवाएँ मौजूद नहीं हैं। इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक एक्ट में आवश्यक संशोधन करने का बिल पास हो चुका है।

स्टेट बैंक बिल को लोक सभा में प्रस्तुत करते समय वित्त विभाग के उप-मन्त्री ने ठीक ही कहा था कि भारत जैसे देश में, जहाँ देश की ७०% जनता ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है, ग्राम्य साख की समुचित व्यवस्था का भारी महत्त्व है। ग्रामीण जनता साख की समुचित व्यवस्था न होने के कारण ऋणों के भार से दबी हुई है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि ग्रामीण ऋण-भार की मात्रा ७५० करोड़ रुपये से भी ऊपर है। सन् १९५४ में केन्द्रीय श्रम जांच से पता चला था कि ग्रामीण जन-संख्या में ३०% भूमिहीन खेतिहर मजदूर हैं। इन श्रमिकों और औद्योगिक श्रमिकों की आय में भारी अन्तर है। बङ्गाल, बिहार, उड़ीसा और बम्बई राज्यों में खेतिहार श्रमिक की वार्षिक आय केवल १६०, ११९, ६९ तथा ८८ रुपये थी, जबकि इन्हीं राज्यों में औद्योगिक श्रमिकों की वार्षिक आय क्रमशः २६८, ३३२, १४५ तथा ३६८ रुपया थी। इस घोर अन्तर का कारण ग्रामीण जनता का ऋण-भार ही था। ऐसी स्थिति में ग्राम्य साख के विकास का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण के द्वारा उन सब शिकायतों का भी अन्त हो जाता है जो इस बैंक के प्रति काफी समय से चली आ रही थीं, यद्यपि अब इन शिकायतों का कोई विशेष महत्त्व नहीं रह गया था। उस समय बैंक के लगभग सभी अधिकारी भारतीय ही थे, परन्तु फिर भी राष्ट्रीयकरण उन सब दोषों को दूर कर देता है जो सरकारी संरक्षण के कारण इम्पीरियल बैंक में पैदा हो गये थे। अब भारतीय हितों की अवहेलना का प्रश्न ही नहीं उठता है। जहाँ तक इम्पीयिल बैंक के कर्मचारियों का प्रश्न है, ऐसा विश्वास दिलाया गया था कि मैनेजिंग डाइरेक्टर, डिप्टी मैनेजिंग डाइरेक्टर और दो डाइरेक्टरों को छोड़ कर शेष के वेतनों और सेवाओं की दशाओं में किसी प्रकार का भी परिवर्तन नहीं किया जायगा।

बिल की आलोचना साधारणतया मुआवजे के दृष्टिकोण से अंश की कीमत निश्चित करने के सम्बन्ध में हुई है। अंशधारियों का विचार है कि मुआवजे की रकम बहुत कम है, यद्यपि इसमें बहुत सत्य दिखाई नहीं पड़ता है, क्योंकि पूर्णतया शोधित अंशों की कीमत सन् १९५१, सन् १९५२ और सन् १९५३ के बीच निर्धारित कीमत के आस-पास ही रही है। लोक सभा के अधिकांश सदस्यों ने ऐसा विचार प्रकट किया है कि मुआवजा अधिक दिया जा रहा है, क्योंकि अंशों की ऊँची कीमत का एक महत्त्वपूर्ण कारण सरकारी संरक्षणों तथा सरकारी व्यवसायों का इम्पीरियल बैंक द्वारा सम्पन्न करना रहा है। कुल मुआवजे की रकम का अनुमान १९.९ करोड़ रुपया

लगाया गया है, जिसका ६१·७% भारतवासियों को मिलेगा और शेष विदेशी अंश-धारियों को ।

इस सम्बन्ध में भी काफी आलोचना हुई है कि प्रस्तावित शाखाओं की संख्या कम रखी गई है। श्री तुलसीदास किलाचन्द के अनुसार ४०० शाखाओं के स्थान पर ४,००० शाखायें खुलनी चाहिये। कुछ सदस्यों ने यह भी विचार प्रकट किया है कि स्टेट बैंक की अधिकृत पूँजी, जो २० करोड़ रुपया रखी गई है, वास्तव में कम है और फिर इसके भी ४५% पर प्राइवेट व्यक्तियों का अधिकार होगा। सब कुछ होते हुए भी इस बिल से काफी लाभ की आशा की जाती है।

स्टेट बैंक के कार्य—

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ग्रामीण साख की वृहत् योजना का ही एक अंग है। इस बक की स्थापना द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारी साख और सहकारी बिक्री व्यवस्थाओं को बढ़ाने का प्रयत्न किया गया है। इसके अतिरिक्त ग्रामीण बैंकिंग तथा सामान्य रूप में सभी प्रकार की बैंकिंग को सहयोग देने का भी उद्देश्य है। स्टेट बैंक के प्रमुख कार्य निम्न प्रकार रहेंगे :—

(१) इम्पीरियल बैंक की भाँति यह भी उद्योग, व्यापार और वाणिज्य को साख सुविधायें प्रदान करेगी।

(२) यह बैंकों के समुचित विकास में सहायक होगी।

(३) यह सन् १९६० तक ४०० नई शाखाएँ खोलेगी।

(४) यह बक अधिक बड़ी विशेष सुविधाएँ प्रदान करेगी और ग्रामीण बचत के संग्रह करने का प्रयत्न करेगी।

(५) ग्रामीण साख की यह शक्तिशाली एजेन्सी होगी और सहकारी बिक्री तथा गोदाम व्यवस्था को बढ़ायेगी।

स्टेट बैंक के वर्जित कार्य—

स्टेट बैंक को निम्नांकित कार्य करने से वर्जित किया गया है :—

(१) यह स्कन्ध, अपने अंश अथवा स्थायी सम्पत्ति की आड़ पर ६ मास से अधिक काल के लिए ऋण अथवा अग्रिम नहीं दे सकती है।

(२) यह निश्चित प्रतिभूति के अतिरिक्त किसी व्यक्ति अथवा फर्म के विनिमय-पत्रों को एक निश्चित राशि से ऊपर की रकम के लिए नहीं भुना सकती है।

(३) बैंक केवल ऐसे विनिमय बिलों को भुना सकती है अथवा उसकी आड़ पर ऋण अथवा अग्रिम दे सकती है जिन पर कम से कम दो व्यक्तियों अथवा फर्मों का उत्तरदायित्व हो।

(४) यह १५ मास से अधिक परिपक्कता अवधि के कृषि बिलों अथवा ६ मास से अधिक के बिलों को नहीं भुना सकती है।

(५) यह अपनी इमारत के अतिरिक्त अन्य कोई अचल सम्पत्ति प्राप्त नहीं कर सकती है।

लाभ का बँटवारा—

स्टेट बैंक एक एकीकरण एवं विकास कोष (Integration and Development Fund) रखती है, जिसमें रिजर्व बैंक को दिया जाने वाला लाभाँश और दूसरे चन्दों की रकम जमा होती रहेगी। इस कोष का उपयोग बैंक की हानि को पूरा करने के लिए किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त एक और भी कोष रहेगा, जिसमें इम्पीरियल बैंक के निधि कोष की राशि के साथ-साथ बाद की वह राशि रहेगी जिसे निधि कोष में रखा जायगा।

स्टेट बैंक की प्रगति—

१ जुलाई सन् १९५५ से स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ने अपना काम शुरू कर दिया। श्री जॉन मथाई बैंक के प्रथम अध्यक्ष नियुक्त किये गये थे। इम्पीरियल बैंक की सारी लेन-देन स्टेट बैंक को हस्तान्तरित कर दी गई है। स्टेट बैंक की अधिकृत पूँजी २० करोड़ रुपया है और निर्गमित पूँजी ५,६२,५०,००० रुपया। सारी की सारी निर्गमित पूँजी का रिजर्व बैंक को हस्तान्तरण कर दिया गया है। पिछले अंश-धारियों के प्रत्येक पूर्णतया शोधित अंश के लिए १,७६५ रुपये १० आने और आंशिक शोधित अंश के लिए ४३१ रुपये १२ आने ४ पाई मुआवजे के रूप में दिये गये हैं।

सन् १९५५-५६ के लिए वित्त मन्त्रालय की जो वार्षिक रिपोर्ट छपी है उसमें बताया गया है कि स्टेट बैंक के निर्माण का प्रमुख उद्देश्य यह था कि राज्य की साझेदारी में एक शक्तिशाली व्यापार बैंक खोली जाय, जिसकी शाखायें देश भर में फैली हों तथा जो सहकारी और अन्य प्रकार की बैंकों की विशेष सुविधाओं का विस्तार करके देश में बैंकिंग के विकास को प्रोत्साहन दे। इम्पीरियल बैंक के कुल मिलाकर १०,७२८ अंशधारी थे, जिन्हें कुल १९,७१,८७,५०० रुपये का मुआवजा मिलना था। ३१ दिसम्बर सन् १९५५ तक के मुआवजे के लिए ९,५६० अंशधारियों ने प्रार्थना-पत्र भेजे थे, जिनमें १८,६५,२४,००० रुपये की माँग की गई थी। इस काल में ९,४९१ अंशधारियों को १८,३७,८३,००० रुपये मुआवजे के रूप में दिये जा चुके हैं।

स्टेट बैंक ने ५ साल में ४०० नई शाखाएँ खोलने का लक्ष्य निर्धारित किया है। ३१ दिसम्बर सन् १९५५ तक अर्थात् पहले ६ महीनों में बैंक ने २० नई शाखायें खोली थीं। सन् १९५८ के अन्त तक स्टेट बैंक निर्धारित ४०० नई शाखाओं में से २९२ शाखायें खोल चुकी है। ३½ साल में यह प्रगति पर्याप्त अंश तक सन्तोषजनक है। वास्तविकता यह है कि सन् १९५१ और सन् १९५८ के बीच स्टेट बैंक के कार्यालयों की संख्या ३९१ से बढ़कर ६९६ हो गई है। अन्य दिशाओं में भी प्रगति हुई है। स्टेट बैंक ने छोटे-छोटे उद्योगों की सहायता का कार्य आरम्भ कर दिया है। इसने विदेशी विनिमय के कार्य में भी आगे कदम बढ़ाया है। पाकिस्तान में स्थित करांची, चिटगाँव

और नारायणगंज की शाखाओं के अतिरिक्त अन्य विदेशी शाखाएँ ३० जून सन १९५६ को बन्द कर दी गई हैं। प्रथम ६ मास में ही बैंक का शुद्ध लाभ ६८ करोड़ रुपया रहा था और इसने ७६% लाभांश घोषित किया था।

प्रथम फरवरी सन् १९५७ को स्टेट बैंक ने यह निश्चय किया था कि केन्द्रीय सहकारी बैंकों तथा शीर्ष बैंकों को सप्ताह में एक बार ग्रामीण क्षेत्रों की शाखाओं को कोषों को भेजने में निःशुल्क विप्रेष सुविधाएँ दी जायेंगी। स्टेट बैंक रियायती दरों पर सहकारी संस्थाओं को ट्रस्टी प्रतिभूतियों, केन्द्रीय सरकार द्वारा स्वीकृत ऋण-पत्रों और अंशों, माल, विनिमय बिलों, प्रतिज्ञा-पत्रों आदि पर ऋण तथा नकद साख (Cash Credit) सुविधाएँ भी उपलब्ध करेगी। आरम्भिक अवस्था में सहकारी संस्थाओं को अंश पूँजी को बढ़ाने तथा ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पादन को बढ़ाने के लिए भी ऋण दिये जाने लगे हैं। इस सम्बन्ध में स्टेट बैंक जो योग देती है वह उसके अतिरिक्त होता है जो कि रिजर्व बैंक द्वारा दिया जाता है।

सन् १९५८ के सम्बन्ध मे बैंकिंग की प्रगति की जो रिपोर्ट रिजर्व बैंक ने प्रकाशित की है कि सन् १९५८ के वर्ष में स्टेट बैंक ने परम प्रतिभूतियों में धन का विनियोग करके देश में बैंकिंग विनियोग की मात्रा बढ़ाई है। इस वर्ष में कुछ और राज्य सम्बन्धित बैंकों का स्टेट बैंक में विलय हुआ है। इस वर्ष स्टेट बैंक ने १०५ नई शाखाएँ खोली हैं, जो विशेषतया उन स्थानों पर खोली गई हैं जहाँ बैंकिंग सुविधाओं का अत्यधिक अभाव था। बैंक ने सरकारी बैंकों को विप्रेष (Remittances) सुविधाएँ देने में उदारता अपनाई है और सरकारी बिक्री तथा उत्पादन समितियों को अल्पकालीन ऋण भी दिये हैं। छोटे उद्योगों को ऋण देने की योजना अब स्टेट बैंक की सभी शाखाओं पर लागू कर दी गई है।

स्टेट बैंक का महत्त्व—

स्टेट बैंक की स्थापना भारतीय बैंकिंग के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस बैंक की सहायता से ग्रामीण वित्त की समस्या के बहुत अंश तक सुलझ जाने की आशा है। यह बैंक विधानानुसार सन् १९६० तक ४०० नई शाखाएँ खोल कर ग्रामीण तथा अर्द्ध-नागरिक क्षेत्रों में बैंकिंग सेवाओं का प्रसार करेगी। साथ ही, राजकीय कोषों को बैंकिंग कोषों में परिवर्तित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हो सकेगा और ग्रामीण क्षेत्रों में सस्ती और सुविधाजनक बैंकिंग तथा विप्रेष सुविधाएँ उपलब्ध हो सकेंगी। ग्रामीण क्षेत्रों में बचत को प्रोत्साहित करने और इन बचतों को एकत्रित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य भी सम्पन्न हो सकेगा।

आरम्भ से ही कुल बैंकों की जमा का एक-चौथाई भाग स्टेट बैंक के पास है। इससे इस बैंक में जन-विश्वास की कमी न रहेगी और साथ ही, रिजर्व बैंक को भी साख नियन्त्रण में अधिक सुविधा रह सकेगी। छोटी-छोटी सरकारी बैंकों के स्टेट बैंक में मिला देने के कारण बैंक की कार्यक्षमता एवं सप्रभाविकता और भी बढ़ गई

है । सारांश यह है कि उद्योग, व्यापार और वाणिज्य सभी दिशाओं में बैंक से भारी लाभ की आशा है। वैसे भी इसने बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण के महान् क्रम का सूत्रपात किया है।

स्टेट बैंक ऑफ इन्डिया की लेन-देन स्थिति* (लाख रुपयों में)

वर्ष	परिदत्त पूँजी	सुरक्षित कोष	कुल जमा	नकदी हाथ में	नकदी बैंकों में	विनियोग (सरकारी हुन्डियाँ)
१९५०	५,६३	६,३३	२३१,३७	७,१७	२१,१०	१,०७,१५
१९५१	५,६३	६,३५	२३०,९१	६,७१	२२,८६	६८,९३
१९५२	५,६३	६,३५	२०५,८५	३,६५	२१,९०	८०,५४
१९५३	५,६३	६,३५	२०६,९७	३,६९	१५,९५	८०,९५
१९५४	५,६३	६,३५	२३१,१३	३,०७	३२,६७	९४,९५
१९५५	५,६३	६,३५	२१९,८०	३,४३	२५,९६	१,०४,०६
१९५६	९,६३	६,३८	२३५,४७	३,३९	२४,३९	९२,५९

वर्ष	अन्य विनियोग	याचना राशि	ऋण तथा अग्रिम	भुनाये और खरीदे हुये बिल	शुद्ध लाभ	कार्यालयों की संख्या
१९५०	१४,४०	....	९४,४४	७,५१	१,२५	३८२
१९५१	१६,२३	....	१,३३,६६	८,८१	१,३०	३९३
१९५२	१६,६१	....	१,०७,१२	६,०५	१,३३	४१०
१९५३	१३,१९	....	९२,०३	१४,२८	१,२७	४२४
१९५४	१३,७७	....	९६,१५	६,१७	१,३७	४५५
१९५५	१२,०२	१,५३	८९,०१	१६,८०	१,३६	४८४
१९५६	१४,२८	१,०७	१,०७,४२	३२,७४	१,५६	५३८

QUESTIONS

1. With what objects has the Imperial Bank of India been converted into the State Bank of India? How do you think it will develop the Banking habit in the rural areas?

(Agra, B. Com., 1956)

* Vide : Statistical Tables relating to banks in India.

2. What were the issues involved in the nationalisation of the Imperial Bank of India ? Do you favour nationalisation of commercial banking in India ? (Agra, B. A., 1956 Supp.)

3. स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के कार्यों पर प्रकाश डालिये।

(Agra, B. A., 1957 Supp.)

4. What part did the Imperial Bank of India play in the credit organisation of the country ? Was the nationalisation of Imperial Bank desirable ? (Bombay, B. Com., 1956)

5. What part does the Imperial Bank of India play in the banking system of the Country ? (Agra, B. Com., 1955)

6. Write a note on :—State Bank of India.

(Sagar, B, Com., 1957 and Agra, B. Com., 1957 Supp.)

अध्याय ३८

भारत में विदेशी विनिमय बैंक

(Foreign Exchange Banks in India)

परिभाषा एवं इतिहास—

विदेशी विनिमय बैंकों से हमारा अभिप्राय उन बैंकों से होता है जो विदेशी विनिमय में व्यवसाय करती हैं और भारत के विदेशी व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध करती हैं। भारत में ऐसी बैंकों का विकास विदेशी शासन की उन्नति से सम्बन्धित है। आरम्भ से ही ब्रिटिश सरकार ने विदेशियों को भारत में विनिमय बैंक खोलने की पूरी पूरी सुविधाएँ प्रदान की थीं, जिसके फलस्वरूप शीघ्र ही उनकी उन्नति होती गई। भारतीय बैंकों ने समय-समय पर विदेशी विनिमय व्यवसाय में प्रवेश करने के प्रयत्न किये। उदाहरण-स्वरूप, सबसे पहले 'एलायंस बैंक ऑफ शिमला' ने यह कार्य आरम्भ किया, परन्तु यह सन् १९२३ में दिवालिया हो गई। सन् १९३६ में 'सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया' ने लन्दन में अपनी शाखा खोल कर यह व्यवसाय आरम्भ किया, परन्तु सन् १९३८ में उसे भी 'बारकले बैंक' के साथ विलय करना पड़ा। इस प्रकार भारतीय बैंकों द्वारा विदेशी विनिमय में प्रवेश करने के सभी प्रयत्न असफल रहे। अभी तक भी इस व्यवसाय का एकाधिकार विदेशियों के पास है, यद्यपि स्वतन्त्रता के उपरान्त एक बार फिर भारतीय बैंकों ने इस दिशा में आगे बढ़ने का प्रयत्न किया था।

भारतीय विनिमय बैंकों की असफलता के अनेक कारण हैं, जिनमें से मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं :—(१) कार्य का आरम्भ करने तथा आरम्भ काल की हानियों को सहन करने के लिए पूंजी की कमी, (२) ऐसे योग्य तथा निपुण कर्मचारियों का अभाव जो विदेशी विनिमय व्यवसाय से परिचित हों, (३) विदेशों में शाखाएं खोलने से सम्बन्धित कठिनाइयाँ, (४) प्रस्तुत विदेशी विनिमय बैंकों की प्रतियोगिता। इन कारणों का परिणाम यह हुआ है कि कुछ थोड़े से विदेशी विनिमय व्यवसाय को छोड़ कर, जो भारतीय सम्मिलित पूंजी बैंकों द्वारा किया जाता है, ऐसा लगभग सारा का सारा व्यवसाय विदेशियों के हाथ में है।

इस समय भारत में जो विदेशी विनिमय बैंक कार्य कर रही हैं उन्हें हम दो भागों में बाँट सकते हैं। कुछ बैंक तो ऐसी हैं जिनका व्यवसाय अधिकांश मात्रा में भारत में ही है, जैसे—'नेशनल बैंक ऑफ इण्डिया', 'चार्टर्ड बैंक ऑफ इण्डिया, आस्ट्रेलिया, चाइना', इत्यादि। दूसरी वे बैंक हैं जो केवल बड़ी-बड़ी विदेशी बैंकों की भारतीय शाखाएं हैं, जैसे—'लाइडस् बैंक', 'नेशनल सिटी बैंक ऑफ न्यूयार्क' इत्यादि। सब मिला कर इस समय भारत में १५ विनिमय बैंक हैं, जिनके ६५ कार्यालय हैं।

विनिमय बैंकों के कार्य—

विनिमय बैंक का प्रधान कार्य विदेशी व्यापार का वित्तीय प्रबन्ध करना होता है। इनके कार्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) निर्यात व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध—जब एक भारतीय व्यापारी माल का निर्यात करता है तो वह अपने विदेशी ग्राहक अथवा उसकी बैंक पर बिल लिखता है। इस प्रकार के बिल साधारणतया प्रस्तुत करने के ३ मास के भीतर शोधनीय होते हैं, जो दो प्रकार के होते हैं—स्वीकृति पर प्रपत्र (Document on Acceptance or D. A.) तथा शोधन पर प्रपत्र (Document on Payment or D. P.)। इस प्रकार के बिल और विकर्ष सदा ही विनिमय बैंकों द्वारा खरीद लिए जाते हैं, जो इस सम्बन्ध में अपने प्रधान कार्यालय अथवा अन्य ऐसी आर्थिक संस्थाओं से स्वीकृति प्राप्त कर लेती हैं जिनमें भारतीय माल के निर्यातकर्त्ताओं ने अपने खाते खोल रखे हैं। इस प्रकार भारतीय निर्यात व्यापारी अपने बिल को विनिमय बैंक के भारतीय कार्यालय से भुनाकर तुरन्त धन प्राप्त कर लेता है। विनिमय बैंक बिल को विदेशी केन्द्र में भेज देती है और या तो उसकी परिपक्वता पर आयात व्यापारियों से धन प्राप्त कर लेती है अथवा उसे लन्दन के मुद्रा बाजार में फिर से भुना लेती है। इस प्रकार विनिमय बैंकों को उनके द्वारा रुपयों में किये गए शोधनों की कीमत स्टर्लिंग में मिल जाती है। साधारणतया विनिमय बैंक इससे बहुत अधिक कीमत के बिल खरीदती हैं, जितने कि वे परिपक्वता के समय तक अपने पास रख सकती हैं। इस कारण अधिकाँश बिलों को, विशेषकर (D. A.) बिलों को, फिर से भुना लिया जाता है। इस प्रकार ब्रिटिश बैंकों के अल्पकालीन कोष भारत के विदेशी व्यापार का अर्थ-

प्रबन्ध करने के लिए उपयोग किये जाते हैं। बहुत बार निर्यातकर्त्ता धन एकत्रित करने के लिए विनिमय बैंक के पास बिल भेज देता है। ऐसी दशा में बैंक को बिल की परिपक्वता की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त व्यापारिक मन्दी के काल में भी विनिमय बैंक बिलों को अपने पास जमा करके रख सकती है।

जब भी एक ब्रिटिश विनिमय बैंक किसी निर्यात बिल को खरीदती है तो वह भारत में रुपयों में शोधन करती है और बाद में लन्दन में स्टर्लिंग प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार कोषों का भारत से लन्दन को हस्तान्तरण होता है। इन कोषों को भारत में वापिस लाने के लिए विनिमय बैंक रिजर्व बैंक, व्यापारियों तथा लन्दन को विप्रेष भेजने वालों को स्टर्लिंग बेचती है। इसके अतिरिक्त आयात बिलों के खरीदने से भी लन्दन से भारत को कोषों का हस्तांतरण होता है, परन्तु यदि इन सब रीतियों से भी पूरे कोषों का हस्तान्तरण नहीं हो पाता है तो बैंक सोने और चाँदी का आयात करती है।

(२) आयात व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध—आयात व्यापार के अर्थ-प्रबन्ध की दो रीतियाँ हैं। यदि आयात व्यापारी कोई योरोपियन है, जिसकी लन्दन में एजेन्सी है तो यह एजेन्सी एक बिल लिखती है, जिसे गृह-पत्र (House Paper) कहा जाता है और इसे विनिमय बैंक की लन्दन शाखा स्वीकार करती है। माल को बेचने वाला व्यापारी बिल को लन्दन मुद्रा-बाजार में भुना कर कीमत प्राप्त कर लेता है। परिपक्वता काल तक विनिमय बैंक बिल को अपने पास रखती है और तब भारतीय शाखा द्वारा निर्यातकर्त्ता से धन वसूल कर लेती हैं। इस प्रकार के सभी बिल साधारणतया २ मास की अवधि की परिपक्वता के होते हैं।

अन्य सभी निर्यातकर्ताओं के लिए माल के बेचने वाला आयात व्यापारी के ऊपर ६० दिन की परिपक्वता का बिल लिखता है। ये बिल विनिमय बैंकों द्वारा भुनाये जाते हैं, जो इन्हें माल की प्राप्ति से पूर्व धन एकत्रित करने के लिए अपने भारतीय कार्यालयों को भेज देते हैं। कुछ दशाओं में निर्यात व्यापारी बैंक के साथ शोधन से पूर्व माल प्राप्त करने की भी उपयुक्त व्यवस्था कर सकता है। इसके लिए प्रसंविदा रसीद (Trust Receipt) दी जाती है और पूरे भुगतान तक के काल के लिये ब्याज दिया जाता है। साधारणतया भारत में आयात बिलों को फिर से भुनाने का कार्य नहीं किया जाता है। इस सम्बन्ध में विनिमय बैंक और भी महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं। वे विदेशी निर्यात व्यापारियों को भारतीय आयातकर्त्ता की साख तथा आर्थिक स्थिति का समुचित ज्ञान प्रदान करती हैं।

भारतीय व्यापार की एक प्रमुख विशेषता यह है कि आयात और निर्यात दोनों ही प्रकार के बिल साधारणतया स्टर्लिंग में लिखे जाते हैं। आयात बिलों पर उनके लिखने की तिथि से लन्दन में पहुँचने की तिथि तक ६% ब्याज लिया जाता है। साधारणतया लन्दन डिस्काउण्ट बाजार की दर इससे बहुत नीची होती है। परिणाम यह होता है कि भारतीयों की तुलना में विदेशियों को सदा ही लाभ होता है। मुद्रा-

कोष की स्थापना के बाद अब निर्यात और आयात बिल कुछ दूसरी चलनों में भी लिखे जाने लगे हैं।

(३) आन्तरिक व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध—यह विनिमय बैंकों का प्रधान कार्य नहीं है, परन्तु बहुत सी विनिमय बैंक भारत के आन्तरिक व्यापार में भाग लेती हैं, विशेषकर माल के एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने तथा बन्दरगाहों पर उसके एकत्रित करने अथवा वहां से माल के बाँटने के सम्बन्ध में। भारत में विनिमय बैंकों की विशेष परिस्थिति ने उन्हें इस योग्य बना दिया है कि वे देश के भीतरी वाणिज्य में भी भारतीय बैंकों से प्रतियोगिता कर सकें। कुछ दशाओं में तो आन्तरिक व्यापार की वित्तीय व्यवस्था बड़े अंश तक विनिमय बैंकों पर निर्भर होती है। कानपुर के चमड़ा व्यापार तथा दिल्ली के सूती कपड़ा व्यापार का यही हाल है।

(४) साधारण बैंकिंग व्यवसाय—बहुत सी विनिमय बैंक अन्य प्रकार के बैंकिंग व्यवसायों में भी भाग लेती हैं। वे निक्षेपों को स्वीकार करती हैं, ऋण देती हैं, बिलों को भुनाती हैं और अभिकर्त्ता का कार्य करती हैं और इस प्रकार सभी दिशाओं में भारतीय बैंकों से प्रतियोगिता करती हैं। वे साधारणतया निक्षेपों पर अधिक ब्याज देती हैं और जलयान रसीदों (Shipping Documents) पर भी ऋण दे देती हैं। विगत वर्षों में विनिमय बैंकों के इन कार्यों में काफी कमी हो गई है।

(५) बिलों में व्यवसाय—विदेशी विनिमय बैंक आन्तरिक तथा विदेशी विनिमय बिलों में भी व्यवसाय करती हैं। मारवाड़ी बैंकरों के लगभग सभी बिल इन्हीं के द्वारा भुनाये जाते हैं।

भारत में विनिमय बैंकों का महत्व—

भारत में विनिमय बैंक काफी लम्बे काल से कार्यशील हैं और इन्होंने देश में बैंकिंग के विकास तथा विदेशी व्यापार की उन्नति में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। सन् १९५० में ऐसी बैंकों की संख्या १५ थी और इनके पास १५·७५ करोड़ रुपये की पूँजी तथा सुरक्षित कोष थे, इनके निक्षेप १६२·४७ करोड़ रुपये के थे और इनके नकद कोष २३·६७ करोड़ रुपये के थे। देश के निर्यात व्यापार के ७०% और आयात व्यापार के ९०% का इन्हीं के द्वारा अर्थ-प्रबन्ध किया जाता है। व्यापार बैंकिंग के क्षेत्रों में भी ये सम्मिलित पूँजी बैंकों की भारी प्रतियोगी हैं। भारतीय मुद्रा बाजार में विनिमय बैंकों का यह महत्त्वपूर्ण स्थान होने के अनेक कारण हैं :—

(१) ये बैंक काफी समय से इस व्यवसाय को कर रही हैं और इन्होंने ख्याति प्राप्त कर ली है।

(२) इन बैंकों के पास वित्तीय साधनों की प्रचुरता है और क्योंकि इन्हें लन्दन मुद्रा-बाजार की सेवाओं की सुविधा प्राप्त है, जिससे इनकी शक्ति और भी बढ़ गई है।

(३) इन बैंकों ने निपुण तथा अनुभवी कर्मचारियों को रखकर प्रबन्ध तथा कार्यवाहन की भारी कुशलता प्राप्त कर ली है।

(४) भारत सरकार ने, इनके विदेशी संस्था होते हुए भी, इन पर कभी भी किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं लगाये हैं। वास्तविकता यह है कि बहुत बार तो परोक्ष रूप में सरकार ने इनको सहायता भी दी है।

(५) भारत का विदेशी व्यापार अधिकतर विदेशियों के हाथ में है, जो अपना सभी व्यवसाय इन विदेशी संस्थाओं को सौंपते हैं और अन्य व्यापारियों को भी ऐसा ही करने का प्रोत्साहन देते हैं।

विनिमय बैंकों के कार्यवाहन की आलोचना—

भारत में कुछ ऐसी विदेशी बैंकों का रहना जिनके हाथ में विदेशी विनिमय बिल व्यवसाय का एकाधिकार हो, भारतीय बैंकिंग प्रणाली का एक गम्भीर दोष है। इन बैंकों के विरुद्ध बहुत सी शिकायतें निम्न प्रकार हैं :—

(१) इन बैंकों की व्यवसायिक विधि इस प्रकार की रही है कि भारत के विदेशी व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध लन्दन मुद्रा बाजार के अल्पकालीन कोषों द्वारा होता रहा है। कीन्ज ने बहुत पहले ही यह चेतावनी दी थी कि भारत की वित्तीय व्यवस्था के लिए यह भय से खाली न था, परन्तु हाल में यह स्थिति काफी बदल गई है। विनिमय बैंकों ने भारत में भी काफी निक्षेप प्राप्त कर लिए हैं और अब इस धन से वे अपना कार्य चलाती हैं।

(२) भारतीय विदेशी व्यापार में भारतीयों का हिस्सा केवल १५-२०% है। इसका प्रमुख कारण विनिमय बैंकों की भारत विरोधी नीति बताया जाता है। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के सम्मुख बहुत सी व्यापार संस्थाओं ने बताया था कि विनिमय बैंक विदेशियों को भारतीय व्यापार-गृहों की आर्थिक स्थिति का झूठा और असन्तोषजनक हवाला देती हैं, वे भारतीय निर्यात व्यापारियों को D. A. बिलों की वे सुविधाएँ नहीं देती हैं जो योरोपियनों को दी जाती हैं और साख-पत्र खोलने से पहले भारतीय आयात फर्मों को माल की कीमत का १५ से लेकर २०% तक जमा करने पर बाध्य करती हैं।

(३) विनिमय बैंक भारतीय बीमा कम्पनियों, जलयान कम्पनियों तथा दलालों के साथ भेद-भाव करती हैं। ये बहुधा यह अनुरोध करती हैं कि उनके भारतीय ग्राहक सभी कार्यों के लिये विदेशी सेवाओं का उपयोग करें।

(४) इन बैंकों में ऊपर की श्रेणी के सभी कर्मचारी विदेशी होते हैं और इन्होंने भारतवासियों के शिक्षण के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया है।

(५) पूँजी की प्रचुरता तथा लन्दन मुद्रा-बाजार के निकट सम्बन्धों के कारण भारतीय मौद्रिक अधिकारी इन पर ठीक-ठीक नियन्त्रण रखने में असफल रहते हैं। इन बैंकों की भारत-विरोधी नीति राष्ट्रीय हितों को भारी हानि पहुँचा सकती है।

(६) विनिमय बैंक भारतीय व्यापार बैंकों की भारी प्रतियोगी हैं। वे अधिक ब्याज देकर निक्षेपों को आकर्षित करती हैं और कुछ समय पहले तक तो कोई ऐसा नियम भी न था जिसके द्वारा इन बैंकों के भारतीय निक्षेपदाताओं के हितों की रक्षा हो सकती। भारतीय व्यवसायी इनकी नीति को भी प्रभावित नहीं कर सकते हैं।

(७) विनिमय बैंक संघ के नियमों और उसकी कार्यवाहियों को गुप्त रखा जाता है। भारतीय व्यापारियों से न तो इस सम्बन्ध में सलाह ली जाती है और न उन्हें सूचना दी जाती है।

(८) विनिमय समझौतों के पूरा होने में देर होने पर अनुचित रूप में ऊँचा हर्जाना लिया जाता है।

(९) दिन प्रति दिन के प्रत्येक व्यवसाय में भारतीय व्यापारियों के साथ भेद-भाव किया जाता है।

(१०) यह कहा जाता है कि इन बैंकों ने भारतीय पूँजी को विदेशी औद्योगिक व्यवसायों तथा परम प्रतिभूतियों की ओर हस्तान्तरित करने का बराबर प्रयत्न किया है।

(११) ये बैंक उन देशों की मुद्राओं को बदलने के लिये बहुत अधिक कमीशन लेती हैं जिनकी बैंकों की शाखाएँ भारत में नहीं हैं और अन्य विदेशी बैंकों को भारत में आने से रोकती हैं।

(१२) इन बैंकों पर यह आरोप लगाया जाता है कि इन्होंने सदा ही भारतीय हितों और दृष्टिकोण का विरोध किया है और विदेशों में भारत विरोधी वातावरण उत्पन्न किया है।

दोषों को दूर करने के उपाय—

विनिमय बैंकों के उपरोक्त दोषों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इनके कार्यों पर नियन्त्रण रखने की भारी आवश्यकता है। सन् १९३१ की केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने यह सिफारिश की थी कि विनिमय बैंकों को अनुज्ञापन लेने के लिए बाध्य किया जाय, जो एक सीमित काल के लिए हों और ऐसी शर्तों पर फिर से दिये जायें कि भारतीय व्यापारियों की कठिनाइयाँ दूर हो सकें और ये बैंक भारत में अपनी लेन-देन का वार्षिक विवरण देती रहें।

सन् १९४९ के विधान को अन्य बैंकों की भाँति विनिमय बैंकों पर भी लागू किया गया है। इनके लिए भी रिजर्व बैंक से अनुज्ञापन प्राप्त करना आवश्यक होता है और

विभिन्न प्रकार के विवरण तथा रिपोर्टें भेजना अनिवार्य है। भारत के बाहर स्थापित होने वाली सभी बैंकिंग कम्पनियों को कम से कम १५ लाख रुपये की परिदत्त पूंजी रखनी पड़ती है और यदि उनकी शाखाएं कलकत्ते अथवा बम्बई में हैं तो २० लाख रुपए की परिदत्त पूंजी आवश्यक है तथा यह राशि नकदी तथा स्वीकृत प्रतिभूतियों के रूप में रिजर्व बैंक में जमा करनी पड़ती है। सन् १९४९ के विधान की विस्तृत व्यवस्थाएं एक पीछे के अध्याय में दी जा चुकी हैं। विनिमय बैंकों को अपनी समय तथा मांग देनों का का ७५% ऐसे आदेयों में रखना पड़ता है जो भारत में स्थित हों। इन वैधानिक व्यवस्थाओं से काफी लाभ की आशा है।

भारत में सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय विदेशी विनिमय बैंक खोली जायें। आरम्भ में शायद यह उपयुक्त होगा कि अच्छी भारतीय बैंक विदेशों से सम्बन्ध कायम करें, जिससे कि विदेशों में शाखाएं खोलने का भारी व्यय बच जाय। अभी तक भारतीय बैंकों ने विदेशी विनिमय व्यवसाय से अलग ही रहने का प्रयत्न किया है। इससे भारत को आय की हानि तो हुई है, परन्तु साथ ही उसे विदेशी व्यापार में कठिनाइयाँ भी बहुत सहनी पड़ती हैं। यह एक आशाजनक बात है कि हाल में भारतीय बैंकों ने इस दिशा में प्रयत्न किया है। सन् १९५१ के अन्त में भारतीय बैंकों की विदेशों में ११ शाखाएं तथा १६ कार्यालय थे। अप्रैल सन् १९५२ में इन विदेशो कार्यालयों की कुल देन १०१ करोड़ रुपया थी। सन् १९५४ में इनकी संख्या तो १६ ही रही थी, परन्तु इनकी कुल देन १७८ करोड़ रुपये तक पहुंच गई थीं। सन् १९५६–५७ में इनकी संख्या १७ थी और कुल जमा १८९·३४ करोड़ रुपया। नए विधान के अनुसार अब विदेशी विनिमय बैंक को अपनी लेन का ७५% आदेयों के रूप में भारत में रखना पड़ता है।

विनिमय बैंकों की वर्तमान स्थिति—

सन् १९५६ में भारत में कुल १५ विनिमय बैंक थीं, जिनकी ६३ शाखाएं देश भर में फैली हुई थीं। इन बैंकों का प्रारम्भन विदेशों में हुआ है। भूतकाल में इन पर भारतीय बैंकिंग संविधान की व्यवस्थायें लागू नहीं होती थीं, परन्तु नवीन बैंकिंग नियमों में रिजर्व बैंक को इनके कार्यों पर नियन्त्रण रखने का अधिकार दिया गया है। इन बैंकों की अधिकांश शाखाएं बड़े-बड़े नगरों में स्थित हैं। इस समय ६३ शाखाओं में से २० कलकत्ते, १५ बम्बई, १० दिल्ली और १० मद्रास में है। विनिमय बैंक भारत में निक्षेपों को जमा करने और देश में आन्तरिक व्यापार की वित्त व्यवस्था का भी काम करती हैं। मार्च सन् १९५६ में इनकी जमा देन १९० करोड़ रुपया थी, जबकि उसी समय भारत में इनके ऋणों और अग्रिमों की कुल राशि १९२ करोड़ रुपया थी। अगले वर्ष अर्थात् सन् १९५६–५७ में इनकी कुल जमा घट कर १८७ करोड़ रुपया रह गई थी, जो सन् १९५७–५८ में बढ़कर २०४ करोड़ रुपये तक पहुंच गई, यद्यपि इनकी संख्या में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। निम्न तालिका इनकी प्रगति की स्थिति दिखाती है :—

भारत में विदेशी विनिमय बैंकों की स्थिति

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	बैंकों की संख्या	कुल जमा	नकदी हाथ में	नकदी बैंकों में	सरकारी हुण्डियों में विनियोग	अन्य विनियोग	ऋण तथा अग्रिम	बिलों का अपहरण	शुद्ध लाभ
१९५२	१५	१७६·५०	२·५६	१४·२७	४३·३४	१·०४	१३१·००	१९·३१	१·८७
१९५३	१६	१६५·८४	२·२५	१२·३४	४५·९७	१·०३	११०·७१	२०·४४	१·३९
१९५४	१६	१७८·४९	२·२२	१३·८३	४६·३९	१·८४	१२४·९४	२५·७५	१·२५
१९५५	१७	१९४·४६	३·२२	१४·५८	४६·०१	३·६६	१३६·०७	३१·८८	१·६८
१९५६	१७	१८७·३४	२·८१	१५·०२	३९·२७	२·८७	१६१·२२	४०·१४	१·६६
१९५७	१७	२०४·१४	२·६२	१७·५३	३८·९१	४·३९	१४३·८७	५०·४२	१·९२

सही स्थिति का पता लगाने के लिए यह जनना आवश्यक है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् भी विदेशी विनिमय बैंकों के व्यवसाय में शिथिलता का कोई चिन्ह दृष्टिगोचर नहीं होता है, यद्यपि ये सभी बैंक विदेशी संस्थाएँ हैं। ऐसी वैंकों की संख्या लगभग स्थिर रही है। सन् १९२० में यह १५ थीं और अब १७ हैं। इनकी कुल जमा सन् १९२० में केवल ७५ करोड़ रुपया थी, जो सन् १९४० में ८५ करोड़ रुपया हो गई थी। किन्तु युद्धकाल में इसमें तेजी के साथ वृद्धि हुई और सन् १९४८ में यह १९० करोड़ रुपये तक पहुँच गई। तत्पश्चात् यह बराबर बढ़ रही है और सन् १९५७ में २०४ करोड़ रुपये तक आ गई थी। ऋण, अग्रिम तथा बिल अपहरण की राशि पहले घटती हुई दिखाई पड़ती है। सन् १९४० में यह २१० करोड़ रुपया थी, जो युद्धकाल में घटते-घटते सन् १९४८ में ११४ करोड़ रुपये पर आ गई थी। उसके पश्चात् यह फिर बरावर बढ़ती गई है और सन् १९५६ में लगभग २०२ करोड़ रुपया थी और सन् १९५७ में १९४ करोड़ रुपया। विनिमय बैंकों के कार्यालयों की संख्या सन् १९५३ से लगभग बराबर सी रही है। उपरोक्त वर्ष में यह ६८ थी, जो सन् १९५४ में घट कर ६६ रह गई थी। तत्पश्चात् सन् १९५८ तक यह ६७ रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि पिछले कुछ वर्षों से इन बैंकों ने भी अपने आदेयों की तरलता को बढ़ाने का प्रयत्न किया है। इनकी याचना राशि की मात्रा का निरन्तर विस्तार होता हुआ प्रतीत होता है।*

---

* The following are the foreign exchange banks in India :—

National Bank of India ; Llyods Bank ; Chartered Bank of India, China and Australia; Grindlays Bank; Hongkong and

(Cont. on next page)

देश में भारतीय विनिमय बैंक क्यों नहीं हैं ?—

यह प्रश्न बड़ा ही स्वाभाविक है कि भारतीय विनिमय बैंक स्थापित क्यों नहीं हुई हैं। ऐसा कहा जाता है कि आन्तरिक व्यापार के वित्त प्रबन्धन में विदेशी व्यापार की तुलना में लाभ अधिक रहता है। यही कारण है कि भारतीय सम्मिलित पूँजी बैंक अपने कोषों की सीमितता के कारण उसी पर सन्तोष कर लेती हैं। विदेशी व्यापार सम्बन्धी बिलों में रुपया तीन मास से भी अधिक काल के लिए फँस जाता है, जो इन बैंकों के लिए काफी असुविधाजनक हो जाता है, परन्तु इस सम्बन्ध में यह याद रखना आवश्यक है कि भारतीय सम्मिलित पूँजी बैंक अपने फालतू धन को या तो सरकारी प्रतिभूतियों में लगा देती हैं या उन्हें रिजर्व बैंक में जमा कर देती हैं। यदि यह धन इसके विपरीत विदेशी व्यापार के वित्त प्रबन्ध में लगाया जाय तो लाभ अधिक हो सकता है।

इसी प्रकार बहुत बार यह भी कहा जाता है कि भारत में विदेशी विनिमय व्यवसाय के संचालन के लिए पर्याप्त निपुण तथा योग्य कर्मचारियों की कमी है। यह तर्क भी बहुत सारयुक्त प्रतीत नहीं होता है। इम्पीरियल बैंक के गवर्नर ने केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के समक्ष अपने बयान में कहा था कि आवश्यक कर्मचारियों को तो कभी भी सरलता से प्राप्त किया जा सकता है।

विगत वर्षों में भारतीय सम्मिलित पूँजी बैंकों ने अधिक अंश तक विदेशी विनिमय व्यवसाय में हिस्सा लेने की चेष्टा की है। अधिक बैंकों ने विदेशों में शाखाएँ खोलने अथवा अभिकर्त्ता नियुक्त करने का प्रयत्न किया है। सन् १९५४ में भारतीय बैंकों की विदेशी शाखाओं की संख्या १०७ तक पहुँच गई थी।

भारतीय बैंकों का विदेशों में व्यवसाय—

भारतीय सम्मिलित पूँजी बैंकों द्वारा विदेशी विनिमय व्यवसाय आरम्भ करने में मार्ग में प्रमुख रुकावट विदेशों में शाखाएँ खोलने और उन्हें सफलतापूर्वक चलाने की कठिनाई रही है। इस सम्बन्ध में अनेक राजनीतिक और चलन सम्बन्धी कठिनाइयाँ पैदा होती हैं। विदेशी शाखा तभी कोषों को आकर्षित कर सकती है जबकि उसे बहु-मात्रा में पूँजी, अनुभव और सम्मान के लाभ प्राप्त हों। पाकिस्तान के निर्माण के पश्चात् बहुत सी भारतीय बैंकों की वे शाखाएँ जो उन क्षेत्रों में थीं जो पाकिस्तान में सम्मिलित किए गए हैं, विदेशी शाखाएँ बन गई हैं। सन् १९४६ में अनुसूचित बैंकों की विदेशी शाखाओं की संख्या ६२८ थी, जो सन् १९५४ में केवल १०७ रह गई थी।

Shanghai Banking Corporation; Mercantile Bank of India; Eastern Bank; National City Bank of New York; Bank of Tokyo; British Bank of Middle East; Netherlands Trading Society; American Express Co.; Comptoir National D'Escompte de Paris and Bank of China.

गैर अनुसूचित बैंकों की विदेशी शाखाओं में भी कमी हुई है। इस समय कुल विदेशी शाखाओं में से ६६ अकेले पाकिस्तान में हैं। इनके अतिरिक्त बर्मा में ६, मलाया में १२, ब्रिटेन में ५ और ब्रिटिश पूर्वी अफ्रीका में ७ शाखाएँ हैं। विदेशी शाखाएँ अधिकतर पाँच बड़ी-बड़ी बैंकों, अर्थात् बैंक ऑफ बड़ौदा, दी इण्डियन ओवरसीज बैंक (The Indian Overseas Bank), दी अपर कलकत्ता बैंक, दी बैंक ऑफ इण्डिया और स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की ही हैं।

भारतीय बैंकों की विदेशी शाखाओं के सम्बन्ध में प्राप्त सूचनाओं को देखने से पता चलता है कि इन शाखाओं में कुल देन के अनुपात में भारतीय शाखाओं की तुलना में अधिक बड़े नकद कोष रखे जाते हैं। इसका प्रमुख कारण शायद यह है कि एक ओर तो सम्मान प्राप्त करने का प्रयत्न किया जा रहा है और दूसरी ओर आरम्भ में सुरक्षा पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। विभाजन के पश्चात् देश की बैंकों ने विदेशी व्यवसाय बढ़ाने का प्रयत्न किया है, परन्तु अभी विदेशी विनिमय व्यवसाय में वे बहुत पीछे हैं।

नये विधान में विनिमय बैंकों का नियन्त्रण—

सन् १९४९ के विधान के लागू हो जाने के पश्चात् विनिमय बैंकों पर रिजर्व बैंक का नियन्त्रण काफी हद तक स्थापित हो चुका है। इस नियम में भारतीय हितों की रक्षा के लिए इन बैंकों पर निम्न प्रतिबन्ध लगाये गये हैं :—

(१) जिन बैंकों का प्रारम्भन भारत से बाहर हुआ है उन्हें कम से कम १५ लाख रुपया रिजर्व बैंक में जमा के रूप में रखना पड़ता है और यदि उनकी शाखाएँ कलकत्ता अथवा बम्बई में भी हैं तो कम से कम २० लाख रुपया रखना होता है।

(२) यदि ऐसी बैंक भारत में व्यवसाय बन्द करती है तो रिजर्व बैंक में जमा की राशि पर बैंक के लेनदारों को सर्वप्रथम प्राथमिकता दी जायगी।

(३) प्रत्येक तृतीय मास के अन्तिम दिन पर किसी भी ऐसी बैंक के भारत में स्थित आदेय उसकी माँग तथा समय देन के मूल्य के ७५% से कम नहीं होने चाहिए।

(४) प्रत्येक वर्ष के अन्त में इन बैंकों को भारतीय व्यवसाय का अपना-अपना चिट्ठा और लाभ-हानि लेखा बनाना पड़ता है। इस चिट्ठे का प्रकाशन और समुचित अंकेक्षण होता है।

उपसंहार—

विनिमय बैंकों का मुख्य व्यवसाय भारत के विदेशी व्यापार का वित्तीय प्रबन्ध है। देश की सभी विदेशी बैंक विदेशी संस्थायें हैं। वे विदेशी चलनों में बिलों को खरीदती हैं और जहाजी रसीदों तथा अन्य पत्रों की आड़ पर ऋण देती हैं। ये बैंक देश के आन्तरिक व्यापार में भी हाथ बँटाती हैं, विशेषतया निर्यात और आयात के मालों को एक से दूसरे स्थान पर ले जाने के सम्बन्ध में। विगत वर्षों में इन बैंकों ने

देश में अपने व्यवसाय के विस्तार का बराबर प्रयत्न किया है। इन्होंने सेविंग और चालू खातों पर निक्षेप स्वीकार करना भी आरम्भ कर दिया है और आन्तरिक व्यापार के अर्थ-प्रबन्ध में अधिक दिलचस्पी दिखाई है। सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम के अनुसार इन बैंकों को अपनी देन का ७५% आदेयों के रूप में भारत में रखना आवश्यक है, अतः इनके द्वारा देश के आन्तरिक व्यवसाय में अधिक हिस्सा लेने की प्रवृत्ति बराबर बढ़ रही है। भारत में ऐसी बैंकों का प्रारम्भ सन् १८४२ से हुआ है। यही विदेशी व्यापार और वाणिज्य की महत्त्वपूर्ण कड़ियाँ हैं।

QUESTIONS

1. What part do Exchange Banks paly in financing the external trade of India ? What charges have been levelled against them and how does the Indian Government try to control their activities ? (Agra, B. Com., 1956)

2. Discuss the main functions performed by the Exchange Banks in India and point out how far their defects have been remedied after Independence. (Raj., B. Com., 1956)

3. The exchange banks as a separate limb of the Indian banking system have not played their part in the best interests of Indian trade. Discuss. (Bombay, B. Com., 1950)

4. Examine the various complaints against the working of the foreign exchange banks in India. What has the Government of free India done to remove these complaints ? Discuss.
(Raj., B. Com., 1954)

5. Describe the operations of the Exchange Banks in connection with the financing of India's foreign trade. What objections have been raised against them and how far have they been removed by the Indian Banking Companies Act, 1949 ?
(Agra, B. Com., 1956 Supp.)

6. Write a note on :—

Exchange Banks
(Agra, B. Com., 1957 Supp., 1956 Supp. and 1954)

Importance of Exchange Banks in India.
(Raj., B. Com., 1957)

D/A and D/P Bills. (Agra, B. Com., 1957, 1955 Supp., 1954)

अध्याय ३९
भारत में देशी बैंकर
(Indigenous Bankers in India)

परिभाषा—

भारतीय मुद्रा बाजार में देशी बैंकरों तथा महाजनों का भारी महत्त्व है। भारतीय केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के अनुसार देशी बैंकर अथवा बैंक वह व्यक्ति या निजी फर्म है जो निक्षेपों को स्वीकार करने, हुण्डियों में व्यवसाय करने अथवा ऋण देने का कार्य करे। देश के विभिन्न भागों में इनके अलग-अलग नाम हैं। बङ्गाल में इन्हें महाजन कहा जाता है, उत्तर-प्रदेश में साहूकार, पंजाब में खत्री, बम्बई में सर्राफ, मारवाड़ में सेठ, मद्रास में चेट्टी, इत्यादि, परन्तु एक देशी बैंकर तथा साहूकार (Money lender) में यह महत्त्वपूर्ण अन्तर होता है कि बैंकर निक्षेपों को स्वीकार करता है, परन्तु साहूकार ऐसा नहीं करता है। इनकी बैंकिंग सुविधाएँ देश को बड़े लम्बे काल से प्राप्त हैं और सभी प्रकार के परिवर्तन हो जाने पर भी, इस समय भी देश के आर्थिक जीवन में इनका भारी महत्त्व है। छोटे-छोटे नगरों तथा ग्रामीण क्षेत्रों और देश के आन्तरिक व्यापार तथा कृषि वित्त में अभी तक आधुनिक बैंक इनके महत्त्व को कम नहीं कर पाई हैं।

देशी बैंक और आधुनिक बैंकों में अन्तर—

देशी बैंक आधुनिक बैंकों से अनेक प्रकार भिन्न होती हैं :—

(१) आधुनिक बैंकों की तुलना में देशी बैंक निक्षेपों द्वारा अपनी पूँजी का एक बड़ा ही तुच्छ भाग प्राप्त करती हैं और अंश पूँजी द्वारा तो यह कुछ भी धन एकत्रित नहीं करती हैं।

(२) देशी बैंकिंग प्रणाली में धनादेशों का चलन नहीं है, सभी भुगतान नकदी में किये जाते हैं।

(३) देशी बैंकर बैंकिंग व्यवसाय के साथ-साथ व्यापार आदि अन्य व्यवसाय भी करते हैं।

(४) देशी बैंकर अचल सम्पत्ति की आड़ पर भी ऋण दे-देते हैं और इनके ऋण दीर्घकालीन भी होते हैं, यद्यपि इनकी ब्याज की दरें आधुनिक बैंकों की तुलना में काफी ऊँची होती हैं।

(५) ये बैंक व्यापार बैंकों और औद्योगिक बैंकों की भाँति दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन ऋणों में भेद नहीं करती हैं और दोनों प्रकार के ऋण एक साथ देती हैं।

(६) इन बैंकरों पर सन् १६४६ के विधान की व्यवस्थाएं लागू नहीं होती हैं और इनका विदेशी व्यापार से लगभग कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता है।

(७) इनकी कार्य-विधि अलग होती है और इनका कार्य साधारणतया प्रादेशिक भाषाओं में होता है।

देशी बैंकरों के कार्य—

देशी बैंकरों के कार्यों को हम दो भागों में बांट सकते हैं, अर्थात् बैंकिंग व्यवसाय से सम्बन्धित कार्य तथा अन्य प्रकार के कार्य। प्रथम प्रकार के कार्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) निक्षेपों का स्वीकार करना—ये बैंकर माँग पर तुरन्त शोधनीय निक्षेपों अथवा ऐसी निक्षेपों को स्वीकार करते हैं जो एक निश्चित काल पीछे शोधनीय हों। साधारणतया इनकी ब्याज की दर आधुनिक बैंकों की निक्षेप दर से ऊँची रहती है, परन्तु बम्बई की कुछ संस्थाओं को छोड़कर ये चैक द्वारा शोधन नहीं करती हैं।

(२) ऋणों का देना—यह देशी बैंकरों और साहूकारों का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है। इस सम्बन्ध में ये संस्थायें लगभग सभी प्रकार की प्रतिभूतियाँ स्वीकार करती हैं, जिनमें ऋण लेने वाले की व्यक्तिगत जमानत भी सम्मिलित है। अच्छी प्रतिभूतियों पर ब्याज की दर ६% से लेकर १८% तक होती है, परन्तु अपर्याप्त प्रतिभूतियों अथवा किश्तों पर चुकाये जाने वाले ऋणों पर ब्याज की दर कभी-कभी ४४% तक होती है। ये संस्थायें कृषि, उद्योग तथा व्यापार का काम करती हैं। साहूकार भूमि, फसल, जेवरात आदि की प्रतिभूतियों पर ऋण देते हैं। कुछ ऋण वस्तुओं अथवा माल के रूप में भी दिये जाते हैं और वसूल भी माल में ही किये जाते हैं। इसी प्रकार कारीगर के इस वायदे पर कि वे तैयार माल को उन्हीं के हाथ बेचेंगे, ऋण दे दिए जाते हैं। कभी-कभी ये ऋण कच्चे मालों और अन्य आवश्यक सामानों के रूप में भी दिये जाते हैं। बड़े-बड़े उद्योगों के पास निक्षेप जमा करके उनका अर्थ-प्रबन्ध किया जाता है, परन्तु गोदामों में रखे हुए माल की आड़ पर देशी बैंकर ऋण नहीं देते हैं।

(३) हुण्डियों का व्यवसाय—देशी बैंकर विभिन्न प्रकार की हुण्डियों की निकासी, उनके क्रय-विक्रय तथा उनके भुनाने का कार्य करते हैं।

देशी बैंकरों तथा साहूकारों के गैर बैंकिंग व्यवसायों में व्यापार तथा दुकानदारी का सबसे अधिक महत्त्व है। आधुनिक बैंकों की प्रतियोगिता के कारण बैंकिंग व्यवसाय में जो हानि हुई है उसकी कमी इन्होंने गैर-बैंकिंग व्यवसायों को बढ़ा कर पूरी की है। इसके अतिरिक्त यह सट्टा व्यवसाय में भाग लेते हैं और व्यापार फर्मों के अभिकर्त्ता के रूप में कार्य करते हैं। व्यापार बैंकों के साथ भी इनका सम्बन्ध रहता है। वैसे तो ये संस्थाएं साधारणतया अपनी तथा अपने कुटुम्ब के सदस्यों और रिश्तेदारों की

पूँजी से काम चलाती हैं परन्तु आवश्यकता पड़ने पर व्यापार बैंकों से ऋण भी लेती हैं और कभी-कभी अपने फालतू कोषों को उनमें जमा भी करती हैं, परन्तु आधुनिक बैंक केवल ऐसे साहूकारों तथा देशी बैंकरों को ऋण देती हैं जो उनकी स्वीकृत सूची पर होते हैं। ऐसी ही संस्थाओं को अग्रिम तथा डिस्काउन्ट सुविधाएँ भी दी जाती हैं। इनकी हुन्डियाँ व्यापार बैंकों द्वारा भुनाई जाती हैं और स्टेट बैंक तथा हाल में रिजर्व बैंक उनकी हुन्डियों को फिर से भुनाने का भी कार्य करती हैं। आधुनिक बैंक इन्हें विप्रेष (Remittance) सुविधाएँ भी प्रदान करती हैं।

इनके दोष—

इस प्रणाली के दोष कई प्रकार के हैं :—

(१) ये संस्थाएँ बैंकिंग व्यवसाय के साथ साथ और भी अनेक प्रकार के व्यवसाय करती हैं, जो बैंक के रूप में इनकी उपयोगिता को कम कर देते हैं और विशेष समस्याएँ उत्पन्न करते हैं।

(२) इनके ब्याज की दरें बहुत ऊँची होती हैं।

(३) इनके पास कोषों की कमी है, क्योंकि इनका निक्षेप व्यवसाय बहुत ही सीमित है। इसी कारण हुन्डियों का व्यवसाय भी ये कम अंश तक ही कर पाते हैं।

(४) इनकी कार्य-विधियों में भारी भिन्नता है और ये साधारणतया परम्परागत आधारों पर काम करते हैं। इसके कारण इनके निरीक्षण और अंकेक्षण का कार्य बहुत कठिन है।

(५) ये समुचित बैंकिंग सिद्धान्तों पर कार्य नहीं करते हैं और बहुधा अपर्याप्त प्रतिभूतियों पर ऋण देकर जोखिम के अंश को बढ़ाते हैं।

(६) इनमें पारस्परिक सहयोग का अभाव है, आधुनिक बैंकों के साथ भी इनकी प्रतियोगिता चलती आ रही है।

(७) ये अपने लेखों और विवरण-पत्रों को प्रकाशित नहीं करते हैं।

(८) अन्त में, साहूकारों की कार्य-विधि साधारणतया धोखेबाजी और अनुचित व्यवहारों से भरी रहती है। अनेक प्रकार की कटौतियाँ, ऋण की मात्रा को बढ़ाकर लिखना, रसीद न देना आदि इनके भारी दोष हैं। ऐसा कहा जाता है कि ये अपने ऋणी को ऋण से मुक्त होने का अवसर ही कम देते हैं।

उपरोक्त दोषों के कारण हाल के वर्षों में इन्हें व्यवसाय की काफी हानि हुई है। आधुनिक बैंकों की निरन्तर प्रतियोगिता ने भी इन्हें गैर-बैंकिंग व्यवसाय को अधिक अंश तक ग्रहण करने पर बाध्य किया है। साथ ही, रूढ़िवादी प्रथाओं ने भी इनके व्यवसाय को काफी चौपट किया है।

सुधार के सुझाव—

सुधार की तीन दिशाओं में भारी आवश्यकता है :—(१) कार्य-विधि में

सुधार, (२) आर्थिक स्थिति में सुधार और (३) अनुचित व्यवहारों का अन्त । लगभग सभी बैंकिंग जाँच समितियों ने यह स्वीकार किया है कि इन संस्थाओं की सेवाएँ काफी महत्त्वपूर्ण हैं और इनका अन्त कर देना उचित न होगा, परन्तु इनके कार्य-वाहन में सुधार की भारी आवश्यकता है । सुधार के सुझाव निम्न प्रकार हैं :—

(१) ऐसी संस्थाओं के सट्टा और व्यापार व्यवसायों पर प्रतिबन्ध लगाकर उनका सम्बन्ध रिजर्व बैंक से स्थापित किया जाय, जिससे कि उन क्षेत्रों को भी समुचित बैंकिंग सेवाएँ उपलब्ध हो जाएँ जहाँ उनका अभाव है। इस सम्बन्ध में पूँजी, निक्षेप, कार्यवाहन आदि के सम्बन्ध में उपयुक्त नियम बना कर इन्हें अग्रिम, विप्रेष तथा पुन-अपहरण (Rediscount) की सुविधाएँ दी जायँ ।

(२) ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि व्यापार बैंक इनकी हुन्डियों का स्वतन्त्रतापूर्वक अपहरण करती रहें ।

(३) स्टेट बैंक तथा रिजर्व बैंक द्वारा समुचित शर्तों पर इन्हें वही विप्रेष सुविधाएँ दी जायें जो अन्य बैंकों को प्राप्त हैं ।

(४) कार्य-विधि में आवश्यक सुधार करके इन्हें आधुनिक आधार पर संग-ठित किया जाए और इनके अंकेक्षण तथा नियन्त्रण की भी समुचित व्यवस्था की जाय ।

(५) अनुज्ञापित बैंकों की स्थापना, विलय तथा देशी बैंकरों के संघ बना कर इनकी कुशलता बढ़ाई जाय और पारस्परिक डाह को समाप्त किया जाय ।

(६) बिल व्यवसाय को इन बैंकों का महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जाय और इन्हें असीमित उत्तरदायित्व आधार पर संगठित किया जाय ।

(७) साहूकारों के सम्बन्ध में राज्य सरकारों द्वारा इस प्रकार विधान बनाये जायँ कि उनके अनुचित व्यवहारों का अन्त हो और ब्याज की दरों में कमी हो । छोटे नगरों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारी साख का विकास इस सम्बन्ध में लाभदायक हो सकता है। विभिन्न राज्य सर-कारों ने ऋणी वर्गों की रक्षा के लिए जो नियम बनाए हैं उनका कार्य-वाहन सन्तोषजनक नहीं है । यह कमी दूर होनी चाहिए । साहू-कारों के हिसाब-किताब की जाँच की भारी आवश्यकता है, जिससे कि उनके अनुचित व्यवहार कम हो जायँ ।

देशी बैंकर और रिजर्व बैंक—

देशी बैंकर ग्रामीण क्षेत्रों की लगभग समस्त मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और नगर क्षेत्रों में भी उनका काफी महत्त्व है। इस कारण यह आवश्यक है कि उनका आधुनिक बैंकिंग प्रणाली से समुचित सम्बन्ध रहे । इस समय रिजर्व बैंक

का इन पर लगभग कुछ भी प्रभाव नहीं है और उसकी किसी भी नीति का इन पर असर नहीं पड़ता है। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति की सिफारिशों के आधार पर सन् १९३७ में रिजर्व बैंक ने एक ऐसी योजना प्रस्तुत की थी जिसके अनुसार कुछ निश्चित शर्तों पर देशी बैंकर रिजर्व बैंक की स्वीकृत सूची में सम्मिलित किये जा सकते हैं। ये शर्तें निम्न प्रकार हैं :—

(१) केवल ऐसे देशी बैंकरों को रिजर्व बैंक की सूची में सम्मिलित किया जा सकता है जो कम से कम दो लाख रुपये से व्यवसाय करते हों और ५ वर्ष में उसे ५ लाख रुपये तक बढ़ाने को तैयार हों।

(२) ऐसी बैंकों को सभी प्रकार के गैर-बैंकिंग व्यवसाय बन्द करने होंगे।

(३) ऐसे बैंकर अपने लेखों को एक निश्चित रूप में रखें, उनका अंकेक्षण करायें और रिजर्व बैंक को निरीक्षण का अधिकार दें।

(४) ये रिजर्व बैंक को समय-समय पर आवश्यक विवरण भेजते रहें और अपने विवरण-पत्रों को प्रकाशित करें।

(५) जो देशी बैंकर उपरोक्त व्यवस्थाओं के अन्तर्गत रिजर्व बैंक से सुविधाएँ प्राप्त करने के अधिकारी नहीं हैं वे भी अपने संघ बनाकर ये सुविधाएँ प्राप्त कर सकते हैं।

बदले में रिजर्व बैंक ने देशी बैंकरों को अग्रिम, विप्रेष तथा बिलों के भुनाने के सम्बन्ध में वही सुविधाएँ प्रदान करने की व्यवस्था की है, जो अन्य बैंकों को प्राप्त हैं, परन्तु देशी बैंकरों ने उपरोक्त सुझावों तथा शर्तों को उपयुक्त नहीं समझा है, जिसके कारण भारतीय बैंकिंग के देशी और आधुनिक अंगों के बीच आवश्यक समचय स्थापित नहीं हो पाया है। केवल ७ संस्थाओं ने ही रिजर्व बैंक की सुविधाओं का लाभ उठाने का प्रयत्न किया है। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि देशी बैंकर अपने लाभदायक व्यापार व्यवसाय को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं। रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् उसके द्वारा एक बार फिर इस दिशा में प्रयत्न किया गया है और समस्त ग्रामीण वित्त व्यवस्था की इस दृष्टिकोण से जाँच भी की गई है। ऐसी आशा की जाती है कि भविष्य में ऐसी योजना बनाई जायगी जिसमें इन संस्थाओं का अधिक सप्रभाविक उपयोग हो सकेगा। स्मरण रहे कि सन् १९४९ का विधान देशी बैंकरों तथा साहूकारों पर लागू नहीं होता है। यदि ये संस्थाएँ अपने नाम के साथ बैंक अथवा बैंकर शब्द का प्रयोग नहीं करती हैं तो इस विधान के अनुसार इनके कार्यों में भी कोई हस्तक्षेप रिजर्व बैंक नहीं कर सकती है।

देशी बैंकर तथा आधुनिक बैंकर का दृष्टिकोण—

कार्यों के दृष्टिकोण से दोनों प्रकार के बैंकरों में कोई विशेष अन्तर नहीं होता है, क्योंकि दोनों ही बैंकिंग सम्बन्धी कार्य करते हैं, परन्तु दोनों की कार्य-विधि में भारी अन्तर होता है। निम्न तालिका में दोनों का भेद दिखाया गया है :—

देशी बैंकर	आधुनिक बैंकर
(१) ये बैंकर साधारणतया अपनी, अपने परिवार की तथा अपने रिश्तेदारों की पूँजी से व्यवसाय करते हैं।	(१) ये साधारणतया सम्मिलित पूँजी कम्पनी के रूप में होते हैं और अंशों को बेच कर धन प्राप्त करते हैं।
(२) ये साधारण निक्षेप अथवा जमाधन स्वीकार नहीं करते हैं यद्यपि कुछ देशी बैंकर जमा भी रखते हैं।	(२) निक्षेपों का प्राप्त करना इनका महत्त्वपूर्ण कार्य होता है। इनकी पूँजी का काफी बड़ा भाग जमा धन से प्राप्त होता है।
(३) ये धनादेशों द्वारा भुगतान नहीं करते हैं। लेन-देन साधारणतया नकदी में ही किया जाता है ।	(३) इनमें धनादेशों का चलन होता है। सभी प्रकार की लेन देन चैकों द्वारा ही की जाती है।
(४) इनकी शाखायें नहीं होती हैं।	(४) इनकी शाखायें दूर-दूर तक फैली रहती हैं। भारत में शाखा बैंकिग प्रणाली ही अधिक प्रचलित है।
(५) बैंकिग के साथ-साथ ये अन्य कारोबार भी करते हैं, जैसे—व्यापार, उद्योग आदि।	(५) बैंकिग व्यवसाय के अतिरिक्त ये अन्य कार्य नहीं करते हैं।
(६) जमानतों के सम्बन्ध में इनकी नीति काफी उदार होती है । बहुत बार तो बिना जमानत के ही ऋण दे दिये जाते हैं। जोखिम का अंश अधिक रहता है और ब्याज की दर ऊँची रहती है ।	(६) ये लगभग सभी ऋणों पर समुचित जमानत लेते हैं। इससे जोखिम का अंश कम हो जाता है और ब्याज की दर भी नीची रहती है ।
(७) इनके कारोबार का क्षेत्र बहुधा स्थानीय होता है और अधिकांश ऋण कृषकों, छोटे-छोटे उत्पादकों तथा कारीगरों को दिये जाते हैं।	(७) कारोबार का क्षेत्र विस्तृत होता है। दूर-दूर तक इनका व्यवसाय फैला रहता है। इनके ग्राहकों में व्यापारी, उद्योगपति आदि छोटे-बड़े सभी प्रकार के लोग रहते हैं।
(८) अधिकांश देशी बैंकरों की पूँजी के साधन सीमित होते हैं।	(८) इनकी पूँजी के साधन देशी बैंकरों की तुलना में विशाल हैं।

देशी बैंकरों की उधार देने की रीतियाँ—

देशी बैंकरों द्वारा उधार देने की अनेक रीतियाँ हैं । प्रमुख रीतियाँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) प्रतिज्ञा-पत्र पर ऋण—जब ऋणी और साहूकार के बीच ब्याज की दर और ऋण की अन्य शर्तें तय हो जाती हैं तो साहूकार ऋण लेने वाले से एक प्रतिज्ञा-पत्र लिखा लेता है, जिसमें वह एक निश्चित अवधि के पश्चात् ब्याज और मूलधन लौटाने का वायदा करता है । इस प्रतिज्ञा-पत्र पर ऋणी के अतिरिक्त दो और जमानती हस्ताक्षर करा लिये जाते हैं और शर्तें यह होती है कि ऋणी द्वारा रुपया न लौटाने की दशा में वह जमानत देने वालों को लौटाना पड़ेगा । बहुत बार प्रतिज्ञा-पत्र में यह भी लिखा लिया जाता है कि समय पर रुपया न लौटाने की दशा में ऊँची दर पर ब्याज लगाया जायगा ।

(२) रसीद अथवा टीप—इसमें प्रतिज्ञा-पत्र के स्थान पर ऋणी से केवल एक रसीद लिखवा ली जाती है, जिसमें ब्याज की दर भी लिखी रहती है ।

(३) दस्तावेज और तमस्सुक—ये सरकारी स्टाम्प के कागजों पर लिखे जाते हैं । ऋणी एक निश्चित अवधि के पश्चात् मूलधन को एक निश्चित ब्याज की दर के अनुसार लौटाने का वचन देता है ।

(४) टिकट बही—इसमें ऋण की रकम लिख कर टिकट के ऊपर ऋणी के हस्ताक्षर करा लिए जाते हैं । ऋण के चुकाने की समय अवधि तथा ब्याज की दर लिखी नहीं जाती है। वे आपसी बात-चीत द्वारा मौखिक तय कर ली जाती हैं । ऐसी बही को न्यायालयों में भी स्वीकार किया जाता है ।

(५) किश्त, बनज, अथवा रेहती—इस प्रणाली में ऋण को किश्तों में चुकाने का वायदा लिया जाता है और पहली किश्त ऋण देते समय ही काट ली जाती है।

(६) रूजही—यह भी एक प्रकार की किश्त प्रणाली है । ऋणी ३०) का उधार लेता है, जिसमें से २) रुपये पहली किश्त के रूप में तुरन्त काट लिए जाते हैं। बाकी २८) रुपये ऋणी को मिलते हैं, जो उन्हें १-१ रुपया करके ३० दिन में चुकाता है।

(७) हाथ-उधार—ऐसे उधार में किसी प्रकार की लिखा-पढ़ी नहीं की जाती है। बिना किसी लिखित पत्र के रुपया दे दिया जाता है, परन्तु कुछ दशाओं में उधार लेने वालों से शपथ ले ली जाती है ।

(८) गिरवी—इसमें ऋण के लिये सोना, चाँदी, जेवरात अथवा अन्य ीमती वस्तुओं की आड़ ली जाती है। साधारणतया यह कोशिश की जाती है कि ।तिभूति कीमत के $\frac{2}{3}$ अथवा $\frac{3}{4}$ से अधिक ऋण के रूप में न दिया जाय ।

(९) रेहन—इसे प्राधि (Mortgage) भी कहते हैं। रेहन और गिरवी में

केवल इतना अन्तर होता है कि रेहन में भूमि, मकान आदि अचल सम्पत्ति आड़ में ली जाती है और गिरवी में केवल चल सम्पत्ति।

(१०) माल में ऋण—किसानों को अनाज के रूप में ऋण दिये जा सकते हैं, जो फसल तैयार हो जाने पर सवाये (१¼) और ड्यौढ़े (१½) करके लौटाये जाते हैं। कारीगरों को कच्चे माल के रूप में ऋण दिया जाता है और उनसे एक निश्चित कीमत पर तैयार माल ऋणदाता के हाथ बेचने का वायदा ले लिया जाता है।

देशी बैंकरों के विकास के सुझाव—

भारत में देशी बैंकरों के महत्त्व को सभी ने स्वीकार किया है। देश के आन्तरिक व्यापार तथा कृषि वित्त व्यवस्था में आज भी उनका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। लगभग ९०% ग्रामीण साख की पूर्ति इन्हीं के द्वारा की जाती है। लगभग किसी भी समिति ने इनके समाप्त करने का सुझाव नहीं दिया है, यद्यपि सभी ने इनके सुधार पर जोर दिया है। सुधार की आवश्यकता तीन दिशाओं में अधिक है—(१) इनकी कार्य-प्रणाली में सुधार, (२) इनकी आर्थिक स्थिति में सुधार और (३) इनके अनुचित कार्यों का अन्त। विकास के लिए निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं :—

(१) इन बैंकरों को सट्टा व्यवसाय में धन लगाने से रोका जाय।

(२) इनका रिजर्व बैंक से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहना चाहिए। यहाँ पर यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि रिजर्व बैंक को इस बात पर अनुरोध नहीं करना चाहिए कि देशी बैंकर अपने व्यापार कार्यों को छोड़ दें।

(३) इनके सम्मान को बढ़ाने तथा ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाएँ बढ़ाने के लिए इन्हें उन सभी स्थानों पर जहाँ रिजर्व बैंक और स्टेट बैंक की शाखाएँ नहीं हैं उन संस्थाओं का अभिकर्त्ता नियुक्त किया जाय।

(४) उपयुक्त संशोधनों के साथ बैंकिंग विधान की व्यवस्थाएँ इन पर भी लागू होनी चाहिए।

(५) व्यापार बैंकों द्वारा इनकी हुण्डियों को भुनाने का काम करना चाहिए।

(६) रिजर्व बैंक को चाहिए कि इन्हें आधुनिक रीतियों पर संगठित होने के लिए प्रेरित करे और इनके निरीक्षण तथा अंकेक्षण का भार अपने ऊपर ले।

(७) इन बैंकरों को भी वही विप्रेष सुविधाएँ मिलनी चाहिए जो गैर-अनुसूचित बैंकों को प्राप्त हैं।

(८) इनका व्यवसाय भी अनुज्ञापित होना चाहिये।

(९) इन बैंकरों को बिलों की दलाली के व्यवसाय का विस्तार करने का प्रोत्साहन देना चाहिये, ताकि एक ओर तो देश में बिल बाजार की उन्नति हो और दूसरी ओर देशी बैंकरों की आर्थिक स्थिति में सुधार हो।

(१०) छोटी-छोटी संस्थाओं का एकीकरण कराया जाय।

(११) राज्य सरकारों को इनके अनुचित व्यवहारों को रोकने के लिये नियम

बनाने चाहिए। कुछ राज्यों ने ऐसे नियम बनाये भी हैं, परन्तु उनका समुचित कार्यरोपण नहीं हो पाया है।

(१२) अच्छे-अच्छे देशी बैंकरों को भी बैंकिंग संघों की सदस्यता प्राप्त करने का अवसर मिलना चाहिये।

QUESTIONS

1. Write an essay on indigenous bankers (देशी बैंकर) and their working. What improvements will you suggest to remove their defects. (Raj., B. A., 1958)

2. Write a note on—Indigenous Banker.
(Agra, B. Com., 1957 Supp., and 1955 Supp.)

3. Describe the part played by the indigenous Bankers in financing agriculture and internal trade in India. Will you, in view of their various defects, recommend an outright abolition of such Bankers or suggest some measures to improve their woking ?
(Raj., B. Com., 1952)

4. What action, if any, has been taken by the R^serve Bank of india for the control of indigenous banking in this country and with what success ? What are the main defects in the way of bringing about such a control ? (Agra, B. Com., 1950)

5. What is the place of the indigenous banker in Indian economy ? What measures should be adopted to make him a more useful member of the society ? (Raj., B. Com., 1951)

6. Describe the part played by indigenous bankers in financing inetrnal trade. Point out their main defects and give your suggestions to link them up with the general banking system.
(Agra, B. Com., 1950 and 1947;
Bombay, B. Com., 1943)

अध्याय ४०

भारत में ग्राम्य वित्त

(The Rural Finance in India)

ग्रामीण वित्त का महत्त्व—

भारतीय किसान सम्पन्न नहीं है और साथ ही देश में कृषक वित्त काफी महँगा है। किसान को अल्पकालीन, मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन तीनों ही प्रकार के ऋणों की आवश्यकता पड़ती है। उसे बीज, खाद आदि खरीदने तथा फसल को बेचने के लिए अल्पकालीन ऋण चाहिए, मवेशो तथा औजारों के लिए मध्यकालीन ऋण और भूमि में स्थाई सुधार करने के लिए दीर्घकालीन ऋण। देश की लगभग ७५% जन-संख्या कृषि पर निर्भर है और बिना कृषक उद्धार के देश में किसी भी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं है। यदि कृषि वित्त की कोई विचारयुक्त प्रणाली अपनाई जाय तो निस्संदेह उससे कृषि जैसे महत्त्वपूर्ण उद्योग में उत्पादन-व्यय घट जायगा और देश की जन-संख्या के अधिकांश भाग का भला होगा, परन्तु इस सम्बन्ध में कुछ वास्तविक कठिनाइयाँ हैं। हमारे देश का किसान निर्धन और निरक्षर है। वह न तो वित्त प्रदान करने वाली संस्थाओं और उनके नियमों से परिचित है और न उसके पास उपयुक्त प्रतिभूति अथवा जमानत ही है। साधारणतया किसान सदा ही जमींदारों तथा साहूकारों से ऋण लेता है, परन्तु कुछ वर्षों से ऋण के ये स्रोत सूखते जा रहे हैं। जमींदारी उन्मूलन तथा महाजनों को समाज-विरोधी वर्ग घोषित करके उन पर जो प्रतिबन्ध लगाये जा रहे हैं वे ऋण के साधनों को और भी कम करते जा रहे हैं।

ग्रामीण वित्त के साधन और उनके दोष—

भारतीय किसान ऋणी उत्पन्न होता है, इसी रूप में जीवन व्यतीत करता है और अन्त में इसी दशा में मरता है। उसकी आय कम है, इसलिए वह ऋण के भार से मुक्त होने में असमर्थ रहता है। उसे ऋण अधिक ब्याज पर प्राप्त होते हैं। अधिक ब्याज देने से उसकी आय और भी घटती है और इस कारण ऋणों की आवश्यकता तथा उसका भार और भी बढ़ता जाता है। सरकार की ओर से कभी-कभी तकावी ऋण दिये जाते हैं, परन्तु ऐसे ऋण सङ्कट-काल के लिए होते हैं। साधारण परि-स्थितियों में उनका लाभ प्राप्त नहीं होता है। वैसे भी यह प्रणाली लोकप्रिय नहीं है, क्योंकि इन ऋणों को विशेष रीतियों से प्राप्त किया जाता है। ये निश्चित उद्देश्यों के लिए दिए जाते हैं और इन्हें बिना किसी रियायत के सख्ती के साथ वसूल किया जाता है। इसी प्रकार ग्राम्य वित्त के अन्य साधन सहकारी संगठन, व्यापारिक बैंक, भू-प्राधि

बैंक (Land Mortgage Bank) और साहूकार हैं, परन्तु साहूकारों को छोड़कर अन्य सभी साधनों का कार्य-क्षेत्र बहुत ही सीमित है। विगत वर्षों में सहकारी समितियों तथा भू-प्राधि बैंकों ने कुछ प्रगति अवश्य की है, परन्तु जमींदारी उन्मूलन के कारण ग्राम्य-वित्त की जो कमी उत्पन्न हो गई है वह इनके इस विकास से भी पूरी नहीं हो पाई है। दूसरे महायुद्ध के काल में कृषि की उपज की कीमतों में कुछ वृद्धि अवश्य हुई है, जिससे कृषक की वित्तीय अवस्था पर भी अच्छा प्रभाव पड़ा है, परन्तु इससे समस्या हल नहीं हो जाती है। वर्तमान प्रवृत्ति कीमतों के बढ़ने की है, जो समस्या की गम्भीरता को और भी बढ़ा देती है। व्यापार बैंक तो प्रत्यक्ष रूप में ग्राम्य वित्त के सम्बन्ध में कुछ भी कार्य नहीं करती हैं। उनका कार्य तो कृषि उपज की बिक्री करने वाले व्यापारियों को अग्रिम प्रदान करने तक ही सीमित है।

कृषि वित्त के अधिकाँश भाग की पूर्ति साहूकार ही करता है। साहूकार कृषक की सभी प्रकार की वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। मद्रास राज्य में कुल कृषक ऋणों के ९३% साहूकारों द्वारा दिये जाते हैं, ६% सहकारी समितियों द्वारा और केवल १% तकावी ऋणों के रूप में, परन्तु साहूकारों द्वारा दिये हुए ऋण साधारणतया अल्पकालीन होते हैं और वे ऋणों के अतिरिक्त किसान को कुछ उपयोगी वस्तुयें भी उधार देते हैं और उसकी फसल को कुछ नीची कीमत पर खरीद लेते हैं। अनेक रीतियों से वे किसान का शोषण करते हैं। एक बार साहूकार के चंगुल में फँस जाने के पश्चात् निकल जाना कठिन ही होता है। सबसे अच्छा उपाय यही होगा कि किसान को साहूकार के फन्दों से छुड़ा कर उसके लिए सस्ती संस्थागत साख की व्यवस्था की जाय।

साहूकारों के शोषण को कम करने के उपाय—

कृषि वित्त के पुनर्सङ्गठन के लिए यह आवश्यक है कि सन् १९४५ की गैंडगिल समिति की सिफारिशों के अनुसार किसानों के पुराने और पुश्तैनी ऋणों में कमी की जाय और सहायक उपायों के रूप में साहूकारों के कार्य को सीमित तथा नियन्त्रित किया जाय। कांग्रेस कृषि सुधार समिति का विचार है कि सभी राज्यों में साहूकारों के कार्यों पर प्रतिबन्ध लगाने के नियम असफल रहे हैं। इन नियमों द्वारा निर्धारित ब्याज की दरों का वास्तविक दरों से लगभग कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहा है। साहूकारों की शक्ति को कम करने के लिए निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं :—

(१) साहूकारों का पंजीयन होना चाहिए।

(२) बिना अनुज्ञापन प्राप्त किये कोई भी ऋण देने का कार्य न कर सके। प्रत्येक साहूकार के लिए अनुज्ञापन लेना आवश्यक रहे।

(३) साहूकारों को अपने क्षेत्र की भाषा का उपयोग करने और एक निश्चित रूप में हिसाब-किताब रखने पर बाध्य किया जाय, जिससे हिसाब में की जाने वाली गड़बड़ कम हो जाय।

(४) ऋण की मात्रा को बढ़ाकर लिखने के लिए कड़ी सजा रखी जाय।

(५) साहूकार को कानून द्वारा समय-समय पर ऋणी को उसके ऋण का विस्तृत ब्यौरा भेजने पर बाध्य किया जाय।

(६) साहूकार प्रत्येक प्राप्त शोधन के लिए रसीद दे।

(७) ब्याज की दरों को एक सीमा के भीतर रखा जाय।

(८) साहूकारों को ऋणों के सम्बन्ध में होने वाले खर्चों के वसूल करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। वह केवल मूलधन और ब्याज का ही अधिकारी रहे।

(९) ऋणी को ऋण की कुल रकम अथवा उसके किसी भाग को किसी भी समय न्यायालय में जमा करने का अधिकार होना चाहिए।

(१०) ऐसे समझौते अवैध होने चाहिए जिनके द्वारा ऋण की राशि को किसी दूसरे राज्य में चुकाने की व्यवस्था की गई हो।

(११) ऋणी को यह अधिकार मिलना चाहिए कि वह न्यायालय द्वारा साहूकार को ऋण का हिसाब देने पर बाध्य कर सके। साथ ही, न्यायालयों को यह निर्धारित करने का भी अधिकार मिलना चाहिए कि ऋण की कितनी रकम ऋणी के ऊपर बाकी है।

(१२) साहूकार के दबाव तथा अनुचित अत्याचारों से ऋणी की रक्षा की जाय।

(१३) नियमों का पालन न करने वाले साहूकारों के लिए जुर्माने तथा जेल जाने की सजा रखी जाय।

व्यवहारिक जीवन में नियमों को कार्यशील करने के लिए एक निरीक्षण विभाग ा निर्माण होना चाहिए, जो समय-समय पर साहूकारों के हिसाब की अकस्मात जाँच ़रता रहे। भूतकाल में इन नियमों की कमी यही थी कि निरीक्षण का अभाव था। ह शायद बहुत ही लाभदायक होगा, यदि साहूकारों को ग्रामीण बैंकिंग प्रणाली का ़क आवश्यक अंग बना दिया जाय। इस व्यवस्था की सम्भावना के विषय में जाँच ी आवश्यकता है। इसी सम्बन्ध में दो और भी सुझाव दिये जा सकते हैं—(i) ब्याज की अधिकतम् दरे निश्चित करने के स्थान पर, जैसा कि सभी नियमों में किया गया है, अधिकतम दरों की एक विस्तृत सूची बनाई जाय, जिसमें अलग-अलग क्षेत्रों की दशाओं के अनुसार अधिकतम् दरों में अन्तर रहे। यह प्रणाली न्यायपूर्ण भी होगी और व्यवहारिक भी। (ii) व्यक्तिगत सूत्रों से जो प्राधि किये जाते हैं उनमें से ऐसे फलोपभोगी (Ususfructuary Mortgages) जिनमें २० साल के भीतर स्वयं अन्त हो जाने की व्यवस्था न हो, नियम द्वारा अवैध होने चाहिए। साथ ही, साधारण प्राधि में बिक्री द्वारा भूमि का हस्तान्तरण नियम द्वारा बन्द होना चाहिए।

परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात विचारणीय है कि केवल नियन्त्रक नियमों द्वारा स्थिति के सुधरने की आशा नहीं है। सबसे बड़ा भय यह है (यह रिजर्व बैंक की जांच से भी सिद्ध होता है) कि ये नियम साख का संकुचन करते हैं। इस कारण इनका

समुचित पालन संस्थागत साख (Institutional Credit) के विस्तार पर भी निर्भर है। साथ ही, ग्रामीण क्षेत्रों से पूँजी के हटने के कार्यों को रोकना भी आवश्यक है, क्योंकि इससे वित्तीय कमी और भी बढ़ जायगी। डा० राधाकमल मुकर्जी ने जमींदारी उन्मूलन समिति को एक स्मरण-पत्र में बताया था कि उत्तर-प्रदेश में ग्रामीण वित्त का ४०% जमींदारों द्वारा दिया जाता था और अब जमींदार अपने कोषों का नगरों को हस्तान्तरण कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में कृषि सुधार समिति (Agrarian Reforms Committee) इस बात के पक्ष में न थी कि सरकार ग्रामीण क्षेत्रों में राष्ट्रीय बचत प्रमाण-पत्र बेचकर धन प्राप्त करे। आवश्यकता तो इस बात की है कि ग्रामीण क्षेत्रों में बचत को प्रोत्साहित करके ग्रामीण बहुमुखी सहकारी समितियों और ऊपर की ग्रामीण वित्त संस्थाओं के जमाधन को बढ़ाया जाय।

सहकारिता का महत्त्व—

ग्रामीण वित्त तथा कृषि साख की सभी कठिनाइयों को दूर करने का सबसे उपयुक्त तथा स्थायी उपाय सहकारी साख आन्दोलन का विकास है। नानावती समिति ने कृषि साख के सम्बन्ध में सहकारी आन्दोलन की उपयोगिता की विस्तृत जाँच की थी और इस आन्दोलन के कुछ दोषों का पता लगाया था। बड़ी कठिनाई यह है कि ऋणों को प्रदान करने में सहकारी समितियाँ बहुत समय लगाती हैं, जो कृषकों के लिए बड़ा असुविधाजनक होता है। इस दोष को दूर करने के लिए समिति ने निम्न सुझाव दिए थे :—

(१) प्रत्येक सदस्य तथा सहकारी समिति के लिए हर वर्ष ऋण लेने की सीमाएँ निश्चित होनी चाहिए।

(२) अच्छे प्रबन्ध वाली समितियों को अपनी साख-संस्थाओं के साथ नकद साख खोलने का अधिकार मिलना चाहिए।

(३) अच्छी समितियों को छोटे-छोटे ऋण प्रदान करने के लिए अपने पास नकद कोष रखने की आज्ञा मिलनी चाहिए।

(४) इस सम्बन्ध में मद्रास राज्य की चालू प्राधि बाँध (Continuity Mortgage Bond) प्रणाली की लाभपूर्णता की जाँच होनी चाहिए और उसके उपयोग का प्रयत्न होना चाहिए।

(५) यथासम्भव चालू साख (Running Credit) प्रणाली का उपयोग होना चाहिये।

(६) समितियों के उपयुक्त अधिकारियों को विशेष परिस्थितियों में निश्चित मात्राओं में विशेष ऋणों के प्रदान करने का अधिकार मिलना चाहिए, ताकि कुछ दशाओं में तुरन्त ऋण दिये जा सकें।

इस सम्बन्ध में मिस्र देश की प्रणाली लाभदायक हो सकती है, जहां पर क फसल के उत्पादन-व्यय के आधार पर ऋण की मात्रा की सीमा निश्चित की

गई है। उस देश में वस्तुओं के रूप में ऋण देने के लिये सहकारी बैंक देश के विभिन्न क्षेत्रों में बीज और खाद के गोदाम रखती हैं। प्रत्येक व्यक्तिगत ऋण के प्रार्थना-पत्र की समुचित जाँच की जाती है और आवश्यक छान-बीन के पश्चात् बहुत सी दशाओं में बैंक के उप-अभिकर्त्ता द्वारा बिना उच्च अधिकारियों से आज्ञा लिये ही ऋण प्रदान कर दिया जाता है।

भारत में सहकारी आन्दोलन का एक दोष यह भी है कि सहकारी समितियों के ब्याज की दरें ऊँची होती हैं। भारत में यह दर ७% से लेकर १५% तक है। इसे कम करने की आवश्यकता है और साथ ही यह भी आवश्यक है कि सहकारी समितियों और बैंकों के कार्यवाहन में मितव्ययिता लाई जाय और उनके बीच समुचित समन्वय तथा सहयोग स्थापित किया जाय। सहकारी समितियों के लिये यह भी आवश्यक है कि वे अपने ऋणों में फेर-बदल करके आदेयों में तरलता लायें। शायद यह कहना भी अनुपयुक्त न होगा कि ऐसे नियम बनाये जायँ जिनके द्वारा ऋण लेने वालों को समय पर भुगतान करने के लिये बाध्य किया जा सके। मद्रास राज्य में 'नियन्त्रित साख' प्रणाली से अच्छे लाभ प्राप्त हुये हैं। इस प्रणाली की विशेषता यह है कि सदस्यों को स्वीकृत ऋण आवश्यकतानुसार किश्तों में दिये जाते हैं और ऋण की राशि उस आय में से प्राप्त कर ली जाती है जो ऋण-राशि के उपयोग से उत्पन्न होती है। आवश्यक परिवर्तन के साथ अन्य राज्यों में भी इसका उपयोग हो सकता है।

ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति (The Rural Banking Enquiry Committee)—

यह समिति सन् १९४९ में नियुक्त की गई थी। इसने यह सिफारिश की है कि गैडगिल समिति की सिफारिशों में आवश्यक परिवर्तन करके कृषि वित्तीय प्रमण्डल (Agricultural Finance Corporation) की स्थापना पर विचार किया जाय। समिति का विचार है कि केवल ग्रामीण साख व्यवस्था के उद्देश्य से ग्रामीण बैंकिंग प्रणाली का निर्माण करना उपयुक्त न होगा। समिति के अनुसार ग्रामीण अधिकोषण को संस्थागत रूप देना आवश्यक है, क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों की बचत का उपयोग किये बिना ग्रामीण अधिकोषण की कोई समुचित योजना नहीं बनाई जा सकती है। समिति ने ऐसे उपायों का भी सुझाव दिया है जिनके द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में डाकखाने के सेविंग बैंकों की उपयोगिता बढ़ाई जा सकती है। इसके लिए डाकखानों की शाखाओं का खोलना, अधिक जमा प्राप्त करने वाले डाक अधिकारियों को विशेष पारितोषण देना तथा समुचित विज्ञापन की सिफारिशें की गई हैं। समिति ने यह भी सुझाव दिया है कि ऐसे स्थानों पर स्टेट बैंक को अपनी शाखायें खोलने में सहायता दी जाय जहाँ अभी तक कोषागारों द्वारा नकदी में लेन-देन की जा रही है। समिति ने इस सम्बन्ध में ५ साल के भीतर २०० शाखायें खोलने का प्रस्ताव रखा था। इस सम्बन्ध में स्टेट बैंक के विधान में भी कुछ प्रकार के परिवर्तनों के प्रस्ताव रखे गये थे।

वर्तमान स्थिति एवं भविष्य—

ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति की सिफारिशों का संक्षिप्त वर्णन ऊपर किया जा चुका है, परन्तु इस समिति ने ग्रामीण साख व्यवस्था के पुनर्सङ्गठन के लिए कुछ आधारभूत सिद्धान्तों का निर्माण किया है, इसलिये इसकी सिफारिशों की विस्तृत समीक्षा आवश्यक प्रतीत होती है। ये सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं :—

(१) यह विचार प्रकट किया गया है कि ग्रामीण क्षेत्रों की बचत को एकत्रित करने तथा उनके लिए साख व्यवस्था करने के कार्यों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है, अतः दोनों कार्यों के लिए एक ही संस्था का रहना आवश्यक है।

(२) इस समय सबसे बड़ी समस्या ग्रामीण साख संस्थाओं का अभाव है।

(३) अल्पकालीन, मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन वित्तीय व्यवस्था के लिये अलग-अलग संस्थायें होनी चाहिये, परन्तु उन सबका आधार सहकारी ही होना चाहिये।

(४) भूमि और ऋणों के सम्बन्ध में सरकार द्वारा बनाये हुये सभी नियम व्यवहारिक होने चाहिये और इन नियमों को बनाने से पहले इनके साख संस्थाओं और उनके विकास पर पड़ने वाले प्रभावों का सावधानीपूर्वक अध्ययन किया जाना चाहिए।

समिति ने पता लगाया था कि व्यापारिक और सहकारी बैंकों का विकास नगरों तथा कस्बों तक ही सीमित है। व्यापारिक बैंकों को ग्रामीण क्षेत्रों में व्यवसाय बढ़ाने के लिये प्रोत्साहन मिलना चाहिये। समिति का विचार है कि ग्रामीण यातायात साधनों के विकास, ग्रामीण शाखाओं के लिए रिजर्व बैंक द्वारा कम ब्याज पर ऋण देने तथा गोदामों की व्यवस्था द्वारा इस प्रकार का प्रोत्साहन उपलब्ध हो सकेगा। दीर्घकालीन ऋणों के सम्बन्ध में समिति ने सुझाव दिया है कि ऐसे सभी ग्रामीण क्षेत्रों में जहाँ आरम्भिक अथवा केन्द्रीय भू-प्राधि बैंक नहीं हैं, इस प्रकार की बैंक खोली जायँ। समिति ने देश के लिए कृषि वित्त प्रमण्डल का सुझाव रद्द कर दिया है, क्योंकि नकद सहायता और शासन के दृष्टिकोण से यह उपयुक्त नहीं समझा गया है। इसी प्रकार समिति ने जमाधन बीमे (Doposit Insurance) तथा चलायमान बैंकों (Mobile Banks) की व्यवस्था को भी ठीक नहीं समझा है।

समिति के प्रस्तावों की तीन प्रमुख आलोचनायें की गई हैं :—

(१) यहा कहा जाता है कि शायद समिति द्वारा प्रस्तावित योजना सहकारी अधिकोषण में सहायक न हो सकेगी, क्योंकि समिति ने ग्रामीण क्षेत्रों को वित्तीय सहायता देने के स्थान पर उनकी बचत को जमा करने पर अधिक जोर दिया है। भय यह है कि यह जमाधन स्थानीय सहकारी संस्थाओं के काम नहीं आ पायगा।

(२) दीर्घकालीन ऋणों के सम्बन्ध में यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि ये

ऋण किन सूत्रों से प्राप्त होंगे और किस प्रकार। भू-प्राधि बैंकों की स्थापना का सुझाव देते समय उससे सम्बन्धित कठिनाइयों पर ध्यान नहीं दिया गया है। ऐसा भी प्रतीत होता है कि कृषि वित्त प्रमण्डल के सुझाव को बिना समुचित विचार किये ही ठुकरा दिया गया है।

(३) अल्पकालीन ऋणों की पूर्ति का साधन सहकारी समितियों को मान कर तो समिति ने ठीक ही किया है, परन्तु समिति ने यह नहीं बताया है कि इन समितियों की कुशलता और सफलता किस प्रकार बढ़ाई जा सकती है।

योजना आयोग ने ग्रामीण वित्त सहायता के लक्ष्य निर्धारित किये हैं और इस सम्बन्ध में अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन दोनों ही प्रकार की वित्तीय सहायता के सुझाव भी रखे हैं। प्रथम पंचवर्षीय-योजना में यह व्यवस्था की गई थी कि योजना काल में सरकारी तथा सहकारी संस्थाओं द्वारा कृषि वित्त के निमित्त १०० करोड़ रुपये का वार्षिक वितरण किया जाय, परन्तु पहले दो वर्षों में इस दिशा में प्रगति कार्यक्रम से बहुत पीछे रही थी। योजना के अन्तिम तीन वर्षों में आयोग ने कृषि वित्त की पूर्ति करने वाले साधनों को ५ करोड़ रुपया और अधिक देने की व्यवस्था की थी। आरम्भ में इन संस्थाओं की सहायता के लिए २५ करोड़ रुपये की वार्षिक सहायता का प्रस्ताव था। ऐसा प्रतीत होता है कि योजना आयोग द्वारा निर्धारित लक्ष्य इतना ऊँचा है कि उसे अवास्तविक कहा जा सकता है। सन् १९५२-५३ में रिजर्व बैंक केवल ११·०५ करोड़ रुपये की अल्पकालीन वित्तीय सहायता दे सकी थी।

ग्रामीण साख-संगठन के शासन में कुशलता प्राप्त करने के लिए योजना आयोग ने सरकारी अधिकारियों के शिक्षण के लिए तीन क्षेत्रीय कॉलेजों की स्थापना का सुझाव रखा है, जिन पर केन्द्रीय सरकार १० लाख रुपया व्यय करेगी, परन्तु यह व्यय कम है। साथ ही, अभी तक राज्य सरकारों ने इस योजना के महत्त्व को भी नहीं समझा है, जिसके कारण अभी तक इस दिशा में कुछ भी नहीं हो पाया है।

दूसरे पंच-वर्षीय आयोजन में आरम्भिक सहकारी साख समितियों की सदस्यता को ५० लाख रुपये से बढ़ा कर १५० लाख रुपया कर देने का सुझाव रखा गया है। योजना काल में सहकारी आन्दोलन द्वारा अल्पकालीन ऋणों की मात्रा ३० करोड़ रुपये से बढ़ा कर १५० करोड़ रुपया, मध्य-कालीन ऋणों को १० करोड़ रुपये से ५० करोड़ रुपया और दीर्घकालीन ऋणों की मात्रा ३ करोड़ रुपये से २५ करोड़ रुपया कर दी जायगी। ग्रामीण साख के लक्ष्य निम्न प्रकार रखे गये हैं :—

समितियों की संख्या	१०,४००
अल्पकालीन साख	१५० करोड़ रुपये
मध्यकालीन साख	५० ,, ,,
दीर्घकालीन साख	२५ ,, ,,

इस कार्य में रिजर्व बैंक जो सहायता देगी उसके अतिरिक्त ४८ करोड़ रुपये की सरकारी सहायता और भी दी जायगी।

ग्रामीण साख के सम्बन्ध में तीन महत्त्वपूर्ण नीतियों का निर्माण किया गया है—

(i) कुछ विशेष दशाओं को छोड़ कर, जो कि कृषि उत्पादन से सम्बन्धित होंगी, सहकारी संस्थाएं केवल व्यक्तिगत काश्तकारी के ही सम्बन्ध में ऋण देंगी।

(ii) ऐसे किसानों को जिनका भूमि सुधार नियमों के अन्तर्गत सरकार से सीधा सम्बन्ध हो गया है, दीर्घकालीन और मध्यकालीन ऋणों की सुविधाएं देने के लिए भूमि को सहकारी वित्त संस्थाओं को हस्तान्तरित करने का अधिकार दिया जाय।

(iii) उन भू भागों के सम्बन्ध में जो सहकारी वित्त संस्थाओं के पास आ जाते हैं, भू-सीमा, काश्तकारों के रखने अथवा पट्टों पर उठाने से सम्बन्धित नियमों को लागू न किया जाय। सहकारी समितियों को इस प्रकार प्राप्त होने वाली भूमि को हस्तान्तरित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। शर्त केवल यही रहनी चाहिए कि खरीदने वाला उस पर स्वयं खेती करे और इस प्रकार प्राप्त की जाने वाली भूमि की मात्रा नियम द्वारा निर्धारित अधिकतम् मात्रा से अधिक नहीं रहनी चाहिए।

रिजर्व बैंक और ग्रामीण वित्त—

(i) रिजर्व बैंक का एक अलग विभाग ग्रामीण तथा कृषि साख से सम्बन्धित है, जिसके कार्यों का वर्णन पिछले एक अध्याय में किया जा चुका है।

(ii) रिजर्व बैंक केवल अल्पकालीन ऋण ही दे सकती है, जिनकी अवधि अधिक से अधिक १५ महीने की होती है।

(iii) ये ऋण राज्य सहकारी बैंकों को ही दिये जा सकते हैं।

(iv) रिजर्व बैंक को कृषक बिलों, हुण्डियों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों के क्रय-विक्रय का अधिकार है, परन्तु ऐसे पत्रों पर दो हस्ताक्षर आवश्यक होते हैं, जिनमें से एक या तो किसी अनुसूचित बैंक का होना चाहिए या राज्य सहकारी बैंकों का।

(v) सहकारी बैंकों के लिए ब्याज की दर में ५०% की कमी भी १ सितम्बर सन् १९५१ से कर दी गई है।

(vi) ग्रामीण साख विस्तार हेतु इम्पीरियल बैंक को ३० नई शाखाएं खोलने का अधिकार दिया गया था और समस्त ग्रामीण साख व्यवस्था की विस्तृत जाँच का कार्य आरम्भ कर दिया गया था, परन्तु फिर भी सन् १९५० में सहकारी बैंकों ने केवल ५·३३ करोड़ रुपये की सहायता प्राप्त की थी और सन् १९५२ में ११ करोड़ रुपये की।

(vii) तत्पश्चात् रिजर्व बैंक द्वारा राज्य सहकारी बैंकों को दी जाने वाली सहायता की मात्रा बराबर बढ़ती गई है। अल्पकालीन ऋणों के लिए सन् १९५५-५६ में १७ राज्य सहकारी बैंकों के लिए २८·७९ करोड़ रुपये के ऋणों की राशि की सीमा निश्चित की गई थी, जो सन् १९५६-५७ के लिए १८ राज्य सहकारी बैंकों के लिए ३३·९४ करोड़ रुपया कर दी गई थी। इसी काल में इन बैंकों द्वारा निकाली हुई

राशि २२·६५ करोड़ रुपये से बढ़कर ३१·६२ करोड़ रुपया हो गई थी। मार्च सन् १९५७ के अन्त में राज्य सहकारी बैंकों के बकाया ऋण २०·५८ करोड़ रुपये के थे, जब कि ऐसे ऋण मार्च सन् १९५६ और मार्च सन् १९५५ में क्रमशः १२·३४ और ९·१४ करोड़ रुपये थे।* सन् १९५७-५८ के वर्ष में राज्य सहकारी बैंकों के लिए सामयिक कृषक कार्यों और फसलों की बिक्री की अर्थव्यवस्था के लि; ४८·४२ करोड़ रुपये के ऋणों की सीमा निश्चित की गई थी, जब कि गत वर्ष की ऐसी राशि ३५·१५ करोड़ रुपया थी। वर्ष के अन्त तक ४०·४७ करोड़ रुपये के ऋण लिए जा चुके थे, जबकि गत वर्ष की ऐसी राशि २३·३२ करोड़ रुपया रही थी। इस वर्ष में सहकारी बुनकर संघों के लिए २½% ब्याज की दर पर २०५·७८ लाख रुपये के और ऋणों की स्वीकृति दी गई थी।

मध्य-कालीन वित्त के सम्बन्ध में सन् १९५५-५६ में ८ राज्य सहकारी बैंकों को ९९·६७ लाख रुपये के ऋणों की स्वीकृति दी गई थी, जो सन् १९५६-५७ में बढ़ाकर १५७ लाख रुपया कर दी गई थी। इस वर्ष इन बैंकों ने १२२·२१ लाख रुपये की राशि इस मद में से निकाली, यद्यपि गत वर्ष में केवल ४१·३४ लाख रुपये की राशि निकाली गई थी। सन् १९५७-५८ में ६ राज्य सहकारी बैंकों को १·६७ करोड़ रुपयों के मध्यकालीन ऋणों की स्वीकृति दी गई थी, जिसमें से वर्ष के अन्त में १·५८ करोड़ रुपये की राशि शेष थी। सन् १९५८-५९ में १२ राज्य सहकारी बैंकों के लिए ७·७२ करोड़ रुपये की राशि के ऋण स्वीकार हुए थे और वर्ष के अन्त में इनमें से अभी ३·४२ करोड़ रुपये की राशि निकालने को शेष थी।

अप्रैल सन् १९५५ में रिजर्व बैंक एक्ट में संशोधन करने का बिल पास हो गया था। इसके अनुसार किसानों को खड़ी फसल पर रुपया उधार लेने और फसल को गिरवी रख कर उधार लेने की व्यवस्था की गई है। बिल में १० करोड़ रुपये के राष्ट्रीय कृषि ऋण कोष की स्थापना की व्यवस्था की गई है और यह कोष सहकारी समितियों को ऋण देने के लिए राज्य सरकारों को ऋण देगा। कोष से भूमि बन्धक बैंकों को भी ऋण दिया जा सकेगा। बिल में रिजर्व बैंक को १ करोड़ रुपये का एक और कोष, राष्ट्रीय कृषि स्थायित्व कोष (National Agricultural Stabilization Fund) खोलने का भी अधिकार दिया गया है। इसमें से राज्य सहकारी बैंकों को इसलिए ऋण दिया जायगा कि वे अल्पकालीन ऋणों को मध्य अवधि ऋणों में बदल सकें। धीरे-धीरे इन कोषों की रकम को बढ़ाया जायगा। किसान फसल को सरकारी गोदामों में जमा करके ऋण ले सकता है और कीमतों के ऊपर चढ़ने की दशा में उसे बेचकर ऋण चुका सकता है। सन् १९५५-५६ में रिजर्व बैंक ने राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन कार्यवाहन) कोष भी स्थापित किया था, जिसमें आरम्भ में १० करोड़ रुपये की राशि रखी गई थी। जून सन् १९५६, १९५७ और सन् १९५८ में

* Report on Currency and Finance, 1956-57.

इस राशि में ५-५ करोड़ रुपये और जोड़ दिए गए थे। कोष की स्थापना राज्य सरकारों को दीर्घ और मध्यकालीन ऋण देने के लिए की गई है, ताकि वे राज्य सहकारी बैंकों और भू-प्राधि बैंकों के अंश खरीद सकें। इस कोष में से मार्च सन् १९५७ तक ११ राज्यों को २६८·२० लाख रुपये के ऋणों की स्वीकृति दी गई थी, जिसमें से उस समय तक १६०·२५ लाख रुपये की राशि उधार ली गई थी। जून सन् १९५८ तक इस कोष में से १४ राज्य सरकारों को सहकारी साख समितियों के अंश खरीदने में सहायता देने के लिए ६·०४ करोड़ रुपये के ऋणों की स्वीकृति दी गई थी, जिसमें से उस समय तक १३ राज्यों ने ५·८३ करोड़ रुपये की राशि का उपयोग किया था। राष्ट्रीय कृषि स्थायित्व कोष में से अभी कोई ऋण नहीं दिया गया है।

जून सन् १९५६ में कृषि उपज (विकास और गोदाम व्यवस्था) प्रमण्डल अधिनियम (Agricultural Produce 'Development and Warehousing' Corporations Act, 1956) भी पास हुआ था, जिसके अनुसार सितम्बर सन् १९५६ में राष्ट्रीय सहकारी विकास और गोदाम मण्डल (National Cooperative Development and Warehousing Board) स्थापित किया गया है। यह परिषद् कृषि उपज के लिए गोदामों की व्यवस्था करती है और उसकी बिक्री का भी प्रबन्ध करती है।

कृषि साख की प्रगति—

प्रथम फरवरी सन् १९५७ को स्टेट बैंक ने यह निश्चय किया था कि केन्द्रीय सहकारी बैंकों तथा शीर्ष बैंकों को सप्ताह में एक बार ग्रामीण क्षेत्रों की शाखाओं को कोषों के भेजने में निशुल्क विप्रेष सुविधाएँ दी जायेंगी। स्टेट बैंक रियायती दरों पर सहकारी संस्थाओं को ट्रस्टी प्रतिभूतियों, केन्द्रीय सरकार द्वारा स्वीकृत ऋण-पत्रों और अंशों, माल, विनिमय बिलों, प्रतिज्ञों-पत्रों आदि ऋण तथा नकद साख सुविधायें भी प्रदान करेगी। आरम्भिक अवस्था में सहकारी संस्थाओं को अंश पूँजी को बढ़ाने तथा ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पादन को बढ़ाने के लिए भी ऋण दिए जायेंगे। नवम्बर सन् १९५८ तक रिजर्व बैंक ने २४४ नई शाखाएँ भी खोल दी हैं।

राष्ट्रीय सहकारी विकास तथा गोदाम बोर्ड ने १७ राज्यों में सहकारी विकास की योजनाएँ स्वीकार की हैं और उनके लिए १२·०९ करोड़ रुपये ऋण तथा ३९·६२ करोड़ रुपये की आर्थिक सहायता दी है। गोदामों के निर्माण के हेतु १० करोड़ रुपए की पूँजी से केन्द्रीय भण्डार गृह प्रमण्डल (Central Warehousing Corporation) की स्थापना की जा चुकी है। इस प्रमण्डल ने ९ गोदाम बनाए हैं। ११ राज्यों में राज्य भण्डार गृह प्रमण्डल भी स्थापित हो चुके हैं। बोर्ड ने सन् १९५६-५७ विकास के लक्ष्य निम्न प्रकार निश्चित किये थे :—

बड़ी सहकारी साख समितियों की स्थापना	१,००६
केन्द्रीय सहकारी बैंक	१७८
आरम्भिक भू-प्रावि बैंक	४

सहकारी समितियों के वित्त का प्रमुख साधन अभी तक रिजर्व बैंक ही रही है, यद्यपि रिजर्व बैंक की सहायता के लक्ष्य निश्चित नहीं किए गये हैं। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि अब तक रिजर्व बैंक ने राज्य सहकारी बैंकों को ६·३१ करोड़ रुपए के ऋण दिए हैं, जो अल्पकालीन ऋण हैं। इसी प्रकार १·१२ करोड़ रुपये के मध्य-कालीन ऋण भी दिए गए हैं। रिजर्व बैंक से राज्य सहकारी बैंकों को ६·७४ करोड़ रुपये के ऋण इस उद्देश्य से भी दिये गये हैं कि वे राज्य में दूसरी सहकारी संस्थाओं की अंश पूँजी में वृद्धि कर सकें।

अखिल भारतीय ग्राम्य साख अनुसन्धान समिति (All India Rural Credit Survey Committee)—

सन् १९५१ में रिजर्व बैंक ने देश में ग्रामीण साख और सहकारी आन्दोलन की विस्तृत जाँच की। यह जाँच देश के ७५ जिलों के ६०० गाँवों में की गई थी और १,२७,३४३ परिवारों तक फैली हुई थी। समिति के अध्यक्ष श्री गोरवाला थे। समिति ने पता लगाया है कि किसानों के ऋण व्यवसायों में सरकार और सहकारी आन्दोलन का हाथ क्रमशः केवल ३·३ और ३·१% था। लगभग ७०% ऋण साहूकारों और ग्रामीण व्यापारियों द्वारा दिये जाते हैं। सहकारी समितियों को केन्द्रीय और राज्य बैंकों से जो सहायता मिलती है वह अपर्याप्त है। समिति का विचार है कि कृषि और ग्राम्य साख के समुचित विकास के लिए सहकारी आन्दोलन का विकास ही एक मात्र उपाय है, इसलिए ग्राम्य साख की एक समचययुक्त प्रणाली का निर्माण आवश्यक है। समिति ने पता लगाया है कि ग्राम्य वित्त के सम्बन्ध में विभिन्न साख संस्थाओं का महत्त्व निम्न प्रकार है—

साख संस्था	कुल ऋण का प्रतिशत
(१) सरकार	५·३
(२) सहकारी साख समितियाँ और बैंक	३·१
(३) व्यापार बैंक	०·९
(४) नातेदार तथा सम्बन्धी	१४·२
(५) जमींदार और अन्य भू-स्वामी	१·५
(६) किसान साहूकार	२४·९
(७) व्यवसायी साहूकार	४४·८
(८) व्यापारी और आढ़तिया	५·५
(९) अन्य	१·८
कुल	१००·०

समिति के प्रमुख सुझाव निम्न प्रकार हैं :—

(१) सहकारी संस्थाओं में प्रत्येक अवस्था में सरकार की साझेदारी रहनी चाहिए और सरकार तथा रिजर्व बैंक के बीच अधिक सहयोग रहना चाहिए।

(२) राज्य सहकारी बैंकों और भू-प्राधि बैंकों की पूँजी का विस्तार होना चाहिए और उनके ५१% अंश राज्य सरकारों के पास रहने चाहिए। इसी प्रकार की साझेदारी केन्द्रीय सहकारी बैंकों और बड़ी-बड़ी आरम्भिक समितियों में भी रहनी चाहिए।

(३) यथासम्भव इस साझेदारी के लिए रिजर्व बैंक से राज्य सरकारों को राष्ट्रीय कृषि साख कोष में से ऋण मिलना चाहिए। यह कोष रिजर्व बैंक ५ करोड़ रुपये से शुरू करे और फिर हर साल इसमें ५-५ करोड़ रुपया बढ़ाती जाय।

(४) इस कोष में से राज्य सहकारी बैंकों को मध्यकालीन ऋण और भू-प्राधि बैंकों को दीर्घकालीन ऋण भी दिये जायें। इसका धन सिंचाई की योजनाओं के विशेष विकास ऋण-पत्र खरीदने में भी काम में लाया जाय।

(५) सहकारी बिक्री और गोदाम व्यवस्था में भी सरकार की इसी प्रकार की साझेदारी रहनी चाहिये।

(६) एक महत्त्वपूर्ण सुझाव स्टेट बैंक के निर्माण के सम्बन्ध में है, जो ४०० नई शाखाएँ ग्रामीण और अर्द्ध-नागरिक क्षेत्रों में खोलेगी। राज्यों से सम्बन्धित बैंकों, जैसे—सौराष्ट्र बैंक, पटियाला बैंक, बीकानेर बैंक, जयपुर बैंक, राजस्थान बैंक, इन्दौर बैंक, बड़ौदा बैंक, मैसूर बैंक, हैदराबाद बैंक और त्रिवांकुर बैंक का स्टेट बैंक से एकीकरण कर दिया जाय।

(७) सहकारी संस्थाओं के प्रबन्धकों और कर्मचारियों की शिक्षा की व्यवस्था बढ़ाई जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों तथा रिजर्व बैंक तीनों को ही अधिक उदार नीति अपनानी चाहिये और इस शिक्षा में सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं से सम्बन्धित आवश्यकताओं को ध्यान में रखने की आवश्यकता है।

(८) सरकार को ग्रामीण बचत को एकत्रित करने का प्रयत्न करना चाहिये, परन्तु इस बचत का उपयोग केवल ग्रामीण साख की उन्नति के लिये किया जाय और क्योंकि ग्रामीण बचत कम है, इसलिये नगरों की बचत के एक भाग को भी ग्रामीण साख विस्तार के लिये उपयोग किया जाय।

(९) ग्रामीण क्षेत्रों में ब्याज की दरों को घटाने के लिये साहूकारों के कार्यों

पर नियन्त्रण आवश्यक है। इस सम्बन्ध में ऋण और कृषि सम्बन्धी नियम बनने चाहिये।

(१०) कृषकों के हितों को सुरक्षित करने के लिये भावी बाजारों (Forward Markets) पर समुचित नियन्त्रण रखा जाय।

(११) सरकारी नीति का आधार कृषि उपजों की कीमतों में स्थिरता बनाये रखना होना चाहिये।

(१२) केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकार दुर्भिक्ष कोष स्थापित करें और उसकी व्यवस्थाओं का विस्तार करें।

(१३) साहूकारों को उनका कार्य करने दिया जाय, यद्यपि उनके वर्तमान महत्त्व में कमी होनी चाहिए।

(१४) व्यापार बैंकों की वर्तमान कृषि साख व्यवस्था बनी रहनी चाहिये। इन बैंकों को माल के गोदाम स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित किया जाय।

(१५) ग्रामीण कुटीर उद्योगों को भी वित्तीय सहायता मिलनी चाहिये, जिसके लिये राज्य वित्त प्रमण्डलों, रिजर्व बैंक तथा कुटीर उद्योग प्रमण्डलों की विशेष व्यवस्था करनी चाहिये।

(१६) ग्रमीण यातायात और सम्वादवाहन के साधनों का विस्तार और विकास होना चाहिये।

(१७) राज्य द्वारा उचित सहायता देकर सहकारी आन्दोलन को सुदृढ़ बनाना चाहिए।

सहकारी कार्य की संक्षिप्त समीक्षा—

अखिल भारतीय ग्रामीण साख अनुसन्धान समिति की सिफारिशों को भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया है और उनके आधार पर ग्रामीण व्यवस्था को संगठित करने का प्रयत्न किया है।

(१) सरकार ने अप्रैल सन् १९५५ में ही इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण सम्बन्धी नियम पास कर दिया था। पुनर्सङ्गठन रूप में इम्पीरियल बैंक ने स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के रूप में १ जुलाई सन् १९५५ से अपना कार्य आरम्भ कर दिया है। सभी राज्य सम्बन्धी बैंकों को स्टेट बैंक में मिला देने का कार्यक्रम भी चालू है।

(२) अप्रैल सन् १९५५ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में संशोधन किये गये हैं। बैंक को राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन कार्यवाहन) कोष (National Agricultural Credit 'Long-term Operations' Fund) और राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरता) कोष (National Agricultural Credit 'Stabilisation' Fund) स्थापित करने का अधिकार दे दिया गया है। प्रथम कोष १० करोड़ रुपये की राशि से आरम्भ किया गया है और इसमें से राज्य सहकारी

बैंकों और केन्द्रीय भू-प्राधि बैंकों को ऋण दिये जायेंगे। दूसरे कोष में जून सन् १९५६ से रिजर्व बैंक ने १ करोड़ रुपया प्रति वर्ष देना आरम्भ कर दिया है और इसमें से राज्य सहकारी बैंकों को मध्यकालीन ऋण दिये जा रहे हैं।

(३) सरकार ने यह मान लिया है कि औद्योगिक वित्त प्रमण्डल और राज्य वित्त प्रमण्डलों के अंश और भूमि-बन्धक बैंकों के ऋण-पत्र रिजर्व बैंक द्वारा सरकारी प्रतिभूतियों के समक्ष समझे जायेंगे।

(४) रिजर्व बैंक द्वारा यह बात भी विचाराधीन है कि क्या अंशों और 'ऋण-पत्रों' के अभिगोपन (Underwriting) का कार्य रिजर्व बैंक आरम्भ कर दे।

(५) स्टेट बैंक को यह आदेश दिया गया है कि वह ग्रामीण तथा अर्द्ध-नागरिक क्षेत्रों में ४०० नई शाखाएँ स्थापित करे।

(६) सितम्बर सन् १९५४ से बम्बई में बैंकिग प्रशिक्षण कॉलेज खोल दिया है, ताकि कुशल और योग्य प्रबन्धक तथा कर्मचारी प्राप्त हो सकें।

(७) मार्च सन् १९५७ में केन्द्रीय गोदाम प्रमण्डल (Central Warehousing Corporation) भी स्थापित कर दिया गया है। इस प्रमण्डल की अधिकृत पूँजी २० करोड़ रुपया तथा अंश पूँजी १० करोड़ रुपये रखी गई है। यह कृषि उपज के लिए गोदामों तथा बिक्री की व्यवस्था करती है।

ग्रामीण वित्त के अन्य साधन—

भारत में ग्रामीण वित्त के साधन निम्न प्रकार हैं :—(१) महाजन अथवा साहूकार, (२) व्यापार बैंक, (३) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, (४) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, (५) सरकारी समितियाँ और सहकारी बैंक, (६) भू-प्राधि बैंक, (७) सरकार और (८) देशी बैंकर। इनमें से महाजनों, देशी बैंकरों, रिजर्व बैंक और स्टेट बैंक का अध्ययन पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। ग्रामीण वित्त के दृष्टिकोण से व्यापार बैंकों का महत्त्व बहुत कम है। ये बैंक कृषकों को ऋण नहीं देती हैं। इनके ऋण या तो उन व्यापारियों को मिलते हैं जो कृषि की उपज में व्यापार करते हैं या महाजनों और देशी बैंकरों को। कृषक को ये ऋण उपरोक्त सूत्रों के माध्यम से ही प्राप्त होते हैं। सहकारी समितियाँ ग्रामीण साख का एक महत्त्वपूर्ण साधन हैं और वर्तमान काल में इनका महत्त्व बराबर बढ़ता ही जा रहा है। इनका विस्तृत अध्ययन अगले अध्याय में किया जायगा। भू-प्राधि बैंक कृषकों की दीर्घकालीन ऋणों से सम्बन्धित आवश्यकताओं को पूरा करती हैं। इनकी संख्या देश में बहुत कम है। इनका अध्ययन भी एक अगले अध्याय में किया जायगा। जहाँ तक सरकार का सम्बन्ध है, प्रत्यक्ष रूप से सरकारी ऋण केवल संकटकालीन परिस्थितियों में ही दिये जाते हैं और इन्हें तकावी ऋण (Taccavi Loans) कहा जाता है। इन ऋणों पर ब्याज की दर बहुत नीची होती है और इन्हें कठोरता के साथ वसूल

जाता है। इनके मिलने में भी बहुधा विलम्ब होता है और ये कृषक को बड़ी
ाई से मिल पाते हैं। परोक्ष रूप में रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक तथा अन्य सरकारी
ओं के द्वारा सरकार कृषि वित्त की व्यवस्था भली भाँति करती है। इस सम्बन्ध
ं यह नहीं भूलना चाहिए कि ग्रामीण वित्त का प्रमुख साधन महाजन ही है, जो
त ९०% ऋणों की पूर्ति करता है।

QUESTIONS

1. Comment on the problem of rural credit in India and how the Reserve Bank of India is trying to solve it. Has the ion of the State Bank, in any way helped in this work? (Raj., B. A., 1956)

2. What efforts has the Reserve Bank of India made to facili- ural credit during the past three years? Show how far these s have been successful? (Raj., B. A., 1954)

3. Make out a case for the extension of modern banking faci- to the rural sector of India. What is being done by the State is respect? (Aligarh, B. A., 1956)

4. What are the agencies of rural finance in India? How is the cooperative movement succeeded in replacing the village jan? (Agra, B. Com., 1957)

5. In what ways has the Reserve Bank of India helped in g the problem of Agricultural finance in India? (Raj., B. Com., 1952)

अध्याय ४१

भारतीय सहकारी साख संगठन

(The Indian Co-operative Credit Organisation)

सहकारी आन्दोलन का प्रारम्भ—

सहकारी आन्दोलन का आरम्भ जर्मनी से हुआ और वहाँ से यूरोप के दूसरे देशों में फैलता गया है। भारत में भी सहकारी प्रणाली द्वारा ग्रामवासियों को ऋणों के भार से मुक्त करना एक उपयुक्त उपाय समझा गया है। भारत में भी यह आन्दोलन सन् १८६१ के भारतीय दुर्भिक्ष आयोग की सिफारिशों पर आरम्भ हुआ। सबसे पहला सहकारी साख समिति एक्ट सन् १६०४ में पास हुआ, जिसका उद्देश्य रेफेसेन ग्रामीण सहकारी साख समितियाँ स्थापित करके ग्रामीण वित्त की व्यवस्था करना था। बाद को यह आवश्यकता अनुभव हुई कि सहकारिता के नियमों में साख व्यवस्था के अतिरिक्त अन्य उद्देश्यों को भी सम्मिलित किया जाय, इसलिए सन् १६१२ में एक विस्तृत सहकारी समिति नियम पास किया गया। सन् १६१६ में सहकारिता एक प्रान्तीय विषय बना दिया गया और आन्दोलन के सम्बन्ध में राज्य सरकारों ने संशोधक नियम बनाने आरम्भ किये।

भारत में सहकारी बैंक प्रणाली संघीय आधार पर संगठित की गई है। सबसे नीचे छोटी ग्रामीण और नगर समितियां हैं, उनके ऊपर केन्द्रीय समितियाँ और केन्द्रीय सहकारी बैंक हैं और सबसे ऊपर राज्य सहकारी बैंक हैं, जिन्हें शीर्ष बैंक अथवा सर्वोच्च बैंक (Apex Bank) भी कहा जाता है। छोटी समितियाँ कृषि कार्यों के लिए कृषकों को ऋण देती हैं और अपनी पूँजी का एक भाग केन्द्रीय बैंकों से ऋण के रूप में प्राप्त करती हैं। केन्द्रीय सहकारी बैंकों की पूँजी अंशों को बेच कर, निक्षेपों द्वारा, शीर्ष बैंकों के ऋण तथा रिजर्व बैंक और अन्य बैंकों के ऋणों से प्राप्त होती है। आरम्भिक समितियों और केन्द्रीय सहकारी बैंकों के बीच केन्द्रीय समितियाँ होती हैं, जो आरम्भिक समितियों और केन्द्रीय बैंकों के बीच सम्बन्ध स्थापित करती हैं, निरीक्षण का कार्य करती हैं, अथवा बैंकिंग संघ के रूप में होती है। केन्द्रीय संघ (Central Union) स्वयं ऋण नहीं देता है, बल्कि छोटी सहकारी समितियों का संबंध केन्द्रीय सहकारी बैंकों से जोड़ देता है। सहकारी आन्दोलन की प्रगति का अनुमान निम्न तालिका से प्राप्त हो सकता है :—

वर्ष	समितियों की संख्या	सदस्यता (लाखों में)	कार्यवाहक पूँजी (करोड़ रुपयों में)
१६१०–११	१६,३००	१·६०	०·६८
१६२०–२१	२,८४,८००	११·२६	१५·१८
१६३०–३१	२,३६,४००	३६·८०	७४·७६
१६४०–४१	११,६६,६००	५०·७७	१०४·६८
१६५०–५१	१७,३०,६००	१२५·६१	२३३·१०
१६५१–५२	१,८१,१८६	—	२७५·८५
१६५२–५३	१,८५,६५०	१३७·६	३०६·३४
१६५३–५४	१,६८,५६८	१५१·७६	३५१·७६
१६५४–५५	२,१६,२८८	१६२·००	३६०·५२
१६५५–५६	२,३५,६०७	१७४·२५	४०६·६६
१६५६–५७	२,४४,७६६	१६३·७३	५६७·६७

आरम्भिक सहकारी साख समितियों का संगठन—

भारत में सहकारी आन्दोलन कृषकों की आरम्भिक सहकारी समितियों की स्थापना से आरम्भ हुआ। इस समय भी ऐसी समितियाँ कुल समितियों की ६०% हैं। इन समितियों का संगठन निम्न प्रकार होता है :—

(१) कोई भी १० व्यक्ति मिलकर सहकारी समिति खोल सकते हैं। अधिकतम् सदस्यता १०० होती है । इन समितियों का सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार से पंजीकरण कराया जाता है।

(२) साधारण नियम यह है कि एक गाँव के लिए एक समिति होती है। सदस्यों द्वारा पारस्परिक नियन्त्रण प्रबन्ध तथा निरीक्षण के लिये आवश्यक समझा जाता है, परन्तु हाल के संशोधनों से इस नियम में कुछ परिवर्तन कर दिये गये हैं।

(३) एक सहकारी समिति का प्रबन्ध प्रजातन्त्रात्मक तथा निःशुल्क होता है और दो मण्डलों द्वारा किया जाता है। ऊपर तो एक साधारण सभा होती है, जो नीति का निर्माण करती है और जिसमें सभी अंशधारी रहते हैं। दिन प्रति दिन के प्रबन्ध के लिए एक प्रबन्धक समिति होती है, जिसमें ५ से लेकर ६ तक सदस्य होते हैं और जिनका निर्वाचन उपरोक्त सभा द्वारा किया जाता है। समिति का एक सचिव भी होता है, जो बहुधा वेतनभोगी कर्मचारी होता है और उसके नीचे अन्य वेतनभोगी कर्मचारी रहते हैं ।

(४) भारत में इन समितियों के सदस्यों का उत्तरदायित्व साधारणतया असीमित होता है, परन्तु विशेष दशाओं में सरकार सीमित उत्तरदायित्व समितियों

की स्थापना की आज्ञा देती है। बहुमुखी सरकारी समितियों के लिए, जो एक ही साथ कई प्रकार के कार्य करती हैं, सीमित उत्तरदायित्व सिद्धान्त को मान लिया गया है।

(५) आरम्भिक सहकारी साख समिति की पूँजी के साधन दो प्रकार के होते हैं:—आन्तरिक तथा बाह्य। आन्तरिक साधनों में अंश पूँजी, नये सदस्यों से प्राप्त प्रवेश शुल्क, सदस्यों के निक्षेप तथा सुरक्षित कोष सम्मिलित होते हैं। भारत में अंश पूँजी की मात्रा बहुत ही कम रहती है, क्योंकि अंशों को बेचे बिना भी समितियाँ स्थापित की जा सकती हैं। इसी प्रकार सदस्यों के निक्षेप तथा प्रवेश शुल्क की राशि भी नाम मात्र ही होती है। आन्तरिक साधनों से पर्याप्त पूँजी प्राप्त नहीं होती है और समितियाँ अधिकतर बाह्य साधनों पर ही निर्भर रहती हैं। इन साधनों में सरकारी ऋणों, गैर-सदस्यों के निक्षेपों तथा केन्द्रीय और राज्य सरकारी बैंकों से प्राप्त ऋणों को सम्मिलित किया जाता है। सरकारी समितियाँ केन्द्रीय तथा राज्य सरकारी बैंकों के ऋणों पर निर्भर रहती हैं।

(६) ये समितियाँ केवल सदस्यों को ऋण दे सकती हैं। इनके ऋण तीन प्रकार के होते हैं:—(क) उत्पादक ऋण, (ख) अनुत्पादक ऋण और (ग) पिछले ऋण चुकाने के लिये दिये हुये ऋण। उत्पादक ऋणों में चालू कृषि व्यवसायों को दिये गये अल्पकालीन ऋण तथा करों के चुकाने और कृषि के स्थायी सुधार हेतु दिए गये दीर्घकालीन ऋण सम्मिलित होते हैं। अनुत्पादक ऋणों को (जैसे विवाह आदि के लिए) उचित नहीं समझा जाता है, परन्तु बहुत बार साहूकार से ऋण लेने की प्रवृत्ति का अन्त करने के लिये वे भी दिये जाते हैं। सभी प्रकार के ऋणों पर ब्याज की दर नीची रहती है और उन्हें किश्तों में चुकाने की सुविधा दी जाती है। साधारणतया दो या अधिक सदस्यों की जमानत ली जाती है, परन्तु कभी-कभी सहायक प्रतिभूति के रूप में चल अथवा अचल पूँजी भी माँगी जाती है।

(७) सभी सहकारी समितियों को एक निश्चित रूप में लेखों को रखना पड़ता है और इन लेखों का सरकारी अंकेक्षण किया जाता है। कभी-कभी स्वीकृत प्राइवेट अंकेक्षक भी इस कार्य के लिये रखे जाते हैं।

(८) सभी सहकारी समितियों के लिये अपने लाभ के एक भाग को सुरक्षित कोष में जमा करना अनिवार्य होता है। जिन समितियों में अंश पूँजी नहीं होती है वहाँ सारा का सारा लाभ सुरक्षित कोष में जमा किया जाता है। लाभों का एक भाग शिक्षा तथा परोपकारी कार्यों के लिये भी खर्च किया जा सकता है।

(९) सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार को यह अधिकार होता है कि वह ऐसी समितियों को बन्द कर दे जो अकुशल हैं, जिनका प्रबन्ध ईमानदार नहीं है अथवा जिन्हें घाटा होता रहता है।

ाज्य और सहकारी साख आन्दोलन—

सरकार निम्न रीतियों से सहकारी साख आन्दोलन की सहायता करती है:—

(क) सहकारी समितियों को मुद्रांक करों, पंजीयन करों इत्यादि के सम्बन्ध में छूट दी गई है।

(ख) इन समितियों को सरकार बहुत ही कम ब्याज पर ऋण देती है। सहकारी बैंकों के लिये रिजर्व बैंक की ब्याज की दर केवल १½% है जबकि अन्य बैंकों से ४% ब्याज लिया जाता है।

(ग) सरकार ऋणों में सहकारी समितियों को प्राथमिकता देती है और सहायता के लिए तैयार रहती है। साधारणतया रिजर्व बैंक ६० दिन से अधिक काल के लिए ऋण नहीं देती है, परन्तु कृषि बिलों पर १५ महीने के लिए ऋण दे देती है।

(घ) रिजर्व बैंक के कृषि साख विभाग का यह कर्त्तव्य है कि वह कृषि साख की सारी समस्याओं का अध्ययन करे और सहकारी बैंकों के बीच सम्पर्क स्थापित करे।

(ङ) बहुत सी सरकारें ग्राम सुधार तथा सहकारी साख के विकास के लिए वार्षिक अनुदान देती हैं।

(च) सहकारी विभाग के अधिकारियों की सहायता से सहकारी समितियों के कार्यवाहन का निरीक्षण करती है, उनके लेखों का अंकेक्षण करती है तथा उन्हें आवश्यक सलाह देती है।

बैंक (Apex Bank)-

भारत में सभी खण्ड क राज्यों में एक-एक शीर्ष बैंक थी और आसाम राज्य में इनकी संख्या २ थी। सन् १९५६-५७ में देश के सभी राज्यों में ऐसी बैंकों की संख्या २३ थी, जिनकी प्रधान कार्यालयों सहित १५० के ऊपर शाखाएँ हैं। भारत में शीर्ष बैंक दो प्रकार की हैं अर्थात् अमिश्रित (Pure) तथा मिश्रित (Mixed)। प्रथम प्रकार की बैंकों के अंश केवल सहकारी बैंकों द्वारा ही खरीदे जा सकते हैं, परन्तु दूसरी प्रकार की बैंकों के अंश सहकारी समिति तथा निजी व्यक्ति दोनों ही को बेचे जाते हैं। केवल पश्चिमी बङ्गाल तथा पंजाब की शीर्ष बैंकें अमिश्रित हैं, अन्य सभी राज्यों में मिश्रित बैंक स्थापित की गई हैं। इस समय ऐसी कुल बैंकों के ४०% अंश निजी व्यक्तियों के पास हैं और ६०% अंश सहकारी समितियों तथा अन्य प्रकार की बैंकों के पास हैं। सन् १९५६-५७ में ऐसी बैंकों की संख्या २४ थी। सदस्यों की संख्या ३३,४४० थी। अंश पूँजी और सुरक्षित कोष ५·३१ और ३·४८ करोड़ रुपये के थे। उपरोक्त वर्ष में इन संस्थाओं ने सहकारी बैंकों और समितियों तथा व्यक्तियों को १२३·७१ करोड़ रुपयों के ऋण दिये थे, जबकि इससे पिछले वर्ष में ऋणों की मात्रा केवल ५५·२७ करोड़ रुपया थी। कुल कार्यवाहक पूँजी ७९·५४ करोड़ रुपया थी, इसमें १३·७% निजी धन, ८०·६% जमा तथा २५·५% अन्य साधनों से प्राप्त ऋण थे।

स्थिति इस प्रकार दृष्टिगोचर होती है कि सन् १९५४–५५ में इन शीर्ष बैंकों का आधे से अधिक जमाधन विभिन्न व्यक्तियों की निक्षेपों से प्राप्त हुआ था और शेष (लगभग ४०%) बराबर-बराबर मात्राओं में सहकारी बैंकों और छोटी-छोटी समितियों से प्राप्त हुआ था। कुल प्राप्त ऋणों का ३८% व्यापार बैंकों से मिला था और ६२% रिजर्व बैंक तथा सरकार से। दिये हुए कुल ऋणों का ८२% सहकारी बैंकों तथा समितियों को दिया गया था और शेष व्यक्तियों को। सन् १९५१–५२ के वर्ष में ३८·२ करोड़ रुपये के ऋण लौट आये थे और ४२·१ करोड़ रुपये के कुल ऋण दिये गये थे। शीर्ष बैंकों के बकाया ऋण सन् १९५६–५७ वर्ष के अन्त में ४९·६२ करोड़ रुपये के थे।

केन्द्रीय सहकारी बैंक—

केन्द्रीय समितियों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं :—(१) केन्द्रीय बैंक तथा बैंकिंग संघ और (२) केन्द्रीय गैर-साख समितियाँ। केन्द्रीय सहकारी बैंकों का प्रमुख कार्य अपनी सदस्य सहकारी समितियों के लिए सन्तुलन कारक उपस्थित करना तथा कोषों को आरम्भिक सहकारी समितियों की ओर प्रवाहित करना होता है। ऐसी बैंक शीर्ष बैंकों और आरम्भिक सहकारी समितियों के बीच मध्यस्थ के रूप में होती हैं।

सन् १९५३-५४ में केन्द्रीय बैंकों की संख्या ४९९ थी और सदस्यता २,४७,९०५, किन्तु अगले वर्ष अर्थात् सन् १९५४-५५ में यह घट कर ४८५ रह गई, यद्यपि सदस्यों की संख्या २,४७,९०५ से बढ़ कर २,७२,००० हो गई थी। सदस्यों में ५२% बैंक तथा सहकारी समितियाँ थीं। कुल चालू पूँजी अर्थात् ७३·६८ करोड़ रुपए में से १७·७% निजी पूँजी, ६२·९% जमाधन तथा शेष अन्य प्रकार के ऋणों के रूप में थी। इन बैंकों का कार्य काफी गड़बड़ है और इनकी जमा पूँजी आवश्यकता से बहुत कम है। इन बैंकों के जमाधन का ६७% व्यक्तियों से और शेष सहकारी समितियों से प्राप्त हुआ था। कुल ऋणों में से सहकारी बैंकों, सरकार तथा रिजर्व बैंक और व्यापार बैंकों का हिस्सा क्रमशः ८१, ११ और ८ प्रतिशत था। उपरोक्त वर्ष में इन बैंकों ने ६९·१७ करोड़ रुपये के ऋण दिए थे। वर्ष के अन्त में कुल बकाया ४२·८९ करोड़ रुपये की थी।

इन बैंकों की संख्या में घटने की प्रवृत्ति बराबर बनी हुई है। सन् १९५६-५७ में इनकी संख्या ४५१ थी, किन्तु सदस्यता में निरन्तर वृद्धि हुई है। उपरोक्त वर्ष में सदस्यता ३,१०,५५५ तक पहुँच गई थी। इस वर्ष कार्यवाहक पूँजी भी बढ़कर ११०·२६ करोड़ रुपए तक हो गई थी, जिसका १६·८% निजी कोषों, ५३·०% जमाधन और ३०·२% ऋणों से प्राप्त हुआ था। वर्ष विशेष में १००·८० करोड़ रुपये की राशि के ऋण दिए गए थे। परिदत्त अंश पूँजी ११·११ करोड़ रुपया थी और सुरक्षित कोष

७·३४ करोड़ रुपया । वर्ष के अन्त में इन बैंकों के कुल विनियोग २६·०५ करोड़ रुपये के थे, जिनमें से १५·६५ करोड़ रुपए सरकारी तथा प्रयान्सी हुन्डियों में लगे हुए थे ।

कृषि-और अ-कृषि साख समितियाँ—

भारत में सहकारी साख समितियों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) कृषि सहकारी साख समितियाँ (Agricultural Credit Societies) और (२) अ-कृषि सहकारी साख समितियाँ (Non-agricultural Credit Societies) । कृषि सहकारी समितियाँ ही देश के सहकारी साख संगठन का आधार हैं । ऐसी समितियों की संख्या सन् १६५६-५७ में १,६१,५१० थी और इनकी सदस्यता तथा कार्यवाहक पूँजी क्रमशः ६१,१६,८४६ तथा ६८·३० करोड़ रुपया थी । इन्होंने इस वर्ष ६७·३३ करोड़ रुपए के ऋण दिए थे । ऐसी समितियों को पूँजी के लिए साधारणतया केन्द्रीय वित्त संस्थाओं पर निर्भर रहना पड़ता है । उपरोक्त वर्ष में ऋण, निजी पूँजी तथा जमा कुल कार्यवाहक पूँजी के क्रमशः ५८·१, ३३·६ और ८·२% थे । यह स्थिति बहुत अच्छी नहीं है, इसलिए बचतों और जमाधन को आकर्षित करने की आवश्यकता बहुत है । निम्न तालिका में कृषि सहकारी साख समितियों की समस्त स्थिति दिखाई गई है :—

(रुपयों में)

	१६५१–५२	१६५६–५७
औसत सदस्यता	४४	५६
औसत अंश पूँजी प्रति समिति	८२७	१,२२८
औसत अंश पूँजी प्रति सदस्य	१६	२२
औसत जमा प्रति समिति	४०८	४६८
औसत जमा प्रति सदस्य	६	६
औसत कार्यवाहक पूँजी प्रति समिति	४,१६०	६,०८६
औसत कार्यवाहक पूँजी प्रति सदस्य	६५	१०७

आरम्भ से ही सहकारी साख आन्दोलन का उद्देश्य किसानों को इतनी नीची ब्याज की दरों पर ऋण देना रहा है जितना कि वे दे सकते हैं, किन्तु इस दिशा में अभी सफलता कम ही मिली है । सहकारी समितियों की ब्याज की दर बराबर ऊँची ही रही है (१२½ से २१% तक) । उन राज्यों में भी जहाँ सहकारी आन्दोलन उन्नत अवस्था में है, ब्याज की दरें ४ और १२% के बीच रही हैं ।

अ-कृषि सहकारी साख समितियों में मजदूरों और नौकरी पेशा लोगों की सहकारी साख समितियाँ तथा नागरिक सहकारी बैंक सम्मिलित होती हैं । सन् १६५४-५५ में ऐसी कुल समितियों की संख्या ६,३४८ थी । इनकी सदस्यता और कार्यवाहक पूँजी क्रमशः २८,४७,६४४ और ७८·३२ करोड़ रुपया थी । ऐसी समितियों का

जमाधन कुल पूँजी का ६२·४% था। वर्ष विशेष में ऐसी समितियों ने ६२·१२ करोड़ रुपए के ऋण दिये थे। सन् १९५६-५७ के अन्त में इनका जमाधान ६४·४९ करोड़ रुपया था, जो कुल कार्यवाहक पूँजी का ६४·३१% था।

रिजर्व बैंक तथा सहकारी साख-आन्दोलन—

यह तो निश्चय है कि बिना ग्रामीण साख के नियन्त्रण तथा उसकी व्यवस्था के रिजर्व बैंक अपने उद्देश्यों में सफल नहीं हो सकती है। रिजर्व बैंक के सम्बन्ध में यह महत्त्वपूर्ण सत्य सभी ने स्वीकार किया है। रिजर्व बैंक कृषि व्यवसायों के लिये लिखे गए बिलों को खरीद सकती है, बेच सकती है तथा उनको फिर से भुना सकती है, यदि ऐसे बिलों पर किसी अनुसूचित बैंक अथवा राज्य सहकारी बैंकों के हस्ताक्षर होते हैं। कृषि बिलों को १५ महीने तक की परिपक्वता पर भी स्वीकार किया जाता है। सरकारी पत्रों तथा स्वीकृत ऋण-पत्रों पर रिजर्व बैंक राज्य सहकारी बैंकों को ९० दिन तक के लिए ऋण भी दे सकती है, परन्तु इस कार्य के लिए सहकारी बैंक को समय-समय पर रिजर्व बैंक के पास विभिन्न प्रकार की रिपोर्ट भेजनी पड़ती है। नए संशोधित एक्ट के अनुसार रिजर्व बैंक कृषि साख में और भी सहायता देगी।

अप्रैल सन् १९३५ में ही रिजर्व बैंक ने एक कृषि साख विभाग स्थापित किया था, जो इस विषय से सम्बन्धित अनेक प्रश्नों का अध्ययन करता है और आवश्यकता पड़ने पर सहकारी बैंकों को सलाह भी देता है। साधारणतया व्यवहार में सहकारी बैंकों तथा अन्य बैंकों के बीच रिजर्व बैंक किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं करती है। उल्टी सहकारी बैंकों को प्राथमिकता दी जाती है। सन् १९५५ के संशोधन नियम ने सहकारी आन्दोलन के प्रोत्साहन के लिये दो अलग कोषों की स्थापना की व्यवस्था की है।

विगत वर्षों में राज्य सहकारी बैंकों को रिजर्व बैंक से मिलने वाली सहायता में बराबर वृद्धि हुई है। अल्पकालीन ऋणों के लिए सन् १९५६-५७ में १८ राज्य सहकारी बैंकों के लिये रिजर्व बैंक ने ऋण की अधिकतम् सीमा ३३·९४ करोड़ रुपया रखी थी, जबकि सन् १९५५-५६ में १७ राज्य सहकारी बैंकों के लिए ऋण सीमा २८·७९ करोड़ रुपया थी। मध्यकालीन वित्त के निमित्त स्वीकृत राशि सन् १९५६-५७ में १५७ लाख रुपया थी, जबकि गत वर्ष में यह केवल ९९·६७ करोड़ रुपया थी। सन् १९५५-५६ के वर्ष में रिजर्व बैंक ने राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष (National Agricultural Credit 'Long-term' Fund) स्थापित किया था, जिसमें आरम्भ में १० करोड़ रुपये जमा किए गए थे। जून सन् १९५६ में ५ करोड़ रुपया और भी दिया गया था। इस कोष का उद्देश्य यह है कि राज्य सरकारों को सहकारी संस्थाओं के अंश खरीदने के लिए दीर्घकालीन तथा मध्य-कालीन ऋण दिए जायें। मार्च सन् १९५७ के अन्त में इस कोष में से ११ राज्यों को २६८·२० लाख रुपए के ऋणों की स्वीकृति दी गई थी। सन् १९५६-५७ में रिजर्व

बैंक ने १ करोड़ रुपए की पूँजी से राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरता) कोष (National Agricultural Credit 'Stabilisation' Fund) भी स्थापित किया है। सहकारी आन्दोलन की प्रगति के क्षेत्र में अन्य महत्त्वपूर्ण घटना मार्च सन् १९५७ में केन्द्रीय गोदाम प्रमण्डल की स्थापना है।

सहकारी साख आन्दोलन के दोष—

सहकारी आन्दोलन के ५५ वर्ष के कार्यवाहन में कुछ ऐसे दोष दृष्टिगोचर हुए हैं जिन पर ध्यान देना आवश्यक है :—

(१) अभी तक इस आन्दोलन ने ग्रामीण ऋणों की समस्या का एक छोर ही छुआ है।

(२) समितियों के बकाया ऋणों की मात्रा बहुत अधिक रहती है।

(३) लेखे समुचित रूप में नहीं होते हैं।

(४) नियन्त्रण तथा प्रबन्ध अकुशल है।

(५) अनुचित व्यवहारों की संख्या काफी अधिक है।

(६) उन सरकारी अधिकारियों के शिक्षण की अभी तक भी भारी कमी है जिनके संरक्षण में यह आन्दोलन चल रहा है।

(७) भारतीय सहकारी साख आन्दोलन का एक गम्भीर दोष यह है कि यह लोगों पर ऊपर से थोपा गया है, उनके हृदय में स्वयं सहकारी प्रेरणा उत्पन्न नहीं हुई है और सरकारी हस्तक्षेप की अधिकता के कारण इस पर जनता का आवश्यक विश्वास नहीं जम पाया है।

(८) एक सहकारी समिति की सफलता कुछ विशेष शर्तों पर निर्भर होती है, जैसे—सदस्यों का समुचित निर्वाचन, पारस्परिक सहयोग, उच्च चरित्र, ईमानदारी, समुचित अंकेक्षण तथा निरीक्षण। व्यवहार में ये शर्तें शायद ही पूरी हो पाती हैं।

भारत में सहकारी समितियों के ब्याज की दर भी साधारणतया ऊँची रहती है। इसके कई कारण हैं :—(i) सहकारी समितियाँ साधारणतया पर्याप्त स्थानीय निक्षेप जमा करने और जनता में बचत प्रवृत्ति को उत्पन्न करने में असफल रही हैं, जिसके कारण उन्हें अधिकतर ऋणों पर निर्भर रहना पड़ता है। (ii) मद्रास तथा बम्बई राज्यों को छोड़कर अन्य राज्यों में केन्द्रीय सहकारी बैंक साधारणतया छोटी संस्थाएँ होती हैं। इस कारण व्यवहार में यह होता है कि शीर्ष बैंक उससे अधिक दर पर ब्याज देती हैं जिस पर स्वयं उन्हें ऋण मिलता है, केन्द्रीय सहकारी बैंक ऋण देते समय दर को और बढ़ा देती है तथा तत्पश्चात् आरम्भिक समितियाँ उनमें और भी वृद्धि कर देती हैं। इस स्थिति को दूर करने के लिए रिजर्व बैंक ने चार सुझाव दिये हैं :—(१) केन्द्रीय सहकारी बैंक की कुशलता को बढ़ाना, (२) ग्रामीण बचतों का एकत्रित करना, (३) केन्द्रीय बैंकों का संघीकरण तथा (४) राज्य सरकारों द्वारा अधिक वित्तीय सहायता।

दोषों को दूर करने के उपाय—

सहकारी आन्दोलन के दोषों को दूर करने के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक के निम्न सुझाव विचारणीय हैं :—

(१) सहकारी समितियों को अपने सुरक्षित कोषों को बढ़ाना चाहिए।

(२) ऋणों के प्रदान करने में अधिक सावधानी बरतनी चाहिए।

(३) आरम्भिक सहकारी समितियों को बहुमुखी समितियों में परिवर्तित कर देना चाहिए, जिससे कि उनका वित्तीय आधार दृढ़ हो, उनकी लोकप्रियता बढ़े और वे किसान की अधिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकें।

(४) सहकारी आन्दोलन की कुशलता को बढ़ाने के लिए उनके कर्मचारियों के शिक्षण की व्यवस्था की जाय।

सहकारी साख आन्दोलन की सफलता और उसका सुधार—

कमियों के रहते हुए भी सहकारी आन्दोलन से निम्न फल प्राप्त हुए हैं :—

(क) इसने सभी दिशाओं में ब्याज की दरों को कम किया है।

(ख) इसने बचत तथा विनियोग प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया है।

(ग) इसने अनुत्पादक ऋणों की मात्रा को काफी कम कर दिया है।

(घ) इसने किसानों और कारीगरों के चरित्र को बलवान किया है, सहयोग की भावना को बढ़ाया है और उन्हें स्वतन्त्र दृष्टिकोण प्रदान किया है।

(ङ) इसने नगर के पूँजीपतियों तथा श्रमिकों में ग्रामीण क्षेत्रों के प्रति अधिक दिलचस्पी उत्पन्न की है।

सहकारी साख आन्दोलन के सुधार के सम्बन्ध में कुछ सुझाव ऊपर दिये जा चुके हैं, परन्तु कुछ और सिफारिशें नीचे दी जाती हैं :—

(१) बकाया ऋणों तथा दीर्घकालीन ऋणों को अल्पकालीन ऋणों से पृथक रखना चाहिए। किश्तों में भुगतान लेकर बकाया ऋणों को वसूल करना चाहिए तथा वस्तुओं में नए ऋण देने चाहिए।

(२) यथासम्भव ऋण उत्पादक कार्यों के ही लिए होने चाहिए, परन्तु इस सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि नियम इतने कड़े न हों कि कृषक को साहूकार की शरण लेनी पड़े।

(३) केन्द्रीय तथा राज्य सहकारी बैंकों का पुनर्संगठन होना चाहिए और बड़ी-बड़ी बैंकों को ऐसी संस्थाओं में संगठित करना चाहिए जिनमें प्रबन्ध की कुशलता तथा कार्यवाहन की शीघ्रता हो।

(४) केन्द्रीय संस्थाओं में धीरे-धीरे निजी व्यक्तियों की सदस्यता समाप्त होनी चाहिए।

(५) भूमि सुधार हेतु एक ऐसी केन्द्रीय संस्था स्थापित की जाय जो दीर्घ-

कालीन ऋण दे, भूमि बन्धक बैंकों के ऋण-पत्रों का अभिगोपन करे तथा उन्हें विशेष कार्यों के लिए ऋण दे।

(६) सहकारी बैंकों को विशेष सुविधाएँ प्रदान करने की दर साधारण दर से कम रखी जाय।

(७) सहकारी समितियों द्वारा डाकखानों में जमा किए जाने वाले धन के जमा करने और निकालने के नियमों को ढीला किया जाय।

(८) सहकारी समितियों तथा बैंकों को राष्ट्रीय बचत प्रमाण-पत्रों के बेचने के लिए अभिकर्त्ता अधिकार दिये जायें।

ंच-वर्षीय योजनाएँ और सहकारी साख—

प्रथम पंच-वर्षीय योजना में सहकारी साख की व्यवस्था को बढ़ाने के ठोस ायत्न किये गए हैं और कुछ अंश तक वे सफल भी हुए हैं। आज कल अधिक जोर हुमुखी सहकारी समितियों की स्थापना पर दिया जा रहा है, जो कृषि साख के ातिरिक्त ग्रामीण जनता के सभी दिशाओं में उत्थान का प्रयत्न करेंगी। दूसरे पंच-र्षीय आयोजन में सहकारी आन्दोलन के विकास के लिए विशेष प्रयत्न किया गया है। हाँ पर अखिल भारतीय कृषि साख अनुसन्धान समिति की सिफारिशों को पूरा करने ी पूरी कोशिश की गई है। ऐसा पता लगाया गया है कि जिन क्षेत्रों में सहकारी ान्दोलन का विकास भी हुआ है वहाँ भी ३०-४०% से अधिक परिवार नियमबद्ध ामिति की सदस्यता प्राप्त नहीं कर सकते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तीन बातों पर वेशेष ध्यान दिया गया है :—

(१) सहकारी साख के विकास को सहकारी आन्दोलन की प्रारम्भिक प्रवस्था मात्र समझा जाय और फिर धीरे-धीरे आर्थिक जीवन की अन्य शाखाओं में उसे फैलाया जाय।

(२) प्रत्येक गाँव के हर एक परिवार को कम से कम एक सहकारी समिति का सदस्य होना चाहिए।

(३) सहकारी आन्दोलन के विकास का लक्ष्य प्रत्येक ग्रामीण परिवार की साख बढ़ाना होना चाहिए।

प्रथम पंच-वर्षीय योजना में रिजर्व बैंक की सहायता से सहकारी आन्दोलन का काफी विकास हुआ है। प्रथम योजना के अन्त में देश में १८ राज्य सहकारी बैंक, ४९९ केन्द्रीय बैंक और संघ, १,२६,९५४ आरम्भिक साख समितियाँ और ९ केन्द्रीय तथा २९१ अन्य भू-प्राधि बैंक थीं। आरम्भिक कृषि सहकारी साख समितियों की सदस्यता ५८ लाख थी। दूसरे पंचवर्षीय आयोजन में आन्दोलन का बहुत अधिक विकास होगा और देश की कम से कम २०% जन-संख्या किसी न किसी सहकारी समिति की सदस्य रहेगी।

सहकारी साख संगठन के विकास के लिए दूसरी पंचवर्षीय योजना के प्रमुख लक्ष्य निम्न प्रकार हैं :—

बड़े आकार की समितियों की संख्या	१०,४००
अल्पकालीन साख का लक्ष्य	१५० करोड़ रुपया
मध्यकालीन साख का लक्ष्य	५० ,, ,,
दीर्घकालीन साख का लक्ष्य	२५ ,, ,,

QUESTIONS

1. Explain the difference between the two :—Primary Co-operative Credit Society and a Cooperative Central Bank.

(Agra, B. Com., 1958, 1956 Supp., 1954)

2. What are cooperative banks ? Indicate their importance in a country like India and explain the nature of the different types of cooperative banks working in the country.

(Agra, B. Com., 1955)

3. How far have the Cooperative Banks succeeded in their objectives and indicate the help that the Reserve Bank of India does and should render to them in this connection ?

(Raj., B. Com., 1956)

4. Discuss the nature, constitution and functions of cooperative banks in India. Give a brief critical estimate of their work in India as rural financiers. (Raj., B. Com., 1954)

5. What are the agencies of rural finance in India ? How far has the cooperative movement succeeded in replacing the village Mahajan ? (Agra, B. Com., 1957)

6. Write a note on :—

Cooperative Central Bank.

(Agra. B. Com., 1957 Supp. and 1955 Supp.)

Primary Cooperative Credit Societies.

(Agra, B. Com., 1955)

7. Write short note on :—

Agricultural Credit Department

रिजर्व बैंक का कृषि साख विभाग

(Agra, B. Com., Pt. I, 1959)

B Com

अध्याय ४२

भारत में भूमि-बन्धक बैंक

(The Land Mortgage Banks in India)

परिभाषा—

कृषकों की वित्तीय आवश्यकतायें तीन प्रकार की होती हैं। अपनी फसलों की बिक्री के लिए उन्हें अल्पकालीन ऋणों की आवश्यकता होती है। फसल को बेच कर धन तुरन्त प्राप्त नहीं होता, जबकि लगान तथा अन्य प्रकार के कर तुरन्त ही चुकाये जाते हैं। बहुत बार ऐसा भी होता है कि जिस समय फसल तैयार होती है, उपज की कीमत नीची रहती है और किसान के लिये थोड़ी प्रतीक्षा करना लाभदायक होता है। ऐसी दशा में सहकारी समितियों तथा व्यापारिक बैंकों से अल्पकालीन ऋण लिये जाते हैं। मध्यकालीन ऋणों की आवश्यकता बीज, खाद आदि के लिए पड़ती है, जो साधारणतया सहकारी समितियों और साहूकारों से लिये जाते हैं। इन दोनों प्रकार के ऋणों के अतिरिक्त कृषकों को दीर्घकालीन ऋणों की भी आवश्यकता होती है। ऐसे ऋण भूमि में स्थाई सुधार करने के हेतु लिए जाते हैं, जैसे—कुँए बनवाना, बैल खरीदना, ट्रैक्टर लेना तथा बंजर भूमि को खेती योग्य बनाना। ऐसे ऋणों का प्रमुख स्रोत ग्रामीण महाजन हैं, परन्तु विगत वर्षों में भूमि-बन्धक बैंक ऐसे ऋणों की व्यवस्था करने लगी हैं।

भूमि-बन्धक अथवा भू प्राधि बैंकों से हमारा अभिप्राय ऐसी बैंकों से होता है जो भूमि की आड़ पर कृषकों को दीर्घकालीन ऋण प्रदान करती हैं। साधारणतया भारत में आधुनिक बैंक अचल सम्पत्ति की आड़ पर ऋण नहीं देती हैं। भूमि की आड़ पर ऋण देना तो और भी अनुपयुक्त समझा जाता है, क्योंकि उसके स्वामित्त्व का सही-सही पता लगा लेना अधिक कठिन होता है। इस प्रकार की जमानत स्वीकार करने मे बैंकों के आदेयों की तरलता भी समाप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त भूमि की कीमत का सही-सही अनुमान केवल विशेषज्ञों द्वारा ही लगाया जा सकता है, जिनका रखना प्रत्येक बैंक के लिए सम्भव नहीं होता है। भूमि-बन्धक बैंक अपना संगठन इस प्रकार बनाती हैं कि उन्हें भूमि की आड़ पर दीर्घकालीन ऋण देने में कठिनाई नहीं होती है।

भारत में भूमि-बन्धक बैंकों का महत्त्व—

यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि भारत में कृषक वित्त काफी मँहगा है। ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति ने पता लगाया है कि ग्रामीण क्षेत्रों में ब्याज की दर २०% से लेकर ७५% तक है। सवाया और ड्योढ़ा, जिसके अन्तर्गत कृषक को

क्रमशः २५ तथा ५०% ब्याज देना पड़ता है, बहुत प्रचलित है। ऊँची ब्याज की दरों के अनेक कारण हैं। कृषक की साख नीची होती है, क्योंकि उसके पास कोई उपयुक्त प्रतिभूति नहीं होती है। साहूकार व्यक्तिगत प्रतिभूति पर ऋण देकर जोखिम उठाते हैं और इसी कारण अधिक ब्याज लेते हैं। कृषक की वित्तीय आवश्यकतायें भी महान् हैं। अपनी निर्धनता के कारण, दूषित सामाजिक रीति-रिवाजों के कारण और पहले से ही ऋणी होने के कारण कृषक को सदा ही ऋणों की आवश्यकता पड़ती रहती है। ग्रामीण क्षेत्रों में उन संस्थाओं की भी भारी कमी है जो दीर्घकालीन ऋणों को प्रदान कर सकें। हमारी साख समितियों का विकास अभी बहुत पीछे है और ये समितियाँ दीर्घकालीन ऋणों को देने में संकोच करती हैं। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् ऋण प्राप्ति के स्रोत और भी सूखते जा रहे हैं। इस दिशा में भूमि-बन्धक बैंकों का विकास ही एकमात्र सहारा हो सकता है।

साधारणतया भूमि-प्राधि बैंक ऋण-प्रार्थियों तथा अन्य व्यक्तियों के ऐसे संघ होती हैं जो सदस्यों को पिछले ऋणों को चुकाने तथा भूमि सम्बन्धी सुधारों के लिए ऋण देते हैं। ऐसी बैंकों से भारत में निम्न लाभों की आशा की जाती है :—

(१) इनके द्वारा कृषक वर्ग का ऋण भार घट जायगा, जिससे उनकी दरिद्रता दूर हो जाने के कारण भविष्य में आय की वृद्धि की सम्भावना उत्पन्न हो जायगी।

(२) भारतीय कृषक को कृषि की सीमा का विस्तार करने का अवसर मिलेगा, जिसके फलस्वरूप देश में कृषि उपज की वृद्धि होगी।

(३) भूमि में स्थायी सुधार होने के कारण कृषि उत्पादन की प्रकृति पर निर्भरता कम हो जायगी। इससे कृषक का आर्थिक आधार दृढ़ होगा और उसकी आय की अस्थिरता कम हो जायगी।

(४) इन बैंकों की स्थापना से ग्रामीण क्षेत्रों में ब्याज की दर नीचे गिरेगी।

(५) कृषकों के लिए समुचित प्रतिभूति देने की व्यवस्था हो जायगी, जिसका उनकी साख पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

(६) भूमि-बन्धक बैंक कृषकों की साहूकारों पर निर्भरता कम कर देगी, जिसका सहकारी साख संगठन के विकास पर भी अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

(७) इन बैंकों की स्थापना से ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारिता और सहयोग की नई जागृति उत्पन्न होगी, क्योंकि भारत में भूमि-बन्धक बैंक भी साधारणतया सहकारी आधार पर संगठित किये जा रहे हैं।

भूमि-बन्धक बैंकों के प्रकार—

भूमि-बन्धक बैंकों का संगठन कई प्रकार किया जाता है। कभी-कभी इन बैंकों को पूर्णतया सहकारी बैंक बनाया जाता है, परन्तु शुद्ध वाणिज्य आधार पर भी ऐसी बैंक खोली जाती हैं। ऐसी बैंकों के निम्न तीन रूप अधिक प्रचलित हैं :—

(१) सहकारी भूमि-बन्धक बैंक—इस प्रकार की बैंक शुद्ध सहकारी आधार पर स्थापित की जाती हैं। ऋण के इच्छुक व्यक्ति आपस में मिलकर एक संघ बनाते हैं। पूँजी प्राधि बाँध (Mortgage Bond) निकाल कर प्राप्त की जाती है, जिस पर ब्याज दिया जाता है और जो वाहक को शोधनीय होते हैं। इसके अतिरिक्त ऋणों के रूप में भी पूँजी प्राप्त की जा सकती है। ऐसी भू-प्राधि बैंकों की साधारणतया निजी पूँजी नहीं होती, सभी पूँजी (Bonds) द्वारा प्राप्त की जाती है। ऐसी बैंकों का उदाहरण जर्मनी में मिलता है, जो ऋणी व्यक्तियों के सहकारी संघ के रूप में होती हैं। अमरीका में भी संघीय फार्म ऋण बैंक (Federal Farm Loans Banks) सहकारी आधार पर स्थापित की गई हैं।

(२) वाणिज्यिक भू-प्राधि बैंक—ऐसी बैंक शुद्ध वाणिज्यिक आधार पर कार्य करती हैं। सहकारी भू-प्राधि बैंक की निजी पूँजी नहीं होती। वह न तो लाभ कमाती है और न लाभांश घोषित करती है। वाणिज्यिक भू-प्राधि बैंकों के पास मिश्रित पूँजी बैंकों की भाँति निजी पूँजी होती है, वे लाभ के उद्देश्य से कार्य करती हैं और लाभांश भी घोषित करती हैं। इनकी एक मात्र विशेषता कृपकों को भूमि की आड़ पर दीर्घकालीन ऋण देना होती है। व्यवहार में ऐसी बैंकों पर किसी न किसी अंश तक सरकारी नियन्त्रण रहता है। सरकार इस बात का प्रयत्न करती है कि अधिक लाभ कमाने के लिए ऊँची ब्याज न लें और अपने ऋण-पत्रधारियों के प्रति अनुचित व्यवहार न करें। भारत में इस प्रकार की भू-प्राधि बैंक नहीं हैं, परन्तु यूरोप के लगभग सभी देशों में मिश्रित पूँजी भू-प्राधि बैंक पाई जाती हैं। ऐसा अनुभव किया गया है कि ऐसी बैंक उन्हीं देशों में सफल होती हैं जहाँ अन्य प्रकार की बैंकिंग सुविधाएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती हैं।

(३) आभास-सहकारी भू-प्राधि बैंक (Quasi-Co-operative Land Mortgage Banks)—इस प्रकार की भूमि-बन्धक बैंक प्रथम दो प्रकार की बैंकों का मिश्रित रूप है। ऐसी बैंक ऋण लेने वालों के संघ द्वारा स्थापित की जाती हैं। इनकी पूँजी अंशों की बिक्री, ऋण-पत्रों की निकासी तथा ऋणों द्वारा प्राप्त की जाती है। इन संस्थाओं में अंशधारियों को मतदान अधिकार होता है, यद्यपि मतदान शक्ति का अंशों की संख्या से सम्बन्ध नहीं होता है। ये बैंक मिश्रित पूँजी कम्पनियों की भाँति सीमित उत्तरदायित्व के आधार पर कार्य करती हैं। भारत में इसी प्रकार की भू-प्राधि बैंकों का अधिक प्रचलन है। शुद्ध सहकारी भू-प्राधि बैंकों का विकास अभी कम हुआ है, यद्यपि सभी भू-प्राधि बैंकों में सहकारिता का अंश काफी रहता है।

ऐसी बैंक भी दो प्रकार की हो सकती हैं—शुद्ध और मिश्रित। शुद्ध बैंक वह होती है जिनके अंश केवल ऋण-इच्छुक सदस्यों को बेचे जाते हैं, मिश्रित बैंकों में ऋणी के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति भी अंश खरीद सकते हैं। भारत में अधिकांश भू-प्राधि बैंक मिश्रित प्रकार की हैं। बहुधा इस बात पर जोर दिया जाता है कि बाहरी व्यक्तियों

को भू-प्राधि बैंकों की सदस्यता नहीं मिलनी चाहिए, परन्तु पूँजी के अभाव के कारण हमारे देश में ऐसा करना उपयुक्त नहीं है।

भू-प्राधि बैंकों के कार्य—

भारत में भू-प्राधि बैंक केन्द्रीय बैंक और आरम्भिक बैंक के रूप में होती हैं। भू-प्राधि बैंक की प्रमुख इकाई आरम्भिक बैंक ही होती है। केन्द्रीय बैंक आरम्भिक बैंकों के संघ के रूप में होती है। एक आरम्भिक भू-प्राधि बैंक के कार्य निम्न प्रकार होते हैं :—

(१) अपने सदस्यों के आर्थिक हितों को उन्नत करना, जिसके लिए मुख्यतया अचल सम्पत्ति की प्राधि पर कुछ उद्देश्यों के लिए ऋण दिये जाते हैं, जैसे—(क) गिरवी रखी हुई भूमि और मकानों तथा पुराने ऋणों को चुकाने के लिए ऋण देना, (ख) कृषि की रीतियों में सुधार करने के लिए और भूमि सम्बन्धी सुधार के लिए ऋण देना, (ग) कृषि सम्बन्धी यन्त्रों के खरीदने के लिए ऋण देना, (घ) भूमि खरीदने, भूमि को कृषि योग्य बनाने तथा नई भूमि तोड़ने के लिए ऋण देना।

(२) सदस्यों में सहयोग और सहकारिता की भावना उत्पन्न करना और उनमें बचत और उनसे सम्बन्धित गुणों का उत्पन्न करना।

(३) सदस्यों को भूमि और उसके उपयोग सम्बन्धी समस्याओं के लिए आवश्यक सलाह देना।

भारतीय भू-प्राधि बैंक अधिक से अधिक २० वर्ष के लिए ऋण देती हैं। इनके ऋण-पत्रों की परिपक्वता अवधि भी इससे अधिक नहीं होती है। अधिकांश राज्यों में भूमि की कीमत के ५० प्रतिशत तक ऋण दिये जाते हैं। कुछ राज्यों में लगान के तीस गुने तक ऋण देने का चलन है। ऋण देने से पहले आड़ में रखी जाने वाली भूमि के स्वामित्त्व तथा प्रार्थी की शोधनक्षमता की जाँच की जाती है। ब्याज की दर अलग-अलग राज्यों में ६ प्रतिशत से लेकर १० प्रतिशत तक रहती है।

अधिकाँश ऋण पुराने ऋणों को चुकाने के लिए दिये गये हैं। विगत वर्षों में राज्य सरकारों ने ऋण निवारण उपाय किये हैं। फलतः पुराने ऋणों का भार कम हुआ है और भू-प्राधि बैंक अधिक रचनात्मक उद्देश्यों के लिए ऋण देने लगी हैं। विभिन्न राज्यों की भू-प्राधि बैंकों के कार्यों और उनकी ऋण-दान नीति में काफी अन्तर रहा है। अलग-अलग राज्यों में सरकारी संरक्षण का अंश भी अलग-अलग रहा है। मद्रास और बम्बई राज्यों में ऐसी बैंकों की उन्नति अधिक हुई है।

भारत में भू-प्राधि बैंकों का आरम्भ—

भारत में सबसे पहली इस प्रकार की बैंक सन् १९२० में पंजाब में खोली गई थी, जो कुछ समय पीछे फेल हो गई। तत्पश्चात् मद्रास में 'सेन्ट्रल लैंड मोर्टगेज बैंक' सन् १९१९ में स्थापित किया गया। इस बैंक के २·५ लाख रुपये की कीमत

आधे ऋण-पत्र मद्रास सरकार ने ले लिये थे, जिसने समस्त ऋण-पत्रों के निर्गम पर ६% ब्याज देने की भी जिम्मेदारी ली थी। यह बैंक प्रारम्भिक भू-प्राधि बैंकों की संघ के रूप में थी। सन् १९५० में प्रारम्भिक बैंकों की संख्या १२६ थी।

बम्बई में ऐसी बैंकों का संगठन सन् १९३५ में किया गया और निरीक्षण तथा सहायता के लिये उसी वर्ष बम्बई राज्य सहकारी भू-प्राधि बैंक स्थापित की गई। बम्बई सरकार ने ५० लाख रुपये की राशि तक बैंक द्वारा जारी हुए ऋण-पत्रों के मूलधन तथा ब्याज को चुकाने की गारन्टी दी। सन् १९५० में बम्बई में १९ प्रारम्भिक भू-प्राधि संस्थाएँ थीं। इसी प्रकार सन् १९५० में मैसूर में ७९ और मध्य-प्रदेश में ऐसी १४ संस्थाएँ थीं। अन्य राज्यों में सहकारी संस्थाओं के अभाव के कारण भू-प्राधि बैंकों का पर्याप्त विकास नहीं हो पाया है। उपरोक्त वर्ष में पश्चिमी बंगाल में २, उत्तर प्रदेश में ६, आसाम में २ तथा अजमेर में १२ प्रारम्भिक भू-प्राधि बैंक थीं। इस प्रकार पूरे भारत में सन् १९५३-५४ में २९१ प्रारम्भिक भू-प्राधि बैंक तथा ९ केन्द्रीय भू-प्राधि बैंक थीं, इनमें से २११ मद्रास, आन्ध्र और मैसूर के तीन राज्यों में थीं। सन् १९५४-५५ में भी केन्द्रीय बैंकों की संख्या ९ ही रही, यद्यपि प्रारम्भिक बैंकों की संख्या बढ़ कर २९२ हो गई थी।

केन्द्रीय बैंकों की अधिकाँश पूँजी ऋण-पत्रों की निकासी से प्राप्त होती है, जिन पर राज्य सरकार की गारन्टी रहती है। सन् १९५३-५४ के अन्त में ११·४५ करोड़ रुपये के ऋण-पत्र चालू थे, जिनमें से केवल मद्रास और आन्ध्र केन्द्रीय भू-प्राधि बैंकों के ऋण-पत्र ७·२० करोड़ रुपये के थे। सन् १९५४-५५ के अन्त में १२·७१ करोड़ रुपये के ऋण-पत्र थे, जिनका ६३% मद्रास और आन्ध्र में था। आरम्भिक बैंकों की संख्या जून सन् १९५५ के अन्त में २९२ थी, जिन्होंने १४५ लाख रुपये के ऋण उपरोक्त वर्ष में दिये थे। कृषकों के लिए ब्याज की दर ३½ और ९¾ प्रतिशत के बीच थी। कुल २९२ आरम्भिक बैंकों में से २१२ आन्ध्र, मद्रास और मैसूर के तीन राज्यों में केन्द्रित थीं।

जून सन् १९५५ के अन्त में भूमि-बन्धक बैंकों की सामान्य स्थिति निम्न प्रकार थी :—

	केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक	आरम्भिक भूमि-बन्धक बैंक
संख्या	९	२९२
सदस्यता	६५,८९३	२,९०,९३१
ऋणदान (रुपयों में)	२,४३,४८,५७६	१,४४,७८,९७३
कार्यवाहक पूँजी (,,)	१५,७८,८१,६८७	१०,४१,९७,४२२

सन् १९५६-५७ के अन्त में देश की ३२६ आरम्भिक भू-प्राधि बैंकों में से २४० और कुल की ७३·६१% आन्ध्र प्रदेश, मद्रास और मैसूर के तीन राज्यों में

केन्द्रित थीं। इनकी सदस्यता ३,३३,५८६ थी। इन बैंकों की कार्यवाहक पूँजी १२·७० करोड़ रुपया थी और इन्होंने वर्ष विशेष में २·०५ करोड़ रुपये के ऋण दिये थे। इन ऋणों पर ब्याज की दर ५½ और १०% के बीच थी। केवल बम्बई राज्य में कुछ प्रकार के ऋणों पर ३¼% ब्याज लिया गया था। निम्न तालिका में समस्त देश से सम्बन्धित आरम्भिक भू-प्राधि बैंकों की स्थिति दिखाई गई है :—

(लाख रुपयों में)

शीर्षक	१९५१-५२	१९५६-५७
ऋण दान	१३०	२०५
ऋण की वसूली	४८	८५
बकाया ऋण	६९६	१,१५१
अन्य आदेय, जैसे—विनियोग तथा नकद शेषें	७३	१२३
परिदत्त अंश पूँजी	५८	९९
सुरक्षित-कोष	१३	१९
शोधन कोष (Sinking Fund)	—	२
अन्य कोष	५	११
ऋण प्राप्ति	६७५	१,१३२
ऋण-पत्र (Debentures)	९	८
कार्यवाहक पूँजी	७६०	१,२७०

स्थिति में सुधार के सुझाव—

सन् १९२६ के सहकारी रजिस्ट्रार सम्मेलन में भू-प्राधि बैंकों की समस्या पर विचार किया गया था। बाद को इन संस्थाओं का विकास इसी सम्मेलन द्वारा निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार हुआ है।

उपरोक्त सम्मेलन के प्रमुख सुझाव निम्न प्रकार हैं :—

(१) प्रबन्ध का सुधार—इन बैंकों का संगठन सहकारिता सम्बन्धी नियमों के अन्तर्गत हो और इनका कार्य-क्षेत्र इस प्रकार निश्चित किया जाय कि वह न तो आर्थिक दृष्टिकोण से अनुपयुक्त हो और न प्रबन्ध के दृष्टिकोण से कठिन हो।

(२) ऋणों के उद्देश्य—भू-प्राधि बैंक किसानों को कुछ विशेष कार्यों के लिए ही ऋण दे सकती हैं, जो इस प्रकार हैं :—(अ) गिरवी रखी हुई भूमि अथवा मकान को छुड़ाने के लिये, (ब) भूमि तथा कृषि के साधनों में स्थायी सुधार करने के लिए, (स) पुराना ऋण चुकाने के लिये और (द) भूमि खरीदने के लिये। प्रत्येक बैंक के लिए यह आवश्यक है कि वह यह स्पष्ट कर दे कि प्रत्येक प्रकार के ऋण की न्यूनतम और अधिकतम सीमाएँ क्या होंगी ? सम्मेलन ने सुझाव दिया है

कि ऋण की राशि सम्पत्ति की कीमत के आधे से अधिक नहीं होनी चाहिए ।

(३) ऋण का भुगतान—ऋण चुकाने की अवधि निश्चित करने में बैंक को ऋण के उद्देश्य तथा ऋणी की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखना चाहिए । अनुत्पादक कार्यों के लिए साधारणतया ऋण नहीं देने चाहिए ।

(४) सरकारी गारन्टी—सरकार को ऋण-पत्रों के मूलधन और ब्याज के चुकाने की गारन्टी देनी चाहिए । आरम्भ में सरकार उन्हें आर्थिक सहायता दे, मुद्रांक करों में छूट दे तथा प्राधि के सम्बन्ध में कुछ विशेष सुविधायें दे ।

इनके अतिरिक्त भूमि-बन्धक बैंकों की उपयोगिता को बढ़ाने के लिए निम्न और भी दिए जा सकते हैं :—

(५) सुरक्षित कोषों में वृद्धि—इन बैंकों के लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि वे अपनी आर्थिक स्थिति की दृढ़ता के लिए अपने सुरक्षित कोषों का विस्तार करें । इन्हें अपने लाभ का अधिकांश भाग ऐसे कोषों के ही निर्माण पर व्यय करना चाहिये ।

(६) बन्धक भूमि बेचने का अधिकार—ऋण के वसूल न होने की दशा में भू-प्राधि बैंकों को ऐसी भूमि बेचने का अधिकार होना चाहिए जो उनके पास गिरवी रखी गई है ।

(७) निक्षेपों पर रोक—भू-प्राधि बैंकों के जमा धन स्वीकार करने पर भी प्रतिबन्ध रहने चाहिए । या तो इन्हें इस प्रकार की जमा स्वीकार करने से रोकना चाहिए या फिर यह जमा अधिक लम्बे काल के लिए होनी चाहिए ।

(८) लम्बे काल के लिए ऋण—भारतीय भू-प्राधि बैंक केवल २० साल के लिए ऋण देती हैं । यह अवधि कुछ दशाओं में बहुत ही कम रहती है । संसार के अन्य देशों की भाँति कुछ दशाओं में भारतीय भू-प्राधि बैंकों को भी ३०-४० वर्ष तक की अवधि के ऋण देने चाहिए ।

(९) सहकारी सहायता—बिना सरकारी सहायता के भू-प्राधि बैंकों की सफलता सम्भव नहीं है । ऐसी सहायता ऋण-पत्रों की गारन्टी, कुछ अंश तक ऋण-पत्रों को खरीद कर, करों में विशेष रियायत देकर तथा आरम्भ में सहायक अनुदानों द्वारा दी जा सकती है ।

(१०) विशेषज्ञ सेवायें—भूमि की सही कीमत को आंकने के लिए भू-प्राधि बैंकों को सरकारी सूत्रों से विशेषज्ञ सलाह प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए ।

भू-प्राधि बैंकों की समस्यायें—

भू-प्राधि बैंकों की सफलता एक बड़े अंश तक इस बात पर निर्भर होती है कि प्रतिभूति के रूप में प्रस्तुत की गई भूमि की कीमत का सही अनुमान लगाया जा सके और ऋण की वार्षिक किश्तें ठीक समय पर मिलती रहें। अपनी एक वार्षिक रिपोर्ट में रिजर्व बैंक ने यह बताया था कि भारत में भू-प्राधि बैंक भूमि में स्थायी सुधार की अपेक्षा पुराने ऋणों के निस्तारण का ही कार्य अधिक करती हैं। कोषों के प्राप्त करने तथा ऋण-पत्रों के निस्तारण की रीतियाँ भी दोषपूर्ण हैं। केवल उन्हीं राज्यों में इन बैंकों ने पर्याप्त कोष एकत्रित किए हैं जहां की सरकारों ने इनके ऋणों की गारन्टी दी है। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में ऐसी बैंकों का महत्त्व निस्सन्देह महान् है, परन्तु यह समझना भूल होगी कि ग्रामीण वित्त की सभी कठिनाइयाँ इनके द्वारा दूर हो जायेंगी।

भू-प्राधि बैंकों के मार्च सन् १९५४ के सम्मेलन में यह बताया गया था कि इन बैंकों के पास धन की कमी है, ऋण देने में देर होती है, ब्याज की दर ऊँची होती है और उनकी वसूली में कठिनाई होती है। भारतीय भू-प्राधि बैंकों की ७·७२ करोड़ रुपये की पूँजी में से ६·७५ करोड़ रुपया केवल ऋण-पत्रों से प्राप्त होता है। कार्यविधि के सुधार के लिए तीन सुझाव दिये जा सकते हैं—(१) प्रथम ऋण के पश्चात् प्रत्येक अगले ऋण के लिए ब्याज की दर अधिक रखी जाय, (२) ऋण थोड़े समय के लिए दिए जायें, जिससे थोड़े कोषों द्वारा अधिक ऋण दिए जा सकें और (३) ऋणों के उपयोग से प्राप्त आय केवल ऋणों के भुगतान के लिए उपयोग की जाय। स्मरण रहे कि भू-प्राधि बैंक सारे कृषि ऋणों को अपने ऊपर तो नहीं ले सकती हैं, परन्तु ब्याज की दरों को गिराकर तथा किश्तों में शोधन की व्यवस्था करके वे ऋणों के भार को अवश्य घटा सकती हैं। दूसरे पंच-वर्षीय आयोजन में भारत सरकार ने इनके सम्बन्ध में अखिल भारतीय ग्राम्य साख अनुसन्धान समिति की सिफारिशों को पूरा करने की नीति अपनाई है। योजनाकाल में सहकारी आधार पर इनके भारी विकास की आशा की जाती है।

QUESTIONS

1. What are the credit needs of the Indian agriculturist? How are they met to-day? (Raj., B. Com., 1949)

2. What part is played by the Land Mortgage Banks in the rural economy in India? What are the difficulties in the development of this branch of banking in India?

3. Discuss the development of land-mortgage banks in India. How will you improve their efficiency.

4. Discuss the importance of land mortgage banks for agriculturists in India. What are your suggestions to improve upon their position ?

भारतवर्ष के कृषकों के लिए भूमि-बन्धक अधिकोषों का क्या महत्त्व है ? उनकी दशा सुधारने के लिए अपने सुझाव प्रस्तुत कीजिए ।

(Agra, B. Com. Pt. I, 1959)

अध्याय ४३

भारत में औद्योगिक वित्त

(Industrial Finance in India)

औद्योगिक पूंजी के साधन—

औद्योगिक कम्पनियों को दो प्रकार के कोषों की आवश्यकता पड़ती है । दिन प्रति दिन का कार्य चलाने के लिए उन्हें अल्पकालीन ऋणों की आवश्यकता होती है, जैसे—कच्चा माल खरीदने के लिए, मजदूरी चुकाने के लिए और तैयार माल की बिक्री करने के लिए, परन्तु इन कम्पनियों को मशीनों तथा स्थिर आदेयों के खरीदने के लिए दीर्घकालीन ऋणों की भी आवश्यकता होती है । इन दोनों प्रकार की पूंजी के प्रमुख साधन निम्न प्रकार हैं :—

(१) कार्यवाहक अथवा अल्पकालीन पूंजी—यदि कोई कम्पनी ऐसा अनुभव करती है कि दिन प्रति दिन का कार्य चलाने के लिए भी उसकी अंश पूंजी अपर्याप्त है तो वह अल्पकालीन कोषों को उधार लेती है । इसके तीन साधन हैं :—(अ) कम्पनी के गोदामों और कारखानों के भीतर रखे हुए माल की आड़ पर व्यापारिक बैंक थोड़े समय के लिए ऋण दे देती हैं, (ब) मैनेजिंग एजेन्टों (प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं) से ऋणों और अग्रिमों की प्राप्ति और (स) जन-साधारण से प्राप्त निक्षेप की राशि । कुछ उद्योगों में यह प्रथा है कि जनता से निक्षेपों को स्वीकार किया जाता है । बम्बई की सूती कपड़े की मिलों में इसका रिवाज बहुत है, परन्तु यह व्यवस्था बहुधा उद्योग के लिए घातक होती है। संकट अथवा मन्दी के काल मे निक्षेप-

दाता अपने धन को निकालने लगते हैं और इस प्रकार कम्पनी की बिगड़ती हुई स्थिति को और भी खराब कर देते हैं।

(२) स्थिर पूँजी (Fixed Capital)—काफी समय से चालू उद्योग मशीनों, स्थिर यन्त्रों तथा अन्य प्रकार के स्थिर पूँजीगत माल के खरीदने के लिए ऋणों को प्राप्त करते रहे हैं। बहुत बार पुरानी मशीनों को बदलने अथवा उद्योग विस्तार हेतु नये यन्त्र खरीदने के लिए भी दीर्घकालीन ऋणों की आवश्यकता पड़ती है। सम्पन्न उद्योग दीर्घकालीन वित्त की पूर्ति या तो अपने जमा किये हुए सुरक्षित कोषों में से करते हैं या ऋण-पत्रों की निकासी द्वारा धन प्राप्त करते हैं। नये उद्योगों तथा ऐसे उद्योगों को जिनकी साख नहीं बन पाई है, यह सुविधा प्राप्त नहीं होती है। देश में औद्योगिक बैंकों तथा अभिगोपन गृहों (Underwriting Houses) की कमी के कारण उन्हें विशेष कठिनाई होती है। व्यापारिक बैंक दीर्घकालीन ऋण नहीं देती हैं, वे अचल सम्पत्ति अथवा प्राधियों की प्रतिभूति पर ऋण नहीं देती हैं। स्टेट बैंक तथा विनिमय बैंक भी साधारणतया ऐसे ऋणों में व्यवसाय नहीं करती हैं। विदेशों में बीमा कम्पनियाँ अपने आदेयों का एक काफी बड़ा भाग उद्योगों में लगाती हैं, परन्तु भारत में इसका चलन भी नहीं है।

दीर्घकालीन वित्त के साधन—

भारतीय उद्योगों को दीर्घकालीन वित्त के सम्बन्ध में भारी कठिनाई होती है। ऐसे वित्त के प्रमुख साधन निम्न प्रकार हैं :—

(अ) देशी बैंकर, साहूकार तथा व्यक्तिगत ऋणदाता फर्में—ये दीर्घकालीन वित्त का महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं, परन्तु ये बहुत सन्तोषजनक नहीं हैं, क्योंकि इनके ऋणों पर ब्याज की दर काफी ऊँची होती है।

(ब) राजकीय ऋण—यह दीर्घकालीन वित्त का दूसरा साधन है। बहुत सी राज्य सरकारें नियमानुसार छोटे-छोटे उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करती हैं। औद्योगिक कम्पनियों के दृष्टिकोण से सरकारी ऋण बहुत सुविधाजनक नहीं होते हैं, क्योंकि इनके मिलने में बहुधा विलम्ब होता है और ऋण लेने वाली कम्पनियों को कई दफ्तरों और सूत्रों में से प्रार्थना-पत्र भेजने पड़ते हैं। वैसे भी ऐसे ऋण एक निश्चित अंश तक ही प्राप्त होते हैं। इस कारण ऋणों का यह साधन बहुत लोकप्रिय नहीं है। साथ ही साथ, सरकारी ऋण साधारणतया छोटे अथवा मध्यम श्रेणी के उद्योगों को ही दिये जाते हैं।

(स) औद्योगिक बैंक से ऋण—भारत में ऐसी बैंकों को बहुत ही कम सफलता मिली है। समय-समय पर औद्योगिक वित्त व्यवस्था करने के लिए बहुत सी औद्योगिक बैंक खोली गई थीं, परन्तु वे कुछ ही समय पश्चात् या तो व्यापार बैंकों में विलय करने पर पर बाध्य हुई अथवा ठप्प हो गई। ऐसी बैंकों की असफलता के प्रमुख

कारण औद्योगिक बैंकिंग सम्बन्धी ज्ञान और अनुभव का अभाव तथा प्रबन्ध की अकुशलता और बेईमानी थे।

(द) औद्योगिक वित्त प्रमन्डल से प्राप्त ऋण—इस प्रमण्डल की सेवाएँ सन् १९४८ से प्राप्त हुई हैं। राज्य सरकारों ने भी राज्य औद्योगिक वित्त प्रमण्डल खोले हैं। ऐसी आशा की जाती है कि भविष्य में इस सूत्र से काफी सहायता मिल सकेगी, परन्तु इन प्रमन्डलों का कार्य इस समय तक बहुत सन्तोषजनक नहीं रहा है।

औद्योगिक वित्त प्रमण्डल (Industrial Finance Corporation)—

भारत में औद्योगिक वित्त की कमी को तो सभी स्वीकार करते हैं, परन्तु युद्धोत्तर काल में सरकार तथा रिजर्व बैंक ने ऐसा अनुभव किया है कि औद्योगिक विकास तथा पुनर्वास की प्रगति के लिए विशेष व्यवस्था की आवश्यकता थी। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने समस्या को सुलझाने के लिए एक अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त प्रमण्डल तथा राज्य वित्त प्रमन्डलों की स्थापना का सुझाव दिया था। एक विशेष नियम पास करके भारतीय लोक सभा ने १ जुलाई सन् १९४८ से औद्योगिक वित्त प्रमन्डल की स्थापना की है। इस प्रमन्डल की प्रमुख व्यवस्थाएँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) पूँजी—इस प्रमन्डल को १० करोड़ रुपये की अधिकृत पूँजी की आज्ञा दी गई है और इसकी अंश पूँजी ५ करोड़ रुपया रखी गई है, जिसे ५-५ हजार रुपये के पूर्णतया परिदत्त अंशों में बाँटा गया है। प्रमंडल के अंश केन्द्रीय सरकार तथा अन्य उल्लेखित संस्थाओं द्वारा निम्न अनुपात में खरीदे जा सकते हैं। केन्द्रीय सरकार २०%, रिजर्व बैंक २०%, परिगणित बैंक २५%, बीमा कम्पनियाँ, विनियोग ट्रस्ट तथा इस प्रकार की अन्य संस्थाएँ २५% और सहकारी बैंक १०%। प्रमन्डल के अंशों का हस्तान्तरण नहीं किया जा सकता है, परन्तु ऊपर के विभिन्न वर्गों के बीच एक अश तक हस्तान्तरण की आज्ञा दी गई है, किन्तु यह व्यवस्था की गई है कि किसी भी वर्ग के पास उसके निश्चित हिस्से के १०% से अधिक अंश एकत्रित न होने पायें। इन अंशों पर सरकार की गारन्टी है। यदि प्रमन्डल फेल होता है तो अंशधारी को उसके अंश की कीमत सरकार द्वारा चुकाई जायगी। सरकार ने यह भी विश्वास दिलाया है कि न्यूनतम लाभांश २½% की दर पर अवश्य दिया जायगा। यदि कोई वर्ग अपने हिस्से के अंश को नहीं खरीदता है तो ऐसे अंशों को सरकार अथवा रिजर्व बैंक प्राप्त कर सकते हैं और बाद को उपयुक्त संस्थाओं के हाथ बेच सकते हैं। अन्य सभी संस्थाओं ने तो अपने हिस्से से अधिक के अंश खरीदे हैं, परन्तु सहकारी बैंक अपने कुल अभ्यंश को नहीं खरीद पाई हैं। उनके हिस्से के ३·९५ लाख रुपये के अंश रिजर्व बैंक ने प्राप्त किये हैं।

(२) प्रबन्ध—प्रमन्डल का प्रबन्ध १२ सदस्यों के संचालक मन्डल द्वारा किया जाता है। ३ संचालक भारत सरकार द्वारा नामजद किए जाते हैं, २ संचालक

रिजर्व बैंक द्वारा नामजद किये जाते हैं, २ अंशधारी बैंकों द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं, २ का निर्वाचन सहकारी बैंक करती हैं, २ अन्य अंशधारियों द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं और १ प्रबन्ध संचालक (Managing Director) सरकार नियुक्त करती है। निर्वाचित संचालकों का कार्य-काल ४ वर्ष होता है और नामजद सदस्य नामजद करने वाली संस्था की इच्छा के अनुसार बदले जा सकते हैं। प्रबन्ध संचालक एक वेतनभोगी सदस्य होता है और साधारणतया ४ वर्ष तक कार्य करता है, यद्यपि उसको फिर से नियुक्त किया जा सकता है। इस मण्डल की सहायता के लिए ५ सदस्यों की एक कार्यकारिणी समिति होती है, जिसके दो सदस्य निर्वाचित सदस्यों द्वारा निर्वाचित होते हैं और १ सरकार नामजद करती है, प्रबन्ध संचालक इस समिति का अध्यक्ष होता है। इस बात की भी व्यवस्था की गई है कि आवश्यकता पड़ने पर कुछ सलाहकार समितियों को भी नियुक्त किया जा सके। प्रमण्डल का प्रधान कार्यालय दिल्ली में है।

(३) कार्य—प्रमण्डल के लिये सरकारी आदेशों का पालन करना अनिवार्य है। यदि संचालक समिति ऐसा नहीं करती है तो उसका कार्यवाहन स्थगित किया जा सकता है। प्रमण्डल का उद्देश्य औद्योगिक कम्पनियों के लिये दीर्घकालीन तथा मध्यकालीन ऋणों की व्यवस्था करना है। प्रमन्डल व्यक्तियों, साझेदारियों तथा निजी औद्योगिक कम्पनियों को सहायता नहीं दे सकता है। प्रमण्डल को निम्न प्रकार के अधिकार दिये गये हैं—(१) औद्योगिक कम्पनियों द्वारा लिए जाने वाले ऋणों की गारन्टी देना, यदि ऐसे ऋण २५ वर्ष के भीतर शोधनीय हैं। (२) स्कन्ध, अंश, बाँध अथवा ऋण-पत्रों का अभिगोपन करना। (३) ऊपर बताई गई कम्पनियों को ऋण देना। प्रमण्डल केवल समुचित प्रतिभूतियों पर ही ऋण देता है और ऐसे ऋणों को २५ वर्ष के भीतर चुकाना आवश्यक होता है। ऋण भारतीय मुद्रा अथवा किसी विदेशी मुद्रा में भी दिये जा सकते हैं। प्रमण्डल को ऋणी के लिए शर्तें निश्चित करने के विस्तृत अधिकार दिये गये हैं और वह ऋण लेने वाली कम्पनी की संचालक समिति में एक सदस्य नियुक्त कर सकता है। किसी एक कम्पनी अथवा संस्था के लिए ऋण की अधिकतम् मात्रा ५० लाख रुपया रखी गई है। (४) प्रमण्डल को यह भी अधिकार है कि वह स्वयं ऋण-पत्र जारी करे और विश्व बैंक से विदेशी ऋण प्राप्त कर ले। (५) प्रमण्डल जनता से ५ वर्ष के निश्चित-कालीन निक्षेप भी स्वीकार कर सकता है, परन्तु ऐसे निक्षेपों की कुल राशि १० करोड़ रुपये से अधिक नहीं होनी चाहिये। (६) प्रमण्डल को भारतीय आय-कर विधान के अनुसार एक कम्पनी घोषित किया गया है और इसलिए इस पर आय-कर तथा अति-कर लगाया जा सकता है।

फरवरी सन् १९५२ तक प्रमण्डल के ब्याज की दर ५½% थी, जिसमें ब्याज और ऋण की किश्त को समय पर चुकाने की दशा में ½% की छूट दी जाती थी, परन्तु उपरोक्त मास से ब्याज की दर बढ़ा कर ६½% कर दी गई है और छूट की दर यथास्थिर रखी गई है।

प्रमण्डल का कार्यवाहन एवं उसकी आलोचनाएं—

सन् १९५२ तक का प्रमण्डल के सम्बन्ध में जो अनुमान लगाया गया था उसके अनुसार अपने ४ वर्ष के जीवन-काल में इसने ऋण की ९४ प्रार्थनाएं स्वीकार करके १४·०३ करोड़ रुपयों के ऋण दिये थे। प्रमण्डल ने काफी मात्रा में प्रार्थना-पत्रों को अस्वीकार किया है। प्रमण्डल के कार्य का धीरे-धीरे बराबर विस्तार होता गया है, परन्तु पहले ४ वर्षों में उसके लाभ इतने कम रहे थे कि निश्चित लाभांश बाँटना भी सम्भव न हो सका और इस काल में इसके लिए सरकार को २९·८९ लाख रुपये की सहायता देनी पड़ी। अपने कोषों को बढ़ाने के लिये प्रमण्डल ने बाँड की निकासी द्वारा धन प्राप्त किया है। जून सन् १९५२ के अन्त तक ऐसी निकासी की मात्रा ५·८१ करोड़ रुपया थी।

३० जून सन् १९५५ तक औद्योगिक वित्त प्रमण्डल ने १२५ उद्योगों को कुल मिलाकर २८ करोड़ रुपये के ऋण दिये थे, जिसमें से १५,२२,५०,००० रुपये नये उद्योगों को दिये गए थे और १२,८५,२५,००० रुपए पुराने उद्योगों के नवीनीकरण, आधुनिकरण तथा विस्तार के लिए दिए गये थे। ३० जून सन् १९५५ तक प्रमण्डल ने ९·६९ लाख रुपए का लाभ कमाया था, जो सब प्रकार के खर्चे चुकाने और १५ लाख रुपए का सुरक्षित कोष रखने के बाद बचा था। ३० जून सन् १९५४ तक प्रमण्डल ने घाटे को पूरा करने और ५ करोड़ रुपए की परिदत्त पूँजी पर २½% ब्याज चुकाने के लिए सरकार से ३०·९५ लाख रुपए की सहायता प्राप्त की थी। पहले ७ वर्ष के काल में प्रमण्डल से सबसे बड़ा ऋण (४·४३ करोड़ रुपया) चीनी उद्योग को मिला था, दूसरा नम्बर सूती कपड़ा उद्योग (४·११ करोड़ रुपया), तीसरा सीमेंट (३·१५ करोड़ रुपया), चौथा कागज (३·११ करोड़ रुपया) और पाँचवां रसायन (२·८१ करोड़ रुपया) का रहा था।

३० जून सन् १९५६ को समाप्त होने वाले वर्ष में प्रमण्डल ने कुल १५·१३ करोड़ रुपये के ऋण दिए थे, जो गत वर्ष में दिए हुए ऋणों की मात्रा के दो गुने से भी अधिक थे। इस वर्ष में २७·७० करोड़ रुपए के ऋणों के ८६ प्रार्थना-पत्र प्राप्त हुए थे, जबकि गत वर्ष में ११·२७ करोड़ रुपए के ऋणों के केवल ४९ प्रार्थना-पत्र आये थे। अपने जीवन-काल के ८ वर्षों में प्रमण्डल ने कुल ४३·२१ करोड़ रुपए के ऋणों की स्वीकृति दी थी, जिसमें १९·७३ करोड़ रुपयों के ऋण दिये जा चुके थे। भुगतान में से लगभग २१·६% बकाया था। ८ वर्ष के काल में प्रमण्डल की ब्याज की आय २,८०,८८,९२२ रुपया रही है, जिसमें से २,६२,९१,२५७ रुपया वसूल हो चुका था।

सितम्बर सन् १९५५ में औद्योगिक वित्त प्रमण्डल के नियमों में कई संशोधन किए गए थे। एक संशोधन द्वारा प्रमण्डल को गिरवी रखी हुई सम्पत्ति को बेचने के अतिरिक्त पट्टे पर उठाने का भी अधिकार दिया गया था, ताकि अपना भुगतान पा लेने के पश्चात् प्रमण्डल ऋणी को उसकी सम्पत्ति लौटा सके। दूसरे संशोधन द्वारा

आंशिक-समय वेतन-रहित अध्यक्ष के स्थान पर पूर्ण-समय वेतन-भोगी अध्यक्ष रखने की व्यवस्था की गई है। तीसरे संशोधन द्वारा प्रमण्डल को केन्द्रीय सरकार से ऋण लेकर अपने कोषों का निर्माण करने का अधिकार दिया गया है।

३० सन् जून १९५७ को समाप्त होने वाले वर्ष में औद्योगिक वित्त प्रमण्डल को ४३·०६ लाख का सकल लाभ और ११·२५ लाख रुपए का शुद्ध लाभ रहा है। वर्ष विशेष के अन्त में कुल ऋण २१·९० करोड़ रुपये के रहे हैं। वर्ष विशेष में ९·७१ करोड़ रुपए के ऋणों का वितरण हुआ है, जबकि सन् १९५५-५६ में ऐसी राशि केवल २·२० करोड़ रुपया थी। इस वर्ष में कुल ११·९१ करोड़ रुपये के ऋणों की स्वीकृति दी गई थी। सहकारी समितियों के लिए १०·७३ करोड़ रुपए के ऋण स्वीकार किए गए हैं। वर्ष विशेष की महत्त्वपूर्ण घटना यह रही है कि प्रमण्डल को १५ करोड़ रुपए की पूंजी और प्राप्त हो गई है, जिसके फलस्वरूप यह सन् १९५७-५८ मे २० करोड़ रुपए तक के ऋण दे सकेगा। सन् १९५७ में एक नये संशोधक नियम द्वारा प्रमण्डल को अपनी परिदत्त पूंजी और सुरक्षित कोष के १० गुने तक ऋण लेने का अधिकार दिया गया है।

निम्न तालिका में औद्योगिक वित्त प्रमण्डल द्वारा दिए हुए ऋणों के सम्बन्ध मे सम्पूर्ण स्थिति दिखाई गई है :—

	स्वीकृत ऋणों की कुल राशि (रुपयों में)	दिये हुए ऋणों की कुल राशि (रुपयों मे
३० जून सन् १९४९ के अन्त में	४,४२,२५,०००	१,३२,८९,८१
,, ,, १९५० ,, ,, ,,	७,१९,२५,०००	३,४०,७४,३१
,, ,, १९५१ ,, ,, ,,	९,५८,२०,०००	५,७८,६५,००
,, ,, १९५२ ,, ,, ,,	१४,०३,४५,०००	७,५७,०३,८०
,, ,, १९५३ ,, ,, ,,	१५,४६,७०,०००	१०,०६,७९,८०
,, ,, १९५४ ,, ,, ,,	२०,७३,७५,०००	१२,८८,६५,७५
,, ,, १९५५ ,, ,, ,,	२८,०७,७५,०००	१४,५२,९६,३०
,, ,, १९५६ ,, ,, ,,	४३,२०,७५,०००	१६,७३,१९,६१
,, ,, १९५७ ,, ,, ,,	४८,३६,००,०००	२६,४४,१९,६१
,, ,, १९५८ ,, ,, ,,	५७,४२,००,०००	३२,०३,००,००

उपरोक्त तालिका से पता चलता है कि जून सन् १९५७ और जून सन् १९ के बीच प्रमण्डल ने ९·०६ करोड़ रुपये के नये ऋणों की स्वीकृति दी है, जबकि काल में उद्योगों ने ५·५९ करोड़ रुपये के ऋण वास्तव में लिए हैं। दूसरी पंच-वर्ष योजना के काल में केन्द्रीय सरकार की ओर से प्रमण्डल को १३·५० करोड़ रुपये

ऋण देने का निश्चय किया गया था। अब यह राशि बढ़ाकर २२·२५ करोड़ रुपया कर दी गई है। औद्योगिक वित्त प्रमण्डल (संशोधन) अधिनियम, सन् १९५७ (The Industrial Finance Corporation 'Amendment' Act, 1957) ने प्रमण्डल के साधनों और उनकी कार्यवाहियों दोनों का विस्तार किया है। इस संशोधन के फलस्वरूप नये उद्योग तथा बहुत से ऐसे उद्योग भी जो समुचित प्रतिभूति देने में असमर्थ हैं, परन्तु जिनके विकास का राष्ट्रीय महत्त्व है, केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार, परिगणित बैंक अथवा राज्य सहकारी बैंक की गारन्टी पर ऋण प्राप्त कर सकते हैं।

आलोचनाएँ—

प्रमण्डल के विधान तथा कार्यवाहन के विरुद्ध दो आलोचनाएँ की गई हैं:—

(१) प्रमण्डल केवल बड़े-बड़े उद्योगों को सहायता देता है। यह छोटे उद्योगों के लिए हानिकारक है और पूँजी का केन्द्रीयकरण करने की प्रवृत्ति रखता है।

(२) प्रमण्डल को निजी अंशधारियों की संस्था बनाया गया है। इससे यह भय उत्पन्न होता है कि इसकी सुविधाओं का व्यक्तिगत, क्षेत्रीय अथवा वर्गीय हितों को उन्नत करने के लिए उपयोग हो सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि प्रमण्डल पिछड़े हुए उद्योगों को सहायता दे और राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखे। रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् प्रमण्डल के ४०% अंश सरकार के हाथ में आ गये हैं और इस कारण अब राष्ट्रीय हितों की ओर अधिक ध्यान दिये जाने की आशा है। बीमा व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण ने सरकार के हाथ और भी मजबूत कर दिए हैं।

कार्यवाहन के सम्बन्ध में चार और भी आलोचनाएँ की जा सकती हैं:—

(३) प्रमण्डल ने अपना कार्य रूढ़िवादी रीति से चलाया है, जिससे यह पर्याप्त सहायता नहीं दे सका है। आवेदन-पत्रों को छोटे-छोटे टैक्नीकल कारणों पर रद्द कर देना उचित न था।

(४) प्रमण्डल ने सहायता बहुत ही कम दी है। ९ वर्षों में केवल २६ करोड़ रुपए के ऋण दिये गए हैं। इन ऋणों के देने में काफी विलम्ब किया है। ऋण देने के अतिरिक्त अंशों की गारन्टी, ऋण-पत्रों के खरीदने तथा अभिगोपन का कार्य इसने अभी नहीं किया है।

(५) प्रमण्डल के ब्याज की दर बहुत ऊँची है, जिसके कारण बहुत ही कम कम्पनियाँ इससे ऋण लेने को इच्छुक रहती हैं।

(६) यह कहा जाता है कि प्रमण्डल ने अभी तक केवल ऐसे राज्यों तथा उद्योगों को सहायता दी है जो पहले से ही विकसित तथा मजबूत हैं।

गत वर्ष में प्रमण्डल का कार्यवाहन अधिक सन्तोषजनक रहा है और प्रदान किए हुए ऋणों की मात्रा में भी काफी वृद्धि हुई है। सितम्बर सन् १९५६ में प्रमण्डल की वार्षिक बैठक में प्रमण्डल के अध्यक्ष श्री मैनन ने बताया था कि गत वर्ष में प्रार्थित

तथा स्वीकृत दोनों ही प्रकार के ऋणों की मात्रा सब वर्षों से अधिक रही है। अध्यक्ष का विचार था कि दूसरी पंच-वर्षीय योजना में प्रमण्डल द्वारा १५ करोड़ रुपये की राशि के ऋण देने की जो व्यवस्था की गई है वह आवश्यकता से कम है। श्री मैनन का विचार था कि दो बातों का प्रमण्डल के कार्यवाहन पर बुरा प्रभाव पड़ रहा था। एक ओर तो राज्य सरकारें औद्योगिक इकाइयों को सीधा ऋण दे रही हैं, इसके स्थान पर ऋण प्रमण्डल द्वारा दिये जाने चाहिए। दूसरी ओर प्रमण्डल के खातों का अंकेक्षण अनेक एजेन्सियों द्वारा हो रहा है, जिसमें किसी अधिक विचार-युक्त नीति अपनाने की आवश्यकता है। उनका विचार था कि अभी ब्याज की दर को ६·५% से नीचे घटाने की सम्भावना नहीं है, बल्कि हो सकता है कि प्रमण्डल को न्यूनतम् निर्धारित लाभांश बाँटने के लिए सरकार से सहायता लेनी पड़े। श्री मैनन ने इस बात पर जोर दिया कि सरकार को ऐसा नियम बना देना चाहिए कि औद्योगिक विकास सम्बन्धी सभी ऋण प्रमण्डल द्वारा ही दिए जायें। उनका यह भी विचार था कि कोषों को बढ़ाने के लिए प्रमण्डल को बाजार से ऋण प्राप्त करने की आवश्यकता पड़ सकती है। सन् १९५७ में प्रमण्डल का कार्यवाहन बहुत सन्तोषजनक रहा है और सन् १९५८ में इसके कार्य का काफी विस्तार भी हुआ है।

राज्य वित्त प्रमन्डल—

औद्योगिक वित्त प्रमण्डल का कार्य-क्षेत्र काफी सीमित है, इस कारण उसके कार्यों की कमी को पूरा करने के लिए कुछ राज्य सरकारों ने राज्य वित्त प्रमण्डलों की स्थापना की माँग रखी। सितम्बर सन् १९५१ में लोकसभा ने राज्यों को ऐसे प्रमण्डल खोलने का अधिकार दिया। इन प्रमण्डलों में यह व्यवस्था की गई है कि उन उद्योगों के लिए वित्तीय सहायता दी जा सके जो केन्द्रीय प्रमण्डल से सहायता पाने के अधिकारी नहीं हैं। विधान तथा कार्यों में ये संस्थायें केन्द्रीय प्रमण्डल से बहुत भिन्न नहीं हैं। ये प्रमण्डल केवल २० वर्ष तक के लिए ऋण दे सकते हैं और इनकी अंश पूँजी ५० लाख तथा ५ करोड़ रुपयों के बीच होगी। कुल अंश पूँजी का ७५% सरकार, रिजर्व बैंक, अनुसूचित बैंकों, सहकारी बैंकों, बीमा कम्पनियों, विनियोग ट्रस्ट तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं द्वारा देने की व्यवस्था की गई है और शेष २५% व्यक्तियों द्वारा। ऐसे प्रमण्डल एक उद्योग को अधिक से अधिक १० लाख रुपये का ऋण दे सकते हैं। कुछ राज्यों ने ऐसे प्रमण्डल स्थापित कर लिए हैं और शेष केन्द्रीय सरकार के आदेश की प्रतीक्षा में हैं। पंजाब, मध्य-प्रदेश तथा उत्तर-प्रदेश राज्यों के वित्तीय प्रमण्डल की प्रगति के आँकड़े प्राप्त हुए हैं। शेष की स्थिति का अभी पता नहीं है। इनसे छोटे तथा मध्यम-श्रेणी के कारखानों को सहायता मिलेगी। ३० जून सन् १९५६ को समाप्त होने वाले वर्ष के अन्त में देश में कुल राज्य वित्त प्रमण्डलों की संख्या १३ हो गई थी और अगले दो वर्षों में भी उनकी संख्या १३ ही रही है। जून सन् १९५८ के अन्त में इन प्रमण्डलों के कुल बकाया ऋण और अग्रिम ९·५१ करोड़ रुपया थे।

केन्द्रीय और राज्य वित्त प्रमण्डलों के कार्य-क्षेत्रों को एक-दूसरे से बिल्कुल अलग कर दिया गया है। यह तय किया गया है कि १० लाख रुपये तक के ऋणों के प्रार्थना-पत्र अथवा राज्य प्रमण्डल की परिदत्त पूँजी के १०% तक के ऋणों के प्रार्थना-पत्र राज्य वित्त प्रमण्डल के पास जाने चाहिए। ये प्रमण्डल मध्यम तथा छोटे उद्योगों को ऋण देते हैं।

राज्य वित्त प्रमण्डल (संशोधन) अधिनियम, सन् १९५६ द्वारा, जो १ अक्टूबर सन् १९५६ से लागू कर दिया गया है, ऐसे प्रमण्डलों के सम्बन्ध में निम्न व्यवस्थाएँ की गई हैं :—(१) दो या अधिक राज्य मिल कर सम्मिलित वित्त प्रमण्डल बना सकते हैं। (२) ये प्रमण्डल केन्द्रीय और राज्य सरकारों तथा औद्योगिक वित्त प्रमण्डल के अभिकर्त्ता का कार्य कर सकते हैं। (३) प्रमण्डल अब किसी उद्योग को राज्य सरकार, अनुसूचित बैंक अथवा राज्य सहकारी बैंक की जमानत पर ऋण दे सकते हैं (४) प्रमण्डल सरकारी हुन्डियों की आड़ पर रिजर्व बैंक से अल्पकालीन ऋण ले सकते हैं और (५) रिजर्व बैंक को प्रमण्डलों के निरीक्षण का अधिकार दे दिया गया है।

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम लि० (The National Industrial Development Corporation Ltd.)—

औद्योगिक वित्त निगम के अतिरिक्त दो और निगम देश के औद्योगिक विकास के लिए स्थापित किये गये हैं। इनमें से राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम की स्थापना अक्टूबर सन् १९५४ में १ करोड़ रुपए की पूँजी से की गई है। कम्पनी को एक प्राईवेट लिमिटेड कम्पनी बनाया गया है, यद्यपि सारी अंश पूँजी सरकार द्वारा दी गई है। निगम को पूँजी बढ़ाने के लिये अंशों और ऋण-पत्रों की निकासी का अधिकार दिया गया है। निगम को केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों, बैंकिंग कम्पनियों तथा व्यक्तियों से ऋण और जमा प्राप्त करने का भी अधिकार दिया गया है। निगम की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य लोक और निजी क्षेत्रों में संतुलित औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन देना, नई औद्योगिक योजनाओं की जाँच करना तथा उनका संचालन करना और औद्योगिक विकास की कमियों को दूर करना है। निगम के कार्यों का उल्लेख निम्न प्रकार है :—

(१) सरकारी उद्योगों, कम्पनियों, फर्मों और व्यक्तियों को पूँजी साख और यन्त्रों-सम्बन्धी सहायता देना।
(२) उद्योगों को ऋण देना।
(३) उद्योगों के अंशों और ऋण-पत्रों का अभिगोपन करना और उनकी गारन्टी लेना तथा उन्हें दक्ष और विशेषज्ञीय सेवाएँ प्रदान करना।
(४) औद्योगिक विकास हेतु नये उद्योगों को सहायता देना।
(५) व्यापारिक संस्थाओं में साझेदारी के रूप में शामिल होना।

(६) सम्बन्धित उद्योगों के लिए संचालकों और सलाहकारों को नियुक्त करना।

(७) औद्योगिक विकास के लिए अपनी ओर से नई योजना चालू करना।

निगम के लिए वित्तीय प्रबन्ध केन्द्रीय सरकार ऋणों और अनुदानों द्वारा करती है। सन् १९५६-५७ के बजट में इसके लिए १·४९ करोड़ रुपये और सन् १९५७-५८ के बजट में ४·५० करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई थी। मार्च सन् १९५७ तक निगम ने ६ सूती कपड़ा मिलों को लगभग १·९५ करोड़ रुपये के ऋण दिये थे। इसके अतिरिक्त २ जूट की मिलों को ५५ लाख रुपये के ऋण दिये थे। निगम के ऋणों पर ब्याज की दर ४·५% रखी गई है और वे १२ किश्तों में शोधनीय हैं। निगम के द्वारा सरकार सूती कपड़ा और जूट उद्योगों को उद्योगों के पुनर्वासन तथा आधुनिकरण के लिए ऋण देती है। जून सन् १९५८ तक निगम को इस कार्य के लिए २·२६ करोड़ रुपये के ऋण दिये जा चुके थे।

भारतीय औद्योगिक साख और विनियोग निगम लि० (Industrial Credit and Investment Corporation of India Ltd.)—

इस निगम ने मार्च सन् १९५५ में अपना कार्य आरम्भ किया है। निगम की स्थापना भारतीय कम्पनी विधान के अन्तर्गत की गई है और उद्देश्य निजी क्षेत्र के उद्योगों को सहायता देना है। निगम के प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) औद्योगिक इकाइयों को मध्यकालीन और दीर्घकालीन ऋण देना।

(२) नई कम्पनियों के अंशों और ऋण-पत्रों का अभिगोपन।

(३) ऋणों को आकर्षित करने के लिए निजी क्षेत्रों से आये हुए ऋणों की फिर से गारन्टी लेना।

(४) भारतीय कम्पनियों को प्रबन्ध के बारे में तान्त्रिक सलाह देना।

(५) उद्योगों के विकास और नये आविष्कारों की व्यवस्था करना।

(६) नये व्यवसायों तथा विनियोगों को प्रोत्साहन देना।

निगम की कुल पूँजी २५ करोड़ रुपया रखी गई है, जिसे १००-१०० रुपये के अंशों में बाँटा गया है। अभी तक केवल ५ करोड़ रुपये की पूँजी की निकासी की गई है, जिसमें से २ करोड़ रुपया भारतीय बीमा कम्पनियों, ५० लाख रुपया अमरीका की वित्त निगम, १ करोड़ रुपया इंगलैंड की बीमा कम्पनियों और १½ करोड़ रुपया जनता द्वारा दिया गया है। कम्पनी के अंशों के हस्तान्तरण पर सरकारी नियंत्रण है। सरकार निगम को ७·५ करोड़ रुपये का ब्याज रहित अग्रिम देगी, जिसका भुगतान स्थापना के १५ वर्ष पीछे १५ किश्तों में किया जायगा। विश्व बैंक ने निगम को लगभग १ करोड़ रुपये की कीमत का डालर में विदेशी मुद्रा ऋण प्रदान किया है। निगम ने ५ करोड़ रुपया अंशों की बिक्री द्वारा और ७·५ करोड़ रुपया सरकार से प्राप्त कर लिया है।

सन् १९५६ के अन्त तक निगम ने १५ प्रार्थियों के ६·०१ करोड़ रुपये के ऋणों की स्वीकृति दी थी। इसमें से २·९५ करोड़ रुपए ऋण के रूप में थे, २·३८ करोड़ रुपये अभिगोपन (Underwriting) के रूप में और ६८ लाख रुपया अंशों के चन्दों के रूप में। २·९५ करोड़ रुपये के स्वीकृत ऋण में से वास्तव में सन् १९५६ के अन्त तक केवल ५४ लाख रुपये लिए गए थे। सन् १९५७ के अन्त तक निगम ने कागज, रसायन और औषधि, विद्युत सामान, वस्त्र, चीनी, धातु, चूना, सीमेंट, कांच आदि उद्योगों के लिए ११·९५ करोड़ रुपये के ऋणों की स्वीकृति दी थी। किन्तु वास्तव में उद्योग इस काल तक केवल १·९५ करोड़ रुपये की राशि ही निकाल पाये हैं।

निगम का प्रारम्भिक उद्देश्य भारत में निजी क्षेत्र के उद्योगों की सहायता करना है। उद्देश्य यह है कि ऐसे उद्योगों के निर्माण, विस्तार और आधुनिकरण का वित्त प्रबन्ध किया जाय और देशी तथा विदेशी पूँजी को औद्योगिक विनियोगों की ओर प्रेरित करके निजी क्षेत्र के औद्योगिक विकास की उन्नति की जाय। निगम द्वारा दीर्घकालीन और मध्य-कालीन ऋण दिये जाते हैं और यह औद्योगिक कम्पनियों को दिये जाने वाले ऋणों की गारन्टी भी लेता है।

राष्ट्रीय लघु-उद्योग निगम लि० (National Small Industries Corporation Ltd.)—

इस निगम की स्थापना भारत सरकार ने फरवरी सन् १९५५ में की है। उद्देश्य यह है कि छोटे उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन, संरक्षण और सहायता प्रदान की जा सके। निगम केवल ऐसे उद्योगों को सहायता दे सकता है जिनमें यदि विद्युत शक्ति का उपयोग नहीं होता है तो श्रमिकों की संख्या १०० से कम हो, यदि विद्युत शक्ति का उपयोग होता है तो श्रमिकों की संख्या ५० से कम हो और जिनकी पूँजी ५ लाख रुपये से अधिक न हो। कम्पनी को एक प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी के रूप से १० लाख रुपये की पूँज़ी से आरम्भ किया गया है। पूँजी को १००-१०० रुपयों के अंशों में बाँटा गया है।

इस निगम द्वारा छोटे उद्योगों के विकास में सहायता मिलेगी, जिससे कि उपभोगीय वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाया जा सके। प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) छोटे उद्योगों के लिए माल सप्लाई के सरकारी आदेश प्राप्त करना।

(२) जिन उद्योगों को सरकारी आदेश मिलते हैं उनके लिए आर्थिक और शैल्पिक सहायता प्रदान करना, ताकि वे इन आदेशों को पूरा करने के लिए आवश्यक माल तैयार कर सकें।

(३) छोटे और बड़े उद्योगों के बीच समचय और सम्बन्ध स्थापित करना, ताकि दोनों एक दूसरे के विकास में सहायक हो सकें।

मशीनों के खरीदने और औद्योगिक इकाइयों के माल की बिक्री के विकेन्द्रीयकरण के हेतु निगम के अन्तर्गत ४ उप-निगम दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में

सन् १९५७ से स्थापित किए गये हैं, अर्थात् राष्ट्रीय लघु-उद्योग निगम, दिल्ली; राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम, बम्बई; राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम, कलकत्ता; तथा राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम, मद्रास।

उद्योगों का पुनर्वित्त निगम प्राइवेट लि० (Refinance Corporation for Industry Private Ltd.)—

इस निगम की स्थापना जून सन् १९५८ में की गई है, ताकि निजी क्षेत्र में मध्यम श्रेणी के उद्योगों के वित्तीय साधनों को बढ़ाया जाय। निगम का प्रमुख उद्देश्य उद्योगों को ऋण देने में बैंकों की सहायता करना है। निगम निजी क्षेत्र के उन उद्योगों को जिन्हें पंच वर्षीय योजना में सम्मिलित किया गया है, बैंकों द्वारा दिए हुए ऋणों को पुनः उधार (Relending) की सुविधाएँ देता है। निगम की अधिकृत पूँजी २५ करोड़ रुपया है और निर्गमित पूँजी (Issued Capital) १२·५ करोड़ रुपया। पूँजी रिजर्व बैंक, जीवन बीमा निगम तथा १५ बड़ी-बड़ी परिगणित बैंकों द्वारा उपलब्ध की गई है।

निगम केवल ऐसे ही ऋणों का पुनर्अपहरण (Rediscount) कर सकता है जो ३ और ७ वर्ष के बीच के काल के लिए दिए गए हों और जिनकी राशि ५० लाख रुपयों से अधिक न हो। निगम केवल उन्हीं उद्योगों को सहायता देता है जिनकी ारिदत्त पूँजी और सुरक्षित कोष मिल कर २·५ करोड़ रुपये से अधिक न हों।

औद्योगिक वित्त में सुधार के सुझाव—

भारत में ऐसी उपयुक्त संस्थाओं की भारी कमी है जो औद्योगिक वित्त की व्यवस्था करती हों। देश में व्यापार बैंकों की ही प्रधानता है, जो उद्योगों की अपेक्षा यापार को अल्पकालीन ऋण देना अधिक उपयुक्त समझती हैं। औद्योगिक वित्त की ान्नति के लिए निम्न प्रकार के सुझाव दिये जा सकते हैं :—

(१) भारत में अभिगोपन-गृहों तथा निर्गम गृहों का विकास होना चाहिए। केन्द्रीय तथा राज्य औद्योगिक वित्तीय प्रमन्डलों को यह कार्य शीघ्रतापूर्वक अपने हाथ में ले लेना चाहिए।

२) बहुत सी औद्योगिक बैंकों की स्थापना से यह कमी काफी अंश तक पूरी हो सकती है। इस समय वे बहुत से कारण शेष नहीं रहे हैं, जिन्होंने भूतकाल में ऐसी बैंकों को सफलता नहीं मिलने दी थी। इसके अतिरिक्त ऐसी संस्थाओं को सरकार आरम्भ में सुविधायें तथा उपयुक्त सहायता देकर प्रोत्साहित कर सकती है।

३) यूरोप के देशों की भाँति भारत में भी औद्योगिक प्राधि बैंक (Industrial Mortgage Banks) खोली जा सकती हैं, जिनका ठीक वही आधार होगा जो भू-प्राधि बैंकों का है।

(४) विनियोग ट्रस्टों की स्थापना द्वारा लोगों में विनियोगों के प्रति दिलचस्पी उत्पन्न करना आवश्यक है, परन्तु साथ ही साथ अन्य संस्थाओं की सहायता से बचत के एकत्रित करने तथा बढ़ाने का भी कार्य बढ़ाना चाहिए ।

(५) औद्योगिक कम्पनियों द्वारा माल खरीदने और बेचने के लिए सरकारी प्रेरणा पर सरकारी बिक्री संगठनों का निर्माण होना चाहिए ।

(६) व्यापारिक बैंकों के व्यवहार में भी परिवर्तन की आवश्यकता है। उन्हें उद्योगों की जरूरत की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए । यह भी विचारणीय है कि जर्मन प्रणाली के आधार पर भारत की व्यापार बैंकों को वर्तमान कार्य के अतिरिक्त औद्योगिक बैंकों के कार्य के लिए संगठित करना कहाँ तक उपयुक्त होगा।

(७) भारतीय बैंकों को उपयुक्त दशाओं में व्यक्तिगत प्रतिभूतियों पर बिना प्रतिभूति अग्रिम (Clean Advances) देने पर भी तैयार रहना चाहिए । परन्तु इसमें भारी सावधानी की आवश्यकता है ।

(८) औद्योगिक वित्त प्रमण्डलों के कार्यवाहन का विस्तार होना चाहिए और उनकी कार्य-प्रणाली में ऐसे सुधार होने चाहिए कि औद्योगिक वित्त की आवश्यकता अधिक अंश तक पूरी हो सके।

(९) विदेशी पूँजी का समुचित व्यवस्थाओं के अन्तर्गत आयात करना तो आवश्यक है, परन्तु इस सम्बन्ध में भारत को केवल अमरीका पर निर्भर रहना ठीक न होगा। जहाँ कहीं से भी उचित शर्तों पर आवश्यक पूँजी मिलती हो, उसका स्वागत करना चाहिए ।

आर्थिक नियोजन और औद्योगिक वित्त—

प्रथम पञ्च-वर्षीय योजना में औद्योगिक विकास पर १७९ करोड़ रुपये के व्यय की योजना सार्वजनिक क्षेत्र के लिए बनाई गई थी। दूसरे आयोजन में ८९१ करोड़ रुपये के व्यय का प्रस्ताव रखा गया है। औद्योगिक वित्त के क्षेत्र में प्रथम योजना के काल में चार महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं :—(१) औद्योगिक वित्त प्रमन्डल के संचालन में सुधार, (२) राज्य वित्त प्रमन्डलों की स्थापना, (३) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास प्रमन्डल (National Industrial Development Corporation) का निर्माण और (४) औद्योगिक साख और विनियोग प्रमन्डल (Industrial Credit and Investment Corporation) की स्थापना। दूसरे आयोजन के काल से इन संस्थाओं से पर्याप्त फल प्राप्त होने की आशा है ।

प्रथम पंच-वर्षीय योजना में औद्योगिक विकास के लिए लोक क्षेत्र में १७९ करोड़ रुपए और निजी क्षेत्र में ४६३ करोड़ रुपये के व्यय की व्यवस्था थी। वास्तविक व्यय अनुमान से कम रहा है और निजी क्षेत्र का विनियोग केवल ३४० करोड़

रुपये का रहा है। दूसरी योजना में औद्योगिक विकास पर लोक क्षेत्र में ८६०, जिसमें से लगभग १०० करोड़ रुपया धातु उद्योग के विकास के लिए रखा गया है, और निजी क्षेत्र में २,४०० करोड़ रुपये के व्यय की व्यवस्था है। इसमें से वित्तीय साधनों से निजी क्षेत्र के लिए ६२० करोड़ रुपया मिलने का अनुमान लगाया गया है। वित्तीय साधनों का ब्यौरा निम्न प्रकार है :—

	(करोड़ रुपयों में)
(१) औद्योगिक वित्त प्रमन्डल, राज्य वित्त प्रमन्डलों तथा औद्योगिक साख और विनियोग प्रमन्डल से ऋण	४०
(२) प्रत्यक्ष ऋण, परोक्ष ऋण और साझेदारी के रूप में मिलने वाले ऋण	२०
(३) विदेशी पूँजी	१००
(४) नई निकासी	८०
(५) विनियोग के लिए प्राप्त आन्तरिक साधन	३००
(६) अन्य साधन, जैसे—मैनेजिंग एजेन्टों से ऋण, अतिरिक्त लाभ कर की वापिसी, इत्यादि	८०
	कुल ६२०

सर्राफ समिति के सुझाव—

सन् १९५३ में रिजर्व बैंक ने निजी क्षेत्रों के उद्योगों के वित्तीय साधनों में वृद्धि के सुझाव देने के लिए श्री हर्राफ की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की थी, जिसकी रिपोर्ट जून सन् १९५४ में प्रकाशित हुई थी। समिति ने पता लगाया है कि औद्योगिक वित्त के साधन अभी तो अपर्याप्त हैं। बड़े उद्योगों और पुराने उद्योगों को नवीनकरण के लिए आवश्यक पूँजी नहीं मिल रही है और मध्यम श्रेणी तथा छोटे उद्योगों के पास पूँजी की भारी कमी है। समिति ने इस सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण सिफारिशें की हैं। प्रमुख सुझाव निम्न प्रकार हैं :—

(१) सरकार को समुचित वातावरण उत्पन्न करना चाहिए। उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न को अभी स्थगित रखा जाय और श्रमिकों का पारितोषण उनकी उत्पादन-शक्ति के अनुसार रखा जाय।

(२) निजी क्षेत्र के विकास के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय बचत का एक भाग मुद्रा और पूँजी बाजार में जाता रहे। सरकार को नियोजन हेतु सारी बचत संग्रह करने की नीति छोड़ देनी चाहिए।

(३) अनुसूचित बैंक उद्योगों को जो अल्पकालीन और दीर्घकालीन सहायता देती हैं उसे बढ़ाने की आवश्यकता है। इसके लिए समिति ने तीन सुझाव दिये हैं—बैंकों को औद्योगिक कम्पनियों के अंशों और ऋण-पत्रों में विनियोग करने के लिए

प्रोत्साहन, ऐसे अंशों और ऋण-पत्रों पर अग्रिम प्रदान करने की आज्ञा और बैंकों को औद्योगिक वित्त निगम तथा राज्य वित्त निगमों के अंशों और बांधों को खरीदने के लिए प्रोत्साहन ।

(४) समिति ने सुझाव दिया था कि नये उद्योगों के अंशों का अभिगोपन करने के लिए स्टेट बैंक और बीमा कम्पनियों का एक संघ बनाया जाय ।

(५) रिजर्व बैंक की बिल बाजार योजना के अन्तर्गत ऐसी सभी सदस्य बैंकों को सहायता मिलनी चाहिए जिनकी जमाएँ १ करोड़ रुपये से अधिक हैं ।

(६) जमाधारियों के हितों की रक्षा के लिए देश में जमा बीमा प्रमन्डल खोला जाय ।

(७) एक अखिल भारतीय बैंकिंग संघ खोला जाय ।

(८) औद्योगिक वित्त प्रमन्डल और राज्य वित्त प्रमन्डल के कार्यों का विस्तार किया जाय और उन्हें ऋण-पत्रों के आधार पर भी ऋण देना चाहिए।

(९) औद्योगिक विकास को बढ़ाने के लिए सरकार और उद्योगपतियों के सहयोग द्वारा एक औद्योगिक विकास प्रमन्डल खोला जाय ।

(१०) बीमा कम्पनी विधान में ऐसा संशोधन किया जाय जिससे वे ५०% के स्थान पर ४५% ही सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग करने के लिए बाध्य हों ।

(११) प्रत्येक कस्बे और बड़े गाँव में कम से कम बैंकिंग कार्यालय अवश्य रखा जाय, जिसके लिए रिजर्व बैंक ऐसे स्थानों में कार्यालय स्थापित करने वाली बैंकों को सहायता दे ।

(१२) ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाएँ बढ़ाने के लिए चल-बैंकें (Mobile Banks) स्थापित की जायँ ।

(१३) ऋणों की निकासी के लिए केन्द्रीय और राज्य सरकारों को ऐसा समय चुनना चाहिए कि बैंकों और मुद्रा बाजार पर आवश्यकता से अधिक खिचाव न पड़ने पाये ।

(१४) रिजर्व बैंक को देशी बैंकों के नियमन का फिर से प्रयत्न करना चाहिए और जब तक ऐसा सम्भव न हो तब तक बैंकों को देशी बैंकों द्वारा भुनाये हुए बिलों को फिर से भुनाने का अधिकार दिया जाय ।

(१५) बैंकों की विप्रेष सुविधायें बढ़ाई जायें। इसके लिये समिति ने निम्न सुझाव दिए हैं :—

(क) रिजर्व बैंक और उसकी एजेन्सियों के कार्यालय में टेलीप्रिन्टर रहने चाहिए ।

(ख) कार्यालयों के बीच राशि भेजने और मँगाने के तारों को एक्सप्रेस तारों पर भी प्राथमिकता दी जाय ।

(ग) सप्ताह में कम से कम दो बार निःशुल्क गति विप्रेष की सुविधाएँ रिजर्व बैंक को देनी चाहिए ।

समिति के बहुत से सुझाव सरकार ने स्वीकार कर लिये हैं। औद्योगिक विकास प्रमण्डल आरम्भ कर दिया गया है। इम्पीरियल बैंक और जीवन बीमा व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण ने बहुत सी सिफारिशों के महत्त्व को समाप्त कर दिया है। विप्रेष सुविधाओं में भी काफी वृद्धि की गई है। रिजर्व बैंक की बिल बाजार विकास सम्बन्धी योजना में समिति की सिफारिश को ध्यान में रखा गया है।

नया उद्योग एक्ट—

भारत सरकार ने १५ फरवरी सन् १९५७ से नये उद्योग एक्ट को लागू करने की घोषणा की है, जिसमें उद्योग (विकास और नियमन) एक्ट सन् १९५१ में संशोधन किये गये हैं। नये विधान में ३४ उद्योगों को नियम के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न किया गया है, जिनका विकास सरकार की सन् १९५६ की औद्योगिक नीति प्रस्ताव के अनुसार किया जायगा। निम्न उद्योगों को संशोधित नियम के अनुसार सरकारी कार्य के क्षेत्र में लाया गया है :—

Ferro-alloys and special steels, electrical furnaces, earth moving machinery, typewriters and calculating machines, air conditioner and refrigerators, plastic moulding industries, paints, varnishes and enamels, staple fibre, pulp, food processing industries and cigarettes.

पंजीयन तथा अनुज्ञापन प्रणालियों में भी कुछ छोटे-छोटे परिवर्तन किये गये हैं। सरकार ने जनमत प्राप्त करने के लिए एक्ट की व्यवस्थाओं को गजट में छाप दिया था।

औद्योगिक वित्त में सुधार के सुझाव—

इस समय देश में औद्योगीकरण की शीघ्रतापूर्वक प्रगति का प्रयत्न किया जा रहा है। वास्तव में देश में आर्थिक नियोजन की सफलता बड़े अंश तक इसी बात पर निर्भर है कि कृषि और उद्योगों का किस अंश तक विकास हो पायेगा। वैसे तो देश की औद्योगिक उन्नति के मार्ग में अनेक बाधायें हैं, परन्तु औद्योगिक वित्त की समुचित व्यवस्था का अभाव एक महान् बाधा है। देश में पूँजी के निर्माण की गति धीमी है और जनता में बैंकिंग आदत अभी बहुत कम है। औद्योगिक वित्त की पूर्ति के साधन तो बड़े ही अपर्याप्त और कुछ दशाओं में बड़े ही असन्तोषजनक हैं। औद्योगिक वित्त की कमी ने देश में दो ऐसी प्रथाओं को महत्त्वपूर्ण बना दिया है जो भारत की ही विशेषताएँ हैं, अर्थात् मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली तथा उद्योगों द्वारा जन-साधारण से निक्षेपों को स्वीकार करना। इसमें तो सन्देह नहीं है कि आरम्भ में इन दोनों प्रथाओं ने भारतीय अर्थ-व्यवस्था की महत्त्वपूर्ण सेवा की है, परन्तु कालान्तर में इनके दोष इतने बढ़ गये हैं कि अब इनका न रहना ही अच्छा होगा। देश की अधिकांश बैंक व्यापार बैंक हैं, जो अल्पकालीन ऋण देती हैं और उद्योगों के दृष्टिकोण से बहुत लाभदायक नहीं हैं। विगत वर्षों में भारत सरकार ने औद्योगिक वित्त की पूर्ति को बढ़ाने

के अनेक प्रयत्न किये हैं और देश में विदेशी पूँजी को भी निमन्त्रित किया है, परन्तु अभी भी पूर्ति आवश्यकता से कम है।

औद्योगिक वित्त की पूर्ति को बढ़ाने और औद्योगिक ऋणों पर ब्याज की दरों को घटाने के लिए निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं :—

(१) अभिगोपन-गृहों का विकास (Development of Underwriting houses)—देश की एक महान् कमी यह है कि अभिगोपन-गृह जैसी महत्त्वपूर्ण संस्थाओं का अभाव है। ये संस्थायें कम्पनियों के अंशों और ऋण-पत्रों (Debentures) का अभिगोपन करके उनके प्रति विश्वास को बढ़ा देती हैं और जनता को अपने धन का उद्योगों में विनियोग करने को प्रेरित करती हैं।

(२) औद्योगिक बैंकों की स्थापना—देश में औद्योगिक बैंकों के विकास की महान् आवश्यकता है। भूतकाल में ऐसी बैंक बहुत सफल नहीं हो पाई हैं, परन्तु इनके महत्त्व को सभी ने स्वीकार किया है। भारत सरकार को विशेष सुविधायें देकर इनके विकास का प्रबन्ध करना चाहिए। औद्योगिक वित्त प्रमण्डल तथा अन्य औद्योगिक वित्त सम्बन्धी प्रमण्डलों की स्थापना ने इस अभाव को कुछ अंश तक दूर अवश्य कर दिया है।

(३) औद्योगिक प्राधि बैंकों की स्थापना (Establishment of Industrial Mortgage Banks)—जिस प्रकार कृषकों की दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भू-प्राधि बैंक लाभदायक होती हैं। ठीक इसी प्रकार ऐसी बैंक उद्योगों के लिए बहुत उपयोगी होंगी जो मशीनों तथा अन्य स्थिर औद्योगिक सम्पत्ति की आड़ पर ऋण दे सकें।

(४) व्यापार बैंकों का पुनर्सङ्गठन—एक महत्त्वपूर्ण सुझाव यह भी हो सकता है कि जर्मनी की भाँति भारत में भी व्यापार बैंकों को उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण देने की आज्ञा दी जाय। ऐसी दशा में यह एक ही बैंक एक ही साथ व्यापार बैंक तथा औद्योगिक बैंक दोनों होगी।

(५) विनियोग ट्रस्टों की स्थापना (Establishment of Investment Trusts)—धन के विनियोग की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने तथा भारतीय पूँजी की परम्परागत लज्जा को दूर करने के लिये विनियोग ट्रस्टों की स्थापना से अधिक लाभ हो सकता है।

(६) सर्राफ समिति के सुझावों को कार्य-रूप देना—जैसा कि पीछे बताया जा चुका है, औद्योगिक वित्त के सुधार हेतु सर्राफ समिति ने अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किये हैं। इन सुझावों को आवश्यक संशोधनों के साथ कार्य-रूप दे देना चाहिये।

(७) विदेशी पूँजी के आयात को प्रोत्साहन—इसमें तो सन्देह नहीं है कि विदेशी पूँजी प्रत्येक दशा में अच्छी नहीं होती है। किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में इससे हमें अधिक सहायता मिल सकती है। पूँजी के आयात में हमें यह नहीं देखना

चाहिए कि वह किस देश से मिल रही है। समुचित शर्तों, समुचित नियन्त्रण तथ राजनीतिक दबाव के अभाव की दशा में हमें प्रत्येक देश से आने वाली पूँजी क स्वागत करना चाहिए।

(८) ऋण सम्बन्धी प्रतिभूतियों में उदारता—साधारणतया हमारे दे में व्यापार बैंकों की ऋण के सम्बन्ध में प्रतिभूति सम्बन्धी शर्तें बहुत कड़ी होती हैं पाश्चात्य देशों में व्यक्तिगत प्रतिभूतियों पर पर्याप्त ऋण मिल जाते हैं। सुरक्षा क ध्यान में रख कर भारतीय बैंक कुछ ऐसे उपाय अवश्य निकाल सकती हैं जिससे वि प्रतिभूति सम्बन्धी शर्तें अधिक उदार हो जायें।

QUESTIONS

1. Wrire a short essay on 'Industrial Finance' in India.

(Raj., B. A., 1957

2. Discuss fully the objects, constitution and functions of th Industrial Finance Corporation in India.

(Agra, B. Com., 1950

3. To what extent do commercial banks in India provid financial assistance to private industries? How far would the Indus trial Credit and Investment Corporation of India solve the problem o industrial finance?

(Agra, B. Com., 1956

4. What are the sources from which industries get their finance in India? Discuss the recent measures adopted to remove the defect of industrial finance in India.

(Raj., B. Com., 1950

5. Give the chief features of the Industrial Finance Corporatio of India and critically examine its working.

B. Com., 1952

भारत में विदेशी पूँजी की समस्या

(The Problem of Foreign Capital in India)

समस्या का रूप—

विदेशी पूँजी की समस्या स्वतन्त्र भारत की एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। इस पूँजी के प्रति दो प्रकार के विरोधी मत पाये जाते हैं। आर्थिक विद्वानों का मत है कि इस समय हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता देश का आर्थिक विकास है और क्योंकि हमारे पास इस कार्य के लिए यथेष्ठ पूँजी नहीं है, हमें विदेशी पूँजी का स्वागत करना चाहिए। इसके विपरीत राष्ट्रीयता के पुजारियों का तथा उन व्यक्तियों का जो विदेशी पूँजीपतियों को शङ्का की दृष्टि से देखते हैं, मत यह है कि आर्थिक विकास को शीघ्रतम सम्पन्न करने के लिए देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता को सकट में डाल देना उचित नहीं है। विदेशी हमारे कल्याण के लिए हमारे देश में नहीं आते हैं, उनका उद्देश्य तो उचित और अनुचित रीति से हमारे देश के साधनों का शोषण करके अपनी जेबें भरना होता है। सामान्य अनुभव यही है कि देश की आर्थिक दासता अन्त में राजनीतिक दासता का कारण बन जाती है।

ये दोनों दृष्टिकोण एक दूसरे के पूर्णतया विरोधी हैं। इनमें से एक शुद्ध राष्ट्रीयवाद पर आधारित है और दूसरा भौतिक बुद्धिमानी पर। सत्य शायद दोनों के बीच में है। विदेशी पूँजी के प्रति अविश्वास को छोड़ देना किसी प्रकार भी उचित नहीं हो सकता है, परन्तु यह समझना भी भूल होगी कि प्रत्येक दशा में विदेशी पूँजी बुरी होती है। समुचित नियन्त्रण द्वारा विदेशी पूँजी के दोषों को दूर करना सम्भव है और उसके उपयोग से पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सकता है।

भारत में विदेशी पूँजी के प्रवेश का इतिहास—

भारत में सर्वप्रथम पुर्तगालियों (Portugese) ने सन् १५०० में कालीकट में अपनी फैक्ट्री स्थापित करके विदेशी पूँजी देश में उपस्थित की। बाद को डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी, ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा फ्रांसीसी कम्पनियों ने पुर्तगालियों का अनुकरण किया। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भारत में विदेशी पूँजी के विकास के तीन अलग-अलग युग दृष्टिगोचर होते हैं: आरम्भ में १८ वीं शताब्दी के अन्त तक व्यापारी पूँजी का जोर रहा, दूसरी अवस्था में औद्योगिक पूँजी आई, जिसने देश के साधनों का शोषण करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार की पूँजी अभी तक भी देश में

आती रहती है। अन्तिम प्रकार की पूँजी ऋण पूँजी है, जिसका प्रवेश थोड़े ही काल से आरम्भ हुआ है और जो अधिकांश विदेशी पूँजी सम्बन्धी दोषों से साधारणतया विमुक्त होती है।

१७ वीं शताब्दी के अन्त तक ब्रिटिश व्यापारियों की नीति यह थी कि भारतीय उद्योगों की तैयार उपज को यूरोप के देशों में बेचकर लाभ कमाएँ। इन व्यापारियों ने आरम्भ में भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन दिया और उनके विकास के लिए आर्थिक सहायता दी। इङ्गलैंड में औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् इस नीति में परिवर्तन हुआ और विदेशी व्यापारियों ने भारत से कच्चे माल का निर्यात तथा देश में इङ्गलैंड के उद्योगों के तैयार माल का आयात आरम्भ किया। फिर भी १८ वीं शताब्दी के अन्त तक देश में लगाई हुई अधिकाँश पूँजी व्यापारी पूँजी ही रही। आगे चलकर १८ वीं शताब्दी के अन्त में इंगलैंड की निर्बाधावादी नीति के फलस्वरूप विदेशियों को भारत में अपने उद्योग-धन्धे खोलने की पूर्ण स्वतन्त्रता मिली। भारतीय पूँजी तो आरम्भ से ही शर्मीली थी और लोग उद्योगों में बचत को लगाने के स्थान पर उसे सोने-चाँदी तथा जेवरात के रूप में रखना अधिक पसन्द करते थे, अतः विदेशियों ने भारत में अपने उद्योग और उपक्रम खोल दिये और इस प्रकार औद्योगिक पूँजी देश में आने लगी। पूँजी के इस प्रवाह को दो बातों ने और भी प्रोत्साहित किया। एक ओर तो देश में आन्तरिक शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था सुधर गई थी और दूसरी ओर विदेशी व्यापारियों ने ऐसा अनुभव किया था कि भारत में उद्योग खोलने से कच्चे माल को भारत से ले जाने और तैयार माल को फिर भारत में लाने का यातायात व्यय बचाया जा सकता था। इस औद्योगिक पूँजी ने रेलों, सड़कों, नहरों आदि के विकास में अधिक सहायता दी। २० वीं शताब्दी के आरम्भ में औद्योगिक पूँजी ने देश में निर्माण उद्योगों का भी विकास आरम्भ किया।

इसी काल में ऋण पूँजी भी देश में आने लगी, यद्यपि औद्योगिक पूँजी का आयात बराबर होता रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने निर्यात व्यापार के घाटे को ब्रिटिश व्यापारियों ने अपने भारतीय औद्योगिक विनियोगों से अधिक आय प्राप्त करके पूरा करने का प्रयत्न किया था। ऋण पूँजी का महत्त्व हाल ही के वर्षों में बढ़ा है। इस पूँजी को केवल ब्याज कमाने के लिए भारत में भेजा जाता है और विदेशी पूँजीपति का स्वार्थ केवल मूलधन तथा ब्याज का भुगतान प्राप्त करने तक ही सीमित रहता है। औद्योगिक पूँजी की तुलना में भारत में ऋण पूँजी की मात्रा बहुत कम है। इस प्रकार की पूँजी साधारणतया दोष-मुक्त समझी जाती है, क्योंकि यह अपने साथ राजनीतिक प्रभाव नहीं लाती है।

भारत में विदेशी पूँजी की आवश्यकता—

यह अनुमान कठिन है कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था में विदेशी पूँजी का विभिन्न कालों में कितना महत्त्व रहा है। भूतकाल के सम्बन्ध में तो विदेशी पूँजी की मात्रा

सम्बन्धी आँकड़े भी विश्वसनीय नहीं हैं। गैर-सरकारी अनुमानों में इतनी अधिक भिन्नता है कि किसी निश्चित बात का पता नहीं चल सकता है। सन् १६४८ में रिजर्व बैंक ने यह अनुमान लगाया था कि उस समय भारत में कुल विदेशी पूँजी की मात्रा ५६६ करोड़ रुपया थी, जिसमें से ३७६ करोड़ रुपए की ब्रिटिश पूँजी थी, ३० करोड़ रुपए की अमरीकन, २१ करोड़ रुपए की पाकिस्तानी और ६ करोड़ रुपए की कनाडियन (Canadian) पूँजी थी। विगत वर्षों में हमने विश्व बैंक और मुद्रा-कोष से भी ऋण लिए हैं और इसी प्रकार अमरीका, रूस, चैकोसलोवेकिया, स्वीडन आदि देशों से ऋण लिए हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य सूत्रों से भी ऋण मिले हैं।

भारत में विदेशी पूँजी की आवश्यकता इस कारण उत्पन्न होती है कि हमारे देश में प्रचुरता के बीच भी निर्धनता है। देश के विभिन्न प्रकार के साधन पूँजी के अभाव के कारण बेकार पड़े हुए हैं। साथ ही, देश में पूँजी का निर्माण आवश्यक तेजी के साथ नहीं हो रहा है। आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए हमें आन्तरिक और बाहरी दोनों ही सूत्रों से पूँजी की पूर्ति बढ़ानी पड़ेगी। देश में पूँजी निर्माण की धीमी प्रगति के कारण तो हम पिछले अध्याय में देख ही चुके हैं। इसके अतिरिक्त हमारे अधिकांश निर्यात बेलोच प्रकृति के हैं और वर्तमान दशाओं में हमें कच्चा माल, मशीनरी, कारीगर और भोजन सभी वस्तुएँ अधिक मात्रा में विदेशों से मँगानी पड़ती हैं। यही कारण है कि देश की विदेशी विनिमय तथा ऋण सम्बन्धी आवश्यकता महान् है।

भारत में विदेशी पूँजी की आवश्यकता उसके निम्न लाभों के कारण उत्पन्न होती है :—

(१) औद्योगीकरण में सहायता—विदेशी पूँजी ने भारत के औद्योगीकरण में सहायता दी है। राष्ट्रीय सरकार को भावी विकास योजनाओं में इससे और भी अधिक लाभ की आशा है। विदेशी पूँजी के उपयोग द्वारा हम देश के बेकार पड़े हुए साधनों का उपयोग करके राष्ट्रीय धन और सम्पन्नता में वृद्धि कर सकते हैं।

(२) प्रारम्भिक जोखिम का सामना—साधारणतया, औद्योगिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में जोखिम का अंश अधिक रहता है। यह सम्भव है कि प्रारम्भिक जोखिम विदेशी पूँजीपति उठाएँ और तत्पश्चात् स्थापित उद्योग देशवासियों द्वारा प्राप्त कर लिया जाय।

(३) शिक्षा ज्ञान का सह आयात—विदेशी पूँजी अपने साथ उत्पादन की नई-नई कलायें और रीतियाँ लेकर आती है। इससे देश में उत्पादन की शिल्प-क्षमता बढ़ जाती है।

(४) स्वस्थ प्रतियोगिता को बढ़ावा—विदेशी पूँजी एक आरोग्य प्रतियोगिता उत्पन्न करती है। देशी उद्योगपतियों को नींद से जगाया जा सकता है, क्योंकि विदेशी उत्पादकों से प्रतियोगिता करने के लिए उन्हें भी सुधार का मार्ग अपनाना पड़ता है और कुशलता प्राप्त करनी पड़ती है।

आती रहती है। अन्तिम प्रकार की पूँजी ऋण पूँजी है, जिसका प्रवेश थोड़े ही काल से आरम्भ हुआ है और जो अधिकांश विदेशी पूँजी सम्बन्धी दोषों से साधारणतया विमुक्त होती है।

१७ वीं शताब्दी के अन्त तक ब्रिटिश व्यापारियों की नीति यह थी कि भारतीय उद्योगों की तैयार उपज को यूरोप के देशों में बेचकर लाभ कमाएँ। इन व्यापारियों ने आरम्भ में भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन दिया और उनके विकास के लिए आर्थिक सहायता दी। इङ्गलैंड में औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् इस नीति में परिवर्तन हुआ और विदेशी व्यापारियों ने भारत से कच्चे माल का निर्यात तथा देश में इङ्गलैंड के उद्योगों के तैयार माल का आयात आरम्भ किया। फिर भी १८ वीं शताब्दी के अन्त तक देश में लगाई हुई अधिकाँश पूँजी व्यापारी पूँजी ही रही। आगे चलकर १८ वीं शताब्दी के अन्त में इंगलैंड की निर्बाधावादी नीति के फलस्वरूप विदेशियों को भारत में अपने उद्योग-धन्धे खोलने की पूर्ण स्वतन्त्रता मिली। भारतीय पूँजी तो आरम्भ से ही शर्मीली थी और लोग उद्योगों में बचत को लगाने के स्थान पर उसे सोने-चाँदी तथा जेवरात के रूप में रखना अधिक पसन्द करते थे, अतः विदेशियों ने भारत में अपने उद्योग और उपक्रम खोल दिये और इस प्रकार औद्योगिक पूँजी देश में आने लगी। पूँजी के इस प्रवाह को दो बातों ने और भी प्रोत्साहित किया। एक ओर तो देश में आन्तरिक शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था सुधर गई थी और दूसरी ओर विदेशी व्यापारियों ने ऐसा अनुभव किया था कि भारत में उद्योग खोलने से कच्चे माल को भारत से ले जाने और तैयार माल को फिर भारत में लाने का यातायात व्यय बचाया जा सकता था। इस औद्योगिक पूँजी ने रेलों, सड़कों, नहरों आदि के विकास में अधिक सहायता दी। २० वीं शताब्दी के आरम्भ में औद्योगिक पूँजी ने देश में निर्माण उद्योगों का भी विकास आरम्भ किया।

इसी काल में ऋण पूँजी भी देश में आने लगी, यद्यपि औद्योगिक पूँजी का आयात बराबर होता रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने निर्यात व्यापार के घाटे को ब्रिटिश व्यापारियों ने अपने भारतीय औद्योगिक विनियोगों से अधिक आय प्राप्त करके पूरा करने का प्रयत्न किया था। ऋण पूँजी का महत्त्व हाल ही के वर्षों में बढ़ा है। इस पूँजी को केवल ब्याज कमाने के लिए भारत में भेजा जाता है और विदेशी पूँजीपति का स्वार्थ केवल मूलधन तथा ब्याज का भुगतान प्राप्त करने तक ही सीमित रहता है। औद्योगिक पूँजी की तुलना में भारत में ऋण पूँजी की मात्रा बहुत कम है। इस प्रकार की पूँजी साधारणतया दोष-मुक्त समझी जाती है, क्योंकि यह अपने साथ राजनीतिक प्रभाव नहीं लाती है।

भारत में विदेशी पूँजी की आवश्यकता—

यह अनुमान कठिन है कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था में विदेशी पूँजी का विभिन्न कालों में कितना महत्त्व रहा है। भूतकाल के सम्बन्ध में तो विदेशी पूँजी की मात्रा

सम्बन्धी आँकड़े भी विश्वसनीय नहीं हैं। गैर-सरकारी अनुमानों में इतनी अधिक भिन्नता है कि किसी निश्चित बात का पता नहीं चल सकता है। सन् १६४८ में रिजर्व बैंक ने यह अनुमान लगाया था कि उस समय भारत में कुल विदेशी पूँजी की मात्रा ५६६ करोड़ रुपया थी, जिसमें से ३७६ करोड़ रुपए की ब्रिटिश पूँजी थी, ३० करोड़ रुपए की अमरीकन, २१ करोड़ रुपए की पाकिस्तानी और ६ करोड़ रुपए की कनाडियन (Canadian) पूँजी थी। विगत वर्षों में हमने विश्व बैंक और मुद्रा-कोष से भी ऋण लिए हैं और इसी प्रकार अमरीका, रूस, चैकोसलोवेकिया, स्वीडन आदि देशों से ऋण लिए हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य सूत्रों से भी ऋण मिले हैं।

भारत में विदेशी पूँजी की आवश्यकता इस कारण उत्पन्न होती है कि हमारे देश में प्रचुरता के बीच भी निर्धनता है। देश के विभिन्न प्रकार के साधन पूँजी के अभाव के कारण बेकार पड़े हुए हैं। साथ ही, देश में पूँजी का निर्माण आवश्यक तेजी के साथ नहीं हो रहा है। आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए हमें आन्तरिक और बाहरी दोनों ही सूत्रों से पूँजी की पूर्ति बढ़ानी पड़ेगी। देश में पूँजी निर्माण की धीमी प्रगति के कारण तो हम पिछले अध्याय में देख ही चुके हैं। इसके अतिरिक्त हमारे अधिकांश निर्यात बेलोच प्रकृति के हैं और वर्तमान दशाओं में हमें कच्चा माल, मशीनरी, कारीगर और भोजन सभी वस्तुएँ अधिक मात्रा में विदेशों से मँगानी पड़ती हैं। यही कारण है कि देश की विदेशी विनिमय तथा ऋण सम्बन्धी आवश्यकता महान् है।

भारत में विदेशी पूँजी की आवश्यकता उसके निम्न लाभों के कारण उत्पन्न होती है :—

(१) औद्योगीकरण में सहायता—विदेशी पूँजी ने भारत के औद्योगीकरण में सहायता दी है। राष्ट्रीय सरकार को भावी विकास योजनाओं में इससे और भी अधिक लाभ की आशा है। विदेशी पूँजी के उपयोग द्वारा हम देश के बेकार पड़े हुए साधनों का उपयोग करके राष्ट्रीय धन और सम्पन्नता में वृद्धि कर सकते हैं।

(२) प्रारम्भिक जोखिम का सामना—साधारणतया, औद्योगिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में जोखिम का अंश अधिक रहता है। यह सम्भव है कि प्रारम्भिक जोखिम विदेशी पूँजीपति उठाएँ और तत्पश्चात् स्थापित उद्योग देशवासियों द्वारा प्राप्त कर लिया जाय।

(३) शिक्षा ज्ञान का सह आयात—विदेशी पूँजी अपने साथ उत्पादन की नई-नई कलायें और रीतियाँ लेकर आती है। इससे देश में उत्पादन की शिल्प-क्षमता बढ़ जाती है।

(४) स्वस्थ प्रतियोगिता को वढ़ावा—विदेशी पूँजी एक आरोग्य प्रतियोगिता उत्पन्न करती है। देशी उद्योगपतियों को नींद से जगाया जा सकता है, क्योंकि विदेशी उत्पादकों से प्रतियोगिता करने के लिए उन्हें भी सुधार का मार्ग अपनाना पड़ता है और कुशलता प्राप्त करनी पड़ती है।

(५) लाभदायक सम्पत्तियों का निर्माण—विदेशी पूँजपति देश में ऐसे उपक्रमों, आदेयों और साधनों तथा ऐसी सम्पत्ति का निर्माण कर सकते हैं जो विदेशियों के चले जाने के पश्चात् भी देश के लिए लाभ तथा आर्थिक उन्नति का साधन बने रहें। भारतीय रेलें, जिनका निर्माण विदेशी पूँजी की सहायता से हुआ है, इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण हैं।

(६) आर्थिक नियोजन में सफलता—आर्थिक नियोजन की सफलता में भी विदेशी पूँजी से पर्याप्त सहायता मिल सकती है। आर्थिक नियोजन के सम्बन्ध में हमारा पिछले ८ वर्षों का अनुभव यही सिद्ध करता है कि शीघ्रतम् आर्थिक विकास के लिए विदेशी पूँजी अत्यन्त आवश्यक है।

(७) पूँजीगत माल का अभाव— इस समय हमारी सबसे महान् आवश्यकता पूँजीगत माल के आयात की है। इसके लिए दो ही उपाय हो सकते हैं : प्रथम तो यह कि हम उन देशों को अपने निर्यात बढ़ायें जो हमें बदले में पूँजीगत माल दे सकते हैं और दूसरा यह कि ऐसे देशों से ऋण लेकर पूँजीगत माल को खरीदें। निर्यातों के सीमित होने के कारण विदेशी पूँजी का प्राप्त कर लेना ही हमारे लिए हितकर होगा।

विदेशी पूँजी की हानियाँ अथवा उसके दोष—

विदेशी पूँजी के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) राजनीतिक प्रतिबन्ध—सबसे बड़ा दोष राजनीतिक प्रकृति का है। "झण्डा व्यापार के पीछे-पीछे चलता है।" दूसरे शब्दों में, आर्थिक अधिकार राजनीतिक आधिपत्य उत्पन्न करता है। विदेशी पूँजी देश की आर्थिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता को मिटा देती है। चीन और ईरान का अनुभव तो ऐसा ही है। इसीलिए विदेशी पूँजी से डरना चाहिए।

(२) अधिकांश लाभ विदेशियों को—विदेशी पूँजी द्वारा देश के साधनों का विदेशियों द्वारा शोषण होता है। लाभ का अधिकाँश भाग विदेशियों की ही सम्पन्नता को बढ़ाता है। देश के निवासियों को केवल सीमित मात्रा में ही लाभ प्राप्त हो पाता है।

(३) रक्षा और आधार उद्योग—रक्षा और आधार उद्योगों में तो विदेशी पूँजी का उपयोग संकट से खाली नहीं होता है।

(४) भारतवासियों के प्रति भेद-भाव—भारत में विदेशी पूँजीपतियों ने भारतवासियों के प्रति भेद-भाव किया है। उन्होंने हमारे राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध काम किया है और भारतीय कर्मचारियों को शिक्षण तथा अनुभव प्राप्त करने से वंचित रखा है। वे देश में विदेशी सरकार के महान् समर्थक रहे हैं।

(५) अन्य विदेशियों के साथ पक्षपात—विदेशी पूँजीपतियों ने भारतीय व्यापारियों की अपेक्षा सदा ही दूसरे विदेशियों के साथ रियायत की है। उन पर भारत के हितों के विरुद्ध कार्य करने के अनेक आरोप लगाये गये हैं।

(६) देशी पूँजी के निर्माण को अप्रोत्साहन—विदेशी पूँजी के बने रहने के कारण देश में पूँजी का निर्माण पूरी तेजी से नहीं होने पाया है। साधारणतया सभी उद्योगपति अपने लाभ के एक भाग को पूँजी के रूप में उपयोग करके उसका विनियोग कर देते हैं, परन्तु भारत से प्रति वर्ष लगभग ३६ करोड़ रुपये की राशि विदेशी उपक्रमों के लाभ के रूप में देश से बाहर चली जाती है।

विदेशी पूँजी के दोषों को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि वे दोष काफी गम्भीर हैं। इधर पिछले १०-१५ वर्षों का अनुभव भी कटु है। कितने ही देश विदेशी पूँजी के कारण अपनी आर्थिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता भी खो बैठे हैं। विदेशी पूँजी देश में विदेशी निहित हितों (Foreign vested interests) को उत्पन्न करती है, जिनकी रक्षा के लिए विदेशी सरकारें अपनी पूरी शक्ति लगा देती हैं। विदेशी पूँजीपतियों द्वारा संचालित उद्योग और व्यवसाय देश में विदेशी प्रभाव और षड़यन्त्र के अड्डे बन जाते हैं। इन कारणों से विदेशी पूँजी के प्रति शंका का बना रहना स्वाभाविक ही है, परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि विदेशी पूँजी से सम्बन्धित अधिकाँश दोष उसके नियन्त्रण से सम्बन्धित हैं। स्वयं विदेशी पूँजी में दोष नहीं हैं। दोष इस कारण उत्पन्न होते हैं कि राष्ट्रीय सरकार उस पर उचित नियन्त्रण नहीं रख पाती है। अनुभव बताता है कि समुचित नियन्त्रण के अन्तर्गत विदेशी पूँजी देश की महान् सेवा कर सकती है। इस दिशा में केवल एक ही कठिनाई है कि किसी देश के लिए अपनी ही शर्तों पर विदेशी पूँजी का प्राप्त कर लेना कठिन होता है।

भारत सरकार की विदेशी पूँजी सम्बन्धी नीति—

विदेशी पूँजी के गम्भीर दोषों के कारण उसके नियन्त्रण की आवश्यकता अधिक है, परन्तु प्रश्न यह है कि हमें किस प्रकार की विदेशी पूँजी पर नियन्त्रण रखना चाहिए। यदि विदेशी पूँजी भारतीय उद्योगों तथा व्यवसायों को ऋण के रूप में मिलती है तो उससे किसी प्रकार का भय नहीं हो सकता है। सबसे अधिक दोष साहसी अथवा औद्योगिक पूँजी में होता है और इसी प्रकार की पूँजी की भारत में प्रधानता है। हमारे लिए आवश्यकता इस बात की है कि हम ऋण पूँजी को समुचित प्रोत्साहन दें और साहसी पूँजी पर समुचित नियन्त्रण रखें।

भारतीय स्वतन्त्रता के पूर्व विदेशी पूँजी के दोषों की गम्भीरता पर लगभग कभी भी विचार नहीं किया गया था। ब्रिटिश सरकार की सामान्य नीति उल्टी विदेशी पूँजीपतियों को विशेष सुविधायें देने की ओर थी। सन् १९२२ के आर्थिक आयोग को इस समस्या पर विचार प्रकट करने के लिए कहा गया था, परन्तु आयोग के बहुमत को ऐसी पूँजी में कोई दोष दृष्टिगोचर न हो सका। इसके विपरीत आयोग के अल्पमत का विचार था कि विदेशी पूँजी के बुरे प्रभावों को दूर करने के लिए उस पर निम्न प्रतिबन्ध आवश्यक थे :—

(१) विदेशी कम्पनियों को भारत सरकार से कार्याधिकार तथा पंजीयन

(Registration) प्राप्त करना चाहिए और अपनी पूँजी को रुपयों में लगाना चाहिए, न कि विदेशी मुद्राओं में।

(२) ऐसी कम्पनियों के संचालक-मण्डल में भारतवासियों का समुचित प्रतिनिधित्व रहना चाहिए।

(३) इन कम्पनियों को भारतवासियों के लिए शिक्षण सुविधाएँ उपलब्ध करनी चाहिए।

सन् १९२५ की विदेशी पूँजी समिति ने भी उपरोक्त सुझावों का अनुमोदन किया था। इस समिति का विचार था कि ऐसी विदेशी कम्पनियों के संचालक मण्डल में भारतवासियों के प्रतिनिधि अवश्य रहने चाहिए, जिन्हें भारतीय साधनों के शोषण का विशेष अधिकार दिया गया था। इन सिफारिशों के रहते हुए भी भारत सरकार ने इस दिशा में कुछ भी प्रयत्न नहीं किया था। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि दोनों महायुद्धों के बीच के काल में प्रति वर्ष लगभग ४०-५० करोड़ रुपया विदेशी विनियोगों के लाभ के रूप में या तो देश से बाहर जाता रहा है या उसे फिर से भारत में ही विनियोगों में लगा दिया गया है। राष्ट्रीय नियोजन समिति (National Planning Committee) ने भी विदेशी पूँजी की समस्या पर विचार किया था। समिति के निष्कर्ष निम्न प्रकार हैं :—

(१) विदेशी पूँजी ने आर्थिक और राजनीतिक दोनों ही दृष्टिकोणों से राष्ट्रीय विकास में बाधा डाली है।

(२) राष्ट्रीय महत्त्व के उद्योगों में विदेशी अधिकार तथा प्रबन्ध नहीं रहना चाहिए। ऐसे उद्योगों में विदेशी पूँजी का केवल ऋण के रूप में ग्रहण करना ही उपयुक्त हो सकता है।

(३) विदेशी पूँजीपतियों के विशेषाधिकार समाप्त होने चाहिए।

(४) सभी महत्त्वपूर्ण उद्योगों में सरकार को चाहिए कि मुआवजा (Compensation) देकर विदेशी पूँजी का धीरे धीरे निस्तारण करे।

भारत सरकार की वर्तमान नीति—

८ अप्रैल सन् १९४८ को औद्योगिक नीति प्रकथन (Industrial Policy Statement) में भारत सरकार की विदेशी पूँजी सम्बन्धी नीति की घोषणा की गई थी। इस प्रकथन में विदेशी पूँजी के आयात की आवश्यकता को तो स्वीकार कर लिया गया है, परन्तु इस सम्बन्ध में निम्न शर्तें लगा दी गई हैं :—

(१) विदेशी पूँजीपतियों को भारत सरकार की औद्योगिक नीति के अनुसार कार्य करना पड़ेगा। भारत सरकार देशी और विदेशी पूँजी के बीच भेद-भाव नहीं करेगी और दोनों के बीच सहयोग का आधार स्थापित करने का प्रयत्न करेगा।

(२) विदेशियों को लाभ तथा मूलधन भारत से निकाल ले जाने का अधिकार रहेगा, किन्तु कुछ निश्चित शर्तों के अन्तर्गत ही।

(३) विदेशी कर्मचारी उन पदों पर रखे जा सकते हैं जिनके लिए उपयुक्त योग्यता तथा अनुभव प्राप्त भारतवासी उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु विदेशी कम्पनियों को भारतवासियों के शिक्षण की व्यवस्था करनी पड़ेगी और धीरे-धीरे अपनी सेवाओं का भी भारतीयकरण (Indianisation) करना पड़ेगा।

(४) विदेशी कम्पनियों को सरकारी अधिकार में लेते समय उनके मालिकों को उचित मुआवज़ा दिया जायगा।

(५) जब तक विदेशी कम्पनियाँ रचनात्मक तथा सहयोगी कार्य करती रहेंगी, भारत सरकार उन्हें किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाएगी।

जून सन् १९५० में इस नीति को स्पष्ट करते हुए प्रधान मन्त्री नेहरू ने कहा था—"प्रथम जनवरी सन् १९५० के पश्चात् लगाई गई विदेशी पूँजी को, यदि वह ऐसे उपक्रमों में लगाई है जिन्हें केन्द्रीय सरकार ने स्वीकार किया है, प्रारम्भिक विनियोग तथा उसके लाभ की मात्रा तक की राशि भारत के बाहर ले जाने की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी।" सन् १९४९ में केन्द्रीय उद्योग सलाहकार समिति ने भी सिफारिश की थी—"भारत सरकार को अमरीकन तथा अन्य विदेशी पूँजी को भारत में नियन्त्रित करने के लिए शीघ्र ही प्रयत्न करना चाहिए।" सन् १९५०-५१ के बजट भाषण में भारत के वित्त मन्त्री ने घोषणा की थी कि भारत सरकार सम्मिलित हिस्सेदारी के आधार पर, यदि उसके साथ राजनीतिक शर्तें जुड़ी हुई नहीं हैं, विदेशी पूँजी का स्वागत करेगी, परन्तु भारत सरकार की सामान्य नीति इस प्रकार है कि प्रत्येक ऐसे व्यवसाय में जहाँ विदेशी पूँजी लगी है, स्वामित्त्व तथा नियन्त्रण में भारतवासियों का बहुमत रहेगा और भारतवासियों के शिक्षण की समुचित व्यवस्था की जायगी।

सरकारी नीति का परिणाम यह हुआ है कि विदेशी पूँजी का आयात बराबर होता रहा है। सन् १९४९ में ६·३५ करोड़ रुपये की पूँजी विदेशों से भारत में आई थी। इसी प्रकार सन् १९५० में २·५७ और सन् १९५१ में ९·९६ करोड़ रुपये की पूँजी भारत को प्राप्त हुई। अधिकांश पूँजी ब्रिटेन से आई है। मार्च सन् १९५४ तक भारत सरकार का कुल विदेशी ऋण (लोक) १३६·९९ करोड़ रुपये का था, जिसमें ११२·०४ करोड़ रुपये के मूल्य का डालर ऋण भी सम्मिलित था। प्रथम पंच वर्षीय योजना में ३०० करोड़ रुपए के विदेशी ऋणों की आवश्यकता बताई गई थी, यद्यपि यह अनुमान वास्तव में अधिक रहा है। अप्रैल सन् १९५३ और जून सन् १९५४ के बीच भारत को १६२·८६ लाख रुपये के विदेशी विनियोग प्राप्त हुए, परन्तु इसी काल में ८५·२४ लाख रुपये की विदेशी पूँजी लौटा दी गई है। प्राप्त विनियोग में से इङ्गलैड से १३७·८५ लाख, अमरीका से १९·०० लाख तथा स्विटज़र-

लैंड से २२·१५ लाख, रुपये की कीमत के ऋण प्राप्त हुए हैं। सन् १९५७ में विदेशी पूँजी का कुल अनुमान १,०३६ करोड़ रुपये का था। दूसरी योजना में सन् १९५६-६१ के काल में ८०० करोड़ रुपये की विदेशी पूँजी की आवश्यकता दिखाई गई है।

सामान्य रूप में हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि हमारे लिए विदेशी पूँजी की आवश्यकता है और यदि वह समुचित शर्तों पर मिलती है तो हमें उसका स्वागत करना चाहिए, परन्तु हमें विदेशी पूँजी के प्रति पूर्णतया निर्भीक होना उचित नहीं है। अनुभव बताता है कि लगभग प्रत्येक दशा में ऐसी पूँजी के साथ अदृश्य राजनीतिक बन्धन लगे रहते हैं। यह भी आवश्यक है कि समुचित शर्तों के अन्तर्गत हमें किसी भी देश से पूँजी के आयात स्वीकार करने में संकोच नहीं करना चाहिए। भय यही है कि शायद मुँह माँगी शर्तों पर हमें आवश्यक मात्रा में विदेशी पूँजी न मिल सके।

दूसरा पंच-वर्षीय आयोजन और विदेशी पूँजी—

ऐसा अनुमान लगाया गया है कि प्रथम पंच-वर्षीय आयोजन के काल में ३०६ करोड़ रुपये की विदेशी पूँजी मिली है, जिसमें विदेशी सहायता के रूप में प्राप्ति राशि भी सम्मिलित है। इस पूँजी का अधिकाँश भाग संयुक्त राज्य अमरीका से प्राप्त हुआ है। उस देश से २३८ करोड़ रुपये की पूँजी मिली है, जिसमें १२९·६० करोड़ रुपया ऋण के रूप में मिला है और शेष सहायता के रूप में। कुल प्राप्त विदेशी पूँजी में से लगभग २०४ करोड़ रुपये का ही प्रथम योजना-काल में उपयोग हो सका है। शेष को दूसरी पंच-वर्षीय योजना के अर्थ प्रबन्ध में सम्मिलित कर लिया गया है। विभिन्न सूत्रों से प्राप्त राशि का ब्यौरा निम्न प्रकार है :—अमरीका २९·४० करोड़ डालर, ऑस्ट्रेलिया ९६ लाख पौंड, कनाडा ७·७० करोड़ डालर, न्यूजीलैंड १६·४० लाख पौंड, फोर्ड फाउन्डेशन ८० लाख डालर, नॉरवे १ करोड़ क्रेनर और विश्व बैंक ६·९० करोड़ डालर।

नई योजनाओं में फ्राँस, ईरान, पश्चिमी जर्मनी, इटली, स्विटजरलैंड, ब्रिटेन, रूस, जापान तथा चैकोस्लोवेकिया से भी सहायता प्राप्त हुई है। साधारणतया व्यक्तिगत विदेशी फर्में भारतीय उद्योगों में साझेदारी के आधार पर पूँजी लगा रही हैं। अमरीका का आयात-निर्यात बैंक (Import Export Bank of U. S. A.) भी ऋणों के रूप में सहायता दे रही है। दूसरे आयोजन में १६० करोड़ रुपया प्रति वर्ष की विदेशी पूँजी के आयात का अनुमान है और इस प्रकार ५ वर्ष में ८०० करोड़ रुपया इस मद से मिलने की आशा है। आयोजन कमीशन का विश्वास है कि इस अंश तक विदेशी सहायता अवश्य मिल जायगी। दूसरे आयोजन में ४०० करोड़ रुपये का घाटा दिखाया गया है, जिसका अधिकांश भाग भी विदेशी ऋणों से प्राप्त होने की आशा है। इस सम्बन्ध में कुछ आशाजनक घटनाएँ अभी से सामने आई हैं। व्यक्तिगत विदेशी ऋणों की मात्रा बराबर बढ़ रही है। विश्व बैंक से और अधिक ऋण प्राप्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त पश्चिमी जर्मनी, चैकोस्लोवेकिया, रूस और स्वीडन से भी

ऋण मिले हैं और अधिक ऋण मिलने की आशा है। पिछले तीन वर्षों मे व्यापाराशेष सम्बन्धी स्थिति में कुछ सुधार हुआ है और ऐसी आशा की जाती है कि विदेशी विनिमय मद पर भी कुछ अधिक बचत हो जायगी। भारत सरकार ने लगभग १७० करोड़ रुपया रिजर्व बैंक के विदेशी विनिमय संचय में मे निकालने का भी निश्चय किया है। हमारी भावी नीति समुचित शर्तों के अन्तर्गत और अधिक मात्रा में विदेशी ऋण प्राप्त करने की है।

दूसरी योजना के काल में सन् १९५७ के अन्त तक ४८० करोड़ रुपया विदेशी ऋण के रूप में प्राप्त करने का अनुमान रखा गया था। सन् १९५८ का लक्ष्य ३२५ करोड़ रुपये का था। हाल में १०७ करोड़ रुपया अमरीका से, ६० करोड़ रुपया रूस से, २८ करोड़ रुपया फ्रांस से, २४ करोड़ रुपया जापान से और ६६ करोड़ रुपया पश्चिमी जर्मनी से प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त कनाडा मे मार्च सन् १९५८ तक २८० लाख डालर का ऋण मिला था। मार्च सन् १९५८ में अमरीका ने २२० करोड़ रुपये का ऋण देने की घोषणा की थी और विश्व बैंक से लगभग १५० करोड़ रुपया मिलने की आशा है। इस प्रकार सन् १९५८-५९ में विदेशी ऋण सम्बन्धी अनुमान काफी आशाजनक रहे हैं।

QUESTIONS

1. Examine critically the policy of the Government of India with regard to foreign capital in India.

2. Bring out a case for foreign capital in India. What steps have been taken during recent years in India to encourage the flow of foreign capital in the country ?

3. Do you think that foreign capital is necessary for the success of economic planning in India ? How far does the Second Plan depend for its success on the availability of foreign capital ?

4. Discuss the role played by foreign capital in the economic development of India.

अध्याय ४५

भारत में बैंकिंग विधान

(Banking Legislation in india)

भारत में बैंकिंग विधान की आवश्यकता—

पुरानी विचारधारा के अनुसार बैंकिंग विधान आवश्यक नहीं है। स्वर्णमान की स्वचालक प्रकृति इस बात का आश्वासन थी कि साख का अत्यधिक विस्तार न होने पाए। इसके अतिरिक्त स्वर्णमान के अन्तर्गत केवल बैंक दर में परिवर्तन करके ही देश की सरकार साख निर्माण को नियन्त्रित कर सकती थी, किन्तु धीरे-धीरे बैंक दर की सप्रभाविकता घट गई और स्वर्णमान का भी अन्त हो गया। बीसवीं शताब्दी में बैंकिंग विधान की आवश्यकता सभी देशों ने अनुभव की। इङ्गलैंड ने भी अपनी परम्परागत निर्बाधावादी नीति में परिवर्तन किया और अन्त में तो बैंक ऑफ इगलैंड का राष्ट्रीयकरण भी कर लिया। भारत में बैंक दर नीति की सप्रभाविकता सदा ही अनिश्चित रही है और बैंकों का विलीयन इतना अधिक हुआ कि लम्बे काल से बैंकिंग विधान की दिशा में किसी उपयुक्त नीति की आवश्यकता अनुभव की गई। छः महत्त्वपूर्ण कारणों से भारत में बैंकिंग विधान की आवश्यकता है :—

(१) देशी और आधुनिक बैंकों के बीच समचय—भारत में देशी बैंकरों और महाजनों की संख्या काफी अधिक है। साख संगठन पर एकाकी नियन्त्रण स्थापित करने के लिए देशी बैंकिंग का सम्मिलित पूँजी बैंकिंग से सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है। समचय की आवश्यकता इस कारण और भी बढ़ जाती है कि वर्तमान दशा में दोनों प्रणालियों के बीच प्रतिस्पर्धा है, जबकि देश में बैंकिंग सेवाओं का सामान्य अभाव है। अनुभव बताता है कि बिना वैधानिक व्यवस्था के समचय स्थापित नहीं हो सकता है। समचय द्वारा दोनों ही प्रणालियों का भला होगा और साथ ही समाज तथा राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को भी लाभ होगा।

(२) विलीयन प्रवृत्ति को रोकना—भारत में बैंक भारी संख्या में फेल हुई हैं। बैंकिंग विकास समुचित आधार पर नहीं हो पाया है। अनावश्यक विस्तार तथा शाखायें खोलने के सम्बन्ध में किसी उपयुक्त नियन्त्रण की आवश्यकता है। बैंकिंग विधान द्वारा आरोग्यहीन बैंकों का विकास रोका जा सकता है और बैंकों को समुचित साख विकास तथा विनियोग नीति अपनाने पर बाध्य किया जा सकता है।

(३) रिजर्व बैंक की शक्ति बढ़ाना—रिजर्व बैंक कुछ कारणों से कमज़ोर रही है। आरम्भ में ही यह स्पष्ट हो गया था कि विस्तृत वैधानिक अधिकारों के बिना रिजर्व बैंक सरकार की मुद्रा, साख तथा विदेशी विनिमय नीति को कार्य रूप नहीं दे

पाएगी। रिजर्व बैंक के पास बैंक दर और खुले बाजार व्यवसाय के दो महत्त्वपूर्ण अस्त्र हैं, परन्तु वे अपर्याप्त हैं। रिजर्व बैंक की सफलता का प्रमुख कारण उसके विस्तृत वैधानिक अधिकार हैं।

(४) विवेकहीन शाखा विस्तार पर प्रतिबन्ध—विगत वर्षों में भारतीय बैंकिंग की एक और विशेषता दृष्टिगोचर हुई है। प्रत्येक बैंक यही प्रयत्न करती है कि सभी स्थानों पर अपने व्यवसाय का विस्तार करे। शाखाएं बिना विस्तार की संभावना की जाँच किये ही खोल दी जाती हैं और उनके द्वारा अन्य बैंकों से प्रतियोगिता करने का प्रयत्न किया जाता है। कुछ नगरों में तो बैंकिंग सेवाएं आवश्यकता से बहुत अधिक हैं और कुछ उनकी सेवाओं से पूर्णतया वंचित हैं। ऐसी अवस्था देश के लिए हितकारी नहीं हैं, इसलिए शाखा खोलने के सम्बन्ध में कुछ वैधानिक व्यवस्थाओं की भारी आवश्यकता है।

(५) ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग का विकास—ग्रामीण क्षेत्रों को बैंकिंग सेवायें प्रदान करने के लिए तथा सहकारी साख आन्दोलन को प्रोत्साहित करने के लिए बैंकिंग विधान आवश्यक है।

(६) एक-दिशायी प्रकृति का निवारण—भारतीय बैंकिंग की एक-दिशायी प्रकृति भी समुचित विधान द्वारा रोकी जा सकती है।

भारत में देशी बैंकिंग विधान का नियन्त्रण—

भारत में देशी बैंकिंग के नियन्त्रण का कार्य काफी देर में आरम्भ हुआ। रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व इस दिशा में लगभग कुछ भी प्रयत्न नहीं किया गया था। रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया एक्ट सन् १९३४ की धारा ५५ (१) अ के अनुसार रिजर्व बैंक का यह कर्त्तव्य है कि वह देशी बैंकिंग प्रणाली के सुधार के प्रस्ताव प्रस्तुत करे। मई सन् १९३७ में रिजर्व बैंक ने इस सम्बन्ध में परिगणित बैंकों और देशी बैंकरों से विचार-परामर्श किया और एक योजना तैयार की। इस योजना में सन् १९३१ की केन्द्रीय बैंकिंग समिति की सिफारिशों को पूरा करने का प्रयत्न किया गया था। यह स्वीकार किया गया कि देशी बैंकरों का रिजर्व बैंक से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखा जाय, परन्तु सहायता तथा स्वीकृति प्राप्त करने के लिए देशी बैंकरों के लिए निम्न पाँच शर्तों का पूरा करना आवश्यक बताया गया है :—

(१) केवल ऐसे देशी बैंकरों को जो कम से कम २ लाख रुपये की पूंजी से व्यवसाय करते हों और ५ साल के भीतर अपनी पूंजी की मात्रा को ५ लाख रुपये तक बढ़ाने को तैयार हों, रिजर्व बैंक से स्वीकृति मिल सकती है।

(२) ऐसे बैंकरों को बैंकिंग के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय एक निश्चित अवधि के भीतर बन्द करने होंगे।

(३) ऐसे बैंकरों के लिए समुचित लेखे रखना आवश्यक है और रिजर्व बैंक को इन लेखों के निरीक्षण का अधिकार होगा।

(४) उन्हें अपने चिट्ठे प्रकाशित करने चाहिए और समय-समय पर निश्चित रिपोर्ट रिजर्व बैंक को भेजनी चाहिए।

(५) बदले में ऐसी बैंकों को रिजर्व बैंक से बिल भुनवाने का अधिकार दिया गया है। उन्हें वही सुविधाएँ प्राप्त होंगी जो अपरिगणित बैंकों (Non-scheduled Banks) को प्रदान की गई हैं।

देशी बैंकरों को ये शर्तें कड़ी अनुभव हुई हैं। उन्होंने व्यापार और सोना, चाँदी तथा हीरे-जवाहरात का व्यवसाय छोड़ना स्वीकार नहीं किया है। सन् १९५० के अन्त तक केवल ७ देशी बैंकरों ने शर्तों को स्वीकार किया था।

सम्मिलित पूँजी बैंकिंग का नियन्त्रण—

सन् १९०५-०६ के बैंकिंग संकट ने बैंकिंग विधान की आवश्यकता स्पष्ट कर दी थी, इसलिए सन् १९१३ के कम्पनीज एक्ट में बैंकिंग कम्पनियों के सम्बन्ध में अलग व्यवस्थायें की गईं। इस एक्ट में बैंकिंग कम्पनियों को एक निश्चित रीति से चिट्ठे तैयार करने का आदेश दिया गया था और उन्हें एक निर्धारित रूप में ६ मासिक विवरण-पत्र प्रकाशित करना पड़ता था, परन्तु इस नियम की व्यवस्थायें अपर्याप्त थीं और इसका क्षेत्र बहुत सीमित था। प्रथम महायुद्ध के काल में तथा उसके उपरान्त भी बैंक विलीयन का क्रम बराबर चलता रहा। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए सन् १९२७ में हिल्टन यंग आयोग ने और सन् १९३१ में केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव दिया था।

केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने समस्त भारतीय बैंकिंग प्रणाली की विस्तृत जाँच की थी। इसने एक ऐसे विशेष बैंकिंग विधान के निर्माण की सिफारिश की थी जिसमें सन् १९१३ के कम्पनीज एक्ट की व्यवस्थाओं को उचित संशोधनों सहित सम्मिलित किया जाय। समिति का विचार था कि इसके अतिरिक्त निम्न विषयों से सम्बन्धित व्यवस्थायें भी विधान में रखी जायँ :—(१) बैंकिंग संगठन, (२) प्रबन्ध, (३) अंकेक्षण तथा निरीक्षण और (४) निस्तारण तथा विलय। सन् १९३५ में रिजर्व बैंक को स्थापित करके तथा इन्डियन कम्पनीज (संशोधन) एक्ट, सन् १९३६ द्वारा सरकार ने समिति के अधिकांश सुझावों को कार्य-रूप दिया। सन् १९३६ के नियम की प्रमुख व्यवस्थायें निम्न प्रकार थीं :—

(१) परिभाषा—बैंकिंग कम्पनी की परिभाषा इस प्रकार की गई है कि बैंकिंग कम्पनी साधारण कार्यों के अतिरिक्त, जैसे—रुपए का लेन-देन, बिलों का भुनाना, बहुमूल्य वस्तुओं का संरक्षण साख-पत्रों की निकासी इत्यादि, साथ-साथ अपना प्रमुख व्यवसाय चालू खातों पर अथवा अन्य किसी रूप में निक्षेपों का स्वीकार करना तथा धनादेश, ड्राफ्ट अथवा आदेश द्वारा रुपया निकालने का अधिकार देना, रख सकती है।

(२) पूँजी—बैंकिंग कम्पनी के पास कम से कम ५० हजार रुपए की पूँजी होनी चहिए, जो अंशों को बेचकर प्राप्त हुई हो।

(३) सुरक्षित कोष—इसके पास एक सुरक्षित कोष होना चाहिए, जिसमें लाभ का कम से कम २०% उस समय तक जमा किया जाय जब तक कि सुरक्षित कोष परिदत्त पूँजी के बराबर न हो जाय।

(४) नकद कोष—बैंकिंग कम्पनियों के लिए समय देन का १½% तथा माँग देन का ५% नकद कोष में रखना आवश्यक रखा गया था।

(५) संचालन—भविष्य में बैंकिंग कम्पनी का संचालन मैनेजिंग एजेन्टों द्वारा नहीं किया जा सकता था।

(६) गौण व्यवसाय—बैंकिंग कम्पनियों को किसी गौण कम्पनी के अंश प्राप्त करने का अधिकार नहीं दिया गया था, जब तक कि गौण कम्पनी कोई ऐसा व्यवसाय नहीं करती हो जो मुख्य कम्पनी के ही कार्य से सम्बन्धित हो।

(७) व्यवसाय क्षेत्र—बैंकिंग कम्पनी का व्यवसाय क्षेत्र उन कार्यों तक ही सीमित किया गया था जिनका रजिस्ट्रार के सम्मुख पंजीकरण के लिए पार्षद सीमा-नियम (Memorandum of Association) में उल्लेख किया गया हो।

(८) भुगतानों की सुविधा—कोई भी बैंकिंग कम्पनी थोड़े काल के लिए भुगतानों को स्थगित कर सकती है, यदि रजिस्ट्रार इसकी सिफारिश करता है और न्यायालय को विश्वास है कि कम्पनी की कठिनाई अस्थाई है।

एक्ट में बैंकिंग कम्पनियों के लिए की गई कुछ अन्य व्यवस्थाएं निम्न प्रकार हैं:—

(१) नियम में बैंकिंग कम्पनी की विस्तृत परिभाषा की गई थी।

(२) यह व्यवस्था की गई थी कि परिभाषा में वर्णित कार्यों के अतिरिक्त कम्मनी अन्य कार्य न करे।

(३) एक दूसरी बैंकिंग कम्पनी के अतिरिक्त बैंक को अन्य किसी प्रकार के मैनेजिंग एजेन्ट रखने की आज्ञा नहीं दी गई थी।

(४) अपरिदत्त पूँजी पर किसी प्रकार के खर्चे लगाना वर्जित किया गया था।

(५) गैर-अनुसूचित बैंकों के लिये सुरक्षित कोष तथा नकद कोषों के रखने की व्यवस्था की गई थी।

(६) किसी भी बैंक को अपनी पूँजी के ४०% से अधिक किसी एक कम्पनी में लगाने से वर्जित किया गया था।

उपरोक्त विधान की बहुत सी कमियों को सन् १९३४ के रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट ने भी पूरा कर दिया, जिसने बैंकिंग विधान को एक समुचित आधार प्रदान कर दिया। रिजर्व बैंक एक्ट की एक महत्त्वपूर्ण व्यवस्था यह थी कि सभी बैंकों के लिए अपने निक्षेपों का एक निश्चित प्रतिशत रिजर्व बैंक में रखना अनिवार्य किया गया था। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक को विधान के सम्बन्ध में और सुझाव

देने का भी आदेश मिला था। थोड़े ही काल में यह स्पष्ट हो गया कि सन् १९३६ का एक्ट अस्पष्ट तथा शासन के दृष्टिकोण से कठिन था। इसके अतिरिक्त एक्ट के पास होते ही बैंकों के फेल होने का वेग बढ़ गया था। इस कारण रिजर्व बैंक ने समस्त स्थिति की विस्तृत जांच की और नवम्बर सन् १९३९ में विधान में कुछ आवश्यक संशोधन करने के सुझाव प्रस्तुत किये। उस समय युद्ध की कठिनाइयों के कारण इन सिफारिशों को कार्य रूप देना सम्भव न हो सका, परन्तु सन् १९४३-४४ में इंडियन कम्पनीज (द्वितीय संशोधन) एक्ट पास किया गया, जिसके अनुसार प्रत्येक ऐसी कम्पनी को बैंकिंग कम्पनी घोषित कर दिया गया जो अपने नाम के साथ बैंक अथवा बैंकर शब्द का प्रयोग करती हो, परन्तु इसी काल में मुद्रा-प्रसार के कारण बैंकों की संख्या बड़ी तेजी के साथ बढ़ने लगी और उनमें से बहुत सी बैंकों की शासन तथा प्रबन्ध-व्यवस्था ठीक-ठीक नहीं चल रही थी, इसलिए सन् १९४४ में एक और संशोधक एक्ट पास हुआ, जिसमें मैनेजिंग एजेन्टों की नियुक्ति पर प्रतिबन्ध लगाये गए।

दूसरे महायुद्ध के काल में भारतीय बैंकिंग का विकास बड़ी तेजी के साथ हुआ, परन्तु इस विकास का प्रमुख कारण देश में मुद्रा-प्रसार था। इस कारण इसमें कुछ दोष दृष्टिगोचर हुए और कुछ अनुचित प्रवृत्तियां भी उत्पन्न हो गईं। रिजर्व बैंक ने बैंकिंग विधान में आवश्यक संशोधन करा कर बैंकिंग प्रणाली तथा साख विकास पर नियन्त्रण रखने का प्रयत्न किया। रिजर्व बैंक के गवर्नर ने बैंक की वार्षिक सभा में युद्धकालीन विकास की निम्न अनुचित प्रवृत्तियों पर जोर दिया था :—

(१) बिना विचारे शाखाएँ खोलने की प्रवृत्ति, जिससे कि बिना जोखिम पर ध्यान दिये निक्षेपों को आकर्षित किया जा सके।

(२) निक्षेपदाताओं के धन का प्रबन्धकों के लाभ के लिए उपयोग करना, इसके लिए अन्य कम्पनियों के अंश खरीदे गये, उद्योगों के अंश प्राप्त किये गए और विनियोग प्रन्यास (Investment Trusts) की स्थापना की गई, जिससे बैंकों के आदेय अधिक अतरल बन गये।

(३) चिट्ठों में अदला-बदली करने की प्रवृत्ति, जिससे कि बैंक की आर्थिक स्थिति का सही अनुमान न लगाया जा सके।

(४) सट्टेबाजी की प्रवृत्ति, जो अंशों, सरकारी हुण्डियों तथा चल और अचल सम्पत्ति में सट्टा करने तक विस्तृत थी।

(५) लाभों को लाभाँश के रूप में बाँटने की प्रवृत्ति और सुरक्षित कोष की ओर ध्यान न देने की प्रवृत्ति।

सन् १९४५ के बैंकिंग कम्पनीज बिल में इन प्रवृत्तियों को रोकने की व्यवस्था की गई थी, परन्तु यह बिल सन् १९४८ तक संसद के सम्मुख नहीं रखा जा सका था। बीच के काल में आर्डीनेन्सों द्वारा रिजर्व बैंक को विशेष अधिकार दिये गये। सन् १९४६ के अध्यादेश (Ordinance) ने रिजर्व बैंक को किसी भी बैंक के लेखों के निरीक्षण

का अधिकार दिया। रिजर्व बैंक के आदेशों का पालन न करने पर किसी भी बैंक को परिगणित बैंकों की सूची में से निकाला जा सकता था, अथवा कुछ काल के लिए उसका व्यवसाय बन्द किया जा सकता था। सन् १९४७ के आर्डीनेन्स द्वारा रिजर्व बैंक को ऐसी बैंकों को आर्थिक सहायता देने का अधिकार दिया गया जिन पर देश के विभाजन के कारण संकट आ गया था। इसी प्रकार दो और नियमों द्वारा कुछ प्रकार के प्रतिज्ञा-पत्रों की निकासी पर रोक लगाई गई और प्रत्येक बैंक के लिए नई शाखा खोलने के लिए रिजर्व बैंक से आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक बनाया गया। अन्त में, मार्च सन् १९४८ में एक नया बैंकिंग बिल पास किया गया, जिसे १६ मार्च सन् १९४९ से लागू किया गया है।

बैंकिंग कम्पनीज एक्ट सन् १९४९—

यह एक्ट जम्मू और काश्मीर राज्य को छोड़ कर भारत के सभी राज्यों पर लागू होता है। इस एक्ट का उद्देश्य भारतीय बैंकिंग प्रणाली को निम्न दोषपूर्ण प्रवृत्तियों को दूर करना बताया गया है।

(१) अचल सम्पत्ति की आड़ पर अधिक मात्रा में ऋण देना।

(२) ऐसी कम्पनियों को जिनमें बैंक के संचालकों अथवा उनके सम्बन्धियों का स्वार्थ हो, अपर्याप्त प्रतिभूतियों पर ऋण देना।

(३) बिना सोचे-बिचारे बैंक की शाखाओं को खोलते रहना।

(४) बैंक के धन को ऐसी फर्मों में फंसा देना जिनमें बैंक के संचालकों को दिलचस्पी हो।

(५) कुछ प्रबन्धकों द्वारा बैंक के कोषों का अनुचित उपयोग करके दूसरी औद्योगिक कम्पनियों पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न करना।

(६) बैंक की वास्तविक स्थिति को छिपाने के लिए प्रकाशित होने वाले आंकड़ों में फेर-बदल करके जनता को धोखा देना।

(७) कुछ छोटी-छोटी बैंकों का अपने साधनों की तुलना में बहुत अधिक मात्रा में ऋणों का प्रदान करना।

उपरोक्त एक्ट की प्रमुख व्यवस्थाएँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) परिभाषा—'उधार देने अथवा विनियोग करने हेतु जनता से मुद्रा के ऐसे निक्षेपों का स्वीकार करना जो या तो मांग पर अथवा अन्य किसी प्रकार शोधनीय हों एवं धनादेश, विकर्ष आदेश अथवा अन्य प्रकार निकाली जा सकती हों', बैंकिंग कहलाता है। एक बैंकिंग कम्पनी वह है जो भारतीय कम्पनीज एक्ट के अनुसार स्थापित हुई हो और बैंकिंग का व्यवसाय करती हो। वे औद्योगिक कम्पनियां जो अपनी वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए निक्षेपों को स्वीकार कर लेती हैं, बैंकिंग कम्पनियाँ नहीं हैं।

(२) बैंक का व्यवसाय—इसके लिये एक विस्तृत सूची दी गई है, जिसमें वे सब व्यवसाय उल्लेखित किये गये हैं जो एक बैंकिंग कम्पनी कर सकती है। रुपये

का उधार लेना और देना, विनिमय बिलों का भुनाना, हुण्डियों का भुनाना, विनिमय-साध्य साख-पत्रों का जमा करना, सोने-चाँदी तथा विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय, साख प्रमाण-पत्रों का प्रदान करना, मूल्यवान वस्तुओं का संरक्षण करना, इत्यादि बहुत से कार्यों को बैंक के व्यवसाय क्षेत्र में सम्मिलित किया गया है, परन्तु अपने ऋण को वसूल करने के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से बैंकिंग कम्पनी को प्रत्यक्ष व्यापार का अधिकार नहीं है। व्यवसायिक कार्यालय की बिल्डिंग को छोड़कर अन्य कोई भी अचल सम्पत्ति बैंक ७ साल से अधिक काल के लिये प्राप्त नहीं कर सकती है। प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी के लिए रिजर्व बैंक से अनुज्ञापन प्राप्त करना आवश्यक है। बिना ऐसा किये कोई भी कम्पनी अपने नाम के साथ बैंक अथवा बैंकर शब्द नहीं लगा सकती है और बैंकिंग व्यवसाय करने वाली सभी फर्मों के लिए इन शब्दों का उपयोग आवश्यक है।

यह भी व्यवस्था की गई है कि बैंकिंग कम्पनी कुछ थोड़ी सी दशाओं को छोड़कर गौण कम्पनियाँ स्थापित नहीं कर सकती है। इसी प्रकार एक बैंकिंग कम्पनी किसी अन्य कम्पनी में अपनी निर्गमित अंश पूँजी के ३०% अथवा अपनी परिदत्त पूँजी के ३०% से (जो भी कम हो) अधिक कीमत के अंश प्राप्त नहीं कर सकती है। इसके अतिरिक्त एक बैंकिंग कम्पनी ऐसी किसी भी कम्पनी के अंश प्राप्त नहीं कर सकती है जिसमें उसके संचालक अथवा प्रबन्धक स्वार्थ रखते हों।

(३) प्रबन्ध—बैंकिंग कम्पनियों के लिए मैनेजिंग एजेन्टों की नियुक्ति की आज्ञा नहीं दी गई है। ऐसे व्यक्ति बैंकिंग कम्पनी का प्रबन्ध करने योग्य नहीं हैं जो अन्य कम्पनियों के संचालक हैं, अन्य बैंकों का प्रबन्ध करते हैं अथवा कोई दूसरा व्यवसाय करते हैं। कोई भी बैंक ऐसे व्यक्तियों को नौकर नहीं रख सकती जो दिवालिया हो चुके हैं अथवा किसी फौजदारी के अपराध में जेल काट चुके हैं। इसी प्रकार किसी भी कर्मचारी को कमीशन अथवा अंश के आधार पर किसी प्रकार का पारितोषण नहीं दिया जा सकता है।

(४) परिदत्त पूँजी तथा निधि—यदि कोई भारतीय बैंकिंग कम्पनी भारत के राज्यों के बाहर स्थापित की जाती है तो उसकी परिदत्त पूँजी और सुरक्षित कोष मिलकर १५ लाख रुपये से कम नहीं होनी चाहिए और यदि उसकी शाखा कलकत्ते अथवा बम्बई में भी है तो ऐसी पूँजी कम से कम २० लाख रुपया होनी चाहिए। यह राशि रिजर्व बैंक में जमा की जायगी। जिन कम्पनियों की स्थापना भारत में हुई है उनके लिए परिदत्त पूँजी और निधि की निम्न व्यवस्थाएँ की गई हैं।

(क) यदि इस कम्पनी की शाखायें कलकत्ते अथवा बम्बई में हैं तो पूंजी कम से कम १० लाख रुपया होनी चाहिए।

(ख) यदि इसकी शाखायें एक से अधिक राज्यों में हैं तो ५ लाख रुपया।

(ग) यदि इनकी शाखायें एक ही राज्य में हैं तथा कलकत्ते और बम्बई में

नहीं हैं तो इसके प्रधान कार्यालय में १ लाख और प्रत्येक शाखा में कम से कम १० हजार रुपये (यदि वे एक ही जिले में हैं) तथा २५ हजार रुपये (यदि वे अलग-अलग जिलों में हैं) होने चाहिये।

कम्पनी की निर्गमित पूँजी (Subscribed Capital) अधिकृत पूँजी की कम से कम आधी होनी चाहिये और परिदत्त पूँजी इसी प्रकार निर्गमित पूँजी की कम से कम ५०% होनी चाहिए।

(५) मतदान अधिकार—प्रत्येक अंशधारी का मतदान अधिकार उसके द्वारा दी गई पूँजी के अनुपात में होगा, परन्तु किसी भी अंशधारी को कुल मतदान अधिकार के ५% से अधिक मत देने का अधिकार नहीं होगा।

(६) नकद कोष व सुरक्षित कोष—बैंकिंग कम्पनी के लाभों का २०% उस समय तक सुरक्षित कोष मे जमा करना आवश्यक है जब तक कि सुरक्षित कोष की राशि परिदत्त पूँजी के बराबर न हो जाय। साथ ही, प्रत्येक गैर-अनुसूचित बैंक को अपनी समय देन का २% तथा माँग देन का ५% रिजर्व बैंक में जमा करना होता है। अनुसूचित बैंकों के लिए इस प्रकार की जमा की व्यवस्था पहले से ही रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में कर दी गई थी। प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को अपनी समय एवं माँग देन का कम से कम २०% प्रत्येक दिन नकदी, स्वर्ण अथवा स्वीकृति प्रतिभूतियों में रखना आवश्यक है और भारतीय बैंकिंग कम्पनियों को उपरोक्त देनों की कीमत के कम से कम ७५% आदेय भारत में रखने चाहिए।

(७) रिजर्व बैंक के अधिकार—सभी बैंकिंग कम्पनियों पर रिजर्व बैंक को नियन्त्रण तथा निरीक्षण के विस्तृत अधिकार दिए गए हैं। एक्ट की कुल ५५ धाराएँ हैं, जिनमें से २७ केवल रिजर्व बैंक के अधिकारों के सम्बन्ध में हैं।

(i) रिजर्व बैंक को यह अधिकार दिया गया है कि संकट काल में वह बैंक के सब अथवा कुछ व्यवसायों को स्थगित करने की सिफारिश कर सकती है।

(ii) इसी प्रकार रिजर्व बैंक की अनुमति पर बैंकिंग कम्पनी ७ वर्ष से अधिक काल के लिए अचल सम्पत्ति रख सकती है।

(iii) रिजर्व बैंक प्रबन्धकों को अत्यधिक पारितोषण प्राप्त करने से रोक सकती है।

(iv) अस्थाई रूप में रिजर्व बैंक परिदत्त पूँजी तथा सुरक्षित कोषों सम्बन्धी व्यवस्था में छूट दे सकती है।

(v) गौण कम्पनी की स्थापना के लिए भी रिजर्व बैंक की आज्ञा लेनी आवश्यक होती है।

(vi) इस बात का निरीक्षण भी रिजर्व बैंक द्वारा किया जाता है कि अन्य बैंक एक्ट की व्यवस्थाओं का ठीक-ठीक पालन करती हैं या नहीं।

(vii) साथ ही, यह भी रिजर्व बैंक का ही कर्त्तव्य है कि वह यह देख ले कि ऋणों तथा अग्रिमों के सम्बन्ध में बैंक कोई समुचित नीति अपनाती हैं या नहीं।

(viii) रिजर्व बैंक की आज्ञा के बिना कोई भी कम्पनी नई शाखा नहीं खोल सकती है।

(ix) इसी प्रकार रिजर्व बैंक को सभी बैंकिंग कम्पनियों के निरीक्षण और आवश्यकता पड़ने पर उनके बन्द करने की सिफारिश करने का भी अधिकार दिया गया है।

(x) रिजर्व बैंक उन्हें कुछ प्रकार के व्यवसायों को करने से भी रोक सकती है और यदि उचित समझे तो प्रबन्ध में किए जाने वाले परिवर्तनों को भी रोक सकती है।

(xi) बैंकों को एकीकरण के लिए भी आज्ञा का लेना आवश्यक होता है।

(xii) अनेक प्रकार के विवरणों तथा रिपोर्टों को रिजर्व बैंक को भेजा जाता है और उसकी आज्ञा के बिना एक बैंक तथा उसके ऋणदाताओं के बीच किसी प्रकार का समझौता नहीं हो सकता है।

(xiii) रिजर्व बैंक की सिफारिश पर केन्द्रीय सरकार किसी बैंक को सदा के लिए अथवा कुछ समय के लिए एक्ट की कुछ अथवा समस्त व्यवस्थाओं से मुक्त भी कर सकती है।

(८) निस्तारण—ऐसी व्यवस्था की गई है कि बैंक के निस्तारण का कार्य शीघ्रतापूर्वक किया जा सके। बैंक के निस्तारण का अधिकार केवल उच्च न्यायालयों को ही दिया गया है, जिन्हें इस विषय में कुछ प्रकार के विशेष अधिकार दे दिये गये हैं।

(९) अन्य व्यवस्थायें—अंकेक्षण, खातों, विवरण-पत्रों के प्रकाशन तथा कम्पनी के बन्द करने के सम्बन्ध में सविस्तार नियम बनाये गए हैं और नियमों का उलङ्घन करने वाली बैंकिंग कम्पनियों के लिए दण्ड रखा गया हैं।

आलोचनाएँ—

इस एक्ट की व्यवस्थाओं की दो प्रकार की आलोचनाएँ की गई हैं। जो लोग व्यापार बैंकों के राष्ट्रीयकरण को उचित समझते हैं उनके विचार में यह एक्ट पर्याप्त नहीं है। इसके विपरीत जो लोग ऐसा समझते हैं कि बैंकिंग व्यवसाय में स्वतन्त्रता रहनी चाहिए उनके विचार में यह बहुत से अनावश्यक प्रतिबन्ध लगाता है और देश में बैंकिंग विकास के मार्ग में बाधाएँ उत्पन्न करता है। सरकार के सामने इन दोनों विचारों के बीच समायोजन करने की समस्या थी। एक्ट की बहुत सी व्यवस्थाएँ कड़ी अवश्य हैं, परन्तु वे बैंकिंग व्यवस्था को काफी सुरक्षा प्रदान करती हैं। एक्ट की व्यवस्थाओं का शासन रिजर्व बैंक को सौंपा गया है। इसी कारण उसी की कुशलता तथा

ईमानदारी पर उनके कार्यरोपण के परिणाम निर्भर रहेंगे। स्मरण रहे कि रिजर्व बैंक की स्थापना को २४ वर्ष हो चुके हैं और अब उससे बहुत आशा की जा सकती है। इसके अतिरिक्त एक्ट में दो भारी त्रुटियां और भी हैं :—(१) इसमें देशी बैंकरों के सम्बन्ध में कोई भी व्यवस्था नहीं की गई है और (२) ऐसा नियम बनाकर कि एक्ट के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक तथा केन्द्रीय सरकार के द्वारा की जाने वाली अनुचित बातों के लिए भी बैंक कुछ न कर सकेंगी, बैंकों के साथ अन्याय किया गया है।

बैंकिंग विधान में किए गए संशोधन—

सन् १९४९ के नियम में दो संशोधन किए गए हैं। सन् १९५० में प्रबन्ध के सम्बन्ध में एक्ट की व्यवस्थाओं की कुछ कमियों को दूर किया गया है और सन् १९५३ का एक्ट बैंक के निस्तारण से सम्बन्धित है और निस्तारण अधिक सरल, वैज्ञानिक तथा उचित बनाने का प्रयत्न करता है।

सन् १९५१ में रिजर्व बैंक के विधान में कुछ ऐसे परिवर्तन किए गए कि वह बैंकिंग कम्पनियों की कार्य-प्रणाली पर अधिक नियन्त्रण रख सके और उन्हें उपर्युक्त सहायता दे सके। इन परिवर्तनों के अनुसार प्रत्येक बैंक को रिजर्व बैंक के पास भेजे हुए विवरण में यह दिखाना होता है कि उसकी कितनी पूँजी सरकारी प्रतिभूतियों में लगी हुई है, अन्य बैंकों में कितनी पूँजी जमा है और तत्कालीन देयधन (Money at short notice) कितना है। विवरण के रूप में भी कुछ परिवर्तन किए गए हैं और बैंक की शाखाएँ विदेशों में भी हैं तो उसे अपनी विदेशी शाखाओं का भी विवरण भेजना पड़ता है।

सन् १९५१ का संशोधन—

सन् १९५१ के संशोधन द्वारा रिजर्व बैंक को कुछ और भी अधिकार दिए गए हैं, जो निम्न प्रकार हैं :—

(१) रिजर्व बैंक किसी बैंक को किसी समय विशेष में यह छूट दे सकती है कि वह रिजर्व बैंक के पास न्यूनतम् वैधानिक शेष (Minimum Statutory Balance) न रखे।

(२) रिजर्व बैंक किसी भी बैंक को यह छूट दे सकती है कि वह किसी विशेष समय से सम्बन्धित लेखे उसके पास न भेजे।

(३) रिजर्व बैंक को यह अधिकार दिया गया है कि वह राज्य सहकारी बैंकों से विवरण तथा लेखा पुस्तकें निरीक्षण के लिए मांग सके।

(४) रिजर्व बैंक को विदेशी सरकारों और सरकारी आज्ञा पर व्यक्तियों के भी प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने का अधिकार दे दिया गया है।

(५) रिजर्व बैंक को समझौतों द्वारा राज्य सरकारों और व्यक्तिगत पक्षों के मौद्रिक ऋण सम्बन्धी प्रबन्ध का भार स्वीकार करने का भी अधिकार मिल गया है।

सन् १९५० का संशोधन—

इससे पूर्व सन् १९५० में बैंकिंग विधान में निम्न चार संशोधन पहले ही किये जा चुके थे :—

(क) प्रत्येक बैंक के लिए देश अथवा विदेश में शाखा खोलने के लिए रिजर्व बैंक की अनुमति आवश्यक है।

(ख) एकीकरण को सुविधाजनक बनाने के नियम बनाये गये।

(ग) विलीन होने वाली बैंकिंग कम्पनियों की समस्त लेनदारी पूर्ण रूप में नई कम्पनियों को हस्तान्तरित हो जाती है।

(घ) बैंक और उसके ऋण-दाता के बीच होने वाला ऐसा कोई भी समझौता अवैधानिक न होगा जो रिजर्व बैंक को मान्य न हो।

निस्तारण व्यवस्था—

सन् १९५० के संशोधक नियम द्वारा बैंकों के निस्तारण (Liquidation) का जो क्रम निश्चित किया गया था वह काफी जटिल था और नियम के पास होते ही उसकी कमियों का अनुभव होने लगा था। सन् १९५२ की एक समिति ने बताया था कि ३२१ बैंकों के निस्तारण का कार्य सन् १९२६ से चल रहा था और अभी समाप्त नहीं हुआ था, अतः दिसम्बर सन् १९५३ में बैंकिंग कम्पनीज निस्तारण नियम पास किया गया। इस एक्ट में निस्तारण के व्यय को कम किया गया है, छोटे निक्षेप-दाताओं को अधिक सुविधा दी गई है और निस्तारण की कार्य-विधि को अधिक सरल बनाया गया है।

निस्तारण सम्बन्धी नियम की प्रमुख व्यवस्थाएँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) बचत और चालू खातों के ऐसे निक्षेपदाताओं को जिनकी जमा छोटी है, एक निश्चित राशि तक के भुगतान में प्राथमिकता दी जायगी।

(२) निस्तारक (Liquidator) को बैंक के बन्द हो जाने के ६ महीने के भीतर ही ऐसे ऋणी ग्राहकों की सूचना न्यायालय को देनी होगी, जिनके मामलों का निबटारा न्यायालय को करना होगा।

(३) न्यायालय को अधिकार होगा कि वह निस्तारक की डिग्री की राशि वसूल करने के लिए लगान वसूली की विधियों के उपयोग के आदेश दे सके।

(४) यदि उचित समझे तो न्यायालय बैंक के संचालकों की भी जाँच कर सकता है और अयोग्य सिद्ध होने पर संचालक को ५ वर्ष तक के लिए बैंक का संचालक बनने से वंचित कर सकता है।

(५) न्यायालय और सरकार दिवालिया बैंक का रिजर्व बैंक से निरीक्षण करा सकते हैं।

(६) बैंकों के निस्तारण के लिए प्रत्येक उच्च न्यायालय में अदालती निस्तारण नियुक्त किया जा सकता है।

बैंकिंग कम्पनीज (संशोधन) अधिनियम, सन् १९५२—

इस नियम को दिसम्बर सन् १९५३ में बैंकिंग अधिनियम में सम्मिलित कर दिया गया है । इस अधिनियम ने मुख्यतया बैंकों के निस्तारण की व्यवस्था की है। प्रमुख व्यवस्थायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) उच्च न्यायालय का क्षेत्र बढ़ा दिया गया है, जिससे कि उसी क्षेत्र का उच्च न्यायालय निस्तारण का कार्य कर सके, जिसमें कि बैंक स्थित है ।

(२) उच्च न्यायालय (High Court) को बैंकिंग कम्पनी के संचालकों के विरुद्ध दावों के लिए समय अवधि निश्चित कर सकता है ।

(३) संचालकों की देनदारी को शीघ्र निपटाने के लिए बैंकिंग कम्पनियों के व्यवहारों की अनिवार्य सार्वजनिक जाँच की जायगी ।

(४) उच्च न्यायालय को अधिकार दिया गया है कि यदि निस्तारक (Liquidator) बाह्य प्रमाण द्वारा सिद्ध कर देता है तो न्यायालय बैंकिंग कम्पनी के प्रवर्तक (Promoter), अधिकारी, संचालक अथवा व्यवस्थापक से बैंक की राशि अथवा सम्पत्ति का भुगतान प्राप्त कर सके ।

(५) केन्द्रीय सरकार को बैंकों के अदालती निस्तारक नियुक्त करने का अधिकार दिया गया है ।

(६) ऐसी व्यवस्थायें की गई हैं कि बैंकिंग कम्पनियों के ऋणियों के विरुद्ध आदेश अथवा कुर्की की कार्यवाही शीघ्रतापूर्वक की जा सके ।

(७) उच्च न्यायालय अथवा सरकार के आदेश पर रिजर्व बैंक को निस्तारक बैंक के परीक्षण और उससे विवरण तथा सूचनायें माँगने का अधिकार दिया गया है।

(८) नियमानुसार कम्पनी के ऐसे जमाधारियों को भुगतान में प्राथमिकता दी गई है जिनकी बचत और चालू खातों में कम राशि जमा है ।

(९) निस्तारित बैंक के लिए यह अनिवार्य किया गया है कि काम को बन्द करने के ६ मास के भीतर निस्तारक को ऐसे ऋणियों की सूची प्रदान करे जिनका कि उच्च न्यायालय को भुगतान करना है ।

बैंकिंग कम्पनीज (संशोधन) अधिनियम, सन् १९५६—

रिजर्व बैंक सम्बन्धी नियम के परिवर्तन के पश्चात् बैंकिंग कम्पनीज एक्ट में भी कुछ प्रकार के संशोधन आवश्यक हो गये थे । दिसम्बर सन् १९५६ में इसी आशय से उपरोक्त नियम पास किया गया । यह नियम १४ जनवरी सन् १९५७ से लागू किया गया है । इस नियम की व्यवस्थायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) रिजर्व बैंक को जन-साधारण तथा बैंकिंग कम्पनियों के हितों की रक्षा के लिए बैंकों तथा बैंकिंग कम्पनियों को आदेश देने का अधिकार दिया गया है ।

(२) बैंकों के लिए यह अनिवार्य किया गया है कि वे अपने प्रमुख अधिका-

रियों और प्रबन्ध-संचालकों की नियुक्ति और नियुक्ति की शर्तों के विषय में रिजर्व बैंक से पूर्व स्वीकृति प्राप्त करें।

(३) किसी भी बैंक के संचालक मण्डल अथवा अन्य समिति अथवा अन्य संगठित सभा की कार्य-पद्धति की जाँच के लिए रिजर्व बैंक अपने अधिकारियों को भेज सकती है अथवा ऐसी जाँच और बैंक की स्थिति की रिपोर्ट देने के लिए अपने निरीक्षक (Observers) नियुक्त कर सकती है।

भारतीय बैंकिंग विधान में त्रुटियाँ (Defects in the Indian Banking Legislation)—

सन् १९४९ से भारतीय बैंकिंग विधान को समुचित आधार प्रदान करने का क्रम निरन्तर चल रहा है। समय-समय पर जो दोष दृष्टिगोचर हुए हैं उनको दूर करने का भी प्रयत्न किया गया है। संचालकों की स्वार्थी कार्यवाहियों को रोकने, व्यवसाय का विस्तार करने तथा शाखाओं के खोलने के सम्बन्ध में अब बैंकों पर रिजर्व बैंक का अधिक सप्रभाविक नियन्त्रण रहता है। एकीकरण तथा निस्तारण की क्रियाओं को भी अब अधिक सरल तथा अधिक शीघ्रगामी बना दिया गया है। रिजर्व बैंक अब अधिक सतर्क रहती है और उसका निरीक्षण भी अब अधिक विस्तृत तथा अधिक सूक्ष्म रहता है। परन्तु बैंकिंग विधान अभी तक भी भारतीय बैंकिंग के कुछ महत्त्वपूर्ण दोषों को दूर नहीं कर पाया है। किंचित यह सत्य ही है कि अच्छी बैंकिंग व्यवस्था अच्छे नियमों पर निर्भर नहीं रहती है, बल्कि अच्छे बैंकरों पर निर्भर होती है। देश में कुशल प्रबन्धकों और कर्मचारियों की अभी तक भी अधिक कमी है। बैंकिंग विधान की प्रमुख कमियाँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) देशी बैंकरों पर नियन्त्रण का अभाव—नये बैंकिंग विधान में देश की बैंकिंग प्रणाली का एक बहुत बड़ा भाग अर्थात् देशी बैंकर अछूता ही रह गया है। देशी बैकरों का देश के आन्तरिक व्यापार और ग्रामीण साख में इतना अधिक महत्त्व है कि उनकी कार्यवाहियों का समस्त बैंकिंग कलेवर पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता है। मुद्रा-बाजार के इस महत्त्वपूर्ण अंग के नियन्त्रण के बिना मुद्रा-बाजार के संगठन की आशा निर्मूल ही रहेगी।

(२) सहकारी बैंकिंग पर नियन्त्रण का अभाव—देश में सहकारी साख और उसके विकास के महत्त्व को तो सभी स्वीकार करते हैं और विगत वर्षों में उसके शीघ्रतापूर्वक विकास का भी प्रयत्न किया गया है। परन्तु यह आवश्यक है कि सहकारी बैंकिंग का विकास समन्वययुक्त हो। वर्तमान दशाओं में उसका विकास प्रतियोगी रूप में भी हो रहा है। न्याय और कुशलता दोनों ही के दृष्टिकोणों से सहकारी बैंकिंग का भी नियन्त्रित विकास होना चाहिये, किन्तु बैंकिंग विधान सहकारी बैंकिंग पर लागू नहीं होता है।

(३) विनियोगों की तरलता का अभाव—बैंकिंग विधान इस दिशा में भी असफल रहा है कि उसके द्वारा बैंकों के आदेयों में तरलता नहीं आ पाई है। ऐसा

आवश्यक प्रतीत होता है कि विधान में ऐसी व्यवस्था की जाय कि भारतीय बैंक केवल विशेष प्रकार की ही सम्पत्ति रख सकें। आदेयों की तरलता प्राप्त करने के हेतु बैंकिंग विधान द्वारा बैंकों पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं हैं।

(४) केन्द्रीयकरण को रोकने में असफलता—भारतीय बैंकिंग विधान देश में बैंकिंग सेवाओं के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को रोकने में भी असफल ही रहा है। रिजर्व बैंक की सन् १९५८ की रिपोर्ट से भी यही सिद्ध होता है कि यह प्रवृत्ति घटने के स्थान पर उल्टी बढ़ ही रही है। ग्रामीण क्षेत्रों और छोटे नगरों में बैंकिंग सेवाओं का अभाव बराबर है और बैंकिंग सेवाएँ कुछ क्षेत्रों में केन्द्रित होती जा रही हैं।

बैंकिंग विधान का महत्त्व—

बैंकिंग विधान का उद्देश्य बैंकिंग विकास की दोषपूर्ण प्रवृत्तियों को रोकना और बैंक की अनुचित तथा जन-हित विरोधी कार्यवाहियों को बन्द करना होता है। बैंकिंग विधान की सफलता भी उसकी इन महत्त्वपूर्ण कार्यों को सम्पन्न करने की क्षमता पर निर्भर होती है। भारतीय बैंकिंग विधान का भी उद्देश्य यही रहा है। वास्तव में व्यक्तिगत लाभ को अधिकतम् करने के लिए बैंक बहुधा सतर्कता और सुरक्षा के मार्ग को छोड़ देती हैं तथा जन-हित की अवहेलना करने लगती हैं। इस घातक प्रवृत्ति को समुचित विधान द्वारा रोका जा सकता है। भारत में वर्तमान बैंकिंग विधान काफी सोच-समझ कर बनाया गया है। सरकार की नीति यह भी रही है कि आवश्यकता पड़ने पर विधान में उपयुक्त दिशाओं में आवश्यक संशोधन भी किए जायँ। एक नवीन संशोधन द्वारा बैंकों की रिजर्व बैंक जमा सम्बन्धी प्रतिशत को भी घटाया गया है, ताकि दूसरी पंच-वर्षीय योजजा के वित्तीय साधन सुलभ हो जायँ। हमारे बैंकिंग विधान के दो दोष अवश्य हैं। प्रथम, यह भय है कि वैधानिक जटिलता प्रगति में बाधक हो सकती है। दूसरे, रिजर्व बैंक के अधिकार इतने बढ़ गए हैं कि उनका दुरुपयोग सम्भव है। विशेषकर, राजनीतिक आधार पर।

QUESTIONS

1. Discuss the main defects of the Indian Banking Organisation. How far has the recent banking legislation in India removed them ? Explain. (Raj., B. Com., 1955)

2. Indian Banking Act has been welcomed by some, while some have criticised it. In the light of this statement, examine some of the provisions of the Act. (Agra, B. Com., 1950)

3. Enumerate the main provisions of the Indian Banking Companie's Act with regard to the employment of banker's funds.
(Raj., B. Com., 1950)

4. Critically examine the essential features of the Indian Banking Companie's Act.
(Raj., B. Com.; 1956;
Bombay, B. Com., 1950)

अध्याय ४६

राष्ट्रीय आय

(The National Income)

प्राक्कथन—

यह तो विदित ही है कि मनुष्य की सारी क्रियाओं का उद्देश्य अपनी आवश्यकताओं को पूरा करना ही होता है । उत्पत्ति करने के लिए यह आवश्यक है कि उत्पत्ति के साधन मिल कर काम करें। उत्पत्ति सदा ही विभिन्न साधनों के सामूहिक प्रयत्न का परिणाम होती है, इसलिए कुल उत्पत्ति में से उत्पत्ति के साधनों को हिस्सा मिलना चाहिए । किसी व्यक्ति की आर्थिक सम्पन्नता और उसका आर्थिक कल्याण इस बात पर निर्भर होते हैं कि उसे अपने प्रयत्न के बदले में उत्पत्ति में से कितना हिस्सा मिलता है । इसी प्रकार किसी राष्ट्र के भौतिक कल्याण का स्तर भी इस बात पर निर्भर होता है कि उसे, उसके सदस्यों के उपभोग के लिए कितनी वस्तुएं और सेवायें प्राप्त होती हैं। किसी देश का धन, जिसे आर्थिक भाषा में राष्ट्रीय लाभांश कहा जाता है, देश के निवासियों के अधिकार में रहने वाली वस्तुओं और सेवाओं के संचय पर निर्भर होता है ।

राष्ट्रीय लाभांश की कुछ परिभाषाएं—

(१) प्रोफेसर का पीगू का विचार—पीगू का विचार है—"राष्ट्रीय लाभाँश किसी समाज की भौतिक आय का वह भाग है जिसमें विदेशों से प्राप्त आय भी सम्मिलित होती है, जिसकी कि मुद्रा में माप हो सकती है ।"* दूसरे शब्दों में,

* 'National Dividend is that part of the objective income of the community, inculding of course income derived from abroad, which can be measured in money."—A. C. Pigou : Economics on Welfare.

देश में उत्पन्न की गई कुल आय का केवल वही भाग राष्ट्रीय लाभाँश को सूचित करता है जिसका उपभोग तथा विनियोग हो सकता है। इसी आधार पर किसी देश की राष्ट्रीय आय से हमारा अभिप्राय आय की उस धारा से होता है जो देश के सभी निवासियों के वस्तुओं और सेवाओं के संचय से प्राप्त होती है। यह विषय विवादग्रस्त है कि राष्ट्रीय आय में किन किन चीजों को शामिल किया जाय और किन-किन को शामिल न किया जाय :

(२) प्रोफेसर मार्शल का विचार—मार्शल ने देश के समस्त उत्पादन से प्राप्त होने वाली आय को, चाहे वह उत्पादन भौतिक वस्तुओं के रूप में हो अथवा अभौतिक वस्तुओं के रूप में, राष्ट्रीय आय में शामिल किया है। पीगू ने उन सेवाओं और वस्तुओं के मूल्य को राष्ट्रीय लाभाँश में नहीं जोड़ा है जिनकी कीमत की मौद्रिक माप नहीं होती है, उदाहरणस्वरूप, माता, मित्र अथवा पत्नी की निःशुल्क सेवायें। कुछ अर्थशास्त्री सरकारी अधिकारियों की सेवाओं को राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं करते हैं और कुछ दूसरे अर्थशास्त्री ऐसी कुल आय को राष्ट्रीय आय में से निकाल देने के पक्ष में हैं जिसके बदले में कोई सेवा प्रस्तुत नहीं की गई है, जैसे—दान अथवा उपहार से प्राप्त आय, वृद्धावस्था उत्तर-वेतन आदि।

(३) प्रो० फिशर का विचार—(१) फिशर का विचार है—"राष्ट्रीय लाभाँश अथवा आय में केवल सेवायें जैसी कि वे उपभोक्ताओं को प्राप्त होती हैं, शामिल की जाती हैं, चाहे वे सेवायें भौतिक परिस्थितियों से उत्पन्न हुई हैं अथवा मानवीय कारणों से।"* (२) वर्तमान अर्थशास्त्र में राष्ट्रीय आय को मुद्रा में नापने का ही अधिक प्रचलन है।

इसी दृष्टिकोण पर प्रो० कॉलिन क्लार्क ने राष्ट्रीय आय की निम्न परिभाषा की है—

(४) प्रो० कॉलिन क्लार्क का विचार—"किसी समय विशेष में राष्ट्रीय आय उन वस्तुओं और सेवाओं के मौद्रिक मूल्य द्वारा सूचित की जाती है जो समय विशेष में उपभोग के लिए उपलब्ध होती हैं, ऐसा मूल्य उसकी वर्तमान बिक्री कीमत पर निकाला जाता है। इसमें पूँजी की उस वृद्धि को जोड़ा जाता है जिसका मूल्य नये पूँजीगत माल की कीमत के रूप में चुकाया जा चुका है। इसमें से प्रस्तुत पूँजीगत माल के अवक्षयण (Depreciation) और पुराने पड़ने (Obsolescence) के व्यय को निकाल दिया जाता है तथा इस प्रकार की जोड़ और घटा,

---

* "National dividend or income consists solely of services as received by ultimate consumers, whether from their material or from their human environment."—Fisher : The Nature of Capital and Income, p. 104.

की कीमत भी चालू कीमतों के आधार पर आंकी जाती है।"[1] प्रो० क्लार्क का विचार है कि ऐसी सेवाओं की कीमत जो राज्य द्वारा बिना लाभ के आधार पर प्रस्तुत की जाती हैं, जैसे—डाक-तार सम्बन्धी सेवाएँ आदि, वास्तविक भाड़ों की दर पर निकाली जाती हैं। जब कुछ वस्तुओं पर कर लगाए जाते हैं तो उन वस्तुओं की कीमत निकालते समय इन करों की आय की मात्रा को बिक्री मूल्य में शामिल नहीं किया जाता है।

(५) डा० राव के विचार—डा० राव ने भी इसी से मिलता-जुलता दृष्टिकोण अपनाया है। उनका विचार है कि राष्ट्रीय आय वस्तुओं और सेवाओं की धारा के मौद्रिक मूल्य द्वारा सूचित होती है। डा० राव का विचार है कि सभी कीमतें चालू कीमतों के आधार पर आंकी जाती हैं और उन आयातों की कीमत शामिल नहीं की जाती है जो बिक्री के लिए प्राप्त हैं अथवा जो बेचे जा सकते हैं। इस प्रकार वस्तुओं और सेवाओं का जो मौद्रिक मूल्य निकाला जाता है उसमें से निम्न मदों को निकाल दिया जाता है :—(१) समय विशेष में पूँजीगत माल के अवक्षयण व्यय का मौद्रिक मूल्य, (२) ऐसी वस्तुओं और सेवाओं का मौद्रिक मूल्य जो उत्पादन कार्य में व्यय की गई हैं, (३) ऐसी वस्तुओं और सेवाओं का मौद्रिक मूल्य जो वर्तमान पूँजी स्टॉक को बनाये रखने के लिए उपयोग की गई हैं, (४) राज्य को परोक्ष करों से प्राप्त होने वाली आय, (५) व्यापाराशेष की अनुकूलता की मौद्रिक कीमत और (६) देश के विदेशी ऋण की शुद्ध वृद्धि।[2]

राष्ट्रीय आय को नापने की रीतियाँ—

राष्ट्रीय आय की माप निम्न चार रीतियों से की जाती है :—

(१) उत्पत्ति गणना प्रणाली (Census of Production Method)—इस प्रणाली का उपयोग सन् १९०७ की ब्रिटिश उत्पत्ति गणना में किया गया था। किसी एक उद्योग अथवा फर्म की सकल उपज (Gross Produce) की कीमत में से यदि हम कच्चे माल तथा दूसरे ऐसे पदार्थों की कुल कीमत तथा वह रकम जो दूसरी फर्मों को काम करने के लिए दी जाती है, निकाल दें तो उद्योग अथवा फर्म की शुद्ध उपज (Net Product) निकल आती है। सारी फर्मों अथवा सारे उद्योगों की शुद्ध उपज का योग हमें राष्ट्रीय शुद्ध उपज बतायेगा। यह शुद्ध उपज

---

1. The national income for any period consists of the money value of goods and services becoming available for consumption during that period, reckoned at their current selling value, puls additions to capital reckoned at the prices actually paid for the new capital goods, minus depreciation and obsolescence of existing capital goods and adding the net accretion of, or deducting the net drawings upon stocks, also reckoned at current prices."—Colin Clark : the National Income, pp. 1-2.

2. See Dr V. K. R. V. Rao : National Income of British India.

हमें निर्माण (Manufacture) द्वारा वस्तुओं और पदार्थों में उत्पन्न किये गये मूल्य को बतायेगी। एक उद्योग की शुद्ध उपज उस कोष को सूचित करेगी जिसमें से वेतन, लगान, ब्याज, कर, अवक्षयण, लाभ तथा अन्य प्रकार के खर्चे चुकाये जायेंगे। राष्ट्रीय आय को निकालते समय कुल राष्ट्रीय शुद्ध उपज में से वार्षिक अवक्षयण तथा मशीनों की मरम्मत और उनके बदलने का व्यय निकाल देना पड़ेगा। इसी प्रकार दूसरे साधनों की क्षयता (Exhaustion) का खर्च भी घटा देना पड़ेगा। खनिज उद्योग में यह खर्च अधिकार-शुल्क (Royalties) द्वारा सूचित होता है। उदाहरणस्वरूप, यदि एक मशीन १० साल तक काम दे सकती है तो वार्षिक राष्ट्रीय आय निकालते समय उसकी शुद्ध उपज की कीमत में से मशीन की कीमत का $\frac{१}{१०}$ निकाल देना चाहिये।

(२) आय गणना प्रणाली (Census of Incomes Method)—इस रीति के अनुसार देशवासियों की आय का योग निकाला जाता है। उन सभी व्यक्तियों की जो आय-कर देते हैं और जो आय-कर नहीं देते हैं, आयों का योग कुल राष्ट्रीय आय को सूचित करता है। यह कार्य देश में सभी परिवारों की आय की अलग-अलग गणना करके किया जा सकता है। केवल इसी बात का ध्यान में रखना आवश्यक होता है कि एक आय को दो बार न गिना जाय। उदाहरणस्वरूप, यदि एक वकील की आय साल में कुल ६,००० रुपये की है, जिसमें से वह १,२०० रुपया प्रति वर्ष अपने मुन्शी को दे देता है तो मुन्शी की आय को राष्ट्रीय आय में नहीं जोड़ना चाहिए, क्योंकि वकील की आय को जोड़ते समय यह पहले ही गिनी जा चुकी है।

(३) व्यवसायिक गणना प्रणाली (Occupational Census Method)—इस प्रणाली में लोगों की आय की उनके व्यवसायों के अनुसार गणना की जाती है। विभिन्न प्रकार के उत्पादक कार्यों में लगे हुए व्यक्तियों की आयों को आँका जाता है और इन सबका जोड़ राष्ट्रीय आय को दिखाता है। इसमें भी यही सावधानी आवश्यक होती है कि एक ही आय को एक से अधिक बार न गिना जाय। स्टाम्प का विचार है कि इस प्रकार की गणना में वृद्धावस्था उत्तर-वेतन (Old age pensions) और युद्ध के विशेष भत्ते शामिल नहीं होने चाहिए, क्योंकि वे व्यवसायिक आय नहीं होते हैं।

(४) उत्पादन गणना और आय गणना प्रणाली का सामूहिक उपयोग—इस प्रणाली में आय गणना और उत्पादन गणना दोनों ही कामों को एक ही साथ किया जाता है। डा० राव ने भारत में इसका उपयोग बड़ी सफलतापूर्वक किया है। उन्होंने कृषि उपज के सम्बन्ध में सरकारी आँकड़ों का उपयोग किया है और देश में खनिज, उद्योग, दूध तथा दूसरी वस्तुओं के उत्पादन का अनुमान लगाया है और साथ ही साथ आय-कर सम्बन्धी आँकड़ों, सरकारी कर्मचारियों के वेतनों, औद्योगिक श्रमिकों की मजदूरियों और अन्य प्रकार की आयों का भी पता लगाया है।

सबसे उत्तम रीति कौनसी है ?—

यह विषय विवाद-ग्रस्त है कि राष्ट्रीय आय को नापने की कौनसी रीति अधिक उपयुक्त है। ऐसा कहा जाता है कि उत्पत्ति गणना प्रणाली और व्यवसायिक गणना प्रणाली अधिक व्यवहारिक हैं, क्योंकि आय गणना प्रणाली में एक ही आय को एक से अधिक बार गिनने की सम्भावना बराबर रहती है, जिसको दूर नहीं किया जा सकता है। इंगलैंड का अनुभव यह है कि प्रथम तीनों रीतियों में से किसी का भी उपयोग किया जा सकता है। यदि सावधानी से काम लिया जाता है तो प्रत्येक से एक से ही फल प्राप्त होते हैं, किन्तु सबसे अधिक रिवाज उत्पत्ति गणना प्रणाली का है।

राष्ट्रीय आय की गणना का महत्त्व—

राष्ट्रीय आय और आर्थिक कल्याण के बीच बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। साधारणतया हम ऐसा कह सकते हैं कि यदि अन्य बातें यथास्थिर रहें तो जितनी ही राष्ट्रीय आय अधिक होगी उतना ही देश के आर्थिक कल्याण का स्तर भी ऊँचा होगा, यद्यपि प्रत्येक दशा में राष्ट्रीय आय और आर्थिक कल्याण में एक ही दिशा में तथा एक ही अनुपात में वृद्धि होना आवश्यक नहीं है। राष्ट्रीय आय के अध्ययन के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—

(१) राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित आँकड़े हमें देश के भीतर जीवन स्तर के बारे में महत्त्वपूर्ण ज्ञान प्रदान करते हैं। इनकी सहायता से यह पता चल जाता है कि देश की अर्थ-व्यवस्था की विभिन्न शाखाओं में कालान्तर में क्या परिवर्तन हुए हैं और सामान्य आर्थिक परिस्थितियों का रुख किस दिशा में तथा किस अंश तक बदल गया है।

(२) राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़ों को देखकर हम यह भी जान सकते हैं कि क्या देश का विकास समुचित आधार पर हो रहा है ? यद्यपि राष्ट्रीय आय भौतिक कल्याण की पूर्णतया निश्चित माप तो नहीं होती है, परन्तु इसके द्वारा उसकी सामान्य प्रवृत्ति का पता अवश्य लगाया जा सकता है।

(३) राष्ट्रीय आय देश की अर्थ व्यवस्था के दोषों को स्पष्ट कर देती है और उनके दूर करने के उपाय दर्शाती है। राष्ट्रीय आय के आँकड़े हमें यह बता देते हैं कि वितरण के रूप में किस प्रकार के परिवर्तन हो रहे हैं। ये हमारे लिए देश की आर्थिक, वाणिज्यिक, प्रशुल्क तथा औद्योगिक नीति के निर्माण में सहायक होते हैं।

भारत में राष्ट्रीय आय का अनुमान—

भूतकाल में भारत की राष्ट्रीय आय के अनेक अनुमान लगाये गये हैं। सर्वप्रथम श्री दादा भाई नौरोजी ने सन् १८६७-७० के काल के लिए राष्ट्रीय आय का अनुमान २० रुपया प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष लगाया था। तत्पश्चात् सन् १९४२-४३ तक १८-२० और भी अनुमान लगाए गए, परन्तु सभी अनुमान गैर-सरकारी थे और इनमें आपस

में भारी अन्तर थे। लार्ड कर्जन का अनुमान सन् १९०० में ३० रुपया प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष था। सन् १९२१ में फिण्डले शिराज (Findlay Shirras) का अनुमान १०७ रुपया प्रति वर्ष था। इसी प्रकार सन् १९३१-३२ में डा० राव ने ६५ रुपया और सन् १९३७-३८ में सर जेम्स ग्रिग (Sir James Grigg) ने ५६ रुपया प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष का अनुमान लगाया था। सन् १९४२-४३ का कॉमर्स (Commerce) पत्रिका का अनुमान १२४ रुपया था। इन सभी अनुमानों में आपस में भारी अन्तर हैं और यह जानने के लिए कि वास्तविक राष्ट्रीय आय में कितनी वृद्धि अथवा कमी हुई है, हमें सामान्य कीमतों की वृद्धि को ध्यान में रखना पड़ेगा। डा० राव का अनुमान अधिक विश्वसनीय माना जाता है। उन्होंने ग्रामीण क्षेत्रों की प्रति व्यक्ति आय ५१ रुपया और नागरिक क्षेत्रों की १६६ रुपया आँकी थी और इस आधार पर औसत प्रति व्यक्ति आय ६५ रुपया निकलती है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् सरकार ने राष्ट्रीय आय की गणना का अधिक संगठित और वैज्ञानिक उपाय किया है। वाणिज्य मन्त्रालय ने राष्ट्रीय आय का निम्न अनुमान लगाया था :—

(करोड़ रुपयों में)

शीर्षक	ब्रिटिश भारत १९४५-४६	भारत संघ १९४५-४६	प्रान्त (राज्य) १९४६-४७
(१) प्रारम्भिक उत्पादन—			
(क) कृषि और पशु-पालन उद्योगों की शुद्ध उपज	२,७४५	१,९६३	२,२९१
(ख) जंगलों की शुद्ध उपज	१२	९	४६
(ग) खनिज उद्योगों की शुद्ध उपज	३८	३७	६१
कुल शुद्ध आरम्भिक उत्पादन	२,७९५	२,००९	२,३९८
(२) गैर-आरम्भिक उत्पादन—			
(क) आय-कर चुकाई हुई आय	५७९	५३५	५६६
(ख) आय, जिस पर कर नहीं दिया गया है	२,८६०	२,३८७	२,६१६
कुल राष्ट्रीय आय	६,२३४	४,९३१	५,५८०
प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय	१९८	२०४	२२८

राष्ट्रीय आय समिति—

विगत वर्षों में राष्ट्रीय आय की गणना के महत्त्व को सरकार ने स्वीकार कर लिया है। अगस्त सन् १९४९ में सरकार ने राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित आँकड़ों में सुधार के सुझाव देने और अधिक वैज्ञानिक रीति से राष्ट्रीय आय का पता लगाने के लिए राष्ट्रीय आय समिति नियुक्त की थी। अप्रैल सन् १९५१ में समिति ने अपनी प्रथम

रिपोर्ट प्रस्तुत की थी, जिसमें सन् १९४८-४९ से सम्बन्धित राष्ट्रीय आय का अनुमान दिया गया था। समिति की अन्तिम रिपोर्ट सन् १९५४ में प्रकाशित हुई है और उसमें सन् १९५३-५४ तक के अनुमान निम्न प्रकार दिये गये हैं :—

भारत की राष्ट्रीय आय

(करोड़ रुपयों में)

शीर्षक	१९४८ –४९	१९५१ –५२	१९५२ –५३	१९५३ –५४
(१) कृषि, वन और मछली उद्योग	४,२५०	४,९९०	४,७९०	५,४००
(२) खनिज निर्माण और हस्त उद्योग	१,४८०	१,७३०	१,७६०	१,८००
(३) वाणिज्य और परिवहन	१,६००	१,७९०	१,७८०	१,८००
(४) अन्य सेवायें	१,३४०	१,५००	१,५४०	१,६१०
शुद्ध देशी उत्पादन	८,६७०	१०,०१०	९,८७०	१०,६१०
विदेशों से प्राप्त शुद्ध आय	—२०	—२०	—१०	—१०
कुल राष्ट्रीय आय	८,६५०	९,९९०	९,८६०	१०,६००
जन-संख्या (करोड़ों में)	३५	३६·४	३६·८	३७·३
प्रति व्यक्ति आय (रुपयों में)	२४६·९	२७४·५	२६७.४	२८३·९

इन आँकड़ों के देखने से पता चलता है कि सन् १९४८-४९ और सन् १९५३-५४ के बीच में कुल राष्ट्रीय आय ८,६५० करोड़ रुपये से बढ़कर १०,६०० करोड़ रुपया हो गई है, अर्थात् उसमें २२·५% की वृद्धि हुई है। इस काल में प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि केवल १५% रही है (२४६·९ रुपये से २८३·९ रुपया)। इसका कारण यह है कि जन-संख्या में भी ६·६ की वृद्धि हो गई है। (३५ करोड़ से ३७·३ करोड़)। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान देने योग्य है कि अगस्त सन् १९३९ = १०० के आधार पर सन् १९४८-४९ का थोक कीमतों का निर्देशांक ३७६ था, जो सन् १९५३-५४ में ३९८ तक पहुँच गया था। इस आधार पर सन् १९४८-४९ और सन् १९५३-५४ के काल में कीमतों में ६% की वृद्धि हुई है। इस प्रकार वास्तविक प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि केवल ८·५% निकलती है।

राष्ट्रीय आय और आर्थिक नियोजन—

योजना आयोग ने राष्ट्रीय आय की वृद्धि का दीर्घकालीन लक्ष्य सन् १९७५-७६ तक सन् १९५०-५१ की तुलना में कुल राष्ट्रीय आय को तीन गुना तथा प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय को दुगुना कर देना निश्चित किया है। अनुमान यह है कि इस काल में देश की जन संख्या में भी ५०% की वृद्धि हो जायगी। लक्ष्य निम्न प्रकार हैं :—

शीर्षक	प्रथम योजना ५१–५६	दूसरी योजना ५६–६१	तीसरी योजना ६१–६६	चौथी योजना ६६–७१	पाँचवीं योजना ७१–७६
(१) राष्ट्रीय आय योजना काल के अन्त में (करोड रुपये)	१०,८००	१३,४८०	१७,२६०	२१,६८०	२७,२७०
(२) जन-संख्या (करोड़ों में)	३८·४	४०·८	४३·४	४६·५	५०·०
(३) प्रति व्यक्ति आय (रुपये)	२८१	३३१	३९६	४६६	५४६

प्रथम पंच-वर्षीय योजना पूरी हो चुकी है। इस योजना के काल में कुल राष्ट्रीय आय में १८% की वृद्धि हुई है, जो अनुमान से बहुत अधिक है। योजना काल में वास्तविक आय भी बराबर बढ़ी है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि योजना के अन्त में कीमतें योजना के आरम्भ के काल की तुलना में १३% नीची थीं। साथ ही, योजना काल में जन-संख्या भी बराबर बढ़ती रही है। परिणाम यह हुआ है कि प्रति व्यक्ति आँय में ११% की वृद्धि हो गई है, जबकि अनुमान केवल ७% की वृद्धि का था और क्योंकि कीमतें नीचे गिरी हैं, इसलिए वास्तविक आय में भी वृद्धि हुई है।

प्रथम योजना की प्रगति राष्ट्रीय आय की वृद्धि के दृष्टिकोण से इतनी सन्तोष-जनक रही है कि राष्ट्रीय आय की वृद्धि के लक्ष्यों को पहले से ऊँचा कर दिया गया है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि वर्तमान वृद्धि दर पर देश की कुल राष्ट्रीय आय सन् १९७३-७४ तक ही तीन गुनी हो जायगी और प्रति व्यक्ति आय दो गुनी। दूसरी पंच-वर्षीय योजना में सन् १९५६-६१ के काल में राष्ट्रीय आय में २५·६% वृद्धि का लक्ष्य निश्चित किया गया है और क्योंकि पाँच वर्ष के इस काल में जन-संख्या ३८·३७ करोड़ से बढ़कर ४०·९७ करोड़ हो जायगी, इसलिए प्रति व्यक्ति आय में १८% की वृद्धि हो जायगी। योजना कमीशन का अनुमान इस मान्यता पर आधारित है कि योजना काल में कीमतों की स्थिरता बनी रहेगी, कीमतों के बढ़ने की दशा में लक्ष्यों में संशोधन आवश्यक हो सकते हैं। वास्तविकता यह है कि दूसरी योजना के लागू करते ही कीमतों के ऊपर जाने की प्रवृत्ति आरम्भ हो गई है। दिसम्बर सन् १९५६ में ही योजना कमीशन को दूसरी योजना के प्रस्तावित व्यय (४,८०० करोड़ रुपये) में ४०० करोड़ रुपये की वृद्धि करने का प्रस्ताव रखना पड़ा था। वित्त मन्त्री ने अनेक ऐसे नए कर भी लगाए हैं जिनसे एक ओर तो मुद्रा-प्रसार का दबाव घटेगा और दूसरी ओर सरकार को लगभग १०० करोड़ रुपये की वार्षिक आय प्राप्त हो जायगी।

योजना काल में राष्ट्रीय आय की वृद्धि—

सन् १९५५-५६ के लिए भारत में राष्ट्रीय आय का अनुमान ९,९९० करोड़ रुपया रखा गया है, जब कि सन् १९४८-४९ में इसका अनुमान ८,६५० करोड़ रुपया था। उपरोक्त काल में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय २४६·९ रुपये से बढ़कर २६०·८ रुपया हो गई है। इस प्रकार चालू कीमतों (Current Prices) के आधार पर

इस काल में कुल राष्ट्रीय आय में १५·५% वृद्धि हुई है और प्रति व्यक्ति आय में ५·६ प्रतिशत वृद्धि। निम्न तालिका में चालू तथा स्थिर कीमतों पर कुल राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि का क्रम दिखाया गया है :—

राष्ट्रीय आय की वृद्धि

	राष्ट्रीय आय (करोड़ रुपयों में)		प्रति व्यक्ति आय (रुपयों में)	
	चालू कीमतों के आधार पर	सन् १६४८–४६ की कीमतों पर	चालू कीमतों के आधार पर	सन् १६४८-४६ की कीमतों पर
१६४८–४६	८,६५०	८,६५०	२४६·६	२४६·६
१६४६–५०	६,०१०	८,८२०	२५३·६	२४८·६
१६५०–५१	६,५३०	८,८५०	२६५·२	२४६·३
१६५१–५२	६,६७०	६,१००	२७४·०	२५०·१
१६५२–५३	६,८२०	६,४६०	२६६·४	२५६·६
१६५३ ५४	१०,४८०	१०,०३०	२८०·७	२६८·७
१६५४–५५	६,६१०	१०,२८०	२५४·२	२७१·६
१६५५–५६	६,६६०	१०,४८०	२६०·८	२७३·६
१६५६–५७	११,४१०	११,०१०	२६४·३	२८४·०

उपरोक्त आँकड़ों से पता चलता है कि वास्तविक आधार (Real Terms) में सन् १६५१-५२ और सन् १६५५-५६ के पांच वर्षों में, अर्थात् प्रथम पंच-वर्षीय योजना के काल में कुल राष्ट्रीय आय में १८·४% वृद्धि हुई है और सन् १६५६-५७ में, अर्थात् द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के प्रथम वर्ष में, ५·१% की वृद्धि। इसी प्रकार इस काल में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में क्रमश ११·१ और ३·८ प्रतिशत वृद्धि हुई है। कीमतों के परिवर्तन के कारण चालू कीमतों पर राष्ट्रीय आय की वृद्धि स्थिर कीमतों की तुलना में अधिक रही है।

क्या हमारे राष्ट्रीय आय सम्बन्धी लक्ष्य पर्याप्त हैं ?—

इसमें तो सन्देह नहीं है कि पिछले वर्षों से हमने आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय को बढ़ाने के प्रयत्न किए हैं और इसमें हमें काफी सफलता भी मिली है, परन्तु अभी हमारी प्रगति बहुत पीछे है। एक औसत अमरीकन की आय एक औसत भारतीय से लगभग ३१ गुनी है और एक औसत अंग्रेज की लगभग १४ गुनी है। हमारे देश में जन-संख्या की वृद्धि उत्पादन की वृद्धि की तुलना में काफी अधिक है। नीचे की तालिका में भारत की राष्ट्रीय आय की तुलना दूसरे देशों से की गई है :—

देश	वर्ष	जन-संख्या करोड़ में	कुल राष्ट्रीय आय (करोड़ रुपयों में)	प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय (रुपयों में)
आस्ट्रेलिया	१९५३	०·८८	३,९२९	४,४६०
बर्मा	१९५३	१·००	३९३	२०६
कनाडा	१९५४	१·५२	९,१९९	६,०५६
लङ्का	१९५३	०·८१	४४१	५४१
फ्रान्स	१९५४	४·२७	१५,७५०	३,६८६
जापान	१९५४	८·८२	८,१२९	९२२
न्यूजीलैण्ड	१९५४	०·२१	१,०५८	५,०६२
पाकिस्तान	१९५३—५४	७·७८	१,९३१	२४५
स्विटजरलैण्ड	१९५४	०·४८	२,४०७	४,८१२
ब्रिटेन	१९५४	५·११	२०,७२०	४,०५७
संयुक्त राज्य अमरीका	१९५४	१६·२४	१,४२,६५७	८,७७४
भारत	१९५६—५७	३८·७४	११,०१०	२८४

राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने के उपाय—

राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने के लिये नियोजित प्रयत्न करने की अति आवश्यकता है।

(i) इस स्थिति को सुधारने का सबसे महत्त्वपूर्ण उपाय यही हो सकता है कि सभी दिशाओं में उत्पादन की वृद्धि की जाय। (ii) साथ ही, हमें यह भी जानना चाहिए कि हमारे देश में आय के वितरण में भी घोर असमानतायें हैं। उपयुक्त नीति यही है कि राष्ट्रीय आय की वृद्धि और वितरण की असमानताओं को घटाने के प्रयत्न एक ही साथ किये जायँ। (iii) यह भी आवश्यक है कि जन-संख्या की वृद्धि पर कुछ प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये जायँ। (iv) पूँजी के विनियोजन में वृद्धि की जाय। (v) देश में चिकित्सा, शिक्षा तथा अन्य अनेक प्रकार की सामाजिक सेवाओं का समुचित प्रबन्ध किया जाय। यह एक आशाजनक बात है कि आर्थिक नियोजन के द्वारा राष्ट्रीय आय की इसी कमी को दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

अध्याय ४७

बचत, विनियोग और पूर्ण वृत्ति

(Savings, Investments and Full Employment)

आय किसे कहते हैं ?—

यह तो सभी जानते हैं कि हम उस समय तक कुछ भी आमदनी प्राप्त नहीं कर सकते हैं जब तक कि कोई दूसरा व्यक्ति उस चीज को प्राप्त कर लेने के लिए तैयार न हो जो कि हम बेचना चाहते हैं, अथवा जब तक कि कोई व्यक्ति हमारे श्रम को वेतन अथवा मजदूरी के बदले में खरीदने को तैयार न हो। कीन्ज ने ठीक ही कहा है कि एक व्यक्ति का व्यय दूसरे की आय होती है। इस प्रकार सारे समाज की मौद्रिक आय सारे समाज के मौद्रिक व्यय के बराबर होती है। हम जो कुछ भी काम करते हैं अथवा जो कुछ भी हम उत्पन्न करते हैं वह उसे बेच लेने की संभावना के आधार पर किया जाता है। आय को उत्पन्न करने का उपाय यही होता है कि हम सामाजिक उपज के स्टॉक में वृद्धि कर देते हैं। आय के उत्पन्न होने की विधि ही यह है कि कोई व्यक्ति सामाजिक उपज की मात्रा में वृद्धि करता है और इस प्रकार वह उत्पत्ति के साधनों को भुगतान करता रहता है। सामाजिक उपज में वृद्धि करने के कार्य के अन्तर्गत आय की एक धारा को उत्पन्न किया जाता है, जो उत्पत्ति के साधनों को किये गये भुगतान की मात्रा के बराबर होती है। इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि जिस व्यक्ति को आय प्राप्त होती है वह भी उसे व्यय करता है और दूसरों की आय को उत्पन्न करता है। इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है, किन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रत्येक बार जब एक व्यक्ति अपनी आय को व्यय करता है, आय का एक भाग भावी उपयोग के लिए बचा लिया जाता है। उदाहरणस्वरूप, यदि एक व्यक्ति को महीने के आरम्भ में २०० रुपये वेतन के रूप में मिलते हैं और वह इसमें से १०% बचा कर शेष को खर्च कर देता है तो उसकी स्थिति निम्न प्रकार होती है—२०० रुपया आय=१८० रुपया उपभोग+२० रुपया बचत। जिन १८० रुपयों का व्यय किया गया है, मान लीजिए कि वे किसी दूकानदार को मिल जाते हैं। दूकानदार की आय १८० रुपया हुई और यदि वह भी १०% बचा कर शेष को व्यय कर देता है तो स्थिति निम्न प्रकार होगी—१८० रुपया आय=१६२ रुपया उपभोग+१८ रुपया बचत। ठीक इसी प्रकार यह १६२ रुपये का व्यय किसी अन्य व्यक्ति की आय उत्पन्न करेगा और यदि वह भी इसके १०% की बचत करता है तो स्थिति इस प्रकार होगी:—१६२ रुपया आय=१४५·८ रुपया उपभोग+१६·२ रुपया बचत। यही क्रम बराबर

आगे चलता रहेगा और यदि इस प्रकार १० बार यह स्थिति पैदा होती है तो प्रत्येक बार आय, उपभोग और बचत की मात्रा घटती जाती है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस प्रकार व्यय के जो दस चक्र पूरे हो जाते हैं उन सबका जोड़ २०० रुपये की आरम्भिक आय का १० गुना होना चाहिए, जिसका अर्थ यह होता है कि २०० रुपये के प्रारम्भिक व्यय के फलस्वरूप कुल २,००० रुपये का व्यय हो जायेगा। यहाँ पर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यदि कुल व्यय बचत का १० गुना है तो कुल उत्पन्न की गई आय प्रारम्भिक आय का १० गुना ही देगा।

उपभोग की वस्तुओं पर किया जाने वाला कुल व्यय दो बातों पर निर्भर होता है :—(i) व्यक्ति की कुल आय तथा (ii) उपभोग की प्रवृत्ति (Propensity to Consume)। उपभोग की प्रवृत्ति का अर्थ कुल आय का वह भाग है जो उपभोग पर व्यय किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि आय की वृद्धि के साथ-साथ उपभोग पर किया गया खर्च भी बढ़ता जाता है, क्योंकि उपभोग की प्रवृत्ति में कोई परिवर्तन नहीं होता है। उपभोग की प्रवृत्ति के कारण आय में परिवर्तन नहीं होते हैं, बल्कि विनियोग (Investment) में परिवर्तन होने से आय में परिवर्तन हो जाते हैं। जितनी ही विनियोग में वृद्धि होती है उतनी ही आय में भी वृद्धि हो जाती है। यही कारण है कि आय की वृद्धि की व्याख्या करने के लिए उन कारणों को समझना पड़ता है जो विनियोग को प्रभावित करते हैं। विनियोग के ऊपर दो बातों का प्रभाव पड़ता है :—(i) ब्याज की दर तथा (ii) पूँजी की सीमान्त कुशलता (The Marginal Efficiency of Capital)। पूँजी की सीमान्त कुशलता का अर्थ उस लाभ की दर से होता है जिसके प्राप्त होने की आशा की जाती है। यह निश्चय है कि उस समय तक विनियोग बराबर बढ़ते रहेंगे जब तक कि विनियोगों पर प्राप्त की हुई लाभ की दर पूँजी पर प्राप्त होने वाले ब्याज की दर से ऊँची रहती है, किन्तु जैसे-जैसे विनियोग बढ़ते हैं, उन पर लाभ की सीमान्त दर घटती जाती है और अन्त में वह ब्याज की दर के बराबर हो सकती है। यहाँ पर आकर विनियोगों का बढ़ना रुक जाता है। साथ ही, विनियोगों के बढ़ाने के लिए आय का बढ़ाना भी आवश्यक है, ताकि बचत भी उसी अनुपात में बढ़ती रहे जिस अनुपात में कि विनियोग बढ़ रहा है। हमारा अन्तिम निष्कर्ष यह निकलता है कि किसी समय विशेष में देश की आय इस बात पर निर्भर होती है कि उस देश में विनियोग की दर क्या है और उस समय में देश के लोगों की विनियोग करने की प्रवृत्ति क्या है।

बचत (Savings)—

बचत की साधारण सी परिभाषा यह हो सकती है कि यह आय और व्यय के अन्तर के बराबर होती है। प्राप्त आय में से उपभोग पर व्यय करने के पश्चात् जो कुछ बचता है वह बचत को सूचित करता है। देश में बचत की मात्रा वहाँ के लोगों की बचत करने की प्रवृत्ति पर निर्भर होती है। यदि देश के लोग अपनी आय का

९०% व्यय करने के आदी हैं तो बचत आय का १०% होगी। साधारणतया बचत को बढ़ाने-घटाने के लिए आय की मात्रा में परिवर्तन करना आवश्यक होता है, क्योंकि उपभोग की प्रवृत्ति में परिवर्तन कम ही होते हैं। जब कोई व्यक्ति बचत करता है तो इसका यह अर्थ नहीं होता है कि उसने अपना उपभोग बन्द कर दिया है। वह केवल उपभोग को स्थगित कर देता है और ऐसा करने में वह आय के उस भाग को, जिसकी बचत कर ली गई है, भविष्य में व्यय करने का अधिकार प्राप्त कर लेता है।

बचत के अनेक रूप सम्भव हैं :—(i) बचत करने वाला व्यक्ति आय के एक भाग को अपने पास नकदी के रूप में रख सकता है, ताकि उसे भविष्य में उपयोग कर सके, (ii) इसी प्रकार बचाई हुई आय को बैंक के जमा के रूप में रखा जा सकता है, (iii) इसे सरकार को ऋण के रूप में दिया जा सकता है। इसके लिए बौंड खरीदा जा सकता है, (iv) यह राशि किसी कम्पनी अथवा फर्म को उधार दी जा सकती है, अथवा (v) इसके बदले में भूमि, मकान अथवा अन्य सम्पत्ति खरीदी जा सकती है। इस प्रकार की सारी बचत व्यक्तिगत बचत होती है, क्योंकि एक व्यक्ति द्वारा बचत करने का सदा ही यह अर्थ नहीं होता है कि समाज ने भी बचत की है। वास्तव में यह सम्भव है कि जबकि एक व्यक्ति बचत करता है तो दूसरा इसकी विपरीत दिशा में कार्य करे। उदाहरणस्वरूप, यदि एक व्यक्ति मकान खरीदता है तो कोई दूसरा उसे बेचता है। यहाँ पहले व्यक्ति ने तो बचत की है, परन्तु दूसरे ने विपरीत दिशा में कार्य किया है। ऐसी दशा में एक व्यक्ति की बचत दूसरे व्यक्ति की विरोधी कार्यवाही द्वारा रद्द हो जाती है और समाज के दृष्टिकोण से कुछ भी बचत नहीं हो पाती है। समाज द्वारा बचत तभी हो सकेगी जबकि एक व्यक्ति की बचत किसी दूसरे की विरोधी कार्यवाही से रद्द न होने पाये। यही कारण यह है कि व्यक्तिगत बचत और सामाजिक बचत में अन्तर होता है।

विनियोग (Investment)—

जब समाज बचत करता है, अर्थात् जब समाज अपने उपभोग को स्थगित करता है तो बचत के फलों का अनेक रूपों में उपयोग हो सकता है। यह सम्भव है कि सरकार नये ऋणों की निकासी करे और ऋणों से प्राप्त रकम के द्वारा नई नहरों और नये पुलों का निर्माण करे। यह भी सम्भव है कि किसी नई कम्पनी की स्थापना हो, नये अंशों की निकासी की जाय, नये मालों का उत्पादन हो अथवा नये मकानों का निर्माण हो। इस बचत का उपभोग लोक तथा व्यक्तिगत उपक्रमों की कार्यवाहक पूँजी में वृद्धि करने अथवा कच्चे, अर्द्ध-तैयार और तैयार मालों के स्टॉक् बनाने के लिए भी किया जा सकता है। जब कभी भी सामाजिक बचत होती है तो इससे पूँजी के स्टॉक में वृद्धि होती है, अर्थात् पूँजी का नया निर्माण (Formation) होता है। पूँजी के इस नए निर्माण को ही हम विनियोग कह सकते हैं। साधारण भाषा में जब कभी भी हम यह कहते हैं कि हमने आय का विनियोग किया है तो हमारा अभिप्राय

यह होता है कि हमने भविष्य में आय प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त कर लिया है। इस प्रकार के विनियोग में, जो स्वभाव से ही व्यक्तिगत है, यह सम्भावना बराबर बनी रहती है कि एक व्यक्ति के विनियोग के साथ साथ दूसरे के द्वारा अविनियोजन (Dis-investment) हो रहा हो। सामाजिक विनियोग में ऐसी सम्भावना नहीं रहती है। ऐसा विनियोग सदा ही धनात्मक होता है और यह भी आवश्यक नहीं है कि सामाजिक विनियोग के साथ-साथ व्यक्तिगत विनियोग भी हो ही।

व्यक्तिगत विनियोग की मात्रा एक बड़े अंश तक सरकारी नीति पर निर्भर होती है। धन का विनियोग करते समय विनियोगी लाभ की दर पर सावधानी के साथ विचार करता है। बचत करने वाले के पास बचत के लाभदायक उपयोग के दो उपाय होते हैं—बचत को ब्याज पर उठा देना और बचत का विनियोग कर देना। दोनों में से उसी को चुना जायगा जो अधिक लाभदायक होगा। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जहाँ पर पूँजी की सीमान्त कुशलता अथवा लाभ की दर ब्याज की दर के बराबर हो जाती है, वहीं पर विनियोग की सीमा आ जाती है। जो कारण लाभ की दर को बढ़ा देते हैं वे विनियोग को भी प्रोत्साहन देते हैं और इसके विपरीत जिन कारणों से ब्याज की दरें बढ़ती हैं वे विनियोगों को हतोत्साहित कर देते हैं।

भारत में पूँजी का निर्माण (Capital Formation in India)—

पूँजी निर्माण और विनियोग में कोई विशेष अन्तर नहीं होता है। पूँजी निर्माण बचत कोषों के जमा करने की क्रिया है और ये बचत कोष के विनियोग की मात्रा निश्चित करते हैं। एक दूसरे दृष्टिकोण से पूँजी निर्माण का अभिप्राय बचत कोषों को नये निर्माण, पूँजीगत माल के उत्पादन अथवा विदेशों में विनियोग करने से होता है। किसी भी देश की आर्थिक सम्पन्नता वहाँ पर पूँजी के निर्माण की दर पर निर्भर होती है। आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि देश में बचतों को बढ़ाया जाय और इन बचतों का अधिक अंश तक उद्योग, कृषि तथा विकास कार्यों में विनियोग किया जाय।

भारत में पूँजी के निर्माण की गति धीमी ही रही है। इसके कई कारण हैं :—(i) इसमें तो सन्देह नहीं कि भारतवासी स्वभाव से ही बचत करने के इच्छुक होते हैं, परन्तु आय के कम होने के कारण बचत करने की क्षमता कम रहती है। (ii) पिछले कुछ वर्षों से तो यह क्षमता और भी कम रह गई है. क्योंकि कीमतें काफी ऊँची चली गई हैं और (iii) करारोपण की वृद्धि हुई है। वैसे भी केवल बचत की दर ही पूँजी निर्माण के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण नहीं है. बल्कि बचतों का विनियोग भी आवश्यक है। (iv) इधर कुछ वर्षों से भारतवासियों को बचतों का विनियोग करने के स्थान पर उनका उपभोग करने पर बाध्य होना पड़ा है। (v) साथ ही, जमींदारों और राज्य दरबारों के उन्मूलन तथा अन्य सामाजिक सुधारों के फलस्वरूप उच्च आय वर्ग के लोगों की बचत करने की क्षमता में काफी कमी हो गई

है। (vi) बचत की दर के नीचा रहने का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि बचत करने की सुविधाएँ बहुत कम हैं। मुख्यतया छोटी-छोटी बचत करने वाले व्यक्तियों के लिए। ऐसी सुविधाएँ आम तौर पर डाकखानों के सेविंग बैंक द्वारा प्रस्तुत की जाती हैं। देश की विनियोग संस्थाएँ साधारणतया बड़ी-बड़ी बचत करने वालों के दृष्टिकोण से विनियोग सुविधाएँ उपलब्ध करने के लिए बनाई गई हैं, परन्तु वर्तमान काल में छोटी बचतों का महत्त्व अधिक बढ़ गया है।

भारत में आय, बचत तथा विनियोग की प्रगति—

भारत में प्रथम पंच-वर्षीय योजना का उद्देश्य बचत और विनियोग की दरों को बढ़ाना था। ऐसा अनुमान लगाया गया था कि बचत की दर, जो सन् १९५०-५१ में राष्ट्रीय आय का ५% थी, सन् १९५५-५६ में ६·७५% हो जायगी। इसका परिणाम यह होता है कि देश में पूँजी निर्माण इस काल में ४५० करोड़ रुपया प्रति वर्ष से बढ़ कर ६७५ करोड़ रुपया प्रति वर्ष हो जाता। प्रथम पंच-वर्षीय योजना के काल में प्रगति इससे भी अधिक आशाजनक रही है। देश की राष्ट्रीय आय में योजना-काल में १८% की वृद्धि हुई है, अर्थात् वह सन् १९५०-५१ में ९,११० करोड़ रुपये से बढ़ कर सन् १९५५-५६ में १०,८०० करोड़ रुपया हो गई है। विनियोग की मात्रा ४५० करोड़ रुपये प्रति वर्ष से बढ़कर ७९० करोड़ रुपया प्रति वर्ष हो गई और इस प्रकार विनियोग की दर राष्ट्रीय आय के ४·९% से बढ़ कर ७·३% हो गई है। निम्न तालिका सन् १९५२-५३ की कीमतों के आधार पर राष्ट्रीय आय, विनियोग तथा उपभोग की प्रगति दिखाती है :—

(करोड़ रुपयों में)

शीर्षक	सन् १९५०-५१	सन् १९५५-५६
(१) राष्ट्रीय आय	९,११०	१०,८००
(२) विनियोग	४५०	७९०
(३) विनियोग का राष्ट्रीय आय से प्रतिशत	४·९	७·३
(४) राष्ट्रीय आय निर्देशांक	१००	११८
(५) प्रति व्यक्ति आय निर्देशांक	१००	१११
(६) प्रति व्यक्ति उपभोक्ता व्यय निर्देशांक	१००	१०९

सन् १९५२-५३ में, जबकि प्रथम पंच-वर्षीय योजना को अन्तिम रूप दिया गया तो योजना कमीशन ने पता लगाया था कि दूसरी और इसके बाद की योजनाओं से पूँजी निर्माण को बराबर बढ़ाते रहने की सम्भावना रहेगी। लक्ष्य यह रखा गया था कि सन् १९५६-५७ के बाद बचत की दर को इस प्रकार बढ़ाया जाय कि अति-रिक्त उत्पादन के ५०% की बचत हो जाय। इस आधार पर यह अनुमान लगाया गया था कि सन् १९६०-६१ तक राष्ट्रीय आय के ११% तक बचत हो जायगी और

सन् १९७७-७८ तक यह २०% तक पहुँच जायगी। यह अनुमान लगाया गया था कि इस प्रकार सन् १९७७-७८ तक कुल राष्ट्रीय आय ३ गुनी हो जायगी और प्रति व्यक्ति आय २ गुनी।

अब ऐसा अनुमान लगाया गया है कि ये लक्ष्य आवश्यकता से ऊँचे हैं और इन पर अनुरोध करने से जनता को काफी कष्ट हो सकता है, इसलिए दूसरी पंच-वर्षीय योजना में दृष्टिकोण बदल दिया गया है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि विनियोग की दर सन् १९५५-५६ में ७% से बढ़ कर सन् १९६०-६१ में ११%, सन् १९६५-६६ में १४% और सन् १९७०-७१ में १६% तक पहुँच जायगी। इसके पश्चात् इसके यहीं पर रुके रहने की आशा है, अधिक से अधिक यह सन् १९७५-७६ तक १७% हो सकती है। नीचे की तालिका सम्पूर्ण स्थिति को दिखाती है :—

शीर्षक	प्रथम योजना काल १९५१-५६	दूसरी योजना काल १९५६-६१	तीसरी योजना काल १९६१-६६	चौथी योजना काल १९६६-७१	पाँचवीं योजना काल १९७१-७६
राष्ट्रीय आय योजना काल क अन्त में (करोड़ रुपये में)	१०,८००	१३,४८०	१७,२६०	२१,६८०	२७,२७०
कुल शुद्ध विनियोग (करोड़ रुपये में)	३०,१००	६,२०४	९,९००	१४,८००	२०,७००
विनियोग का राष्ट्रीय आय से प्रत्येक योजना काल के अन्त में प्रतिशत	७·३	१०·७	१३·७	१६·०	१७·०

दूसरी पंच-वर्षीय योजना में कुल राष्ट्रीय आय में २५% वृद्धि करने का लक्ष्य निश्चित किया गया है और विनियोग दर को १०·७% तक बढ़ा दिया जायगा। आलोचकों का कहना है कि ये दोनों अनुमान अवास्तविक प्रतीत होते हैं। राष्ट्रीय आय इकाई (National Income Unit) तथा करारोपण जाँच आयोग (Taxation Enquiry Commission) ने राष्ट्रीय आय, बचत और विनियोग की प्रगति का जो अनुमान लगाया है वह इतना आशाजनक नहीं है। भारत में इस प्रगति का सही अर्थ समझने के लिए यह आवश्यक होगा कि संसार के कुल दूसरे देशों की प्रगति से इसकी तुलना कर दी जाय। नीचे की तालिका में इसी का प्रयत्न किया गया है :—

सकल देशी पूँजी-निर्माण सकल देशी उपज के प्रतिशत के रूप में—

देश	सन् १९४८	सन् १९५०	सन् १९५२
आस्ट्रेलिया	२०·७	२४·८	२५·९
बर्मा	१५·१	१०·३	१५·२
लंका	६·०	१०·५	१३·३
आयरलैंड	१२·८	१४·१	१६·४
ब्रिटेन	१२·१	१३·१	१३·४
भारत	८·३	९·३	१०·०

भारत में पूँजी-निर्माण प्रोत्साहन के सुझाव—

देश में राष्ट्रीय आय तथा पूँजी-निर्माण की दर को बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा-प्रसार को रोका जाय और इसका सबसे अच्छा उपाय यही हो सकता है कि कम से कम काल में उत्पादन को इतना बढ़ा दिया जाय कि जनता के हाथ में आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत जितनी तेजी के साथ क्रयः शक्ति पहुँच रही है उतनी ही तेजी के साथ बाजार में वस्तुओं की पूर्ति बढ़ सके। सरकार की मुद्रा-प्रसार विरोधी नीति, जिसके अन्तर्गत चलन और साख-मुद्रा का संकुचन किया जाता है, बहुत उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इससे उद्योगों और व्यवसायों के लिए वित्तीय साधनों की कमी पैदा हो जाती है। यदि हम अपने आर्थिक नियोजन का लक्ष्य दीर्घकालीन रखते हैं तो सरकार के लिए यह आवश्यक है कि उत्पादकों के लिए बैंकों तथा इसी प्रकार की दूसरी संस्थाओं से वित्तीय सुविधायें उपलब्ध करके निकट भविष्य में ही वस्तुओं की पूर्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करे। साथ ही साथ, यह भी आवश्यक है कि छोटी बचतों को और भी अधिक प्रोत्साहन दिया जाय तथा उनके जमा करने की व्यवस्था को बढ़ाया जाय। इसके लिए सहकारी बैंकों और व्यापार बैंकों को छोटे कस्बों तथा बड़े-बड़े गाँवों में शाखायें खोलने के लिए सहायता देना उचित होगा। हाल में सरकार ने रिजर्व बैंक की ब्याज की दर में वृद्धि करके तथा सन् १९५१ के उद्योग (विकास और नियमन) एक्ट में संशोधन करके तो औद्योगिक उत्पादन को और भी हतोत्साहित कर दिया है।

रोजगार
(Employment)

पूर्ण रोजगार का अर्थ—

आधुनिक युग में समाज की एक बड़ी गम्भीर समस्या बेरोजगारी की समस्या होती है। बेरोजगारी का रहना देश के आर्थिक और सामाजिक जीवन के लिए काफी घातक हो सकता है। अल्पकाल में देश में श्रम की पूर्ति लगभग निश्चित ही होती है। यही कारण है कि श्रम की माँग में कमी होते ही बेरोजगारी फैलती है। बेरोजगारी को दूर करना और देश के सभी नागरिकों के लिए समुचित रोजगार सुविधाओं की व्यवस्था करना प्रत्येक आधुनिक राज्य का महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य समझा जाता है। कल्याणकारी राज्य की स्थापना सभी के लिए रोजगार की सुविधायें स्थापित किये बिना हो ही नहीं सकती है। पूर्ण वृत्ति अथवा पूर्ण रोजगार तब सम्पन्न होता है जबकि देश के प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को रोजगार मिल जाय जिसे उसकी आवश्यकता है। पूर्ण वृत्ति का यह अर्थ नहीं होता है कि देश में बेरोजगारी अथवा बेकारी पूर्णतया समाप्त हो जाती है। प्रत्येक अर्थ-व्यवस्था में कुछ अंश तक बेरोजगारी का बना रहना अनिवार्य ही होता है। इस प्रकार बेरोजगारी के बने रहने के निम्न कारण हो सकते हैं :—

(१) काम करने के अनिच्छुक व्यक्ति—प्रत्येक समय में समाज में

कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य होते हैं जो किसी न किसी कारण से काम करना ही नहीं चाहते हैं। इन्हें कोई भी प्रलोभन काम करने के लिए प्रोत्साहित नहीं कर सकता है।

(२) अस्थायी बेरोजगारी—कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो एक काम को छोड़कर दूसरा ग्रहण करना चाहते हैं। ऐसे व्यक्ति कुछ काल के लिए बेरोजगार रह सकते हैं, क्योंकि एक काम को छोड़ते ही तुरन्त दूसरे का मिल जाना निश्चित नहीं होता है।

(३) प्रशिक्षण काल—कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो एक काम को छोड़ देने के पश्चात् दूसरे को सीखने पर समय बिताते हैं और प्रशिक्षण के इस काल में इस दृष्टिकोण से बेकार रहते हैं कि प्रशिक्षण के काल में उन्हें मजदूरी नहीं मिलती है।

(४) आकस्मिक बेकारी—कुछ अंश तक बेकारी आकस्मिक (Casual) हो सकती है, जैसे जहाजों पर माल लादने अथवा उतारने वाले श्रमिक कुछ समय तक के लिए बेकार रह सकते हैं।

(५) मौसमी बेकारी—कुछ उद्योगों, जैसे—चीनी उद्योग में काम मौसमी (Seasonal) होता है और जिन महीनों में चीनी की मिलें बन्द रहती हैं उनमें काम करने वाले अधिकाँश श्रमिक बेकार रहते हैं।

(६) व्यापार चक्र—व्यापार चक्रों के फलस्वरूप भी व्यवसायिक मन्दी के काल में बेरोजगारी उत्पन्न हो सकती है, जो उस समय तक बनी रहती है जब तक कि मन्दी का प्रभाव शेष रहता है।

(७) शैल्पिक परिवर्तन—शैल्पिक परिवर्तन भी कुछ काल के लिए बेरोजगारी पैदा कर सकते हैं। मशीनों, उत्पादन विधियों और इस प्रकार के दूसरे परिवर्तनों के कारण कुछ श्रमिक कुछ काल के लिए बेरोजगार हो जाते हैं।

इस प्रकार के बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या कुल जन-संख्या का तीन से लेकर ५% तक साधारणतया रहती है। ऐसे बेरोजगार व्यक्तियों को छोड़कर शेष सभी के लिए रोजगार सुविधाएं रहनी चाहिए। पूर्ण वृत्ति अथवा पूर्ण रोजगार का अभिप्राय यही होता है कि देश की शेष ९५ से लेकर ९७% जनता के लिए रोजगार उपलब्ध हो। साधारणतया युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था में इस दृष्टिकोण से पूर्ण वृत्ति की दशाएं पैदा हो जाती हैं। शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था की समस्या यही होती है कि जन-संख्या के इतने बड़े भाग के लिए समुचित रोजगार सम्बन्धी सुविधाएं उत्पन्न की जायें।

पूर्ण वृत्ति स्थापना के सिद्धान्त—

इस सम्बन्ध में सबसे पहले यही जानना आवश्यक होगा कि रोजगार की मात्रा किन बातों पर निर्भर होती है? यदि सरकार द्वारा किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जाता है और स्वतन्त्र बाजार व्यवस्था रहती है तो श्रम और पूंजी को प्राप्त होने वाले रोजगार की मात्रा व्यवसायियों और उद्योगपतियों के इस निर्णय पर निर्भर

होती है कि वे नये व्यापारों तथा उद्योगों में कितना विनियोग करने का निर्णय करते हैं। इन्हीं निर्णयों पर कुल रोजगार की मात्रा निर्भर रहेगी, इसलिए इस बात का अध्ययन बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है कि विनियोग सम्बन्धी निर्णय किन बातों पर निर्भर होते हैं ?

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का विचार था कि ये निर्णय ब्याज की दर पर निर्भर होते हैं अर्थात् इस बात पर कि नई पूँजी की पूर्ति की कीमत क्या है ? इस दृष्टिकोण से ब्याज की दर की प्रत्येक कमी विनियोगों को बढ़ाने की प्रवृत्ति रखती है और इसके विपरीत ब्याज की दर के बढ़ाने से विनियोग हतोत्साहित होते हैं। इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार रोजगार की मात्रा को बढ़ाने के लिए ब्याज की दरों को घटाना आवश्यक है। व्यवहारिक अनुभव ने इस विचारधारा की पुष्टि नहीं की है। अवसाद के काल में ब्याज की दरों को घटाने से भी विनियोग प्रोत्साहित नहीं हो पाये हैं।

वास्तविकता यह है कि व्यवसायी तथा उद्योगपति इस कारण ऋण नहीं लेते हैं कि ब्याज की दरें नीची हैं। ऋण प्राप्त करने का प्रोत्साहन इस बात से प्रभावित होता है कि भविष्य में विनियोगों पर अधिक लाभ प्राप्त होने की आशा की जाती है। साम्य की दशा में ऋणों के ब्याज की दर विनियोगों की सम्भावित सीमान्त लाभ दर के बराबर होनी चाहिए। इसका अर्थ यह होता है कि रोजगार में उस समय तक वृद्धि होने की सम्भावना नहीं होगी जब तक कि भावी लाभों की दर बढ़ने की सम्भावना न हो। जब तक ऊँचे लाभों की आशा न होगी, ब्याज की दरों के नीचे गिरने से रोजगार के बढ़ने की कोई सम्भावना नहीं रहेगी। इसी प्रकार यदि भावी लाभ की आशा उज्ज्वल नहीं है तो विनियोग हतोत्साहित होंगे और रोजगार की मात्रा घटेगी। रोजगार को बनाये रखने अथवा उसका विकास करने के लिए सरकारी हस्तक्षेप के बिना काम नहीं चल सकता है। मन्दी के काल में बेरोजगारी को बढ़ने से रोकने के लिए सरकार को अपनी आय से अधिक व्यय करना चाहिए। इसी प्रकार अभिवृद्धि (Boom) के काल में सरकार को आय से कम व्यय करना चाहिए। सरकारी नीति पर ही एक बड़े अंश तक रोजगार का विस्तार अथवा संकुचन निर्भर होता है।

जहाँ तक पूर्ण वृत्ति को प्राप्त करने के सिद्धान्तों का प्रश्न है, वे सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता पर ही आधारित होंगे। इस सम्बन्ध में तीन सिद्धान्तों का उल्लेख किया जा सकता है :—

(१) समुचित विनियोग नीति अपनाना—सरकार को समुचित विनियोग नीति द्वारा अवसाद को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके विपरीत अभिवृद्धि के काल में सरकार को लोक व्यय में कमी करनी चाहिए और मँहगी मुद्रा नीति का पालन करना चाहिए। दोनों ही दशाओं में सट्टा बाजार पर समुचित नियन्त्रण भी आवश्यक है।

(२) काम को श्रमिकों तक ले जाना—सरकार को उद्योगों की स्थिति इस प्रकार आयोजित करनी चाहिए कि उन क्षेत्रों के बेरोजगार व्यक्तियों को जिनमें मन्दी आ गई है उन्हीं क्षेत्रों में रोजगार मिल सके। दूसरे शब्दों में, काम को श्रमिकों तक ले जाने की नीति अपनाई जानी चाहिए।

(३) समुचित आर्थिक नीति—यह आवश्यक है कि सरकार ऐसी आर्थिक नीति को ग्रहण करे जिससे कि देश के उद्योगों और निर्यातों के स्तर बनाये रखे जा सकें। इन सब रीतियों से रोजगार स्तर को बनाये रखना तथा उनका ऊँचा उठाना सम्भव हो जायगा।

राज्य और पूर्ण वृत्ति—

काफी लम्बे समय तक अर्थशास्त्री आर्थिक जीवन में राजकीय हस्तक्षेप को बुरा समझते आये हैं। महान् अवसाद ने इस विचारधारा को काफी बदल दिया। इस काल में संसार ने प्रचुरता के बीच निर्धनता और अति-उत्पादन के साथ भुखमरी के विचित्र दृश्य देखे थे। इस विचित्र परिस्थिति का कारण यह था कि एक ओर तो उत्पादन और उपभोग के बीच समायोजन नहीं रहा था और दूसरी ओर बचत और विनियोगों की भी दरों में अन्तर था। सभी अर्थशास्त्रियों को यह मानने पर बाध्य होना पड़ा था कि उत्पादन और उपभोग तथा बचत और विनियोग के बीच समचय स्थापित किए बिना इस परिस्थिति से छुटकारा सम्भव न था। समचय और समायोजन की स्थापना आर्थिक नियोजन द्वारा ही सम्भव थी, इसलिए महान् अवसाद के बाद संसार भर में आर्थिक नियोजन की एक विश्वव्यापी लहर सी आई थी। नियोजन की सफलता ने इस विचारधारा को और भी अधिक बल प्रदान किया।

आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए सरकारी नियन्त्रण और नियमन आवश्यक हो जाता है। पूर्ण वृत्ति सम्बन्धी नीति को तो उस समय तक कार्यरूप दिया ही नहीं जा सकता है जब तक कि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का पुनर्संङ्गठन अथवा पुनर्निर्माण न कर दिया जाय। आर्थिक नियोजन का एक सर्वस्वीकृत उद्देश्य पूर्ण वृत्ति की व्यवस्था करना ही होता है। इस नीति की सफलता उपयुक्त सरकारी संगठन और राज्य प्रारम्भन पर ही निर्भर होती है।

एक पूर्ण रोजगार का कार्यक्रम—

एक पूर्ण रोजगार के कार्यक्रम के सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव विचारणीय हैं:—

(१) कृषि विकास का कार्यक्रम—भारत में जनसंख्या का भूमि पर दबाव बहुत है और जनसंख्या की वृद्धि के साथ निरन्तर बढ़ता जा रहा है। कृषकों को कुछ महीनों तक अनिवार्य रूप से बेकार रहना पड़ता है, कृषि अनार्थिक हो गई है, प्रति एकड़ पैदावार अति कम है और उत्पादन बिना किसी योजना के होता रहा है। सचमुच ही भारतीय कृषि केवल जीने भर की अर्थ व्यवस्था पर निर्भर है। अतः पूर्ण रोजगार के जीवन-स्तर की रचना करने के लिये श्रम की अन्तर्व्यवसायी गतिशीलता (Inter-occupational movements) को बढ़ावा देना होगा, ताकि कृषि पर जन-संख्या का भार घटे। हमें ग्रामीण अर्थ व्यवस्था का आमूल परिवर्तन करना होगा और उसे शहरी या औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्धित करना होगा।

(२) औद्योगिक विकास का कार्यक्रम—वर्तमान असंतुलित एवं दोषपूर्ण

औद्योगिक ढाँचे को सुधारने के लिये निम्न उपाय करने चाहिये—(i) औद्योगिक इकाइयों की विविधता और उनका विकेन्द्रीयकरण, (ii) श्रम बाजारों को स्थायी बनाने के लिये उद्योगों के स्थानीयकरण पर नियन्त्रण रखना, (iii) क्षेत्र के औद्योगिक विकास और उसके सामान्य आर्थिक विकास में समन्वय स्थापित करना, (iv) उद्योगों के उत्पादन के लिये क्षेत्रीय बाजारों का विकास करना, (v) मजदूरी के उतार-चढ़ाव का इस प्रकार प्रबन्ध करना कि पूर्ण रोजगार का जीवन-मान बना रहे, (vi) निर्माण रीति में शैल्पिक विकास, (vii) क्षेत्र के विशिष्ट उद्योगों का नियंत्रित पुनर्निर्माण, (viii) औद्योगिक उत्पादों के अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का नियमन, (ix) क्षेत्रीय उद्योगों में विनियोजन का नियमन करना आदि ।

(३) यातायात के विस्तार का कार्यक्रम—पूर्ण रोजगार के कार्यक्रम को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिये एक अच्छी यातायात प्रणाली अति आवश्यक है । इसके सुधार का निम्न कार्यक्रम है:—(i) यातायात प्रणाली का विकेन्द्रीकरण और क्षेत्रीकरण होना चाहिये; (ii) यातायात प्रणाली की सेवा की सार्वजनिक उपयोगिता के स्तर को ऊँचा उठाना चाहिये; (iii) विभिन्न यातायात के साधनों में समन्वय होना चाहिये; (iv) मार्ग सम्बन्धी या किराये सम्बन्धी प्रतियोगिता को घटाने के लिये विभिन्न यातायात प्रणालियों का राष्ट्रीयकरण होना चाहिये; (v) श्रम की गतिशीलता और वस्तुओं के व्यापार का युक्तिसंगत नियंत्रण होना चाहिये, जिससे कृषि और उद्योग में मूल्य सम्बन्धी उपयुक्त ढांचे की रचना करना सुविधाजनक हो जाय; (vi) देश की यातायात प्रणाली को बहुत लोचदार बनाना चाहिये, ताकि वह पूर्ण रोजगार वाले कार्यक्रम को लागू करने के फलस्वरूप बढ़े हुए असाधारण व्यापार की आवश्यकता को पूरा कर सके; (vii) एक विस्तृत व सहयोगपूर्ण सड़क यातायात प्रणाली की भी व्यवस्था करनी चाहिये ।

(४) द्रव्य बाजार की उचित व्यवस्था से सम्बन्धित कार्यक्रम—पूर्ण रोजगार की आय के ढांचे (Full Employment Income Structure) की रक्षा के हेतु मूल्यों में स्थिरता होना आवश्यक है । इस हेतु बैंकों की जमा आकर्षित करने की शक्ति पर और समाज की क्रय शक्ति को प्रभावित करने वाले घटकों पर नियंत्रण होना चाहिये । भारतीय मुद्रा बाजार के दोषों को दूर करने के लिये केन्द्रीय बैंकिंग में कुछ सीमा तक विकेन्द्रीयकरण किया जाय, देश में छोटी-छोटी परन्तु स्वतंत्र बैंकिंग इकाइयों की स्थापना की जाय, बैंकिंग कार्य पर नियंत्रण किया जाय और विदेशी विनिमय के कार्यों का नियमन होना चाहिये ।

(५) विदेशी व्यापार की उचित व्यवस्था का कार्यक्रम—विदेशी व्यापार की नीति को भी आमूल परिवर्तित करना होगा, जिसके लिए मुख्य-मुख्य सिफारिशें इस प्रकार हैं :—(i) आर्थिक नियोजन की पूर्ति के लिए वित्तीय व्यवस्था करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के लाभों को प्राप्त करने के हेतु द्विपक्षी (Bilateral) समझौते किये जायें, (ii) ब्रिटिश राष्ट्र मंडल के देशों के बीच बहुमुखी गुट (Block Multilateralism) बनाने चाहिये, ताकि उसका बाहरी आर्थिक सम्बन्धों का ढांचा मजबूत हो जाय और आन्तरिक कार्यक्रम में विश्व की अन्य आर्थिक शक्तियाँ बाधा न डालने पायें, (iii) स्टर्लिंग गुट की एक इकाई के रूप में भारत विश्वव्यापी बहुपक्षीय व्यापार में भाग ले । विशेषज्ञ अर्थशास्त्रियों का सुझाव है कि पूर्ण रोजगार के आदर्श को प्राप्त करने के लिये संसार के सभी राष्ट्रों को चाहिये कि विश्व व्यापार को संतु-

ौर विस्तृत रूप दें। इस सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व विश्व बैंक बहुत
: हो सकते हैं।

में पूर्ण वृत्ति

भारत सरकार ने रोजगार की सुविधाओं को बढ़ाने के महत्त्व को भली भाँति
लिया है। आर्थिक नियोजन का एक महान् उद्देश्य पूर्ण रोजगार की स्थिति
करना है। इससे पहले ही पूर्ण रोजगार व्यवस्था का उत्पन्न करना देश के
न में राज्य नीति का प्रमुख उद्देश्य बताया गया था। योजना कमीशन ने प्रथम
र्षीय योजना का निर्माण करते समय ही देश में बेरोजगारी के अंश और उसके
ं का पता लगाने का प्रयत्न किया था तथा योजना के अन्तर्गत समुचित रोज-
ुविधाओं की व्यवस्था करने का लक्ष्य बनाया था। कमीशन का विचार है कि
र सुविधाओं के विकास के कार्य के तीन पहलू हैं: (i) पहले से ग्रामीण तथा
क क्षेत्रों में बहुत से व्यक्ति बेरोजगार हैं, जिनके लिए रोजगार उपलब्ध
की आवश्यकता है। (ii) इस बात की जरूरत है कि जन-संख्या की प्राकृतिक
कारण जो नये काम करने वाले पैदा हो जाते हैं, उनके लिए रोजगार पैदा
जाय। ऐसे व्यक्तियों की संख्या लगभग २० लाख प्रति वर्ष है। (iii) कृषि तथा
ार्यों में लगे हुए व्यक्तियों के लिए रोजगार की सुविधाएँ बढ़नी चाहिए, क्योंकि
ेवल आँशिक रोजगार ही प्राप्त है।

प्रथम पंच-वर्षीय योजना में सरकार का अनुमान था कि लगभग १ करोड़
यों को लोक और निजी क्षेत्रों में अधिक रोजगार की सुविधायें मिल सकेंगी।
नुमान गलत रहा है। सन् १९५३ में ही सरकार को पंच-वर्षीय योजना में कुछ
शोधन करने पड़े हैं जिनसे कि रोजगार की सुविधायें अधिक तेजी के साथ बढ़
प्रथम योजना-काल का सामान्य अनुभव यही रहा है कि आर्थिक विकास की
के साथ-साथ बेरोजगारी घटने के स्थान पर उलटी बढ़ी है। मार्च सन् १९५१
ा सेवा-योजनालयों (Empolyment Exchanges) के रजिस्टरों में ऐसे
यों की संख्या जिन्हें रोजगार नहीं दिया जा सका था, केवल ३·३७ लाख थी,
सम्बर सन् १९५३ में ५·२२ लाख हो गई थी और मार्च सन् १९५६ में ७·०५
। योजना कमीशन ने आदेश पर राष्ट्रीय सैम्पल जाँच (National Sample
vey) ने पता लगाया था कि सन् १९५४ में नगर क्षेत्रों में २२·४ लाख व्यक्ति
गार थे और ग्रामीण क्षेत्रों में २८ लाख व्यक्ति बेरोजगार थे। ग्रामीण और
रक क्षेत्रों में कुल बेरोजगारी का अप्रैल सन १९५६ का अनुमान क्रमशः २८ और
ाख रखा गया है।

ी पंच-वर्षीय योजना में रोजगार की व्यवस्था—

दूसरी पंच वर्षीय योजना में रोजगार सुविधाओं को बढ़ाने के कार्य को विशेष
ा दिया गया है। योजना कमीशन का अनुमान है कि देश में दूसरी योजना के
में बेरोजगारी को पूर्णतया दूर करने के लिए १५३ लाख व्यक्तियों के लिए
क रोजगार की आवश्यकता होगी। कमीशन का अनुमान है कि क्रमशः २५ और
ाख व्यक्ति तो नागरिक और ग्रामीण क्षेत्रों में पहले से ही बेकार हैं और इस
: बेकारी की मात्रा ५३ लाख है। इसके अतिरिक्त दूसरी पंच-वर्षीय योजना के
में १ करोड़ और व्यक्ति काम करने वालों की संख्या में शामिल हो जायेंगे।
शन का अनुमान है कि दूसरी योजना के काल में बेरोजगारी को पूर्णतया समाप्त

कर देना सम्भव न हो सकेगा, परन्तु बेरोजगारी को बढ़ने से रोका जा सकेगा, इसलिए दूसरी पंच-वर्षीय योजना का लक्ष्य १ करोड़ नई रोजगार सुविधाएँ उत्पन्न करना बताया गया है। इसका परिणाम यह होगा कि पाँच वर्ष में श्रम की पूर्ति में होने वाली वृद्धि के लिए रोजगार का प्रबन्ध हो जायगा। लोक क्षेत्र से सम्बन्धित कार्यों में निम्न प्रकार रोजगार सुविधाओं के विकास का अनुमान लगाया गया है :—

अधिक रोजगार का अनुमान

	(लाखों में)
(१) निर्माण	२१·००
(२) सिंचाई और शक्ति	०·५१
(३) रेल्वे	२·५३
(४) अन्य यातायात एवं सम्वादवाहन	१·८०
(५) उद्योग और खनिज	७·५०
(६) कुटीर तथा छोटे उद्योग	४·५०
(७) वन, मछली उद्योग, राष्ट्रीय प्रसार तथा सम्बन्धित सेवायें	४·१३
(८) शिक्षा	३·१०
(९) स्वास्थ्य	१·१६
(१०) अन्य सामाजिक सेवायें	१·४२
(११) सरकारी नौकरी	४·३४
(१२) अन्य	२७·०४
कुल	७९·०३

इस प्रकार लगभग ८० लाख व्यक्तियों के लिए लोक क्षेत्र मे ही रोजगार की व्यवस्था हो जायगी। शेष २० लाख व्यक्तियों में से २·४ लाख व्यक्तियों को इस कारण रोजगार मिल जायगा कि पाँच वर्ष के काल में इतने सरकारी नौकर वृद्धावस्था के कारण स्थान खाली कर देंगे। शेष के लिए निजी क्षेत्र में रोजगार उपलब्ध हो जायगा। इस प्रकार दूसरी योजना के अन्त में भी बेरोजगारी की स्थिति में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन न हो सकेगा। इतना अवश्य हो जायगा कि सन् १९५६ की तुलना में बेरोजगारी बढ़ने नहीं पायेगी। शायद तीसरी योजना के समाप्त होने पर ही पूर्ण वृत्ति की अवस्था पैदा हो सके और तत्पश्चात् आर्थिक नियोजन का उद्देश्य इस पूर्ण वृत्ति की अवस्था को बनाये रखना होगा।

इसमें तो सन्देह नहीं है कि दूसरी योजना में हमने पूर्ण वृत्ति की व्यवस्था का कार्यक्रम आरम्भ कर दिया है और शायद हम धीरे-धीरे इस लक्ष्य की ओर आगे बढ़ सकें। भय केवल यही है कि कहीं प्रथम योजना की भाँति दूसरी योजना से सम्बन्धित रोजगार सम्बन्धी लक्ष्य अवास्तविक न रहें।

QUESTIONS

1. Are savings and investments in an Economy always equal? If not, how can this condition be brought about?

किसी देश मे "बचत" तथा "कार्य मे लगा हुआ द्रव्य" क्या हर परिस्थिति में बराबर होते हैं? अगर बराबर नहीं है तो किस प्रकार बराबर किये जा सकते हैं।

(Agra, B. A., 1959)